गीता-तत्त्व-बोध

[श्रीमद्भगवद्गीता का सरल विवेचन]

पहला खण्ड

(अध्याय १ से ८)

•

बालकोबा भावे

•

[illegible]

जमनालाल जैन

•

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी

GĪTA-TATTVABODH

Vol. 1

●

BALKOBA BHAVE

Rs. 70.00 (Complete Book)

प्रकाशक

मत्री, सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी–१

सस्करण

पहला

प्रतियाँ

१०००

प्रकाशन-तिथि

विनोबा-जयन्ती

११ सितम्बर '७२

मुद्रक

भार्गव भूषण प्रेस,

वाराणसी

२४/४–७२

मूल्य

सम्पूर्ण दोनो खण्ड

सत्तर रुपये

रु० ७० ००

प्रकाशकीय

पूज्य वालकोवाजी भावे के 'गीता-तत्त्व-वोध' ग्रन्थ का प्रथम खण्ड सुहृद् पाठकों के हाथो मे पहुँचाते हुए हमे वडी प्रसन्नता हो रही है। सम्पूर्ण 'गीता-तत्त्व-वोध' ग्रन्थ दो खण्डो मे है। इस पहले खण्ड मे प्रथम आठ अध्यायो का विवेचन है। दूसरा खण्ड शीघ्र ही प्रकाशित करने की योजना है।

वालकोवाजी का यह भाष्य-ग्रन्थ विपय को अत्यन्त सरल भापा मे, दृष्टान्तो तथा उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करता है। गीता जैसे गूढ तथा दार्शनिक ग्रन्थ का तत्त्वज्ञान एक अति सामान्य भक्त, जिज्ञासु तथा आत्मार्थी आसानी से समझ सके, इस दृष्टि से वालकोवाजी ने वडे परिश्रम से यह विशाल भाष्य लिखा है। उनकी यह प्रसादी वडी कीमती चीज है।

वालकोवाजी हिन्दी के विद्वान्, भापा-शास्त्री या लेखक नही है। वे अपनी वात सीधे-सादे शब्दो मे कहते चले जाते हैं। फिर भी उनकी भापा की अपनी एक मधुरता है, प्रासादिकता है, जो भक्तो को, जिज्ञासुओ को आकर्पित करती है। वे शास्त्री नही, अनुभवी है। उन्होने अपने जीवन मे जो कुछ अनुभव किया है, जैसे किया है, उसीको सरल-सुवोध भापा मे रख दिया है। इसलिए ऐसे भाष्य का मूल्य शास्त्रीयता एव विद्वत्ता से वहुत ज्यादा है।

वालकोवाजी ने इस ग्रन्थ के पूर्व **'ब्रह्म-सूत्र शाकर-भाष्य'** का भी ऐसा ही सरल विवेचन हिन्दी-जगत् को प्रदान किया है। वह ग्रन्थ परधाम प्रकाशन-मदिर, पवनार (वर्धा) से प्रकाशित हुआ है। पतजलि-कृत योगशास्त्र के चुने हुए योग-सूत्रो पर भी **'जीवन-साधना'** नाम से आपने एक उपयोगी पुस्तिका लिखी है, जिसमे जीवनोपयोगी प्राक-सूत्रो का विवेचन है।

गीता **'समत्वयोग'** का अद्वितीय ग्रन्थ है। गाधीजी और विनोवाजी ने गीता की इस विशेपता को अनेक रूपो से प्रकट किया है। वालकोवाजी ने अपने इस भाष्य मे इन्ही दोनो की विचारधारा को विशद किया है। एक तरह से कह सकते है कि इस भाष्य मे सर्वोदय-विचार की सर्वांग रूप से प्राण-प्रतिष्ठा करने का प्रयास वाल्कोवाजी ने किया है। जन-सेवा, कर्म-सातत्य, जीवन-व्यवहार मे अनासक्ति तथा इसी देह मे मुक्ति का अनुभव तथा सर्वत्र हरि-दर्शन का तत्त्वज्ञान युगानुकूल तो है ही, जीवन को उत्प्रेरित भी करता है।

इस ग्रथ के सपादन-सशोधन मे जिन साथियो तथा आत्मीय-जनो ने परिश्रम किया है, उन सवके हम हृदय से आभारी हैं। साधु सेवानन्दजी ने ग्रन्थ को वारीकी से देखा और अनेक सशोधन सुझाये। सर्व सेवा सघ-प्रकाशन के व्यवस्थापक भाई जमनालाल जैन ने तीन हजार पृष्ठो की टकित भाष्य-सामग्री का सम्पादन वालकोवाजी की भापा, शैली और भावो की रक्षा करते हुए काफी समय देकर वडी आत्मीयता और कुशलता से किया है। ब्रह्मसूत्र-विवेचन का भी सम्पादन आपने ही किया था। चि० गौतम वजाज ने भी इस विवेचन के सम्पादन को देख जाने मे समय-शक्ति लगायी है एव उसीके सूचनानुसार इस ग्रन्थ का मुद्रण हुआ है। प्रकाशन के साथी वेदान्त के विद्वान् श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर शास्त्री ने सस्कृत-वचनो की दृष्टि से यथेष्ट जागरूकता रखी है। भार्गव भूपण प्रेस के सचालक श्री नरेन्द्र तथा श्री सुरेन्द्र भार्गवजी के भी हम आभारी हैं, जिन्होने तत्परतापूर्वक ग्रन्थ का मुद्रण सम्पन्न किया।

अन्त मे हम पूज्य वालकोवाजी के हृदय से कृतज्ञ है, जिन्होने स्वय अलिप्त और अनासक्त होते हुए भी सर्वजनहिताय जीवन-निर्माणकारी यह ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को प्रदान किया।

दो शब्द

हिन्दुओ के प्रमाणभूत ग्रन्थ तीन माने जाते है---उपनिपद्, ब्रह्मसूत्र और गीता। प्राचीनकाल से वेद प्रमाणभूत ग्रन्थ माना गया है। वेद के दो भाग है---कर्मकाड और ज्ञानकाड। ज्ञानकाड यानी उपनिपद्। उपनिपद् सामान्य मनुष्य को समझने मे कठिन है। उपनिषद् मे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वचनो की एकवाक्यता के लिए ब्रह्मसूत्र की रचना की गयी है। ब्रह्मसूत्र भी सामान्य मनुष्य की समझ मे आने-जैसा ग्रन्थ नही है। श्रीमद्भगवद्गीता की रचना सामान्य व्यक्ति के समझ मे आसानी से आने-जैसी है।

गीता मे जिन विविध आध्यात्मिक विपयो का निरूपण किया गया है, उनके अर्थो के सम्वन्ध मे मतभेद की गुजाइश होने से शकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य की शुरुआत मे ही लिखा है . "**तद् इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसार संग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्**--यह गीताशास्त्र समस्त वेदो का सार है, पर उसका अर्थ दुरूह हो गया है।" अव तक प्रादेशिक भापाओ मे गीता पर जितने ग्रथ लिखे गये है, उनमे विनोवाजी के 'गीता-प्रवचन' ग्रथ मे सन्यास, कर्मयोग, सगुण-निर्गुण भक्ति आदि विपयो का जैसा स्पष्टीकरण किया है, वैसा अन्यत्र शायद ही मिलता है। इसी कारण 'गीता-प्रवचन' सर्वमान्य ग्रन्थ हो गया है। मगर 'गीता-प्रवचन' मे हरएक अध्याय पर विवरण किया गया है, हरएक श्लोक पर विवेचन नही है। हरएक श्लोक पर लिखे गये ग्रन्थ यो तो वहुत है, लेकिन उनमे एक-एक श्लोक के समस्त मुद्दो पर सविस्तर विवेचन प्राय नही मिलता है। इस ग्रन्थ मे यह प्रयास किया गया है। साथ ही सामान्य लोगो की समझ मे आने के लिए सुवोध भापा मे विवेचन करने की कोशिश की गयी है। इस ग्रन्थ से सामान्य मनुष्य के जीवन-उत्थान मे सहायता मिल सकी, तो यह ग्रन्थ-लेखन सफल हुआ समझूँगा।

---बालकोवा भावे

गीता-तत्त्व-बोध

पहला अध्याय

भगवद्गीता हिन्दुओ का सर्वमान्य ग्रथ है।

पहले अध्याय को 'अर्जुन-विषादयोग' कहा गया है। इसमे अर्जुन के विपाद का वर्णन है। फिर भी प्रसग का वर्णन करना पहले अध्याय का मुख्य उद्देश्य नही है। मुख्य उद्देश्य तो यह वतलाना है कि अर्जुन को शोक, मोह, दुख किस प्रसग से, कैसे, और क्यो हुआ।

: १ :

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामका. पाडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

सजय=हे सजय, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे=धर्मयुक्त, पवित्र कुरुक्षेत्र मे, **समवेता युयुत्सव**=इकट्ठे हुए, युद्ध की इच्छा रखनेवाले, **मामका. च पाडवा. एव**=मेरे पुत्र दुर्योधन आदि और पाडु के पुत्र अर्जुन आदि ने, कि अकुर्वत ?=क्या कि...

धृतराष्ट्र सजय से पूछ रहे हैं।

धृतराष्ट्र कुरु-वश के राजा, कौरवो के पिता और राजा विचित्रवीर्य के पुत्र थे। धृतराष्ट्र की माता का नाम अविका था। धृतराष्ट्र को 'प्रज्ञा-चक्षु' भी कहते है। प्रज्ञा-चक्षु यानी जन्माध। यह स्थूल अर्थ है। सूक्ष्म अर्थ 'विवेकी' है। ज्ञानी की तरह पुत्र-मोह आदि से वे मुक्त थे, ऐसी वात नही। लेकिन भावार्थ यह कि अधे होते हुए भी सारासार-विवेक था।

विनोवाजी ने यहाँ धृतराष्ट्र को कौरवों का पिता, राष्ट्र का अभिमान रखनेवाला वताकर मानसिक वृत्ति की दृष्टि से धृतराष्ट्र का अर्थ मोह-वृत्ति किया है।

संजय धृतराष्ट्र के मत्री थे। वे हमेशा सत्य, धर्म, न्याय का ही उपदेश देते थे। युद्ध टालने का भी उन्होने प्रयत्न किया था। वे जितेन्द्रिय थे। भगवान् व्यासजी की कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त होने के कारण सजय एक स्थान पर बैठे-बैठे युद्ध-भूमि की सारी घटनाएँ देख सकते थे। शुरू के दस दिन युद्ध-भूमि की सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष देखते-समझते रहे। दसवे दिन भीष्म पितामह गिर गये। इस महत्त्वपूर्ण घटना को सुनाने के लिए सजय धृतराष्ट्र के पास आये। भीष्म पितामह की खवर सुनकर धृतराष्ट्र दुखी हो गये और सजय से विस्तारपूर्वक सारी युद्ध-गाथा सुनाने को कहा।

इस श्लोक मे धृतराष्ट्र का प्रश्न है। इसमे दो वाते है।

(१) **संजय, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**—हे सजय, धर्मयुक्त, पवित्र कुरुक्षेत्र मे। यहाँ 'धर्मक्षेत्र' शब्द आया है।

गाधीजी का कहना है कि पहले अध्याय मे जो युद्ध-वर्णन है, वह एक रूपक है। हमारा मन ही धर्मक्षेत्र है, लेकिन वह कुरुक्षेत्र भी वन गया है। कुरुक्षेत्र यानी लडाई का क्षेत्र। सद्वृत्ति पाडव-पक्ष है और असद्वृत्ति कौरव-पक्ष।

विनोबाजी ने भी 'गीताई-चिंतनिका' मे ऐसा ही अर्थ किया है। १३वे अध्याय मे शरीर को 'क्षेत्र' कहा गया है। इस शरीर मे देव-असुर-सग्राम यानी युद्ध अखण्ड चलता रहता है, ऐसा उपनिषद् मे वर्णन है। उसी सिलसिले मे गीता के १६वे अध्याय मे देवी एव आसुरी सपत्ति के लक्षण वर्णित है। कौरव अर्थात् कर्मासक्त, मूढ, राजस, तामसवृत्ति।

लोकमान्य तिलक बताते है कि कुरुक्षेत्र यानी हस्तिनापुर के आसपास की भूमि, जहाँ पर वर्तमान दिल्ली शहर बसा है। कौरव-पाडवो के पूर्वज 'कुरु' नाम के राजा इस भूमि पर हल चलाते थे। इसलिए उसे 'क्षेत्र' यानी खेत कहा गया। इन्द्र ने कुरु को वर दिया था कि इस क्षेत्र पर जो तपश्चर्या करेगा, उसे स्वर्ग प्राप्त होगा। इस कारण वह धर्मक्षेत्र भी बन गया।

(२) **समवेताः युयुत्सवः मामका. च पाडवाः एव किं अकुर्वत ?**—इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा रखनेवाले, मेरे पुत्र दुर्योधन आदि और पाडु के पुत्र अर्जुन आदि ने क्या किया ?

धृतराष्ट्र ने बडी आतुरतापूर्वक सजय से यह बात पूछी कि आमने-सामने खडे हुए दोनो पक्षो ने किस प्रकार युद्ध की शुरुआत की ? दोनो की युद्ध की तैयारी कैसी थी आदि।

: २ :

सजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

तदा तु=उस समय, जब कि कौरव, पाडव दोनो की सेनाएं लडने के लिए तैयार हो गयी तब तो, **राजा दुर्योधन** दु=र्योधन राजा ने, **पाडवानीकम्**=पाडवो की सेना को, व्यूढ दृष्ट्वा=व्यूह-रचना करके खडी हुई देखकर, **आचार्य उपसगम्य**=द्रोणाचार्य के पास जाकर, (इद) **वचन अब्रवीत्**=यह वचन कहा।

इस श्लोक मे दो बाते है

(१) सजय बता रहे है—**तदा तु राजा दुर्योधन. पांडवानीक व्यूढं दृष्ट्वा**—उस समय यानी जब कौरव और पाडव दोनो की सेनाएँ लडने के लिए तैयार हो गयी, तब दुर्योधन राजा ने पाडवो की सेना को व्यूह-रचना करके खडी हुई देखकर।

यहाँ 'दुर्योधन' का उल्लेख है। वह धृतराष्ट्र और गाधारी का सबसे बडा लडका था। महारथी था। गदा-युद्ध मे प्रवीण था। पराक्रमी था। लेकिन पाडवो से अकारण द्वेष रखता था।

विनोबाजी ने दुर्योधन का सूक्ष्म अर्थ बताया है—'दुराग्रह'। १६वे अध्याय के १०वे श्लोक मे भगवान् असुरो का वर्णन करते हुए कहते है "उनमे प्रबल काम-वासना रहती है, वे दभ, मान, मद से युक्त है, उनके निश्चय हमेशा अशुभ होते है और अशुभ निश्चयो को ही समाज मे फैलाने की वे हमेशा कोशिश करते है तथा हमेशा अपवित्र रहते है। दुर्योधन भी असुर-वृत्ति से युक्त था।"

दुर्योधन ने देखा कि व्यूह-रचना के साथ खडी हुई पाडवो की सेना लडने के लिए तैयार है। इस प्रकार सज्ज सेना को देखकर

(२) **आचार्यं उपसंगम्य इद वच[illegible]वीत्**—द्रोणाचार्य के पास जाकर य[illegible] कहा।

यहाँ 'आचार्य' का उल्लेख है। आचार्य यानी द्रोणाचार्य। वे कौरव-सेना के सेनापति थे। कौरव-पाडवो को धनुर्विद्या द्रोणाचार्य ने ही सिखायी थी। वे महर्षि भरद्वाज के पुत्र थे। माता अप्सरा देव-कन्या थी। उनका नाम 'घृताची' था। द्रोणाचार्य वेद-वेदाग मे पारगत थे।-पराक्रमी थे। यज्ञ-कलश से पैदा हुए, इसलिए वे 'द्रोण' कहलाये। पाडवो के पक्ष को न्याय्य समझते हुए भी वे कौरवो के पक्ष मे ही रहे और कौरवो के सेनापति के रूप मे लडने रहे।

दुर्योधन पराक्रमी था, फिर भी पाडवो की सेना को सज्ज देखकर थोडा डर-सा गया। इसी कारण द्रोणाचार्य के पास जाकर कहने लगा।

: ३ :

पश्यैता पाडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

आचार्य=हे द्रोणाचार्य, तव=आपके, शिष्येण=शिष्य, द्रुपदपुत्रेण=द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने, धीमता=वहुत वुद्धिमान्, व्यूढा=जिस सेना की रचना अच्छी की हैं, पाडुपुत्राणाम्=ऐसी, पाडवो की, एैता महर्ता चमूम्=इस वडी भारी सेना को, पश्य=देखिये।

इस श्लोक मे दो वाते हैं :

(१) **आचार्य, तव धीमता शिष्येण द्रुपद-पुत्रेण**–गुरुजी! आपके अत्यन्त वुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न ने। दुर्योधन द्रोणाचार्य को जागृत कर रहा है। द्रोणाचार्य पाडवो के पक्ष को सत्पक्ष मानते थे। इसलिए दुर्योधन को डर था कि कही द्रोणाचार्य असावधानी न वरते। उसने कहा "देखिये, आपका ही शिष्य, द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न कैसा है? आपने ही उसे अच्छी तरह सिखाकर तैयार किया है। इसमे दो वाते है। एक तो यह कि वह आपका शिष्य है, इसलिए हो सकता है आप उसके सामने, अपने शिष्य के सामने, उतने उत्साह से न लडे। दूसरी वात यह कि आपने धृष्टद्युम्न को इस तरह तैयार किया है कि वह युद्ध-विद्या मे वहुत प्रवीण वन गया है।"

यह धृष्टद्युम्न पाचाल-राजा द्रुपद का पुत्र था। यज्ञ करते समय प्रज्वलित अग्नि से उत्पन्न हुआ, इसलिए यह अग्नि का अश माना जाता है। धृष्टद्युम्न नाम मे दो शब्द हैं—'धृष्ट' अर्थात् शत्रु के पराक्रम को न सहनेवाला, पराक्रमी और 'द्युम्न' अर्थात् अग्नि के समान तेजस्वी।

(२) **व्यूढां पांडुपुत्राणां एता महतीं चमूं पश्य**–जिस सेना की रचना अच्छी की है, ऐसी पाडवो की इस वडी भारी सेना को आप देखिये।

युद्ध के पहले दिन पाडवो की तरफ से युद्ध-शास्त्र के अनुसार 'वज्र' नाम की व्यूह-रचना की गयी थी और उसका सेनापति भीम वना। इसलिए सेनापति के तौर पर भीम का नाम प्रसिद्ध हुआ। किंतु वास्तव मे पाडवो की सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न ही था। पाडवो की सेना सात अक्षौहिणी यानी कम थी। कौरवो के पक्ष की सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी। यानी पाडवो की अपेक्षा डेढ गुनी थी। इसलिए उसकी तरफ सकेत करते हुए दुर्योधन द्रोणाचार्य से कह रहे है कि पाडवो की सेना की व्यूह-रचना कितनी अच्छी हुई है, यह देख लीजिये। हमारी सेना डेढ गुनी होते हुए भी हम गफलत मे न रह जायँ। 'व्यूह-रचना' की उत्तमता की वात का महत्त्व ध्यान मे लाने के लिए 'वडी भारी पाडवो की सेना' इस प्रकार दुर्योधन ने शब्द-प्रयोग किया है, केवल सख्या के लिए नही।

: ४-५-६ :

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगव ॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा ॥

अत्र=यहाँ (पाडवो की सेना मे), शूराः महेष्वासा युधि भीमार्जुन-समा=शूर, वडे-वडे धनुर्धारी, युद्ध करने मे भीम और अर्जुन के समान (योद्धा हैं), युयुधान=(उदाहरणार्थ) युयुधान यानी सात्यकि, च विराट=और राजा विराट्, च महारथ द्रुपद=और महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु=धृष्टकेतु, चेकितान=चेकितान, च वीरयवान

काशिराजः=और पराक्रमी काशिराज, **पुरुजित्**=पुरुजित्, **च कुतिभोजः**=और कुतिभोज, **च नरपुंगव. शैव्य.**=और नरश्रेष्ठ शैव्य, **च विक्रान्तः युधामन्युः**=पराक्रमी युधामन्यु, **च वीर्यवान् उत्तमौजाः**=पराक्रमी उत्तमौजा, **सौभद्रः**=सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु, **च द्रौपदेयाः**=और द्रौपदी के पाँच पुत्र। **सर्वे एव महारथाः**=ये सभी महारथी हैं।

इन तीन श्लोको मे पाडवो की सेना के महारथियो का वर्णन है।

(१) **भीम**–पाडु के दूसरे पुत्र। वायुदेव के अनुग्रह से कुन्तीदेवी से इनका जन्म हुआ। वहुत पराक्रमी और गदा-युद्ध मे प्रवीण।

(२) **अर्जुन**–पाडु के तीसरे पुत्र। इन्द्र की कृपा से कुन्तीदेवी से इनका जन्म हुआ। आचार्य द्रोण के पट्टशिष्य। दोनो हाथो से शस्त्र चलानेवाले होने से वे 'सव्यसाची' भी कहे जाते थे।

(३) **युयुधान**–यानी सात्यकि नाम से प्रसिद्ध, वृष्णिवशीय सत्यक के पुत्र, मरुद्-देवता के अंश से उत्पन्न। महापराक्रमी और अर्जुन का पट्ट-शिष्य। युयुधान का अर्थ है, असाधारण योद्धा।

(४) **विराट्**–मत्स्यदेश का पराक्रमी राजा। अभिमन्यु का श्वशुर। अज्ञातवास मे पाडवो का आश्रय-दाता।

(५) **द्रुपद**–पाचाल देश का राजा। इसे 'यज्ञसेन' भी कहते थे। द्रौपदी के पिता।

(६) **धृष्टकेतु**–चेदिदेश का राजा, शिशुपाल का पुत्र।

(७) **चेकितान**–महारथी। व्यासजी के आवाहन पर गगाजी से प्रकट हुआ था।

(८) **काशिराज**–वडा पराक्रमी। युधिष्ठिर का मित्र।

(९) **पुरुजित्**–कुन्तिभोज का पुत्र। कुन्तीदेवी का भाई।

(१०) **कुतिभोज**–पुरुजित् और कुन्तीदेवी का पिता।

(११) **शैव्य**–शिविदेश का राजा। युधिष्ठिर का श्वशुर।

(१२) **युधामन्यु**–पाचाल देश का राजकुमार।

(१३) **उत्तमौजा**–पाचाल देश का एक योद्धा, पाण्डवो का सवधी, एक पराक्रमी पुरुष।

(१४) **सौभद्र**–अभिमन्यु। सुभद्रा और अर्जुन का पुत्र। १६ वर्ष के इस अतिपराक्रमी वालक ने कौरवो के चक्रव्यूह का भेदन कर पराक्रम दिखाया और मारा गया।

(१५) **द्रौपदेय**–द्रौपदी के, पाँच पाण्डवो से पैदा हुए, पाँच पुत्र। युधिष्ठिर-का पुत्र प्रतिविन्ध्य, भीम का पुत्र सुतसोम, अर्जुन का पुत्र श्रुतकीर्ति, नकुल का पुत्र शतानीक और सहदेव का पुत्र श्रुतकर्मा।

अत मे कहा कि **सर्वे एव महारथाः**–ये सव महारथी है। ७वे श्लोक मे अपनी सेना की प्रस्तावना करके ८वे श्लोक मे दुर्योधन ने अपनी सेना के प्रमुख योद्धाओ का नामसहित वर्णन किया है।

: ७-८ :

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥

द्विजोत्तम=हे ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, **अस्माक ये विशिष्टा.**=अव हमारे पक्ष के जो विशेष योद्धा है, **तु मम सैन्यस्य नायकाः**=और मेरे सैन्य के जो सेनापति है, **तान् निबोध**=उनके बारे मे आप सुने। **ते सज्ञार्थम्**=आपकी जानकारी के लिए, **तान् ब्रवीमि**=मैं उनके नाम वताता हूँ। **भवान्**=आप जो सवके गुरु हे, **च भीष्म**=और भीष्म जो हमारे अतिपूजनीय पितामह है, **च कर्ण**=और यह शूरवीर कर्ण, **च समितिंजय. कृप.**=युद्ध मे विजय पानेवाले ये कृपाचार्य, **अश्वत्थामा**=आपका पुत्र अश्वत्थामा, **च विकर्ण**=और मेरा भाई विकर्ण, **च तथा एव सौमदत्ति**=वैसे ही सोमदत्ति (जिसे 'भूरिश्रवा' भी कहते हैं)।

यहाँ एक श्लोक मे ही अपने पक्ष के प्रमुख योद्धाओ का नाम-निर्देश कर दिया है। विनोवाजी का यह कथन वडा मार्मिक है कि १६वे अध्याय मे गुरु के तीन श्लोको मे दैवी गुणो का वर्णन है और वाद के एक ही श्लोक मे आसुरी सपत्ति का। पाडव दैवी गुणो से युक्त थे और दुर्योधन आसुरी गुणो से। इसलिए पाडवो के पक्ष का वर्णन तीन श्लोको मे तो दुर्योधन के पक्ष का एक ही श्लोक मे किया है।

सातवे श्लोक मे दुर्योधन की ओर से सयोजक के नाते सव जानकारी द्रोणाचार्य को देने का सकेत है। यद्यपि द्रोणाचार्य को सव कुछ मालूम था, क्योकि वे तो सर्वोच्च प्रधान सेनापति थे ही।

आठवे श्लोक मे प्रत्यक्ष नाम लेकर उल्लेख किया गया है। आठवे श्लोक के अतिम चरण **सौमदत्तिस्तथैव च** के वदले कही-कही **सौमदत्तिर्-जयद्रथः** ऐसा पाठभेद दीखता है। जयद्रथ एक वडा योद्धा था, इसलिए उसका नाम छूट जाना ठीक नही, ऐसा विनोवाजी का मानना है। उन्होने अपनी मराठी 'गीताई' मे **तथैव च** के वदले **'जयद्रथ'** नाम रखा है। इस तरह जयद्रथ का नाम लेना है तो दुर्योधन ने अपने पक्ष के सभी युद्ध-वीरो का वर्णन किया है। पाडवो के वीरो का वर्णन ४, ५, ६, इन तीन श्लोको मे किया था। धृष्टद्युम्न का उल्लेख पहले ही (तीसरे श्लोक मे) आ चुका है।

(१) **भवान् (द्रोणाचार्यः)**—कौरव-पाण्डवो के अस्त्रविद्या के गुरु, अश्वत्थामा के पिता। सर्व-श्रेष्ठ होने से इनका नाम प्रथम लिया है।

(२) **भीष्माचार्य**—महाराज शान्तनु के पुत्र। आठवे वसु के अश से गगादेवी से उत्पन्न। पिता की मनोरथ-पूर्ति के निमित्त आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले। कौरवो के मुख्य सेनापति। महापराक्रमी होने के साथ ही ज्ञानी और महात्मा।

(३) **कर्ण**—कुन्ती के गर्भ से सूर्य के अश द्वारा कवच-कुण्डल के साथ उत्पन्न महापराक्रमी और अतिदानी। सारथि अधिरथ और उसकी पत्नी राधा द्वारा पुत्रवत् पाला-पोसा गया। दुर्योधन ने इसे अगदेश का राजा वनाया। कौरव-सेना के मुख्य सेनापतियो मे एक।

(४) **कृपाचार्य**—शरद्वान् ऋषि के पुत्र। रुद्रगणो के अशावतार। धनुर्विद्या के आचार्य और अद्वितीय योद्धा।

(५) **अश्वत्थामा**—द्रोणाचार्य के पुत्र।

(६) **विकर्ण**—दुर्योधन का भाई, धृतराष्ट्र का पुत्र। महारथी और वडा न्यायी। द्रौपदी को भरी सभा मे खीच लाने पर उसका विरोध करनेवाला।

(७) **सौमदत्ति**—सोमदत्त का पुत्र। भूरि-श्रवा।

: ९ :

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविता ।
नानाशस्त्रप्रहरणा. सर्वे युद्धविशारदा· ॥

च अन्ये=और दूसरे, वहव शूरा =वहुत से पराक्रमी योद्धा, **मदर्थे त्यक्तजीविता** =जो मेरे लिए अपना सारा जीवन दे चुके है, **नाना-शस्त्र-प्रहरणा** =नाना प्रकार के शस्त्रो से सज्ज होकर शत्रु पर प्रहार करने के लिए खडे हैं। **सर्वे युद्ध-विशारदा·**=ये सभी युद्ध मे प्रवीण हैं।

इस श्लोक मे दुर्योधन ने दो वाते वतायी है

(१) **च अन्ये वहवः शूरा· मदर्थे त्यक्त-जीविता.**—और दूसरे वहुत से पराक्रमी योद्धा जो मेरे लिए अपना सारा जीवन दे चुके है। विनोवा-जी कहते है कि यहाँ दुर्योधन ने साम्राज्यवाद की भाषा इस्तेमाल की है। अर्थात् 'मै ही सव-कुछ हूँ और मेरे लिए ही सव-कुछ है।'

(२) **नाना-शस्त्र-प्रहरणा सर्वे युद्ध-विशा-रदा.**—नाना प्रकार के शस्त्रो से युक्त होकर शत्रु पर प्रहार करने के लिए खडे है, और ये सभी युद्ध

मे प्रवीण है। इससे दुर्योधन यह वताना चाहता है कि हमारी सेना मे जो योद्धा है, वे सारे भारी तैयारी के साथ शत्रु का नाश करने के सकल्प से नाना प्रकार के विविध शस्त्रो से सुसज्जित होकर लडने को तैयार हो गये है और ये सभी सामान्य योद्धा नही है। ऊपर जिन ८ योद्धाओ का वर्णन किया, उन्हीके जैसे हमारी सेना मे भी वहुत-से वीर योद्धा है। इतना ही है कि पाडवो की व्यूह-रचना जितनी अच्छी की गयी है, उतनी ही अच्छी व्यूह-रचना हमारी सेना की कीजियेगा। यह वात ठीक-ठीक ध्यान मे लाने के लिए ही दुर्योधन द्रोणाचार्य के समक्ष अपने पक्ष के और पाडवो के पक्ष के योद्धाओ का वर्णन कर रहा है।

: १० :

अपर्याप्तं तदस्माकं वलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां वलं भीमाभिरक्षितम् ॥

भीष्माभिरक्षितम्=भीष्माचार्य द्वारा जिस सेना का रक्षण सव प्रकार से किया गया है, **तद् अस्माक बलम्**=वह हमारी सेना, **अपर्याप्तम्**=अमर्यादित है। **तु भीमाभिरक्षितम्**=लेकिन भीम ने जिस सेना का रक्षण किया है, **इद एतेषा वलम्**=वह पाडवो की सेना, **पर्याप्तम्**=मर्यादित है।

इस श्लोक मे दो वाते है :

(१) दुर्योधन वता रहा है—**भीष्माभिरक्षितं तद् अस्माकं वलं अपर्याप्तम्**—भीष्माचार्य ने जिस सेना का रक्षण किया है, वह हमारी सेना अमर्यादित है। यहाँ 'वल' शब्द का अर्थ 'सेना' है। इस श्लोक मे 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' ये दो शब्द है। इनके अर्थ के वारे मे मतभेद है। ज्ञानेश्वर महाराज, लोकमान्य तिलक, विनोवाजी, गाधीजी ने उपर्युक्त अर्थ नही लिया है। इन सवने 'अपर्याप्त' का 'अपूर्ण' और 'पर्याप्त' का 'पूर्ण' ऐसा अर्थ किया है। दुर्योधन डर से कह रहा है कि हमारी सेना भले ही सख्या मे वडी हो, किंतु शक्ति की दृष्टि से अपूर्ण है, कमजोर है। पाडवो की सेना सख्या मे कम होते हुए भी परिपूर्ण और वलवान् दीखती है। यह अर्थ लेने मे कठिनाई है। दुर्योधन का आशय यही हो सकता है कि हमारी सेना का वल कम नही है। इसलिए अपर्याप्त का अर्थ अमर्यादित ही लेना योग्य मालूम होता है। दुर्योधन ने उद्योग पर्व मे भी धृतराष्ट्र से यही कहा था कि हमारी सेना वडी है और वलवान् है, इसलिए विजय हमारी ही होनेवाली है।

(२) **तु भीमाभिरक्षितं इदं एतेषा वलं पर्याप्तम्**—लेकिन भीम ने जिस सेना का रक्षण किया है, वह पाडवो की सेना मर्यादित है।

विनोवाजी कहते है कि कौरवो की सेना अमर्यादित थी। लेकिन अमर्यादित होना जैसे गुण माना जायगा, वैसे ही वह कावू मे न रहे तो सेना का अमर्यादित होना कमजोरी मानी जायगी। वैसे ही पाडवो की सेना मर्यादित थी। मर्यादित सेना यो तो अमर्यादित सेना के मुकावले मे कमजोर ही मानी जायगी। लेकिन मर्यादित सेना यदि चुने हुए लोगो की हो तो वह अमर्यादित सेना की अपेक्षा वलवान् सावित होगी। अमर्यादित सेना चुने लोगो की होना सभव नही।

कौरवो की सेना ११ अक्षौहिणी थी और पाडवो की सेना ७ अक्षौहिणी। एक अक्षौहिणी मे २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोडे, १,०९,३५० पैदल सैनिको का समावेश होता है।

: ११ :

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

हि=लेकिन, **भवन्तः सर्व एव**=आप (हम) सभी, **सर्वेषु च अयनेषु**=अपने-अपने सारे नियत स्थानो मे, **यथाभागं अवस्थिताः**=यथावत् स्थित होकर, **भीष्म एव अभिरक्षन्तु**=भीष्म का ही सभी रक्षण करें।

इस श्लोक मे तीन वाते हैं

(१) **हि भवन्तः सर्व एव सर्वेषु च अयनेषु**—लेकिन आप (हम) सभी अपने-अपने सारे नियत स्थानो मे। यह एक वडे महत्त्व की वात है, जिसकी ओर दुर्योधन सकेत कर रहा है। चाहे युद्ध हो चाहे साधना, विना योजना के या विना निश्चय पर स्थिर हुए सफलता नही मिलती। जीवन मे भी सतत भीतरी और वाहरी युद्ध चलता रहता है। इसलिए नियत स्थान की वात महत्त्व-पूर्ण है।

(२) **यथाभागं अवस्थिताः**—जो जिसे सौपा है, उसी स्थान पर स्थित होकर, स्थिर रहकर यानी उस स्थान से न हटकर। पहले साधना निश्चित कर फिर उसमे स्थिर रहना, डटे रहना महत्त्व की वात है। साधना या कर्तव्य निश्चित नही करेगे, तो विकारो का मुकावला कर उन्हे नष्ट नही कर सकेगे। साधना निश्चित करके भी यदि उसमे डटे नही रहते, स्थिर नही रहते तो विकारो का मुकावला नही हो सकता। इसलिए साधना और कर्तव्य निश्चित होने के वाद भी उसमे दीर्घ-काल तक स्थिर रहना वहुत जरूरी है। साधना या कर्तव्य मे दीर्घकाल तक स्थिर नही रहते और वह भी वदलता रहता है, तो ध्येय हासिल करना सभव नही। कई साधक साधना या कर्तव्य निश्चित करके भी उसे छोडते रहते है। इसी कारण वे चित्त की चचलता दूर नही कर पाते और विकारो को हटाने मे समर्थ नही होते।

(३) **भीष्मं एव अभिरक्षन्तु**—भीष्म का ही सव रक्षण करे। भीष्म हमारी सेना के मुख्य सेनापति है, उनका रक्षण करना वहुत जरूरी है। युद्ध की जो भी व्यूह-रचना निश्चित हो और उसमे जिसके लिए जो स्थान मुकर्रर किया गया हो, उसे न छोडते हुए यदि हम लड़ेगे तो भीष्म का रक्षण होगा।

जो साधना या कर्तव्य निश्चित करते है, उसके अतिम लक्ष्य का रक्षण करना जरूरी है। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि साधना मे तन्मय हो जायँ और सतत यह देखते रहे कि जो प्राप्त करना है, परमात्मा का जो अनुभव प्राप्त करना है, उसकी तरफ हम जा रहे है या नही। उस तरफ हम प्रगति कर रहे है या नही।

: १२ :

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥

तस्य हर्षं संजनयन्=दुर्योधन को हर्ष पैदा करते हुए, प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः=प्रतापी कुरुवश के सवमे वृद्ध पितामह ने, उच्चैः सिंहनादं विनद्य=ऊँचे स्वर मे सिह-गर्जना करते हुए, शख दध्मौ=शख फूंका।

इस श्लोक मे तीन वाते है

(१) **तस्य हर्षं संजनयन्**—दुर्योधन को हर्ष पैदा करते हुए। संजय धृतराष्ट्र को वता रहे हैं कि दुर्योधन के मन मे अपने पक्ष अथवा भीष्म-द्रोणाचार्य के वारे मे सन्देह पैदा न हो जाय, इसलिए भीष्माचार्य उत्साह से भरकर ऊँची आवाज मे शख फूंकने लगे।

(२) **प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः**—प्रतापी, कुरुवश मे सवसे वृद्ध और कौरव-पाडवो के लिए पितामह। यह भीष्माचार्य के प्रति गौरव-पूर्ण शब्दो का प्रयोग है। एक तो भीष्माचार्य प्रतापी हैं, दूसरे सवसे वृद्ध अर्थात् अनुभवी है, तीसरे सवके लिए दादा के स्थान पर है, पूजनीय है। दूसरे अध्याय के चौथे श्लोक मे अर्जुन ने भीष्म और द्रोणाचार्य दोनो को **पूजार्हा** यानी पूजनीय वताया है।

(३) **उच्चैः सिंहनादं विनद्य शंखं दध्मौ**—ऊँची आवाज से सिह-गर्जना करते हुए शख फूंका। शख वजाना युद्ध शुरू होने की तैयारी का सकेत

है। लेकिन दुर्योधन का उत्साह वढाना यहाँ विशेष रूप से अभिप्रेत है।

: १३ :

तत शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥

तत.=उसके (भीष्माचार्य के शख वजाने के) वाद, शखाः=वहुत-से शख, च भेर्यः=और नगाडे, च पणव=और ढोल, आनक=खजीर, गोमुखाः=मृदग (आदि रणवाद्य), सहसा एव=एक साथ, अभ्यहन्यन्त=वजने लगे। स शब्द=(उन वाद्यो की) वह आवाज, तुमुल अभवत्=भयानक होने लगी।

इस श्लोक मे दो वाते है .

(१) **ततः शंखाः च भेर्यः च पणवानक-गोमुखाः सहसा एव अभ्यहन्यन्त**—भीष्माचार्य के शख वजाने के वाद दूसरे असख्य शख, नगाडे, ढोल, खजीर, मृदग आदि एक साथ, एकदम वज उठे। भीष्माचार्य प्रमुख सेनापति थे, अत उनसे पहले दूसरा कोई भी शख आदि वाद्य नही वजा सकता था।

(२) **सः शब्दः तुमुलः अभवत्**—भिन्न-भिन्न वाद्यो की वह आवाज वहुत भयकर होने लगी। आवाज की भयकरता का आशय यह कि कौरवो की सेना का वल वाद्यो के वजने से वाहर प्रकट होने लगा। नैतिक दृष्टि से कौरवो के पक्ष मे न्याय नही था, यह सभी जानते थे। सजय और धृतराष्ट्र भी जानते थे। इसलिए कौरवो की विजय नही होगी, यही सवको निश्चित रूप से लग सकता था। इससे धृतराष्ट्र भी अस्वस्थ हो सकते थे। इसलिए सजय वता रहे है कि कौरवो की सेना ऐसी वलवान् थी कि उसके भिन्न-भिन्न वाद्यो की आवाज इतनी भयानक होने लगी कि कौरवो की विजय का निश्चय हो चला।

: १४ :

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शखौ प्रदध्मतुः॥

तत.=उसके वाद, श्वेतै. हयैः युक्ते=सफेद घोडे से युक्त, महति स्यन्दने=वडे रथ पर, स्थितौ=वैठे हुए, माधवः च पाडव. एव=श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनो ने ही। दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः=दिव्य शख वजाये।

इस श्लोक मे तीन वाते है .

(१) **तत. श्वेतैः हयैः युक्ते**—उसके वाद सफेद घोडे से युक्त। उसके वाद यानी कौरव-पक्ष के शख और अनेक प्रकार के वाद्य वज चुकने के पश्चात्। अव पाडवो के पक्ष का वर्णन कर रहे है। पाडवो के पक्ष मे मुख्य पात्र श्रीकृष्ण और अर्जुन ही थे। सेनापति धृष्टद्युम्न थे, फिर भी अधिकारी पुरुष श्रीकृष्ण और अर्जुन थे। इसलिए पाडवो की सेना मे शख वजाने की शुरुआत श्रीकृष्ण और अर्जुन से हुई। जिस पक्ष मे स्वय भगवान् श्रीकृष्ण है, उस सेना का वर्णन अधिक गौरवपूर्ण करना सजय के लिए स्वाभाविक ही था। धृतराष्ट्र के मन मे भी भगवान् श्रीकृष्ण के वारे मे आदर-भाव था ही। इसलिए गौरवपूर्ण वर्णन सुनने मे धृतराष्ट्र के मन मे क्षोभ होने की सभावना नहीं थी। पहले भगवान् जिस रथ मे वैठे थे, उसके घोड़ो का वर्णन किया है। रथ के घोडे विलकुल सफेद थे। जहाँ स्वय भगवान् सारथि के रूप मे विराजमान है। यानी जहाँ इन्द्रिय-रूपी घोडे और मनरूपी लगाम वश मे है, वहाँ घोडे (इन्द्रियाँ) स्वच्छ शुभमार्ग पर, सन्मार्ग पर चलनेवाले होने ही चाहिए।

(२) **महति स्यन्दने स्थितौ**—वडे रथ पर वैठे हुए। भगवान् जिस रथ के सारथि है, वह रथ वडा होना ही चाहिए। क्योकि भगवान् दरअसल सपूर्ण ब्रह्माड मे व्यापक रूप से स्थित है। उनकी दृष्टि भी व्यापक है। अत उनका

रथ भी विशाल है और अर्जुन (साधक) भी भगवान् के रथ पर बैठे हुए हैं। साधक की दृष्टि भी सकुचित नही हो सकती। साधक सकुचित दृष्टि रखें तो साधना ही न हो सकेगी। इसी-लिए अर्जुन भी इसी बडे रथ पर बैठे है।

(३) **माधव· च पांडव एव दिव्यौ शखौ प्रदध्मतु·**—श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनो ने ही दिव्य (अलौकिक) शंख बजाये। भगवान् अलौकिक है ही और अर्जुन भी साधक होने से अलौकिक है, क्योकि सामान्य लोगो से उनकी योग्यता अधिक थी। दोनो अलौकिक तो उनके शख भी दिव्य यानी अलौकिक।

इस श्लोक के विवरण मे विनोबाजी लिखते है कि "'मै शस्त्र धारण नही करूँगा' यह प्रतिज्ञा करके पाडवो की मदद मे सारथि बनकर पधारे श्रीकृष्ण शख बजानेवालो मे पहले थे, वे निष्पक्ष पक्षपाती है ही।"

फिर विनोबाजी लिखते हे "कठोपनिषद् के रूपक मे आत्मा को रथी और बुद्धि को सारथि बताया है। गीता के रूपक मे आत्मा (अर्जुन) को रथी और परमात्मा (भगवान् श्रीकृष्ण) को सारथि बताया हे। पहली भूमिका भी गीता को मान्य है (अ० २ श्लो० ४९ और अ० १८ श्लो० ६३)। लेकिन दूसरी, गीता की विशिष्ट भूमिका है (अ० ७ श्लो० १ और अ० १८ श्लो० ६६)।"

वास्तव मे श्रीकृष्ण को पहले शख बजाना नही चाहिए था, बल्कि शख बजाना ही नही चाहिए था, क्योकि वे सिर्फ अर्जुन के सारथि ही बने थे। लेकिन पांडवो का पक्ष सत्पक्ष था, इसलिए उत्साह मे आकर उन्होने पहले ही शख बजा दिया। एक तरह से युद्ध की शुरुआत भगवान् से ही हो गयी। भगवान् की प्रेरणा से ही तो मनुष्य सत्कर्म करता है। भगवान् की प्रेरणा हमेशा सत् की तरफ ही रहती है। कौरवो यानी काम-क्रोध आदि विकारो को जीतना हो, तो भी भगवान् की प्रेरणा पहले होनी चाहिए। उनकी प्रेरणा, कृपा के बिना विकारो को जीतना सभव नही। इस दृष्टि से भगवान् ने पहले शख बजाया, यह उचित ही था।

: १५ :

पाचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजय·।
पौंड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदर·॥

हृषीकेश पाचजन्यम्=हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियो के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण ने पाचजन्य (नामक शख बजाया), धनजय· देवदत्तम्=अर्जुन ने देवदत्त (नामक शख बजाया), भीमकर्मा वृकोदर· पौंड्र महाशख दध्मौ=जिनके कर्म भयकर है, ऐसे भीम ने पौंड्र नामक बडा शख बजाया।

इस श्लोक मे तीन बाते है

(१) **हृषीकेश· पांचजन्यम्**—हृषीकेश अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण। 'हृषीकेश' मे दो पद हैं—'हृषीक' यानी इन्द्रियाँ और ईश यानी स्वामी। भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रियो के स्वामी है, क्योकि वे सिद्धज्ञानी है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है 'हृषी' यानी हर्ष, आनद देनेवाला और 'केश' यानी किरण। सूर्य और चन्द्र की किरणो द्वारा भगवान् सपूर्ण जगत् को आनद देता रहता हे। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण ने पाचजन्य नामक शख बजाया।

(२) **धनंजय देवदत्तम्**—धनजय (अर्जुन) ने देवदत्त नाम का शख बजाया।

विनोबाजी ने 'पाचजन्य' और 'देवदत्त' शब्दो का बडा मार्मिक अर्थ बताया है। पाचजन्य का मतलब है पचजन, सब लोग। सब लोगो के कल्याण के लिए भगवान् की आवाज होती है। सबके कल्याण के लिए जो होता है वह पाचजन्य शख। देवदत्त का मतलब है, भक्त को परमात्मा के प्रसाद से प्राप्त देन।

यहाँ अर्जुन भक्त है। अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भक्त की यह आवाज उसकी अपनी नहीं है। भगवान् के प्रसाद से प्राप्त हुई यह आवाज है, इसलिए उसे देवदत्त कहा गया है।

(३) **भीमकर्मा वृकोदर पौंड्रं महाशंखं दध्मौ**–जिसके कर्म भयंकर है, ऐसे भीम ने पौंड्र नाम का बड़ा शंख बजाया। यहाँ वृकोदर यानी भीम के पीछे 'भीमकर्मा' विशेषण लगा है। अर्थात् भयंकर, असामान्य पराक्रम के कार्य करनेवाला। पौंड्र शंख महाशंख था। उसके जैसा दूसरा शंख नहीं था। भीम असामान्य कर्म करनेवाले थे, इसलिए उनके शंख की बराबरी कौन कर सकता था?

: १६-१७-१८ :

अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥

पृथिवीपते=हे पृथ्वी के राजा धृतराष्ट्र, **कुंतीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः**=कुंती-पुत्र राजा युधिष्ठिर (धर्मराज) ने, **अनंतविजयम्**=अनन्त-विजय (नामक शंख बजाया)। **नकुलः च सहदेवः**=नकुल और सहदेव ने, **सुघोष-मणिपुष्पकौ**=सुघोष और मणिपुष्पक (नामक शंख बजाये)। **च परमेष्वासः काश्यः**=और जिसके पास बड़े-बड़े धनुष्य हैं, ऐसे महाधनुर्धर काशिराज, **च महारथः शिखंडी**=और महारथी शिखंडी, **धृष्टद्युम्नः च विराटः**=धृष्टद्युम्न और राजा विराट्, **च अपराजितः सात्यकिः**=जिसकी पराजय कभी हो नहीं सकती ऐसे सात्यकि, **द्रुपदः**=राजा द्रुपद, **च द्रौपदेयाः**=और द्रौपदी के (पाँच) पुत्र, **च महाबाहुः सौभद्रः**=जिसके बाहु (भुजाएँ) बहुत सुदृढ हैं, ऐसे सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु, **सर्वशः**=इन सबने, सब ओर से, **पृथक् पृथक्**=(अपने-अपने) अलग-अलग, **शंखान् दध्मुः**=शंख बजाये।

इन तीन श्लोकों में बचे पांडवों के तथा उनकी सेना के प्रमुख योद्धाओं के शंख बजाने का वर्णन है।

१६वें श्लोक में धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव के नाम आये हैं। युधिष्ठिर धर्म की मूर्ति थे। अत्यंत सत्यनिष्ठ थे। उन्होंने अनंत-विजय नामक शंख बजाया। अनंतविजय यानी हमेशा विजय प्राप्त करा देनेवाला।

नकुल ने सुघोष नामक शंख बजाया। सुघोष यानी मधुर ध्वनिवाला।

सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंख बजाया। मणिपुष्पक अर्थात् जिसका आकार मणि जैसा हो और ध्वनि पुष्प जैसी कोमल।

१७वें श्लोक में काशिराज आदि पाँच योद्धाओं का जिक्र है। काशिराज का उल्लेख ५वें श्लोक में भी आया है। ये युधिष्ठिर के मित्र थे। बड़े पराक्रमी थे। इसलिए इनको **परमेष्वास** कहा है। जिनका इष्वास (धनुष) बहुत बड़ा है, ऐसे काश्य।

महारथी शिखंडी पहले द्रुपद राजा की पुत्री थी, बाद में स्थूणाकर्ण नामक यक्ष ने उसे पुरुष बना दिया। भीष्माचार्य को पराभूत करने के लिए युद्ध में इनका उपयोग किया गया था, ऐसी कथा है।

धृष्टद्युम्न का जिक्र तीसरे श्लोक में भी आया है। ये पांडवों की सेना के मुख्य सेनापति थे।

विराट् का जिक्र चौथे श्लोक में भी आया है। ये मत्स्य-देश के पराक्रमी राजा थे।

अपराजित सात्यकि का जिक्र चौथे श्लोक में 'युयुधान' नाम से आया है। ये असामान्य योद्धा थे। इसलिए इन्हें 'अपराजित' कहा है।

१८वें श्लोक में राजा द्रुपद, द्रौपदी के पाँच पुत्र तथा अभिमन्यु (सौभद्र) का जिक्र है।

द्रुपद पांचाल देश के राजा थे। इनका जिक्र चौथे श्लोक में भी आया है।

द्रौपदेय यानी द्रौपदी के पाँच पुत्र। युधिष्ठिर के प्रतिविंध्य, भीम के सुतसोम, अर्जुन के श्रुतकीर्ति, नकुल के शतानीक और सहदेव के श्रुतकर्मा—पाडवों के इन पाँच पुत्रो ने अपने-अपने शख बजाये।

महाबाहु. सौभद्रः यानी जिसकी भुजाएँ बहुत पराक्रमी है, वह सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु। उसने भी अपना शख बजाया। यह १६ साल तक जीवित रहा। इसका तथा द्रौपदी के पाँच पुत्रो का जिक्र छठे श्लोक मे भी है।

अत मे कहते है कि **सर्वश. पृथक् पृथक् शंखान् दध्मुः**—इन सब महानुभावो ने अपने-अपने अलग-अलग शख बजाये।

सजय ने कौरव-पक्ष के सेनानायको के शख बजाने का वर्णन सिर्फ भीष्माचार्य के नाम का जिक्र करके समाप्त किया है। कौरवो के अन्य सेनापतियो ने शख बजाये, मगर उनके नाम नही बताये और न उनके शख के ही नाम बताये। पाडवो के सेनापतियो का वर्णन नाम ले-लेकर किया है और श्रीकृष्ण, अर्जुन, धर्मराज, भीम, नकुल और सहदेव इन छह के शखो के नाम भी बताये है। साथ ही काश्य, शिखडी, धृष्टद्युम्न, विराट्, सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पाँच पुत्र, अभिमन्यु इस तरह १२ सेनापतियो के नाम लिये है। इस प्रकार १२ योद्धा, ५ पाडव और भगवान् श्रीकृष्ण मिलकर १८ हो जाते है। इसमे मूल बात यही है कि पाडवो का पक्ष सत्पक्ष होने से हर किसीकी सहानुभूति पाडवो के पक्ष की तरफ ही रहती थी।

: १९ :

स घोषो धार्तराष्ट्राणा हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवी चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥

नभ च पृथिवी च एव=आकाश और पृथ्वी दोनो को ही, **व्यनुनादयन्**=व्याप्त करती हुई, **स तुमुल घोष.**=(शखो की) उस भयानक आवाज ने, **धार्तराष्ट्राणाम्**=धृतराष्ट्र के पुत्रो (कौरवो) के, **हृदयानि**=हृदयो को, **व्यदारयत्**=विदीर्ण किया, उनके पैदा किया।

इस श्लोक मे दो बाते है

(१) नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन् स. तुमुल· घोषः—आकाश और पृथिवी को व्याप्त करती हुई शखो की भयानक आवाज ने। पाडवो की तरफ से कुल मिलाकर १८ महारथियो ने जो शख बजाये, उनकी आवाज आकाश और पृथ्वी दोनो मे व्याप्त हो गयी, इतनी घोर आवाज थी। दुर्योधन के पक्ष के शखो की आवाज भयानक थी, इतना ही वर्णन है। मगर सारे आकाश और पृथ्वी मे वह आवाज व्याप्त हो गयी, ऐसा वर्णन नही है। विनोबाजी लिखते है कि कौरवो की सेना अपेक्षाकृत बडी होने पर भी उसके भीतर नैतिक बल नही था। पाडवो की सेना छोटी होने पर भी उसमे नैतिक बल था।

(२) धार्तराष्ट्राणा हृदयानि व्यदारयत्—धृतराष्ट्र के पुत्रो (कौरवो) के हृदयो को विदीर्ण किया यानी उनके मन मे डर-सा पैदा किया। कौरवो की सेना पाडवो की सेना से बडी थी, इसलिए दुर्योधन को एक प्रकार का भरोसा था कि उनकी विजय होगी। लेकिन पाडवो के पक्ष की तरफ से जब अनेक सेनापतियो ने अपने शख बजाये, तब वह आवाज इतनी भयकर हुई कि उससे कौरवो के मन मे डर-सा पैदा हो गया। उन्हे लगता था कि उनकी सेना सख्या मे बडी होने से उनकी जीत निश्चित होगी। लेकिन वह अदाजा गलत साबित हो सकता है, ऐसी शका कौरवो के मन मे पाडवो के पक्ष के शखो के बजने पर होने लगी।

: २० :

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वज।
प्रवृत्ते शस्त्रसपाते धनुरुद्यम्य पाडव।
हृषीकेश तदा वाक्यमिदमाह महीपते॥

महीपते=हे महाराज, **अथ**=इसके पश्चात् यानी दोनो तरफ से शख बजने के बाद, **कपिध्वजः पाडव**=जिसके ध्वज पर हनुमान् का चिह्न है, ऐसे पाडुपुत्र अर्जुन ने, **धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा**=धृतराष्ट्र के पुत्र (दुर्योधन आदि) व्यवस्थित रूप मे (युद्ध करने के लिए तैयार हुए हैं, यह) देखकर, **तदा शस्त्र-सपाते प्रवृत्ते (सति)**=और शस्त्रो के चलाने का समय आने पर, **धनु उद्यम्य**=अपने गाडीव धनुष को हाथ में उठाकर, **हृषीकेशं इदं वाक्य आह**=हृषीकेश से यह वचन कहा।

इस श्लोक मे तीन बाते है

(१) कपिध्वज· पांडव.–जिसके ध्वज पर हनुमान् का चिह्न है, उस पाडु के पुत्र अर्जुन ने। हनुमान् का चिह्न था यानी साक्षात् हनुमान् ही अर्जुन के रथ के ऊपर विराजमान थे, यह बताया है। अर्जुन के सारथि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण है अर्थात् भगवान् मार्गदर्शक है और जीवन सफल बनाने मे मददगार है हनुमान्। जहाँ हनुमान्‌जी है, वहाँ धर्म और विजय अवश्य होगी। भगवान् का मार्गदर्शन जीव को हमेशा धर्म-पथ पर ही रखेगा। भगवान् के सामने हम हमेशा झुकेगे, तो वे हमारे सारथि यानी मार्गदर्शक बन सकते है। हनुमान् यानी आदर्श ब्रह्मचारी। हम जीवन मे ब्रह्मचर्य से, सर्वेन्द्रिय-सयम से रहेगे तो हमे हमेशा ऊपर चढने मे सफलता मिल सकती है। १८वे अध्याय के ७८वे श्लोक मे बताया है कि जहाँ भगवान् सारथि है और अर्जुन जैसे साधक मुमुक्षु है, वहाँ विजय अवश्य मिलेगी।

(२) तदा धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते (सति)–तब धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि को व्यवस्थित रूप से युद्ध करने के लिए तैयार देखकर और शस्त्रो के चलाने का समय आने पर। अर्जुन ने देखा कि सामनेवाला पक्ष युद्ध के लिए व्यवस्थित रूप से खडा है। इससे अर्जुन को प्रेरणा मिलती है। अर्जुन को कौन-सी प्रेरणा मिलती है, यह अगले श्लोक मे बता रहे है। जब तक सामनेवाले कौरव-पक्ष के सैनिक पूरे युद्ध करने की स्थिति मे नही थे, तब तक अर्जुन स्थिर थे यानी कोई विचार उनके मन मे नही आया था। जीव की जीवन मे यही स्थिति रहती है। काम, क्रोध आदि विकार अपने दल के साथ जब तक सामने उपस्थित नही होते, तब तक जीव स्वस्थ रहता है। जब विकार उपस्थित हो जाते है, तब वह सोचने लगता है।

(३) हृषीकेश इदं वाक्यं आह–हृषीकेश से यानी श्रीकृष्ण से यह वचन कहा। जब विकार हमला करने के लिए तैयार होते है तब जीव भगवान् के समक्ष जाकर उनसे प्रेरणा लेने की कोशिश करता है। अर्जुन ने देखा कि अब लडाई शुरू होनेवाली है तो भगवान् से तत्काल यह वचन कहा, यानी प्रार्थना की।

[सामान्यत एक श्लोक मे चार चरण होते है। लेकिन विशेष रूप से दो चरणो के और छह चरणो के भी श्लोक होते है। इस अध्याय मे श्लोक २१ और ३० तथा २० और २६ क्रमश उपर्युक्त दो प्रकार के नमूने है।]

: २१-२२ :

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥

अच्युत=हे श्रीकृष्ण, **मे रथं**=मेरा रथ, **उभयो. सेनयो. मध्ये**=दोनो सेनाओ के बीच, **स्थापय**=खडा कीजिये, **यावत्**=ताकि, **योद्धुकामान् अवस्थितान्**=युद्ध की इच्छा से प्रस्तुत, **एतान्**=इन (योद्धाओ) को, **अहं निरीक्षे**=मै ठीक-ठीक देख सकूँ, **अस्मिन् रणसमुद्यमे**=जिससे कि इस रणसग्राम मे, **कैः सह**=किन-किनके साथ, **मया योद्धव्यम्**=मुझे लड़ना है, यह मुझे ठीक तरह मालूम हो जाय।

इन श्लोको मे तीन बाते है :

(१) अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से कह रहा है **अच्युत, मे रथं उभयोः सेनयोः मध्ये स्थापय**—हे अच्युत, दोनो सेनाओ के बीच मेरे रथ को खडा कीजिये।

भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानी थे। ज्ञानी नम्र होते है। अहकार न होने से कर्म करने की तरफ सिर्फ कर्तव्य-दृष्टि रहती है। सामान्य मनुष्य मे मानापमान की जो भावना रहती है, वह ज्ञानी पुरुष मे नही होती। इसलिए भगवान् की भूमिका जब सारथि की थी, तो अर्जुन जो हुक्म करेगा, उसका वे पालन करेगे।

यहाँ अर्जुन ने भगवान् के लिए 'अच्युत' शब्द का प्रयोग किया है। अच्युत यानी अपने स्वरूप से न खिसकनेवाला, भ्रष्ट न होनेवाला, अपने स्वरूप मे हमेशा स्थित रहनेवाला। ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप से कभी नही डिगते।

(२) **यावत् योद्धुकामान् अवस्थितान् एतान् अहं निरीक्षे**—ऐसे स्थान पर रथ खडा कीजिये, ताकि मै युद्ध की इच्छा से खडे हुए दुर्योधन की सेना को ठीक से देख सकूँ। यहाँ अर्जुन ने दो सेनाओ के बीच रथ खडा करने के लिए कहा है, अत यहाँ सेना का अर्थ कौरव-पाडव दोनो की सेना करना चाहिए। लेकिन अर्जुन को लडना था दुर्योधन की सेना के साथ, इसलिए दुर्योधन की सेना मे कौन-कौन है, किस तरह वे तैयार होकर आये है, यह जानने की दृष्टि मुख्य रूप से अर्जुन के सामने है। यह बात आगे के श्लोक से और स्पष्ट हो जाती है।

(३) अर्जुन के सामने युद्ध आ पडा था, इसलिए कर्तव्य समझकर युद्ध के लिए अर्जुन प्रवृत्त हुए। यह लडाई आपसी होने से लडाई मे प्रवृत्त होने मे अर्जुन का बहुत उत्साह था, सो बात नही। धर्म-पालन की दृष्टि से युद्ध जरूरी था, फिर भी अर्जुन के सामने दो दृष्टियाँ थी—एक तो लडाई मे कम-से-कम हिसा हो और दूसरी, जब कि लडाई शुरू हुई ही है तो उसमे अपनी विजय हो। युद्ध मे जीतना हो और उसमे हिंसा कम-से-कम हो, ऐसा यदि सामने उद्देश्य है तो जिन योद्धाओ के साथ लडाई करनी है, उन्हे लडाई शुरू होने के पूर्व देख लेना जरूरी हो जाता है। इस दृष्टि से अर्जुन भगवान् से कह रहे है कि मेरा रथ दोनो सेनाओ के बीच खडा कीजिये, ताकि जिनके साथ मुझे लडना है, उन्हे मै ठीक तरह देख लूँ।

: २३ :

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥

युद्धे=युद्ध मे यानी युद्ध करते हुए, **दुर्बुद्धे धार्तराष्ट्रस्य**=जिसकी बुद्धि अधर्मनिष्ठ है ऐसे दुष्ट दुर्योधन का, **प्रिय-चिकीर्षव**=प्रिय चाहनेवाले, **ये एते**=ये जो सब, **अत्र समागता**=यहाँ इकट्ठे हुए है, **(तान्) योत्स्यमानान्**=(उन) लडनेवाले सबको, **अह अवेक्षे**=मै देखूँ, देख लूँ।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) **दुर्बुद्धे· धार्तराष्ट्रस्य**—जिसकी बुद्धि अधर्मनिष्ठ है, ऐसे दुष्ट दुर्योधन का। यहाँ अर्जुन दुर्योधन के लिए विशेषण लगा रहा है। मनुष्य के मन मे असद्वृत्ति और सद्वृत्ति दोनो रहती है। असद्वृत्ति का उदाहरण दुर्योधन है। असद्वृत्ति मे मुख्य वृत्ति केन्द्र-स्थान मे रहती है और बाकी की असद्वृत्तियाँ उसके इर्द-गिर्द रहती है। यहाँ केन्द्र-स्थान मे दुर्योधन है। विनोबाजी ने दुर्योधन का अर्थ बताया है, **दुराग्रह**। सद्बुद्धि सत् का निर्णय देती है। दुर्बुद्धि गलत निर्णय देती है। सत तुकाराम महाराज ने परमेश्वर से माँगा है—**दुर्बुद्धि**

ते मना, कदा नुपजो नारायणा—हे नारायण ! मन मे कभी दुर्बुद्धि पैदा न हो। मनुष्य का विनाश दुर्बुद्धि से होता है। सज्जनो मे भी कभी दुर्बुद्धि पैदा होती हुई देखने मे आती है, इसलिए हमेशा जागृत रहकर तुकाराम ने ईश्वर से जैसी प्रार्थना की है, वैसी प्रार्थना करनी चाहिए कि मेरे मन मे कभी दुर्बुद्धि पैदा न हो।

(२) दूसरी बात है, **युद्धे प्रिय-चिकीर्षव. ये एते अत्र समागता· (तान्) योत्स्यमानान् अहं अवेक्षे**—युद्ध करते हुए प्रिय चाहनेवाले ये जो सब यहाँ इकट्ठे हुए है, उन सबको मै देखूँ, देख लूँ। दुर्योधन का पक्ष अधर्म का है, ऐसा जानते हुए भी दुर्योधन की ओर से लडने की इच्छा रखने-वाले यहाँ इकट्ठे हुए है। यह सब अधर्म की सेना है। दुर्योधन तो अपने स्वार्थ मे मदाध हो गया था, किन्तु ये जो दुर्योधन की ओर से लडने को तैयार हो गये, उनका कोई निजी स्वार्थ न होने पर भी वे दुर्योधन को युद्ध से परावृत्त करने के बजाय उन्हे मदद करने आये है, यह एक आश्चर्यकारक घटना है। यही आशय या कटाक्ष अर्जुन के मन मे रहा है। इसलिए वह कह रहा है कि दुर्योधन की ओर से लडने के लिए जो तैयार हो गये है, उन्हे जरा देख तो लूँ कि कौन-कौन आये है।

: २४-२५ :

सजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषा च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥

भारत=हे महाराज धृतराष्ट्र, **गुडाकेशेन**=अर्जुन से, **एव उक्त हृषीकेश**=इस प्रकार कहे गये हृषीकेश ने यानी भगवान् ने, **उभयो सेनयो मध्ये**=दोनो सैन्यो के बीच, **भीष्म-द्रोण-प्रमुखतः**=भीष्म, द्रोण के सामने, **च सर्वेषा महीक्षिता (प्रमुखतः)**=और सब राजाओ के सामने, **रथोत्तम स्थापयित्वा**=(अर्जुन के) उत्तम रथ को खडा करके, **पार्थ**=हे अर्जुन, **एतान् समवेतान् कुरून् पश्य**=इकट्ठे हुए इन सब कौरवो को देख लो, **इति उवाच**=ऐसा कहा।

२४वे श्लोक मे एक बात है, और २५वे मे दूसरी बात।

श्लोक २४ मे बताया है कि अर्जुन ने जैसे कहा कि दो सैन्यो के बीच मेरे रथ को खडा कीजिये, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण ने रथ खडा कर दिया। इसमे रथ के पीछे 'उत्तम' विशेषण जोडा है। रथ सामान्य नही है, भला वह रथ सामान्य कैसे हो सकता है?

विनोबाजी ने इस श्लोक के मराठी अनुवाद मे एक खूबी बतायी है। मूल मे तो श्रीकृष्ण भग-वान् ने रथ खडा किया, इतना ही है। लेकिन विनोबाजी ने 'शीघ्र' शब्द अनुवाद मे अपनी ओर से जोड दिया है। शीघ्र यानी तुरन्त ही। भगवान् की दक्षता, तत्परता, नम्रता, निरहकारिता इसमे बतायी गयी है। अर्जुन के कहते ही, तुरन्त ही रथ को खडा कर दिया। अर्जुन ने सिर्फ दो सैन्यो के बीच रथ को खडा करने के लिए कहा, लेकिन भगवान् ने बुद्धिपूर्वक, विवेकपूर्वक भीष्म-द्रोण के सामने और सब प्रमुख राजाओ के सामने रथ खडा कर दिया। सेवक कैसा होना चाहिए, इसका उत्तम उदाहरण भगवान् ने अपने आचरण से प्रस्तुत किया। सेवक को हमेशा दक्ष, जाग्रत, सतर्क रहना चाहिए और कोई भी सेवा-कार्य या जीवन की प्रत्येक क्रिया अत्यन्त विवेकपूर्वक करनी चाहिए। यह बोध भगवान् के इस कार्य से मिलता है।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण के लिए 'हृषीकेश' शब्द आया है। 'हृषीक' यानी इन्द्रियाँ और 'ईश' यानी स्वामी। भगवान् इद्रियो के स्वामी है, इस-लिए उन्हे हृषीकेश कहा है। इसका दूसरा भी अर्थ

है। हृषीकेश यानी वह, जिसके सिर के बाल सुन्दर हैं, प्रशस्त हैं।

'गुडाकेश' (अर्जुन) के भी दो अर्थ हैं। 'गुडाका' यानी निद्रा। निद्रा का 'ईश' यानी स्वामी। निद्रा जिसके वश मे है, निद्रा को जिसने जीत लिया है। दूसरा अर्थ 'गुडा' यानी गूढ या घने जिसके 'केश' हैं, वह।

श्लोक २५ मे यह बताया है कि रथ को भीष्म, द्रोण और प्रमुख राजाओ के सामने खडा करके भगवान् श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा कि तुम्हारे कहे अनुसार मैंने दोनो सैन्यो के बीच रथ खडा कर दिया है। इतना ही नही, ऐसे स्थान पर खडा किया है कि उस स्थान से भीष्म, द्रोण और प्रमुख राजाओ को तथा सारी सेनाओ को तुम देख सको।

: २६-२७ :

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥

तत्र उभयो अपि सेनयो=इस तरह श्रीकृष्ण के कहने के बाद वहाँ दोनो ही सेनाओ के बीच, **स्थितान्**=स्थित खडे हुए, **पितॄन्**=(भूरिश्रवा आदि) चाचाओ को, **अथ पितामहान्**=और (भीष्म आदि) पितामहो को, **आचार्यान्**=(द्रोण आदि) आचार्यो को, **मातुलान्**=(शल्य आदि) मामाओ को, **भ्रातॄन्**=(दुर्योधन आदि) भाइयो को, **पुत्रान्**=(अभिमन्यु, लक्ष्मण आदि) पुत्रो को, **पौत्रान्**=(उन) पुत्रो के पुत्रो को, **तथा सखीन्**=वैसे ही (अश्वत्थामा आदि) मित्रो को, **श्वशुरान्**=(द्रुपद आदि) ससुरो को, **च एव सुहृद**=और वैसे ही (कृतवर्मा, भगदत्त आदि) निरपेक्ष भाव मे उपकार करनेवाले स्नेहियो को, **पार्थ अपश्यत्**=अर्जुन ने देखा। **तान् सर्वान् अवस्थितान् बधून् समीक्ष्य**=उन सब सगे-सबधी, रिश्तेदार और मित्र आदि स्नेहियो को देखकर, **परया कृपया आविष्टः**=अति करुणा मे ग्रस्त हुआ, **स कौन्तेय**=वह अर्जुन, **विषीदन्**=विषाद यानी दु ख-शोक करता हुआ, **इद अब्रवीत्**=यह (वचन) बोला।

२६वे श्लोक मे ६ चरण हैं।

इन दो श्लोको मे यही बताया है कि अर्जुन ने दोनो सेनाओ मे किन-किनको देखा और उन सारे रिश्तेदारो को देखकर अर्जुन के मन की क्या स्थिति हुई। गुरु, दादा, चाचा, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, स्नेही, श्वशुर इन दसो का नाम लिया है। अर्जुन ने सबको देखा और उसके चित्त मे सगे-सबधी, रिश्तेदारो का प्रचड मोह पैदा हुआ। यहाँ 'करुणा' वाचक 'कृपा' शब्द आया है। ज्ञानी पुरुषो मे जो करुणा पायी जाती है, वह मोह नही होता। उसमे जगत् की तरफ देखने की परमात्म-दृष्टि रहती है। परमात्मा को ही प्राणिमात्र मे देखने के कारण अतिदीन, गरीब, दुःखी लोगो के प्रति हमदर्दी पैदा होती है और उनके दु ख दूर करने मे वे ज्ञानी पुरुष अखड लगे रहते हैं। यहाँ अर्जुन के मन मे जो करुणा पैदा हुई, वह रिश्तेदारो का, मित्रो का मोह था। इसलिए अतिवीर पुरुष होते हुए भी इन रिश्तेदारो का मोह पैदा होते ही उसके मन और शरीर की क्या स्थिति हो गयी, उसका वर्णन अगले श्लोको मे है।

: २८-२९-३० :

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गांडीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मन॥

कृष्ण=हे कृष्ण, **युयुत्सुम्**=युद्ध की इच्छा रखनेवाले **समुपस्थितम्**=(रणभूमि पर) उपस्थित हुए, **इम स्वजन दृष्ट्वा**=इन स्वजनो या रिश्तेदारो को देखकर, **मम**

गात्राणि=मेरे शरीर के सारे अवयव, **सीदन्ति**=ढीले पड रहे हैं, **च मुख परिशुष्यति**=ओर मुँह सूख रहा हे, **च मे शरीरे वेपथु**=मेरे शरीर मे कपन (हो रहा है), **च रोमहर्ष. जायते**=और शरीर के रोम खडे हो रहे हैं, **हस्तात् गाडीव स्रसते**=हाथ से गाडीव (धनुष) गिर रहा है, **च त्वक् एव परिदह्यते**=ओर शरीर की त्वचा भी जल रही है, **च (अह) अवस्थातु न शक्नोमि**=(मैं) खड़ा होने मे समर्थ नही हूँ, मेरे पॉव लडखडा रहे है, **च मे मन. भ्रमति इव**=और मेरा मन मानो चारो ओर भ्रमण कर रहा है, चक्कर खा रहा है।

इन श्लोको मे रिश्तेदारो को देखने के वाद अर्जुन अपने शरीर और मन की स्थिति का वर्णन कर रहा है। वह वता रहा है कि मेरे शरीर के सारे अवयव ढीले पड रहे है और मुख सूख रहा है। मेरा सारा शरीर कॉप रहा है और शरीर के रोम खडे हो रहे है, मेरे हाथ से गाडीव धनुष गिर रहा है। शरीर की चमडी जल रही है। इस तरह सारे शरीर की स्थिति ऐसी हो गयी है कि मेरे लिए खडा होना भी असभव-सा हो गया है, क्योकि पॉव लडखडा रहे हैं। इन वाह्य लक्षणो के कारण मेरा मन अभी स्थिर न रहकर चारो ओर घूम रहा है, भ्रमित हो रहा है।

दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ-वर्णन मे वताया है कि चित्त मे जव मोह पैदा होता है, तव वुद्धि यानी सारासार-विवेक-शक्ति भ्रमित हो जाती है और वह ठीक निर्णय नही ले पाती। शकराचार्य ने अपने भाष्य मे वताया है कि जव तक मनुष्य मे सत्-असत् का निर्णय लेने की शक्ति रहती है तभी तक उसे 'मनुष्य' कहा जायगा, अन्यथा उसका मनुष्यत्व नही रह पाता। यानी मनुष्य और पशु मे कुछ फर्क ही नही रहता।

सामान्य मनुष्य एक ही स्थान पर वहुत कमजोर पाया जाता है। वहाँ उसकी सिद्धात-निष्ठा, उसकी कर्तव्य-निष्ठा डगमगाने लगती है। वह स्थान इस अध्याय मे अर्जुन का उदाहरण लेकर वताया गया है। उसमे यह खूवी है कि जव तक रथ को सेनाओ के बीच खडा नही किया, तव तक अर्जुन की मन स्थिति विलकुल स्थिर रहती है, उसका लडने का निश्चय कायम रहता है। उसने अपना देवदत्त नाम का शख भी वजाया था।

दोनो सेनाओ के वीच रथ को खडा किया, तो वहाँ कौन-कौन लडने के लिए उपस्थित हुए थे, इसका प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। तव अर्जुन के मन मे छिपा हुआ सासारिक मोह जोर से फूट पडा। जव मन मोहग्रस्त हो जाता है, तव चित्त की शाति, स्थिरता मिट जाती है। इस मोह का स्वरूप इस अध्याय के आगे के श्लोको मे वताया गया है। पुत्र, पिता, माता आदि के सबध मे प्रेम पैदा होना एक वात है, उन पर आसक्त होना दूसरी वात। प्रेम का कभी निषेध नही। प्रेम वरावर रहना चाहिए। आसक्ति और मोह ही त्याज्य है। उनसे कर्तव्य-भ्रष्टता आ जाती है। अर्जुन की कर्तव्य-भ्रष्टता इस अध्याय के अत तक दिखा रहे हैं। उसने दुष्टो का सामना करना पवित्र कर्तव्य माना था, पर अव वह उस पवित्र कर्तव्य से हटना चाहता है। जव उसे मोह ने घेर लिया तव वह कर्तव्य से हटने की अनेक दलीले दे रहा है। इसे 'मोह-वाणी' ही कहेगे।

: ३१ :

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

केशव=हे कृष्ण, **च विपरीतानि निमित्तानि**=और सव विपरीत लक्षण, अशुभसूचक लक्षण, **पश्यामि**=देख रहा हूँ। **च आहवे**=और इस लडाई मे, **स्वजन हत्वा**=स्वजनो को मारकर, **श्रेय न अनुपश्यामि**=(मैं) कल्याण नही देख रहा हूँ।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है

(१) अर्जुन वता रहा है **च विपरीतानि निमित्तानि पश्यामि**—और सव विपरीत लक्षण

यानी अशुभसूचक लक्षण देख रहा हूँ। युद्ध करने से कोई शुभ परिणाम आयेगा, ऐसा नही लग रहा है।

आदमी कुछ शुभ परिणाम की अपेक्षा रख कर ही कर्म करता है। कर्म करने मे हरएक का लक्ष्य हमेशा परिणाम की तरफ रहता है। गाधीजी ने सारी गीता का निष्कर्ष 'फलासक्ति का त्याग' वतलाया है। अर्जुन ने इस युद्ध के परिणाम के बारे मे पहले सोचा नही था, यह नही कहा जा सकता। लडाई मे दोनो पक्षो के सब रिश्तेदार, मित्र आदि प्रियजन ही मरनेवाले है, यह सब मालूम होते हुए भी प्रत्यक्ष लडाई का मौका आने पर स्वजनासक्ति पैदा हुई और युद्ध करने का कर्तव्य या स्वधर्म छोडने को वह तैयार हो गया। आदमी स्वजन, प्रियजन के लिए स्वकर्तव्य या स्वधर्म भी छोडने के लिए एकदम तैयार हो जाता है, यही वतलाने के लिए यह पहला अध्याय है। जव चित्त मे मोह पैदा होता है तव स्वधर्म अधर्म लगता है। जो स्वधर्म नही, वह स्वधर्म लगने लगे, यही मोह का स्वरूप है। जव मोह होगा, तव सव उलटा ही दीखेगा। मोह अर्थात् भ्राति। जैसे ऑखो मे तिमिर रोग होने पर एक ही चद्र अनेक दीखता है, या मन मे सर्प के डर के कारण डोरी देखते ही सर्प की भ्राति हो जाती है, वैसे ही मोह पैदा होते ही चित्त मे भ्राति शुरू हो जाती है और आदमी सत्य-निर्णय की शक्ति खो वेठता है।

(२) **च आहवे स्वजनं हत्वा श्रेय. न अनुपश्यामि**—और इस लडाई मे स्वजनो, रिश्तेदारो को मारकर कल्याण नही देख रहा हूँ।

यदि लडाई स्वजनो, रिश्तेदारो, मित्रो आदि के विरुद्ध न होती, तो अर्जुन लडाई करने मे न हिचकता। क्योकि जीवन मे शत्रु के सामने, अन्यायी के सामने लडाई करना उसने अपना कर्तव्य, अपना धर्म माना था और उसका भलीभाँति पालन करता आ रहा था। इसलिए अव स्वजनो के, रिश्तेदारो के सामने न लडने का विचार उसके जीवन के साथ मेल नही खाता। अतएव 'लडाई करने मे, अन्याय का सामना करने मे सवका कल्याण है' ऐसा समझकर जव अन्याय का प्रतीकार करने का निर्णय सर्वसम्मति से लिया गया, तो अव उसे स्वजनो के मोह के कारण कैसे वदला जा सकता है? यहाँ शस्त्रो से युद्ध करना मुख्य वात नही। मुख्य वात तो अन्याय का मुकावला करना है, और वह कर्तव्य है या नही, यह देखना है।

: ३२ :

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥

कृष्ण=हे कृष्ण, **विजय न काक्षे**=मुझे विजय-प्राप्ति की इच्छा नही है, **च राज्य न (काक्षे)**=और राज्य की भी इच्छा नही हे, **च सुखानि (न काक्षे)**=और सुख की भी इच्छा नही है, **गोविद**=हे गोविंद, **न. राज्येन किम्**=हमे राज्य से क्या मतलव है? **भोगै किम्**=हमे भोगो से भी क्या मतलव है? **वा जीवितेन (किम्)**=अथवा हम जीवित रहे, इससे भी क्या मतलव है?

इस श्लोक मे पाँच वाते वतायी गयी हैं

(१) **कृष्ण, विजयं न काक्षे**—हे कृष्ण, मुझे विजय की इच्छा नही है।

अर्जुन के मन मे कोई वैराग्य पैदा नही हुआ था। वह ससारी ही था, इससे उसे मोह हुआ था और जो सामने कर्तव्य आया था, उसे वह टालना चाहता था। उसके चित्त मे मानो वैराग्य पैदा हो रहा है, ऐसी वाणी वह वोल रहा है। हम विजय नही चाहते यानी हम विलकुल इतने स्वार्थी वनना नही चाहते कि हमारी ही विजय हो और कौरवो की हार हो। कौरव आखिर हमारे ही तो भाई है, इसलिए किसी एक को विजय मिले,

ऐसा चाहना तो विलकुल स्वार्थ ही माना जायगा। स्वार्थ से किसका कल्याण हो सकता है ?

(२) **च राज्यं न (कांक्षे)**—और राज्य की भी इच्छा नही है। विजय प्राप्त करके राज्य ही तो मिलेगा। हमारा ही राज्य चले, हमारे हाथ मे ही सारी सत्ता रहे, हम ही सत्ताधारी वने, ऐसा क्यो ?

हालाँकि सोचा ऐसा गया था कि कौरवो का राज्य होने से जनता का कल्याण नही होगा, इसलिए पाडवो की विजय हो, यह जन-कल्याण की दृष्टि से आवश्यक था। लेकिन अर्जुन के चित्त मे मोह पैदा होने से यह वात उसके ध्यान मे नही रही। मोह पैदा होने के वाद सत्य वस्तु ढँक जाती है, सत्य पर आवरण छा जाता है।

(३) **च सुखानि (न कांक्षे)**—और सुख-भोग की इच्छा नही है। आखिर विजय-प्राप्ति से राज्य मिलेगा, उससे सुख ही पैदा होगा। लेकिन राज्य-प्राप्ति से जो सुख मिलेगा, उसकी कीमत क्या है ? वह सुख स्थायी थोडे ही होगा ? क्षणिक सुख ही मिलेगा। हम जीवनभर इस ऐहिक सुख मे ही तल्लीन रहे तो कायम का सुख कैसे मिल सकता है ? शाश्वत सुख तो ऐहिक सुखोपभोगो का त्याग करने पर ही प्राप्त होता है। राजा ययाति ने सालो तक कामोप-भोग करने के वाद सिद्धात निश्चित किया कि **न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति**—काम का शमन, काम की तृप्ति कामोपभोग से कभी नही हो सकती। वह तो उसका त्याग करने से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए यह राज्योपभोग का सुख त्याज्य है।

(४) **गोविद, न राज्येन कि भोगै किम्**—हे कृष्ण, हमे राज्य मिलने से क्या, हमे भोग प्राप्त हो, इससे भी क्या ! मान लीजिये, विजय प्राप्त हो गयी, फिर राज्य मिला तो उससे या लाभ होगा ? आखिर राज्य मिलने से वैभव प्राप्त होगा, भोग भोगने को मिलेगा, हम साधन-सपन्न वन जायँगे। अपार सपत्ति प्राप्त होगी। वडे-वडे प्रासाद वनवाकर आराम से रहने को मिलेगा। नौकर-चाकर चाहे जितने रख सकेंगे। सव लोग हमारी आज्ञा का पालन करेगे। हमारी कीर्ति चारो ओर फैलेगी। लेकिन इस सारे वैभव का करेगे क्या ? जव तक यमराज हमारे सिर पर वैठा है, तव तक यह सारा क्षणिक ही समझना चाहिए। अखड टिकनेवाला, जो कभी क्षीण नही होता, ऐसा सुख इन वैभवो से कभी प्राप्त होने की सभावना नही।

यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'गोविद' शव्द इस्तेमाल किया गया है। 'गो' शव्द के दो अर्थ है—गाय और इन्द्रियाँ। इन सवको जाननेवाले, इन सवके स्वामी गोविद है। गोवर्धन पर्वत को धारण करके श्रीकृष्ण ने गायो तथा व्रजवासियो की रक्षा की। इसलिए इन्द्र ने भगवान् श्रीकृष्ण को 'गोविद' कहा।

(५) **वा जीवितेन (किम्)**—अथवा हम दीर्घकाल तक जीवित रहे, उससे भी क्या होगा ? क्योकि सोचना तो यह चाहिए कि मनुष्य-देह किसलिए प्राप्त हुई है ? दीर्घकाल तक भोग भोगना मनुष्य-देह का लक्ष्य कैसे मान सकते है ? क्योकि भोग भोगना तो पशु-पक्षियो का जीवन है। पशु-पक्षियो मे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने का साधन नही होता। मनुष्य को ईश्वर ने इतनी वुद्धि दी है कि वह परमात्मा की पहचान कर सकता है। अतएव इस तरह विजय प्राप्त करके राज्य-वैभव, भोगो मे सारा जीवन विताकर जीवित रहने मे क्या लाभ है ?

इस तरह अर्जुन ने पाँच प्रकार की दलीले पेश कर यही वताया है कि ऐहिक सुख त्याज्य है। यह वैराग्य-वाणी मोह से पैदा हुई है, अत इसे सही नही कह सकते।

: ३३ :

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

येषा अर्थे=जिनके लिए, **न. राज्य कांक्षितम्**=हमे राज्य की अपेक्षा है, **भोगा. (कांक्षिता.)**=और भोग भी (जिनके लिए हम चाहते हैं), **च सुखानि (कांक्षितानि)**=और सुख भी (जिनके लिए हम चाहते हैं), **ते इमे**=वे सारे (कौरव और पाडव), **प्राणान् च धनानि त्यक्त्वा**=प्राण और धन दोनो का त्याग करके, **युद्धे अवस्थिता**=युद्ध के लिए उपस्थित हुए हैं।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) **येषां अर्थे नः राज्यं कांक्षितं, भोगाः (कांक्षिताः) च सुखानि (कांक्षितानि)**—जिनके लिए हमे राज्य की अपेक्षा है और भोग तथा सुख जिनके लिए हम चाहते है। यहाँ अर्जुन की दलील है कि हम क्या चाहते है और किनके लिए चाहते है। राज्य, भोग और सुख ये तीन चीजे चाहते है। किनके लिए ये तीन चीजे चाहते हैं ?

पहली चीज राज्य है। सारा झगडा राज्य के लिए ही था। कौरवो के राज्य मे प्रजा ज्यादा सुखी होगी या पाडवो के राज्य मे, यह मुख्य सवाल था। पाडवो को स्वाभाविक ही लगता था कि उनकी वृत्ति सत् की तरफ होने से उनके राज्य मे जनता का अधिक कल्याण होगा। कौरवो को अपनी दुष्ट-वृत्ति का भान तो था नही, इसलिए उन्हे लगता था कि हमे राज्य करने का ज्यादा अधिकार है, हम जनता का ज्यादा कल्याण करेगे। राज्य सिर्फ राज्य के लिए नही होता। वह जनता के कल्याण के लिए ही होना चाहिए।

दूसरी चीज है भोग। लोगो के लिए भोग-साधन ठीक तरह उपलब्ध करा देना राज्य का उद्देश्य है। सामान्य लोग वैराग्य-सम्पन्न नही होते। भोग के साधन जितने उपलब्ध हो सके, उतने प्राप्त करने की कोशिश हरएक की रहती है। कायदे, कानून, नियम आदि इसीलिए बनाये जाते है कि किसी पर अन्याय न हो। राज्य-व्यवस्था ठीक रहे तभी भोग के साधन सबके लिए समान रूप से उपलब्ध किये जा सकते है। अन्यथा समाज को समान रूप से भोग के साधन उपलब्ध नही हो सकते। अर्थात् राज्य मे विषमता रहेगी। एक अतिधनी और दूसरा अतिदरिद्र—इस प्रकार का सिलसिला चलता रहेगा।

वास्तव मे सब लोगो का समान रूप से विकास होना चाहिए। गाधीजी की सर्वोदय-समाज की कल्पना क्रातिकारी और आदर्श है। उसका विकास विनोबाजी भूदान, सपत्तिदान, ग्रामदान आदि कार्यक्रमो द्वारा कर रहे है।

तीसरी चीज है सुख। भोग के साधन उपलब्ध करा देने का उद्देश्य यही होना चाहिए कि जनता को पूर्ण सुख प्राप्त हो। अर्थात् सिर्फ भौतिक सुख प्राप्त करा देने से जनता का पूर्ण रूप से कल्याण नही हो सकता। इसलिए भौतिक सुख आत्मिक सुख का विरोध करे, ऐसा नही होना चाहिए। अतिम लक्ष्य आत्मिक सुख होना चाहिए। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जितना भौतिक सुख आवश्यक हो, उतना उपलब्ध करा देना राज्य-व्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए।

(२) **ते इमे प्राणान् च धनानि त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः**—वे सारे (कौरव और पाडव) प्राण और धन दोनो का त्याग करके युद्ध के लिए उपस्थित हुए है। अर्जुन कह रहा है कि हम (पाडव) राज्य चाहते हैं, क्योकि उससे जनता का ज्यादा-से-ज्यादा कल्याण हो। यानी भोग के साधन समान रूप से सबके लिए हम उपलब्ध करा सके, जिससे भौतिक और आत्मिक सुख सबको ज्यादा-से-ज्यादा मिल सके। अब, जिनके लिए हम राज्य करना चाहते है और जिनकी सुख-प्राप्ति के लिए हम भोग के साधन उपलब्ध करा देना चाहते हैं, वे ही प्राण और धन का त्याग करके लडने के लिए तैयार हो गये है। वे मरने को तैयार हो गये हैं।

उन सवका सहार हो जाय तो किनके लिए हम राज्य करे ?

अर्जुन ने मोह मे आकर ही सही, लेकिन दलील वडी अच्छी पेश की है।

: ३४ :

आचार्या. पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहा· ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्याला. संवंधिनस्तथा ॥

आचार्याः=(भीष्म, द्रोण, कृप जैसे) आचार्य, **च तथा एव पितामहा.**=और वैसे ही दादा, **पितर·**=पिता, चाचा, **पुत्राः**=पुत्र, भतीजे, भानजे, **पौत्रा·**=पुत्र के पुत्र, **मातुलाः, श्वशुरा.**=मामा, ससुर, **श्याला·**=साले, **तथा सवंधिन.**=और अन्य रिश्तेदार।

इस श्लोक मे सव रिश्तेदारो का निर्देश है। जिनके सामने लडना है, वे शत्रु थोडे ही है ! वे सारे सगे-सवधी-जन ही हे। पहले आचार्य का नाम लिया। पाडवो और कौरवो पर सवसे वडा उपकार भीष्माचार्य और द्रोणाचार्य का ही हुआ था, इसीलिए उनका जिक्र पहले किया। उसके वाद पितामह (दादा) का जिक्र हे। वाद मे पिता का जिक्र है, उसमे चाचा का भी समावेश समझना चाहिए। फिर पुत्र का जिक्र आता है। वाद मे मामा, ससुर, पुत्र के पुत्र और सालो का जिक्र करके अत मे वचे हुए सारे रिश्तेदारो का 'सवधिन' (सगे-सवधी) इस सामान्य शब्द से निर्देश किया है। इन्ही रिश्तेदारो का उल्लेख इसी अध्याय के २६वे श्लोक मे है। वहाँ 'आचार्य' का प्रत्यक्ष जिक्र नही हे, लेकिन 'गुरु' शब्द है। गुरु यानी आचार्य।

: ३५ :

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधूसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

मधुसूदन=हे कृष्ण, **त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतो. अपि**=तीनो लोको का राज्य प्राप्त करने के लिए भी, **घ्नत अपि**=(अथवा) मैं (कौरवों द्वारा) मारा जाऊं तो भी, **एतान् हन्तु न इच्छामि**=उन (दुर्योधन आदि रिश्तेदारों) को नही मारना चाहता, **महीकृते किं नु**=फिर तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त करने के लिए (मैं उन्हें कैसे मारूं) ?

इस श्लोक मे दो बातें है :

(१) **मधुसूदन, त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतो. अपि घ्नतः अपि एतान् हन्तु न इच्छामि**—हे कृष्ण, तीनों लोको का राज्य प्राप्त करने के लिए भी (अथवा) मैं (कौरवो द्वारा) मारा जाऊं तो भी उन (दुर्योधन आदि रिश्तेदारो को) मैं मारना नहीं चाहता।

यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'मधुसूदन' शब्द आया है। 'मधु' नामक असुर को मारने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण मधुसूदन कहे जाते है।

एक प्रकार से देखा जाय तो यहाँ अर्जुन की भूमिका गाधीजी के 'सत्याग्रह' जैसी लगती है। यह भी लगता हे कि अर्जुन का युद्ध न करने का निश्चय विलकुल यथार्थ है। किन्तु यहाँ अर्जुन की दलील अहिंसक सत्याग्रह करने की नही थी। अहिंसक सत्याग्रह मे हिंसा का मुकावला अहिंसा से करना होता है। अन्याय कोई करे तो उसे वरदाश्त करते जाना और वह भी ज्ञानपूर्वक नही, वल्कि दवकर, यह अहिंसक प्रतीकार नही है। वह तो स्पष्ट रूप से कायरता है। हिंसा का मुकावला कायरता से नहीं हो सकता। अर्जुन को मोह न होता तो वह रिश्तेदारो को मारने के लिए तैयार हुआ ही था। रथ भी दोनो सैन्यो के वीच खडा करने के लिए कहा, वह भी किन-किनके साथ लडना है, यह देखने के लिए, ठीक-ठीक समझने के लिए ही। जव उसने देखा कि यह मारा सहार अपने कहे जानेवाले, माने जानेवाले सगे-सवधी रिश्तेदारो का ही होनेवाला है, तव मोहरूपी मूर्च्छा ने उसे घेर लिया और उसी अवस्था मे अर्जुन नाना प्रकार की मोहक दलीलें करने लगा।

(२) **महीकृते किं नु**–फिर तो पृथ्वी का राज्य प्राप्त करने के लिए मैं कैसे कौरवो को मारूँ ? यदि मुझे त्रिभुवन का राज्य मिल जाय तो भी उन्हे मारने के लिए मै तैयार नही हूँ।

पृथ्वी का राज्य यानी हस्तिनापुर का छोटा-सा राज्य।

: ३६ :

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥

जनार्दन=हे वासुदेव, **धार्तराष्ट्रान् निहत्य**=धृतराष्ट्र के पुत्रो (कौरवो) को मारकर, **नः का प्रीति. स्यात्**= हमारा कौन-सा प्रिय होनेवाला है ? **एतान् आततायिन** = इन आततायियो (छह प्रकार के दोप करनेवाले पापियो) को, **हत्वा**=मारकर, **अस्मान् पाप एव आश्रयेत्**=हमे पाप ही लगेगा।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है·

(१) अर्जुन कहता है **जनार्दन, धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीति. स्यात्**–हे वासुदेव, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवो को मारकर हमारा कौन-सा प्रिय होनेवाला है ? सारे कौरवो का नाश हो जाय तो भी हमारा क्या लाभ होनेवाला है ? सव जीवित रहे, आपस मे प्रेम से रहे तो सवको लाभ हो सकता है, क्योकि जनता मे प्रेम का ही वातावरण वना रहेगा। मान लीजिये, हमने हिंसा से काम लिया, हिंसा से शाति स्थापित की, तो वह शाति कायम रहनेवाली सावित नही होगी। क्योकि पराजितो के मन मे वैर की भावना रह जाती है। उस वैर-भावना के कारण मौका आते ही वह वैर-भावना युद्ध के रूप मे प्रकट होने लगती है। युद्ध मे सारी सपत्ति व्यर्थ वरवाद हो जाती है। नतीजा शून्य निकलता है। तात्पर्य यह कि युद्ध से कोई हल नही निकलता।

यह दलील यो वडी अच्छी है, लेकिन अर्जुन की तरफ से वह स्वतत्र रूप से पेश नही हो रही है। रिश्तेदारों का मोह इस दलील के पीछे होने से इसका मूल्य नही रह जाता।

(२) **एतान् आततायिनः हत्वा अस्मान् पापं एव आश्रयेत्**–इन आततायियो यानी छह प्रकार के दोप करनेवाले पापियो को मारकर हमे पाप ही लगेगा।

यहाँ कौरवो के लिए अर्जुन ने 'आततायी' शव्द इस्तेमाल किया है। आततायी यानी छह दोपो को करनेवाला १. घरो को जलानेवाला, २ हाथ मे शस्त्र लेकर लोगो पर टूट पड़नेवाला, ३ धन की चोरी करनेवाला, ४ विप देनेवाला, ५. खेत लूटनेवाला और ६ स्त्रियो को भगानेवाला। ये छह दोप करनेवाला पापी ही समझना चाहिए। यहाँ अर्जुन का यह कहना है कि कौरव आततायी यानी पापी और दुप्ट है, लेकिन क्या हम भी उनके जैसे हो जायँ ? हमउ नको मारने के लिए तैयार होते है, यानी हम उनके जैसे पापी, दुप्ट होना चाहते है। सस्कृत-नीति-वचन है **न पापे प्रतिपापः स्यात्**–पाप का वदला पाप से नही लिया जा सकता। पाप का मुकावला पुण्य से ही हो सकता है।

: ३७ :

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्ववांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥

माधव=हे माधव, **तस्मात्**=इसलिए, **वयम्**=हम, **स्ववांधवान् धार्तराष्ट्रान्**=अपने वधु, धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवो को, **हन्तु न अर्हा**=मारने योग्य नहीं हैं। (उन्हे मारना उचित नही है,) **हि स्वजन हत्वा**= क्योकि अपने ही रिश्तेदारो को मारकर, **सुखिन. कथ स्याम**=हम सुखी कैसे हो सकते है ?

इस श्लोक मे दो वाते है :

(१) अर्जुन कहता है–**माधव, तस्मात् वयं स्ववांधवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं न अर्हा**–

हे माधव, इसलिए हम अपने बंधु जो धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव हैं, उन्हे मारने योग्य नहीं, उन्हे मारना उचित नही है। ('इसलिए' का सबंध पीछे के दो श्लोको से है।) कौरव भले ही आततायी यानी दुष्ट, पापी हो जायँ, हमे इनके जैसे होना नही चाहिए। हमे तो धर्म-पालन की ही दृष्टि रखनी चाहिए। जब धर्म-पालन की दृष्टि सामने रखते है तो अपने ही स्वजनो को मारना धर्मयुक्त कैसे हो सकता है ? हम यदि धर्म का पालन न कर अधर्म का ही पालन करेगे तो हमे पाप ही लगेगा और पाप का फल अत मे हमे ही भुगतना पडेगा।

(२) **हि स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम**—क्योकि हम अपने ही रिश्तेदारो को मारने लगे तो कैसे सुखी हो सकते हैं ? यह बडे महत्त्व की बात है। रिश्तेदारो के साथ ही हम यदि झगड पडते हैं, उनके साथ लडते हैं तो सारी दुनिया के साथ भी लडने के लिए तैयार हो जायँगे। दुनिया मे मित्रता, प्रेम जैसी कोई चीज ही नही रह जायगी, क्योकि कुटुम्ब-सस्था या गृहस्थाश्रम प्रेम के उत्कर्प और सहिष्णुता के अभ्यास के लिए ही भगवान् ने निर्माण किया है। जब कि कुटुब मे, गृहस्थाश्रम मे ही हम सहिष्णु बनकर प्रेम का उत्कर्प न करते रहेगे, तो हमे प्रेम का, सहिष्णुता का अभ्यास कैसे होगा ? सहिष्णुता का, प्रेम का उत्कर्प तो कुटुब-सस्था से ही शुरू हो सकता है। बाद मे जब गृहस्थाश्रम समाप्त होकर वानप्रस्थ-जीवन शुरू हो जाता है, तब दुनिया की सेवा करते हुए सबके साथ प्रेम से चल सकते हैं। इसलिए कुटुब-सस्था मे झगडे को हमेशा टालते रहना चाहिए। यदि हम कुटुब-सस्था मे बिना झगडे प्रेम से न रह सकेगे तो हमे सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

यह दलील बडी अच्छी है। मगर इस दलील के पीछे मोह रहा है, यही बडा भारी दोप है।

ऊपर 'माधव' शब्द श्रीकृष्ण के लिए आया है। माधव का अर्थ है मौन, ध्यान-योग से बोध या साक्षात्कार होने योग्य।

: ३८ :

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतस: ।
कुलक्षयकृतं दोपं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

यद्यपि—यद्यपि, **लोभोपहत-चेतस:**—लोभवृत्ति के कारण जिनकी बुद्धि विवेकशून्य हो गयी है, **एते**—(ऐसे) ये (कौरव), **कुलक्षय-कृत दोपम्**- कुल का नाश होने से जो दोप पैदा होता है, **च मित्रद्रोहे पातकम्** और वैसे ही मित्र का द्रोह करने मे जो पाप लगता है, उसे, **न पश्यन्ति**=देख नही पाते।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी हैं :

(१) **यद्यपि लोभोपहत-चेतसः एते**—यद्यपि लोभ-वृत्ति के कारण जिनकी बुद्धि विवेक-शून्य हो गयी है, ऐसे ये कौरव दुर्योधन आदि।

यहाँ अर्जुन युद्ध करने के लिए दुर्योधन आदि कौरव जो तैयार हो गये हैं, उसका कारण बतला रहा है। 'लोभ-वृत्ति' के कारण दुर्योधन आदि कौरवो की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार है, ऐसा गीता के १६वें अध्याय के २१वे श्लोक मे बताया है। नरक के द्वार यानी मूढता पैदा करनेवाले ये आत्मा का नाश करते है। आत्मा का नाश यानी विवेक का नाश। विवेक से ही आत्मा की पहचान होती है। अविवेक से आत्मा पर आवरण पड़ने से आत्मा की पहचान नही हो पाती। इसलिए लोभ आदि विकारो से प्रेरित होकर हम कुछ भी कार्य करते है, तो वह गलत कार्य या गलत निर्णय होगा।

(२) **कुलक्षयकृत दोपं न पश्यन्ति**—कुल का नाश होने से जो दोप पैदा होता है, उसे ये अविवेकी कौरव देख नही सकते।

लोभवृत्ति के कारण युद्ध करने के लिए कौरव तैयार हो गये है। लेकिन इससे जो दोप पैदा होता

है, उसका वर्णन अर्जुन कर रहा है। सारे कुल का नाश हो जायगा, यह पहला दोप है। यह अर्जुन की सासारिक दलील है। सासारिक वृत्ति यानी मूढता, स्वार्थ। जहाँ स्वार्थ-वृत्ति रहती है, वहाँ सोचने का तरीका व्यापक न रहकर मर्यादित हो जाता है। युद्ध करने से जनता का कल्याण न होकर पतन होगा, यह दलील व्यापक दलील मानी जायगी। लेकिन कुल का सहार होगा, यह विचार सकुचित है यानी रिश्तेदारो की आसक्ति मन मे बराबर रहती है। उसे बतलानेवाली, उसका दर्शन करानेवाली यह दलील है। सासारिक मनुष्य हमेशा इसी तरह संकुचित ढग से सोचता रहता है। सोचने का तरीका हमेशा व्यापक होना चाहिए। उससे जन-कल्याण संभव है। लेकिन अभी अर्जुन मोहग्रस्त होने के कारण उसकी स्थिति दयनीय हो गयी है, इसलिए हमेशा जैसी उसकी मानसिक स्थिति यहाँ नही रही है।

(३) **च मित्रद्रोहे पातकं न पश्यन्ति**–वैसे ही मित्र का द्रोह यानी द्वेप करने मे जो पाप लगता है, उसे देख नही सकते।

काफी मित्र भी कौरव-पाडवो के पक्ष मे युद्ध करने के लिए आये हुए थे। योगसूत्र मे कहा है कि मैत्रीभावना मन मे विकसित करनी चाहिए। मित्रता का भाव मन में विकसित करना यानी मानवता। सबके साथ मित्रता रखनी है, तो जो विशेप रूप से पहले से ही मित्र बने हुए हैं, उन्हे मारना कैसे उचित होगा ? जो पहले से मित्र हैं, उनके साथ तो इस प्रकार का दुर्व्यवहार कभी नही कर सकते। मित्रों के साथ लडने को तो एक तरह का विश्वासघात ही समझना चाहिए। उससे बढकर और कौन-सा महापाप हो सकता है ? लेकिन कौरवो की बुद्धि अभी लोभग्रस्त है, विवेकहीन है, इसलिए इस प्रकार के महापाप को वे लोग देख नही पाते।

: ३९ :

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृत दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

जनार्दन=हे जनार्दन, **कुलक्षय-कृत दोषम्**=कुलक्षय से होनेवाले दोप को, **प्रपश्यद्भिः अस्माभिः**=देखनेवाले, जाननेवाले हमे, **अस्मात् पापात् निवर्तितुम्**=इस पाप से मुक्त होने के लिए, **कथ न ज्ञेयम्**=क्यो न समझना चाहिए ?

इस श्लोक मे दो बाते है :

(१) **जनार्दन, कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः**–हे कृष्ण, कुलक्षय से होनेवाले दोप को देखनेवाले, जाननेवाले हमे।

पिछले श्लोक मे बताया कि कुलक्षय से होनेवाले दोप को और मित्र का द्रोह करने मे जो पाप होता है उसे कौरव नही देख पाते; क्योंकि लोभ से उनकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गयी है। अब अर्जुन कह रहा है कि हम तो इन पापों को देख रहे है। हम यदि युद्ध करेगे तो सबका सहार होगा और उससे किसीका कल्याण नहीं हो सकेगा। कोई पाप करने जा रहा हो तो उसे मार डालने से वह पाप से थोड़े ही बच सकता है ? पाप से पापी पुरुप को बचाना हो तो उसे जीवित रखकर ही पापमुक्त करने की कोशिश करनी चाहिए। पापी मनुष्य को मार डालते हैं तो उसका पाप-संस्कार नष्ट न होने से एक देह छूटने के बाद जब दूसरी देह उसे मिलेगी तब पाप-सस्कार फिर से जागृत होकर वह पापकर्म करने मे प्रवृत्त होगा। इसलिए कौरवो की बुद्धि यदि भ्रष्ट हो गयी है तो हम तो समझदार है न ? यदि हम समझते है तो—

(२) **अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्**–इस पाप से मुक्त होने के लिए हमें क्यों न समझना चाहिए ? यानी कौरवो को अक्ल नही है, ऐसा हम समझते है तो हमें अक्ल है या नही, यह सवाल है। यदि हमे अक्ल है और हम समझते है कि इस तरह युद्ध करने से कोई मसला हल होने-

वाला नही तो हमे उससे हट जाना चाहिए या नही ? हमे युद्ध न करके कौरवो का मन जीत लेना चाहिए। यदि हम युद्ध नही करते और सब-कुछ सहन करते रहते है तो भविष्य मे इसका असर हुए बिना कैसे रहेगा ? इससे कौरवो का हृदय-परिवर्तन हो सकेगा। हृदय-परिवर्तन ही तो मुख्य वस्तु है और हृदय-परिवर्तन का उपाय युद्ध कभी नही हो सकता।

अर्जुन की यह दलील बडी अच्छी है। लेकिन यह दलील रिश्तेदारो के मोह से निकली है। अहिंसा के आचरण से यह दलील उपस्थित नही हुई है।

: ४० :

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं अधर्मोऽभिभवत्युत ॥

कुलक्षये=कुल का क्षय होने मे, सनातना कुल-धर्मा प्रणश्यन्ति=परपरा से चलते आये सब कुलधर्म नष्ट हो जायँगे, धर्मे नष्टे=धर्म नष्ट होने पर, अधर्म=अधर्म, कृत्स्नं उत कुलं अभिभवति=सारे ही कुल को व्याप्त करता है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) **कुलक्षये सनातनाः कुल-धर्माः प्रणश्यन्ति**–कुल का क्षय (नाश) होने से परपरा से चले आ रहे सब कुलधर्म नष्ट हो जायँगे। अर्जुन ने पूर्वश्लोक मे कुलक्षय का जिक्र किया था। उसीको यहाँ स्पष्ट किया है। कुलक्षय का मतलब सिर्फ बाह्य कुल का नाश नही है। बाह्य कुल का नाश भले न हो, तो भी हम अधर्म से चलते है, यानी युद्ध करना अधर्म ही है, क्योकि इससे कुल मे चले आ रहे सारे रीति-रिवाज नष्ट हो जायेगे। कोई उनका पालन नही करेगा। युद्ध एक ऐसी चीज है कि उससे स्वच्छन्द आचरण शुरू होगा। युद्ध आदमी को नीचे गिराता है। युद्ध मे नीति और धर्म का खयाल उतना नही रह सकता, इसलिए धर्म-पालन मे शिथिलता आयेगी। युद्ध मे उन्माद आ जाता है।

(२) **धर्मे नष्टे अधर्मः कृत्स्नं उत कुलं अभिभवति**–धर्म नष्ट होने पर अधर्म सारे कुल को ही व्याप्त करता है। यानी सारे कुल मे अधर्म फैल जाता है।

एक बार धर्म के पालन मे शिथिलता आ जाय, तो अधर्म फैलने में देर नही लगती। हम सुबह चार बजे उठकर नियमित रूप से प्रार्थना करते है। लेकिन किसी कारण चार बजे उठना छूट जाय तो फिर चार बजे उठने मे शिथिलता आने लगती है। इद्रियो का स्वभाव ऊर्ध्वगामी नही होता, अधोगामी होता है। इसलिए मन को ऊपर उठाना हो तो धर्म-पालन मे, नीति-नियम के पालन मे कभी भी शिथिलता नही आने देनी चाहिए।

मोहवाणी होते हुए भी अर्जुन ने दलीले सब अच्छी पेश की है। एक बार अधर्म का आचरण कुल मे शुरू हो जाय तो सारे कुल मे वह चीज फैल सकती है।

: ४१ :

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥

कृष्ण=हे श्रीकृष्ण, अधर्माभिभवात्=कुल मे अधर्म फैलने से, कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति=कुलीन स्त्रियाँ भ्रष्ट होने लगती है, वार्ष्णेय=हे वृष्णि-कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण, स्त्रीषु दुष्टासु=स्त्रियो के भ्रष्ट होने पर, वर्णसंकर जायते=वर्णसकर यानी ब्राह्मण आदि वर्णो का परस्पर मिश्रण हो जाता है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) **कृष्ण, अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति**–कुल मे अधर्म फैलने से कुलीन स्त्रियाँ भ्रष्ट होने लगती है।

पिछले श्लोक के अत में कहा गया है कि अधर्म का आचरण एक बार शुरू हो जाय तो वह सारे कुल मे फैल जाता है। इसका क्या नतीजा निकलता है, यह इस श्लोक मे बताया है। एक बार कुल मे अधर्म फैल जाता है तो फिर कुलीन स्त्रियाँ भी बिगडने लगती हैं। युद्ध का एक परिणाम यह भी आता है कि पुरुपवर्ग का जब सहार हो जाता है, तब स्त्रियो की मति बिगडने लगती है—खास करके जवान स्त्रियो की। जिनके पति युद्ध मे मर जाते है, उनके पाँव फिसलने लगते है। इस प्रकार युद्ध का परिणाम जो अनैतिकता है, वह सारे कुल मे फैलने लगती है।

यहाँ अर्जुन ने युद्ध पर ही प्रहार किया है। युद्ध मे जो नर-सहार होता है, उसका यह दुष्परिणाम है। कुटुब के प्रमुख व्यक्ति, इस तरह युद्ध मे, लाखो की तादाद मे मर जाते हे तो सारे कुल मे शिथिलता का, स्वच्छदता का पैदा होना स्वाभाविक है। अर्जुन ने यहाँ स्त्रियो का ही जिक्र किया है। इसका मतलब यह नही कि जवान पुरुप नही बिगडते। वे भी बिगडने लगते है। मगर स्त्रियो पर सारी प्रजा का कल्याण अवलबित होने से वे बिगडनी नही चाहिए, यह महत्त्व की बात है। स्त्रियाँ जब तक नैतिक दृष्टि से सुरक्षित रहती है, तब तक सारा समाज सुरक्षित रह सकता है। स्त्रियो का प्रभाव कुटुब मे सब पर बहुत रहता है। हिन्दुस्तान मे हमारी सस्कृति को धर्मनिष्ठ, नीतिनिष्ठ रखने मे स्त्रियो का मुख्य हिस्सा है। इसलिए स्त्रियो मे अधर्म, अनीति न फैल जाय, यह मुख्य वस्तु ध्यान मे रखनी होती है। वैसे अर्जुन धर्मनिष्ठ पुरुप था ही। इसलिए मोह मे आकर भी उसकी दलीले मूलस्पर्शी है।

(२) **वार्ष्णेय स्त्रीपु दुष्टासु वर्णसकरः जायते**—हे वृष्णि-कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण ! स्त्रियाँ भ्रष्ट होने पर वर्णसकर हो जाता है। स्त्रियो मे यदि अनीति फैल जाय, तो परिणाम क्या आता है, वह यहाँ बताया है। प्राचीन काल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ये चार वर्ण थे और इन चार वर्णो के कर्म भी निश्चित-से थे। चार वर्णो की कल्पना मे यही हेतु था कि समाज-व्यवस्था अच्छी रहे। इसमे ऊँच-नीच भेद की कल्पना बाद मे दाखिल हो गयी। ये चार वर्ण शुद्ध स्थिति मे रहे, इसका आग्रह शुरू मे रखा गया था। इस कारण बेटी-व्यवहार इन चार वर्णो के बीच नही होता था। ब्राह्मण-क्षत्रिय के बीच या क्षत्रिय-वैश्य के बीच व्याह-शादी हो, तो संतति मे मिश्र सस्कार दाखिल होने के कारण ब्राह्मण वर्ण या क्षत्रिय वर्ण की सस्कारिता और गुणो की दृष्टि से जो उच्च स्थिति रहनी चाहिए, वह रह न सकेगी। इसलिए ऐसे व्याह-सबधो को वर्णसकर माना जाता था। स्त्रियाँ बिगड जायँ तो वर्णसकर की सभावना होने और युद्ध का परिणाम स्त्रियो मे अनीति फैलना होने से अर्जुन ने युद्ध का निपेध किया है।

: ४२ :

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥

(च) सकर=(और) वर्णसकर, कुलघ्नाना च कुलस्य=कुल का नाश करनेवाले, और कुल दोनो के लिए, **नरकाय एव**=नरक का ही कारण बनता है, (यानी नरक मे ले जाता है।) हि एषा पितरः=क्योकि इनके पितर, **लुप्त-पिंडोदक-क्रियाः**=श्राद्ध आदि क्रिया लुप्त हो जाने से, यानी क्रिया करने के लिए कोई शुद्ध पुत्र न रहने से, **पतन्ति**=(नरक मे) गिर जाते हे।

इस श्लोक मे दो बाते है

(१) (च) **संकरः कुलघ्नानां च कुलस्य नरकाय एव**—(और) वर्णसकर कुल का नाश करनेवाले और कुल, दोनो के लिए नरक का ही कारण बनता है। इस श्लोक मे अर्जुन पूर्वश्लोक

के सिलसिले मे अपनी दलील पेश कर रहा है। वहाँ कहा था कि स्त्रियो मे यदि अधर्म यानी अनीति आदि फैल जायँ तो वर्णसकर हो जायगा। अब यहाँ वर्णसकर का परिणाम यह बताया जा रहा है कि कुल का नाश करनेवाले और कुल, दोनो नरक मे जायँगे। अच्छे कर्म करनेवाले को स्वर्ग और बुरे कर्म करनेवाले को नरक प्राप्त होता है, ऐसी कल्पना प्राचीन काल मे थी। स्वर्ग यानी ऊँची गति, जहाँ सुख का ही अनुभव होता है। भूलोक मे सुख और दुख दोनो का अनुभव होता है, पर स्वर्ग मे सिर्फ सुख का ही अनुभव होता है। इससे उलटे नरक मे सिर्फ दुख का ही अनुभव होता है। स्त्रियो मे अनीति फैल जाने पर सतान भी शुद्ध नही रह सकती। इस तरह सारा-का-सारा कुल बिगड जाता है। सारा कुल बिगड जाय तो उस कुल को बिगाडनेवाले जितने भी हो यानी कुल को नष्ट करने के लिए जितने भी जिम्मेदार हो, वे सारे-के-सारे नरक मे जायँगे। कुल को नष्ट करने के लिए जिम्मेदार सिर्फ कुल मे रहनेवाले और कुल से सबधित ही नही माने जायँगे। युद्ध मे जितने भी लोग भाग लेते है, वे सारे इस तरह समाज को बरबाद करने के लिए जिम्मेदार माने जायँगे। भावार्थ यह है कि युद्ध सर्वथा टालने जैसी वस्तु है। युद्ध का ऐसा भयकर परिणाम सारे समाज को भुगतना पडता है। सारा समाज इस तरह अधोगति को पहुँच जाय तो इसमे किसीका कभी कल्याण हो नही सकता, यह स्पष्ट है।

(२) **हि एषां पितरः लुप्त-पिंडोदक-क्रिया पतन्ति**—क्योकि इनके (कुल का नाश करनेवालो के) पितर, श्राद्ध आदि क्रिया लुप्त हो जाने से, यानी श्राद्ध आदि क्रिया करने के लिए कोई शुद्ध पुत्र न रहने से नरक मे गिर जाते है। यहाँ अर्जुन ने नरक मे जाने का दूसरा कारण पेश किया है। पितर आदि की श्राद्ध-क्रिया करने के लिए शुद्ध पुत्र नही रहेगे, क्योकि स्त्रियो मे अनीति आदि प्रविष्ट होने से जो संतान पैदा होगी, वह शुद्ध नही होगी। प्राचीन काल मे यह कल्पना रूढ हो गयी थी कि यदि पितरो का श्राद्ध न किया जाय, तो उन्हें अच्छी गति प्राप्त नही होगी। श्राद्ध-विधि शास्त्र के मुताबिक की जाती थी।

विनोबाजी ने श्राद्ध का अर्थ किया है १ मृत व्यक्ति का स्मरण, २. उसके लिए दानादि कुछ सेवा-कार्य, ३ मृत व्यक्तियो का अधूरा रहा हुआ कार्य आगे चालू रखना और ४ आत्मा के विषय मे महापुरुषो के वचनो का श्रवण, वाचन, चिंतन। अर्जुन की दलील प्राचीन काल मे श्राद्ध की जो रूढ कल्पना थी, उसके अनुसार है। अब तो जमाना बदल गया है। जमाने के अनुसार शब्दो के अर्थ बदल जाते है। विनोबाजी का अर्थ आज के युग के अनुरूप है।

:४३:

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

कुलघ्नानाम्=कुल का घात करनेवाले पापी लोगो के, एतैः वर्णसंकर-कारकैः दोषैः=इन वर्ण का सकर करनेवाले दोषो से, शाश्वताः जातिधर्माः च कुलधर्माः=हमेशा के लिए जाति-धर्म और कुल के धर्म, उत्साद्यन्ते=नष्ट हो जाते है।

इस श्लोक मे दो बाते है

(१) **कुलघ्नानां एतैः वर्णसंकर-कारकैः दोषैः कुलधर्माः उत्साद्यन्ते**—इस तरह कुल का नाश करनेवाले दुष्ट लोगो के इन वर्णसकर करनेवाले दोषो से कुल के धर्म नष्ट हो जाते है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णो मे अनीति फैल जाने से ब्राह्मण आदि कोई भी कुल शुद्ध नही रह पाता। कुल ही शुद्ध न रहा तो अपने-अपने कुलो के जो धर्म चले आ रहे है, वे सारे नष्ट हो जायँगे।

(२) शाश्वता. जातिधर्मा. च (उत्सा-द्यन्ते)—हमेशा के लिए जातिधर्म नष्ट हो जायेंगे। वर्णसकर का पहला परिणाम बताया कि कुल-धर्म नष्ट हो जायँगे। अब दूसरा परिणाम बताया जा रहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के जातिधर्म हमेशा के लिए नष्ट हो जायँगे। अर्थात् समाज-व्यवस्था टूट जायगी। व्यक्ति की नीति-मत्ता जितनी ऊँची रहेगी, उतने ही ऊँचे दरजे की समाज-व्यवस्था रहेगी।

धर्म का पालन हमेशा स्त्रियो पर अवलबित रहता है। आर्य-सस्कृति स्त्रियो की वजह से सुर-क्षित रही है। इसलिए उनमे नीति और धर्म की पराकाष्ठा प्रकट होना बहुत जरूरी है। गाधीजी ने और विनोबाजी ने स्त्रियो के विकास को काफी महत्त्व दिया है। उनकी शक्ति बढकर उनमे से असाधारण विभूतियाँ पैदा होनी चाहिए।

: ४४ :

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

जनार्दन=हे जनार्दन, उत्सन्न-कुलधर्माणा मनुष्या-णाम्=जिनके कुल-धर्म का नाश हो गया है, ऐसे मनुष्यो का, नरके नियत वास. भवति=निश्चय ही नरक मे निवास होता है, इति अनुशुश्रुम=ऐसा हमने (शास्त्रो से) सुना है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है :

(१) **जनार्दन उत्सन्न-कुलधर्माणां मनुष्याणां नरके नियत वासः भवति**—हे कृष्ण, जिनके कुल-धर्म का नाश हो गया है, ऐसे मनुष्यो का निश्चय ही नरक मे निवास होता है।

शास्त्रकारो ने स्वर्ग और नरक की कल्पना की है। उसमे मुख्य हेतु तो यही है कि समाज धर्मपरायण रहे, नीति का रास्ता कभी न छोडे। सारा समाज धर्मनिष्ठ, नीतिनिष्ठ रहे, तभी समाज मे सुख-शाति रह सकती है। भौतिक साधन चाहे जितना बढा ले, उससे कुछ हद तक बाह्य सुख मिलता है। मगर यदि मानसिक शाति न मिले, तो भौतिक साधनो से पैदा होनेवाला सुख टिकता नही। धनिको के पास बाह्य सुख के विपुल साधन होते है, फिर भी वे उस परिमाण मे सुखी और शाति-सपन्न नही दीखते। कई तो दु खी ही पाये जाते है। लेकिन भौतिक सुख के साधन मर्यादित होते हुए भी धर्माचरण और नीतियुक्त व्यवहार से पैदा होनेवाला सुख कायम रह सकता है।

(२) **इति अनुशुश्रुम**—ऐसा हमने शास्त्र-कारो से सुना है। यहाँ अपनी दलील के लिए अर्जुन शास्त्र का आधार बता रहा है। प्राचीन काल मे शास्त्रो की प्रबलता थी। समाज शास्त्र-भीरु और पाप-भीरु था। आजकल शास्त्र की परवाह न करने का विचार सुशिक्षित समाज मे फैला है। गीता मे (१६वे अध्याय के २४वे श्लोक मे) शास्त्र प्रमाण मानना चाहिए, ऐसा स्वयं भगवान् ही बता रहे है। लेकिन शास्त्र मे कहे मूलभूत सिद्धात जैसे कि सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि त्रिकालाबाधित रहते है। जमाना कितना भी बदल जाय, उन सिद्धातो मे कोई फर्क नही पडता। उसका स्वरूप प्रकट होने मे देश-काल के अनुसार अवश्य परिवर्तन होगा। मूल स्वरूप उन सिद्धातो का कायम रहगा। उनके अर्थो का आविष्कार विस्तृत होता रहेगा। आचार-धर्म मे युग के अनु-सार परिवर्तन होता रहेगा। उससे वह हमेशा शुद्ध स्थिति मे रह सकेगा। शास्त्र अनुभवी पुरुषो द्वारा रचे होते है, इसलिए उन्हे प्रमाण समझकर उनके आधार पर जीवन बिताना, जीवन मे कुछ मसले, समस्याएँ खडी हुई हो तो उनका निरा-करण शास्त्र के आधार पर करते जाना बहुत जरूरी है।

: ४५ :

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

अहो बत=अरे, खेद है कि **वय यत् राज्यसुख-लोभेन**=हम जो राज्य-सुख के लोभ मे, **स्वजन हन्तुं उद्यता.**=अपने सगे भाई, मित्रो को मारने के लिए तैयार हो गये है, (**तत् एतत्**) **महत् पाप कर्तु व्यवसिता**=वह बडा भारी पाप है, जिसे करने के लिए हम तैयार हुए है।

इस श्लोक मे दो बाते हैं :

(१) **अहो बत, वयं यत् राज्यसुख-लोभेन स्वजनं हन्तुं उद्यताः**—अरे, खेद है कि हम राज्य-सुख के लोभ से अपने सगे भाई, मित्रो को मारने के लिए तैयार हो गये है। यहाँ अर्जुन बता रहा है कि हमे बडा आश्चर्य होता है कि हम क्या करने जा रहे है ! सिर्फ ऐहिक सुख के लिए हम अपने प्रिय जनो का, प्रिय मित्रों का सहार करने के लिए तैयार हो गये है। राज्य-सुख अर्थात् वैभव। वैभव सब चाहते है और उसकी प्राप्ति के लिए ही कोशिश करते है। गरीब लोग लाचारी से गरीबी मे रहते है। गरीबी दूर हो, यह जरूरी बात है। लेकिन इतने से ही गरीबो को पूरा सतोष होगा, सो बात नही। अर्थात् गरीबी से मुक्त हो जायँ, तो वे उसमे आनन्द मानेगे ही, मगर गरीबी दूर होकर यदि किसी-न-किसी तरह वैभव प्राप्त हो, तो गरीबो को भी बहुत खुशी होगी। जिस दिन वैभव, अमीरी प्राप्त हो जाय, उस दिन को वे धन्य समझेगे। अर्जुन बताता है कि हम भी प्राणिमात्र की इस प्रवृत्ति के अनुसार कि, ऐहिक सुख ज्यादा-से-ज्यादा प्राप्त हो, राज्य प्राप्त करने की इच्छा के वश होकर उससे सुख मिले इसके लिए, न करने जैसे कार्य भी करने के लिए तैयार हो जायँ तो हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी, ऐसा ही समझना चाहिए। क्योकि कौरवों को राजी रखकर हम राज्य-पद प्राप्त करे, यह तो समझ मे आने जैसी बात है। लेकिन कौरवो का और अनेक मित्रो का सहार करके हम राज्य की इच्छा, लोभ रखे, यह कहाँ तक उचित है ?

(२) (**तत् एतत्**) **महत् पापं कर्तुं व्यवसिता**—यह बडा भारी पाप करने के लिए हम तैयार हो गये हैं।

यहाँ 'महत् पापम्' शब्द अर्जुन ने प्रयुक्त किया है। राज्य-सुख प्राप्त करने के लोभ से सब स्वजनो और मित्रो का सहार करने के लिए तैयार हो जाना सामान्य पाप नही, महापाप है। महापाप करके हमे सदा के लिए नरक मे निवास करना पडेगा। हम यदि मूढ नही है और कुछ अक्ल रखते है तो कम-से-कम इस युद्ध से हमे हट जाना चाहिए। युद्ध करके हम पुण्य-फल प्राप्त नही कर सकेगे, इसमे कोई सदेह नही।

विनोबाजी इस श्लोक के भाष्य मे लिखते हैं कि स्वजन का मोह अर्जुन को हुआ है, उसमे स्वधर्म-निष्ठा की कमी है। सही स्वधर्म-निष्ठा प्राप्त हुई हो, तो उसमे मोह-वृत्ति पैदा ही न हो पाती। स्वधर्म-निष्ठा या स्वकर्तव्य-निष्ठा मे मोह दूर करने की सामर्थ्य होती है। दूसरी बात यह कि सुख के लिए राज्य-पद प्राप्त कर रहे हैं, यह अर्जुन की गलत कल्पना है, यानी उसने कर्मयोग को ठीक-ठीक समझा नही है। कर्मयोग मे सुख के लिए कर्म करना नही होता। कर्मयोग मे सुख नही मिलेगा, सो बात नही। लेकिन सुख प्राप्त करना उसका उद्देश्य नही है। कर्मयोग मे फलनिरपेक्ष होकर, कर्तव्य समझकर, स्वधर्म-पालन करने का प्रयास रहता है। फिर एक बात यह है कि 'मैं मारनेवाला' यह जो अर्जुन को लग रहा है, वह भ्राति है। आत्मा के विषय मे अज्ञान है। इन तीन कमियो को दूर करने के लिए भगवान् ने दूसरे अध्याय मे तीन बाते बतायी है :

(१) साख्य-बुद्धि दूसरे अध्याय के ११ से ३०वे श्लोक तक । (२) स्वधर्म-निष्ठा ३१ से ३८वे श्लोक तक । (३) योग-बुद्धि ३९ से ५३वे श्लोक तक ।

: ४६ :

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

यदि=यदि, अप्रतीकार अशस्त्रम्=कौरवो का प्रतीकार न करनेवाले और (हाथ मे) शस्त्र न लेनेवाले, **माम्**=मुझको, **शस्त्रपाणय. धार्तराष्ट्रा.**=जिनके हाथ मे शस्त्र हैं, वे धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव आदि, **रणे हन्यु**=युद्ध मे मारेंगे, (तो) **तत् मे क्षेमतर भवेत्**=वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी (सावित) होगा ।

इस श्लोक मे दो बाते है :

(१) **यदि अप्रतीकारं अशस्त्रं माम्**—यदि कौरवो का प्रतीकार न करनेवाले और (हाथ मे) शस्त्र न लेनेवाले मुझे ।

अर्जुन यहाँ प्रतीकार न करने की और शस्त्रो को हाथ मे धारण न करने की अथवा धारण किये हुए शस्त्रो को छोडने की भाषा बोल रहा है । इस गाधी-युग मे अर्जुन की यह भाषा अहिंसक प्रतीकार की प्रतीक होगी । लेकिन वस्तुत अर्जुन की भाषा अहिंसक प्रतीकार की नही है, अप्रतीकार की भाषा है । गाधीजी के सत्याग्रह मे सत्य का आग्रह रखते हुए अन्याय करनेवाले का प्रतीकार करने का विचार निहित है । उसमे कायरता नही है, वीर-वृत्ति है । दूसरो को न मारते हुए स्वय मरने की उसमे तैयारी है । खुद मरकर या तकलीफ उठाकर सामनेवाले मे शुभ-वृत्ति, सत्य-विचार जागृत करने का सकल्प है । लेकिन अर्जुन की भाषा मे गाधीजी का सत्याग्रह नही है । वह सिर्फ प्रतीकार न करने को कह रहा है और प्रतीकार न करते हुए हाथ मे शस्त्र न उठाने की बात कह रहा है । ऐसी बात करने का एक ही कारण है स्वजनासक्ति, स्वजनो के प्रति मोह । यानी युद्ध करने से, जिनके साथ हम युद्ध कर रहे है, उनकी बुद्धि मे हम कुछ परिवर्तन नही करते । हम कुछ शुभ-वृत्ति, शुभ-विचार, सत्य-विचार जागृत नही करते । इसलिए स्वजन हो या परजन हो या कोई भी हो, शस्त्रो से मारना कल्याणकारी बात नही । समाज की उसमे उन्नति नही । वैर-वृत्ति, दूसरो का नुकसान करने की वृत्ति, युद्ध करने से क्षीण नही हो पाती । इसलिए कौरवो का यानी दुष्ट-वृत्तियो का, अशुभ-वृत्तियो का प्रतीकार हम अहिंसा से यानी हाथ मे शस्त्र न लेते हुए, लेकिन खुद कुरबानी करते हुए करेंगे, यह संकल्प अर्जुन का नही है । अर्जुन की यह भाषा स्वजनासक्ति की है ।

(२) **शस्त्र-पाणयः धार्तराष्ट्राः रणे हन्युः तत् मे क्षेमतरं भवेत्**—जिनके हाथ मे शस्त्र है, वे धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव आदि रण मे (मुझे) मारेंगे (तो) वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी सावित होगा । मै उन्हे नही मारूँगा, लेकिन वे मुझे मारेंगे तो चलेगा, ऐसा कहकर अर्जुन कह रहा है **तत् मे क्षेमतरं भवेत्**—वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी सावित होगा । ऐसा कहने का उद्देश्य यह है कि रिश्तेदार जीवित रहेगे तो कल्याण होगा । किसी-न-किसी तरह अपने रिश्तेदार जीवित रहे, यह मोह अर्जुन की बात से प्रकट है । दुर्योधन आदि अन्याय कर रहे है, उनकी वृत्ति शुभ नही है । कौरवो मे दुष्ट-वृत्ति पनपी हुई है । उस दुष्ट-वृत्ति से प्रेरित होकर ही कौरव आदि युद्ध के लिए तैयार हुए है । इसलिए कौरवो की यह अशुभ-वृत्ति—जो समाज का नुकसान करनेवाली है—कैसे दूर हो, इसका चितन अर्जुन के चित्त मे नही हो रहा है । कौरवो को न मारना या अर्जुन का खुद कायरता से मर जाना, इसमे दुष्ट-वृत्ति, असद्-वृत्ति दूर करने का,

नष्ट करने का कोई सकल्प न होने के कारण दुष्ट-वृत्ति या असद्-वृत्ति क्षीण होने की सभावना ऐसे सकल्पहीन त्याग मे नही है । त्याग का मतलव ही यह है कि जिससे अशुभ-वृत्ति, दुष्ट-वृत्ति, असद्-वृत्ति समाज से नष्ट हो, ऐसा दृढ सकल्प । यदि इस प्रकार का कोई दृढ, शुभ सकल्प न हो और हम मरने के लिए तैयार हो जायँ तो उससे कोई इष्ट फल, इष्ट परिणाम निकलने की सभावना नही रहेगी । इसलिए यहाँ अर्जुन ने मारने के वजाय मरने मे अधिक कल्याण होगा, ऐसी जो भाषा इस्तेमाल की है वह मोह-वाणी है, ऐसा समझना चाहिए ।

: ४७ :

सजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

अर्जुनः=अर्जुन, **एव उक्त्वा**=इस प्रकार कहकर, **सख्ये**=युद्ध मे, **सशर चाप विसृज्य**=वाण के साथ धनुप को छोडकर, **शोकसविग्नमानस**=शोक से जिसका मन अति-व्याकुल हो गया है, ऐसी स्थिति मे, **रथोपस्थे**=रथ के मध्य भाग मे, **उपाविशत्**=वैठ गया ।

इस श्लोक मे दो बाते है ·

(१) **अर्जुन· एवं उक्त्वा संख्ये सशरं चापं विसृज्य**—अर्जुन इस प्रकार कहकर युद्ध मे वाण के साथ धनुष को छोडकर ।

सजय धृतराष्ट्र को युद्ध की सव घटनाएँ सुना रहे है । अर्जुन ने युद्ध करने के खिलाफ जितनी दलीले हो सकती है, उतनी भगवान् श्रीकृष्ण के सामने पेश कर, हाथ से धनुप-वाण को त्याग दिया । उसका मन मोहग्रस्त था, अत उसे कुछ भी सूझता नही था । किंकर्तव्यमूढ यानी इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, इसका निर्णय वह कर नही सकता था । युद्ध करने से सव सगे-सवधियो का सहार हो जायगा, यह विचार मन मे आते ही इतनी अस्वस्थता पैदा हो गयी कि युद्ध करना उसके लिए असभव हो गया । लेकिन युद्ध करने का समय भी आ गया था । सारी सेना मारने या मरने के निश्चय के साथ इकट्ठी हो गयी थी । ऐसे मौके पर वह युद्ध न करने का एकदम निर्णय भी कैसे ले सकता था ? और युद्ध करे तो यह सव सहार हो जाय, तो उसमे भी कोई कल्याण नही दीखता था । इस तरह मन दुविधा मे पड गया था । उस समय वह हाथ मे धनुष-वाण रखना चाहता तो भी हाथ, पाँव, सारा शरीर इतना शिथिल पड़ गया था कि हाथ से धनुष-वाण खिसक जाता था ।

(२) **शोकसंविग्नमानसः रथोपस्थे उपाविशत्**—शोक से जिसका मन अतिव्याकुल हो गया है, ऐसी अवस्था मे वह रथ के मध्यभाग मे वैठ गया ।

दलीले समाप्त करके पहले अर्जुन ने धनुष-वाण हाथ से छोड दिया और वाद मे रथ मे वैठ गया । लेकिन कैसी मन स्थिति मे वह वैठा, यह कहते हुए वताया कि उसका मन शोक से इतना व्याकुल हो गया था, इतना दु खी हो गया था कि उसके लिए चुपचाप वैठने के सिवा दूसरा कोई चारा नही था । जीवन की छोटी-वडी, अच्छी-वुरी सव क्रियाएँ मन की स्वस्थ स्थिति मे ही हो सकती है । आदमी जैसे सत्-कर्म करता है, वैसे ही असत्-कर्म भी करता है । उद्देश्यपूर्वक सत्-कर्म या असत्-कर्म करने के लिए चित्त की स्थिति स्वस्थ रहनी चाहिए । चित्त की स्वस्थ स्थिति न हो तो सत्-क्रिया या असत्-क्रिया ऊटपटाँग चलने लगेगी या कुछ भी क्रिया नही होगी । ये दो ही प्रकार मन की अस्वस्थ् स्थिति मे दीख सकते है । अर्जुन के सामने भगवान् श्रीकृष्ण वैठे हुए थे, इसलिए उनकी उपस्थिति मे पागल जैसी स्थिति सभव नही थी । अतएव अर्जुन विलकुल क्रियाहीन होकर वैठ गया, ऐसा सजय ने धृतराष्ट्र को वताया । ●

दूसरा अध्याय

स्वजनासक्ति से अर्जुन शोक तथा मोह से अतिव्याकुल हो गया। इसका वर्णन भगवान् ने पहले अध्याय मे किया है। इसका अर्जुन के चित्त पर और क्या-क्या परिणाम हुआ और उसकी कितनी दयनीय स्थिति हो गयी, इसका वर्णन इस अध्याय के १०वे श्लोक तक किया गया है।

: १ :

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदन.॥

तथा=पहले अध्याय के अनुसार, **कृपया**=कृपा से, करुणा मे यानी झूठी दया से, **आविष्टम्**=युक्त, **अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्**=और जिसकी आँखे आँसुओ से भर गयी है अर्थात् जिसकी आँखो मे करुणा छायी हुई है, अत एव व्याकुल है, **विषीदन्तम्**=और इस कारण जो मन मे दु ख का अनुभव कर रहा है, **तम्**=उस अर्जुन से, **मधुसूदन.**=मधुसूदन यानी कृष्ण भगवान्, **इदम्**=यह, **वाक्यम्**=वचन, **उवाच**=बोले।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है

(१) स्वजनासक्ति के कारण अर्जुन के चित्त मे करुणा यानी झूठी दया पैदा हुई। सत तुलसीदासजी ने **दया धर्म का मूल** कहा है। यह सच्ची दया है, सच्ची करुणा है। अर्जुन के चित्त मे जो करुणा, जो दया पैदा हुई, वह झूठी थी। दया, करुणा यदि सच्ची है तो उससे चित्त व्याकुल, अशात, दु खी नही होगा। चित्त की प्रसन्नता, शाति बनी रहेगी। सच्ची करुणा और दया के पीछे विवेक, अलिप्तता, निष्कामता, निर्विकारता रहती है। झूठी करुणा अविवेक, आसक्ति, सकामता और काम-क्रोधादि विकारो से पैदा होती है, इसलिए चित्त की प्रसन्नता, शान्ति खो जाती है। चित्त डॉवाडोल हो जाता है।

(२) अर्जुन की आँखे आँसुओ से भर गयी। मन मे दो प्रकार के भाव उठने से आँसू आते है। दोनो के परिणाम भिन्न-भिन्न होते है। ईश्वर का स्मरण हुआ, सतो का स्मरण हुआ, सतो के वचन याद आये, सतो के गुणो का स्मरण हुआ तो तुरन्त नेत्र सजल हो जाते है। लेकिन ये आँसू आनद के माने जाते है। इन आँसुओ से चित्त मे आनद होता है और इसी प्रकार आँसू निकलते ही रहे, यह चाह बनी रहती है। लेकिन ममता के कारण, स्त्री-पुत्रादि रिश्तेदारो के वियोग के कारण उनकी आसक्ति के कारण जो आँसू बहते है, वे चित्त मे दु ख पैदा करते है। इसी कारण ये आँसू दु ख के माने जाते है। अर्जुन के अश्रु भी मोहजनित थे। युद्ध मे रिश्तेदारो का सहार होने के कारण उनका वियोग होगा, यह अर्जुन को बरदाश्त नही हो रहा है और इसी कारण वह व्याकुल हो रहा है।

(३) व्याकुल-चित्त होने से उसके मन मे बहुत विषाद हो रहा है। वह अपना कर्तव्य त्यागने को तैयार हो गया। अतिदु ख के कारण चित्त की जब डाँवाडोल स्थिति हो जाती है, तब उचित-अनुचित, कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति को परखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अर्जुन वीर था, लेकिन इस समय वह हतवीर्य हो गया था।

: २ :

भगवान् उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥

अर्जुन=हे अर्जुन, **इदं कश्मलम्**=यह पाप, मलिनता का विचार, **अनार्यजुष्टम्**=जिसे श्रेष्ठ पुरुषो ने कभी स्वीकार नही किया, **अस्वर्ग्यम्**=जो स्वर्ग देनेवाला नही है, **अकीर्तिकरम्**=जो अपकीर्ति करनेवाला है, **त्वा**=वह तुमको, **विषमे**=इस विषम प्रसग मे, **कुतः**=कहाँ से, कैसे, **समुपस्थितम्**=प्राप्त हुआ।

इस श्लोक मे चार बाते बतायी गयी है

(१) अर्जुन के मन मे मोह के कारण जो झूठी दया, झूठी करुणा पैदा हुई थी और जिससे उसकी आँखे डबडबा गयी थी, उसे भगवान् पाप या मन की मलिनता बता रहे है। इसे पाप क्यो कहा ? इसलिए कि यह स्वजनासक्ति आदमी को नीचे गिराती है, अवनति करती है, शाति नष्ट करती है। पाप-कर्म हमेशा आदमी को नीचे गिराता है। पुण्य-कर्म आदमी को ऊँचा उठाता है।

(२) पाप-वृत्ति या पाप-कर्म स्वर्ग देनेवाला यानी मृत्यु के बाद शुभ-गति देनेवाला नही होता। अर्थात् मृत्यु के बाद का जन्म भी ऊँचे कुल मे न होकर निकृष्ट कुल मे या तिर्यग्-योनि मे मिलता है।

(३) यह स्वजनासक्तिरूप पाप आदमी को अपने कर्तव्य से च्युत करता है, इसलिए यह प्राप्त प्रतिष्ठा को तोड देता है। **स्वजनो के प्रति जो कर्तव्य है, जो स्वधर्म है, वे भलीभाँति करने चाहिए, वे आदमी को नहीं गिराते। मगर उनके प्रति आसक्ति पैदा हो जाय तो उससे आदमी गिरता है।** स्वजन यदि हमसे अधर्म या असत्याचरण कराना चाहे तो उसका विरोध करना हमारा फर्ज हो जाता है। किन्तु उस समय हम स्वजनासक्ति के कारण अपने पवित्र कर्तव्य से विचलित हो जाते है। अर्जुन जिन्दगीभर अन्याय का प्रतीकार करता रहा। लेकिन अपने स्वजनो को देखकर कर्तव्य से डिग गया। अर्जुन की समाज मे बहुत प्रतिष्ठा थी। मगर अन्य लोगो की भाँति स्वजनासक्ति का दोष अर्जुन मे भी देखकर लोगो मे उसकी प्रतिष्ठा कम होना और उसकी अपकीर्ति होना स्वाभाविक ही है। पूरे सालभर अच्छा अभ्यास करके परीक्षा मे विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो उसकी प्रतिष्ठा खतम हो जाती है। समय आने पर आदमी की कसौटी होती है। इसलिए भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि स्वकर्तव्य-च्युति से तुम्हारी अब तक की सारी प्रतिष्ठा गिर जायगी और अपकीर्ति होगी।

(४) इस मलिनता को श्रेष्ठ लोगो ने स्वीकार नही किया है, इसलिए यह **अनार्यजुष्ट** है, ऐसा भगवान् कह रहे है। जिस चीज को श्रेष्ठ लोगो ने कभी स्वीकार नही किया, ऐसा कर्तव्य छोड़ने का मलिन विचार इस विषम प्रसग मे कहाँ से तुम्हारे मन मे आया, यह कहकर भगवान् अर्जुन को उलाहना दे रहे हैं।

धर्म-पालन के लिए स्वजनो के प्रतीकार के प्रसग को विषम प्रसग ही कहेगे। कुटुब-सस्था की यह विशेषता है कि आपस मे मतभेद हो जाय, झगडा हो जाय तो भी प्रेम-सम्बन्ध कायम रहता है। सार्वजनिक सेवा का उच्च ध्येय रखकर सत्य-अहिसा आदि ऊँचे सिद्धान्त सामने रखते हुए सार्वजनिक सेवा की सस्थाएँ मुश्किल से २५-३० साल तक टिकती है। धीरे-धीरे आपस मे मतभेद हो जाते है, अहकार बढ जाता है और इस तरह सस्थाएँ टूट जाती है। सार्वजनिक सेवा की सस्थाएँ दीर्घजीवी न होकर अल्पजीवी हो जाती हैं। कुटुम्ब-सस्था अनादिकाल से चली आ रही है और आगे भी चलती रहेगी। ऐसी कुटुम्ब-सस्था मे, परिवार मे जब गभीर मतभेद होकर आपस मे एक-दूसरे का प्रतीकार करने का प्रसग आता है, तो वह प्रसग स्नेह-सम्बन्ध को हमेशा के लिए तोडने का निमित्त बन जाता है। अत वह विषम प्रसग बन जाता है। लेकिन विषम प्रसग पर ही धर्म-पालन, सत्यपालन की कसौटी होती हैं। इसलिए

ऐसे प्रसग को 'विपम प्रसग' कहकर भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि कर्तव्य-पालन का जो यह महत्त्व-पूर्ण प्रसग खडा हुआ है, उसमे कर्तव्य छोडने का मलिन विचार तुम्हे कहाँ से सूझा ? श्रेष्ठ लोगो ने तो उसे स्वीकार नही किया है। आगे का श्लोक भी इसी सन्दर्भ मे है। भगवान् अर्जुन को और उलाहना देते हुए कह रहे है

: ३ :

क्लैब्य मा स्म गम पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप ॥

पार्थ=हे अर्जुन, **क्लैब्य**=क्लीवता को, मन की दुर्वलता को, **मा स्म गम** =मत प्राप्त हो, **एतत्**=यह मानसिक दुर्वलता, **त्वयि**=तुम्हारे लिए, **न उपपद्यते**=उचित नही है। **परंतप**=दूसरो को ताप देनेवाले यानी दूसरो के अन्याय का प्रतीकार करनेवाले हे अर्जुन, **क्षुद्र**= निकम्मी, **हृदय-दौर्बल्य**=मन की दुर्वलता को, **त्यक्त्वा**=तजकर, **उत्तिष्ठ**=खडा हो जा।

इस श्लोक मे भगवान् ने चार बाते बतलायी है

(१) देह के अधीन होने पर मनुष्य कायर हो जाता है। यो अर्जुन कायर नही था। वह क्षत्रिय था। अन्याय का प्रतीकार करना, अन्याय के वश न होना क्षत्रिय का धर्म है। यह उसकी रग-रग मे था। जिन्दगी भर उसने क्षात्र-धर्म का ही पालन किया। किन्तु उसके जीवन मे यही एक ऐसा प्रसग आया कि देह की ममता के कारण वह मूर्च्छित हो गया। उसे आत्मा का भान नही रहा। इसीसे वह दीन वन गया, उसमे कायरता आ गयी। भगवान् उसे उलाहना दे रहे हे कि तुम देह की मूर्च्छा छोड दो, कायर मत बनो।

(२) कायर बनना तुम्हे शोभा नही देता, क्योकि कायर बनना तुम्हारे स्वभाव मे नही है। वीरता ही उसका सहज स्वभाव था। लेकिन पानी पर जैसे लहरे उठती है वैसे आत्मा पर ममता की, 'मै' और 'मेरेपन' की अज्ञानजन्य लहरे उठती है। ये लहरे इतनी प्रचड होती है कि इनमे कुशल तैराक भी डूब जाता है। इसलिए अर्जुन जैसा वीर भी ममता के कारण शोकरूपी सागर मे डूब गया, दीन बन गया।

(३) मन की दुर्वलता छोडो। आत्मस्वरूप होकर भी यदि हम देह और मन को अपना स्वरूप मानकर चलते है, तो हमारा मन ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधोगामी ही रहेगा। विकास के बजाय हमारी अवनति ही होगी। मन आत्मस्वरूप मे, परमात्मस्वरूप मे रहने लगे तो उसका बल बढे। लेकिन यदि वह देह के अधीन होकर चलता है तो दिन-ब-दिन उसका बल घटता जाता है। वह दुर्बल हो जाता है। अर्जुन का मनोबल बहुत क्षीण हो गया था, इसलिए भगवान् उसे मन की इस दुर्वलता को छोडने के लिए कह रहे है।

(४) स्वधर्म किसी भी हालत मे नही छोडना चाहिए। इसलिए तुम कर्तव्य कर्म करने के लिए तैयार हो जाओ। अर्जुन अपना कर्तव्य छोडने के लिए तैयार हो गया था। अन्याय का प्रतीकार करने का स्वधर्म तो उसने पहले से तय किया था। फिर धर्म समझकर हम जो कर्तव्य अपने लिए निश्चित करते है, उसे मोह के कारण कैसे छोड सकते है ? इसलिए भगवान् अर्जुन को अपने कर्तव्य का भान करा रहे है।

: ४ :

अर्जुन उवाच

कथ भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभि प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

अह=मै, **सख्ये**=रणभूमि मे, **भीष्म**=भीष्म पितामह, **च**=और **द्रोण**=द्रोणाचार्य गुरु, **इषुभि** =इन दोनो के साथ, बाणो से, **कथ**=किस प्रकार, **प्रतियोत्स्यामि**—लडूँ, युद्ध करूँ, क्योकि, **तौ**=ये दोनो, **अरिसूदन**=शत्रु का नाश करनेवाले हे कृष्ण, **पूजार्हौ**=पूजनीय है।

इस श्लोक मे अर्जुन ने दो बाते कही है

(१) पहली बात यह कि भीष्म, द्रोण जैसे पूजनीय महात्माओ के सामने मै कैसे लडूँ, अपनी यह कठिनाई अर्जुन भगवान् के सामने पेश कर रहा है। पहले अध्याय मे अर्जुन ने अपने स्वजनो के सामने मै किस तरह लडूँ, यही बात मुख्यत पेश की थी। उसकी सारी दलीले स्वजनो को दृष्टि मे रखकर ही प्रस्तुत हुई थी। यहाँ अर्जुन भीष्म और द्रोण को ध्यान मे रखकर दलील कर रहा है।

भीष्म पितामह अत्यन्त पूजनीय थे। द्रोणाचार्य तो धनुर्विद्या सिखानेवाले प्रत्यक्ष गुरु ही थे, इसलिए वे भी पूजनीय थे। अब उन्हीके साथ लडने का विषम प्रसग खडा हुआ। युद्ध का सही अर्थ क्या हो सकता है, इसका स्पष्टीकरण इस अध्याय के १८वे श्लोक मे है। युद्ध का सही अर्थ तो अन्याय का प्रतीकार करना ही है। अन्याय का प्रतीकार शस्त्रों से हो सकता है। शस्त्रो के बिना भी हो सकता है, यह इस युग मे गाधीजी ने बतलाया। इस तरह अन्याय का प्रतीकार दोनो तरह से हो सकता है। सत्य-पालन के लिए प्रह्लाद ने अपने पिता का विरोध किया। प्रह्लाद के पिता ने उसे जो-जो यत्रणाएँ दी, वे सब उसने बरदाश्त की। प्रह्लाद का प्रतीकार अहिसक था। हिसक प्रतीकार मे दोनो पक्ष शस्त्रो से लडते है। दोनो मार खाते है। मार खाते-खाते एक पक्ष की विजय होती है, लेकिन वह विजय नाममात्र की ही रहती है। दोनो पक्ष थके हुए रहते है। दोनो पक्षो का बहुत नुकसान हुआ रहता है। इसलिए उभय पक्ष की विजय नाममात्र की ही कहलाती है। अहिसक प्रतीकार मे जो पक्ष सहन करता है, आखिर विजय उसीकी होती है। सहन करने मे देह-बुद्धि क्षीण होकर आत्मबुद्धि प्रकट होती है। प्रह्लाद ने सत्यपालन के लिए बहुत सहन किया, इसलिए भगवान् की उसे मदद मिली और प्रह्लाद की विजय हुई। अर्जुन के समय मे अहिसक प्रतीकार की खोज नही हुई थी। इसलिए शस्त्र-युद्ध का ही वर्णन यहाँ मिलता है। मगर युद्ध का सही अर्थ अन्याय का प्रतीकार ही है। कौरव अन्याय कर रहे थे। पाडवो की कम से कम माग भी दुर्योधन आदि कौरवो को मान्य नहीं थी। ऐसी स्थिति मे अन्याय का प्रतीकार करना पाडवो का धर्म हो गया। भीष्म, द्रोण सबके पूजनीय थे। भीष्म, द्रोण दुर्योधन के पक्ष मे थे। उनको रहना पडा, क्योकि अब तक उन्हीके साथ रहे। उन्हीके साथ उनका गुजारा हुआ था। उन्हे लगने लगा कि असत्य पक्ष होने पर भी यदि हम ऐन मौके पर दुर्योधन का पक्ष छोड देते है तो वह अधर्म होगा। अर्जुन के सामने यह एक विकट समस्या थी। इसलिए वह कह रहा है कि ये भीष्म, द्रोण मेरे लिए इतने पूजनीय है कि इनके साथ मै कैसे लडूँ ?

: ५ :

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥

हि=क्योकि, इह लोके=इस लोक मे, महानुभावान्=प्रभावशाली महात्मा, गुरून्=गुरुजनो को, अहत्वा=न मारकर, भैक्ष्य=भीख माँगकर, अपि=ही, भोक्तुं=खाना, जीना, श्रेय.=अधिक श्रेयस्कर है, तु=लेकिन, गुरून्=गुरुजनो को, पूजनीय पुरुषो को, हत्वा=मारकर, इह=इस लोक मे, रुधिर-प्रदिग्धान्=रक्त से सने हुए, अर्थ-कामान्=अर्थ यानी स त्ति, वैभव, और कामरूप, भोगान्=भोगो को एव=ही, भुञ्जीय=भोगूँगा।

इस श्लोक मे दो बाते कही गयी है

(१) गुरुओ के साथ लड़ने के बजाय भिक्षा माँगकर जीना ज्यादा कल्याणकारक है, ऐसा अर्जुन को लग रहा है। भिक्षा माँगना उस जमाने मे सन्यासियो का धर्म माना जाता था। भिक्षा का

अर्थ विनोबाजी ने बताया है, वही उस जमाने
जो । अर्थात् समाज की ज्यादा-से-ज्यादा सेवा
मे था समाज से अपने निर्वाह के लिए कम-से-कम
करके उस जमाने मे सच्चे सन्यासी थे, इसलिए
लेना र्म का पालन सर्वत्र भलीभाँति होता था।
इस मोह से व्याकुल हो गया था। इसलिए
अर्ज सियो का भिक्षा-धर्म उसे श्रेष्ठ लग रहा है।
सन्य, द्रोण आदि का सामना पहले अर्जुन ने किया
भीष्म, ऐसी बात नही। लेकिन इस समय का
नही आखिरी था। इसमे मरने-जीने का सवाल
साम पाडव जिये या कौरव जिये, इसका फैसला
था। लिए दोनो कटिबद्ध होकर आमने-सामने
करने। आखिरी प्रसग होने से अर्जुन की ममता,
खड़े थे था आसक्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया
ममत्व : इसीसे व्याकुल होकर वह कह रहा है
था औ गुरुजनो ने हम पर अतिउपकार किये
कि पूज्य ही वे अन्याय्य पक्ष मे हो, उनका सामना
है। भले र करने के बजाय, उनके साथ लडने
या प्रतीक अच्छा है कि मै सब छोड दूँ और भिक्षा
के बजाय, नी सन्यासी बनकर जीवन बिताऊँ।
माँगकर य कल्याण करनेवाली चीज होगी।
यही आत्म मान लीजिये कि गुरुजनो और कौरवो
(२) के हम जिये, तो भी उससे लाभ क्या
का सहार क न कि गुरुजनो के खून से सने भोगो
होगा ? यही रुजनो के सहार से मोक्ष मिलता हो
को भोगेंगे। थी। किन्तु उसका फल तो बहुत
तो अलग बात ही मिलेगा। इस तरह अर्जुन
क्षुद्र, बहुत तु कर रहा था। मगर यह उसकी
वैराग्य की बातचन मोहजन्य थे। अर्जुन भिक्षा
वाणी, उसके ये ी पडता तो भिक्षा-वृत्ति कैसे
माँगने निकल भिक्षा-वृत्ति यानी सन्यास-वृत्ति।
धारण करता ? सन्यास न होने से सन्यास का
अर्जुन की वृत्ति मे ही मिलता। इतना ही नही,
लाभ उसे कभी न न होने से वह ढोगी और
वृत्ति सन्यास की ा।
मिथ्याचारी बन जा

: ६ :

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥

यत् वा=या, जयेम=हमारे जीतने से सबका कल्याण होगा, यदि वा=अथवा, न.=हमे, जयेयुः=कौरव जीतेंगे इसमे सबका कल्याण होगा, न.=उपर्युक्त दो चीजो मे से हमारे लिए, कतरत्=कौन-सा, गरीयः=श्रेष्ठ होगा, श्रेयस्कर होगा, एतत्=इसे, न विद्मः=हम नही जानते, यान् एव=जिन दुर्योधन आदि बन्धुओ को ही, हत्वा=मारकर, न जिजीविषामः=हम जिन्दा रहना नही चाहते, ते=वे धार्तराष्ट्राः=धृतराष्ट्र के पुत्र, सगे-सबधी, प्रमुखे=हमारे सामने, अवस्थिता=खडे हुए है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी गयी है.

(१) आम जनता का कल्याण हमारे जीतने से होगा या दुर्योधन आदि के जीतने से, यह हम नही जानते। हमारे जीतने से ही सबका कल्याण होगा, यही समझकर कौरवो के साथ युद्ध करने का निश्चय हुआ था। अर्जुन ने भगवान् से अपना रथ कौरवो के सामने खडा करने को कहा था, तब तक तो अर्जुन का लडने का निश्चय कायम था। बाद मे उसके चित्त मे स्वजनो के प्रति मोह पैदा हुआ। उसने इस कर्तव्य से हटना चाहा और समर्थन मे दलीले देने लगा। इस श्लोक मे जो दलीले वह पेश कर रहा है, उनके पीछे यद्यपि मोह ही है, फिर भी उन दलीलो मे कुछ तथ्य भी है। दोनो मे से किसी एक पक्ष की विजय और दूसरे की हार होगी, यह निश्चित ही है। यहाँ अर्जुन के मन मे यह विचार खडा हुआ कि जनता का कल्याण किसकी विजय से होगा ? दुर्योधन आदि दुर्जन है और हम सज्जन। यह सहज ही माना जायगा कि सज्जनो की विजय से सबका कल्याण होगा। फिर भगवान् कृष्ण हमारा सारथ्य कर रहे है, इसलिए हमारा पक्ष सत्पक्ष ही

है। ऐसा होते हुए भी पाया यह जाता है कि सज्जन भी अधिकार पाने पर कभी-कभी अपनी सज्जनता भूलकर सन्त दुर्जन बन जाते है। तुलसीदासजी कहते है

> नही कोउ अस जनमा जग माहीं।
> प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥

अधिकार प्राप्त होने पर जिन्हे मद नही हुआ, ऐसे विरले ही पुरुष होगे। कभी दुर्जन समझे जानेवाले लोग सज्जन भी बन जाते हैं यानी उनमे परिवर्तन हो जाता है। इसलिए अर्जुन के मन मे यह शका आ रही है कि हमारी विजय होने से ही जगत् का कल्याण होगा, यह हम कैसे माने? कौरवों की जीत होने से भी जगत् का कल्याण हो सकता है।

(२) जिन स्वजनो को मारकर, हम जीना नही चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र आदि सब स्वजन सामने खडे है।

: ७ :

> कार्पण्य-दोषोपहत-स्वभावः
> पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेता।
> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
> शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

कार्पण्यदोष-उपहतस्वभाव=कृपणता के दोष से यानी स्वजनासक्ति के मोह से वृत्ति मे कायरता आयी, उस दोष से, जिसका स्वभाव नष्ट हो गया, अपना असली स्वरूप ढँक गया, धर्मसंमूढचेता=और जिसका चित्त धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने मे मूढ हो गया है, उलझन मे पड गया है, अहं=ऐसा मैं, त्वां=तुम्हे, पृच्छामि=पूछता हूँ कि, यत्=जिसमे, निश्चितं=निश्चित ही, श्रेय स्यात्=कल्याण हो, तत्=वही, मे=मुझे, ब्रूहि=बतलाओ। अहं=मैं, ते=तुम्हारा, शिष्य=शिष्य हूँ, त्वां=तुम्हे, प्रपन्नं=शरण आये हुए, मां=मेरा, शाधि=सही मार्ग-दर्शन करो।

इस श्लोक मे छह बाते है

(१) कार्पण्यदोषोपहत-स्वभाव—कृपणता का अर्थ भगवान् ने इसी अध्याय के ४९वे श्लोक मे बताया है। कृपणाः फलहेतवः अर्थात् फल की आसक्ति रखनेवाले कृपण यानी दीन है। अनेक दलीले करने के बाद अब इस श्लोक मे अपनी असली स्थिति का अर्जुन को भान हो गया है। वह कहता है कि स्वजनासक्ति के कारण मेरे मन मे जो मोह पैदा हुआ, उससे मेरा स्वभाव नष्ट हो गया है। स्वभाव का मूल अर्थ क्या है, यह गीता के आठवे अध्याय के तीसरे श्लोक मे बताया है। स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते—"अध्यात्म ही स्वभाव कहा गया है।" अध्यात्म यानी प्रत्येक देह मे स्थित परमात्मा। उसे 'प्रत्यगात्मा' नाम से भी जाना जाता है। हम सबका मूल स्वभाव परमात्मा है। परमात्मा से हम किसी भी हालत मे भिन्न नही, देह से हर हालत मे भिन्न ही है। देह से भिन्न रहते हुए भी देह, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि ये ही हमें अपना स्वरूप या स्वभाव प्रतीत होता है। इसका कारण है, अपने असली स्वरूप की पहचान न होना। अपने स्वरूप की पहचान न होना बडे आश्चर्य की बात है। जड देह स्थूल है और हमारा स्वरूप सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने से हम अपने स्वरूप को देख नही पाते। देह अपना स्वरूप न होते हुए भी उसे अपना स्वरूप मानना और परमात्मा अपना स्वरूप होते हुए भी उसे अपना स्वरूप न मानना ही अज्ञान है। लेकिन प्राणिमात्र मे यह अज्ञान, यह मूढता, यह मूर्खता अनादि काल से चली आ रही है। अर्जुन को यह चीज इस समय महसूस हो रही है। इसीलिए वह कह रहा है कि कृपणता के दोष से यानी स्वजनासक्ति के कारण चित्त मे जो मोह पैदा हुआ है, इससे मेरा मूल परमात्म-स्वरूप ढँक गया है। वह 'अपहत' यानी नष्ट-सा हो गया है। चित्त मे मोह का पैदा न होना ही अपने स्वरूप की पहचान का लाभ है। अर्जुन को लगा कि वह इस लाभ से वंचित हो गया है।

(२) दूसरी स्थिति यह हो गयी है कि धर्मसंमूढचेताः—"मेरा चित्त धर्मसमूढ हो गया

है।" इस मोह के कारण अर्जुन को इस चीज की पहचान नही हो रही है कि 'धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, करने-न करने योग्य, उचित-अनुचित की द्विविधा के अतर का विचार करते हुए क्या कर्तव्य है, और कौन-सा धर्म है ?' वुद्धि जव मोह से अलग हो जाती है, तभी उसमे किसी वस्तु के यथार्थ निर्णय की शक्ति आती है। यह शक्ति अर्जुन ने खो दी है, इस वात को वह महसूस कर रहा है।

(३) वह नम्र होकर भगवान् से पूछ रहा है। मन मे जिज्ञासा पैदा होने पर ही अनुभवी पुरुषो से ज्ञान मिलता है। गीता के चौथे अध्याय के ३४ वे श्लोक मे यही वात भगवान् ने कही है **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।** ज्ञान-प्राप्त करने के लिए तीन वाते वतायी १ प्रणिपात, यानी साष्टाग नमस्कार, अर्थात् अतिनम्रता। २ जिस परमात्मा को जानने की इच्छा है, उसके वारे मे जव तक चित्त को समाधान न हो तव तक अनुभवी पुरुषो से पूछते रहना। और ३ जिन अनुभवी पुरुषो की कृपा से ज्ञान प्राप्त करना है, उनकी सेवा करना। इस तरह व्याकुल-चित्त हो जाने से प्रश्न पूछने की भूमिका अर्जुन मे पैदा हुई।

(४) अर्जुन भगवान् से यह कह रहा है कि जिस चीज मे मेरा कल्याण हो, मेरा भला हो, वह कृपा करके मुझे वताइये। कठोपनिषद् (१ २ २) मे एक श्लोक है

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत
स्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

मनुष्य के सामने सदैव श्रेय और प्रेय खडे होते है और उसका मुकावला हरएक को करना होता है। मनुष्य की सामान्यत प्रवृत्ति प्रेय पसन्द करने की है। जिसमे ऐहिक सुख मिले, उसीकी तरफ हर मनुष्य झुकता है। लेकिन जव उसमे सुख नही मिलता, कदम-कदम पर दु ख का ही अनुभव होता है—और उसमे भी जव आदमी के सामने कोई भारी विषम प्रसग आता है और उससे व्याकुलता एवं महादु ख होता है—तो उससे उसकी वृत्ति ऐहिक सुख से हट जाती है। फिर वह पुरुष श्रेय की तरफ यानी अपना जिसमे कल्याण हो, उसीको पसन्द करता है। उसीकी तरफ मुड़ता है। अर्जुन की स्थिति भी इस विषम प्रसग मे ऐसी ही हो गयी और वह भगवान् से कह रहा है कि मेरा जिसमे कल्याण हो, वही वताइये।

(५) चित्त मे भारी व्याकुलता अनुभव होने से अर्जुन इतना नम्र वनता है कि वह कह रहा है कि मै आपका शिष्य हूँ। अनुभवी पुरुष के सामने जव तक शिष्य-भाव से नही जायँगे तव तक अध्यात्म की गूढ वाते वे नही वतायेगे। तुलसीदासजी कहते है .

गूढ़उ सत्य न साधु दुरावहिं।
आरत अधिकारी जहँ पावहिं ॥

जहाँ आरत यानी अतिदु खी और अधिकारी यानी साधक मुमुक्षु, दोनो का सगम हो जाता है यानी इन दो चीजो से युक्त जव किसी मनुष्य को देखते है तो साधु, और सत पुरुष अध्यात्म की गूढ वाते कभी उनसे नही छिपाते। वे गूढ वाते खोलकर वतला देते है।

(६) अर्जुन अपने वारे मे यह वतला रहा है कि मै आपका शिष्य तो हूँ ही, आपकी शरण भी आया हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण अनुभवी पुरुष थे, नम्रता की मूर्ति थे। वैसे अर्जुन अधिकारी तो था ही, किन्तु दु ख से व्याकुल न होने के कारण उपदेश का अधिकारी नही वन पाया था। यहाँ वह उपदेश का पूरा अधिकारी वन गया। भगवान् के निकट अतिनम्र वनकर शिष्य-भाव से उनकी शरण जाकर कह रहा है कि अव मुझे उपदेश दे।

: ८ :

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोक-मुच्छोषण-मिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्ध
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

भूमौ=इस मर्त्य-लोक मे, असपत्न=शत्रु-रहित, ऋद्ध=धनधान्य-सम्पन्न, राज्य=राज्य को, च=और, सुराणां=देवताओ के, आधिपत्य=राज्य को, अवाप्य=प्राप्त करके, अपि=भी, यत्=जो, मम=मेरी, इन्द्रियाणा=इन्द्रियो को, उच्छोषण=सुखानेवाला, शोक=शोक, अपनुद्यात्=दूर कर सके, न हि प्रपश्यामि=ऐसा कोई उपाय नही देख रहा हूँ ।

इस श्लोक मे अर्जुन ने एक ही बात बतायी है। यह अर्जुन का अतिम श्लोक है। वह कहता है, मेरे सामने तत्काल तो एक ही प्रश्न है और वह यह कि मुझे शोक-मोह ने घेर लिया है । वह कैसे दूर हो ? शोक-मोह से शाति कायम रहती तो कोई प्रश्न नही । लेकिन वे मेरी शाति नष्ट कर रहे हैं। मेरी अतर्बाह्य सारी इन्द्रियो का शोषण ये शोक-मोह कर रहे है ।

मान लीजिये, अर्जुन कह रहा है "इस समय कौरव और उनके सब रिश्तेदार, मित्रगण, जो मेरे सामने लडने के लिए खडे है, युद्ध करना छोड दे और कहे कि 'हम सब हट जाते है तुम और युधिष्ठिर आदि सब पाडव राज्य करो' या इन्द्र आकर कहे कि 'अपना स्वर्ग का राज्य भी तुम्हे देता हूँ' तो मेरे चित्त मे घुसा यह शोक-मोह-रूपी शत्रु क्या राज्य-प्राप्ति से दूर हो सकेगा ?" अर्जुन के इस सवाल का क्या जवाब हो सकता है? राज्य यानी बाह्य सुख मिलने से ही भीतर के शोक, मोह, अभिमान, काम, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जायँ, तो शाति भग करनेवाले इन विकारो को दूर करना बहुत आसान हो जायगा । फिर तो 'आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि साधनो की जरूरत ही नही रह जायगी । लेकिन अनादि काल से यही अनुभव आ रहा है कि बाह्य वैभव या सुख के साधन चाहे कितने ही प्राप्त किये जायें, वे भीतरी शाति को एकदम नष्ट करने और आतरिक विकारो को दूर करने मे असमर्थ साबित होते है । आतरिक विकार दूर करने का एक ही साधन है आत्मज्ञान, भक्ति, वैराग्य प्राप्त करना । ईशावास्य-उपनिषद् के सातवे श्लोक मे कहा है

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

प्रत्येक व्यक्ति बाह्य सुख प्राप्त करने की कोशिश मे रहता है और उसे कुछ सुख मिलता भी है । किन्तु जीवन मे कुछ विषम प्रसग आते है तो मनुष्य की शाति नष्ट हो जाती है । तब उसे पता चलता है कि बाह्य-सुख के साधन कितने ही बढाये जायँ, ऐन मौके पर, जब कि भीतर की शाति नष्ट हो जाती और अपार दुःख होने लगता है, बाह्य वैभव बिलकुल काम नही आता । फिर व्यक्ति सत्सग की खोज मे निकलता है। भाग्य से किसी अच्छे सत का मिलन हो जाय, उस पर श्रद्धा बैठ जाय, उसकी कृपा हो जाय, तो शाति प्राप्त करने और शोक-मोहादि विकारो को हटाने की युक्ति, साधना ध्यान मे आ जाती है । अर्जुन की यही स्थिति हो गयी है । वह शाति के लिए छटपटा रहा है । भगवान् से कहता है कि यह शोक-मोह कैसे दूर हो, यह मुझे बताओ । मै तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरण आया हूँ ।

: ९ :

सजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

परतपः=शत्रु को ताप देनेवाले यानी शूरवीर, और गुडाकेशः=निद्रा-जयी अर्जुन ने, हृषीकेश=भगवान् श्रीकृष्ण को, एवं=इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, च=और, न योत्स्ये=मै नही लडूंगा, इति=ऐसा, गोविन्द=कृष्ण भगवान् को, उक्त्वा=कहकर, तूष्णीं=स्तब्ध, बभूव ह=हो गया ।

इस श्लोक मे सजय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन के सम्बन्ध मे तीन वाते वतायी है

(१) संजय धृतराष्ट्र को वतला रहा है कि इस प्रकार अर्जुन ने भगवान् को अपनी मानसिक स्थिति का पूरा-पूरा दर्शन करा दिया ।

(२) शोक से व्याकुल अपनी स्थिति का वर्णन कर अर्जुन ने भगवान् से कहा कि नही लड़ूँगा । कौरवो के अन्याय का प्रतीकार नही करूँगा, यानी मैंने जो स्वधर्म या स्वकर्तव्य माना था, उसे नही करूँगा ।

(३) इतना कहकर अर्जुन विलकुल चुप हो गया ।

अर्जुन तो केवल निमित्त है । हम सब जो ससार मे पडे हुए है, उन पर ऐसे प्रसग आया ही करते है । ऐसे विषम प्रसंग आने पर चित्त की शाति नष्ट हो जाती है, वह पुन कैसे प्राप्त हो, यही महत्त्व का सवाल सामने रहता है। इसका कोई इलाज, उपाय तो होना ही चाहिए । श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को सारी गीता सुनाकर हम सब लोगो के लिए इसीके आतरिक और बाह्य उपाय बताये है। गाधीजी गीता को 'धर्म-कोश' कहते हैं । कठिन शब्द का अर्थ जो हमारी समझ मे नही आता, उसे कोश मे हम देख लेते है । वैसे ही कठिन प्रसग पर जब हमारी शाति खडित हो जाती है, तब गीता का सहारा लेकर सही शाति प्राप्त करके अपने स्वधर्म और स्वकर्तव्य मे मगन रह सकते है ।

इस श्लोक मे 'परतप' शब्द अर्जुन के लिए है या धृतराष्ट्र के लिए, इस बारे मे मतभेद है । यह विशेषण अर्जुन के लिए ही आया है, यह लोकमान्य तिलक और विनोवाजी का मत है । मैंने भी वैसा ही अर्थ किया है । 'गुडाकेश' शब्द भी अर्जुन के लिए आया है । गुडाकेश का अर्थ पहले अध्याय मे दिया जा चुका है । इसके दो अर्थ होते है । मैंने यहाँ निद्रा का स्वामी अर्थ पसन्द किया है। 'परतप' शब्द का अर्थ शत्रु को ताप देनेवाला है । विनोवाजी उसका अर्थ 'शूर-वीर' करते है । 'अर्जुन' शब्द का अर्थ ऋजु यानी सरल-बुद्धि, निष्कपट-बुद्धि है । सरल-चित्त मनुष्यो को परमात्म-ज्ञान जल्दी प्राप्त होता है ।

: १० :

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥

भारत=हे धृतराष्ट्र महाराज, हृषीकेशः=श्रीकृष्ण भगवान्, उभयो.=दोनो, सेनयोः=सेनाओ के, मध्ये=बीच मे, विषीदन्तं=शोक करते हुए, तं=अर्जुन से, प्रहसन् इव=मुस्कराकर, इद=यह, वचः=वचन, उवाच=बोले ।

इस श्लोक मे यो तो एक ही वात है । लेकिन तीन वाते वतायी है, ऐसा भी कह सकते है ।

(१) अर्जुन शोक कर रहा था, उसका जिक्र किया । इसमे यही वतलाया है कि ११वे श्लोक से भगवान् उपदेश देना शुरु करेंगे, उसे सुनने के लिए किस तरह अर्जुन की भूमिका योग्य थी । यही वात आठवे श्लोक मे भी है । यहाँ फिर से उसे दुहरा दिया है । अर्जुन को निमित्त वनाकर सवके लिए गीता के रचयिता भगवान् व्यासजी कह रहे है कि 'चित्त मे यदि व्याकुलता पैदा न हुई हो, तो ११वे श्लोक से भगवान् जो उपदेश दे रहे है, वह हृदय मे नही वैठेगा । क्योकि जब आदमी को अपार दु.ख होता है, अति-व्याकुलता होती है, तभी उपदेश सुनने की उत्सुकता, जागृति, एकाग्रता और जिज्ञासा चित्त मे पैदा होती है ।'

(२) अर्जुन की यह दयाजनक स्थिति देखकर भगवान् मुस्कराते है । किसीके मन मे यह विचार आ सकता है कि क्या इस तरह मुस्कराना उचित है ? इसका एक रहस्य है । भगवान् के मुस्कराने मे दो भाव निहित हैं । एक तो उन्हे

यह लगा कि परमात्मा की पहचान के लिए मन की जो भूमिका होनी चाहिए, वह अर्जुन को व्याकुलता से प्राप्त हो गयी है। इसलिए भगवान् को मन मे आनन्द हुआ, और उससे सहज ही उनके चेहरे पर हास्य प्रकट हुआ। दूसरा भाव यह है कि भगवान् स्वय ज्ञानी थे। पुरुप मे एक ओर नम्रता, निरहता रहती है, तो दूसरी ओर आत्म-विश्वास भी। भगवान् मे इतना आत्म-विश्वास था कि अर्जुन का यह शोक-मोहरूपी अज्ञान सहज ही दूर हो सकेगा; ऐसा उन्हे भीतर से लगा। इसीलिए मुस्करा दिये। भगवान् के उपदेशामृत से अर्जुन का शोक-मोह दूर हो गया और फिर वह स्वधर्म मे, स्वकर्तव्य मे प्रवृत्त हो गया। यह वात गीता के १८वे अध्याय के ७३वे श्लोक मे वह स्वय कह रहा है।

(३) भगवान् हँस दिये और ११वे श्लोक से उन्होने शोक, मोह और दु ख की निवृत्ति का उपदेश देना शुरू किया, यह तीसरी वात हुई।

भगवान् शकराचार्य ने गीता का भाष्य लिखा है। किन्तु पहले अध्याय का उन्होने भाष्य नही किया। दूसरे अध्याय के भी प्रारभ के दस श्लोक छोड दिये। पहले अध्याय और दूसरे अध्याय के १० श्लोक तक के ग्रथ का सार थोडे मे लेकिन वडी मार्मिकता से, वडे अच्छे ढग से वता दिया है।

लोकमान्य तिलक जी ने अपने 'गीता-रहस्य' मे शकराचार्य के सन्यास-मार्ग का खडन किया है। किन्तु शकराचार्य के वारे मे अपना अभिप्राय वताते हुए कहा है कि 'शकराचार्य जैसे महा-अलौकिक ज्ञानी पुरुष आज तक जगत् मे नही हुए, यह कहे तो उसमे अनुचित नही होगा।'

शकराचार्य मे अलौकिक ज्ञान के साथ अलौकिक वैराग्य भी था। इस वैराग्य के कारण गीता जैसे पूजनीय ग्रथ पर भाष्य लिखते हुए उन्होने पहला अध्याय यो ही छोड दिया और दूसरे अध्याय के दस श्लोक भी छोड दिये और साररूप प्रस्तावना लिख दी। वडा मार्मिक विवेचन किया है।

वे लिखते है: "पहले अध्याय के दूसरे श्लोक से लेकर दूसरे अध्याय के दसवे श्लोक तक यह वताया है कि सभी प्राणियो को शोक, मोह आदि ससार के वीजभूत दोप--ससार के वन्धन मे फँसानेवाले दोष किस तरह पैदा होते है। अर्जुन ने राज्य, गुरु, पुत्र, मित्र, सुहृत्, सगे-सवधी और हित चाहनेवालो के वारे में 'मै उनका और यह मेरे' इस प्रकार का ममता का सवंध जोड लिया। 'मै और मेरा' यह है तो कल्पना ही, लेकिन कल्पना होते हुए भी आदमी को शोक-मोह के सागर मे डुवा देती है। ससार की यह मूल कल्पना है। इसी मूल कल्पना पर सारा ससार खडा है और अनादि काल से चला आ रहा है। इसी कल्पना के कारण अर्जुन कह रहा है कि ये पूजनीय भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य और ये सव सगे-सवधी, सव मेरे है, मैं उन्हीका हूँ। भले ही इनका पक्ष सत्-पक्ष न हो, लेकिन ये मेरे होने और मै उनका होने से, इनके साथ कैसे लडूँ, यानी किस तरह इनके अन्याय का प्रतीकार करूँ? ममत्व के कारण इन सवके साथ उसका वडा स्नेह था। अव वह टूटने का मौका आया। यहाँ वह हार गया। क्षणभर मे अपना स्वधर्म, स्वकर्तव्य सव छोड सन्यास-धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया। सन्यासी वनने के लिए जो वैराग्य चाहिए, वह तो उसमे था नही, लेकिन स्वधर्म, स्वकर्तव्य उसे छोडना था, इसलिए वैराग्य न होते हुए भी सन्यास की भाषा वोलने लगा।"

शकराचार्य आगे कहते है "यह केवल अर्जुन की ही स्थिति हुई, ऐसी वात नही। इस प्रकार सव प्राणिमात्र शोक-मोह से घिरे होने के कारण अपना स्वधर्म छोडकर निषिद्ध का आचरण करने लगते है। लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते

है कि वे किसी भी हालत मे अपना स्वधर्म या स्वकर्तव्य नही छोडते। स्वधर्म मे रत रहते हुए भी उनकी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ फलासक्ति और अहकार से युक्त देखने मे आती है। उन्हे रिश्तेदारो का मोह रहता है, ऐसी वात नही। मगर अपनी देह-इन्द्रियाँ और मन-वुद्धि के वारे मे ममता रहती है। यानी 'मे' की अज्ञान-रूपी भ्रान्ति से निकले नही होते। उन्हे अपने स्वरूप यानी आत्मा की, परमात्मा की पहचान नही रहती।"

इसलिए शकराचार्य आगे कहते है "इस तरह पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म की वृद्धि होती रहती है। उसमे से कोई वचा नजर नही आता। इस वृद्धि के कारण इप्ट-अनिप्ट जन्म मिलता है। उससे सुख-दु:ख का नित्य अनुभव करानेवाला ससार अखड चलता रहता है, वह निवृत्त नही होता। भगवान् को यह चिता है कि अर्जुन की तरह ससार के इन शोक-मोह-दु:खरूप वधनो मे फँसे लोग कैसे मुक्त हो ? इन वन्धनो मे फँसने का कारण तो एक ही हे, अपने स्वरूप का यानी पर-मात्मा के स्वरूप का अज्ञान। स्वरूप का अज्ञान होने के कारण 'देह, मन, वुद्धि, इन्द्रियादि मेरा स्वरूप है' ऐसा हरएक को लगता रहता है। इस अज्ञान से छूटने का एक ही उपाय है और वह है, परमात्मस्वरूप की पहचान। इसके लिए भक्ति, वैराग्य, नित्यानित्य-विवेक, सत्त्वगुण का उत्कर्प आदि की साधना करनी पडती है।"

श्री शकराचार्य कहते है "परमात्म-ज्ञान के सिवा और किसी भी उपाय से इस शोक-मोहरूप अज्ञान से छूटना असभव है। अत पर-मात्म-ज्ञान का उपदेश करने की इच्छा रखनेवाले भगवान् वासुदेव ने दूसरे अध्याय के ११वे श्लोक से अर्जुन को सिर्फ निमित्त वनाकर सव लोगो पर अनुग्रह करने के लिए परमात्म-ज्ञान का उपदेश देना प्रारम्भ किया।"

शकराचार्य ने ११वें श्लोक पर प्रस्तावना लिखते हुए कहा है "अर्जुन शोक-सागर मे डूव गया था और इसीसे वह कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने मे असमर्थ हो गया। भगवान् ने देखा कि आत्मज्ञान या परमात्मज्ञान को छोड़कर अन्य किसी उपाय मे अर्जुन का शोक-मोह दूर नहीं हो सकता, इसलिए अर्जुन को आत्मज्ञान के लिए प्रवृत्त करते हुए भगवान् की उपदेश-धारा गीता के ११वे श्लोक से शुरू हुई।"

: ११ :

श्रीभगवान् उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिता:॥

त्वं=तुमने, **अशोच्यान्**=शोक न करने योग्य आत्मा के वारे मे, **अन्वशोच:**=शोक किया, **च**=और, **प्रज्ञावादान्**=ज्ञानियो की तरह, **भाषसे**=मुझे सुना रहे हो, **पंडिता:**=लेकिन आत्मज्ञानी पुरुप, **गतासून्**=जिनके प्राण चले गये हो, **च**=और, **अगतासून्**=जिनके प्राण न गये हो (उनके वारे मे), **न अनुशोचन्ति**=शोक नही करते।

इस श्लोक मे चार वाते वतलायी गयी है

(१) **अशोच्यान्**—भीप्म, द्रोण के वारे मे अर्जुन ने शोक किया। इसी अध्याय के चौथे और पाँचवे श्लोक मे वह कह रहा है कि 'भीप्म-द्रोण जैसे पूजनीय गुरुओ के सामने मैं किस तरह युद्ध करूँ ? इससे तो भिक्षा माँगकर जीना अच्छा!' भगवान् उसे समझा रहे हे कि भीप्म-द्रोण शोक करने योग्य नही है, क्योकि वे आत्मस्वरूप ही है। आत्मस्वरूप यानी चैतन्यस्वरूप। भीप्म-द्रोण जड वस्तु नही। सजीव और निर्जीव देह मे यही फर्क है। सजीव देह मे देह और चैतन्य ये दो वस्तुएँ रहती है, जव कि मृत देह मे मात्र देह ही होती है। उसमे चैतन्य नही रहता। मृत देह मे चैतन्य गुप्त हो जाता है, सजीव देह मे वह प्रकट रहता है। सजीव देह मे स्थित चैतन्य जीवात्मा

को ही हम कोई नाम देते है । भीष्म, द्रोण आदि नाम निर्जीव देह को नही, उसमे प्रकट चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही दिये है । इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि भीष्म-द्रोण नष्ट होनेवाली वस्तु नही। जो नष्ट नही होती, उसके लिए कोई शोक नही करता । दूसरी दृष्टि से भीष्म-द्रोण वडे सदाचारी थे । सदाचारी होने से मर जाने के वाद भी उन्हे गति अच्छी ही मिलेगी, अच्छा जन्म मिलेगा । इसलिए भी भीष्म-द्रोण के लिए शोक नही करना चाहिए । दोनो दृष्टियो से भीष्म-द्रोण **अशोच्य** यानी शोक न करने योग्य है ।

(२) **प्रज्ञावादान्**—भगवान् अर्जुन को उलाहना दे रहे है कि एक ओर शोक न करने योग्य वस्तु के लिए तू शोक कर रहा है और दूसरी ओर ज्ञानी पुरुषो की तरह ज्ञान की वाते सुना रहा है। यानी एक ओर तुम अपनी मूढता प्रकट कर रहे हो और दूसरी ओर ज्ञानी जैसी वाते भी कर रहे हो। अर्थात् मूर्खता और ज्ञान ये दो परस्पर विरुद्ध चीजे अपने मे वता रहे हो । इससे सिद्ध होता है कि तुम्हारी पागल जैसी हालत हो गयी है। आदमी जव ममत्व के कारण शोक-मोह मे डूव जाता है, तो उसकी अवस्था वेसुध जैसी हो जाती है । अर्जुन की ऐसी ही स्थिति हो गयी थी ।

(३) **पंडिताः**—आजकल 'पडित' शव्द का अर्थ 'शास्त्र को जाननेवाला' रूढ हो गया है। यानी आचरण-रहित केवल वौद्धिक शास्त्रज्ञानी विद्वान् को आजकल 'पडित' कहते है । लेकिन प्राचीन जमाने मे पडित का अर्थ 'आत्मज्ञानी' होता था । जिसने शास्त्र का ज्ञान आचरण मे उतारा, उसीको शास्त्री या पडित कहते थे । शकराचार्य ने लिखा है ' **आत्मविषया**—आत्मविषयक यानी आत्मनिष्ठ, **बुद्धि येषाम्**—बुद्धि जिनकी है, **ते हि**—वे ही, **पंडिताः**—पडित समझे जाते है । उपनिषद् मे आता है—**क्रियावानेष ब्रह्मविदो वरिष्ठः ।** ब्रह्मविदाम्=ब्रह्मवेत्ताओं मे, एष=यह, क्रियावान्=जो क्रियावान् है यानी जो पुरुष अपना ज्ञान क्रियाओं मे उतारता है, आचरण या अमल मे लाता है, वह वरिष्ठ यानी पुरुषश्रेष्ठ है। दूसरा वचन है **यः क्रियावान् स पंडितः** । य क्रियावान्—जो क्रियावान् है,यानी ज्ञान को आचरण मे उतारता है, स =वही पडित =पडित है ।

(४) **गतासून् अगतासून्**—आदमी की मृत्यु होने पर शोक होता है । मगर जीवित के लिए कोई शोक नही करता । फिर यह भगवान् ने क्या कहा कि ज्ञानी पुरुप जिंदा लोगो के लिए शोक नही करते ? इस शंका का समाधान यह है कि जो सदाचारी और पुण्यकर्म करनेवाले है, उनके वारे मे कोई शोक नही करता । लेकिन जो दुराचारी और पापी है, उनके वारे मे आदमी को शोक होता है । गाधीजी का सवसे वडा पुत्र व्यभिचारी और शरावी था । उसके वारे मे गाधीजी तटस्थ रहते थे । उनको दु ख नही होता था । किन्तु कस्तूरवा जव भी उसका स्मरण करती, उन्हे वहुत दु ख होता । इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि जो जिदा है यानी जिन्हे जन्म प्राप्त हुआ है, उनके वारे मे ज्ञानी पुरुप तटस्थ रहते है । क्योकि हर वस्तु का जन्म और मरण है। मतलव यह कि जन्म और मृत्यु इस सृष्टि का सहज और सतत चलनेवाला स्वरूप है । इसलिए जन्म-मृत्यु शोक की वात नही है ।

: १२ :

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपा. ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमत. परम् ॥

तु=लेकिन, अह=मैं, जातु=कभी भी, न आहं=नही था, इति न एव=ऐसा नही । त्वं जातु न आसी =तू कभी भी नही था, इति न एव=ऐसा भी नही, इमे जनाधिपा.=ये राजा, न आसन्=कभी नही थे, इति न एव=ऐसा भी नही, च=और, वयं सर्वे=हम सव, अत. पर=इसके आगे (शरीर छूट जाने पर), न भविष्याम.=नही रहेगे, इति न एव=ऐसा भी नही ।

मतलब यह कि मैं, तू और ये सब राजा-महाराजा भूतकाल मे थे, वर्तमान काल मे तो है ही और भविष्यकाल मे भी रहेगे। यानी तीनो कालो मे हमारा अस्तित्व नित्य रहनेवाला है। हम देहरूप से नित्य नही है। देह नष्ट ही होनेवाली है। लेकिन इस देहरूपी घर मे रहनेवाला मैं, तू और यह राजागण चैतन्यरूप होने से नित्य हैं। हम स्वय जब हमेशा रहते हैं, हमारा विनाश कभी होता ही नही, तब शोक के लिए कोई कारण नही रहता। हमारा यह जो नित्यत्व है, उसे हम पहचानते नही, इसीलिए दु ख मे डूब जाते है। इस श्लोक मे आत्मा की नित्यता बतायी गयी है।

: १३ :

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

यथा=जिस तरह, **अस्मिन् देहे**=इस देह मे, **कौमार**=कुमारावस्था, **यौवन**=युवावस्था, **जरा**=वृद्धावस्था, **देहिनः अस्ति**=देहधारी को, आत्मा को प्राप्त होती है, **तथा**=वैसे ही, **देहांतरप्राप्तिः**=एक शरीर छूटने पर दूसरे की प्राप्ति होती है, **तत्र**=इसलिए उसके बारे मे, **धीर**=धीर यानी ज्ञानी पुरुष, **न मुह्यति**=मोहित नही होते।

इस श्लोक मे देह की अनित्यता बताकर आत्मा की नित्यता सिद्ध की गयी है। भगवान् कहते है कि हम जीवित-दशा मे शरीर की तीन अवस्थाओ का अनुभव करते है। वैसे देह की चार अवस्थाएँ भी हो सकती है। लेकिन भगवान् ने तीन ही अवस्थाएँ मानी है और लोगो मे भी तीन ही अवस्थाएँ रूढ है। वे है बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था। युवावस्था के बाद प्रौढावस्था और मान ले तो चार अवस्थाएँ हो जाती है। इन तीन या चार अवस्थाओ के बारे मे सोचने पर मालूम होता है कि बाल्यावस्था का छोटा शरीर बडा होने पर बहुत फर्क हो जाता है, इतना कि उसे पहचान नही पाते।

भावार्थ यह कि एक अवस्था नष्ट होकर शरीर को दूसरी अवस्था प्राप्त हो जाती है तो उसमे देह की दृष्टि से बड़ा अतर होता है। एक के बाद दूसरी अवस्था प्राप्त होती जाती है और अत मे वृद्धावस्था भी नष्ट होकर दूसरी देह प्राप्त हो जाती है। यह चौथी अवस्था हुई। एक अवस्था के नष्ट होने पर दूसरी अवस्था प्राप्त होती है तो हमे शोक नही होता, वैसे ही वृद्धावस्था नष्ट होने पर जब दूसरी देह मिलती है, तब भी दु ख नही होना चाहिए। देह की दृष्टि से सोचते है तो सार यह निकला कि देह की अवस्था मे परिवर्तन हो जाता है, तो जैसे देह के बारे मे शोक करना गलत है, वैसे ही आत्मा की दृष्टि से स्पष्ट है कि देह की बाल्यावस्था नष्ट होने से हम नष्ट नही होते, और युवावस्था या वृद्धावस्था पैदा होने से हम पैदा नही होते। मतलब यह कि देह मे चाहे जितनी अवस्थाओ की बहुलता हो, हम कभी नही बदलते। शुरू से अत तक हम कायम रहते हैं। देह के स्वरूप मे परिवर्तन होते हुए भी हमारे स्वरूप मे बिलकुल फर्क नही होता। इसलिए देह अनित्य होने से जैसे शोक करना उचित नही, वैसे ही हम नित्य होने से शोक करने योग्य नही। दोनो दृष्टियो से शोक करना निरर्थक है, ऐसा सिद्ध होता है।

देह और आत्मा की दृष्टि से शोक नही करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ। मगर सृष्टि मे सिर्फ हमारी देह ही रहती है, सो बात नही। देह से अतिरिक्त त्रिगुणात्मक सृष्टि मे अनत पदार्थ देखने मे आते है। उनके साथ हमारा सबध भी आता है और उससे हमे सुख-दु ख का अनुभव होता है। उसे किस तरह टाला जाय, यह अगले श्लोक मे बताया है।

: १४ :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

कौन्तेय=हे अर्जुन, **तु**=लेकिन, **मात्रास्पर्शाः**=मात्रा यानी पच ज्ञानेन्द्रियाँ, और स्पर्श यानी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध ये पच विपयो का सम्बन्ध, **शीतोष्ण-सुखदुःखदा** =शीत, उष्ण ओर सुख-दु ख देनेवाला है, **आगमापायिन**=ये उत्पत्ति-विनाशशील यानी आने-जानेवाले है, **अनित्याः**=और अनित्य है, **अत.**=इसलिए, **तान्**=इन्द्रियो तथा उनके विषयो के सम्बन्ध को, **भारत**=हे भारत (अर्जुन), **तितिक्षस्व**=सहन करता जा ।

इस श्लोक मे पाँच बाते बतायी गयी है

(१) **मात्रास्पर्शाः**—पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ है . आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कान, । इन ज्ञानेन्द्रियो से हमे क्रमश रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द इन पॉच विपयो का ज्ञान होता रहता है ।

(२) **शीतोष्ण-सुख-दुःखदाः**—पॉच ज्ञानेन्द्रियो से उनके विषयो का ज्ञान होता है और फिर चित्त मे अनुकूल या प्रतिकूल वृत्तियाँ उठती है । अनुकूल वृत्तियो से सुख और प्रतिकूल वृत्तियो से दु ख का अनुभव होता है । शीत-उष्ण और सुख-दु ख दोनो के फर्क को ध्यान मे रखना चाहिए । शीतता और उष्णता दोनो सापेक्ष है । गरमी के दिनो मे शीतल जल अच्छा लगता है और ठडी मे गरम पानी । लेकिन सुख और दु ख मे ऐसा फर्क नही । सुख हमेशा सुख रहेगा और दु ख हमेशा दु ख ही ।

(३) **आगमापायिनः**—और ये शीत-उष्ण और सुख-दु ख कायम नही रहते । दोनो आते-जाते रहते है यानी शीत-उष्ण और सुख-दु ख उत्पत्ति ओर विनाश को लिये हुए है । जाडो मे शीत रहेगा, लेकिन जाडा खतम होते ही गरमी शुरू होगी । वैसे ही गरमी भी कायम नही रहती । सुख-दु ख की भी यही हालत है । हमे जो सुख आज प्राप्त हुआ वह कायम रहेगा, ऐसा नही । जब तक सेहत अच्छी रहती है तब तक हमे सुख का अनुभव आयेगा । लेकिन सेहत बिगडते ही वह सुख चला जाता है और दु ख शुरू हो जाता है । यह दु ख भी कायम नही रहता ।

(४) **अनित्याः**—इस तरह शीत-उष्ण ओर सुख-दु ख अनित्य है ।

(५) **तान् तितिक्षस्व**—नित्य न होने से इनको सहन करते जाना चाहिए । यानी इनके अधीन नही होना चाहिए । यही इनसे मुक्त होने का, इन पर विजय प्राप्त करने का, इनसे परे होने का उपाय है ।

: १५ :

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

पुरुषर्षभ=हे पुरुपो मे श्रेष्ठ अर्जुन, **हि**=लेकिन, **समदु.खसुख**=सुख-दु ख को एक-सा माननेवाले, **यं**=जिस, **धीर**=बुद्धिमान्, **पुरुष**=पुरुप को, **एते**=ये शीत-उष्ण, सुख-दु ख, **न**=नही, **व्यथयन्ति**=विचलित करते, **सः**=वह पुरुप, **अमृतत्वाय**=अमर (मुक्त) होने के लिए, **कल्पते**=समर्थ होता है ।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है

(१) सुख-दु ख यानी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर **न व्यथयन्ति** यानी उस परिस्थिति का चित्त पर परिणाम न होने देना ।

(२) **समदु.खसुखं**—सुख-दु ख मे चित्त की समता कायम रखना ।

(३) दो चीजे सध जायँ तो वह पुरुप **अमृतत्वाय**—मोक्ष के लिए, आत्मस्वरूप की पहचान के लिए समर्थ हो जाता है। आत्मस्वरूप की पहचान होने के बाद ही अखड शाति का अनुभव आता है। मोक्ष यानी अखड शाति, परम शाति प्राप्त होना ।

: १६ :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

असत.=जो वस्तु अस्तित्व मे नही है, वदलती रहती हे, भाव =उस वस्तु का अस्तित्व, **न**=नही, **विद्यते**=रहता है, **सत.**=और जो वस्तु अस्तित्व मे हे, वदलती नही है, **अभाव.**=उस वस्तु का अभाव कभी, **न**=नहीं, **विद्यते**=होता, वह वस्तु कभी नष्ट नही होती, **अनयो**:=इन, **उभयोः**=दो चीजो का यानी सत् और असत् वस्तु का, **अपि**=भी, **अन्तः**=निर्णय, **तत्त्वदर्शिभि.**=ज्ञानी पुरुषो ने, **दृष्ट**:=अनुभव किया हे ।

असतः भाव न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते—इस श्लोक मे भगवान् सारे जगत् की छानबीन कर रहे है । इतना वडा जगत् दिखाई देता है जिसकी रचना वहुत आश्चर्यकारक मालूम पडती है । यह किसने बनाया है, इसका कोई कर्ता हो सकता है या नही ? अपने आप तो वन नही सकता । जगत् की तरफ देखते है तो मालूम होता है कि यहाँ के सारे पदार्थ वदलते रहते हे । वदलनेवाली चीज किसी न वदलनेवाली वस्तु के सहारे ही रह सकती है । जैसे कुम्हार ने मिट्टी से हजार घडे वनाये । उनमे एक घडा दूसरे घडे से भिन्न है, मगर मिट्टी से कोई घडा भिन्न नही । मिट्टी कायम रहती है, घडे वदलते रहते हैं । जो चीज कभी वदलती नही, उसे 'सत्' कहते हैं और जो वदलती रहती है उसे 'असत्'। घडे 'असत्' है और मिट्टी 'सत्' है । दूसरी भाषा मे सत् को कारण कहते है, और असत् को कार्य । जिसमे से चीज वनती है, वनी हुई चीज जिसके सहारे रहती है, और अत मे जिसमे वह विलीन हो जाती है, उसे कारण कहते है । इसलिए मिट्टी कारण है और घडा कार्य ।

यही वात भगवान् कह रहे है कि असत् वस्तु देखने मे सत्य लग सकती है, फिर भी वदलती रहने से उसका अस्तित्व नही है । जो वात घडे पर लागू है, वही सारे जगत् पर लागू है । सारा जगत् भी एक कार्य है, वह वदलता रहता है । उसका कोई कारण होना चाहिए और वह न वदलनेवाला होना चाहिए । अर्थात् जो भी पदार्थ देखने मे आते है, वे सव कार्य और विनाशी है ।

दूसरी वात यह कि कार्य कारण से कभी अलग नही रह सकता । कार्य कारणरूप ही रहता है । जैसे, घडा मिट्टी ही है, घडे के अणु-अणु मे मिट्टी के सिवा दूसरी कोई चीज नही । इसी तरह जगत्रूपी जो कार्य है, वह अपने कारण से अलग नही रह सकता ।

अव जगत् का वह कारण क्या हो सकता है, यह देखना है । जगत् का कारण जो भी हो, वह यदि सगुण और इन्द्रियगम्य हो तो विनाशी होगा । जगत् की हर सगुण वस्तु विनाशी यानी परिवर्तनशील देखने मे आती है इसलिए जगत् का कारण निर्गुण होना चाहिए । आकारवान् वस्तु विनाशी होती है, इसलिए जगत् का कारण निराकार होना चाहिए । अवयववान् वस्तु विनाशी रहती है, इसलिए जगत् का कारण निरवयव होना चाहिए । विकारवान् वस्तु विनाशी रहती हैं, इसलिए जगत् का कारण निर्विकार होना चाहिए । अत यह सिद्ध है कि जगत् का मूल कारण निर्गुण, निराकार, निरवयव और निर्विकार होना चाहिए । जगत् के सव पदार्थ वदलनेवाले है, इसलिए जगत् को 'असत्' कहा है । जगत् का कारण कभी वदलनेवाला नहीं, इसलिए उसे सत् कहा है । इस तरह जगत् का मूल कारण सत्-स्वरूप, निर्गुण, निराकार, निरवयव, निर्विकार, निरजन है । उसीको 'ब्रह्म' या 'परमात्मा' नाम से पहचानते है ।

सत् का मूल अर्थ है होना । 'है-पन' वस्तु-वस्तु मे वदलता जाता है, मगर 'है-पन' मे फर्क नही आता । 'वायु है, अग्नि है, पानी है, आकाश है, पृथ्वी है, झाड है, घर है' ऐसा जव हम कहते है तव अग्नि से पानी भिन्न, पानी से आकाश भिन्न,

आकाश से पृथ्वी भिन्न, पृथ्वी से झाड भिन्न, झाड से घर भिन्न होते है । मगर 'है-पन' से कोई चीज भिन्न नही होती । 'है-पन' से सभी चीजे लगी रहती है । जिस तरह माला मे गुथी मणियाँ एक-दूसरे से अलग-अलग रहती है, मगर उसमे विद्यमान डोरे से वे (मणियाँ) अलग नही रहती, वे डोरे मे पिरोयी रहती है । **असत्** का कभी भाव यानी अस्तित्व नही होता यानी असत् है ऐसा नही होता और सत् **'नही है'** ऐसा भी कभी नही होता ।

इस तरह जगत्‌रूपी कार्य का सत्-स्वरूप परमात्मा कारण होने पर वह ज्ञानस्वरूप है, यह सहज ही सिद्ध होता है । क्योकि जगत् जड है, इसलिए उसका कारण जड नही हो सकता । जड जड को पैदा नही कर सकता । मिट्टी जड होने से वह घड़े को बना नही सकती । कुम्हाररूप चेतन का हाथ लगने पर ही वह बन पाता है । इसलिए सत्-स्वरूप परमात्मा चैतन्य है और वही जगत् का कारण है । **सत् चित्** यह परमात्मा का स्वरूप है । देहासक्ति के कारण हमे सुख कभी हो नही सकता । इसलिए परमात्मा का तीसरा स्वरूप **आनंद** मानना पडता है । **सत् चित् आनंद,** यह परमात्मा का पूर्ण स्वरूप सिद्ध हुआ ।

तत्त्वदर्शिभिः—तत्त्व यानी जगत् का मूल कारण जो सत्-स्वरूप परमात्मा है, उसका अनुभव जिन्होने लिया, उन्होने सत् और असत् दोनो के स्वरूप का निर्णय ले लिया । अनुभवी पुरुषो के वचन प्रमाण होते है । उन्हीके वचनो से शास्त्र बनते है । उन्हीके वचनो के अनुसार दलील यानी तर्क किया जाता है । इसलिए भगवान् ने ज्ञानी पुरुषो का इस श्लोक मे हवाला दिया है ।

: १७ :

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

तु=लेकिन, **येन**=जिस तत्त्व से, **इद**=यह, **सर्वं**=सारा जगत्, **तत**=व्याप्त है, **तत्**=उसको यानी सत् को, **अविनाशि**=अविनाशी, **विद्धि**=समझो, **अस्य**=इस, **अव्ययस्य**=अव्यय का यानी परमात्मा का, **विनाश**=विनाश, **कर्तुम्**=करने मे, **कश्चित्**=कोई, **न**=नही, **अर्हति**=समर्थ होता ।

यहाँ भगवान् ने चार बाते बतायी है

(१) पिछले श्लोक मे जिस परमात्मा को सत् बताया उसको यहाँ 'तत्' कहा है । सत्रहवे अध्याय के आखिर मे 'ॐ तत् सत्' का वर्णन है । वहाँ 'तत्' का अर्थ अलिप्तता बताया है । यहाँ भी वही अर्थ लेना है । सत् परमात्मा 'तत्' है यानी अलिप्त है, यह पहली बात है ।

(२) अलिप्त होने से ही वह सर्वत्र व्याप्त है, यह दूसरी बात है ।

(३) यह सत् और तत्-स्वरूप परमात्मा अविनाशी है । परमात्मा सत् यानी सतत विद्यमान होने से और तत् यानी अलिप्त होने से और सब जगह व्याप्त होने से, वह नष्ट होने जैसी वस्तु नही है, यह तीसरी बात है ।

(४) इस तरह परमात्मा अविनाशी है । उसका कोई भी नाश कर नही सकता, यह चौथी बात बतायी । जो चीज क्षीण होती है उसका नाश किया जा सकता है, मगर परमात्मा कभी क्षीण न होने से उसका नाश करने मे कोई समर्थ नही होता, यह भगवान् का कहना यथार्थ है । निष्कर्ष यह है कि १ परमात्मा सबका कारण है, २ परमात्मा का कोई कारण नही, ३ दुनिया के सब पदार्थ परमात्मा के कार्य है और ४ परमात्मा किसीका कार्य नही यानी परमात्मा को किसीने नही बनाया ।

: १८ :

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युद्ध्यस्व भारत ॥

नित्यस्य=नित्य, **अनाशिन** =अविनाशी, **अप्रमेयस्य**= प्रमाणो का विषय कभी बन नही सकता, ऐसे निसीम, **शरीरिण**.=देह मे रहनेवाले आत्मा के, **इमे**=ये, **देहा** =सब देह यानी बाह्य पदार्थ, **अन्तवन्त** **उक्ताः**=नष्ट होनेवाले है, ऐसा ज्ञानियो ने कहा है, **तस्मात्**=इसलिए, **भारत**=हे अर्जुन, **युध्यस्व**=तुम युद्ध करो, तुमने अपना जो कर्तव्य निश्चित किया है, उसे करते रहो।

इस जगत् के पिड और ब्रह्माड ये दो विभाग है। पिड यानी हमारा शरीर और ब्रह्माड यानी शरीर को छोड जगत् मे स्थित अन्य सारे पदार्थ। पिड मे स्थित परमात्मा को **आत्मा** कहते है तो ब्रह्माड मे स्थित परमात्मा को **परमात्मा या ईश्वर**। जैसे एक पिंड नाशवान् है, वैसे ही ब्रह्माड मे स्थित सारे बाह्य पदार्थ भी नष्ट होनेवाले है, यह बात इस श्लोक मे कही गयी है।

अप्रमेयस्य––पिछले श्लोको मे परमात्मा को नित्य तथा अविनाशी कहा गया है। इस श्लोक मे एक और विशेषण दिया है 'अप्रमेय'। अप्रमेय यानी हमारे पास ज्ञान के जितने प्रमाण या साधन है, उनसे जो जाना नही जाता। पच ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की बाह्य साधन है तो मन-बुद्धि है ज्ञान के आतरिक साधन। परमात्मा निर्गुण, निराकार, निरवयव, निरजन, अव्यक्त, निर्विकार होने से मन, बुद्धि और पच ज्ञानेन्द्रियो से परे है। ज्ञानेन्द्रियो को स्थूल वस्तुओ का ज्ञान होता है और मन-बुद्धि को सूक्ष्म वस्तुओ का। परमात्मा अतिसूक्ष्म होने से मन और बुद्धि भी वहाँ पहुँच नही पाती। इसलिए उपनिषद् मे कहा है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**––मन के साथ परमात्मा तक न पहुँच सकने के कारण वाणी परमात्मा से निवृत्त हो जाती है, यानी वापस आ जाती है।

मन और बुद्धि परमात्मा का चितन करने लगती है तो केवल चितन से वह परमात्मा तक पहुँच नही पाती। अर्थात् परमात्मा का ज्ञान हमे नही होता, यह बात सही है। लेकिन मन और बुद्धि के काम-क्रोधादि विकारो को क्षीण कर मन को अतिशुद्ध बनाया जाय तो परमात्मा का ज्ञान यानी अनुभव हो सकता है। शकराचार्य कहते है **शास्त्राचार्योपदेश-शमदमादिसुसस्कृतं मन आत्मदर्शने कारणम्**। अर्थात् शास्त्र और अनुभवी आचार्य के उपदेशो से मन को शात और बाह्य इन्द्रियो को काबू मे रखने आदि उपायो से निर्मल-शुद्ध चित्त आत्मदर्शन का साधन बन सकता है।

आचार्य ने यहाँ शम, दम ये दो उपाय नाम लेकर बताये है और आदि शब्द से **उपरति** यानी वैराग्य, **तितिक्षा** यानी सहिष्णुता, **समाधान** (जो भी परिस्थिति हो उसमे समाधान), **श्रद्धा** (ईश्वर है ऐसा विश्वास, आस्तिक्य-बुद्धि) सूचित किये है। इस तरह शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा ये छह उपाय साधनषट्क कहे गये है।

उक्ताः––यहाँ भगवान् ने विवेकी पुरुषो का, ज्ञानियो का यानी शास्त्र का हवाला दिया है। ज्ञानी पुरुषो के वचनो का ही शास्त्र बनता है और वही हमारे लिए प्रमाण है।

युद्ध्यस्व––यहाँ युद्ध करो, ऐसा कहा गया है। उसका क्या अर्थ है, यह बुनियादी सवाल है। क्या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी पुरुष युद्ध कर सकता है? इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद भी है। लेकिन इस सबध मे शकराचार्य ने जो अर्थ बताया है, वही उपयुक्त है **नहि अत्र युद्धकर्तव्यता विधीयते। युद्धे प्रवृत्त एव हि असौ शोकमोहप्रतिबद्धः तूष्णीम् आस्ते तस्य कर्तव्यप्रतिबंधापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्मात् 'युद्ध्यस्व' इति अनुवादमात्रं न विधिः**। अर्थात् यहाँ युद्ध करो, ऐसा विधान नही किया है। क्योकि अर्जुन, युद्ध मे तो पहले से ही प्रवृत्त है। लेकिन शोक-मोह से घिरा हुआ चुपचाप बैठा हुआ है। अत अर्जुन के कर्तव्य-प्रतिबध को यानी कर्तव्य करने मे शोक-मोह की जो रुकावट आ गयी है, उसे भगवान् सिर्फ दूर कर रहे है। इसलिए युद्ध करो, ऐसा जो कहा है, वह भगवान् ने सिर्फ दुहराया है।

प्राचीन काल मे युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म माना गया था। उस समय शस्त्र से युद्ध होते थे। युद्ध का सही अर्थ क्या है, इसकी छानबीन करने पर हमे मालूम होगा कि युद्ध का मतलब है अन्याय, अधर्म और अनीति का प्रतीकार करना। प्राचीन काल मे अन्याय का प्रतीकार अतिम उपाय के तौर पर शस्त्र से युद्ध करके ही किया जाता था। इसलिए युद्ध यानी 'अन्याय का प्रतीकार' करना यह मूल अर्थ ध्यान मे रखना ठीक होगा। अन्याय का प्रतीकार शस्त्र से किया जाय या बिना शस्त्र के, यह गीता का विषय नही। गीता युद्ध-विषयक शास्त्र नही। फिर युद्ध करने का निश्चय अर्जुन ने पहले से कर रखा था। सब लोग युद्ध की तैयारी से समर-भूमि मे इकट्ठे हो चुके थे। इसलिए यहाँ युद्ध का अर्थ 'स्वकर्तव्य' लेना उपयुक्त है। अर्जुन ने जो स्वधर्म यानी कर्तव्य निश्चित किया था, उसे वह रिश्तेदारो के मोह के कारण छोडने को तैयार हो गया था। शकराचार्य कहते हैं **शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थ गीताशास्त्रम्, न प्रवर्तकम्**। अर्थात् गीताशास्त्र शोक, मोह आदि जो ससार के मूल कारण यानी निमित्त है, उन्हे दूर करने के लिए है, किसीमे यानी युद्ध मे प्रवृत्त करने के लिए नही।

: १९ :

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते॥

य =जो भी, **एन**=इस परमात्मा को, **हतार**=हनन करनेवाला, **वेत्ति**=मानता है, **च**=और **य** =जो पुरुष, **एन**=इस आत्मा को, **हत**=मरा हुआ, **मन्यते**=मानता है, **तौ**=वे, **उभौ**=दोनो पुरुष, **न**=कुछ नही, **विजानीत** = जानते है, **अय**=यह आत्मा, **न हति**=नही मारता है यानी वह किसी भी क्रिया का कर्ता नही हे, **न हन्यते**= और न मरता हे यानी किसी क्रिया के वश नही होता।

इस श्लोक मे पहले आत्मा का, परमात्मा का अकर्तापन बताया है। अर्जुन युद्ध कर रहा था, इसलिए मारना या मरना यह शब्द भगवान् ने यहाँ प्रयुक्त किया है। लेकिन वास्तव मे उसका अर्थ है, सारी क्रियाएँ। हम जो भी कर्म करते हैं, उनका अपने को कर्ता मानते है। किन्तु वास्तव मे आत्मा या परमात्मा कर्ता नही, क्योकि हमारा यथार्थ स्वरूप परमात्मा है। अज्ञान के कारण देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियो को हम अपना स्वरूप मानते है। प्रकाश ओर उष्णता यह जैसे अग्नि का स्वरूप है, वैसे ही हमारा भी कोई स्वरूप तो है ही। कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप के बिना रह नही सकता। अज्ञान से हम अपना स्वरूप देह आदि को मान ले, तो भी हमारा जो सही स्वरूप है वह नष्ट नही होता। वह हमारा स्वरूप देह आदि से भिन्न है। अत सहज ही आत्मा या परमात्मा देह आदि की किसी क्रिया का कर्ता नही। हम पूर्णरूपेण अकर्ता है, यह एक बात हुई।

दूसरी बात भगवान् ने यह भी बतायी है कि चूँकि हम किसी भी क्रिया के कर्ता नही, इसलिए किसी कर्म के अधीन हो, ऐसा भी नही। क्रिया का कर्ता न होना और क्रिया के अधीन न होना, दो बाते इस श्लोक मे बतायी हैं। इस सम्बन्ध मे तीसरी बात भगवान् २१वे श्लोक मे बतायेगे। आत्मा यानी हम जैसे किसी भी क्रिया के कर्ता नही, वैसे ही किसीसे हम कुछ कर्म करवानेवाले है, ऐसा भी नही। खुद करना और किसीसे करवाना दो भिन्न बाते है। हम किसीसे कुछ भी करवाते है और वह ऐसा समझता है कि हम क्रिया के कर्ता है और हम कर्म के अधीन हो जानेवाले है, तो ऐसे पुरुष अज्ञानी है। हमारा स्वरूप सिर्फ ज्ञातृत्व है। हम सब क्रिया के ज्ञाता हैं, कर्ता नही। यदि कर्ता बनते है तो हमे सुख-दुख का भोक्ता भी बनना पडेगा। लेकिन हम कर्ता या भोक्ता नही है, ऐसा हमारे ध्यान मे आ जाय तो सिर्फ ज्ञाता ही रहेगे। 'हम अकर्ता है' ऐसा लगने लगे

तो भी वह अकर्तापन का 'भान' समझा जायगा। 'हम ज्ञाता है' यह 'भान' रहे तो भी अतिम भूमिका मे वह भी नही चलेगा। अतिम भूमिका मे ज्ञाता-पन के भान के वगैर वह सिर्फ ज्ञाता ही वनकर रहेगा।

. २० :

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नाय भूत्वा भविता वा न भूय'।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अय=यह आत्मा, कदाचित्=कभी भी, न जायते=पैदा नही होता, वा=अथवा, कदाचित्=कभी भी, न म्रियते=मरता नही है, अय=यह आत्मा, भूत्वा=भूत-काल मे पैदा होकर, भूय'=फिर से, भविता=भविष्यकाल मे पैदा होनेवाला, न=नही है, अय=यह आत्मा, अजः=कभी न जन्मनेवाली, नित्य=इसीलिए कायम रहनेवाली, शाश्वत.=अक्षय हे, पुराण.=अनादि काल मे चलती आयी, शरीरे=देह मे, हन्यमाने=परिवर्तन होने पर, अपि=भी, न हन्यते=आत्मा मे, कभी परिवर्तन नही होता।

परमात्मा निर्गुण, निराकार, निरवयव, निर्विकार है। उसका शब्दो मे वर्णन करना वहुत कठिन है। फिर भी अलग-अलग शब्दो मे वर्णन करने की कोशिश भगवान् कर रहे है, ताकि उसकी कुछ कल्पना आ सके।

सृष्टि के समस्त पदार्थो मे छह विकार रहते है। पदार्थ पैदा होता है, यह हुआ पहला विकार। इसे 'जायते' कहते हे। पदार्थ नष्ट होने तक अस्तित्व मे रहता है, उसे 'अस्ति' कहते है। यह दूसरा विकार है। पदार्थ मे वृद्धि होती है, उसे 'वर्धते' कहते है। यह तीसरा 'विकार है। फिर 'विपरिणमते' वस्तु मे परिवर्तन होता है। आदमी के शरीर का वाल्या-वस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था, इस तरह परिवर्तन होता है। यह चौथा विकार हे। पॉचवॉ विकार हे 'अपक्षीयते' क्षीण होना। पेड पहले वढता है, फिर क्षीण होने लगता है। शरीर की भी यही वात है। कोई भी पदार्थ अत मे जीर्ण होने लगता है। अतिम छठा विकार है 'नश्यति'। पदार्थ नष्ट होता है। ये छह विकार परमातमा मे नही होते।

. २१ :

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥

पार्थ=हे अर्जुन, य.=जो, पुरुष, एनं=परमात्मा को, अविनाशिनं=अविनाशी, नित्य=नित्य, अजं=अजन्मा, अव्यय=अक्षीण, वेद=अनुभव करता है, स.=वह, पुरुषः=पुरुष, कं=किसको, कथं=कैसे, हंति=मारेगा यानी क्रिया का कर्ता कैसे वनेगा? कं=किसको, कथ=किस तरह, घातयति=मरवायेगा, यानी किसीसे क्रिया कैसे करवायेगा?

१९वे श्लोक मे कहा है कि आत्मा, परमात्मा किसी भी क्रिया का कर्ता नही, अत. वह किसी भी कर्म के अधीन नही होता। आत्मा मे जैसे अकर्तापन है, वैसे अकर्मपन भी है। इस श्लोक मे तीसरी विशेषता वतलायी है कि आत्मा अकर्ता होने से वह किसीसे कुछ करवाता भी नही।

घडे मे जो आकाश है, वह घडे की उपाधि के कारण छोटा मालूम होता है और घडे के वाहर का आकाश उपाधि-रहित होने के कारण व्यापक दिखाई देता है। लेकिन दोनो आकाशो मे कोई अतर नही होता। वैसे ही शरीर मे जो चैतन्य-स्वरूप परमात्मा है, उसे 'आत्मा' कहते है और शरीर के वाहरवाले परमात्मा को 'परमात्मा,' 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' कहते है।

परमात्मा मे दो शक्तियॉ हे—एक चैतन्य-शक्ति यानी ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति। चैतन्य-शक्ति को 'परमात्मा' कहते है और क्रिया-शक्ति को 'प्रकृति' या 'माया'। चैतन्य-शक्ति चुवक के समान है। क्रिया-शक्ति यानी 'जगत् पैदा करने की शक्ति', जो लोहे के समान है। चुवक

को कुछ करना नही पडता। उसके अस्तित्व मात्र से लोहे मे क्रिया-शक्ति, हलन-चलन की शक्ति आ जाती है। ज्ञान-शक्ति के अस्तित्व मात्र से परमात्मा की माया-शक्ति मे क्रिया-शक्ति यानी जगत् का भास कराने की शक्ति अपने-आप आ जाती है और वह जगत् का भास कराने का अपना कार्य, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति—चैतन्य-शक्ति-के नियन्त्रण मे, बराबर करती रहती है। इस तरह जगत् की सारी क्रियाओ का कर्तापन माया मे आ जाता है। परमात्मा की चैतन्य-शक्ति को कुछ भी करना नही पड़ता। इसलिए परमात्मा को 'अकर्ता' कहा जाता है। शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहकार इन सबका भास माया ही कराती है। इसलिए शरीर, मन, इद्रियाँ, बुद्धि—इन सबकी क्रियाओ का कर्ता शरीरस्थित आत्मा को नही माना जाता। इसीसे उसे 'अकर्ता' कहना पडता है। इन सबकी क्रियाओ की कर्त्री माया या प्रकृति है। अतएव आत्मा अकर्ता है, वह किसी कर्म के वश नही होता और न किसीसे कुछ करवाता ही है। करना-करवाना, कर्म के अधीन होना, यह सब प्रकृति या माया से बने शरीर, इन्द्रिय तथा मन का कार्य है।

२२ :

वासासि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥

यथा=जिम प्रकार, **नर**=पुरुष, **जीर्णानि**=जीर्ण, **वासासि**=वस्त्रो को, **विहाय**=छोडकर, **अपराणि**=दूसरे, **नवानि**=नये वस्त्रो को, **गृह्णाति**=धारण करता है, **तथा**=उसी प्रकार, **देही**=आत्मा, **जीर्णानि**=जीर्ण, **शरीराणि**=शरीरो को, **विहाय**=छोडकर, **अन्यानि**=दूसरे, **नवानि**=नये शरीरो को, **सयाति**=धारण करता है।

वस्त्र का उदाहरण देकर बताया है कि जीर्ण वस्त्रो को हम हमेशा फेक देते है, फिर भी हम कायम ही रहते है। इसी तरह हम नही बदलते, किन्तु शरीर बदलता रहता है। इस श्लोक मे भगवान् ने देह के लिए बहुवचनान्त प्रयोग किया है। 'अनेक देहो मे रहनेवाला देहधारी आत्मा' ऐसी शब्द-योजना है। सृष्टि मे जितने भी पदार्थ है, उन सबको परमात्मा की देह ही समझनी चाहिए। उन देहो मे फर्क होता रहता है। वे नष्ट भी होती रहती है, मगर भीतरस्थित परमात्मा ज्यो-का-त्यो रहता है। नाटक मे पार्ट लेनेवाला कभी बदलता नही, उसके पार्ट बदलते रहते है। न बदलनेवाली वस्तु के सहारे ही बदलनेवाली वस्तु रह सकती है। बदलनेवाली चीज हमेशा बदलती ही रहेगी, क्योकि बदलना उसका स्वभाव ही है। इसी तरह परमात्मा कभी बदलता नही और उसके नाना प्रकार के देहरूपी पार्ट बदलते और नष्ट भी होते रहते है।

: २३ :

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावक· ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

एन=इस आत्मा को, परमात्मा को, **शस्त्राणि**=शस्त्र **न**=नही, **छिन्दन्ति**=तोड पाते, **एनं**=इस आत्मा को, परमात्मा को, **पावक**=अग्नि, **न**=नही, **दहति**=जला सकती, **एन**=इसको, **आपः**=पानी, **न**=नही, **क्लेदयन्ति**=भिगो सकता, **च**=और, **मारुत**=वायु, **न**=नही, **शोषयति**= सुखा सकती।

ये चार महाभूत स्वतत्र रूप से एक-दूसरे के शत्रु है, मित्र नही। पानी को हवा सुखायेगी, अग्नि नष्ट कर देगी। अग्नि को पानी बुझा देगा। बन्द कोठरी मे हवा का जोर कुछ नही चलता, वह बन्द-सी हो जाती है। हम 'एयर टाइट' डिब्बे तैयार करते है। यानी पृथ्वी हवा को हरा देती है

और हवा वृक्षो को उखाड देती है। स्वतत्र रूप से ये चारो भूत एक दूसरो को सहायता नही देते। मगर अपने शरीर मे जहाँ भगवान् प्रकट हुए है, ये पच महाभूत एक-दूसरे को पूरी सहायता देकर अपनी-अपनी मर्यादा मे रहते है। शरीर मे इन महाभूतो का परस्पर सहकार रहता है, तभी तो शरीर स्वस्थ और नीरोग रह सकता है। निर्विकार होने से परमात्मा पर इन चार भूतो का कोई असर नही होता।

: २४ :

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अय=यह परमात्मा, **अच्छेद्य**=शस्त्रो से न टूटने योग्य है, **अय**=यह, **अदाह्यः**=अग्नि से न जलने योग्य है, **च**=और यह, **अक्लेद्यः**=पानी से न गीला होने योग्य है, **अशोष्य एव**=हवा मे सूखने योग्य नही है, **अय**=यह, **नित्य**=नित्य है, **सर्वगत**=सर्वव्यापक, **स्थाणु**=पूरा स्थिर, **अचल**=अचल, **सनातन**=अखड कायम रहनेवाला है।

पिछले श्लोक मे जो बात कही है, वही इस श्लोक के पहले चरण मे दुहरायी गयी है। गीता मे एक ही बात अनेक तरह से कहने की पद्धति दिखाई देती है। इसका स्पष्टीकरण शकराचार्य ने अपने गीताभाष्य मे मार्मिक ढँग से किया है। वे लिखते है **दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुन. प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः। कथं नु नाम ससारिणामव्यक्तं तत्त्वं बुद्धिगोचरतामापन्नं सत्ससारनिवृत्तये स्यादिति।** अर्थात् आत्मवस्तु का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन होने से भगवान् श्रीकृष्ण ससारी लोगो को, ससार मे फँसे जीवो को, परमात्मतत्त्व बुद्धिगोचर होकर (बुद्धि को परमात्म-स्वरूप की पहचान होकर) किस प्रकार समस्त जीवो की ससार-निवृत्ति हो—इस विचार से बार-बार प्रसग उपस्थित कर वही वस्तु भिन्न-भिन्न शब्दो मे समझा रहे है।

पिछले श्लोको मे परमात्मा को 'नित्य' विशेषण लगाया गया है। यहाँ बतला रहे है कि परमात्मा नित्य होने से 'सर्वगत' है यानी अणु-अणु मे व्याप्त है। जो वस्तु नित्य है, वह व्यापक होनी ही चाहिए। अनित्य वस्तु व्यापक नही हो सकती। सर्व-व्यापक होने से 'स्थाणु' यानी बिलकुल स्थिर है। उसके हिलने-डुलने की गुजाइश ही नही। इसी कारण वह 'अचल' है और अचल होने से 'सनातन' है यानी किसीसे वह पैदा नही हुई है। परमात्म-वस्तु अनादि-काल से अखड चली आ रही है।

: २५ :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

अय=यह परमात्मा, **अव्यक्त.**=अव्यक्त, प्रत्यक्ष दिखाई न देनेवाला, **अय**=यह परमात्मा, **अचिन्त्य**=मन का अविषय, **अयं**=यह परमात्मा, **अविकार्यः**=निर्विकार, **उच्यते**=कहा गया है, **तस्मात्**=इसीलिए, **एन**=इस परमात्मा को, **एव**=अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार, **विदित्वा**=जानकर, **अनुशोचितु**=शोक करना, **न अर्हसि**=तुम्हारे लिए योग्य नही है।

इस श्लोक मे परमात्मा को तीन नये विशेषण लगाये है परमात्मा 'अव्यक्त', 'अचित्य' और 'अविकार्य' है।

अव्यक्त.—वह दिखाई नही देता। आँख जीभ, नाक, त्वचा, कान और इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो से रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द और इन पच विषयो का ज्ञान होता है। किन्तु जो सब इन्द्रियो का साक्षी है, सब इन्द्रियो को जाननेवाला है, उसे इन्द्रियाँ कैसे जान सकेगी ? हम चैतन्यस्वरूप है। सृष्टि के सब पदार्थो को जानते है। सूर्य इतना बडा होते हुए भी उसका ज्ञान मुझे होता है, लेकिन वह मुझे

नही जानता। मै देह को जानता हूँ, पर देह मुझे नही जानती। मे इन्द्रियो को जानता हूँ, पर इद्रियाँ मुझे नही जानती, क्योकि मेरा स्वरूप—परमात्म-स्वरूप अव्यक्त हे।

अचिन्त्य—इन्द्रियो से विपयो का ज्ञान होता हे, लेकिन वह ज्ञान मन की सहायता से होता है। तव उसके सम्वन्ध मे मन मे चिन्तन चलता है। विषयो के ज्ञान के विना चिन्तन नही हो सकता। मतलव यह कि हमे इन्द्रियो के सहारे स्थूल वस्तुओ का ज्ञान होता है और मन इन स्थूल चीजो का ही चिन्तन कर पाता है। इन्द्रियो से परे का चिन्तन मन नही कर सकता। परमात्मा इन्द्रियातीत है। इसलिए उसका चिन्तन नही हो सकेगा। लेकिन मन शुद्ध हो जाय तो परमात्मा का अनुभव हो सकता है। इसलिए परमात्मा अनुभवगम्य ही है। वह निर्गुण परमात्मा चिन्तन से परे है। निर्गुण परमात्मा के विपय मे जव हम सगुण की कल्पना करते है, तव वह उपासना के लिए, भक्ति के लिए चिन्तन का विषय वन सकता है। इस तरह निर्गुण परमात्मा अचिन्त्य है।

अविकार्य—परमात्मा किसीका विकार नही है, क्योकि वह निरवयव है। सावयव वस्तु विकारी वनती है। सूत सावयव है, इसलिए उसका कपडा वनता है। कपास सावयव है, इसलिए उससे सूत वनता है। पर परमात्मा निरवयव होने से निर्विकार है।

: २६ :

अथ चैनं नित्यजात नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्व महाबाहो नैव शोचितुमर्हसि॥

अथ च=अव यदि, **त्व**=तू, **एन**=परमात्मा को, **नित्य-जात**=हमेशा उत्पन्न होनेवाला, **वा**=अथवा, **नित्य मृत**=हमेशा नप्ट होनेवाला, **मन्यसे**=माने, **तथापि**=तो भी, **महाबाहो**=हे अर्जुन, **एव**=इस प्रकार, **शोचितु**=शोक करना, **न अर्हसि**=तेरे लिए उचित नही।

वौद्ध-दर्शन मे आत्मा को वदलनेवाला माना गया है। नदी के प्रवाह मे निरतर नया पानी आता रहता है, किन्तु प्रवाहरूप से पानी नित्य रहता है। पानी के वदलने पर भी प्रवाह नही वदलता, वह कायम ही रहता है। इसी तरह आत्मा या परमात्मा हर क्षण जन्मता और मरता है, ऐसा माने तो भी नित्य जन्म लेना और मरना यह आत्मा का स्वभाव हो जाने से शोक करना मूर्खता है, यह सिद्ध है।

प्राचीन जमाने मे जगत् का कर्ता कौन है? वह जड है या चेतन? जीवात्मा और परमात्मा का सम्वन्ध किस प्रकार का है? दोनो एक है या भिन्न? इस प्रकार का चिन्तन वहुत होता रहा। उसमे देह को ही आत्मा माननेवाले चार्वाक ने यह प्रस्थापित किया कि देह की उत्पत्ति के साथ आत्मा उत्पन्न होता है और देह के नप्ट होते ही वह भी नष्ट हो जाता है। भगवान् इस श्लोक मे कह रहे है कि वौद्धो की तरह आत्मा को हर क्षण वदलनेवाला माने या चार्वाक की तरह आत्मा को देह का ही धर्म मान देह के साथ उसका जन्म और मरण माने तो भी स्पष्ट है कि वह वस्तु का स्वाभाविक धर्म है, अत उसके लिए शोक करना व्यर्थ है।

: २७ :

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

हि=क्योकि, **जातस्य**=जिस वस्तु का जन्म हुआ, **मृत्युः**=उसका मरण, **ध्रुव**=निश्चित है, **च**=और, **मृतस्य**=जो वस्तु मर गयी, उसका पुन जन्म, **ध्रुव**=निश्चित है, **तस्मात्**=इसलिए, **अपरिहार्ये**=न टालने योग्य, **अर्थे**=इस विपय मे, **त्व**=तेरा, **शोचितु**=शोक करना **न अर्हसि**=उचित नही।

यहाँ पिछले श्लोक की वात को ही भगवान् स्पष्ट कर रहे है। जिस वस्तु का जन्म है, उसका

मरण टाला नही जा सकता । देह पैदा होती है, इसलिए वह नष्ट हो जाती है और फिर से पैदा होती है । बीज से वृक्ष पैदा होता है, वृक्ष जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है । फिर बीज से वृक्ष पैदा होता है । इस तरह जीवन-मरण का चक्र चलता रहता है । सृष्टि के जो-जो पदार्थ नष्ट होते है, उन सबके नष्ट होने से हमे शोक या दु ख होता है, ऐसी बात नही । जिन पदार्थों के साथ हमारा ममत्व का सम्बन्ध रहता है, केवल उन्हीके नष्ट होने से हमे शोक होता है । लेकिन इस श्लोक मे ममता को छोडकर शोक दूर करने के लिए भगवान् नही कह रहे है । भगवान् कह रहे है कि ममता छोडने से जैसे शोक दूर हो सकता है, वैसे ही वस्तु जैसी है उसे उसी रूप मे समझ लेने से हमे शोक नही होगा । जैसे किसीकी नाक जन्मत टेढी हो तो उसके लिए हमे खेद नही होता; क्योकि नाक के टेढी होने मे हमारा कोई कसूर नही माना जायगा । इसी तरह देह जैसे नाशवत है, वैसे ही आत्मा को भी नाशवान् माना जाय तो भी हमे दु ख नही होना चाहिए, क्योकि वस्तु का स्वरूप पहले से ही वैसा बना हुआ है ।

: २८ :

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

भारत=हे अर्जुन, **भूतानि**=भूतमात्र (सब प्राणी-मात्र), **अव्यक्तादीनि**=उत्पत्ति के पहले अव्यक्त रहते है, **व्यक्तमध्यानि**=उत्पत्ति के बाद मृत्यु आने तक बीच मे व्यक्त रहते है, **अव्यक्तनिधनानि एव**=भूतमात्र या पदार्थ नष्ट होने के बाद फिर से अदृश्य हो जाते है, **तत्र**=ऐसी वस्तुस्थिति होने से इन सम्बन्ध मे, **का**=क्यो, **परिदेवना**=शोक किया जाय ?

हमारा शरीर उत्पत्ति से पहले अव्यक्त था । उत्पत्ति के बाद दिखाई देने लगा । उसे बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था और फिर वृद्धावस्था प्राप्त होती है और अत मे वह नष्ट हो जाता है । नष्ट होने के बाद वह फिर से मूलस्थिति यानी अव्यक्त स्थिति मे आ जाता है । मतलब यह कि बीच मे थोडे समय के लिए देह अस्तित्व मे रहती है । उसके लिए शोक करना व्यर्थ है ।

यहाँ प्रश्न उठेगा कि थोडे समय के लिए यानी ५०—६०—७० साल तक ही क्यो न हो, देह अस्तित्व मे तो रहती ही है, उतने समय के लिए तो उसका अस्तित्व माना ही जायगा । अत सही वस्तु के लिए शोक होना क्या स्वाभाविक नही ? इसका जवाब शकराचार्य के गुरु गौडपादाचार्य ने 'माडूक्योपनिषद्' पर लिखी कारिका मे दिया है । वे लिखते है **आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।** अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व और नष्ट होने के बाद जो पदार्थ नही रहता, वर्तमान काल मे भी वह पदार्थ अस्तित्व मे नही रहता । मृग-जल पहले भी नही रहता और बाद मे भी उसका अस्तित्व नही रहता । किन्तु बीच मे सूर्य-किरणो का बालू के साथ सयोग होने पर दूर से उसमे पानी की झलक दिखाई पड़ती है । इसलिए जल होना चाहिए, इस खयाल से मृग वहाँ दौड जाते है । लेकिन वस्तुत वहाँ जल न होने से वे निराश होकर वापस लौटते है । आदि-अत मे जल का अस्तित्व न होने से मध्य मे यानी बीच मे जो जल प्रतीत हुआ, वह जल नही, जल का आभास मात्र था । इससे यह सिद्ध होता है कि आदि-अत मे जो चीज नही, वह थोडे समय के लिए बीच मे दिखाई देने पर भी वास्तव मे उसका अस्तित्व नही होता ।

वास्तव मे देह-सहित ब्रह्माड के सभी पदार्थ है ही नही । अन्यथा भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो मे वे दिखाई देते । लेकिन ऐसा होता नही । इसलिए वर्तमान काल मे जो थोड़े समय के लिए उनका अस्तित्व दिखाई देता है, उसे मिथ्या ही समझना चाहिए । बीच मे यह वस्तु का अस्तित्व दिखायी देना माया या प्रकृति का कार्य है ।

माया का कार्य ही है कि वस्तु न होते हुए भी उसका भास कराना । वस्तु सत्य न होते हुए भी यदि हमे सत्य लगती है, तो यह हमारा अज्ञान ही समझा जायगा । इस श्लोक मे भगवान् ने यही बताया है कि भूतमात्र पहले अव्यक्त मे थे और अत मे भी अव्यक्त मे लीन हो जायँगे । बीच के समय मे उनका जो व्यक्त स्वरूप दीखता है, वह मिथ्या है, ऐसा समझकर भूतमात्र के लिए कभी शोक नही करना चाहिए ।

: २९ :

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

कश्चित्=कोई एक, विरला ही, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **एन**=परमात्मा को, **पश्यति**=देखता है, **च तथा एव**=और वैसे ही, **अन्य.**=कोई दूसरा, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **वदति**=परमात्मा के बारे मे समझाता है, **च**=और, **अन्य.**=कोई तीसरा, **एन**=इस परमात्मा को, **आश्चर्यवत्**=आश्चर्य की तरह, **श्रृणोति**=सुनता है, **च**=लेकिन, **एन**=परमात्मा के बारे मे, **श्रुत्वा**=सुनने पर, **अपि**=भी, **कश्चित्**=कोई, **न वेद एव**=इस परमात्मा को जानता ही नही यानी परमात्मा का अनुभव करनेवाला कोई विरल ही होता है ।

आश्चर्यवत् एन पश्यति—परमात्मा को आश्चर्यवत् देखता है । यहाँ 'देखता है' का अर्थ 'दर्शन करता है' के बदले 'परमात्मा की तरफ मुडता है' समझना चाहिए । ससार से वृत्ति हटाकर जिसने यह जगत् बनाया, उसकी तरफ वृत्ति को मोडनेवाला ससार मे विरला ही देखने मे आता है । जब तक हमे ससार सत्य लगता है, उसमे सार लगता है, ससार दु खमय नही लगता, तब तक परमात्मतत्त्व की ओर वृत्ति की दौड असभव है । ससार मे मनुष्य मे तीन एषणाएँ यानी इच्छाएँ पायी जाती है, (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा और (३) लोकैषणा । जिनमे पुत्र और सपत्ति की एषणाएँ नही होती, वे लोगो की सेवा मे जुट जाते है । उन्हे कीर्ति की एषणा घेर लेती है । निष्कामभाव से सेवा करनेवाले बहुत कम होते है । लोगो की सकामभाव से सेवा करनेवाले ही अधिकाश देखने मे आते है । सेवा करते हुए सत्ता अपने हाथ मे रहे, यह लालसा सेवको मे भी होती है । इन सब वासनाओ से निकलकर परमात्मा की ओर वृत्ति का प्रवाह बहाना यह किसी विरल पुरुष मे ही देखने मे आयेगा ।

आश्चर्यवत् एनं वदति—परमात्मा की ओर किसीकी वृत्ति हो जाय तो भी परमात्मा के विषय मे सम्यक्रूप से समझानेवाले भी बहुत विरल होते है । परमात्मा अतिसूक्ष्म वस्तु है, अतीन्द्रिय है । दिखाई देनेवाली सृष्टि जड है, तो परमात्मा चेतन है । जड से ही जड वस्तु पैदा हो सकती है । चैतन्य-स्वरूप परमात्मा से जड सृष्टि पैदा कैसे होगी ? जीव और परमात्मा मे भेद है या अभेद, अभेद हो तो किस तरह और भेद हो तो किस तरह ? ये ऐसे प्रश्न है जिनके बारे मे बडे-बडे आचार्यो मे मत-भेद रहे है । अतएव इनके बारे मे सभी शकाओ का निरसन होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त होना बहुत कठिन है । भगवान् कह रहे है कि परमात्मा के बारे मे ठीक-ठीक समझानेवाला पुरुष भी विरल ही होता है ।

आश्चर्यवत् एनं श्रृणोति—यथार्थरूप से समझानेवाला मिल जाय तो भी परमात्मा के बारे मे सुनने की इच्छा रखनेवाले मिलना कठिन है । जब तक ससार से चित्त नही हटता तब तक परमात्मा की ओर वृत्ति नही मुडती और जब तक वृत्ति परमात्मा की ओर वृत्ति नही दौडेगी तब तक परमात्मा के बारे मे श्रवण करने की जिज्ञासा पैदा नही होगी । श्रीशकराचार्यजी लिखते है **विरक्तस्य हि संसारात् भगवत्तत्त्वज्ञाने अधिकारो**

नान्यस्येति। अर्थात् ससार से विरक्त मनुष्य ही परमात्म-ज्ञान के अधिकारी है, दूसरे नही।

कठोपनिषद् (अ० १ २ ७) मे यही बात कही है। गीता उपनिषद् के बाद की रचना है, अत उपर्युक्त श्लोक उपनिषद् से ही लिया गया है, ऐसा अनुमान है।

इस श्लोक का एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है—कुछ लोग परमात्मा की ओर अद्भुत दृष्टि से देखते है। वे जो भी देखते है, उसमे उन्हे परमात्मा का स्मरण होता है और परमात्मा की ब्रह्माड-रचना देखकर चकित रह जाते है। सूर्य स्थिर होते हुए भी घूमता हुआ नजर आता है। पृथ्वी बडी तेजी से घूमती है, फिर भी बिलकुल स्थिर लगती है। ऊपर आकाश की तरफ नजर डालते है तो असख्य सितारे नजर आते है। कुछ सितारे तो सूर्य से भी बडे है। सूर्य की प्रचड शक्ति के कारण सूर्य की उपासना का बडा महत्त्व शास्त्र-कारो ने बताया है। अपने शरीर की ओर देखे तो पता चलता है कि कितना अद्भुत यत्र बनाया है। उसमे हृदय छोटा होते हुए भी इतना बलवान् बनाया कि मृत्यु तक वह अपना कार्य अखड करता ही रहता है। ऐसी यह सृष्टि विविध-रूपात्मक है और मनुष्य यह सब देखकर आश्चर्य मे पड जाता है। कुछ साधक इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते है। तुलसीदासजी लिखते है :

असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा तासु जाइ नहीं बरनी॥

परमात्मा की इतनी अलौकिक करनी है कि उसकी महिमा का वर्णन नही किया जा सकता। कुछ साधक परमात्मा का वर्णन सुनते नही अघाते। सुनने मे उनका चित्त आश्चर्य से भर जाता है, इसलिए सुनने की लालसा बनी रहती है। असल मे परमात्म-वस्तु इतनी अद्भुत है कि उसका अनुभव लाखो मे किसी एक को ही हो सकता है।

परमात्मा या आत्मा अमर है और उससे धारित सारे ब्रह्माड की देह विनाशी है, क्षणिक है, ऐसा अगले श्लोक मे कहकर इस प्रकरण का समारोप कर रहे है

: ३० :

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

भारत=हे अर्जुन, **अयं**=यह, **देही**=देहधारी आत्मा, **सर्वस्य**=सबके, **देहे**=देह मे, **नित्य**=सदैव, **अवध्य**=अवध्य यानी अमर है, **तस्मात्**=इसलिए, **त्व**=तेरा, **सर्वाणि**=सब, **भूतानि**=प्राणिमात्र के लिए, **शोचितु**=शोक करना, **अर्हसि**=उचित नही है।

सजीव और निर्जीव देह के भेद को हमेशा ध्यान रखना चाहिए। सजीव देह मे दो चीजे है एक चैतन्य, जिसके अस्तित्व से सृष्टि का ज्ञान होता है और दूसरी देह, जिसमे वह चैतन्य-स्वरूप परमात्मा रहता है। सारे ब्रह्माड मे पर-मात्मा गुप्त रहता है, इसलिए उसे हम 'जड' कहते है और जहाँ वह दिखाई देता है, उसे 'चैतन्य' कहते है। परमात्मा प्रकट होने का साधन मन-बुद्धि है। मृत देह मे परमात्मा प्रकट नही होता, क्योकि प्रकट होने का साधन मन उस शरीर मे नही रहता। मन के साथ ज्ञानेन्द्रियो और कर्मे-न्द्रियो के सस्कार रहते है। उन सबको 'लिग-देह' या 'सूक्ष्म-देह' कहते है। जब वह लिग-देह निकल जाती है, तो स्थूल-देह मृत हो जाती है। परमात्मा उस मृत देह मे भी मौजूद है, क्योकि वह अणु-अणु मे व्याप्त है। हम जब सजीव देह यानी मनुष्य, पशु, पक्षी को देखते है तो ये दो चीजे हमे दिखाई नही देती है। हमे सिर्फ सजीव देह ही दिखाई देती है। यानी मृत देह और जिंदा देह के बीच का फर्क हमारे ध्यान मे नही आता। भगवान् इस श्लोक मे इस भेद की पहचान करा

रहे है कि सजीव देह मे एक अवव्य यानी अमर आत्मा और दूसरी विनाशी देह, इस तरह दो वस्तुएँ है। चैतन्यस्वरूप आत्मा 'अमर' होने से और देह 'मर्त्य' यानी विनाशी होने से शोक के लिए कोई गुजाइश नही। इसलिए तू शोक मत कर।

: ३१ :

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

च=इसके अतिरिक्त, स्वधर्म=स्वधर्म की तरफ, अवेक्ष्य=दखते हुए, अपि=भी, विकंपितुं=उससे विचलित होना, न अर्हसि=तेरेलिए योग्य नही है, हि=क्योकि, क्षत्रियस्य=क्षत्रिय के लिए, धर्म्यात्=धर्मयुक्त, युद्धात्=युद्ध के अतिरिक्त, अन्यत्=और कोई चीज, श्रेय.=श्रेयस्कर, न विद्यते=नही है।

आत्मा-परमात्मा अविनाशी, अमर, नित्य, शाश्वत है और देह विनाशी, मर्त्य, अनित्य, क्षणिक है—इन दो सिद्धांतो को बुद्धि से जान लिया। इसमे बाह्य क्रिया का, आचरण का कोई सबध नही आया। यह भीतर की ज्ञातव्य यानी सिर्फ जानने की चीज हुई। लेकिन ये दो सिद्धात अमल मे लाने के लिए दूसरी क्रियारूप चीज—स्वधर्म का पालन करना होगा। यही स्वधर्म, स्वकर्तव्य-रूप प्रकरण इस श्लोक से शुरु हुआ है। स्वधर्म-विषयक यह प्रकरण आठ श्लोकों का है।

अर्जुन स्वधर्म छोडने को तैयार हो गया था। उसके चित्त मे अपने रिश्तेदारो के बारे मे मोह, आसक्ति पैदा हो गयी थी। इस मोह ने उसे स्वधर्म से च्युत किया। ज्यादा-से-ज्यादा मोह-आसक्ति रिश्तेदारो के प्रति होती है। उसके लिए हम अपने प्रिय सिद्धातो को भी छोडने के लिए तयार हो जाते है। विनोबाजी ने 'गीता-प्रवचन' में इन सबका बहुत अच्छा विवेचन किया है।

स्वधर्म अपने आप निश्चित होता रहता है। उसके लिए बहुत सोचना नही पडता। स्वधर्म निश्चित करने के लिए बहुत सोचना पडे तो समझना चाहिए कि हम अपने अहंकार से प्रेरित और अपनी वासना के अधीन होकर सोच रहे है। यदि अपनी इच्छा या वासना के अधीन न होकर ईश्वर की प्रेरणा से जीवन बिताने का हमारा निश्चय है, तो स्वधर्म निश्चित होने मे बहुत सोचना नही पडेगा। फिर उस स्वधर्म को मोह के कारण छोडने का अवसर कभी आ ही नही सकता। गीता मे इसे 'प्रवाह-पतित कर्म', 'स्वभावनियत कर्म' या 'सहज-कर्म' ये नाम दिये गये है।

इसलिए भगवान् अर्जुन के निमित्त से सबके लिए कह रहे है कि यदि परमात्मा की पहचान करनी हो तो किसी भी हालत मे स्वकर्तव्य छोडना उचित नही है। फिर भगवान् कहते है कि यह स्वकर्तव्य या स्वधर्म कैसा है? धर्मरूप है। स्वकर्तव्य हमेशा धर्मरूप ही होना चाहिए। स्वधर्म कभी अधर्मरूप नही हो सकता। शराब पीना, व्यभिचार करना, दूसरो का नुकसान करना, ये कर्म कभी स्वधर्मरूप नही हो सकते, क्योकि वे धर्म-युक्त नही है। इसलिए धर्मरूप, धर्मयुक्त यह जो स्वधर्म है, उससे बढकर और कोई कल्याण करनेवाली चीज इस जगत् मे नही, ऐसा भगवान् कह रहे है।

'युद्ध' के अर्थ का स्पष्टीकरण इसी अध्याय के १८वे श्लोक मे किया जा चुका है।

: ३२ :

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रिया. पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥

च=और, पार्थ=हे अर्जुन, यदृच्छया=विना मांगे, उपपन्नं=प्राप्त हुआ, स्वर्गद्वार=स्वर्ग का द्वार, अपावृतं=मानो खुल गया हो, ईदृशं=ऐसा, युद्धं=स्वधर्मरूप युद्ध, सुखिन=सुखी, भाग्यवान्, क्षत्रिया.=क्षत्रियो को, लभन्ते=प्राप्त होता है।

स्वर्ग मे बहुत सुख है, ऐसी शास्त्रकारो की कल्पना है। इसलिए यहाँ स्वर्ग की उपमा दी है। स्वधर्मरूप कर्म कितना श्रेष्ठ है, यह स्वर्ग की इस उपमा से स्पष्ट है। स्वधर्मरूप कर्म अत्यन्त सुखद होता है, क्योकि वह अहकार-प्रेरित नही होता। दुखदायक चीज अहकार है। स्वधर्म ईश्वर-प्रेरित है तो वह अत्यन्त सुखद ही होना चाहिए। ईश्वर-प्रेरित होने पर भी स्वधर्म का पालन करने मे अहकार, महत्त्वाकाक्षा, इच्छा, वासनाएँ दाखिल होने लगती है और दुख का अनुभव आने लगता है। फिर वह स्वधर्म 'स्वर्ग का खुला द्वार' न होकर 'दुख या नरक का खुला हुआ द्वार' वन जाता है। जैसे स्वधर्म अह-प्रेरित न होना चाहिए, वैसे ही उसका पालन भी अह-प्रेरित न हो। जितनी निष्कामता, निरहकारता, स्वधर्म के पालन मे होगी, उससे उतना ही सुख मिलेगा।

: ३३ :

अथ चेत्त्वमिम धर्म्यं संग्राम न करिष्यसि।
तत· स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

अथ=अव, त्व=तू, इम=इस, धर्म्यं=धर्मरूप, सग्राम=युद्ध को, न करिष्यसि चेत्=यदि नही करेगा, तत=तो, स्वधर्म=स्वधर्म, च=और, कीर्तिं=कीर्ति, हित्वा=दोनो को छोडकर, दोनो का त्यागकर, पाप=पाप को, अवाप्स्यसि=प्राप्त होगा।

स्वधर्म का पालन न करने पर लौकिक फल क्या मिलेगा, यह इस श्लोक मे वताया है। भगवान् कहते है कि स्वधर्म-पालन न करने पर स्वधर्म तो गया ही, लेकिन उस कारण समाज मे जो प्रतिष्ठा रही, वह भी नष्ट हो जाती है। मनुष्य की स्थिति त्रिशकु जैसी हो जाती है। व्यक्ति समाज से अलग नही, समाज का ही अग होता है। इसलिए उसे सामाजिक दृष्टि से भी सोचना पड़ता है। सामाजिक मूल्यो को सभालने, उसकी रक्षा करने मे ही व्यक्ति का कल्याण है। व्यक्ति और समाज के कल्याण मे कोई विरोध नही है। स्वार्थ मे विरोध हो सकता है। मनुष्य अकेला रहे तो उसका विकास, उसका कल्याण नही हो सकता। समाज मे रहने से उसके चित्त मे विद्यमान सुप्त गुण पनपने लगते है। कितने ही पाप-कर्मो और कितने ही अकार्यो से वह वच जाता है। कई लोग शुरू मे समाज मे अपनी कीर्ति हो, प्रतिष्ठा वढे, इस खयाल से सत्कार्य, सत्कर्म करने मे लगे रहते है। दीर्घ-काल तक सत्कर्म मे लगे रहने से उनकी निष्ठा दृढ हो जाती है। वाद मे वह सत्कर्म उनका स्वभाव वन जाता है।

स्वधर्म और कीर्ति दोनो नष्ट होने से फल क्या मिलेगा ? पाप ही पल्ले पडेगा। दोनो को छोडनेवाला मनुष्य पाप-कर्म से वच नही सकता। उससे अधर्म का आचरण होगा। स्वधर्म-पालन करने से अधर्म और परधर्म दोनो टल जाते है।

: ३४ :

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥

च=और, भूतानि=सव लोग, ते=तुम्हारी, अव्यया=हमेशा, अकीर्तिं=अपकीर्ति, अपि=ही, कथयिष्यन्ति=गाते रहेगे, च=और संभावितस्य=प्रतिष्ठित पुरुष के लिए, अकीर्तिः=अपकीर्ति, मरणात्=मृत्यु मे भी, अतिरिच्यते=वढकर है।

प्राप्त कीर्ति का चला जाना एक वात है और अपकीर्ति फैलना दूसरी वात। 'किसीकी हिसा न करना' यह तो अहिसा का अर्थ है ही, मगर उसका इतना ही अर्थ नही। 'सव पर प्रेम करना' भी अहिसा का अर्थ है। दोनो मिलकर अहिसा का पूरा अर्थ वनता है। वैसे ही स्वधर्म का त्याग करने पर प्रतिष्ठा चली जायगी, यह एक परिणाम आयेगा, जो पिछले श्लोक मे वताया गया।

इस श्लोक मे स्वधर्म के त्याग का दूसरा परिणाम बतलाया है । भगवान् कहते है कि सिर्फ प्रतिष्ठा ही नही चली जायगी, समाज मे अपकीर्ति भी फैलेगी । स्वधर्म छोडने से अपकीर्ति फैल जाती है, तो प्रतिष्ठित पुरुष के लिए अपकीर्ति के साथ समाज मे जिन्दा रहने की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेष्ठ है ।

: ३५ :

भयाद्रणादुपरत मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥

महारथा.=दुर्योधन, कर्ण आदि महारथी, **त्वा**=तुझे, **रणात्**=युद्ध से, **भयात्**=भय के कारण, **उपरत**=पीछे हटा हुआ, **मंस्यन्ते**=ऐसा मानेगे, **च**=और, **येषा**=जिन भीष्म, द्रोण आदि महानुभावो के लिए, **त्व**=तू, **बहुमतः भूत्वा**= बहुमान्य हो गया था (क्षत्रिय के तौर पर), **लाघव**= उनके लिए लघुता को, तुच्छता को, **यास्यसि**=प्राप्त होगा ।

१८वे अध्याय के ४३वे श्लोक मे क्षत्रिय के गुण वर्णन किये है । उनमे एक गुण यह बतलाया है कि 'वह युद्ध से पलायन नही करता ।'

गाधीजी ने एक भाई को पत्र मे लिखा कि "मन मे काम-विकार आते हो तो उनके साथ जूझना, उनके साथ युद्ध करना, उनको मन से हटाने की कोशिश करना, इसमे कभी हार नही खाना । क्योकि क्षत्रिय का गुण युद्ध से न भागना, हार न खाना है । क्षत्रिय का गुण 'जीतना' नही है ।"

सामान्यत 'युद्ध' का अर्थ शस्त्रो से युद्ध करना माना जाता है, लेकिन उसका इतना सकुचित अर्थ न लेकर व्यापक अर्थ लेना चाहिए । काम-विकार के साथ झगडना यानी युद्ध करना, इस प्रकार गाधीजी ने बताया ही है । गीता मे 'युद्ध' शब्द स्वधर्म के अर्थ मे प्रयुक्त है, यह १८वे श्लोक मे स्पष्ट किया जा चुका है । स्वधर्म से हटना तो पलायन है ।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है स्वधर्म से हमे हटना नही चाहिए, यह एक बात हुई । लेकिन यदि हम स्वकर्तव्य से हटते है तो गुरुजनो के मन मे हमारे प्रति स्नेह-भाव कम हो जायगा, यानी हम गुरुजनो के कृपापात्र नही बन सकते । जिन्हे ईश्वर का कृपापात्र बनना हो, उन्हे शुरू मे गुरुजनो का कृपापात्र बनना ही होगा । उसके बिना ईश्वर के कृपापात्र नही बन सकते । हमारे कामो मे गुरुजनो का आशीर्वाद हमेशा रहे, ऐसी वृत्ति रखनी चाहिए । गुरुजनो की परवाह न करने की आदत डालेंगे, तो हमारा कल्याण नही होगा । इसलिए भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि जिन भीष्म-द्रोण का तू कृपा-पात्र हो गया था, वे तुम्हारा इस तरह स्वधर्मरूप कर्तव्य से भागना अनुचित समझेगे और तुम्हारे बारे मे उनके मन मे जो ऊँची भावना थी, वह नष्ट हो जायगी ।

: ३६ :

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिता. ।
निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥

च=और, **तव**=तुम्हारी, **सामर्थ्य**=सामर्थ्य की, **निन्दन्त**=निन्दा करनेवाले, **तव**=तुम्हारे, **अहिता.**=अकल्याण चाहनेवाले, **बहून्**=अनेक प्रकार के, **अवाच्यवादान्**= न कहने जैसे वचन, **वदिष्यन्ति**=कहते फिरेंगे, **तत.**= उससे, **दु.खतरं**=बढकर दुःख, **किं नु**=और क्या हो सकता है ?

पिछले श्लोक मे भगवान् ने अर्जुन से कहा कि शत्रु-पक्ष के कर्ण, दुर्योधन आदि महारथी और मित्रपक्ष के भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन स्वधर्म से हटा जानकर तुम्हे तुच्छ समझने लगेगे । अब इस श्लोक मे उससे आगे कह रहे है कि अर्जुन ! तुम्हारा बुरा चाहनेवाले तुम्हे न केवल तुच्छ ही समझेगे, तुम्हारे निन्दक भी बनेगे । इतना ही नही, न कहने योग्य बाते भी तुम्हारे बारे मे कहा करेगे । यहाँ सवाल केवल अर्जुन का नही है ।

अर्जुन उस समय का श्रेष्ठ पुरुष था। श्रेष्ठ पुरुषो का आचरण ऐसा होना चाहिए कि लोग उसका अनुकरण कर सके, उससे समाज की हानि न हो। क्योकि 'श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते है, सामान्य लोग उसीको प्रमाण समझकर उसके अनुसार चलते या चलने की कोशिश करते है' यह बात भगवान् ने तीसरे अध्याय के २१वे श्लोक मे कही है। अतएव अर्जुन मोह मे आकर स्वधर्म का त्याग करता है तो समाज के सामने गलत उदाहरण पेश होगा और समाज का अकल्याण होगा। यही बात दूसरे तरीके से भगवान् ने इस श्लोक मे बतायी है। भगवान् आखिर मे कहते है स्वधर्मच्युति की निन्दा बडे लोग करने लगेगे तो उससे बढकर दु खदायक बात क्या हो सकती है ?

: ३७ :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

वा=यदि (तू), **हत** =शत्रु द्वारा युद्ध मे मारा गया तो, **स्वर्ग**=स्वर्ग यानी श्रेष्ठ-गति, **प्राप्स्यसि**=प्राप्त करेगा, **वा**=और यदि, **जित्वा**=शत्रु को जीत लिया तो, **महीं**= पृथ्वी का राज्य, **भोक्ष्यसे**=भोगेगा, (यानी जगत् की सेवा करने का मौका मिलेगा), **तस्मात्**=इसलिए, **कौन्तेय**=हे अर्जुन, **कृतनिश्चय** =स्वधर्म-पालन का निश्चय करके, **युद्धाय**=युद्ध यानी स्वधर्म-पालन के लिए, **उत्तिष्ठ**=खडा हो जा।

इस श्लोक मे स्वधर्म-पालन के दो फल बताये है

(१) स्वधर्म-पालन मे मृत्यु आयी तो स्वर्ग मिलेगा यानी अच्छी गति मिलेगी। 'मृत्यु आयी' इसका मतलब स्वधर्म-पालन अधूरा रहा, उससे मिलनेवाला फल नही मिला और बीच मे ही देह छूट गयी तो स्वधर्म-पालन इतनी श्रेष्ठ चीज है, उसकी इतनी महिमा है कि वह अधूरा रहने पर भी निश्चित ही श्रेष्ठ-गति मिलेगी।

(२) स्वधर्म-पालन करते हुए बीच मे मृत्यु न आयी तो पृथ्वी का राज्य भोगने को मिलेगा, यानी सृष्टि की सेवा का अच्छा मौका मिलेगा। 'भोगना' शब्द का स्थूल अर्थ लेने से स्वधर्मपालन का फल 'भोग भोगना' ऐसा हो जायगा। लेकिन ऐसा अर्थ गीता के उपदेश के खिलाफ पड जायगा। स्वधर्मपालन से जनसेवा अखड चलती रहेगी, यही फल गीता को अपेक्षित है। शुद्ध कुटुम्ब-सेवा जनसेवा का ही अग है। शुद्ध कुटुम्ब-सेवा और जन-सेवा मे कोई विरोध नही। स्वधर्म-पालन कुटुम्ब-सेवा और जन-सेवा दोनो पर लागू है। जब कुटुम्ब-सेवा जन-सेवा के अनुसधान मे नही रहती, तब वह कुटुम्ब-सेवा शुद्ध नही रह पाती। शुद्ध कुटुम्ब-सेवा मे भलीभाँति स्वधर्म का पालन चलता है, तो कुटुम्ब का उत्कर्ष होता है और कुटुम्ब के उत्कर्ष से समाज का सहज ही उत्कर्ष हो जाता है।

: ३८ :

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

सुखदु खे=सुख और दु ख दोनो को, **समे**=समान, **कृत्वा**=समझकर, **च**=और **लाभालाभौ**=लाभ और हानि, (तथा) **जयाजयौ**=जय-पराजय, **समे**=समान, **कृत्वा**= समझकर, **तत** =फिर, **युद्धाय**=युद्ध यानी, स्वधर्म-पालन के लिए, **युज्यस्व**=तैयार हो जा, **एव**=इस तरह, **पापं**=पाप, **न अवाप्स्यसि**=नही लगेगा।

सुख-दु ख, लाभ-हानि और जय-पराजय मे शोक-मोह का समावेश है। सृष्टि सामने खडी है। सृष्टि के साथ हमारा निरतर सम्बन्ध आता है। सृष्टि मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पाँच विषय है। ये पाँच विषय हमारे चित्त मे राग-द्वेष, सुख-दु ख आदि के द्वन्द्व खडे करते है। इन द्वन्द्वो से हम अपने को अलग कर नही पाते, इसी कारण पाप मे फँसे रहते है। इनमे से निकलने की कोई

युक्ति होनी चाहिए । इसी युक्ति का नाम है, फलासक्ति छोडकर कर्म करने का योग ।

इसी योग का प्रकरण अगले श्लोक से शुरू हो रहा है ।

: ३९ :

एषा तेऽभिहिता साख्ये बुद्धिर्योगे त्विमा शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥

ते=तुझे, एषा=यह, **साख्ये बुद्धि**=साख्यबुद्धि यानी जीवन-विषयक सिद्धान्तो का ज्ञान, **अभिहिता**=कहा, **तु**=लेकिन, **इमा**=इस, **योगे बुद्धि**=जीवन-विषयक सिद्धात को आचरण मे लाने की जो युक्ति है वह योगबुद्धि है, उसका ज्ञान, **शृणु**=सुन, **पार्थ**=हे अर्जुन, **यया**=जिस, **बुद्ध्या**=योगबुद्धि से, **युक्त**=युक्त होकर तू, **कर्मबंध**=कर्म के बधन को, **प्रहास्यसि**=छोड देगा (कर्मबन्धन का नाश करेगा) ।

साख्ये बुद्धिः—विनोबाजी के अनुसार साख्य-बुद्धि का मतलब है, जीवन-विषयक सिद्धान्तो का ज्ञान । जीवन-विषयक जिन तीन महासिद्धान्तो के बारे मे ११वे से ३८वे श्लोक तक यानी कुल मिलाकर २८ श्लोको मे भगवान् ने समझाया, वे तीन सिद्धान्त है

(१) आत्मा की अमरता, अकर्तापन, अकर्मपन, अप्रेरकपन और अखडता ।

(२) देह की क्षुद्रता, क्षणिकता, विनाशिता ।

(३) स्वधर्म की आवश्यकता अर्थात् किसी भी परिस्थिति मे स्वधर्म न टालना ।

इन सिद्धान्तो को आचरण मे लाने के पहले यदि ठीक से समझ लेते है, तो आचरण मे उतारना आसान हो जाता है । इसलिए २८ श्लोको मे भगवान् ने पहले जीवन-विषयक सिद्धान्तो का अच्छी तरह ज्ञान करा दिया ।

योगे बुद्धिः—उपर्युक्त तीन सिद्धान्तो को आचरण मे लाने की युक्ति का नाम 'योग' है । इस युक्ति का ज्ञान आगे के श्लोको मे करा रहे है । यह प्रकरण ३९ वे से ५३ वे श्लोक तक कुल १५ श्लोको का है । ३९वाँ श्लोक प्रस्तावनारूप है । आगे के १४ श्लोकों मे इस युक्ति का यानी योग का स्पष्टीकरण है । उपर्युक्त सिद्धान्तो को अमल मे लाने की युक्ति का स्वधर्म-पालन यानी अपने सारे जीवन मे यदि हम उपयोग करते है, तो भगवान् कहते है कि हम कर्मबधन को छोड सकेंगे, अलिप्ततापूर्वक कर्म कर सकेंगे ।

शकराचार्य इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार बतलाते है ·

साख्ये परमार्थवस्तुविवेकविषये, बुद्धि साक्षात् शोक-मोहादिससारहेतु-दोषनिवृत्ति-कारणम् ।

यानी परमात्मा की पहचान के विषय मे यह ज्ञान कहा, जो ज्ञान साक्षात् (प्रत्यक्ष), शोक, मोह आदि जो दोष ससार के लिए जो कारण बनते है, उनकी निवृत्ति का कारण है ।

योगे नि संगतया द्वन्द्वप्रहाणपूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे बुद्धि शृणू ।

योगविषयक प्राप्ति के बारे मे अर्थात् फल की आसक्ति न रखते हुए सुख-दु ख आदि द्वन्द्वो का त्यागकर ईश्वर की आराधना के लिए किये जाने-वाले कर्मयोग या कर्म के अनुष्ठान के विषय मे और परमात्म-समाधि कैसे प्राप्त हो सकती है, इस विषय मे जो ज्ञान है, वह अब सुनो ।

: ४० :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

इह=इस निष्काम कर्मयोग मे, **अभिक्रमनाश**=आरभ किये हुए का नाश, **न अस्ति**=कभी नही होता, **प्रत्यवाय**=वैसे ही इस निष्काम कर्मयोग मे कोई दोष, **न विद्यते**=नही लगता, **अस्य**=इस, **धर्मस्य**=धर्म का, निष्कामता का, **स्वल्पं अपि**=थोडा-सा भी अनुष्ठान, **महत**=बडे, **भयात्**=बधन से, **त्रायते**=बचा लेता है ।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है

(१) **अभिक्रमनाशः न अस्ति**—आत्मा की अमरता, देह की नश्वरता और स्वधर्म की अवाध्यता हम टाल नही सकते । इन तीन सिद्धान्तो को जीवन मे उतारना हो तो निष्कामता, निर्विकारता, अनासक्ति का अभ्यास करना होगा । इस अभ्यास को ही 'योगाभ्यास' कहते हैं । इस योगाभ्यास की हमने शुरुआत की, तो जितनी भी निष्कामता ओर निर्विकारता का अभ्यास हमने किया हो, वह कभी नष्ट नहीं होगा । हमारे चित्त मे अच्छे ओर वुरे दोनो सस्कार होते है । अच्छे सस्कारो को वढावा देना, पोषण देकर वलवान् वनाना या वुरे सस्कारो को पोषण देकर वढावा देना, वलवान् वनाना हमारे हाथ की वात है । सत्सग मे अच्छे सस्कार पनपते है और कुसग मे वुरे सस्कार । अच्छे सस्कार शाति देते है, तो वुरे सस्कार दु ख ।

इसीलिए सत तुलसीदासजी कहते है . **को नकुसंगति पाइ नसाई**—कुसग प्राप्त होने पर किसका नाश नही होता ? एक स्थान पर वे कहते है

सुमति कुमति सबके उर रहहीं ।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना ।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना ॥

निष्कामता, निर्विकारता और अनासक्ति का अभ्यास करना अच्छे सस्कार वढाना है और काम-क्रोधादि विकारो के वश होते रहना वुरे सस्कारो को वढाना है । प्रकाश से अँधेरा दूर हो जाता है । अधेरा प्रकाश को कभी हटा नही सकता । वैसे ही निष्कामता या निर्विकारता के अभ्यास से जो अच्छे सस्कार चित्त मे पैदा होगे और पैदा हुए सस्कार जव दृढ होगे, तो उन सस्कारो को कोई हटा नही सकता, नष्ट नही कर सकता । वुरे सस्कार अच्छे सस्कारो को कुछ काल तक, कुछ समय के लिए दवा सकते है, मगर कभी नष्ट नही कर सकते । अच्छे सस्कारो मे यह सामर्थ्य है कि वे वुरे सस्कारो को हमेशा के लिए नष्ट कर सकते है ।

(२) **प्रत्यवायो न विद्यते**—निष्कामता के, योग के अभ्यास का परिणाम कभी विपरीत नही आता । जैसे शकराचार्य कहते है कि खेती और व्यापार मे लाभ ही होगा, ऐसा नही कह सकते । शरीर मे रोग पैदा हो गया तो उसके निवारण के लिए हम डाक्टर या वैद्य के पास जाते हैं । उस इलाज से लाभ ही होगा, ऐसा नही कह सकते । रोग वढ भी सकता है । इस तरह किसी भी वाह्य वस्तु का परिणाम विपरीत भी आ सकता है । विद्यार्थी परीक्षा मे वैठता है, लेकिन फेल हो जाता है । पास होने का लक्ष्य रखते हुए भी परिणाम विपरीत निकलता है । लेकिन इस योगमार्ग मे विपरीत परिणाम कभी नही आ सकता । निष्कामता, निर्विकारता और अनासक्ति का जितना भी भीतर से अभ्यास किया जाय, वह आपके खाते जमा हो गया समझो । निष्कामता का फल शाति है । भीतर जितनी निष्कामता रहेगी, उतनी शाति मिलेगी । ऐसा कभी अनुभव मे नही आयेगा कि निष्कामता या अनासक्ति से अशाति पैदा हुई हो । मन मे काम-क्रोधादि विकार पैदा हो जायँ तो उसका विपरीत परिणाम अनुभव मे आता है । सकामता का, विकार का विपरीत परिणाम हम देखते हैं । लडाइयाँ, आपसी सघर्ष, प्रान्तीय अभिमान आदि दोष और काम, क्रोध, मद आदि विकारो का परिणाम विपरीत आता है । काम-क्रोधादि विकारो से हम मुक्त हो जाते है तो सघर्ष-भेद मिटकर हमे अद्वैत का, परम शाति का अनुभव होने लगता है । यह निष्कामता और निर्विकारता का कितना वडा फल है ।

(३) **स्वल्पे अपि अस्य धर्मस्य**—इस निष्कामतारूपी योग का थोडा-सा आचरण भी ससार के वडे भय से यानी सुख-दु खादि से वचा लेता है ।

मनुष्य जब तक कामना, इच्छा महत्त्वाकाक्षा के अधीन रहता है, तब तक उसे शाश्वत सुख नही मिलता, क्योकि इच्छा या कामना का स्वभाव ही यह है कि वह कभी तृप्त नही होती, हमेशा बढती ही रहती है। जब कामना हमेशा अतृप्त रहती है और अतृप्ति से शाति कभी मिल नही सकती, यह अनुभव आता है तो यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि कामना, वासना, इच्छा छोडने मे ही सच्चा सुख है। इसलिए निष्कामता आदि का थोडा-सा भी आचरण सासारिक दु खो से बचा लेता है।

: ४१ :

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

कुरुनन्दन=हे अर्जुन, **इह**=इस निष्काम कर्मयोग-मार्ग मे, **बुद्धि**=अत करण, चित्त, **व्यवसायात्मिका**=दृढ, **एका**=एकाग्र रहता है, **च**=और **अव्यवसायिनाम्**=जिनकी बुद्धि की चचलता नष्ट नही हुई है, उनकी, **बुद्धय**=इच्छाएँ, **बहुशाखा**=बहुत प्रकार की, (और) **अनता**=अनत होती है।

इस श्लोक मे निष्काम कर्मयोग का विशेष फल बताया गया है। निष्कामता, निरहकारिता और निर्विकारता से बुद्धि स्थिर हो जाती है। बुद्धि एकमार्गी हो जाती है। ईश्वर के बिना इस बुद्धि को दूसरी कोई चीज ही नही भाती। बाहर से स्वधर्म का आचरण चलता रहने पर भी भीतर से वृत्ति का प्रवाह ईश्वर की तरफ दौडने से बुद्धि की चचलता दूर हो जाती है। चित्त मे अनेक प्रकार की वासनाएँ रहती है और हमारा जीवन उन्ही-के अधीन चलता है। वासनाएँ, इच्छाएँ कभी तृप्त न होने से चित्त मे अखड शाति और समाधान नही रह पाता। इसलिए चित्त चचल और अशात बन जाता है। सूर्य के सामने अँधेरा नही रह सकता। हमारे चित्त, बुद्धि और मन मे परमात्म-रूप प्रकाश रहता है। वह स्वयप्रकाश, अखण्ड, अतएव स्थिर, शात और आनन्दमय है। परमात्मा मे कोई ऐहिक इच्छा-वासनाएँ नही रहती, इसलिए उसकी शाति, उसका आनन्द कभी भग नही होता। इस तरह परमात्मरूप, आनन्दरूप प्रकाश हमारे चित्त मे अखण्ड रूप से रहने पर जब उसके सामने चित्त मे विकाररूप सकामता का अँधेरा पैदा होने लगता है तो हम तुरन्त अशात और चचल हो उठते है, अस्थिर बन जाते है। हमारी कोशिश शाति प्राप्त करने के लिए चलती रहती है यानी प्रकाश की तरफ रहती है। जैसे प्रकाश के सामने अँधेरा नही टिक सकता, वैसी ही स्थिति हमारी हो जाती है। निर्विकार, निष्काम बनने की तरफ हमारी प्रवृत्ति के होने का मतलब है, अँधेरा दूर करने के लिए परमात्मरूप प्रकाश प्राप्त करने की कोशिश। पापी मनुष्य भी आखिर मे पुण्य की तरफ झुकता है। पाप अँधेरा है तो पुण्य प्रकाश। हम कभी असत्य बोलते है, असत्याचरण करते है तो भीतर से सत्यस्वरूप परमात्मा हमे धक्का देता रहता है। भीतर का धक्का, भीतर की परमात्मा की प्रेरणा जब असह्य हो जाती है तो आदमी फिर असत्याचरण छोड देता है।

सार यह कि निष्कामता बुद्धि को शाति देती है, इसलिए बुद्धि को वह स्थिर रखती है। मगर जो सकाम है, काम-क्रोधादि के वश होनेवाले है, उन्हे उसका क्या फल मिलता है, यह इसी श्लोक के दूसरे चरण मे भगवान् बतला रहे है। भगवान् कहते है कि जो सकाम है, जो वासना के अधीन होकर चलते है, उनकी बुद्धि, उनका मन चचल, अस्थिर, अनिश्चयी रहता है। इस तरह जब बुद्धि अस्थिर और अनिश्चयी बन जाती है तो इच्छा, वासना, महत्त्वाकाक्षा अनन्तरूप धारण कर लेती है। अनेक प्रकार की वासनाओ मे उनकी बुद्धि फँस जाती है। इससे ससार-बधन कायम रहता है।

[इस तरह ससार मे फँसे लोगो का वर्णन अगले तीन श्लोको मे है। तीनो श्लोक यहाँ एक स्थान पर दिये गये हैं ।]

: ४२, ४३, ४४ :

यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चित· ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मान· स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषवहुलां भोगैश्वर्यगति प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयाऽपहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका वुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

पार्थ=हे अर्जुन, **वेदवादरता** =वेद के यानी कर्मकाड के यज्ञ-यागादि वचनो मे जो आसक्त हुए है, (और) **अन्यत्**= इन यज्ञ-यागादि कर्मो मे वढकर और कोई श्रेष्ठ कर्म, **न अस्ति**=नही है, **इति**=ऐसा, **वादिनः**=करनेवाले, **कामात्मान** =और विपयासक्त, **स्वर्गपरा·**=स्वर्ग को ही श्रेष्ठ पुरुपार्थ समझनेवाले, **अविपश्चित** =अविवेकी लोग, **या**= जो, **इमा**=यह, **पुष्पिता**=रमणीय लगनेवाली, **जन्मकर्मफलप्रदा**=कर्म का फल जन्म ही है, ऐसा वतलानेवाली, **भोगैश्वर्यगति प्रति**=(और) भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए, **क्रियाविशेषवहुला**=अनेक प्रकार के, विशेप कर्म कहे हुए है, ऐसा वतलानेवाली, **वाच**=वाणी, **प्रवदन्ति**= वोलते है, **तया**=उस वाणी से, **अपहृतचेतसा**=जिनका चित्त आकृष्ट हुआ है, **भोगैश्वर्यप्रसक्ताना**=ऐमे भोग और ऐश्वर्य मे अतिआसक्त, **तेषां**=उन अविवेकी पुरुपो की, **वुद्धि** = वुद्धि, **व्यवसायात्मिका**=निश्चयात्मक, **समाधौ**=समाधि मे यानी परमात्मा मे, **न**=नही, **विधीयते**=स्थिर होती ।

चित्त के अस्थिर रहने का कारण है, ससार मे हमारी आसक्ति । अलिप्तता से किस तरह व्यवहार किया जाय, उसकी चाभी क्या है, गीता ने यह चाभी वतायी है। लेकिन जिनके हाथ मे यह चाभी नही आयी, उन ससारी लोगो का वर्णन इन तीन श्लोको मे है।

यहाँ तीन वाते वतलायी गयी हैं (१) ससार मे जो आसक्त है, उनका काफी विशेपणो के साथ वर्णन । (२) ये ससारासक्त लोग जो वाणी वोलते है, उसका थोडा-सा वर्णन और (३) आखिर मे इस सासारिक आसक्ति का फल क्या मिलता है, इसका वर्णन।

अविपश्चित·—विपश्चित् यानी ज्ञानी और अविपश्चित् यानी अज्ञानी, अविवेकी । नित्य-अनित्य वस्तुओ का विवेक जो नही कर पाते, ऐसे पुरुप । ससार अनित्य है, यह समझते हुए भी उसकी नि सारता हृदयगत न हुई हो, ऐसे ससारासक्त लोग।

वेदवादरताः—वेद के वचनो मे रत। वेद चार है । उनमे दो विभाग है। एक विभाग को 'कर्मकाण्ड' कहते है, और दूसरे को 'ज्ञानकाण्ड' । कर्मकाण्ड मे यज्ञ किस तरह करना, श्राद्ध किस प्रकार करना, वरसात न आती हो कौन-सा यज्ञ करना, पुत्र-प्राप्ति के लिए क्या करना, स्वर्ग किस तरह मिल सकता है, भोग-ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए कौन-कौन-से कर्म किये जायँ, उसके लिए किस देवता की पूजा करना, ब्राह्मणो को सतुष्ट रखने के लिए खिलाना आदि वातो का सासारिक सुख-प्राप्ति के लिए विधि-निपेधपूर्वक व्यवस्थित वर्णन है । यह कर्मकाण्ड हुआ । ज्ञानकाण्ड यानी उपनिषद् । वैसे उपनिपदे वहुत-सी है, किन्तु मुख्य उपनिपदे १३ ही मानी गयी है । इनमे अनुभवी ऋपि-मुनियो के वचन है और ससार से छूटकर मोक्ष किस तरह प्राप्त कर सकते है, परमात्मा की पहचान कैसे कर सकते हैं, इसका विवेचन और विश्लेपण है। प्राचीन जमाने मे समाज पर कर्मकाण्ड की पकड या प्रभाव वहुत था । कर्मकाण्डी यहाँ तक मानने लगे कि ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड का ही एक अग है । यानी ज्ञानकाण्ड का, उपनिपद् का कोई स्वतत्र अस्तित्व ही नही । लेकिन कर्मकाण्डियो का यह मानना विलकुल गलत है, ऐसा ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य (१ १ ४) मे विस्तारपूर्वक वताया गया है ।

अन्यत् न अस्ति इति वादिनः—वेद के इस कर्मकाण्ड भाग से वढकर और कोई वस्तु दुनिया मे नही है, ऐसा माननेवाले, ऐसी श्रद्धा रखनेवाले।

कामात्मानः——विषयासक्त, नाना प्रकार की वासनाओ से घिरे हुए, कामभोग मे अनुराग रखनेवाले।

स्वर्गपराः——स्वर्ग को ही श्रेष्ठ समझनेवाले। कर्मकाण्ड मे बतलाये धर्मो का भलीभाँति पालन करने से देह छूटने पर स्वर्ग मिलता है और अधर्म के आचरण से नरक मिलता है। प्राचीन काल मे स्वर्ग-नरक की कल्पना हमारे शास्त्रकारो ने समाज मे रूढ की है। स्वर्ग मे अतिसुख और वैभव बतलाया, नरक मे अतिदुःख और यातना बतायी। समाज की धर्मपालन मे दृढ श्रद्धा रहे, इसलिए स्वर्ग और अधर्म से हटने के लिए नरक खडा किया है। विनोबाजी ने स्वर्ग, नरक और ब्रह्मलोक के सम्बन्ध मे बहुत अच्छे अर्थ बतलाये है। (देखिये ९वे अध्याय के २० और २१ श्लोक का स्पष्टीकरण)।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्——इस तरह पच विषयो के भोग ओर सपत्ति आदि विविध साधनो से प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य मे जो आसक्त है, जो उन पर मोहित है ऐसे सकामकर्मी पुरुष, कर्मजड या कर्मठ पुरुष।

पुष्पितां जन्मकर्मफलप्रदां, क्रियाविशेष-बहुलां वाच प्रवदन्ति——मनोहरवाणी, किसीको भी मोहित करनेवाले वचन बोलते है। यह वाणी कैसी होती है, यह बताते है। वे सकामी पुरुष कहते है कि ससार मे हमे जन्म मिलता है सुख-प्राप्ति के लिए ही ओर स्वर्ग-सुख मे बढकर और कौन-सा सुख हो सकता है? यह स्वर्ग-सुख प्राप्त करना हो तो शास्त्र द्वारा बताये गये अनेक प्रकार के यज्ञ-यागादि कर्म करते रहना चाहिए। यज्ञ-यागादि कर्म विशेष कर्म है। विशेष कर्मो का फल स्वर्ग यानी विशेष ही मिलना चाहिए। सामान्य कर्मो का फल सामान्य मिलेगा।

अपहृतचेतसाम्——ऐसी मोहक वाणी से जिनका चित्त आकृष्ट हुआ हो, वे।

समाधौ न विधीयते——समाधि मे यानी परमात्मा मे तल्लीन नही हो सकते। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है ऐसे लोग उपर्युक्त भोग-ऐश्वर्य की वासना मे प्रेरित होकर धर्म का, शास्त्र मे कही गयी नाना-विधियो का, विशेष कर्मो का——भली-भाँति अनुष्ठान करते रहते है। उनमे एक ही दोष रहता है। वह यह कि वे यह सारा पुण्य-कर्मो का अनुष्ठान स्वर्ग-सुख की कामना-वासना रखकर करते है, इसलिए उन्हे शाश्वत सुखरूप फल नही मिलता। जैसे कपूर सुगधित होता है, किन्तु उसे इकट्ठा कर अग्नि मे जला दे तो उसकी सुगधि नष्ट हो जाती है। रसोई बहुत अच्छी हो और उसे बेच दिया जाय तो उसका स्वाद हमे नही मिलता। ठीक इसी तरह परमात्म-भक्ति से मिलनेवाले अखण्ड सुख की चाह न रखकर सासारिक सुख की वासना रखते हुए पुण्य-कर्म करते रहना अविवेकपूर्ण कार्य है।

: ४५ :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

अर्जुन=हे अर्जुन, वेदा=वेद के कर्मकाण्डवाले विभाग का, **त्रैगुण्यविषया**=विषय, त्रिगुणात्मक ससार ही है, इसलिए, त्व=तू, निस्त्रैगुण्य=त्रिगुणात्मक ससार मे अलिप्त, भव=होने की कोशिश कर, **निर्द्वन्द्व**=द्वन्द्व-रहित, और **नित्यसत्त्वस्थ**=हमेशा सत्त्वगुण का आश्रय लेनेवाला, सत्त्व-निष्ठ, **निर्योगक्षेमः**=निर्योग-क्षेम, यानी अन्न-वस्त्र की चिन्ता से मुक्त, भव=हो जा, और **आत्मवान्**=आत्मनिष्ठ, भव=होने की कोशिश कर।

त्रैगुण्यविषया वेदा——त्रैगुण्य का अर्थ है त्रिगुणात्मक ससार। ससार मे रहते हुए ससार से अलिप्त कैसे रह सकते है, यह बताना गीता का लक्ष्य है। इस श्लोक मे यही बताया है। यह त्रिगुणात्मक ससार ही वेद के कर्मकाण्ड का विषय है। कर्मकाण्ड मे इसीकी चर्चा है, उसका लक्ष्य मोक्ष नही। वेद का ज्ञानकाण्ड, जिसे 'उपनिषद्' कहते है, उसका लक्ष्य मोक्ष यानी आत्यन्तिक अखण्ड,

सुख-शाति है। गीता का भी यही लक्ष्य है। इसके विपरीत कर्मकाण्ड का लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति तक ही सीमित है। सारा कर्मकाण्ड अनेक प्रकार के कर्मो पर खडा है, उसमे निष्कामता की, ज्ञान की चर्चा नही है। अर्जुन को ससार से अलिप्त होना था। वह शोक-मोह से घिर गया था। उससे निकलने के लिए उसने भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् कह रहे है कि शोक-मोह से दूर होना है तो ससार मे रहते हुए सकामता छोड निष्काम बनना पडेगा।

इसीलिए वे कहते है

निस्त्रैगुण्यो भव—तू त्रिगुणात्मक ससार मे रहते हुए उससे अलग हो जा, यानी निष्काम बन।

निष्काम बनने के लिए भगवान् चार बाते कह रहे है

(१) **निर्द्वन्द्वो भव**—द्वन्द्व से परे हो जा। द्वन्द्व यानी सुख-दुख के निमित्त बननेवाले परस्पर विरोधी पदार्थ। शीत-उष्ण, हानि-लाभ, यश-अपयश पैदा करनेवाले ये पदार्थ ही होते है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध ये पच विषय हानि-लाभ पहुँचाते है। हानि पहुँचानेवाले पदार्थो से दुख होता है और लाभ पहुँचानेवाले पदार्थो से सुख या आनन्द। इन सुख-दुख देनेवाले द्वन्द्वो से परे हो जाने के लिए भगवान् कहते है। इस अध्याय के १४वे श्लोक मे शीत-उष्ण, सुख-दुख को अनित्य समझकर सहन करने के लिए कहा है। शकराचार्य कहते है

> **त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुर्**
> **व्यर्थं कुप्यसि सर्वसहिष्णु.।**
> **सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं**
> **सर्वत्रोत्सृज भेदाज्ञानम्॥**

—अर्थात् तुझमे, मुझमे और सबमे एक विष्णु यानी परमात्मा ही है। तू व्यर्थ क्रुद्ध हो जाता है। सृष्टि मे जो यह द्वन्द्व है, उसे सहन करता जा। प्राणिमात्र मे आत्मा को देख और सभी जगह भेदरूपी अज्ञान को त्याग दे।

इस श्लोक मे शकराचार्य ने द्वन्द्व से परे होने के लिए दो उपाय बताये है मेरे मे, तेरे मे और सबमे परमात्मा को देखने का अभ्यास करना और सुख-दुख देनेवाले भेदरूपी द्वन्द्व को बिना क्रोध किये, बिना उत्तेजित हुए, शात चित्त से सहन करना।

(२) **नित्यसत्त्वस्थः भव**—नित्यसत्त्वस्थ हो जा। इस सृष्टि मे सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते है। हमारा इनसे हमेशा सम्बन्ध आता है। उसे हम टाल नही सकते। इनमे सत्त्व-गुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखकर हम उसे बढाते है, विकास करते है, तो वह हमे ऊँचा उठाता है, हमारी उन्नति करता है। मगर सत्त्वगुण के बजाय यदि हमने रजोगुण और तमोगुण को बढाया, उसीका उत्कर्ष किया तो वे हमे नीचे ले जाते है, हमारी अवनति करते है। इसलिए भगवान् कहते है कि हमे निष्काम बनना है तो हमेशा सत्त्वगुण के साथ सम्बन्ध रखना होगा। प्रत्येक व्यवहार सात्त्विक करना होगा। सात्त्विक बोलना, खाना, कर्म करना, सात्त्विकता बढानेवाले सद्ग्रंथ पढना, सत्सग करना; यज्ञ, दान और तप सात्त्विक करना, सात्त्विक सुख लेना; सात्त्विक कर्ता बनना—इस तरह सात्त्विकता मे हमे हमेशा स्थित रहना चाहिए।

(३) **निर्योगक्षेम भव**—'योग-क्षेम' का सामान्य अर्थ है अन्न-वस्त्र की चिन्ता। अन्न-वस्त्र के बारे मे हरएक की कल्पना अलग-अलग होती है। हरएक का जीवन-स्तर अलग-अलग रहता है। परिवार को चलाने मे हरएक को आर्थिक निश्चिन्तता रहती है, सो बात नही। परिवार की परिस्थिति सबकी एक समान नही होती। अतएव यह चिन्ता का विषय हो जाता है। योग-साधना मे अन्न-वस्त्र की चिन्ता बडी भारी बाधा मानी जायगी। मनुष्य परिवार मे रहता है। परिवार मे माता-पिता, भाई-बहन, बाल-बच्चे होते है। मन मे सबमे अधिक आसक्ति

परिवार की रहती है । इसीलिए गीता के पहले अध्याय मे अर्जुन के लिए भी पारिवारिक मोह का ही प्रसग खडा किया गया है । पारिवारिक मोह या आसक्ति इतनी जवरदस्त रहती है कि अर्जुन जीवनभर जिस कर्तव्य का, धर्म का भलीभाँति पालन करता आया, उसीको छोडने के लिए क्षण-भर मे तैयार हो गया । वह पारिवारिक मोह के कारण स्वकर्तव्य से च्युत हो गया इसीलिए गीता के चौथे अध्याय के २२वे श्लोक मे जो **यदृच्छालाभसंतुष्टः** कहा है, वैसी वृत्ति रखनी चाहिए । 'यदृच्छालाभसतुष्ट' का सत तुलसीदास-जी ने अर्थ वतलाया है 'आठवी भक्ति यथा-लाभ सतोप है' । विनोवाजी उदाहरण देते है. 'घोडे पर वैठने के वाद अपना सामान घोड़े पर ही रखना चाहिए । लेकिन घोडे पर वैठने के वाद यदि कोई सामान को अपने सिर पर रखे तो वह मूर्ख सावित होगा । वैसे ही जिस परिस्थिति मे भगवान् ने हमे रखा है, उसमे अपनी आर्थिक परिस्थिति ठीक रखने के लिए कोशिश करते हुए जो स्थिति सहज मे रहे, उसमे सतोष रखकर चलने पर विना किसी वाधा के निष्काम वनने का योगाभ्यास चलेगा ।'

निर्योगक्षेम का दूसरा अर्थ भी है । 'योग-क्षेम' शव्द मे दो शव्द है योग और क्षेम । योग यानी 'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना' ओर क्षेम यानी प्राप्त वस्तु का रक्षण करना' । योग-साधना करनेवाले साधक का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है । मोक्ष अप्राप्त वस्तु है, उसे प्राप्त करना है, तो वह कव प्राप्त होगा, इसकी चिन्ता साधक को हो सकती ह । वैसे ही जो योग-भूमिका हासिल हुई, जो निष्कामता प्राप्त हुई है, वह कैसे टिक सकेगी, इसकी चिन्ता भी साधक को हो सकती है । तो भगवान् वता रहे है कि योग-साधना करने के विषय मे भी चिन्ता छोड देनी चाहिए । सव ईश्वर पर छोड-कर निश्चिन्त हो जाना चाहिए ।

(४) **आत्मवान् भव**—आत्मवान् यानी आत्म-निष्ठ । वृत्तियो का प्रवाह आत्मा, परमात्मा की तरफ होना चाहिए । हम सव देहनिष्ठ यानी देहासक्त रहते है । पर भगवान् कहते है 'देह की आसक्ति छोडकर परमात्मनिष्ठ रहो, परमात्मा की आसक्ति रखो ।' ७वे अध्याय के पहले श्लोक मे भगवान् ने 'मय्यासक्त' कहा है । देह की, रिश्तेदारो की, मित्रो की आसक्ति रखने के लिए भगवान् मना करते है । परमात्मा की आसक्ति के अलावा अन्य किसी वस्तु की आसक्ति रखते है, तो वह दु खदायक सावित होती है । परमात्मा की ही आसक्ति सिर्फ आनन्द देनेवाली है । रिश्ते-दारो के प्रति आसक्ति छोडने का मतलव यह नही कि उनके प्रति जो धर्म या कर्तव्य है, उसे छोड दे । उनके प्रति जो आसक्ति है, वही छोडना चाहिए ।

आत्मवान् का दूसरा एक अर्थ है, सावधान या जागृत होना । जो पुरुप परमात्मा मे निष्ठा रखता है वह अखण्ड जागृत या सावधान रहता है । विपयो मे आसक्त होने से अनेक कामनाओ के कारण हम सोये रहते है । इस सम्वन्ध मे आचार्य गौडपाद ने कहा है

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं वुद्ध्यते तदा ॥

—अर्थात् जव अनादिकाल से चली आ रही माया से, सोया हुआ जीव जागृत हो जाता है, तव जिसमे जन्म नही है, जिसमे निद्रा नही है, जिसमे स्वप्न नही है उस अद्वैत यानी परमात्मा को जान लेता है ।

अगले श्लोक मे वतला रहे है कि निष्काम-योग प्राप्त होने के वाद सकाम कर्म निरर्थक हो जाता है ।

: ४६ :

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत. ॥

सर्वत=सब ओर से, **सम्प्लुतोदके**=पानी ही पानी हो जाने पर, **उदपाने**=कुएँ का, **यावान्**=जितना, **अर्थः**= उपयोग होता है, उसका कोई प्रयोजन नही रहता, **तावान्**=वैसे ही, **विजानतः**=ज्ञानी अर्थात् परमात्मा का जिन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया, **ब्राह्मणस्य**=ऐसे ब्राह्मण को, **सर्वेषु**=सब, **वेदेषु**=वेदो का यानी सकाम कर्मो का, **अर्थः**=कोई प्रयोजन नही रहता ।

ससार मे रहकर कर्म दो प्रकार से किये जाते है १. सकाम कर्म और २ निष्काम कर्म । सकाम कर्म का फल अतिअल्प मिलता है और निष्काम कर्म का फल बहुत अधिक । सकाम कर्म से ससार-चक्र चालू रहता है, उसके बन्धन से मनुष्य छूट नही सकता । निष्काम कर्म से मनुष्य ससार-बधन से छूट जाता है । इस तरह सकाम और निष्काम दोनो कर्मो के फल परस्पर विरुद्ध है । इसलिए भगवान् इस श्लोक मे कह रहे है कि चारो ओर पानी ही पानी हो—नदी, झरने, तालाब का शुद्ध पानी बह रहा हो, तो कुएँ का उपयोग कोई नही करता । वैसे ही सकामता को त्यागकर, निष्कामता का अभ्यास करके जिन्होने निष्कामता प्राप्त कर ली—वैराग्य, भक्ति आदि की साधना करके जिन्होने परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया उन ज्ञानी, अनुभवी ब्राह्मणो के लिए स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से किये जानेवाले कर्मकाण्ड के यज्ञ-यागादि कर्म निरुपयोगी और निरर्थक हो जाते है । उन कर्मो का उपयोग ज्ञानी पुरुष के लिए कुछ नही । इस श्लोक मे 'ब्राह्मण' शब्द आया है । इस-से पता चलता है कि प्राचीन काल मे ब्राह्मणो की कितनी प्रतिष्ठा थी । परमात्मा की पहचान करनेवालो को, उसकी कोशिश करनेवालो को 'ब्राह्मण' कहा जाता था । सकाम-कर्मी ससार-बधन मे रहता है तो निष्काम-कर्मी उस बधन से छूट जाता है। निष्काम-कर्मी ससार त्याग देता है, ऐसी बात नही । वह ससार मे रहता है, लेकिन दृष्टि विशुद्ध हो जाने से उसकी वृत्ति केवल ससार तक ही सीमित नही रहती । 'केवल अपना ही ससार' यह मलिन दृष्टि निकल जाती है । स्त्री-पुत्र आदि परिवार की तरफ उसकी कर्तव्य-दृष्टि रहती है, मोह-दृष्टि नही । उनकी आसक्ति नही रहती । वह ब्रह्मचर्य का पालन करेगा । जनसेवा का कार्य करेगा । केवल अपने परिवार मे ही डूबा नही रहेगा । सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अलोभ, अपरिग्रह आदि यम-नियमरूप जीवन-सिद्धान्तो का भलीभाँति पालन करेगा । वानप्रस्थ का समय आने पर पारिवारिक जिम्मेवारी से मुक्त होकर पूरी तरह जन-सेवा-परायण हो जायगा । वैराग्य, भक्ति, निष्कामता प्राप्त होने से मृत्यु के समय वह देह की वेदना के कारण परमात्म-स्मरण से विचलित नही होगा । परमात्म-स्मरण करते हुए देह छोडेगा ।

अगले श्लोक मे भगवान् योग की चतु सूत्री कह रहे है

: ४७ .

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

ते=तुम्हारा, **कर्मणि**=स्वधर्मरूप कर्तव्य मे, **एव**= ही, **अधिकारः**=अधिकार है, **फलेषु**=फल मे, **कदाचन**= कभी भी, **मा**=तुम्हारा अधिकार न हो, इसलिए **कर्म-फलहेतु**=कर्मफल की इच्छा रखनेवाला, **मा, भू**=तू मत बन, **अकर्मणि**=और अकर्म मे, **ते**=तुम्हारी, **संग**= आसक्ति, **मा अस्तु**=न रहे ।

हरएक आदमी को स्वधर्म का पालन हर हालत मे करना ही चाहिए । स्वकर्तव्य-पालन किसी भी परिस्थिति मे छूट नही सकता । कर्तव्य का पालन करते हुए हरएक को अखण्ड शाति का अनुभव होना चाहिए । स्वकर्तव्य-पालन उसे बधन जैसा नही लगना चाहिए । स्वधर्म का पालन करते हुए चित्त मे काम, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकार पैदा होते है । ये विकार स्वधर्म का भलीभाँति पालन करते हुए भी

शाति को नष्ट कर देते है, अखण्ड शाति रहने नही देते। हर आदमी स्वकर्तव्य का पालन करता हुआ इसकी चिन्ता मे रहता है कि अखण्ड शाति किस तरह प्राप्त हो। भगवान् इस श्लोक मे स्वकर्तव्य का पालन करते हुए अखण्ड शाति किस तरह प्राप्त की जा सकती है, इसकी चाभी वता रहे है। जीवन की कला इस श्लोक मे वतायी है। भगवान् कहते है

(१) **कर्मणि एव ते अधिकार**, (२) **फलेषु कदाचन मा**। इस श्लोक के पहले चरण मे दो सिद्धान्त वताये है स्वधर्म-पालन मे ही तुम्हारा अधिकार है, उसीमे तल्लीन होना तुम्हारा कर्तव्य है। स्वधर्म-पालन यानी स्वधर्म-पालन का प्रयत्न, परिपूर्ण रीति से स्वधर्म-पालन तो सभव ही नही। स्वकर्तव्य-पालन मे कमियाँ, अपूर्णता न रहे, इसके लिए हमे पूरा प्रयत्न करना होगा, इसमे सन्देह नही।

भलीभाँति प्रयत्न करते हुए भी जव उसमे दोष रह जाते है, तो मन मे अशाति, दुख होने की सभावना रहती है। वह अशाति, वह दुख दूर करने के लिए क्या ध्यान मे रखना चाहिए, यह दूसरे सिद्धान्त मे वताया है। भगवान् कहते है कि कर्म के फल की यानी परिणाम की आसक्ति न रखो, क्योकि इच्छित फल प्राप्त होना तुम्हारे अधीन नही, वह भगवान् के अधिकार की चीज है। तुम्हारे अधीन सिर्फ प्रयत्न करना है। कर्म का फल प्राप्त होना हमारे प्रयत्न के अधीन नही रहता है, सो वात नही। कई चीजो की अनुकूलता हो तो इच्छित फल मिलता है। रोटी वनाने की ही वात ले, तो मालूम पडेगा कि पहले गेहूँ का आटा महीन होना चाहिए। आटा अच्छा होने पर भी यदि दो-तीन घटे पहले उसे गूँध कर न रखे तो रोटी मुलायम नही वनेगी। आटा छान न लिया गया हो तो आटे मे गेहूँ रह जाने से रोटी वेलते समय वीच मे गेहूँ आने से रोटी ठीक वेली न जा सकेगी। वेलन ठीक न हो तो रोटी ठीक से वेली नही जायगी। लकडी अच्छी न हो, गीली हो, कोयले ठीक न हो तो रोटी अच्छी नही सिकेगी। हवा जोर से चलने लगे तो रोटी के अच्छी तरह सिकने मे वाधा आयेगी। सव साधन ठीक होने पर भी रोटी वनानेवाले को रोटी वनाने का अभ्यास न हो, तो भी रोटी अच्छी नही वन सकती। रोटी वनाने जैसे मामूली कार्य की सफलता के लिए भी कितनी चीजो की अनुकूलता आवश्यक है ? इसलिए फल के वारे मे तटस्थ, अनासक्त रहना जरूरी है। इच्छित फल प्राप्त न होने से ही हमे दुख या अशाति का अनुभव आता है। लेकिन सिर्फ प्रयत्न पर खयाल रखते हुए हम उसके परिणाम, फल के वारे मे तटस्थ या अनासक्त रहे तो दुख को टाल सकते है। यह कर्मफलाशा-त्याग ही स्वधर्म-पालन की चाभी है। गाधीजी ने 'अनासक्ति-योग' की प्रस्तावना मे कर्मफलासक्ति के त्याग को ही गीता का सार वताया है। अव उसीमे से सहज निकलनेवाला तीसरा सिद्धान्त भगवान् वतला रहे है.

मा कर्मफलहेतुः भूः—केवल स्वधर्म-पालन का प्रयत्न करना ही हमारे अधीन है। उतना ही हमारा अधिकार है, फल पर हमारा अधिकार नही। वह हमारे अधीन नही, ईश्वर के अधीन है इसलिए सहज ही यह तीसरा सिद्धान्त उससे निकलता है कि कर्म के फल मे आसक्ति न रखो। जैसे रिश्तेदारो की आसक्ति भगवान् को मान्य नही, वैसे ही कर्मफल की आसक्ति भी मान्य नही है। भगवान् को सिर्फ परमात्मा की आसक्ति मान्य है। मनुष्य मे सत्त्व, रज, तम, तीन गुण रहते है। रजोगुण कहता है कि यदि कर्तव्य-कर्म करना है तो उसका फल मै अवश्य लूँगा, यानी फल की आसक्ति रखूँगा। तमोगुण कहता है, फलासक्ति छोडनी है तो कर्म ही छोड दूँगा। रजोगुण कर्म मे प्रवृत्ति करता है और फलासक्ति भी पैदा करता है। तमोगुण कर्म का ही त्याग करवाता है।

रजोगुण और तमोगुण दोनो का त्याग करके अपने मे सत्त्वगुण स्थिर करना है । यह सत्त्वगुण स्थिर हो जाय तो अहकार क्षीण होकर फलासक्ति नही रहेगी । इसलिए भगवान् इस श्लोक मे कह रहे है कि तुम कर्मफल की आसक्ति के निमित्त मत वनो, यानी फल की आसक्ति मत रखो । अव चौथा सिद्धान्त भगवान् कह रहे है

अकर्मणि ते सगः मा अस्तु—अकर्म-दशा प्राप्त करने मे तेरी आसक्ति न रहे । अकर्तापन यानी मोक्ष कव प्राप्त होगा, ऐसी आसक्ति न रखो । हम जव मोक्ष की साधना शुरू करते है तो मोक्ष-रूप फल प्राप्त करने मे आसक्ति होती है। वह कव मिलेगा, ऐसी अधीरता मन मे पैदा होती है । अपने जीवन मे हम स्वधर्मरूप वाह्य कर्म करते है। उस स्वधर्मरूप वाह्य कर्म के फल की आसक्ति छोडने के लिए भगवान् ने कहा है। इसका यह मतलव नही कि इस श्लोक मे वताया गया फलासक्ति के त्याग का सिद्धान्त सिर्फ स्वधर्माचरणरूप कार्य पर लागू करना है । वल्कि उसे जीवन की समस्त क्रियाओ पर लागू करना है । इसलिए आध्यात्मिक साधना पर भी वह सिद्धान्त लागू होता है। हम वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, ध्यान की साधना मोक्षरूप फल प्राप्त करने के लिए करते है ।

शकराचार्य कहते है **मोक्षेऽपि फले सगं त्यक्त्वा** अर्थात् मोक्षरूप फल मे भी आसक्ति छोडकर । मोक्षरूप फल की भी आसक्ति छोडनी होगी । चाहे कितने ही उच्च ध्येय के लिए क्यो न हो, आसक्ति रखने पर दु ख का अनुभव आयेगा ही । 'इतने सालो मे मै वडी लगन से साधना कर रहा हूँ, फिर भी भगवान् दर्शन नही देते, भगवान् का अनुभव नही आता ।' ऐसा विचार मन मे आते ही व्याकुलता वढेगी । व्याकुलता से दु ख होने लगेगा और साधना मे पहले जो तन्मयता थी, वह निकल जायगी । मन मे निराशा पैदा होगी, साधना की तीव्रता वढने के वजाय उसमे ढीलापन आयेगा। अत परमात्मा का अनुभव न आता हो, तो साधना की तीव्रता वढानी चाहिए । लेकिन परमात्मा के अनुभवरूप अतिम फल के वारे मे भी आसक्ति पैदा हो जाय तो साधना की तीव्रता वढना सभव नही । उसमे मन्दता ही आयेगी । इसलिए भगवान् यहाँ आखिर का चौथा सिद्धान्त वतला रहे है कि मोक्ष यानी परमात्मा की पहचान-रूप अतिम फल के वारे मे भी मन में पूरी तटस्थता रखे, तभी साधना सुचारु रूप से चलती रहेगी । दिन-प्रतिदिन उसमे तीव्रता वढती रहेगी, शिथिलता आने का कोई प्रसग नही आयेगा ।

गीता के इस श्लोक मे अतिम वाक्य है— 'अकर्म मे तेरी आसक्ति न हो' । सव टीकाकारो ने 'अकर्म' का अर्थ 'कर्म न करना' यही लिखा है । पू० गाधीजी, ज्ञानेश्वर महाराज, शकराचार्य तीनो ने यही अर्थ किया है । किन्तु विनोवाजी ने अकर्म का अर्थ 'अतिम अकर्म-दशा' यानी मोक्ष-दशा, अकर्तापन का अनुभव, यह किया है । इसी अर्थ के आधार पर इस श्लोक के इस अतिम वाक्य का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है ।

अगले श्लोक मे 'योग' की व्याख्या और योग मे स्थित होकर ही कर्म करने के लिए भगवान् कह रहे है

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

धनजय=हे अर्जुन, **सग**=आसक्ति, **त्यक्त्वा**=त्याग-कर, **सिद्ध्यसिद्ध्योः**=सिद्धि और असिद्धि के विषय मे यानी स्वधर्माचरणरूप कर्म और मोक्षरूपी साधना की सफलता-निष्फलता के वारे मे, **सम** =अनासक्त, **भूत्वा**=होकर, **कर्माणि**=स्वधर्माचरणरूप वाह्य कर्म, मोक्षरूप साधना के आतरिक कर्म और जीवन के सव कर्म, **कुरु**=करता रह । क्योकि **समत्व**=अनासक्त रहने को ही, **योग**=योग, **उच्यते**=कहा है ।

इस श्लोक मे भगवान् ने चार बाते बतायी है

(१) **योगस्थः कुरु कर्माणि**—योग मे स्थित होकर कर्म करो । योग यानी चित्त की समता । यह व्याख्या इस श्लोक के अतिम चरण मे ही कही गयी है । भगवान् कहते है कि जीवन की सारी क्रियाएँ योगस्थ होकर यानी चित्त की समता रखकर करो ।

(२) **सगं त्यक्त्वा**—चित्त की समता कैसे रखी जाय ? भगवान् कहते है सग त्यागकर यानी फल की आसक्ति छोडकर कर्म करो । इससे कर्म मे चित्त की समता कायम रहेगी । फल की आसक्ति ही आदमी के चित्त को डाँवाडोल बनाती है । ज्ञानेश्वर महाराज कहते है 'शुरू किया हुआ कर्म यदि सफल रहा तो उससे बहुत प्रसन्न नही होना चाहिए, बहुत सतोष नही मानना चाहिए । इसी तरह किसी निमित्तवश प्रारभ किया हुआ वह कर्म असफल रहा तो उससे दुःखी या खिन्न भी नही होना चाहिए । कर्म का आचरण करते हुए सफलता मिली तो अच्छा ही है । लेकिन किसी कारण सफलता न मिली तो वह अपूर्ण रहा, ऐसा समझे । क्योकि यदि सबका सब कर्म परमात्मा को अर्पण कर दिया जाता है तो उसे परिपूर्ण ही समझना चाहिए । इस तरह कर्म की सिद्धि और असिद्धि दोनो के प्रति जिसकी चित्तवृत्ति सम रहती है, श्रेष्ठजन उसकी योगस्थिति की सराहना करते रहते है ।'

(३) **सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा**—कर्म सफल हो या निष्फल, दोनो परिणामो के बारे मे, जैसा कि ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा है, वैसी वृत्ति रखनी चाहिए । फल की आसक्ति छोडने के लिए यानी अपेक्षित फल मिले या न मिले, उसके बारे मे वृत्ति तटस्थ रखने के लिए जब भगवान् कहते है तो सवाल उठते है कि कर्म सफल हो, इसके लिए कोई योजना बनायी जाय या नही ? कर्म अच्छा ही होना चाहिए, इसका आग्रह रखने की जरूरत है या नही अथवा कर्म चाहे जैसा करने से चलेगा ?

आदमी फल की आकांक्षा से ही अच्छा कर्म करने मे प्रवृत्त होता है । किसान को पता चले कि इस साल बरसात नही होनेवाली है, तो शायद वह खेत जोतने आदि के झझट मे न पडेगा । इसलिए यह अच्छा ही है कि कर्म सफल होगा या नही, इसका पता पहले से नही चलता । अनुभव यह है कि कर्म-फल की इच्छा मे ही आदमी कर्म करने या उसे अच्छा करने मे प्रवृत्त होता है । भगवान् सिर्फ फल की आसक्ति छोडने के लिए कहते है, फल छोडने के लिए नही । फल की यह आसक्ति दुःखदायी है, इसीलिए उसे छोडना है । लेकिन आसक्ति से यदि आनन्द मिलता हो तो उसे रखने मे कोई आपत्ति नही । मगर आदमी को हमेशा यही अनुभव आता है कि आसक्ति हमेशा दुःख देती है । इस-लिए कर्म ढग से करना हो तो उसका अपेक्षित फल अच्छी तरह मिले, इसकी योजना व्यवस्थित रूप से पहले से बना लेनी चाहिए । अपेक्षित फल की प्राप्ति का आग्रह भी बराबर रहना चाहिए । लेकिन इस आग्रह के साथ मन मे अनाग्रह भी रखना चाहिए । इसका क्रम यह है कि पहले आग्रह और बाद मे अनाग्रह । दोनो साथ-साथ एक के पीछे एक चलते रहे । आग्रह से योजना बनेगी, कर्म मे दक्षता आयेगी, जागृति रहेगी, लापरवाही नही होगी तो अनाग्रह से फलप्राप्ति के विषय मे तटस्थता रहने से दुःख का अनुभव भी नही होगा । कर्म करते हुए अखण्ड शाति रहेगी । इस विषय मे पू० विनोबाजी तीन बाते ध्यान मे रखने के लिए कहते है । वे कहते है (१) जो कर्म हम करते है, उसका फल मिलना चाहिए, ऐसा मन मे आग्रह रखकर बडी कुशलता से कर्म करना चाहिए । लेकिन (२) अपेक्षित फल न मिले तो मन की समता ढलने नही देनी चाहिए । और (३) अपेक्षित फल मिलने पर उससे अपने को अलग कर लेना चाहिए ।

यानी हम कर्म के कर्ता नही, अकर्ता है यह समझते हुए कर्म-फल ईश्वर को अर्पण कर अलग हो जाना चाहिए ।

(४) अन्त मे भगवान् सक्षेप मे योग की व्याख्या करते है **समत्वं योग उच्यते** । फल के वारे मे चित्त को सम रखना, अनासक्त रखना, तटस्थ रखना, अहंकाररहित रखना ही योग है । शास्त्र इसी वृत्ति को 'योग' कहता है ।

अगले श्लोक मे भगवान् वतला रहे है कि सकामता यानी फलासक्ति की अपेक्षा निष्कामता यानी फल मे अनासक्ति श्रेष्ठ है

: ४९ :

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।।

धनजय=हे धनजय, **बुद्धियोगात्**=बुद्धियोग से यानी समत्व-वुद्धियोग से किये हुए कर्मो की अपेक्षा, **कर्म**=सकाम कर्म, **दूरेण हि**=अत्यन्त, **अवर**=निकृष्ट है, **अत**=इसलिए, **बुद्धौ**=निष्कामवुद्धि को, **शरणं**=शरण, **अन्विच्छ**=आ, निष्काम वनने की कोशिश कर, **फलहेतवः**=फलासक्ति रखनेवाले कर्मठ पुरुष, **कृपणाः**=कृपण है, ऐसा समझो ।

उपनिपद् मे कहा है

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।

अर्थात् यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोडे है, विषय उन इन्द्रियरूपी घोडो को चलने के लिए मार्ग है । मन घोडो के लिए लगाम है, वुद्धि रथ का सारथि है और रथ मे वैठा रथ का स्वामी-मालिक आत्मा, परमात्मा है ।

रथ सुचारु रूप से चलने के लिए रथ का स्वामी जो परमात्मा या हम है, वुद्धिरूपी सारथि को उसके अधीन होना चाहिए । यानी भीतर से परमात्मा की जैसी प्रेरणा मिले, उसीके अनुसार वुद्धिरूपी सारथि चलता रहे, ऐसी स्थिति होनी चाहिए । परमात्मा के अधीन वुद्धि, वुद्धि के अधीन मन, मन के अधीन इन्द्रियाँ—इस प्रकार क्रम हो । लेकिन अनुभव यह आता है कि हमारा रथ मन के अधीन ही चलता है । वुद्धि का कार्य सिर्फ निर्णय लेना है । वुद्धि द्वारा लिये निर्णय को अमल मे लाना मन का कार्य है । वुद्धि विचारात्मक है तो मन भावनात्मक और विकारात्मक । वुद्धि यदि आत्मनिष्ठ रहती है तो निर्णय सही रहेगा । लेकिन पहले तो हमारी वुद्धि परमात्मा की प्रेरणा से नही चलती, वह आत्मनिष्ठ, परमात्मनिष्ठ नही रहती । वुद्धि परमात्मनिष्ठ हो भी जाय तो मन वुद्धि के अधीन रहने के लिए तैयार नही । यही सारा मामला रुका-सा रहता है । वुद्धि के निर्णय के अनुसार चलने का अभ्यास मन को नही होता । इसका कारण है मन का इन्द्रियो के अधीन रहना । इसीलिए वह वुद्धि के निर्णय को अमल मे नही लाता ।

आज एक दिन का उपवास करना है ऐसा निर्णय वुद्धि ने किया तो वह शाम को टूट जाता है । वुद्धि का यह निश्चय किसने तोड़ा ? बीच मे रुकावट डालनेवाला मन खडा हुआ । उसने अपने को मनाया कि शाम को भूख लगी है, अव उपवास की जरूरत नही । दरअसल मन मे खाने की जो प्रवल इच्छा है, उसने जोर किया तो मन उसके अधीन हो गया । इन्द्रियाँ मन को लुभाने की कोशिश करती है । मन इन्द्रियो के वश रहकर हमेशा विकार के अधीन होता है, इसलिए वुद्धि का उस पर नियन्त्रण नही चलता ।

इसीलिए ज्ञानेश्वर महाराज ने समत्ववुद्धि की सुन्दर व्याख्या करते हुए वडी मार्मिकता से कहा है 'चित्त की समता ही योग का सार है, रहस्य है, जिस योगस्थिति मे मन और वुद्धि एक हो जाते है, यानी मन और वुद्धि का सघर्ष मिट जाता है ।' चित्त की निष्काम-अवस्था मे मन

बुद्धि के अधीन हो जाता है। बुद्धि के अधीन मन रहने लगे तो चित्त को योगस्थिति प्राप्त हो गयी, ऐसा समझना चाहिए। इस निष्कामतारूपी योग-स्थिति मे रहकर यदि जीव की सारी क्रियाएं, जीवन के छोटे-बडे सभी कार्य चलते रहते है तो इस स्थिति के मुकाबले मे सकाम कर्म निकृष्ट समझे जायँगे।

भगवान् इस श्लोक मे तीन बाते बता रहे है (१) निष्काम कर्मरूप योगस्थिति से यानी योगबुद्धि की अपेक्षा सकाम कर्म बहुत ही निकृष्ट है। इसलिए (२) तू इस योगबुद्धि की शरण जा। यानी निष्कामता की पराकाष्ठारूप यह योग-स्थिति प्राप्त करने की कोशिश कर। (३) क्योंकि फल की इच्छा, आसक्ति रखकर कर्म करनेवाले कृपण यानी दीन है, भिखारी है। निष्कामता मे जो अखण्ड सुख और परम शांति है, उसका अनुभव न आये तो हम सुख के विषय मे भिखारी बन जाते है। फिर भिखारी जैसे घर-घर भीख माँगता फिरता है, वैसे ही हम सुख के लिए अनेक कामनाओ के पीछे पड़ते है। भिखारी को घर-घर भटकना पडता है, क्योंकि एक जगह से उसे पूरा नही मिलता। वैसे ही एक कामना से पूरा सुख न मिलने के कारण अनेक कामनाओ से सुख प्राप्त करने की हम कोशिश करते रहते है। इसलिए हम कुछ सुख भोजन से लेगे, कुछ सुख सिनेमा देखकर लेगे, कुछ ताश खेलकर तो कुछ मित्रो के साथ उधर-इधर की बाते करके लेगे। ऐसी अनेक कामनाओ के पीछे पडकर भी हमे पूरा सुख मिलता हो, सो बात नही। मगर निष्काम बनने मे जो अखण्ड सुख मिलता है, उसका अनुभव न मिलने के कारण दूसरा कोई रास्ता हमारे लिए नही रहता। अनेक प्रकार की इच्छाएँ मन मे रखकर हम सुख प्राप्त करने की कोशिश करते रहेगे। भगवान् ऐसे लोगो को 'कृपण' यानी दीन कह रहे है।

योगस्थिति मे रहकर जो जीवन जीते है, उन्हे पाप-पुण्य का बन्धन नही लगता, यह बात अगले श्लोक मे कहते है.

: ५० :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग. कर्मसु कौशलम्॥

बुद्धियुक्त.=समत्व-बुद्धि से युक्त, निष्कामतारूप योग-स्थिति मे स्थित पुरुष, **इह**=इस लोक मे, **सुकृत-दुष्कृते**= पुण्य और पाप, **उभे**=दोनों, **जहाति**=छोड देता है, **तस्मात्**= इसलिए, **योगाय**=निष्कामतारूप योगस्थिति प्राप्त करने के लिए, **युज्यस्व**=प्रयत्न कर। **योग**=यह समतारूप योग ही, **कर्मसु**=कर्मो मे, जीवन मे, जीवन की सारी क्रियाओ मे यानी जीवन की सारी क्रियाएँ करते हुए, **कौशलम्**= निष्कामतारूप योग प्राप्त करना ही जीवन का सारा कौशल है यानी इसीमें सारी कुशलता निहित है।

पिछले श्लोक मे 'कृपण' शब्द आया है। उपनिषद् मे कृपण का बहुत अच्छा अर्थ बताया है **यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपण.**—अर्थात् हे गार्गी, जो सचमुच इस अक्षर-अविनाशी ईश्वर को न जानते हुए देह छोडकर इस लोक से चला जाता है, वह पुरुष कृपण है।

इस श्लोक मे भगवान् ने तीन बाते बतायी है

(१) जिन्होने निष्कामतारूप योग-स्थिति प्राप्त की, वे पाप-पुण्य के बन्धन से मुक्त रहते है। जिन्होने निष्कामता प्राप्त की, परमात्मा को पहचान लिया, उनसे पाप-कर्म कभी हो ही नही सकता। पाप-कर्म करते हुए अलिप्त रहना, ऐसा अर्थ करना अनर्थ है। झूठे साधु-सन्यासियो ने वेदान्त का इसी तरह दुरुपयोग किया है। काम-क्रोधादि प्रबल विकारो से जो मुक्त हो गया, उससे पाप-कर्म, अनाचार कभी नही होगा, यह बात सहज ही सबके समझ मे आने जैसी है।

ज्ञानी या निष्काम पुरुष से पाप-कर्म कभी होगा नही, यह निश्चित है। जिस तरह पाप-

कर्म ज्ञानी कभी नही करेगा, वैसे ही पुण्य-कर्म भी वह नही करेगा, निष्क्रिय रहेगा, ऐसी कई लोगो की कल्पना है। किन्तु यह कल्पना गलत है। पाप-कर्म न करते हुए और पुण्य-कर्म कभी न छोडते हुए यानी अखण्ड पुण्य-कर्म करते हुए जिन्होंने निष्काम वनने या ज्ञान प्राप्त करने की साधना की, वे निष्कामता और ज्ञान प्राप्त होने के वाद पुण्य-कर्म कैसे छोडेगे ?

विनोवाजी कहते है कि पुण्य-कर्म करते हुए उससे ज्ञान प्राप्त होने का मतलव हुआ कि पुण्य-कर्म ज्ञान के लिए माता के समान है। तव ज्ञान प्राप्त होने के वाद पुण्य-कर्म छोडने का मतलव होगा, ज्ञानी पुरुष ने पुण्य-कर्मरूपी माता की हत्या की। इससे तो उसे मातृहत्या का पाप लगेगा। इसलिए निष्कामता प्राप्त होने के वाद पुण्य-कर्म सहज हो जाता है, यही मानना चाहिए। साधकावस्था मे पुण्य-कर्म का थोडा वोझ महसूस होने की सभावना रहती है, क्योकि अभी वह सहज नही है। लेकिन पुण्य-कर्म, सात्त्विक कर्म अखण्ड करते-करते जव निष्कामता और ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तव पुण्य-कर्म का थोडा वोझ उतर जाता है और वह वैसे ही सहज वन जाता है जैसे श्वासोच्छ्वास। श्वासोच्छ्वास की क्रिया इतनी स्वाभाविक होनी है कि हमे उसका थोडा-सा भी वोझ महसूस नही होता। वैसे ही सात्त्विक कर्म, लोकसेवा-कर्म ज्ञानी पुरुष का स्वभाव हो जाता है।"

साराश, निष्काम पुरुष पाप-कर्म कभी नही करेगा और न पुण्य-कर्म ही कभी छोडेगा। लेकिन चूंकि वह निष्काम वन गया है, उसे परमात्मा की पहचान हो गयी है, इसलिए पुण्य-कर्म करते हुए भी वह उसके वन्धन मे नही फँसेगा, पुण्य-कर्म के वन्धन से मुक्त रहेगा। भगवान् ने इस श्लोक मे यह एक वात वतायी।

(२) दूसरी वात यह कि यदि पुण्य-कर्म, सात्त्विक कर्म करते हुए उसके वन्धन से छूटना है तो हमे निष्कामता, निर्विकारता, समतारूप योग-स्थिति प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। अर्जुन को निमित्त वनाकर हम सवके लिए भगवान् कह रहे है कि योग के लिए कोशिश करो।

(३) योग की साधना कर्म के लिए करनी चाहिए, यह तीसरी वात है। भगवान् कहते है कि जीवन का सारा लक्ष्य योग-प्राप्ति के लिए कोशिश करना, उसीकी साधना करना और स्वधर्म या स्वकर्तव्य का भलीभॉति पालन करते हुए निष्कामतारूप फल के विपय मे अनासक्तिरूप योग प्राप्त करना ही होना चाहिए। यदि यह जीवन का लक्ष्य रहा तो जीवन की कुशलता सध गयी, यह समझ ले। योग प्राप्त करना ही जीवन का कौशल है, यही जीवन का सार है।

गाधीजी का कहना है कि यदि भीतर से हम निष्काम हो गये हो, निर्विकारता की, चित्तशुद्धि की पराकाष्ठा तक पहुँच गये हो, तो हमारा जो भी काया, वाचा, मनसा कार्य होगा—चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल—वह सुन्दर ही होना चाहिए। भीतर योगरूपी कुशलता सध गयी, तो उसका वाह्य परिणाम यही होगा कि सारा स्वधर्मरूपी कार्य उत्कृष्ट होगा। उसमे कोई कमी नही रहेगी। समाज मे यह मान्यता जारी ह कि 'सिद्धपुरुष का ध्यान भीतर परमात्मा मे लगा रहता है, इसलिए ससार मे आसक्त पुरुप जितनी दक्षता-कुशलता से सव कार्य करेंगे, उतनी कुशलता-दक्षता से अनासक्त पुरुप कार्य नही करेगा। अतएव उसके कार्य मे अव्यवस्थितपन अवश्य दिखाई देगा।' इतना ही नही, वहुत व्यवस्थित कर्म करनेवाले पुरुप को समाज सिद्धपुरुप मानने के लिए भी तैयार नही रहता। लेकिन गाधीजीने इस धारणा को वदल दिया है। वे भीतर हरि-स्मरण मे रँग गये थे, साथ ही कार्य करने मे इतने दक्ष और कुशल भी थे कि उनका मुकावला शायद ही कोई कर सके। इसलिए गाधीजी योग

की दुहरी व्याख्या करते है : १. चित्त की समता और २ उससे उत्पन्न बाह्य कर्म-कुशलता । दोनो मिलकर पूर्णयोग हो जाता है ।

विनोबाजी 'गीता-प्रवचन' के दूसरे अध्याय मे यही बात कहते है । वे कहते है कि सकाम पुरुप की अपेक्षा निष्काम पुरुप का कर्म अधिक उत्कृष्ट और सुन्दर होना चाहिए । फलासक्त पुरुप की थोडी-सी शक्ति आसक्ति मे खर्च हो जाती है, लेकिन जिसने अनासक्ति साध ली, उस पुरुष की सारी शक्ति कार्य मे ही लग जाती है । इसके अलावा सकाम पुरुप कर्म को स्वार्थ की दृष्टि से देखता है । 'मै कर्म करता हूँ, मुझे उसका फल मिलना चाहिए' इस आसक्ति से किये कर्म का अपेक्षित फल न मिलने पर वह कर्म करने मे शिथिल पड़ जाता है । लेकिन अनासक्त पुरुप अपेक्षित फल न मिलने पर शिथिल होने के वजाय अधिक उत्साह से कई गुना अधिक अच्छा कर्म करता है ।

शकराचार्य कुशलता की व्याख्या इस प्रकार करते है **तद्धि कौशलं यद्वन्धनस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावान्निवर्तन्ते**—अर्थात् कुशलता उसीको कहेगे जिनका वन्धन मे डालना ही स्वभाव है, ऐसे सासारिक स्वधर्मरूप कर्म भी अनासक्त-बुद्धि से किये जाने पर वन्धन मे डालने का अपना स्वभाव खो देते है ।

अगले श्लोक मे समत्व-बुद्धि का कितना भारी फल मिलता है, यह वतला रहे है .

: ५१ :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः पद गच्छन्त्यनामयम् ॥

वुद्धियुक्ताः=निष्काम-बुद्धि से युक्त विवेकी पुरुप, **कर्मज**=कर्म से पैदा होनेवाले, **फल**=सुख-दुःख-रूपी फल को, **त्यक्त्वा**=त्याग करके, **हि**=फलासक्ति के त्याग के कारण, **मनीषिण**=मन के स्वामी वनकर, और **जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः**=जन्म और वन्धन से छूटकर, **अनामयं**=उपद्रवरहित, सुख-दुःखरहित, **पदं**=परमात्मरूप, मोक्षरूप स्थान को, **गच्छन्ति**=प्राप्त कर लेते है ।

इस श्लोक मे चार वातें वतलायी है :

(१) जिन्होने समत्व-बुद्धि, निष्कामता प्राप्त कर ली है, वे कर्मजन्य सुख-दुःखरूप फलो को सहज ही छोड देते है । कर्म के दो फल है . पहला फल है सफलता या निष्फलता । कर्म सफल हो, इसीकी हरएक आदमी कोशिश करता है । जब हम कर्म की सफलता मे आसक्त हो जाते है, तो वह सफल न होने पर दुःख होने लगता है और कर्म सफल होने पर हम सुख का अनुभव करने लगते है । इस तरह कर्म की सफलता मे सुख होना और निष्फलता से दुःख होना कर्म का दूसरा फल हुआ । कर्म का सफल होना या निष्फल होना कई चीजो पर निर्भर होता है। इसलिए कहना पडता है कि कर्म का सफल होना या निष्फल होना ईश्वर के अधीन है । हमारे अधीन प्रयत्नमात्र करना है । जो चीज हमारे अधीन नही, उसके वारे मे हमे तटस्थ, अनासक्त ही रहना चाहिए । इस तरह सफलता और निष्फलता के विषय मे जब हम तटस्थ हो जाते है, अनासक्त रहते है तो कर्म का दूसरा आन्तरिक फल सुख-दुःख सहज ही टल जाता है ।

(२) इस तरह सफलता-निष्फलता के विषय मे पूरे तटस्थ रहकर कर्म के सुख-दुःखरूप फल को छोड देते है तो दूसरी चीज यह सधती है कि हम **मनीषिणः** यानी मन के स्वामी, मालिक वन जाते है । जब तक सफलता-निष्फलता के वारे मे हम पूरे अनासक्त नही रहते, तव तक मन के दास रहते है । बुद्धि परमात्मा के अधीन, मन बुद्धि के अधीन और इन्द्रियाँ मन के अधीन, इस प्रकार हमारा जीवन चले तो खुद शून्य वनकर परमात्मा के अधीन हो जाते है । फिर हमारे चित्त मे फलासक्ति रहेगी ही नही । इसीसे मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब पर हमारा काबू आ जाता है ।

सारी इन्द्रियो पर हमारा काबू आते ही हम **मनीषिणः** बन गये।

(३) मनीषी बनने पर दो प्रकार का फल मिलता है। भगवान् कहते है कि जब हम 'मनीषिण' बनते है तो जन्म-मरणरूप ससार से छूट जाते है, यह एक अर्थ हो गया। लेकिन यदि जन्म मिला तो कर्मरूप बन्धन से मुक्त हो जाते है, ऐसा दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है। भगवान् अवतार लेते है, इसका मतलब यह हुआ कि जन्म कोई बन्धन मे डालनेवाली चीज नही है। किन्तु जन्म मिलने के बाद हम अज्ञान मे रहते है, हमे भगवान् की पहचान नही रहती, इसीसे जन्म बन्धनरूप लगता है। ईश्वर की पहचान हो जाय, तो जन्म आनन्द का साधन बन सकता है। लेकिन जब तक परमात्मा की पहचान नही होती, अज्ञान रहता है, तब तक हरएक को दुःख का अनुभव होता है, इसीसे जन्म बन्धनरूप लगता है। इससे यह ध्यान मे आयेगा कि जन्म से मुक्ति या बन्धन से मुक्ति दोनो अर्थ हो सकते है। जन्म के बन्धन से मुक्ति यह एक फल हुआ।

(४) मनीषी बनने पर दूसरा फल यह मिलता है कि **अनामय** यानी जहाँ बिलकुल तकलीफ नही, जहाँ आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का अनुभव आता है, ऐसी सुखमय आनन्दमय अवस्था। जिसे 'मोक्ष' कहते है, वह पद या स्थिति जीते जी प्राप्त होती है। आमय यानी रोग, अनामय यानी नीरोग-अवस्था। मोक्ष नीरोग-अवस्था है। हम अपने परमात्मस्वरूप मे लगे रहते है, तब तक सर्वथा स्वस्थ और नीरोग रहते है। लेकिन जब हम परमात्मा को छोडकर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप समझकर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ लगे रहते है, तो मन से रोगी बन जाते है। सत्सगति से परमात्मा की पहचान हो जाने पर उसकी परम-भक्ति से हम फिर स्वस्थ बन जाते है और यही मोक्ष है।

मोह छोडने से कौन-सी स्थिति प्राप्त होगी, यह अगले श्लोक मे बताते है :

: ५२ :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

यदा ते बुद्धिः=जब तुम्हारी बुद्धि, **मोहकलिल**=मोहरूपी मल को, **व्यतितरिष्यति**=लाँघ जायगी, पार कर जायगी, **तदा श्रोतव्यस्य**=तब सुननेयोग्य शास्त्र-वचन, **च श्रुतस्य**=और सुने हुए शास्त्र-वचन, दोनो के बारे मे, **निर्वेद**=तुम्हे वैराग्य आयेगा, दोनो तुम्हारे लिए निष्फल साबित होगे।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है :

(१) मोहरूपी मल को जब हमारी बुद्धि पार कर जायगी यानी मोह से मुक्त हो जायगी तब (२) इधर-उधर के जो शास्त्रवचन हमने अब तक सुने होगे और भविष्य मे सुनेगे, उनके बारे मे वैराग्य आयेगा यानी उन वचनो से हमारी बुद्धि उलझन मे नही पड़ेगी।

हम ससार मे रहते है। उसमे अनुकूल, प्रतिकूल नाना प्रकार के प्रसग बनते रहते है। हमारी बुद्धि तटस्थ नही रह पाती। होनहार लडका बीमार पड़ गया तो उसके प्रति मोह रहने मे हम चिन्ता मे पड जाते है। लडका परीक्षा मे फेल हो जाता है तो दुःख होता है। 'मेरा लडका' यह ममतारूपी मोह आघात, दुःख पैदा करता है। 'मेरा लड़का' इस मोहरूपी कीचड मे हमारी बुद्धि फँस जाती है। 'कीचड' शब्द भगवान् ने जान-बूझकर इस्तेमाल किया है, क्योकि कीचड़ मे फँसने पर उसमे से झट निकला नही जा सकता। उसके लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। लेकिन भगवान् की कृपा से हमे अच्छे सन्त का सत्सग मिल जाय तो मोहरूपी कीचड से भी निकल सकते है। हमारी बुद्धि मोहरूपी कीचड को, मल को पार कर जाती है—मोह यानी मूढता, मूर्च्छा। हमारे

चित्त मे जो ममता रहती है, वही मूढता, मूर्च्छा या वेहोशी पैदा करती है, चित्त को डॉवाडोल कर उलझन, चिन्ता और अस्वस्थता मे डाल देती है। लेकिन सत्सगति के कारण मोह से निकलने की युक्ति, चाभी हाथ लग जाती है। अर्थात् जो शास्त्र के अनेक वचन हमने अव तक सुने और आगे भी सुनने मे आयेगे, उनमे सत्य क्या है, यह परखने की शक्ति मिलती हे। कोई भी शास्त्रवचन हमारे सामने आये, उससे हम उलझन मे नही पडते। शास्त्र-वचन कई तरह के होते है, परस्पर विरुद्ध भी होते है। शास्त्र-वचनो का सही अर्थ ध्यान मे आने मे रुकावट है, चित्त मे स्थित मोहरूपी मल। दो और दो मिलकर चार होते है, यह ध्यान मे आना जितना सरल है, उतनी ही सरलता से धर्म के कुछ सिद्धान्त ध्यान मे आ सकते है। मगर पाया यह जाता है कि जिनका चित्त मोह-ग्रस्त रहता है, उन्हे सीधी-सरल चीज भी उलटी ही समझ मे आती है। कई वुद्धिमान् लोग मोह के अधीन या अहकार-ग्रस्त होने के कारण सीधे के वदले टेढा रास्ता अपना लेते है। जहाँ अहकार को ठेस लगी, उनका चित्त डॉवाडोल हो जाता है। जहॉ चित्त डॉवाडोल हो गया, सही निर्णय करना असभव हो जाता है। इसलिए शास्त्र-वचनो का सही अर्थ तभी ध्यान मे आता है, जव वुद्धि मोहरहित होकर निर्मल हो जाय। इसलिए शास्त्र को ठीक तरह से समझना हो, तो विशुद्ध-चित्त पुरुप के पास जाकर समझने की कोशिश करनी चाहिए। जिनके चित्त से अहकार निकल गया है, जो काम-क्रोधादि विकारो से मुक्त है, जिनका जीवन ब्रह्मचर्यमय है, पहले गृहस्थाश्रमी होने पर भी सप्रति जिनका वानप्रस्थ-जीवन चल रहा है, जो सरल-चित्त है, ऐसे पुरुपो से शास्त्र समझने पर उसका उपयोग मोह दूर करने मे होगा और मोह दूर होने के वाद उनके लिए शास्त्र की जरूरत भी नही रहगी।

: ५३ :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला वुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना=शास्त्र की वाते वहुत सुनने मे उल-झन मे पडी हुई, **ते वुद्धिः यदा**=तुम्हारी वुद्धि जव, **निश्चला अचला**=निश्चल, स्थिर, सकल्प-विकल्प-रहित (होकर), **समाधौ**=समाधि मे, **स्थास्यति**=स्थिर हो जायगी, **तदा योगम्**=तव योग को, **अवाप्स्यसि**=तुम प्राप्त करोगे।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी गयी है

(१) सामान्य ससारी मनुष्य की स्थिति कभी-कभी वडी दयनीय हो जाती है। कुछ लोग ससार मे पूरी तरह फँसे रहते है। उससे निकलने की इच्छा ही उनमे पैदा नही होती। लेकिन कुछ लोग ससार मे रहते हुए भी अलिप्त कैसे रहे, इस चिन्ता मे रहते है—उनका चित्त व्याकुल रहता है। प्रकट रूप मे ससार छोड नही पाते, लेकिन छूटने की तीव्र लालसा रहती है। चित्त मोहग्रस्त रहता है, अत स्वतन्त्र रूप से शास्त्र के अध्ययन की योग्यता उनमे नही होती। वहुतो की वुद्धि इतनी विकसित नही होती कि शास्त्र समझ सके। लेकिन परमात्म-विपयक जिज्ञासा वनी रहती है। ऐसे ससारी जीवो के लिए समस्या कठिन हो जाती है।

साधु-सतोका समागम भी मुश्किल वात है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते है

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।
चितवहिं रामकृपा करि जेही॥

जिन पर राम-कृपा होती है, उन्हीको विशुद्ध सतो का समागम होता है। तुलसीदासजी को सत के पीछे भी 'विशुद्ध' शव्द लगाना पडा, हालाँ कि सत का अर्थ ही विशुद्ध-चित्त होता है। सत के वेश मे झूठे सत भी फिरते है, इसीलिए उन्हे 'विशुद्ध' विशेषण लगाना पडा। प्यासा आदमी शुद्ध जल न मिलने पर अशुद्ध जल भी पी लेता है। ऐसी

ही स्थिति ससारी जिज्ञासु की हो जाती है। अर्जुन की स्थिति भी ऐसी ही थी। उसने शास्त्र की बाते काफी सुनी थी। उसीसे कुछ गलत कल्पनाएँ उसके मन मे बैठ गयी थी। जब मोह ने उसे घेर लिया और अपना स्वकर्तव्य, स्वधर्म छोडने के लिए वह तैयार हो गया, तब श्रीकृष्ण के सामने अपनी बात दृढता से पेश करने के लिए उसने सुने सुनाये शास्त्र-वचनो का आधार लिया।

अर्जुन के जमाने मे कर्मकाण्ड की काफी प्रबलता थी। इसी अध्याय के ४२, ४३, ४४, इन तीन श्लोको मे इन कर्मकाण्डियो का वर्णन है। गीता के पहले अध्याय के ४० से ४४ तक के श्लोको मे अर्जुन ने कर्मकाण्डियो की ही दलीले दी थी। शास्त्र का अध्ययन तो उसका था नही। भगवान् श्रीकृष्ण उसके पास थे, इसलिए आखिर मे वह उन्हींकी शरण गया। अर्जुन ने शास्त्र की बहुत-सी बाते सुनी थी, इसलिए उसकी बुद्धि भ्रमित हो गयी थी और वह सही निर्णय नही कर पा रहा था। इसीको ध्यान मे रखकर भगवान् ने इस श्लोक मे पहले कहा कि तुम्हारी बुद्धि बहुत सुनने से भ्रमित हो गयी है। उससे मुक्त होकर जब वह स्थिर हो जायगी, विक्षेपरहित हो जायगी निश्चययुक्त हो जायगी, तभी वह परमात्मा की तरफ मुडेगी।

एक प्रोफेसर कहने लगे "जो भी धार्मिक किताब पढता हूँ, वही सही लगने लगती है। गाधीजी की, विनोबाजी की किताबे पढता हूँ, तब उनका लिखा सब सत्य लगता है और श्री अरविंद की, श्री रमण महर्षि की या श्री कृष्ण-मूर्तिजी की किताबे पढता हूँ तो वे भी सत्य लगने लगती है।" जब तक बुद्धि मोहग्रस्त रहती है, तब तक उन प्रोफेसर की या अर्जुन की जो स्थिति हुई, वही सबकी स्थिति रहती है। इसलिए भगवान् का उलहना उचित ही है कि जब तक बुद्धि मे विचारो की स्थिरता नही आती, बुद्धि नि शक नही हो जाती, तब तक वह कभी ईश्वर मे लीन नही हो सकती।

(२) दूसरी बात यह है कि बुद्धि का भ्रम दूर हो जाने पर वह परमेश्वर मे स्थिर होगी, तल्लीन हो जायगी।

(३) तीसरी बात यह कि जब बुद्धि परमात्मा मे डूब जायगी, तब साम्यावस्था या निष्कामता की अन्तिम अवस्था प्राप्त होगी। 'समाधि' शब्द का उल्लेख भगवान् द्वारा होने से अर्जुन को प्रश्न पूछने की इच्छा हुई।

अगले श्लोक मे अर्जुन का प्रश्न आ रहा है। यहाँ से अध्याय के आखिर तक **स्थितप्रज्ञ-प्रकरण** है।

: ५४ :

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

केशव=हे केशव !, **समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य**=समाधि मे स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुष के, **का भाषा ?**=क्या लक्षण है ? **स्थितधी**=स्थित-धी यानी स्थितप्रज्ञ पुरुष, **किं प्रभाषेत**=कैसे बोलता है ? **किं आसीत**=कैसे रहता है, **किं व्रजेत**=कैसे चलता है ?

'स्थितप्रज्ञ' गीता का अपना शब्द है। गीता से पहले उपनिषद् या वैदिक ग्रन्थो मे या अन्य धार्मिक साहित्य मे यह शब्द कही नही मिलता। स्थितप्रज्ञ वह है, जिसकी बुद्धि स्थिर है। लेकिन बुद्धि तो किसी भी विषय मे स्थिर हो सकती है। इसलिए हर कोई स्थितप्रज्ञ नही बन जाता। इस श्लोक मे अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के पीछे 'समाधिस्थ' विशेषण लगाया है। समाधि मे जो स्थिर है, वही स्थितप्रज्ञ है। समाधि दो प्रकार की होती है। एक है पातजल-समाधि। महर्षि पतजलि ने योग-सूत्रो की रचना की है। उनमे उन्होंने

'ध्यानजन्य समाधि' भी बतायी है। एक आसन पर स्थिर बैठकर आँखे बन्द करके परमात्मा का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने की कोशिश करते-करते चित्त परमात्मा मे इतना तल्लीन हो जाता है कि देह और इन्द्रियो का भान नही रह जाता। ऐसी अवस्था मे उसकी देह को काटने पर भी उसे पता नही चलता। यह अवस्था कुछ समय तक रहती है। इस अवस्था को विनोबाजी 'लय' कहते है। यह लयावस्था है। इसलिए विनोबाजी इसे 'वृत्ति' भी कहते है, जैसे कि 'निद्रा' एक वृत्ति है। निद्रा भी लय ही है। निद्रा अपने-आप आती है, कोशिश नही करनी पडती। निद्रावस्था मे जो लय हो जाता है, उसे **सबीज लय** कहते है। इस लय मे अज्ञान का बीज रहता है। जो-जो सस्कार लेकर हम निद्रा लेते है, जग जाने पर भी उसमे कुछ फरक नही पडता। अज्ञानरूपी बीज केवल परमात्मरूपी ज्ञानाग्नि से ही जल सकता है। समाधि मे भी अज्ञान नष्ट नही होता, क्योकि समाधि भी एक लय ही है और गहरा लय है।

समाधि प्राप्त करने से काम, क्रोध आदि विकार नष्ट हो जायँगे, ऐसी बात भी नही। इन विकारो का बीज समाधि मे ज्यो-का-त्यो रहता है। जिन्होने समाधि प्राप्त की है उन पुरुषो मे भी क्रोध होता है और कीर्ति की लालसा होती है। समाधि से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती है, उनमे वे फँस जाते है। पर स्थितप्रज्ञ की समाधि ऐसी नही है। विनोबाजी का कहना है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष की समाधि एक 'स्थिति' है, 'लय' नही। लय मन की एक वृत्ति है। वृत्ति मे सदैव परिवर्तन होता रहता है। वृत्ति सदा बनी रहनेवाली 'स्थिति' नही है। स्थिति यानी स्थिर रहनेवाली अवस्था। आसन लगाकर लगायी गयी ध्यानजन्य समाधि की स्थिति स्थिर न होने के कारण उसके बारे मे अर्जुन प्रश्न नही पूछ रहा है। बल्कि जाग्रत्-अवस्था मे परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध रखनेवाली, सब क्रिया करते हुए अकर्तापन का अनुभव करानेवाली और जिसमे काम, क्रोध आदि का बीज जल जाता है, उस सहजावस्था के बारे मे अर्जुन पूछ रहा है। इसे प्राप्त करनेवालो को गीता 'स्थितप्रज्ञ' कहती है। यह जाग्रत्कालीन समाधि है। ध्यानजन्य समाधि तो इस समाधि का एक उपाय है।

गीता के इस दूसरे अध्याय मे पहले साख्य-बुद्धि यानी जीवन के तीन सिद्धान्त बताये गये है १ आत्मा की अमरता, २ देह की नश्वरता और ३ स्वधर्म की अबाध्यता। इन सिद्धान्तो को आचरण मे लाने के लिए जो योग-बुद्धि चाहिए, जो समता चाहिए, निष्कामता चाहिए, उसका स्पष्टी-करण, विवेचन किया। अब वह जिसके आचरण मे आ गया है, ऐसे पूर्णपुरुष के लक्षण बता रहे है। पूर्णपुरुष के लक्षण सामान्य आदमी के लिए मार्ग-दर्शक होते है, वैसे ही साधक और मुमुक्षु के लिए सिद्ध-पुरुष के सारे लक्षण भी प्राप्तव्य है। साधक और सिद्धपुरुष मे इतना ही भेद होता है कि सिद्ध पुरुष मुकाम पर पहुँचा रहता है, तो साधक मार्ग मे रहता है।

शकराचार्य अपने गीता-भाष्य मे कहते है **सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति तानि।** अर्थात् सभी जगह अध्यात्मशास्त्र मे सिद्धपुरुष के जो लक्षण होते है, वे ही साधनरूप से साधक के लिए कहे जाते है, क्योकि साधक के लिए वे लक्षण यत्नसाध्य रहते है, प्रयत्न से प्राप्त करने होते है, और साधक के लिए प्रयत्न से साध्य जो साधन रहते है, वे ही सिद्ध-दशा प्राप्त होने पर सिद्ध-पुरुष के लक्षण बन जाते है।

'स्थितप्रज्ञ' शब्द मे जो 'प्रज्ञा' शब्द है, वह सामान्य-बुद्धि के लिए प्रयुक्त नही है। जो बुद्धि शुद्ध हो गयी है, विकाररहित हो गयी है, उस बुद्धि को 'प्रज्ञा' कहते है। ऐसी शुद्धबुद्धि समाधि मे यानी

परमात्मा मे स्थिर हो जाती है । यह बुद्धि दिन-रात परमात्मा के अनुसधान मे रहती है । परमात्मा मे बुद्धि स्थिर रहती है और उनकी क्रियाएँ परमात्मा की भक्ति मे अखड चलती रहती है । अर्जुन के प्रश्न का भावार्थ यह है कि ऐसे आदर्श पुरुष के लक्षण क्या है यानी वह कैसे वोलता है, कैसे रहता है और कैसे चलता है ?

: ५५ :

श्रीभगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

पार्थ यदा=हे पार्थ ! जव, **मनोगतान्**=मन मे रही हुई, **सर्वान् कामान्**=सव कामनाओ को, **प्रजहाति**=त्याग देता है, (और) **आत्मनि**=परमात्मा मे, **आत्मना एव**=स्वय ही, **तुष्ट**=सन्तुष्ट रहता है, (**तदा**) **स्थितप्रज्ञ** = (उस समय वह पुरुष) स्थितप्रज्ञ, **उच्यते**=कहा जाता है ।

इस श्लोक मे भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के दो लक्षण वताये है .

(१) वह मन मे रही हुई सव कामनाओ और वासनाओ को, सव प्रकार से छोड देता है ।

(२) दूसरा लक्षण यह कि वह परमात्मा मे ही सन्तुष्ट रहता है ।

ससार मे प्रत्येक मनुष्य अपने को किसी-न-किसी इच्छा से युक्त पाता है । इच्छा और वासना के दो वर्ग है . एक शुद्ध वर्ग और दूसरा अशुद्ध वर्ग । इन दो वर्गो मे तीन प्रकार है सत्त्व, रज और तम । शुद्ध वर्ग मे सत्त्व की गणना होती है और अशुद्ध वर्ग मे रज और तम की । रजोगुणी और तमोगुणी वासनाएँ, इच्छाएँ छोडनी पडती है, क्योकि उनसे अवनति होती है । रजोगुणात्मक और तमोगुणात्मक वासनाओ को छोडने के लिए शुरू मे सात्त्विक वासना, इच्छा रखनी होती है । चाय की आदत छुडवाने के लिए चाय के वदले मे गेहूँ की कॉफी या तुलसी का काढा पिलाना होगा । सव चीजे क्रमानुसार करनी पडती है, तभी सफलता मिलती है । मनुष्य मे तरह-तरह की जो कामनाएँ रहती है, उनमे शुद्ध और अशुद्ध दो वर्ग करके अशुद्ध वासनाओ के राजसिक और तामसिक स्वरूपो को ठीक-ठीक समझकर तथा शुद्ध यानी सात्त्विक वासनाओ को रखकर राजसिक, तामसिक वासनाओ का त्याग करने की कोशिश करनी चाहिए ।

गीता के १४वे अध्याय मे सात्त्विक, राजसिक, तामसिक गुणो का अच्छा विश्लेषण है । इसी तरह १७वे और १८वे अध्याय मे भी आहार, यज्ञ, दान, तप, कर्म, वुद्धि, धृति, सुख, ज्ञान और कर्ता के सात्त्विक, राजसिक, तामसिक लक्षण वताये गये है, ताकि किन्हे ग्रहण करना और किन्हे छोडना चाहिए, इसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय । इस तरह शुद्ध यानी सात्त्विक वासना, इच्छा मन मे रखकर जव राजसिक, तामसिक वासनाओ का पूरा त्याग कर दे, तव धीरे-धीरे सात्त्विक वासनाओ को भी छोडने का अभ्यास करना होगा । लेकिन जव तक मन मे ईश्वरार्पण-वुद्धि पैदा न हुई हो, ईश्वरभक्ति परिपुष्ट न हुई हो, तव तक सात्त्विक इच्छाओ का त्याग असभव है । इसलिए ईश-भक्ति की आवश्यकता 'स्थितप्रज्ञ' के इस प्रकरण के ६१वे श्लोक मे भगवान् वतायेगे । स्थितप्रज्ञ पुरुष परमात्मा मे डूव जाता है, इसलिए उसके मन मे कामनाएँ नही रहती । कामनाओ का त्याग सहज ही हो जाता है । उसकी सव क्रियाएँ ईश्वर की प्रेरणा से ही होती रहती है । वह अपने को शून्य वनाकर ईश्वर मे विलीन कर देता है । यही वात इस श्लोक के उत्तरार्ध मे वतायी जा रही है । कामना-त्याग यह स्थितप्रज्ञ का एक लक्षण हुआ ।

(२) परमात्मा आनन्दमय है, सत्-चित्-आनन्दरूप है । परमात्मा का पहला स्वरूप सत्

है, दूसरा स्वरूप है चित् यानी चैतन्य और तीसरा स्वरूप है आनन्द। इस आनन्द मे स्थित-प्रज्ञ का चित्त डूब जाता है। इसलिए अब उसे काम-नाओ से आनन्द नही मिलता। परमात्मा मे डूब जाने के पहले उसे वासनाओ से आनन्द मिलता था। प्रत्येक मनुष्य वासनाओ मे ही आनन्द प्राप्त करता है। तरह-तरह की इच्छाएँ पैदा होती है। उन-को तृप्त करने मे थोडा सुख मिलता रहता है। पूरा सुख वासनाओ से नही मिल सकता, क्योकि वासना कभी तृप्त नही होती। वासनाओ की तृप्ति न होने के कारण दु ख का अनुभव भी होता है। सच्चा और अखण्ड आनन्द तो वासनाओ के त्याग से ही मिलता है। वासनाओ का यह त्याग परमात्म-भक्ति से ही हो सकता है।

शंकराचार्य लिखते है **सर्वकामपरित्यागे तुष्टिकारणाभावात् शरीरधारण-निमित्तशेषे च सत्युन्मत्तप्रमत्तस्येव प्रवृत्तिः प्राप्ता इत्यत उच्यते— आत्मन्येव। प्रत्यगात्मस्वरूपे एव। आत्मना स्वेनैव बाह्यलाभनिरपेक्षस्तुष्टः परमार्थ-दर्शनामृत-रसलाभेनान्यस्माद् अलप्रत्ययवान् स्थितप्रज्ञः।**

शंकराचार्य उपर्युक्त वचनो मे कहते है कि भगवान् ने स्थितप्रज्ञ का पहला लक्षण यह बतलाया कि वह सब कामनाओ को, सब इच्छाओ को छोड देता है। चूँकि कामनाओ से ही सबको सन्तोष मिलता है, इसलिए स्थितप्रज्ञ पुरुष कामनाओ को छोड देता है, तो उसको सन्तोष या आनन्द किससे मिलेगा, यह सवाल खडा होता है। कामना छूटने से देह तो छूटती नही, क्योकि देह प्रारब्धकर्म के अधीन है। फिर ज्ञान प्राप्त होने पर स्थितप्रज्ञ पुरुष की देह तुरत छूट जाती है, ऐसी बात नही। ज्ञान प्राप्त होने पर भी देह छूटने तक राह देखनी पडती है, यानी जिस प्रारब्धकर्म से देह मिली है, वह जब तक क्षीण नही होता, तब तक उसे देह धारण करनी पडती है। जब देह धारण करनी पडती है, तो कामना छूटने पर सन्तोष का अभाव हो जायगा। यानी स्थितप्रज्ञ को देह के रहते किसी भी तरह सन्तोष, आनन्द नही मिलेगा। आनन्द के अभाव मे स्थितप्रज्ञ की पागल या मदोन्मत्त जैसी स्थिति हो जायगी? इसपर भगवान् कहते है कि कामना छूटने पर स्थितप्रज्ञ मे आनन्द का या सन्तोष का अभाव नही होता। वह तो कामना छूटने पर बहुत ज्यादा आनन्द का अनुभव करता है। वह आनन्द कहाँ से प्राप्त करता है? भगवान् कहते है कि वह स्वय परमात्मा मे डूब गया है, और परमात्मा आनन्दमय है, इसलिए परमात्मा मे डूब जाने से, परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखने से, परमात्मा का अखण्ड स्मरण करने से उसे इतना आनन्द मिलता है कि उसके सामने और सब पदार्थ, सब विषय तुच्छ लगते है, उसकी वृत्ति विषयो की तरफ दौडती ही नही।

इस श्लोक के भाष्य मे ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि प्रत्येक के मन मे विषयो अथवा पदार्थो के प्रति निरन्तर जो प्रबल अभिलाषा, वासना, इच्छा रहती है, वही आत्मसुख, परमात्म-सुख प्राप्त करने मे बाधक अथवा रुकावट डालनेवाली है। लेकिन विषय मे फँसानेवाली यह प्रबल कामना जिनके मन से निकल गयी और जिनका मन परमात्मा मे सन्तुष्ट रहने लगा, उन्हे स्थितप्रज्ञ समझो।

: ५६ :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दु खेषु=दु ख प्राप्त होने पर, **अनुद्विग्नमना**=जिसका मन दु खी, उद्विग्न नही होता, **सुखेषु**=(और) सुख प्राप्त होने पर (जिसे), **विगतस्पृह**=सुख की चाह नही रहती, **वीतरागभयक्रोधः**=(और) जिसकी तृष्णा, भय और क्रोध नष्ट हो गये है, **स्थितधीः**=(वह) स्थितप्रज्ञ, **मुनि. उच्यते**=मुनि कहा जाता है।

इस श्लोक मे स्थितप्रज्ञ पुरुष के दो लक्षण ओर वताये है

(१) अनेक प्रकार के दु ख प्राप्त होने पर वह उद्विग्न नही होता, व्याकुल नही होता, उदासीन नही होता, दु ख की परिस्थिति मे हार नही जाता। और सुख प्राप्त होने पर वह सुख हमेशा वना रहे, उसमे वृद्धि हो, सदैव सुख की परिस्थिति वनी रहे, इस प्रकार की लालसा उसके मन मे नही रहती।

(२) उसके मन से राग, भय, क्रोध आदि नष्ट हो जाते है।

प्रत्येक मनुष्य दु ख टालकर सुख चाहता है। स्पेन देश मे अब्दुर्रहमान नामक एक न्यायी और पराक्रमी राजा हो गये। उन्होने अपनी डायरी मे लिखा है कि उनकी ५० वर्ष की आयु मे पूर्ण सुख के केवल १४ दिन वीते। अनुभव यही है कि ससार मे सुख की अपेक्षा दु ख अधिक है। दु ख का मुख्य कारण अहकार है। अहकार जितना अधिक, दु ख भी उतना ही अधिक।

एक धनी आदमी कहा करते थे "मेरे पास धन है, लेकिन सुख नही।" उनसे पूछा गया "धन तो सुख का साधन माना गया है और धन होते हुए भी आपको सुख नही मिलता, इसका क्या कारण है ?" उन्होने जवाव दिया "मेरी पत्नी मेरे लडके कहे अनुसार नही चलते। मेरा वडा आग्रह रहता है कि घर मे या दूकान मे मेरी ही चले। लडके छोटे थे, तव तो मेरा कुछ मानते भी थे। अव वे वडे हो गये है। मेरी सुनते ही नही। यह दु ख कैसे मिटे, यह वताइये।"

विचार करने पर मालूम होगा कि उनका आग्रही स्वभाव ही इस दु ख का कारण था। सिद्धान्त-विषयक आग्रह तो समझ मे आने जैसी वात है। लेकिन प्रत्येक वात मे जिसका आग्रही स्वभाव रहता है, उसे दु ख के सिवा और किस चीज का अनुभव आयेगा ? ऐसे आग्रह के मूल मे अहकार की प्रवलता ही होती है।

दु ख नाना प्रकार के होते है, लेकिन उसके तीन मोटे विभाग हो सकते है १ आधिभौतिक, २ आधिदैविक और ३ आध्यात्मिक। इनमे आधिभौतिक दु ख यानी सृष्टि मे दिखाई देनेवाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गधात्मक पाँच महाभौतिक पदार्थो के साथ हमारा जो नित्य सम्वन्ध आता रहता है उनमेसे पैदा होनेवाला दु ख। भूकप, अनावृष्टि आदि कारणो से पैदा होनेवाले दु ख को आधिदैविक कहते है। आधिभौतिक और आधिदैविक दु खो के अलावा अनुभव मे आनेवाले दु खो को आध्यात्मिक दु ख कहते है।

वाह्य रीति से दु ख टालने का सुगम उपाय यही है कि अपनी जरूरते यानी परिग्रह कम किया जाय। वाह्य सुख प्राप्त करने की दृष्टि से हम वैभवशाली साधन वढाते जाते है। लेकिन यह आदत अन्त मे दु खदायी सावित होती है।

एक धनी मनुष्य ने कहा "हम सव परिवार के लोग कश्मीर की सैर के लिए गये और वहाँ पर कई कीमती चीजे खरीदते रहे। कश्मीर मे कुल मिलाकर वीस दिन सफर किया। इन वीस दिनो मे हमने वीस हजार रुपये खर्च कर दिये।" अव उन्होने कीमती चीजे खरीदकर क्या साधा ? समाज का धन तो वरवाद हुआ ही, उनका व्यक्तिगत नुकसान भी हुआ। आदत एक वडे महत्त्व की वस्तु है। हमे ऐसी वस्तुओ की आदत डालनी चाहिए, जिनसे हम हमेशा सुखी रह सके। साधन ऐसा हो, जो वहुत कीमती न हो, सर्वसुलभ हो। इसी तरह हम दु ख के प्रसग टाल सकते है। दु ख वाहर की चीज नही है, वह मानसिक ही है। इसलिए भीतर से अलिप्तता सध जाय तो वैभवशाली साधन होते हुए भी दु ख को टाला जा सकता है। लेकिन ऐसी अलिप्तता दुर्लभ है। इसलिए जो दु ख टालना चाहते है, उनके समक्ष

दुख के निमित्त कम-से-कम रहे, इसकी सावधानी रखनी चाहिए। इस दृष्टि से बाह्य साधन जितने कम रखेंगे और सादगी रखेंगे, सग्रह जितना कम करेंगे, उतना दुख के निमित्तो को टाल सकेंगे।

अधिकतर दुख आधिभौतिक ही होते हैं। आधिदैविक दुख आकस्मिक होते हैं। भूकप या अकाल हमेशा नही होते। इसलिए मनुष्य आधिदैविक दुख सहन कर लेता है। आध्यात्मिक दुख का अनुभव मुख्यत आध्यात्मिक साधना-काल मे विशेष रूप से होता है। आध्यात्मिक साधना करते समय ज्ञान के अभाव मे साधना बराबर हो नही पाती। उसमे अधूरापन रह जाता है। एक साधक ने तो आत्मदर्शन न होने से कुएँ मे गिरकर आत्महत्या कर ली। उन्होने साधना की बहुत कोशिश की थी। गाधीजी के आश्रम मे भी वे रहे थे। मगर उनके मन मे आत्मदर्शन की विचित्र कल्पना घुस गयी थी और अपनी कल्पना का आत्मदर्शन न होता देखकर वे बहुत निराश हो गये और आखिर मे आत्महत्या कर ली।

सुख भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक होते हैं। जैसे मनुष्य दुख बचाने की कोशिश करता है, वैसे ही वह सुख प्राप्त करने की भी कोशिश करता है। अन्तिम सुख तो आत्मानुभव, भक्ति, वैराग्य से मिलेगा। लेकिन ये जब तक हासिल न हो, तब तक सात्त्विक सुख प्राप्त करते रहना चाहिए। सुख के सात्त्विक, राजसिक और तामसिक ऐसे तीन प्रकार गीता के १८वे अध्याय मे बताये गये है। उसको लक्ष्य मे रखते हुए अपने जीवन मे सात्त्विकता बढाते जाना चाहिए। सत तुलसीदासजी कहते हैं

राम कथा के तेइ अधिकारी।
जिन्ह के सत-संगति अति प्यारी॥

जिनको सत्सग अति प्यारा है, वे ही राम-कथा के यानी राम-भक्ति के अधिकारी है। सत्सगति मे ही उन्हे भक्ति प्राप्त हो सकती है। दूसरी जगह तुलसीदासजी कहते हैं

संत चरन पंकज अति प्रेमा।

—जिन्हे सत-चरण मे अति प्रेम है वे ही अन्त मे शाश्वत सुख प्राप्त कर सकते हैं। सत्सगति के साथ सद्ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए। सत्कर्म करते रहना चाहिए। सात्त्विक तप, सात्त्विक दान करना चाहिए। सात्त्विक आहार लेना चाहिए। बातचीत मे सात्त्विकता रखनी चाहिए। इस तरह प्रत्येक क्रिया मे सात्त्विकता बढती जाय तो जो सुख मिलता रहेगा, वह अन्त मे आत्मिक सुख की ओर ले जायगा, उसका अनुभव करायेगा।

इस श्लोक के पूर्वार्ध मे सुख-दुख के बारे मे स्थितप्रज्ञ की क्या स्थिति या भूमिका रहती है, यह बताया है। परमात्म-सुख का अनुभव होने से स्थितप्रज्ञ पुरुष बाह्य सुख-दुख मे तटस्थ रहता है, यानी दुख प्राप्त होने पर, दुख की परिस्थिति प्राप्त होने पर वह उद्विग्न नही होता, व्याकुल नही होता, दुखी नही होता, और सुख प्राप्त होने पर वह उसे बरदाश्त कर लेता है, यानी उसकी चाह उसके मन मे पैदा नही होती। सामान्य मनुष्य को सुख की परिस्थिति प्राप्त होने पर यह सुख की स्थिति अखण्ड रहे, ऐसी स्पृहा, चाह, कामना रहती है। इतना ही नही, उसमे वृद्धि होती रहे, ऐसी इच्छा भी रहती है। स्थितप्रज्ञ पुरुष कामनारहित हो जाता है, अत उसमे सुख की लालसा नही रहती। इसलिए सुख या दुख की परिस्थिति प्राप्त होने पर वह अपने को उससे अलग रख सकता है। इस तरह सुख-दुख-समता का लक्षण पूर्वार्ध मे बताया गया।

(२) उत्तरार्ध मे दूसरा लक्षण बताया है। उसके मन से राग, भय, क्रोध आदि नष्ट हो जाते है। विनोबाजी कहते हैं कि जैसे कामना के शुभ-अशुभ या शुद्ध-अशुद्ध ऐसे दो विभाग हैं, वैसे ही

उसके तीन परिणाम है १ राग यानी तृष्णा या आसक्ति, २ क्रोध, और ३ भय। ये तीनो परिणाम दो प्रकार की कामनाओ से पैदा होते है। अनुकूल वेदना यानी अनुकूल परिस्थिति से तृष्णा पैदा होती है और प्रतिकूल वेदना यानी प्रतिकूल परिस्थिति से क्रोध पैदा होता है। भय प्रतिकूल वेदना का ही स्वरूप है। जैसे प्रतिकूल परिस्थिति से क्रोध पैदा होता है, वैसे ही भय भी प्रतिकूल परिस्थिति से पैदा होता है। कामना, इच्छा शुभ हो या अशुभ, शुद्ध हो या अशुद्ध, उसमे से तीन परिणाम निकल सकते है। जैसे शुभ या शुद्ध कामनाओ की आसक्ति, तृष्णा पैदा हो सकती है, वैसे ही अशुभ, अशुद्ध कामनाओ की भी आसक्ति, तृष्णा पैदा हो सकती है। शुद्ध या अशुद्ध कामना तृप्त होते ही उसमे से तृष्णा पैदा होती है, उसकी आसक्ति पैदा होती है। उसके तृप्त न होने पर उसमे से क्रोध पैदा होता है। तृप्त वासनाओ से तृष्णा पैदा होगी और अतृप्त वासनाओ से क्रोध पैदा होगा या डर। व्यापार मे घाटा आते ही डर पैदा होगा कि अब कैसे क्या होगा? स्वास्थ्य बिगडने पर डर पैदा होता है कि अब शरीर का क्या होगा? लम्बी बीमारी मे मृत्यु का भय पैदा हो जाता है।

जीने की तीव्र इच्छा हरएक के खून मे स्वभाव से ही घुल-मिल गयी है। इस जीवन-तृष्णा से ही मृत्यु का डर पैदा होता है। ऐसे कई उदाहरण है कि मृत्यु के समय सिद्ध पुरुष भी मूर्च्छित हो गये है। स्थितप्रज्ञ पुरुष मे कामना-त्याग होने से कामना से निकलनेवाले ये तीन परिणाम भी नही मिलेगे। वह तृष्णा, क्रोध और भय से मुक्त होता है।

ये उपर्युक्त लक्षण जिस पुरुष मे दिखाई दे, उस पुरुष को स्थितप्रज्ञ मुनि कह सकते है। यहाँ पर स्थितप्रज्ञ पुरुष के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्य जन बाह्य वेश पर मुग्ध हो जाते है। बाहर मे किसीने दाढी, बाल रखा हो, लँगोटा या छोटी धोती पहनी हो, हाथ मे दण्ड-कमण्डल हो, तो तुरत उसे साधु या मुनि मान लेते है। गीता ने इस श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि मुनि का बाह्य वेश से कोई सम्बन्ध नही है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण जिनमे पाये जाते है, वे पुरुष 'मुनि' कहलाने योग्य है।

: ५७ :

य. सर्वत्रानभिस्नेहस् तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

य सर्वत्र=जो पुरुष सभी जगह, **अनभिस्नेह**=विशेष-स्नेहरहित है, (और) **तत् तत् शुभ-अशुभम्**=उन-उन शुभ और अशुभ को, **प्राप्य न अभिनन्दति**=प्राप्त होने पर न हर्षित होता है, **न द्वेष्टि**=(और) न द्वेष करता है, **तस्य प्रज्ञा**=उसकी प्रज्ञा, **प्रतिष्ठिता**=परमात्मा मे स्थिर हो गयी है।

इस श्लोक मे स्थितप्रज्ञ के और दो लक्षण है (१) सर्वत्र यानी सब प्रसगो मे, सब क्रियाओ मे, सभीके साथ वह अनासक्त रहता है और (२) शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय प्राप्त होने पर स्थितप्रज्ञ सहज तटस्थ रहता है।

(१) वैसे देखा जाय तो आसक्ति मन का गुण है। आसक्ति का विवेक न रहने से जहाँ आसक्ति रखनी चाहिए, वहाँ हम आसक्त नही रहते है, और जहाँ आसक्ति नही रखनी चाहिए, वहाँ आसक्त रहते है, इसीलिए दु खी होते है। रिश्तेदारो के साथ, मित्रो के साथ नित्य सम्बन्ध आता है। सम्बन्ध आने से उनमे हम आसक्त होते है। यह आश्चर्य की बात नही है, क्योकि मन मे जहाँ स्वाभाविक आसक्ति है, उसे कही तो बिठाना ही है। जो मित्र मे, रिश्तेदारो मे आसक्त नही होते, वे सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रो मे आसक्त होते है। कही शिष्य गुरु मे, तो कही गुरु शिष्य मे आसक्त होते है। जहाँ आसक्ति पैदा हुई वहाँ उसका परिणाम 'दु ख' अनुभव मे आयेगा ही। इस दु ख के परिणाम को

टालने का एक ही उपाय है कि भगवान् मे आसक्ति रखी जाय। गीता के सातवे अध्याय के पहले श्लोक मे कहा है **मय्यासक्तमना:** अर्थात् हमारे मन मे जो जगत् की आसक्ति है, उसे छोडकर भगवान् मे आसक्ति रखना। जब तक भगवान् मे आसक्ति पैदा नही होती, तब तक जगत् के पदार्थ की आसक्ति छूट नही सकती, यह अटल सिद्धान्त है।

यहाँ प्रश्न उठेगा कि जगत् की आसक्ति रखने से दु ख पैदा होता है तो भगवान् की आसक्ति रखने से दु ख क्यो नही पैदा होगा ? आसक्ति दु खदायी है तो वह भगवान् मे रखने से भी दु ख पैदा करेगी। जगत् की आसक्ति रखने से दु ख पैदा होता है और भगवान् की आसक्ति रखने से दु.ख पैदा न होकर आनन्द, सुख होता है, यह कैसी बात है ? इसका कारण यही है कि जगत् के पदार्थ सत्य नही है। थोडा विचार करने पर मालूम हो जायगा कि माता, पिता, भाई, स्त्री, पुरुष आदि सब पदार्थ क्षणिक है, सब नाशवान् है, इसलिए उनसे हमे अखण्ड आनन्द नही मिलेगा। उनकी आसक्ति दु खदायी ही साबित होगी। परमात्मा क्षणिक, अनित्य नही है। उसका स्वरूप सत्-चित्-आनन्द है। इसलिए परमात्मा मे यदि मन आसक्त होता है तो परमात्मा स्वय आनन्दरूप होने से हमे भी आनन्द का ही अनुभव होगा। जगत् के समस्त पदार्थों के प्रति अनासक्त रहने का उसे अभ्यास या प्रयास नही करना पडता। परमात्मा की आसक्ति पैदा करनी हो तो पहले बुद्धि से परमात्मा को ग्रहण करना होगा। जितनी भी शकाएँ हो, उनका समाधान किसी अधिकारी पुरुष से कर लेना चाहिए। सारा जगत् परमात्मा का भास है, जैसे घडा मिट्टी का भास है। परमात्मा सत्य है और यह सारा जगत् उसका आभास है और इसलिए मिथ्या है। मिथ्या वस्तु मे आसक्ति रखने से क्षणिक आनन्द या सुख मिलने पर भी अखण्ड आनन्द या सुख नही मिल सकता। स्थितप्रज्ञ पुरुष ने भगवान् को पहचान लिया है। इसलिए वह भगवान् मे आसक्त रहता है, लेकिन जगत् के किसी पदार्थ मे आसक्त नही रहता।

(२) वह समझता है कि जगत् की सच्ची सत्ता परमात्मा के हाथ मे है। जीव के हाथ मे बहुत थोडी सत्ता है। इसलिए परमात्मा के अनुकूल रहना ही सही कर्तव्य है। जगत् मे अनेक प्राणी रहते है। शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय, अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्राप्त होना हमारे अकेले के अधीन नही है। न चाहते हुए भी और अनुकूल न पड़ने बहुत-सी घटनाएँ दुनिया मे होती रहती है। उन घटनाओ का परिणाम भी हमे सहन करना पडता है। इसलिए स्थितप्रज्ञ पुरुष शुभ या प्रिय प्राप्त होने पर बहुत हर्षित नही होता, नाचने नही लगता, उसका अभिनन्दन नही करता और अशुभ, अप्रिय प्राप्त होने पर द्वेष नही करता। खूबी से उसका हल निकालता है और उसको बरदाश्त करते हुए अपनी चित्त-वृत्ति प्रक्षुब्ध और डॉवाडोल नही होने देता। महाभारत (शान्ति० २५।२६) मे एक श्लोक है ·

सुखं वा यदि वा दु:खं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजित: ॥

अर्थात् सुख हो अथवा दु ख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, जो जिस समय प्राप्त हो जाय, उस समय उससे पराभूत न होते हुए हृदय से उसका सेवन करना चाहिए।

सुख-दु ख, या प्रिय-अप्रिय, कुछ भी प्राप्त हो, अपने चित्त पर उसका सुख-दु खात्मक परिणाम न हो, यही हमेशा खयाल रखना चाहिए। हम चेतनस्वरूप है और सृष्टि के सब पदार्थ जडस्वरूप है। वास्तव मे चेतन का जड पर स्वामित्व होना चाहिए। इसलिए जड पदार्थो की अनुकूलता-प्रतिकूलता का हमारे चित्त पर कुछ भी परिणाम न हो, यही वास्तव मे हमारी स्थिति होनी चाहिए। स्थितप्रज्ञ पुरुष ने यह स्थिति प्राप्त कर ली है।

: ५८ :

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश. ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

च=और, **अय यदा**=यह पुरुप जव, **इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः**=अन्तर्-वाह्य सव इन्द्रियो को अपने-अपने विपयो मे, **कूर्म. अगानि इव**=कछुआ जैसे अपने अंगो को, **सर्वश. सहरते**=(वैसे ही) सव ओर से खीच लेता है, (तव) **तस्य प्रज्ञा**=उस पुरुप की वुद्धि, **प्रतिष्ठिता**=परमात्मा मे स्थिर हो गयी ।

इस श्लोक मे भगवान् ने स्थितप्रज्ञ का एक ही लक्षण वताया है कि सव इन्द्रियो का, सव ओर से, सव विपयो से, निग्रह करना—सयम करना ।

हमारे शरीर मे पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ और पॉच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर दस वाह्य इन्द्रियाँ है । मन और वुद्धि ये दो आन्तरिक इन्द्रियाँ है । वुद्धि मन का ही अग होने से भीतर एक ही इन्द्रिय है, ऐसा मानना अधिक शास्त्रीय है । मन का निश्चय करनेवाले भाग को 'वुद्धि' कहते है । गीता के १३वे अध्याय के ५वे श्लोक मे **इन्द्रियाणि दशैकं च** कहा है । ज्ञान-कर्मेन्द्रियाँ दस और एक मन मिलकर ग्यारह इन्द्रियो पर पूरी तरह स्थितप्रज्ञ पुरुप को कावू मिल जाता है । वाह्य दस इन्द्रियो मे पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक वलवान् है और ज्ञानेन्द्रियो से मन अति वलवान् है । पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ ये है आँख कान, नाक, जिह्वा और त्वचा । अनुक्रम से इनके रूप, शब्द, गध, रस और स्पर्श, ऐसे पॉच विपय है । इन पॉच ज्ञानेन्द्रियो को पॉच विपयो का ही ज्ञान होता है । यदि मन नही है, तो ये पॉचो ज्ञानेन्द्रियाँ वेकार हो जायँगी ।

इसलिए तीसरे अध्याय के ४२वे श्लोक मे कहा है कि विषयो से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ है । इन्द्रियाँ यानी पॉच ज्ञानेन्द्रियाँ । वे इन पॉच विपयो से श्रेष्ठ है, क्योकि ज्ञानेन्द्रियाँ न हो तो विपयो का ज्ञान नही होगा । पाँच ज्ञानेन्द्रियो से मन श्रेष्ठ है । मन से वुद्धि श्रेष्ठ है, क्योकि वुद्धि निश्चय करनेवाली इन्द्रिय है, जव कि मन अमल मे लानेवाली इन्द्रिय है । पहले वुद्धि को पदार्थ का ज्ञान होता है, फिर वह सारासार विवेक कर लेती है और किसी निर्णय पर पहुँचती है । वुद्धि के निर्णय को अमल मे लाना मन का काम है । अमल मे लाने मे मन वुद्धि को सहयोग नही देता । इस तरह मन और वुद्धि के सघर्प मे मनुष्य का जीवन चलता है । यह सघर्प स्थितप्रज्ञ पुरुप मे नही रहता, क्योकि उसने सव इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली है ।

पाँच ज्ञानेन्द्रियो मे आँख प्रवल इन्द्रिय है । उसके साथ वडी सावधानी से सम्वन्ध रखना चाहिए । आँख का विपय रूप है । रूप दो प्रकार का होता है—एक सुरूप, दूसरा कुरूप । सुन्दर रूप का आकर्पण होता है । कुरूप वस्तु देखकर घृणा होती है । सुन्दर रूप देखने से आकर्पण होता है, वाद मे आसक्ति होती है । किसी सुन्दर वालक को देखते ही आकर्पण हो जाता है और इच्छा होते ही उसे हाथ से उठा लेते है तथा प्रेम से चूम लेते है । किसी कुरूप व्यक्ति को देखकर वैसा आकर्पण नही होता और सहवास की इच्छा भी नही होती ।

कान का विपय शब्द है और यह इन्द्रिय भी प्रवल है । क्या सुनना और क्या नही सुनना, इसका विवेक रहना चाहिए । वेकार की वाते सुनने मे, निन्दा-स्तुति की वाते सुनने मे एक प्रकार का मजा आता है । इसलिए सजगता जरूरी है ।

नाक का विपय गध है । सुगधित इत्र, तेल आदि वालो मे तथा कपडो मे लगाना, फूल रखना आदि की चटक कइयो को लग जाती है । कई लोग सुवह का आधा या पौन घटे का अमूल्य समय वालो को सँवारने और सुगधित इत्र, तेल आदि लगाने मे विता देते है ।

जीभ का विपय है रस । इसलिए इसे रसनेन्द्रिय या स्वादेन्द्रिय भी कहते है । यह भी वहुत प्रवल इन्द्रिय है । भोजन मे सयम जैसी चीज वहुत कम देखने मे आती है । रसोई वनाने का सारा कार्य-

क्रम स्वाद को लेकर चलता है । रसोई आरोग्य के नियमो को ध्यान मे रखकर नही वनायी जाती । मसालेदार, तेज, चटपटी चीजे खाये विना हमे सन्तोष नही होता । चटपटी चीजे परिमाण से अधिक भी खायी जाती है । इससे आवश्यकता से ज्यादा खाने का अभ्यास हो जाता है और स्वास्थ्य खराव हो जाता है । शरीर का स्वाभाविक धर्म स्वास्थ्य है । किन्तु रसनेन्द्रिय के अधीन रहकर स्वास्थ्य को हम दुर्लभ वना देते है । शास्त्रकारो ने १५ दिन मे एक दिन उपवास वताया है । एकादशी ऐसा ही दिन है । मगर हमने इस एकादशी को भी स्वाद के वश होकर विगाड दिया । एकादशी के दिन हम मूंग-फली, कन्द आदि गरिष्ठ चीजे, जो दुष्पाच्य होती है, खाने लगे और मानने लगे कि एकादशी के दिन हमने उपवास कर लिया । दूसरे दिन यानी द्वादशी के दिन सदा की अपेक्षा ज्यादा खा लेते है । इन सवका विपरीत परिणाम अनेक रोगो के रूप मे भुगतना पडता है ।

त्वचा का विपय स्पर्श है । स्पर्श का इतना आकर्पण हो जाता है कि वच्चो को आलिगन की आदत पड जाती है । एक-दूसरे के गले मे हाथ डालने आदि का अभ्यास हो जाने से कुछ खराव आदतो मे भी वच्चे पड जाते है ।

कान का विपय शब्द है, लेकिन वह वाणी द्वारा प्रकट होता है । वाणी पर भी हमारा काबू नही रहता । एक मर्यादा से ज्यादा हम वोल जाते है ।

इस तरह हमारा मन इन्द्रियो के अधीन रहता है । इन्द्रियो के अधीन रहने से मन वुद्धि के अधीन नही रह पाता । वह विकार के अधीन रहता है । यदि मन विचार या विवेक के अधीन हो जाय तो इन्द्रियो पर पूरा काबू प्राप्त किया जा सकता है । स्थितप्रज्ञ इन्द्रियो पर काबू पा चुका होता है, इसलिए उसका मन सदैव विवेक के अधीन रहता है ।

५५ से ५८ तक चार श्लोको मे भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के कुल मिलाकर सात लक्षण वताये है

१ सव कामनाओं का त्याग, २ परमात्मा मे सन्तुष्टि, ३ सुख-दुःख मे समता, ४ तृष्णा-क्रोध-भय से मुक्ति, ५ सर्वत्र अनासक्ति, ६ शुभा-शुभ मे समदृष्टि, और ७ सपूर्ण इन्द्रिय-निग्रह ।

५९ से ६८वे श्लोक तक स्थितप्रज्ञ के और लक्षण न वताकर यह वताया है कि साधक को स्थितप्रज्ञ के लक्षण अपने आचरण मे किस तरह उतारने चाहिए, उसमे क्या-क्या कठिनाइयाँ आती है, और वे कैसे दूर की जा सकती है ।

: ५९ :

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

निराहारस्य=निराहारी, उपवासी, **देहिन**=देहधारी के, **विपया**=पाँच विपय, **विनिवर्तन्ते**=(वाहर से) अवश्य छूट जाते है, **रसवर्जम्**=लेकिन विपयो की वासना नही छूटती, (मगर), **अस्य रस अपि**=इस पुरुप का रस भी, **पर दृष्ट्वा**=परमात्मा के दर्शन मे, **निवर्तते**=निवृत्त हो जाता है ।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी है

(१) निराहारी वनने से यानी वाह्य विपयो का त्याग करने से विषय छूट सकते है, लेकिन (२) मन मे उन-उन विपयो को भोगने की जो वासना रहती है, वह नही छूटती, (३) वह परमात्म-दर्शन से छूटती है ।

पिछले श्लोक मे इन्द्रियो के ऊपर विजय पाने का जिक्र किया गया । वह स्थितप्रज्ञ का अन्तिम लक्षण वताया । उस पर से साधक के मन मे यह विचार आ सकता है कि स्थितप्रज्ञ की तरह इन्द्रियो पर विजय पानी है, तो विपयो का त्याग करके, इन्द्रियो का विपयो के साथ सम्वन्ध ही न आये, ऐसा हम करे, ताकि अपने आप ही इन्द्रियो पर विजय

प्राप्त हो जाय । उपवास करने से इन्द्रियाँ दुर्बल हो जायँगी और अपने-आप ही विपयो को छोड देगी, यह एक तरीका साधक के ध्यान मे आता है और वह उसकी परीक्षा करता है । दूसरा तरीका साधक के ध्यान मे यह आता है कि हरएक इन्द्रिय का जो विपय है, उसे छोड दिया तो विपय छोडने का अभ्यास इन्द्रियो को अपने-आप हो जाता है और इस तरह इन्द्रियाँ आसानी से कावू मे आ जाती है । आँख का विपय रूप है, तो देखना ही छोड दे । कान का विपय शब्द है, तो सुनना ही छोड दे, पढना ही छोड दे । नाक का विषय गध है, तो गध लेना ही छोड दे । जीभ का विपय रस है, तो खाना ही छोड दे । त्वचा का विपय स्पर्श है, तो स्पर्श करना ही छोड दे । वाणी का विपय बोलना है, तो वोलना ही छोड दे । इसी प्रकार के इन्द्रिय-निग्रह के लिए अनेक साधक सव काम छोडकर और समाज मे रहना छोडकर साधना के लिए एकान्त मे जाते है । समाज मे रहने से समाज के साथ सम्वन्ध आता है । समाज का कुछ काम भी करना पडता है, अनेक लोगो के साथ सम्वन्ध आता है । इससे क्रोध, अहकार आदि विकार उठते रहते है । स्त्री-पुरुष के अन्योन्य सम्वन्ध से विकार जाग्रत होता है । इन विकारो पर विजय कैसे पायी जाय, यह उन्हे सूझता नही, इसलिए सव छोड-छाडकर एकान्त मे जाने के लिए वे प्रवृत्त हो जाते है । अर्जुन की भी यही स्थिति थी । मन मे शोक-मोहादि विकार पैदा हो गये और इन विकारो को कैसे निकाला जाय, यह उसे सूझता नही था । इसलिए सव छोडकर सन्यासी वनने की भापा वह बोलने लगा ।

समाज मे रहने से काम-क्रोध आदि विकार पैदा होते है, ऐसा समझकर यदि हम कर्तव्य त्याग-कर जगल मे चले जाते है तो यह नही माना जायगा कि क्रोध आदि विकार नष्ट हो गये । एकान्त मे जाने से काम, क्रोध आदि विकारो को मौका नही मिलेगा, इसलिए वे प्रकट नही होगे । मान लीजिये, एकान्त मे हम पाँच साल रह जायँ और वहाँ काम, क्रोध, अभिमान आदि विकारो का अनुभव न हो और इससे हम मान ले कि वे विकार मन से निकल गये और हम निर्विकार वन गये है, तो ऐसा मानना भ्रम या अज्ञान ही समझा जायगा । क्योकि जव एकान्त त्यागकर समाज मे रहने के लिए आयेगे, तव मन मे छिपे हुए विकार सहज ही प्रकट होगे । तव विकार नप्ट होने की मान्यता गलत सावित होगी ।

वास्तव मे तो वह युक्ति ही हमारे हाथ नही लगी होती है, जिससे हम विकारो के वश न हो सके । इस तरह मालूम होगा कि एकान्त मे विताये हुए पाँच-दस साल व्यर्थ ही गये । भगवान् कहते है कि मान लीजिये, आपने देखना छोड दिया, लेकिन देखने की इच्छा कैसे छूट जायगी ? देखने की क्रिया छोडने मात्र से देखने की इच्छा तो नही छूट सकती ! खाना छोड देने पर भी खाने का चिन्तन चलता रहता है । वुद्ध भगवान् ने आहार त्यागकर साधना की, तव उनके ध्यान मे आया कि इन्द्रियो पर कावू पाने के लिए या आत्मज्ञान के लिए आहार छोड़ना गलत है । कई साधक अति-उपवास करके अपने चित्त का कावू खो वैठते है और उनकी स्थिति पागल-जैसी हो जाती है । इसलिए ध्यान मे रखना चाहिए कि वाहर से विपयो का पूरा त्याग करने मात्र से भीतर से विपयो का त्याग नही हो जाता । इतना ही नही, यह भी अनुभव मे आयेगा कि जैसे वाहर से विपयो को हम छोडते जाते है, वैसे ही विपय वडे जोर से भीतर प्रविप्ट होते जाते है । अगर हम चाहते है कि मन से विषय छूटे, यानी विपयो के प्रति मन मे जो लालसा, इच्छा, वासना रहती है वह छूट जाय, तो वाहर से विपयो का पूरा त्याग न करते हुए सयम से यथावश्यक पाँच विपयो का सेवन करते हुए आत्मदर्शन, परमात्म-दर्शन, करने की कोशिश करनी चाहिए । जव परमात्मा

की पहचान हो जाय, तब ही भीतर की वासना छूटकर इन्द्रियो पर पूरी तरह विजय प्राप्त हो सकती है। परमात्मा की पहचान का सुलभ और श्रेष्ठ उपाय भक्ति है। इस बारे मे ६१वे श्लोक मे भगवान् बतलायेगे।

: ६० :

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ॥

हि कौन्तेय=क्योकि, हे कुन्तीपुत्र, यततः=प्रयत्न करनेवाले, विपश्चितः पुरुषस्य अपि=विचारवान् पुरुष को भी, प्रमाथीनि इन्द्रियाणि=व्याकुल करनेवाली, बलवान् इन्द्रियाँ, मन. प्रसभ हरन्ति=चित्त को बलात् हरण कर लेती है।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है

(१) प्रयत्न करने पर भी, (२) विचारवान् पुरुष होने पर भी, (३) इन्द्रियाँ इतनी बलवान् है कि वे मन को विषयो मे खीच ले जाती है।

जब हम मन से कहते है कि 'इधर देखो मत' तो वह अवश्य देखेगा। 'सुनो मत' कहने पर अवश्य सुनेगा। मन का धर्म ही यह है कि वह उल्टा चलने की ही कोशिश करता है। उसके इस स्वभाव को बदलना है। यह आसान नही है। मन पर जबरदस्ती या बलात्कार नही कर सकते। मन छोटे बच्चे जैसा हठीला होता है। कुशलता से समझाने पर ही वह समझता है। आध्यात्मिक साधना मे भी यह देखना होता है कि मन पर बलात्कार न हो। साधना भले ही मन्द गति से चले, मगर तेजी से साधना करने के खयाल से मन पर जब बलात्कार होता है, तब कई लोग मन का काबू खो बैठते है। साबरमती-आश्रम मे एक भाई जाडे के मौसम मे भी खुले बदन रहा करते थे। ठढ बरदाश्त होती थी, सो बात नही। लेकिन मन मे हठ था। आखिर नतीजा यह निकला कि वे ठढ बरदाश्त करने के लिए कोठार मे से, बिना कुछ बताये ही, सेर-सेर गुड खा जाते थे। मनु ने कहा है कि **बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति** (मनुस्मृति, २.२१५)। अर्थात् यह इन्द्रियो का समुदाय बडा बलवान् है, जो विद्वान् को, विवेकी पुरुष को भी विषयो मे फँसा देता है।

संत तुलसीदासजी ने बडी रोचक कथा कही है कि नारदजी को काम-मोह ने कैसे पछाडा?

नारदजी तो भगवान् के भक्त थे। कामदेव उनको हराने आया, तब नारदजी उसके वश मे नही हुए। कामदेव हार गये और वापस चले गये। तो नारदजी के मन मे अहकार पैदा हुआ · **जिता काम अहमिति मन माहीं**—'मैने कामदेव को कैसे जीत लिया' ऐसा उन्हे लगने लगा। भगवान् की कृपा से काम को जीता—यह बात वे भूल गये। भगवान् ने देखा, नारद के मन मे विशाल गर्वरूपी पेड का बीज अंकुरित हो गया है : **उर अंकुरेउ गरद-तरु भारी**। भक्त का अभिमान भगवान् रहने नही देते। इसलिए भगवान् ने ऐसी रचना की कि नारदजी सारी साधना भूल गये, मन का काबू खो बैठे। जिस 'काम' को उन्होने हराया था और विजय पा ली थी उसी 'काम' के जाल मे फँस गये और कहने लगे . **जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥ अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥** रघुपति की माया अतिप्रचड है, उस माया ने जिसको मोहित नही किया, जिसको नही पछाडा, ऐसा जगत् मे कौन जनमा है? तो, इस तरह भगवान् कहते है कि यह इन्द्रिय-समुदाय इतना बलवान् है कि विवेकी पुरुष हो, विद्वान् हो, अतिबुद्धिमान् हो और इन्द्रियो के अधीन न होकर उन पर विजय पाने का, काबू पाने का सतत प्रयत्न करता हो, तो भी इन्द्रियाँ उसके मन को पछाड देती है, हरा देती है।

: ६१ :

तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तानि सर्वाणि सयम्य=उन मव इन्द्रियो को सयम मे रखकर, **युक्त.**=युक्त होकर, **मत्पर. आसीत**=(और) मुझमे परायण होकर रहना चाहिए, **हि यस्य इन्द्रियाणि वशे**=और इस तरह जिनकी इन्द्रियाँ वश मे आ गयी, **तस्य प्रज्ञा**=उनकी प्रज्ञा, **प्रतिष्ठिता**=स्थिर हो गयी ।

इस श्लोक मे चार वाते वतायी है

(१) इन्द्रिय-सयम, (२) चित्त को विवेकयुक्त, अनासक्त रखना, (३) भगवान् मे परायण होना, भगवान् की भक्ति करना और (४) इन तीन साधनो से इन्द्रियो को वश मे करके वुद्धि को अपने स्वरूप मे स्थिर करना ।

५९वे श्लोक मे भगवान् ने वताया कि इन्द्रियो को वश मे करना हो तो सपूर्ण विपयो का त्याग करने मात्र से वह सधेगा नही । वाह्य विपयो के त्याग से विपयों के प्रति भीतर-भीतर जो रस रहता है, वह नष्ट नही होगा । वह परमात्म-दर्शन से यानी परमात्मा के अनुभव से ही नष्ट हो सकता है । ज्ञानेश्वर महाराज कहते है "वाह्य विपयो का तो आपने त्याग कर दिया, मगर मन से विपयो का त्याग न हुआ तो सारा ससार ज्यो का त्यो रहा । जैसे कि विष की एक वूँद भी पीने मे आ जाय तो भी वह परिणाम की दृष्टि से वहुत हो जाता है । है तो वह एक ही वूँद, किन्तु सम्पूर्ण प्राणो का वह घात कर देती है । वैसे ही मन मे विपयो के वारे मे थोडी-सी भी यदि शका रही यानी थोडी-सी भी आसक्ति रही तो वह विवेक का नाश कर डालती हे ।"

इस तरह इन दो श्लोको मे भगवान् ने यह कह दिया कि विपयो के सिर्फ वाह्य त्याग से इन्द्रियाँ कावू मे नही आ सकेगी । फिर इन्द्रियो को वश मे करने के लिए कोई उपाय है या नही ? श्री भगवान् इस श्लोक मे इन्द्रियो पर विजय के उपाय वता रहे है । सपूर्ण विपयो का वाहर से त्याग या सपूर्ण विपयो का वाहर से उपभोग करते है, तो दोनो स्थितियो मे खतरा है । जैसे उपवास करने से भूख वढती है, वैसे ही विपयो के वाह्य त्याग से भीतरी इच्छा, वासना ज्यादा तीव्रता से खडी होगी । यदि विपयो का वाह्य त्याग न करते हुए इन्द्रियो को वाहर से विपयो के उपभोग मे ही रखे, तो विपयो के प्रति जो इच्छा, वासना मन मे रहती है, वह ज्यादा परिपुष्ट होगी । विपयो के सपूर्ण त्याग से वासना वढती है और विपयो के सपूर्ण भोग से भी वासना वढती है । भीतरी वासना ही आदमी के लिए वन्धनकारी है, वही दु ख का कारण है । इसलिए भगवान् ने ५५वे श्लोक मे स्थित-प्रज्ञ का पहला लक्षण कामना-त्याग, वासना-त्याग वतलाया है । जव तक विपयो के प्रति भीतर कामना है, तव तक इन्द्रियाँ कावू मे नही आ सकेगी । **संपूर्ण त्याग और सपूर्ण भोग, दोनो के वीच की चीज संयम है** । विषयो का पूरा त्याग भी नही करना है और विपयो का पूरा उपभोग भी नही करना है । कोई आदमी रोज उपवास करने लग जाय तो शरीर स्वस्थ, वलवान् नही रह सकेगा और रोज हद से ज्यादा खाने लगे तो भी स्वस्थ, नीरोग नही रह सकेगा । शरीर के लिए आवश्यक खुराक रोजाना लेता रहेगा तो स्वास्थ्य अच्छा रहेगा । कोई आदमी एक दिन वहुत खा ले और दूसरे दिन तुरत उपवास करे तो भी सेहत नही सँभलेगी । वीच का मध्यम मार्ग यानी सयम मार्ग ही स्वीकार करना होगा । अच्छा देखने की कोशिश करे, अच्छा सुनने की कोशिश करे, मर्यादित नैस-र्गिक सुवास लेने की कोशिश करे, सयम से वोलने की कोशिश करे । इस तरह इन्द्रियो के विपय-सेवन मे हर तरह से अच्छापन यानी सात्त्विकता और सयम दाखिल करने की कोशिश करनी होगी ।

दूसरी वात यह कि काम, क्रोध आदि विकारो को क्षीण करने की कोशिश की जाय । थोडे मे

युक्त होने की यानी चित्त को सम रखने की— अलिप्त रखने की, कोशिश की जाय। भीतर में अनासक्ति प्राप्त करने की कोशिश की जाय। इस तरह वाहर से इन्द्रिय-सयम और भीतर से युक्त यानी अलिप्त, निर्विकार वनने की पूरी कोशिश करने पर भी इन्द्रियो पर पूरी विजय पाना सभव नही होता। वहुत कोशिश करने पर भी, प्रयत्न की पराकाष्ठा पर पहुँचने पर भी पूरी सफलता नही मिलती, ऐसा जव आदमी को अनुभव होता है, तव वह परमेश्वर के सामने झुक जाता है, परमेश्वर की शरण जाता है। अति प्रयत्न करने के वावजूद जव इच्छित फल नही मिलता, तव भक्ति की आवश्यकता खडी हो जाती है। यही है तीसरी वात भगवत्-परायणता।

दूसरे अध्याय के इसी श्लोक मे पहले-पहल भक्ति का उल्लेख भगवान् ने यहाँ पर किया है। प्रत्येक अध्याय मे भगवान् ने भक्ति का अनुसन्धान रखा है, क्योकि भक्ति सुलभ साधन है। सुलभता ही उसकी श्रेष्ठता है। तुलसीदासजी कहते है

खल कामादि निकट नहिं जाही।
वसइ भगति जाके उर माहीं॥
गरल सुधासम अरि हित होई।
तेहि मनि विनु सुख पाव न कोई॥

जिनके हृदय मे भक्ति विराजमान है, उनके समीप काम, क्रोध आदि दुष्ट नही जाते। उनके लिए तो विष अमृत के समान और शत्रु भी मित्र के समान हो जाते है। इस भक्तिरूपी मणि के विना किसीको सच्चा सुख प्राप्त नही हो सकता। भगवान् ने यह तीसरी वात भक्ति की वतायी।

भक्ति के आधार के विना इन्द्रियो का पूरी तरह वश मे आना सभव नही, यह जानकर और भीतर से चित्त को योगयुक्त करके जव साधना की जाती है, तव चौथी वात यह वता रहे है कि इन तीन साधनो से इन्द्रियाँ कावू मे आ जायँगी और प्रज्ञा परमात्मा मे स्थिर हो जायगी।

: ६२-६३ :

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

विषयान्=विषयों का, ध्यायतः=ध्यान करनेवाले, पुंसः तेषु=पुरुष को उनमे, संगः=आसक्ति, उपजायते=पैदा होती है, सगात्=आसक्ति से, कामः संजायते=इच्छा पैदा होती है, कामात्=इच्छा से, क्रोध=क्रोध या क्षोभ, अभिजायते=पैदा होता है, क्रोधाद् समोहः भवति=क्रोध मे मूढता पैदा होती है, समोहात्=मूढता या अविवेक से, स्मृतिविभ्रमः=आत्मस्मृति नष्ट हो जाती है, स्मृतिभ्रंशाद्=आत्मस्मृति नष्ट हो जाने से, बुद्धिनाशः=बुद्धिनाश हो जाता है, बुद्धिनाशात्=बुद्धि नष्ट हो जाने से, प्रणश्यति=मनुष्यत्व का नाश हो जाता है।

नीचे गिरने की आठ सीढियाँ इन दो श्लोको मे वतलायी है। ये आठ सीढियाँ इस प्रकार है १ विषयो का ध्यान। २ विषयो के ध्यान से विषयो के प्रति प्रीति, आसक्ति। ३ इससे विषयो की इच्छा यानी काम। ४. काम से क्रोध। ५ क्रोध से मूढता या अविवेक। ६ अविवेक से आत्म-विस्मृति यानी 'मै कौन हूँ' इसका भान न रहना। ७ 'मै कौन हूँ इसका भान नष्ट हो जाने से विवेक का नष्ट होना, यानी वुद्धिनाश—कार्य और अकार्य के वारे मे निर्णय करनेवाली वुद्धि की जो विवेक नामक शक्ति है, उसे खो देना। ८ और वुद्धिनाश से यानी विवेक-शक्ति खो देने से मनुष्यत्व का नाश यानी आत्मनाश हो जाता है।

विनोवाजी ने आठ को छह सीढियो में वाँटा है। काम से जो क्रोध पैदा होता है, उसे अलग नही गिना है। काम मे ही क्रोध का समावेश किया है। अन्त मे वुद्धिनाश यानी मनुष्यत्व का नाश, आत्म-

नाश। इस प्रकार बुद्धिनाश और आत्मनाश को स्वतन्त्र न मानकर बुद्धिनाश मे ही आत्मनाश का समावेश कर दिया है। अगले दो श्लोको मे यह बतलाया है कि इस पतन से किस तरह उठना, सँभलना चाहिए। वहाँ पतन से निकलने की छह सीढियाँ बतायी है। इसके साथ मेल रखते हुए विनोबाजी ने छह सीढियाँ इन दो श्लोको मे बतायी है, वे अधिक समुचित है। पहले यहाँ आठ सीढियो का विचार करे।

(१) मनुष्य के पतन का प्रारम्भ पहले विषयो के ध्यान से होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध—इन पाँच विषयो के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध आता है। इनमे अच्छा और बुरा, ऐसे दो भेद है और सत्त्व, रज और तम इस तरह तीन प्रकार है। अच्छे मे सिर्फ सत्त्वगुण ही समाविष्ट है, बुरे मे रज और तम की गणना होती है। मन मे पूर्व-जन्मो के जो सस्कार रहते है, उनके मुताबिक अच्छे या बुरे विषयो का या सात्त्विक अथवा राजसिक, तामसिक विषयो का आकर्षण होता है। अत भगवान् कहते है कि हमारे मन मे पहले विषयो का ध्यान शुरू हो जाता ह। विषय बुरा हो, फिर भी हमे यदि वह अच्छा लग जाय तो उसका मन मे ध्यान, चिन्तन शुरू होगा। ध्यान करना, मन का स्वभाव है। मन के इस स्वभाव को जो पहचानता है, वह बुरे विषयों का यानी अपने को गिरानेवाले विषयो का ध्यान या चिन्तन नही करेगा। वह अच्छे का ही ध्यान करेगा। विषयो के साथ सम्बन्ध आने पर जिस विषय का हमे आकर्षण होगा, उसका ध्यान या चिन्तन शुरू होता है। यह पहली क्रिया है।

(२) जिस विषय का मन मे ध्यान या चिन्तन चलता है, उसके प्रति प्रीति, आसक्ति, अनुराग पैदा होने लगता है। यह दूसरी क्रिया है।

(३) जिस विषय के प्रति प्रीति, अनुराग पैदा हुआ हो, उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। फिर प्राप्ति के प्रयत्न मे लगे रहते है। यह तीसरी क्रिया है।

(४) वह चीज प्राप्त न हुई या प्राप्त होने मे कुछ बाधा आ गयी तो क्रोध पैदा होता है। यह चौथी क्रिया है।

(५) वस्तु प्राप्त होने पर या उसकी प्राप्ति मे कुछ भी बाधा न आने से उस वस्तु के प्रति लोभ होता है। अतृप्ति से क्रोध और तृप्ति से लोभ, ये दो वृत्तियाँ सहज ही काम से पैदा होती है। इच्छा कभी तृप्त होती ही नही। वह हमेशा अतृप्त ही रहती है। इसलिए इच्छा से क्रोध और तृष्णा ये दो परिणाम सहज ही निकलते है। ये दो परिणाम सबके अनुभव मे आते भी है। क्रोध या लोभ पैदा होने से चित्त डॉवाडोल हो जाता है, चचल हो जाता है। चित्त मे मूढता यानी मोह पैदा होता है। चित्त की स्वस्थता और शाति नष्ट हो जाती है। चित्त मे छटपटाहट, खलबली शुरू हो जाती है। यह पाँचवी क्रिया है।

(६) फिर इस मूढ स्थिति से इस बात की विस्मृति हो जाती है कि 'मै कौन हूँ'। इस स्थिति मे मानव न करने योग्य कार्य कर डालता है। न कहने योग्य वचन कह डालता है। क्रिया करने मे, बोलने मे जो भान रहना चाहिए, जो सावधानी रहनी चाहिए, वह भान या सावधानी रह नही पाती। यह छठी क्रिया है।

(७) दीर्घकाल तक ऐसी स्थिति बनी रहने से बुद्धिनाश होता है—बुद्धि की शक्ति यानी योग्य-अयोग्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप को परखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। कार्य-अकार्य का वह समुचित निर्णय नही कर पाती। यह सातवी क्रिया है।

(८) जहाँ कार्य-अकार्य आदि को परखने की बुद्धि की विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है, वहाँ मनुष्य मनुष्य नही रहता—पशु के समान हो जाता है। **आहार-निद्रा-भय-मैथुन च सामान्यमेतत्**

पशुभिर्नराणाम्—ऐसा शास्त्र का वचन है। अर्थात् आहार, निद्रा, भय और सभोग ये मनुष्य और पशु दोनो मे समान रूप से पाये जाते है। मनुष्य और पशु मे एक ही महान् अन्तर है कि मनुष्य मे बुद्धिशक्ति यानी विवेक-शक्ति है। इससे वह धर्म का पालन करते हुए काम, क्रोध आदि विकारो को क्षीण अथवा नष्ट करके परमात्मा को जान सकता है। यह विवेक-शक्ति पशु-पक्षियो मे नही होती। भोग भोगने की प्रवृत्ति पशु-पक्षी और मनुष्य मे समान होने से मनुष्य की विशेषता भोग भोगने मे हरगिज नही। जहाँ विवेक-शक्ति नष्ट हो गयी, वहाँ मनुष्यत्व नष्ट हो गया। विषयो के ध्यान से गिरने की शुरुआत हुई और आठ या छह सीढी मे मनुष्यत्व के नाश तक नीचे जा पहुँचते है।

एक उदाहरण लीजिये। २०-२५ साल की एक लडकी को २५-३० साल का एक लडका देखता है। उस लडकी के प्रति उस लडके का आकर्पण हो जाता है (१) आकर्पण होने से मन मे उस लडकी का ध्यान, चिन्तन या स्मरण शुरू हो जाता है। (२) उसके प्रति मन मे प्रेम, वासना, आसक्ति पैदा होती है। (३) आसक्ति से सहवास की इच्छा पैदा होती है। सहवास के लिए उस लडकी की सम्मति न हो या उसके माता-पिता की सम्मति न हो तो उस जवान के मन मे (४) क्रोध होता है। जव इच्छा पूर्ण होने मे रुकावट पैदा हो जाती है, तो गुस्सा, क्रोध पैदा होता है। श्री शकराचार्य कहते है **क्रुद्धो हि संमूढः सन् गुरुमप्याक्रोशति**—अर्थात् क्रोधी पुरुप मूढ वनकर, विवेक-शून्य वनकर अपने गुरु को भी गाली देता है। (५) क्रोध से वह अविवेकी मूढ वन जाता है। फिर वह लडका उस लडकी को या उसके माता-पिता को चाहे जैसी वाते सुनाने मे प्रवृत्त होता है, क्योकि चित्त मे ऐसे मौके पर विवेक रह ही नही सकता। जव चित्त की ऐसी स्थिति हो जाती है, तव उसे (६) 'स्वय कौन है' इसका भान नही रह पाता, आत्मविस्मृति हो जाती है। श्री शकराचार्य कहते है **शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजनितायाः स्मृतेः स्याद्विभ्रमो भ्रंशः स्मृत्युत्पत्तिनिमित्तप्राप्तावनुत्पत्तिः**। अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से मन मे पडे हुए सस्कार और उन सस्कारो से पैदा हुई स्मृति का नष्ट होना, इसीका नाम स्मृति-विभ्रम, स्मृति का नष्ट होना है। इस तरह आत्मज्ञान खोने से (७) बुद्धिनाश यानी कार्य-अकार्य, उचित अनुचित, धर्म-अधर्म आदि के भेद को परखने की बुद्धि-शक्ति का नष्ट होती है। वह न करने योग्य अन्तिम क्रिया कर डालता है यानी उस लडकी की या उसके माता-पिता की हत्या तक करने मे प्रवृत्त होता है। जिस पर वह मोहित हुआ था, जिसके बारे मे उसके मन मे अत्यन्त प्रेम पैदा हुआ था, उसीका खून करने मे वह प्रवृत्त होता है। श्री शकराचार्य 'बुद्धिनाश' का अर्थ वताते हुए कहते है **कार्याकार्यविषयविवेकायोग्यताऽन्त करणस्य बुद्धेर्नाश उच्यते**। अर्थात्, अन्त करण की कार्य और अकार्य के वारे मे यानी उसकी पहचान के वारे मे विवेक की अयोग्यता यानी विवेक की कमी, अपात्रता ही बुद्धिनाश है। बुद्धि के नाश के वाद (८) मनुष्यत्व का नाश हो जाता है। श्री शकराचार्य कहते है **तावदेव हि पुरुषो यावदन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविषयविवेकयोग्यं, तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति**।—अर्थात् जव तक मनुष्य का अन्त करण कार्य और अकार्य का विवेक करने, उन्हे परखने योग्य रहता है, तभी तक वह मनुष्य है यानी मनुष्य कहलाने योग्य है। लेकिन कार्य-अकार्य परखने की, पहचानने की यह शक्ति जव नष्ट हो जाती है, तव मनुष्य नष्ट हो ही जाता है, मनुष्यत्व का नाश होता है।

अव एक और उदाहरण ले। मान लीजिये, किसी एक सात्त्विक वहन की किन्ही एक सत पुरुष से भेट होती है और उसके मन मे सत पुरुप के

प्रति आकर्षण होता है। आकर्षण होने से सत पुरुष का (१) हमेशा ध्यान-स्मरण होने लगता है। (२) अनुराग, प्रेम, भक्ति पैदा होने लगती है। उनके साथ पत्र-व्यवहार शुरू होता है। फिर उस बहन के मन मे उनके सत्सग मे (३) रहने की कामना जाग्रत होती है। वह बहन गृहस्थाश्रमी होने से उसके पति, माता-पिता आदि को यह बात अच्छी नही लगती। अब उस बहन के चित्त मे अपनी कामना के लिए रुकावट आने से (४) क्षोभ या गुस्सा पैदा होता है। चित्त क्षुब्ध होने से वह किसी काम मे लग नही पाती। (५) उसके मन मे मूढता छा जाती है। वह उलझन मे पड जाती है। क्या करना चाहिए, यह उसे नही सूझता। मूढता के कारण (६) वह अपना भान भूल जाती है। उसे आत्म-स्मृति नही रहती। उस सत के साथ पत्र-व्यवहार करने से उसे जो थोडा-बहुत ज्ञान मिला था, उसे भी वह भूल जाती है। उसका उससे कोई उपयोग नही हो पाता। उसके साथ पत्र-व्यवहार कायम रखने का भान भी उसे नही रह पाता। चित्त की बेसुध अवस्था का ही उसे अनुभव होता है। इसके बाद (७) उसकी बुद्धि मे कार्य-अकार्य पहचानने की जो शक्ति थी, वह भी नष्ट हो जाती है और वह उस अविवेक-दशा मे कुएँ मे गिरने का निश्चय कर लेती है। और (८) वह कुएँ मे गिरकर आत्महत्या कर लेती है।

'काम से क्रोध पैदा होता है' इस वचन का अर्थ जिस प्रकार सब भाष्यकार करते है, वैसा ही अर्थ ऊपर किया गया है। किन्तु विनोबाजी का अर्थ विचारणीय है। वे कहते है कि काम से क्रोध पैदा होता है, इसका अर्थ यह हुआ कि काम पैदा होने के पहले मन की जो स्वस्थ-शात स्थिति थी, वह उसके पैदा होते ही समाप्त हो जाती है। कामना चित्त मे छटपटाहट पैदा करती है। यही क्रोध है। क्रोध का मतलब गुस्सा नही। काम के पैदा होते ही जो अशाति या अप्रसन्नता का अनुभव होता है, उसे क्रोध शब्द से सूचित किया गया है। इसलिए क्रोध काम से भिन्न नही है। तीसरे अध्याय के ३७वे श्लोक मे भगवान् कह रहे है **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव.** —यह काम रजोगुण से उत्पन्न है और यही क्रोध है।

यह काम ही क्रोध है। विनोबाजी इसीको ध्यान मे रखते हुए 'गीताई' मे लिखते है **क्रोध कामांत ठेविला**—क्रोध काम मे समाविष्ट ही है। श्री ज्ञानेश्वर महाराज कहते है **'जेथ कामु उपजला, तेथ क्रोधु आधीच आला।'**—जहाँ काम पैदा हुआ, वहाँ क्रोध पहले से ही हाजिर रहता है। इसलिए स्थितप्रज्ञ का पहला लक्षण ५५वे श्लोक मे कामना का सपूर्ण त्याग बतलाया है।

विनोबाजी कहते है कि 'काम से क्रोध पैदा होता है' ऐसा माने तो यह कठिनाई आती है कि जब कामना अतृप्त रहती है, इच्छा के अनुसार जब काम बनता नही, तो क्रोध पैदा होता है, यह ठीक है। लेकिन कामना तृप्त हो जाय, इच्छा के अनुसार सब कुछ हो जाय, तो क्रोध पैदा नही होगा। फिर भगवान् ने जो कहा कि काम से क्रोध पैदा होता है, वह मिथ्या साबित होगा। क्रोध से मूढता, मूढता से आत्मविस्मृति, आत्मविस्मृति से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से आत्मनाश, यह जो अनर्थपरपरा बतायी गयी, वह सही साबित नही होगी, क्योकि क्रोध रोक देने से मूढता, आत्म-विस्मृति आदि परिणाम पैदा नही हो सकेगे। फिर विनोबाजी यह कहते है कि इससे निकलने के लिए टीकाकार यह युक्ति बताते है कि काम से क्रोध अपने-आप पैदा नही होता। इच्छा पूरी न हो तो क्रोध पैदा होता है। किन्तु इच्छा पूरी होने पर उसमे से क्रोध के बजाय लोभ पैदा होता है और लोभ से मूढता आदि आगे के परिणाम पैदा हो सकते है। साराश, 'क्रोध पैदा होता है', इसका अर्थ यह हुआ कि काम से 'क्रोध' और 'लोभ' पैदा होते है। विनोबाजी फिर पूछते है कि काम तृप्त होने से यदि लोभ

पैदा न हुआ तो मूढता, आत्म-विस्मृति आदि दुष्परिणाम तो टल ही जायँगे ? इस कठिनाई से निकलने के लिए यह रास्ता निकाला जाता है कि काम कभी तृप्त होता ही नही, वह हमेशा अतृप्त ही रहता है। इसलिए काम जैसे क्रोध को पैदा करेगा, वैसे लोभ को भी पैदा कर सकेगा।

विनोबाजी का कहना है कि 'काम मे क्रोध समाविष्ट है,' ऐसा अर्थ लेने से गीता के तीसरे अध्याय के ३७वे श्लोक मे जो कहा है कि 'काम ही क्रोध है' उसके साथ उपर्युक्त अर्थ का मेल बैठ जाता है। वहाँ क्रोध को काम से अलग गिना ही नही है। इसलिए 'काम से क्रोध पैदा होता है और इसी तरह लोभ भी काम से पैदा होता है' यह अर्थ लेने के बजाय 'काम पैदा होने मे ही उसमे जो अप्रसन्नता रहती है, उसका अनुभव मनुष्य को आने लगता है' यह अर्थ लेना चाहिए। अतएव काम से क्रोध को अलग न गिनना ही उचित है।

फिर अन्त मे बुद्धिनाश यानी मनुष्यता का नाश अर्थ लेना भी ज्यादा समुचित है। बुद्धिनाश और मनुष्यत्व के नाश को भिन्न-भिन्न समझने के बजाय बुद्धिनाश यानी मनुष्यत्व का नाश या आत्मनाश, ऐसा अर्थ लेना ही ठीक है। क्योकि बुद्धिनाश अर्थात् विवेक-शक्ति नष्ट होने पर पशु तथा मनुष्य मे कोई अन्तर नही रहता, इसलिए विवेक-शक्ति से मनुष्यता भिन्न नही है, यह सहज ही ध्यान मे आनेवाली बात है। इसलिए विनोबाजी ने आठ की जगह छह सीढियाँ बना दी है।

ये हुई नीचे गिरने की सीढियाँ। ऊपर चढने की सीढियाँ अगले दो श्लोको मे बतलायी है।

: ६४-६५ :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

तु=लेकिन, **रागद्वेषवियुक्तैः**=राग-द्वेप-रहित, **आत्मवश्यैः**=(और) वश मे की हुई, **इन्द्रियैः**=इन्द्रियो से, **विषयान् चरन्**=विपयो का अनुभव करनेवाला, **विधेयात्मा**=इन्द्रियो का स्वामी, पुरुष, **प्रसादं अधिगच्छति**=प्रसन्नता प्राप्त करता है। **प्रसादे**=प्रसन्नता प्राप्त होने से, **अस्य**=इस पुरुष के, **सर्वदुःखाना हानिः**=सब प्रकार के दुखो का नाश, **उपजायते, हि**=हो ही जाता है, (और) इसीसे, **प्रसन्नचेतसः**=जिसका चित्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ है, उसकी, **बुद्धिः**=बुद्धि, **आशु**=शीघ्र ही, **पर्यवतिष्ठते**=परमात्मा मे स्थिर हो जाती है।

इन दो श्लोको मे उन्नति या ऊँचे चढने की छह सीढियाँ बतायी गयी है

(१) विपयो के ध्यान के बदले, वशीभूत इन्द्रियो से विषयो का बाह्य-सेवन।

(२-३) आसक्ति और काम-क्रोध के बदले राग-द्वेष-रहितता यानी काम-क्रोध-रहितता।

(४) मूढता के बदले मन पर पूरा काबू, पूरी स्वाधीनता।

(५) आत्म-विस्मृति के बदले, आत्म-स्मृति यानी प्रसन्नता और सब दुखो का नाश।

(६) बुद्धिनाश यानी मनुष्यता के नाश के बदले परमात्मा मे बुद्धि की स्थिरता यानी मनुष्यता का रक्षण।

विनोबाजी ने इन चार श्लोको का सार थोडे मे इस तरह बताया है १. विपय-चिन्तन पतन का **बीज** है। २ उससे काम यानी इच्छा का पैदा होना यानी अप्रसन्नता, चित्त की चचलता पैदा होना **शक्ति** है। ३ उस शक्ति से निकलनेवाला बुद्धिनाश **फल** है। यह पतन का मार्ग हुआ।

ऊपर चढने का रास्ता १ विषयो का सेवन करते हुए राग-द्वेप पैदा न होने देना **बीज** है। २ उसमे से निकलनेवाली प्रसन्नता **शक्ति** है। ३ और उसमे से पैदा होनेवाली बुद्धि की स्थिरता **फल** है। यह मोक्ष का रास्ता है।

विपयो के ध्यान और चिन्तन से वुद्धिनाश तक जो पतन होता है, उसके लिए दो उदाहरण दिये गये है । वुद्धिनाश के वदले वुद्धि परमात्मा मे किस तरह स्थिर हो सकती है, यह वात वे ही दो उदाहरण लेकर यहाँ वतायी जा रही है ।

१ किसी लडकी को देखकर एक तरुण को आकर्पण हुआ । २-३ आकर्पण होने के वाद उसके मन मे उस लडकी के प्रति मोह या आसक्ति के स्थान पर पवित्र भाव उठता है ।४ उसके परिचय मे उसके मन मे राग-द्वेप खडे नही होते । उसके सहवास मे रहने की कामना ही न होने से, कामना मे रुकावट आने से क्रोध पैदा होकर जो मूढता पैदा होती है, वह नही होगी । यानी उस वहन के सम्पर्क मे आने पर भी तरुण का अपनी इन्द्रियो पर सव तरह से पूरा कावू रहता है । ५ पूरा कावू होने से उसके परिचय मे या उसके स्मरण मे चित्त की प्रसन्नता का ही अनुभव होगा । वह लडकी आत्म-स्वरुप है, ऐसी अति पवित्र भावना मन मे पैदा होने से प्रसन्नता का अनुभव होकर सव प्रकार के दु ख दूर हो जायँगे । ६ अन्तिम परिणाम यह होगा कि वुद्धि परमात्मा मे स्थिर हो सकेगी ।

अव दूसरा उदाहरण लीजिये, १ किसी सात्त्विक वहन को एक सत पुरुष के प्रति आकर्पण हो गया और उनका ध्यान उस वहन को रहने लगा । २ सत के स्मरण से उनके प्रति आसक्ति होने के वजाय सत के प्रति भक्ति पैदा हुई । ३ भक्ति मे वह वह नही जाती । भक्ति उसके कावू मे रहने से उसका चित्त उस सत के प्रति राग-द्वेष-रहित रहता है । ४ सत के स्मरणमात्र से मन मे भक्ति पैदा होने से उस सत के सहवास मे रहने की आसक्ति, तीव्र कामना पैदा नही होती । कामना न होने से अन्तरायरुपी क्रोध आदि नही आते । क्रोध से जो मूढता पैदा होती है, वह मूढता पैदा न होकर इन्द्रियो पर, मन पर उस वहन का कावू रहता है । ५. अपने मन पर पूरा कावू रहने से उस सत के साथ पत्र-व्यवहार करने से या उसके स्मरण से उसे प्रसन्नता का ही अनुभव मिलेगा । वह सत परमेश्वर का ही स्वरुप है, ऐसा मन मे दृढ विश्वास हो जाने से मन प्रसन्न होकर उसके सव प्रकार के सासारिक दु ख दूर हो जायँगे । आखिर मे ६ उसकी वुद्धि सत के प्रति भक्ति के कारण परमात्मा मे स्थिर हो सकेगी ।

: ६६ :

नास्तिवुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम् ॥

अयुक्तस्य=जिसका चित्त अस्थिर है, चचल है, उसमे, **वुद्धि न अस्ति**=वुद्धि नही रहती, **च**=और, **अयुक्तस्य**=ऐसे चचल पुरुप को, **भावना**=भावना, **न अस्ति**=प्राप्त नही होती, **च**=और, **अभावयत** =जिसमे भक्ति नही, उसे, **शान्तिः न अस्ति**=शान्ति नही प्राप्त होती, **अशान्तस्य**=(और) जो अशात है, उसे, **सुख कुत** =सुख कहाँ मे मिलेगा ?

इस श्लोक मे चार वाते वतायी गयी ह

१ जिसका चित्त चचल हे, इन्द्रियाँ वश मे नही हुई है, उसे स्थिर वुद्धि प्राप्त नही होती ।

२ जिसकी वुद्धि परमात्मा मे स्थिर नही हुई, उसे भक्ति प्राप्त नही होती ।

३ जिसे परमात्मभक्ति प्राप्त नही हुई, उसे शाति नही मिल सकती । और

४ जहाँ शान्ति नही है, वहाँ सुख कैसे मिल सकता है ?

(१) प्रत्येक मनुष्य सुख-प्राप्ति की कोशिश करता है । एक मनुष्य मोटरकार रखता है, सुख के लिए और दूसरा मोटरकार का त्याग करता है, सुख के लिए । एक आदमी वैभव मे सुख का अनुभव करना चाहता है, तो दूसरा वैभव के त्याग मे सुख देखता है । त्यागी को त्याग मे आनन्द आता है तो भोगी को भोग मे । वाह्य वस्तुओ के त्याग या वाह्य वस्तुओ के उपभोग से जो सुख मिलता है, वह स्थायी या अखण्ड नही रहता । यह वात जव अनुभव मे

आती है, तब मनुष्य अखण्ड सुख की खोज मे लगता है। जब तक उसे अखण्ड सुख नही मिलता, तब तक खोज जारी रहती है। त्यागी हो या भोगी, जब मन मे काम, क्रोध, अहकार आदि विकार अपना बल दिखाते है, तब बाह्य त्याग का या बाह्य भोग का आनन्द, सुख टिक नही पाता।

ये विकार मनुष्य को व्याकुल कर देते है। इससे आदमी के ध्यान मे यह बात भलीभाँति जँच जाती है कि ये जब तक मन से दूर नही होगे, तब तक सच्ची और अखण्ड शाति नही मिलेगी। फिर जब वह सत्सग करने लगता है और सत से उसे यह ज्ञान हो जाता है कि जो अखण्ड सुख और अखण्ड आनन्द हम चाहते है, वह अपने स्वरूप के ज्ञान मे है। अपना स्वरूप है परमात्मा। वह अखण्ड है, शात और आनन्दस्वरूप है। लेकिन हमे उसकी पहचान क्यो नही होती? कारण यह है कि हमारा मन पर, बुद्धि पर और इन्द्रियो पर काबू नही रहता। जो अयुक्त है यानी जिसका चित्त और इन्द्रियाँ अधीन नही है, इसलिए जो काम, क्रोध, अहकार आदि विकारो के अधीन है, वह परमात्मा मे स्थिर नही हो सकता। उसकी बुद्धि परमात्मा के साथ एकरूप नही हो सकती।

(२) भगवान् दूसरी बात यह बताते है कि जो परमात्मस्वरूप मे स्थिर नही होता, उसे भावना यानी भक्ति कभी प्राप्त नही होगी। इन्द्रियो पर पूरी विजय प्राप्त करना हो तो वह बिना भक्ति के प्राप्त नही होती। ६१वे श्लोक मे यही बात बतायी है। यही बात भगवान् पुन कह रहे है कि भगवान् मे बुद्धि स्थिर नही की जायगी तो परमात्म-भक्ति प्राप्त नही होगी'।

(३) जब तक परमात्म-भक्ति प्राप्त नही होगी, तब तक सच्ची और अखण्ड शाति नही मिल सकेगी। हमारा स्वरूप ही जब परमात्मा है, तब उसका स्मरण हमेशा करते रहना, हमेशा उसका ही सहारा लेते रहना, उसीकी आसक्ति मन मे रखना स्वाभाविक होना चाहिए। तभी शाति मिल सकेगी।

(४) चौथी बात यह कि शाति के बिना सुख नही मिल सकता। जब चित्त अशात हो जाता है, तब हम बेचैन हो उठते है। कोई बात नही सूझती। मतलब यह कि शाति के साथ सुख चिपका रहता है। किसी भी स्थिति मे सुख को शाति से अलग नही कर सकते। इसलिए जो कोई अखण्ड सुख, अखण्ड आनन्द चाहता है, उसे अखण्ड शाति बनी रहे, ऐसा जीवन-क्रम बनाना चाहिए। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि भुने बीज जैसे अकुरित नही होते, वैसे ही अशात पुरुष को कभी सुख नही मिलता। शकराचार्य कहते है

इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिर्या तत् सुखं, न विषयविषया तृष्णा, दुःखमेव हि सा, न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यते इत्यर्थ। अर्थात् इन्द्रियो की विषयो का उपभोग करने की मन मे जो वासना रहती है, उससे निवृत्ति का नाम ही सुख है। विषयो के बारे मे जो तृष्णा, आसक्ति है, वह सुख नही है। वह तो दुख ही है, उसे दुख ही कहते है, क्योकि जब तक वासना, तृष्णा विद्यमान है, तब तक थोडा-सा भी सुख नही मिल सकता।

: ६७ :

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

हि=क्योकि, **चरताम्**=अपने-अपने विषयो मे, प्रवृत्त होनेवाली, **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियो के, **यत् मनः अनुविधीयते**=पीछे जो मन दौडता रहता है, **तत्**=वह, **अस्य प्रज्ञाम्**=इस पुरुष की प्रज्ञा को, **अम्भसि वायु नाव इव**=पानी मे वायु नौका को जिस तरह खीचकर ले जाती है, वैसे ही, **हरति**=खीचकर ले जाता है।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी गयी है

१ इन्द्रियाँ विषय-सेवन करती है।

(२) तब उनके पीछे मन दौडता रहता है, और (३) मन के पीछे बुद्धि दौडती है। जैसे जल मे नाव को वायु खीचकर ले जाती है, वैसे ही मन बुद्धि को अपने साथ खीच ले जाता है।

विषय-सेवन इन्द्रियो का स्वभाव है। ज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं "इद्रियो का स्वभाव है कि उन्हे विषयो के सिवा दुनिया मे और कोई चीज सुन्दर लगती ही नही। और वे विषय कैसे हैं? मानो मृगजल ही हैं। मृगजल की तरह ही ये विषय मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न मे देखा हुआ हाथी मिथ्या ही रहता है, वैसे ही ये विषय मृगजल की तरह मिथ्या ही हैं।" विषयो के दो प्रकार है—अच्छे और बुरे और सत्त्व, रज, तम, इस तरह तीन प्रकार भी हैं। सत्त्व अच्छे पक्ष मे रहता है, और रज और तम बुरे पक्ष मे रहते हैं। यह बात ५५वे श्लोक मे आयी है। विषय इन्द्रियो को अपनी ओर आकर्पित करते हैं। बाद मे इन्द्रियाँ मन को खीचती हैं। मन इन्द्रियो के साथ ही लगा रहता है।

विषयो की तरफ मन का यह जो खिंचाव है, उसे यदि परमात्मा की तरफ मोडना है तो वह क्रिया एकदम नही होगी। इसके लिए सर्वप्रथम मन को अच्छे की तरफ मोडना होगा। आँख देखने का कार्य तो कभी छोड नही सकती। लेकिन आँख जैसे अच्छे को देखेगी, वैसे बुरे को भी देखेगी। मन को दोनो मे आनन्द मिलता है। लेकिन बुरे का आनन्द टिकता नही और उसका फल आखिर मे दुख ही होता है। अच्छे का आनन्द टिकता है, उससे दुख का फल पैदा नही होगा। अच्छे की ओर सदा मन का आकर्पण रहा तो वह आकर्पण परमात्मा की ओर ले जायगा, क्योकि परमात्मा सत्स्वरूप है। परमात्मा की माया असत् होने मे असत् का आकर्पण माया की ओर ले जाता है। सोने का गहना सोने का भास है। लोग गहनो पर मोहित रहते है। लेकिन गहना सोने से पृथक् नही है। लोग गहनो पर जितना मोहित रहते हैं, उतना सोने पर मोहित नही होते। सोने के दो गहने बनाये—एक खूबसूरत और दूसरा बदसूरत। दोनो मे सोना एक होते हुए भी दोनो गहनो की कीमत मे बहुत अन्तर होता है। कारण यही है कि दोनो के आकार मे फर्क है। आकार वस्तु नही है। गहने का आकार सोने से भिन्न नही है। इतना होते हुए भी एक आकार को हम सुन्दर कहते है और दूसरे को कुरूप। सुन्दर पर हम मोहित होते है और कुरूप से नफरत करते है। यही माया है। मन को विषयो का आकर्पण इसी माया के कारण होता है। इसकी तह मे अज्ञान होता है। जब वस्तु-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है यानी 'जिस मूल आधार पर विषयो का आकार दिखाई देता है, वह मूलवस्तु सत्य है; इसे परमात्मा या ब्रह्म कहते है और इस मूल कारण के आधार से ही सृष्टि के सब विषय, सब पदार्थ दिखाई देते हैं'—यदि मन को इस तरह का ज्ञान हो जाय, तो विषयो का आकर्पण होने के बजाय विषयो के प्रति वैराग्य पैदा होगा और मन विषयो के पीछे नही दौडेगा। यह ज्ञान पैदा होने के लिए ही विषयो के ग्रहण मे सात्त्विकता लानी चाहिए। सत तुलसीदासजी कहते है

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई।
जागें जथा सपन भ्रम जाई॥

अर्थात् जिस तरह डोरी की पहचान न होने से वह सर्प-जैसी भासमान होती है, वैसे ही परमात्मा की पहचान के बिना यह असत्य जगत् भी सत्य भासित होता है। जैसे जागने पर स्वप्न-भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही परमात्मा की पहचान होने पर जगत् का स्वरूप ध्यान मे आ जाता है।

जब तक विषय हमे सत्य लगते है, तब तक विषयो की तरफ हमारा चित्त दौडेगा ही। और

मन जब इन्द्रियों के पक्ष में आ जाता है, तब अकेली बुद्धि का कोई बस नहीं चलता। विषयों की निस्सारता को बुद्धि भले ही ठीक-ठीक जान ले, जँच भी जाय, किन्तु मन के आगे उसका बस नहीं चलता। वह हत-बल हो जाती है। जैसे नौका को जोर की हवा जबरन् खींच ले जाती है, वैसे ही जहाँ मन है, वहाँ उसके पीछे बुद्धि को विवश होकर जाना पड़ता है। आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन, मन के अधीन इन्द्रियाँ, ऐसी हमारी स्थिति होनी चाहिए। लेकिन हमारी स्थिति इससे उलटी रहती है—इन्द्रियों के अधीन मन, मन के अधीन बुद्धि और बुद्धि के अधीन आत्मा। इन्द्रियों के अधीन रहते हैं तो पतन होता है। लेकिन परमात्मा की प्रेरणा से, परमात्मा के अधीन हम चलते हैं, तो उन्नति होती है।

: ६८ :

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तस्मात्=इस कारण, **महाबाहो**=हे अर्जुन, **यस्य इन्द्रियाणि**=जिसकी इन्द्रियाँ, **इन्द्रियार्थेभ्य**=इन्द्रियों के विषयों से, **सर्वशः निगृहीतानि**=सब प्रकार से, वश में की गयी हैं, **तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**=उसकी बुद्धि परमात्मा में स्थिर हो गयी।

५९वें श्लोक में जो प्रकरण शुरू हुआ, उसकी समाप्ति इस श्लोक में की गयी है। इस श्लोक में ५८वें श्लोक में बताया हुआ लक्षण दुहराया है। लक्षण समान होते हुए भी ५८वें श्लोक में स्थितप्रज्ञ के प्रकरण में और इस श्लोक में साधक के प्रकरण में आया है। अन्तर्बाह्य सब इन्द्रियों पर स्वामित्व प्राप्त करना, यही स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का सार है। इन्द्रियों का विषयों के अधीन हो जाना ही परमात्मा की पहचान में बड़ी रुकावट है। कठोपनिषद् (२ १ १) का एक मन्त्र है

पराचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

अर्थात् 'स्वयम्भू परमात्मा ने छिद्र यानी इन्द्रियाँ बहिर्मुख बनायी हैं, इसलिए वे बाह्य विषयों का ग्रहण करती हैं। भीतर के परमात्मा को नहीं देखती। लेकिन इन्द्रिय-संयमी, इन्द्रिय-निग्रही धीर पुरुष मोक्ष की इच्छा रखकर आँख आदि सब इन्द्रियों को, सब विषयों से हटाकर देहस्थित परमात्मा को देख लेता है।' स्वयभू परमात्मा ने सब इन्द्रियों को अन्तर्मुख न बनाकर बहिर्मुख ही बनाया है। इसी कारण यह संसार क्षणिक और विनाशी होते हुए भी लोग उसके बन्धन में फँसे रहते हैं। इतने पर भी आदमी को सुख नहीं मिलता। थोड़ा सुख मिलता है, तो काफी दुःख भी साथ-साथ लगा रहता है। संसार में कोई विरल, विरक्त पुरुष मोक्ष की जिज्ञासा होने से इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर भीतर स्थित परमात्मा का दर्शन करता है। अतः श्री भगवान् इस श्लोक में बतला रहे हैं कि इस तरह जो साधक या मुमुक्षु इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी बुद्धि और उसका मन परमात्मा में स्थिर हो जाता है।

[यहाँ साधक या मुमुक्षु का १० श्लोकों का प्रकरण समाप्त हुआ। अगले चार श्लोकों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण फिर से बताये जा रहे हैं।]

: ६९ :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सर्वभूतानाम्=सब भूतों के लिए, **या निशा**=जो रात है, **तस्याम्**=उसमें, **संयमी**=संयमी, **जागर्ति**=जाग्रत रहता है, **यस्यां भूतानि जाग्रति**=(और) जिसमें सब लोग जागते हैं, **सा**=वह, **पश्यतः मुनेः**=ज्ञानी, मुनि की **निशा**=रात्रि है।

इस श्लोक मे स्थितप्रज्ञ के दो लक्षण वताये है (१) सव भूत जिसमे सोये रहते है, उसमे सयमी, ज्ञानी पुरुप जाग्रत रहता है, (२) और जिसमे सव भूत जाग्रत रहते है, उसमे ज्ञानी, मुनि सोया रहता है ।

इस श्लोक का अक्षरार्थ लिया जाय, तव तो रात को जागनेवाले स्टेशन मास्टर, पहरेदार, रात-पाली के मजदूर आदि सव ज्ञानी हो जायँगे । गाधीजी ने अक्षरार्थ करके भी खूवी से अर्थ वताया है । वे कहते है कि भोगी जन रात को वारह वजे तक नाच-गाना, खान-पाना, सिनेमा आदि मे अपना समय विताते है और सुवह सात-आठ वजे तक सोये रहते है । सयमी रात के सात-आठ वजे सोकर, फिर दो वजे उठकर ईश्वर का ध्यान करता रहता है । सूक्ष्म अर्थ वताते हुए वे कहते है कि भोगी पुरुप ससार का प्रपच वढाता रहता है और ईश्वर को भूल जाता है, जव कि सयमी ससार के प्रपच से अलिप्त रहता है और ईश्वर का साक्षात्कार करता है ।

(१) पहली वात यह वतायी कि जिस विपय मे लोग सोये रहते है यानी जिस परमात्मा के वारे मे, निप्कामता के वारे मे, फलासक्ति-त्याग के वारे मे, अनासक्ति के वारे मे, वैराग्य के वारे मे, सत्त्विकता का उत्कर्प करने के वारे मे वेफिक्र, गाफिल, लापरवाह रहते है, उस विपय मे स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुप जाग्रत, दक्ष रहता है । सव लोग परमात्मा का ध्यान, स्मरण, भक्ति नही करते है, लेकिन सयमी, स्थितप्रज्ञ परमात्मा के स्मरण मे, स्वरूप मे, भक्ति मे तल्लीन रहता है । लोग निप्काम वनने का अभ्यास कभी नही करते, पर स्थितप्रज्ञ पूर्ण निप्काम रहता है । लोग फल के विपय मे अनासक्त नही रह पाते, लेकिन स्थितप्रज्ञ कर्म-फल के विपय मे पूर्ण अनासक्त रहता है । लोग जगत् के वारे मे अनासक्त नही रह पाते, स्थितप्रज्ञ जगत् के विपय मे, जगत् के सारे व्यवहार मे अनासक्त रहता है । लोग सात्त्विकता को वढाने मे शिथिल रहते है, स्थितप्रज्ञ हर कार्य मे सात्त्विकता वनाये रखने मे दक्ष रहता है ।

(२) दूसरा लक्षण यह है कि जिस विपय मे सव लोग वहुत जाग्रत रहते है यानी जिस ससार के प्रपच मे वहुत सचेत रहते है, आसक्त रहते है, उस वारे मे स्थितप्रज्ञ सोया रहता है । यानी जव कि लोग ससार की खटपट मे वहुत जाग्रत रहते है, तव स्थितप्रज्ञ प्रपच से अलिप्त रहता है । लोग अनेक प्रकार की कामनाएँ रखते है, स्थितप्रज्ञ के मन मे जगत् के किसी भी विषय के वारे मे कामना नही रहती । उसके मन मे एक ही कामना रहती है कि परमात्मा से किसी भी स्थिति मे मै अलग न रहूँ । सव लोग कर्म-फल की तरफ लक्ष्य रखते हुए यानी आसक्त होकर कर्म करते है ।—'यदि मुझे कर्म करना है, तो उसके फल की आसक्ति, तृष्णा रखूँगा ही, वह मै छोड नही सकता । यदि फलासक्ति छोडनी है, तो कर्म क्यो करूँ ? फिर तो मै कर्म करना ही छोड दूँगा ।' साधारण लोगो की, कर्म करने की दृष्टि विशुद्ध कर्तव्य की नही रहती । स्थितप्रज्ञ की दृष्टि विशुद्ध कर्तव्य की ही रहती है । वह कर्तव्य समझकर कर्म करता है । ईश्वरीय प्रेरणा से कर्म करेगा और उसका इप्ट परिणाम न आये, तो भी वह तटस्थ रहेगा । कर्तव्य-कर्म, स्वधर्म को वह किसी भी हालत मे नही छोडेगा ।

स्थितप्रज्ञ के लिए—

विपदो नैव विपद· सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद्विस्मरणं विष्णो. संपन्नारायण-स्मृतिः ॥

विपत्तियाँ या सकट विपत्तियाँ और सकट नही है । लोगो की दृष्टि मे जो सम्पत्तियाँ, अनुकूल परिस्थितियाँ है, वे उसके लिए सम्पत्तियाँ नही है । विष्णु का यानी सर्वव्यापी परमात्मा का विस्मरण ही विपत्ति है, सकट है और परमात्मा का अखण्ड स्मरण ही सम्पत्ति या अनुकूलता है ।

: ७० :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति, सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

यद्वत्=जिस प्रकार, **आपूर्यमाणम्**=चारो ओर से, आकर भरनेवाले पानी से, **अचलप्रतिष्ठम्**=जिसकी मर्यादा जरा भी कम-ज्यादा नही होती, **समुद्र आपः**=समुद्र मे, पानी यानी नदियाँ (जैसे), **प्रविशन्ति**=प्रवेश करती हैं, **तद्वत्**=उसी प्रकार, **सर्वे कामाः**=सब प्रकार के काम, **यम्**=जिस-मे, **प्रविशन्ति**=निर्विकारता को कायम रखते हुए प्रवेश करते है, **सः**=वह स्थितप्रज्ञ पुरुष, **शान्ति आप्नोति**=परम शान्ति को प्राप्त करता हे, **कामकामी न**=लेकिन विषयो मे आसक्त पुरुष शान्ति प्राप्त नही कर सकता ।

इस श्लोक मे चार बाते हैं . (१) बडी-छोटी सब नदियो का जल समुद्र मे प्रवेश करता हैं, फिर भी समुद्र न तो बढता हैं, न सूखता है। (२) इसी तरह स्थितप्रज्ञ पुरुष मे चारो ओर से विषयोपभोग प्रविष्ट होते ही अपना स्वरूप खो देते है, वे स्थितप्रज्ञ की परमात्म-समाधि को विचलित नही कर पाते । (३) जिनकी ऐसी स्थिति है, वे ही परम शाति को प्राप्त करते हैं, (४) लेकिन भोगो मे आसक्त परम-शाति प्राप्त नही कर सकते ।

(१) स्थितप्रज्ञ की भीतरी स्थिति कितनी ऊँची रहती है, यह बतलाने के लिए समुद्र का उदा-हरण दिया गया है। समुद्र मे कितना भी जल नदियो से या बरसात से प्रविष्ट होता रहे, उसमे कोई अन्तर नही पडता—न वह बढता है, न घटता है।

(२) इसी तरह स्थितप्रज्ञ पुरुष का विषयो के साथ सम्बन्ध तो आता ही है, लेकिन उसके मन मे विकार नही उठते । स्थितप्रज्ञ पुरुष विषयो को विषय के रूप मे न देखकर परमात्मा के रूप मे ही देखता है । शकराचार्य अपने भाष्य मे लिखते है **विषयसन्निधावपि, सर्वत इच्छाविशेषा यं पुरुषं समुद्रमिवापः अविकुर्वन्तः प्रविशन्ति सर्वे आत्मन्येव प्रलीयन्ते न स्वात्मवशं कुर्वन्ति।** अर्थात् विषय सामने आने पर भी सब प्रकार से विशेष इच्छाएँ, कामनाएँ जिस स्थितप्रज्ञ मे, उसी तरह विकार पैदा न करते हुए, प्रवेश करती है, जिस प्रकार पानी समुद्र मे प्रवेश करता है। और सब कामनाएँ परमात्मा मे ही विलीन होती हैं। वे काम नाएँ, इच्छाएं उस पुरुष को अपने वश मे नही करती, नही कर सकती ।

विषयो के साथ सम्बन्ध आते ही मनुष्य के चित्त पर राग-द्वेषात्मक, काम-क्रोधात्मक परिणाम होता है। उसे कैसे टाला जाय ? जब तक मन से आसक्तिमूलक आग्रह जाता नही, तब तक मन मे राग-द्वेष उठते रहेगे, उन्हे रोका नही जा सकता । जब तक राग-द्वेष क्षीण नही होते, तब तक शाति नही मिल सकती। लेकिन स्थितप्रज्ञ की स्थिति समुद्र जैसी होती है। समुद्र मे चाहे जितना पानी भर जाय, उसमे कोई अन्तर नही पडता। इतना ही नही, ज्ञानी होने से उसे अपने लिए कुछ करना शेष न रहने से वह समाज-सेवा के लिए ही जीवित रहता हैं। समाज-सेवा मे अनुकूलता-प्रतिकूलता तो रहेगी ही। चूँकि इस पुरुष ने परमात्मा का यानी निज-स्वरूप का अनुभव लिया है, इसलिए चाहे जैसे निराशा के या जटिल प्रसग हो, वह समुद्र की तरह या हिमालय की तरह अविचल रहता है। राग-द्वेषात्मक या काम-क्रोधात्मक परिणाम चित्त पर न होने देकर उसमे से कुशलतापूर्वक वह मार्ग निकालता है। किसी भी परिस्थिति से वह दब नही जाता। वह परिस्थिति पर हमेशा विजय पा लेता है। श्री गौडापादाचार्य माण्डूक्योपनिषद् की अपनी कारिका मे लिखते है **अनादिमायया सुप्तो यदा जीव' प्रबुद्धयते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्धयते तदा।** अर्थात् अनादि माया से सुप्त जीव जब जाग्रत हो जाता है, तब जिसे जन्म कभी नही, जो कभी सोया

हुआ नही है, जहाँ पर कोई स्वप्न नही है, ऐसा जो अद्वैत परमात्मा है, उसको जान लेता है।

स्थितप्रज्ञ पुरुष पूरा जाग गया है, उसे परमात्मा की पहचान हो गयी है, सृष्टि की पहचान भी ठीक-ठीक है। दोनो की पहचान होने से वह कभी विपम प्रसग मे गडवडाता नही, क्योकि उसके मन मे अद्वैत का अनुभव होता रहता है। तकलीफ हमेशा द्वैतभाव से होती है। जव तक सृष्टि मे दीखनेवाला भेद सत्य लगता है, तव तक मन से भेद या द्वैत की भावना का निकालना असभव है। लेकिन जव मालूम हो जाता है कि भेद सत्य नही है, अभेद यानी अद्वैत ही सत्य है, तव भेदभाव से जो तकलीफ होती है, वह अनुभव मे नही आती। सत तुलसीदासजी लिखते है

काल सुभाउ करम वरिआई।
भलेउ प्रकृतिवस चुकइ भलाई॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेही।
दलि दुख दोष विमल जसु देही॥

काल यानी परिस्थिति, स्वभाव यानी हरएक की प्रकृति और कर्म यानी हम जो शुभ-अशुभ कर्म करते है उनके सस्कार, इन तीन कारणो की प्रवलता से भले लोग भी अपनी सज्जनता कभी-कभी छोड देते है। मगर हरिभक्त इतने सावधान, इतने जाग्रत रहते है और इतनी कुशलता से व्रताव करते है कि दुख और दोपो को दूरकर, जगत् मे शुद्ध यश ही फैलाते है।

(३) परमात्मा की पहचान से और सृष्टि का मिथ्यात्व, क्षणिकत्व ध्यान मे आने से स्थितप्रज्ञ के चित्त पर जव कोई परिणाम नही होता, तव सहज ही उसे शाति मिलती है। शाति सवका निज-स्वरूप है। अपने परमात्म-स्वरूप को पहचानने के कारण स्थितप्रज्ञ की शाति समुद्र की तरह अखण्ड रहती है और कोई भी विकार उसकी शाति को विचलित नही कर सकता।

(४) चौथी वात यह है कि विपयो के पीछे पडे हुए मनुष्य को, विपयासक्त पुरुप को ऐसी शाति नही मिलती। मृगजल से प्यास नही वुझती विपय सही नही है। विपय सही हो तो उन विपयो से अवश्य शाति मिलती। परमात्मा सत्य वस्तु है और उससे भासित सारा जगत् और सारे विषय असत् है। इसलिए असत् विपयो मे आसक्त होने से शाति कभी मिल नही सकती।

अगले श्लोक मे वताया है कि कामना-त्याग और निर्मम, निरहकार, नि स्पृह वनकर रहने से शाति मिलती है।

: ७१ :

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति नि·स्पृहः।
निर्ममो निरहकार. स शान्तिमधिगच्छति॥

यः पुमान् सर्वान् कामान्=जो पुरुष सव कामनाओ को, **विहाय**=त्यागकर, **नि स्पृह.**=स्पृहारहित, **निर्ममः**=ममता-रहित, **निरहकर** =अहकाररहित होकर, **चरति**= विचरता है, **स**·=वह, **शान्ति अधिगच्छति**=शान्ति प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे तीन वाते वतलायी गयी है (१) कामना-वासना का त्याग, (२) नि स्पृह, निर्मम, निरहकार वनकर रहना और (३) इससे शाति प्राप्त करना।

५५वे श्लोक मे स्थितप्रज्ञ के लक्षण वतलाना शुरू करके उसके पूर्वार्ध मे सव कामनाओ और वासनाओ के त्याग को पहला लक्षण वताया गया था, वही लक्षण इस श्लोक मे दुहराया गया है।

(१) वासनाओ का त्याग एकदम नही हो सकता, क्रम से ही हो सकता है। पहले मन मे जितनी भी वुरी वासनाएँ है, जो कि हमे नीचे गिराती है, उन्हे छोडने की कोशिश करनी चाहिए। अच्छी वासनाएँ रखकर ही वुरी वासनाएँ छोडी जा सकती है। जिनके मन मे उपन्यास, कथा-कहानी पढने की वासना रहती है, उनसे गीता या व्रह्मसूत्र पढ़ने की अपेक्षा रखना सभव नही।

उनसे पहले सत्पुरुषो का पुण्य-चरित्र पढने के लिए कहना चाहिए। उसकी आदत लग जाने पर उपन्यास, कथा-कहानियाँ पढने की आदत छूट जायगी। इससे तत्सम्बन्धी वासना भी क्षीण हो जायगी। वासना छोडने का मतलब है बुरी वासना को छोडकर अच्छी वासना रखना। दीर्घ काल तक अच्छी वासनाओ का अभ्यास हो जाने पर अच्छी वासनाएँ भी छोडने का अभ्यास हो जायगा। हरएक क्रिया केवल कर्तव्य समझकर करने की दृष्टि आ जाने पर ही वासना पर काबू आ सकेगा। कठोपनिषद् का एक मन्त्र है

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

अर्थात् मनुष्य के हृदय मे जो काम है, जो वासनाएँ है, वे सब जब छूट जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है और इसी जन्म मे ब्रह्म को यानी परम शान्ति को प्राप्त करता है।

(२) नि स्पृहता यह दूसरा लक्षण बतलाया है। विनोबाजी ने स्पृहा का अर्थ जीने की इच्छा किया है। मनुष्य मे जीने की प्रबल इच्छा होती है। शरीर के अणु-अणु मे व्याप्त जो अहता है, उसीसे जीने की इच्छा होती है। जीना और मरना, दोनो का समान होना बहुत कठिन है। लेकिन परमात्म-भक्ति से जो जीते है, उन्होने मरण को जीत लिया, ऐसा समझना चाहिए। मरण को जीतना परमात्म-भक्ति से ही सम्भव है। परमात्म-भक्ति से जीना यानी अहकार को खतम करना। अहकार खतम करना यानी मृत्यु को जीतना। यही चीज उत्तरार्ध मे बतला रहे है। नि स्पृहता के साथ निर्मम और निरहकार ये दो बाते स्थितप्रज्ञ मे पायी जाती है। 'मै' और 'मेरा' यही बन्धन है। विनोबाजी कहते है कि बकरी जब जीवित रहती है, तब वह 'मै मै' करती है। जब मर जाती है और उसके चमड़े की ताँत बनायी जाती है और उससे रूई धुनी जाती है, तब 'तु ही' 'तु ही' आवाज निकलती है। आदमी की हालत वैसी ही है—जब वह परमात्म-भक्ति नही करता, उसका सारा जीवन 'मै' 'मेरे' मे रहता है, जब उसमे परमात्म-भक्ति पैदा हो जाती है, तब 'मै' 'मेरा' निकल जाता है और 'तू ही' 'तू ही' की अवस्था प्राप्त होती है। इस तरह की शून्यावस्था स्थितप्रज्ञ ने प्राप्त कर ली है और

(३) इसीसे उसने परमात्मा को पा लिया है यानी परम शाति प्राप्त कर ली है, यह तीसरी बात बतायी है।]

[अगले श्लोक मे इस स्थिति को 'ब्राह्मी-स्थिति' कहा है। और इस स्थिति के बाद स्थितप्रज्ञ 'ब्रह्म-निर्वाण' को प्राप्त कर लेता है, ऐसा बतला रहे है।]

: ७२ :

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

पार्थ एषा=हे अर्जुन, यह, **ब्राह्मी स्थिति**=ब्राह्मी स्थिति है, **एनाम् प्राप्य**=इसे प्राप्त करके, **न विमुह्यति**=कभी मोहित नही होता, **अस्याम्**=इस ब्राह्मी स्थिति मे, **अन्तकाले अपि स्थित्वा**=मृत्यु के समय पर भी स्थित रहकर, **ब्रह्मनिर्वाणं ऋच्छति**=ब्रह्म-निर्वाण को पा लेता है।

इसमे चार बाते बतलायी है (१) स्थितप्रज्ञ की स्थिति 'ब्राह्मी स्थिति' है। (२) यह स्थिति प्राप्त होने पर मनुष्य कभी भी मोह मे नही फँसता। (३) यह स्थिति अन्तकाल तक रहती है। (४) इसके बाद ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है।

स्थितप्रज्ञ के ५४ से ७२ तक इन १९ श्लोको मे पहला श्लोक अर्जुन के प्रश्न का है। ५५ से ५८ ये चार श्लोक स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते है। आगे ६८ तक १० श्लोक मुमुक्षु या साधक के लिए है। अतिम यानी ६९ से ७२ तक के ४ श्लोको मे पुन स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये गये है। इस

अंतिम श्लोक मे वतलाया है कि स्थितप्रज्ञ को कौन-फल प्राप्त होता है।

(१) स्थितप्रज्ञ की जो स्थिति लक्षणो के वर्णन के बाद वतलायी है, उसे 'ब्राह्मी स्थिति' कहते है। ब्राह्मी स्थिति यानी वह स्थिति, जिसमें मनुष्य दिन-रात ब्रह्म मे यानी परमात्मा मे ही लीन रहे। उस स्थिति को प्राप्त मनुष्य इन्द्रियो के विपयो मे परमात्मा को ही देखता है। यहाँ पर जगत् और जगत् के सारे पदार्थ हमे प्रत्यक्ष है। उनका ज्ञान हमे होता रहता है। लेकिन जगत् के पदार्थ जिससे पैदा होते है, वह मूल कारणरूप पदार्थ, जिसे परमात्मा या ब्रह्म कहते है, पदार्थो के दर्शन मे दिखाई नही देता, क्योकि वह स्थूल वस्तु नही है। इसलिए पदार्थो का ज्ञान होते ही उस परमात्मा का ज्ञान नही होता और यह प्रतीति न आने से ही हम विपयो मे आसक्त रहते है। स्थित-प्रज्ञ ने परमात्मा को पहचान लिया है। इसलिए उसकी दृष्टि मे परमात्मा वैठ गया है। वह विपयो मे परमात्मा ही को देखता है। इस स्थिति का वर्णन भगवान् ने ७वे अध्याय के १९ वे श्लोक मे इस प्रकार किया **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ.** यानी जिसके लिए सव-कुछ वासुदेव ही वन गये है, ऐसे महात्मा दुर्लभ है।

(२) दूसरी वात है, उपर्युक्त ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होने पर स्थितप्रज्ञ कभी मोह मे नही फँसता, कभी मूर्च्छित नही होता। ईशावास्योपनिपद् का ७वाँ मन्त्र इस प्रकार है

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोह' क. शोक एकत्वमनुपश्यत'॥

अर्थात् जिस स्थिति मे, जिस ज्ञानावस्था मे ज्ञानी पुरुप के लिए सव भूत परमात्मा ही हो गये, उस परमात्म-स्थिति मे, ज्ञानावस्था मे एक परमात्मा को ही देखनेवाले उस ज्ञानी पुरुप के लिए मोह कैसा और शोक कैसा?

'ब्राह्मी स्थिति' प्राप्त होने पर उसमे मनुष्य कभी डिगता नही, मोहित नही होता। मोह अज्ञाना-वस्था का कार्य है। उसका अनुभव देहावस्था में होता है। देह से जो अलग हो गया और जिसका आसन परमात्मा मे लग गया, वह कभी मूर्च्छित नही होता। जिस अवस्था से कभी पतन नही होता, कभी स्खलन नही होता, वही 'ब्राह्मी स्थिति' है।

(३) तीसरी वात है—'ब्राह्मी स्थिति' की महिमा ऐसी है कि वह अतकाल तक टिकती है। मृत्यु के समय भी यह स्थिति वनी रहती है। मृत्यु का समय महत्त्वपूर्ण है। परीक्षा मे पास होने के लिए विद्यार्थी सालभर वरावर अभ्यास करता रहता है, वैसे ही हम भी जीवन जीते है। हमारी तैयारी इस हद तक होनी चाहिए कि हम मृत्यु को जीत सके, मृत्यु के समय हमे हरि-स्मरण होना चाहिए। अन्यथा मृत्यु के समय की वेदना हमे मूर्च्छित करेगी। हम मृत्यु की वेदना को वरदाश्त नही कर सकेंगे। आठवे अध्याय के पाँचवे से दसवे श्लोक तक मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण रहना चाहिए और परमात्मा का अखण्ड स्मरण सारे जीवन मे रहे, तो ही अन्त समय परमात्मा का स्मरण करके उसे क्या फल मिलता है, यह वतलाया है। अन्तकाल का महत्त्व इसलिए भी है कि हमारी भावना के अनुसार आगे कौन-सा जन्म मिलेगा, यह भी उसी समय निश्चित हो जाता है। फिर अन्तकाल मे उसीका स्मरण या उसीकी भावना पैदा होगी, जिसका स्मरण या जिसकी भावना सारे जीवन मे हमने रखी होती है। जीवनभर जिन्होने पाप-कर्म किया हो, उन्हे अन्त-काल मे ईश्वर का स्मरण होगा, ऐसा नही मान सकते, क्योकि पापकर्म से सचित सस्कार उनके अनुकूल भावना को ही अतकाल मे पैदा करते है। लेकिन यह हो सकता है कि पूर्वजन्म के पाप-कर्मो का फल भुगतना खतम होने पर पूर्वजन्म के पुण्य का फल भुगतना शुरु हुआ हो और सत्सग मे

उसकी साधना शुरू हो गयी हो और उसकी साधना परिपूर्ण होने के समय ही अन्तकाल आ गया हो तो उस समय, अन्तकाल मे भगवत्-स्मरण अवश्य होगा। यह भी हो सकता है कि साधना मे मन्दता रही हो और इतने मे उसे 'कैन्सर' जैसी तीव्र बीमारी हो जाय, और उसके ध्यान मे आ जाय कि बीमारी से हम अच्छे तो होगे नही। मृत्यु अब नजदीक आ रही है और उसे यह भी पता है कि 'कैन्सर' की बीमारी लबी चलती रहती है और शारीरिक दर्द भी बहुत तीव्र रहता है। ऐसे समय उसके मन मे अति-जाग्रति पैदा होकर साधना मे बहुत तीव्रता आ सकती है और अन्तकाल मे उसकी आन्तरिक स्थिति बहुत अच्छी रह सकती है। मृत्यु के समय शारीरिक वेदना बहुत बढ जाने पर भी परमात्मा की ही स्मृति के साथ उसकी देह छूट सकती है। अत. यहाँ यह अर्थ भी ले सकते है कि अन्तकाल मे भी किसीको 'ब्राह्मी स्थिति' प्राप्त हो जाय, सारे जीवन मे या मृत्यु के पहले तक उसे ब्राह्मी स्थिति का अनुभव न आया हो, लेकिन पूर्वजन्म के पुण्य का, पुण्य-कर्म का फल भुगतना उस समय यानी अन्तकाल मे शुरू हुआ हो या साधना की तीव्रता बढ जाने से मृत्यु के समय ही ब्राह्मी स्थिति का अनुभव आये, तो भी वह मुक्त हो सकता है। परन्तु इस प्रकार ब्राह्मी स्थिति का अनुभव मृत्यु के समय ही आना यानी सारे जीवन मे उसका अनुभव कभी न आकर मृत्यु के समय ही ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होना असभव-सा है, यही समझना चाहिए। फिर भी किसी विरल पुरुष को सारे जीवन मे ब्राह्मी स्थिति का अनुभव न आने पर भी मृत्यु के समय ही ब्राह्मी स्थिति का अनुभव आ सकता है। लेकिन सामान्य नियम तो यही रहेगा कि सारे जीवन मे साधना करके ब्राह्मी स्थिति का अनुभव किया हो, तभी वह स्थिति अन्तकाल मे टिक सकती है।

(४) चौथी बात है—ब्राह्मी-स्थिति के अनुभव के बाद शरीर छूट जाने पर तुरत ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त होगा। दूसरा जन्म नही लेना पडेगा। यहाँ पर एक सवाल खड़ा हो सकता है कि शरीर रहते हुए मोक्ष का अनुभव नही हो सकता है क्या ? इसका जवाब यह है कि शरीर रहते हुए ब्राह्मी-स्थिति के अनुभव मे वह मुक्ति यानी मोक्ष का ही अनुभव ले रहा है, लेकिन मुक्ति का अनुभव लेते हुए भी देह की उपाधि प्रारब्ध-कर्म क्षीण होने तक चालू रहेगी। क्योकि ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त होते ही देह छूटती नही है। देह छूटना तो प्रारब्ध-कर्म के अधीन है। जब तक प्रारब्ध-कर्म क्षीण नही होता, तब तक ब्राह्मी स्थिति का यानी मुक्ति का अनुभव आने पर भी देह नही छूटती। जब तक देह की उपाधि है, तब तक अन्तिम मुकाम पर हम पहुँच गये, ऐसा नही मानना चाहिए। इसलिए विनोबाजी ने ब्राह्मी-स्थिति और ब्रह्म-निर्वाण, इन दोनो मे जो थोडा अन्तर है, वह बडे मार्मिक ढग से बताया है। वे कहते है कि ब्राह्मी-स्थिति का अर्थ जहाँ से नीचे गिरना नही और ब्रह्मनिर्वाण यानी जहाँ से आगे जाना नही। इसका मतलब यह हुआ कि जब तक देह की उपाधि है, तब तक ब्राह्मी-स्थिति के अनुभव के बाद भी ब्रह्म-निर्वाण तक साधना चालू रहेगी यानी ब्राह्मी-स्थिति का भी उत्कर्ष होता रहेगा। ब्राह्मी-स्थिति मे अधिक सूक्ष्मता आयेगी। लेकिन जब तक देह रहती है तब तक विकास का क्रम जारी रहता है, विकास का अन्त नही आता। जैसे सूर्योदय के पहले प्रकाश काफी रहता है, मगर सूर्य का उदय होते ही प्रकाश की पूर्णता प्रकट हो जाती है यानी पूर्ण प्रकाश फैल जाता है, वैसे ही ब्राह्मी-स्थिति के बाद मृत्यु तक ब्राह्मी-स्थिति के अनुभव मे वृद्धि होती जायगी और देह छूटते ही मोक्षरूपी पूर्ण सूर्योदय हो जायगा।

●

तीसरा अध्याय

पहले श्लोक मे अर्जुन का प्रश्न है कि यदि कर्म से निष्काम-बुद्धि श्रेष्ठ है, तो मुझे इस घोर कर्म मे क्यो प्रवृत्त कर रहे है ?

: १ :

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर् जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

जनार्दन=हे जनार्दन, **चेत् कर्मण** =यदि बाह्य कर्म से, **बुद्धिः ज्यायसी**=निष्काम-बुद्धि श्रेष्ठ है, (ऐसा) **ते मता**=तुम्हारा मत है, **तत् केशव**=तो हे केशव, **घोरे कर्मणि**=घोर कर्म मे, **मा**=मुझे, **किं नियोजयसि**=क्यो फँसा रहे हो ?

इस श्लोक मे अर्जुन ने दो बाते भगवान् के सामने रखी (१) यदि कर्म यानी बाह्य कर्म से आन्तरिक समत्व-बुद्धि श्रेष्ठ हो (२) तो मुझे युद्ध जैसे घोर कर्म मे क्यो प्रवृत्त करते हो ?

(१) भगवान् ने दूसरे अध्याय के ४९वे श्लोक मे कहा कि भीतरी निष्कामता, निर्विकारता, समत्व-बुद्धि बाह्य-कर्म से श्रेष्ठ है। निष्कामता या समत्व-बुद्धि से बाह्य-कर्म निकृष्ट है। इसलिए तू निष्काम-बुद्धि, समत्व-बुद्धि की शरण जा। जो पुरुष काम करते हुए फल की आसक्ति रखते है, वे दीन है। इसीको ध्यान मे रखकर अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि मेरी समझ मे नही आ रहा है कि बाह्य कर्म से भीतरी निष्कामता श्रेष्ठ है, तो आप यह क्यो कह रहे है कि (२) 'तुम युद्ध करो।' युद्ध जैसे घोर कर्म मे मुझे क्यो फँसा रहे है ?

मारुति लका मे अशोक-वन मे पहुँच गया जहाँ सीता को रावण ने रखा था। अशोक-वन मे सफेद फूल थे। मगर मारुति को सफेद फूल क्रोध के कारण लाल दीख रहे थे। अर्जुन की भी मारुति जैसी ही स्थिति हो गयी थी। मारुति को क्रोध आया था तो अर्जुन को मोह पैदा हुआ। रिश्ते-दार सामने खडे हुए है, उनके अन्याय का प्रतीकार करने का विषम प्रसग उस पर गुजर रहा था। इससे उसके मन मे मोह पैदा हो गया। सत तुलसीदासजी के शब्दो मे नारदमुनि भी

माया बिबस भये मुनि मूढ़ा।
समुझी नहिं हरि गिरा निगूढा ॥

भगवान् ने नारद से कहा था कि जिसमे तुम्हारा कल्याण होगा, वही मै करूँगा। लेकिन **मुनि अति विकल मोह मति नांठी**—नारद की मति मोह से नष्ट हो गयी थी और इससे वे बहुत व्याकुल हो उठे थे। अर्जुन की भी ऐसी ही स्थिति हो गयी थी। इसलिए आज स्वकर्तव्य या स्वधर्म भी उसे घोर कर्म लग रहा है। भगवान् ने ११वे श्लोक से उसे समझाना शुरू किया, तब वह भग-वान् की वाणी एकाग्रता से सुनता गया। ४९ वे श्लोक मे उन्होने स्पष्ट कहा कि कर्म से निष्काम-बुद्धि श्रेष्ठ है। इसी निष्काम-बुद्धि का, समत्व-बुद्धि का स्पष्टीकरण अगले श्लोको मे भगवान् करते गये और अन्त मे स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण भी बताये। स्थितप्रज्ञ के लक्षणो मे भगवान् ने कही भी उल्लेख नही किया कि वह जनसेवा करते हुए जीवन बिताता है। उसके सभी लक्षण आत-रिक ही बताये। इन सब श्लोको के विवेचन से अर्जुन के मन मे शका हो गयी कि दूसरे अध्याय

के उत्तरार्ध मे जव कही भी कर्म करने के लिए भगवान् ने नही कहा, तो फिर मुझे वे युद्ध करने के लिए क्यो कह रहे है ? भगवान् को तो कहना चाहिए था कि तुम स्थितप्रज्ञ के लक्षणो को जीवन मे उतारो––निष्कामता, समता, निर्विकारता प्राप्त कर लो। इसीलिए उसने भगवान् से यह प्रश्न पूछा। उसने भगवान् से पूछा तो सही, मगर फिर उसे शका हुई कि भगवान् की बात मेरे ध्यान मे ठीक-ठीक न आयी हो, शायद समझने मे गलती हुई हो, इसलिए वह अगले श्लोक मे पूछ रहा है कि आपके वचन परस्पर मिश्रित-से प्रतीत होने के कारण मेरी बुद्धि को मोहित-से कर रहे है यानी दुविधा मे डाल रहे है। इसलिए कृपा करके जिसमे मेरा कल्याण हो, ऐसी एक ही बात कहिये।

: २ :

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

व्यामिश्रेण इव वाक्येन मे बुद्धि=मानो उलझन मे डालनेवाले वचन से मेरी बुद्धि को, **मोहयसि इव**=मानो उलझन मे ही डाल रहे हो, **तत् येन अह**=इसलिए जिस प्रकार मै, **श्रेय. आप्नुयाम्**=कल्याण प्राप्त करूँ, **तत् एक निश्चित्य वद**=वह एक निश्चित बात कहो।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है
(१) भगवान् के वचन दुविधा मे डालने जैसे है और
(२) इसलिए जिसमे मेरा कल्याण हो, ऐसी एक ही निश्चित बात बताइये।

अर्जुन को शोक-मोह से निवृत्त करने के लिए भगवान् ने दूसरे अध्याय के ११वे श्लोक से दर्शन समझाना शुरू किया और अध्याय के अत तक दर्शन की स्थूल-सूक्ष्म बाते समझाते गये। दर्शन की गूढ बाते समझ लेना आसान नही। उसमे शकाएँ पैदा होती है। उन शकाओ का निवारण होने पर ही सही ज्ञान प्राप्त होता है। एक शका मे से दूसरी शका, दूसरी शका मे से तीसरी, इस तरह शकाओ का चक्र चलता रहता है।

मै अपनी ही बात लूँ। सन् १९२४ मे पहले-पहल मैने गीता पढी। उस पर मेरी श्रद्धा भी बैठ गयी। ज्ञानेश्वर महाराज की व्याख्या और शाकरभाष्य भी पढा। उपनिषदे पढी। लेकिन यह समझ मे नही आ रहा था कि परमात्मा जगत् मे किस प्रकार रहता है, उसका और मेरा क्या सबध है, मै परमात्मा से अलग हूँ या एक, एक हूँ तो कैसे और अलग हूँ तो कैसे ? ये शकाएँ बनी ही रहती थी। माया, प्रकृति क्या है, उसका ईश्वर के साथ किस प्रकार का सबध है ? मोक्ष क्या चीज है? सृष्टि मिथ्या है, इसके माने क्या ? फिर सगुण, निर्गुण, इस तरह अनेक प्रश्न खडे होते थे। इन प्रश्नो का निराकरण ठीक रीति से उपर्युक्त ग्रथ पढने पर भी नही हो सका था। फिर ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य हाथ मे लिया। उसका अध्ययन करते समय भी बडी कठिनाई आती थी। मूल ग्रथ सस्कृत मे है। फिर शकराचार्य की पद्धति थोडे मे समझाने की है। इन कारणो से अनेक वर्ष उस ग्रथ को समझने मे बीत गये। आखिर सफलता मिली। इस ग्रथ की विशेषता या अपूर्वता यह है कि प्रथम पूर्वपक्ष यानी शका उठायी है और बाद मे उत्तरपक्ष यानी शकाओ का निराकरण किया गया है। मगर सन्यास और कर्मयोग, निर्गुण और सगुण के बारे मे ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य पढने से उतना समाधान नही होता, जितना विनोबाजी का इस विषय का स्पष्टीकरण पढने से होता है।

अर्जुन को जो शका इस श्लोक मे पैदा हुई है, वह हरएक के मन मे उठती है। अर्जुन के प्रश्न का जवाब भगवान् ने इस अध्याय मे देने की कोशिश की है और चौथे अध्याय मे भी यह बात समझायी

है। फिर भी यही शका अर्जुन ने पाँचवे अध्याय मे भी उठायी है।

(१) अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि आपके वचन मुझे दुविधा मे डाल रहे है। यानी आपने तो अपनी बात समझ मे आने जैसी ठीक ढग मे रखी होगी। मगर सभव है, मेरी ही समझ मे आपकी बात बराबर नही आ रही हो। इसलिए वह कह रहा है कि आपके वचन मिले हुए-से लगते और मुझे दुविधा मे डाल रहे हैं।

(२) अतएव वह अत मे कहता है कि मेरा जिसमे कल्याण हो, वह एक निश्चित बात मुझसे कहो। सभी अध्यायो मे अर्जुन ने कोई-न-कोई प्रश्न पूछा है। १८वे अध्याय मे भी प्रश्न पूछा है। प्रश्न पूछने से अर्जुन की जिज्ञासा की तीव्रता दिखाई देती है। अर्जुन पर मोहग्रस्त होने का यह विषम प्रसग न आता तो उसके मन मे यह आध्यात्मिक जिज्ञासा कभी पैदा नही होती। पाया जाता है कि जब जीवन मे अतिदुःख के प्रसग आते है और बाह्य साधनो से वह (दुःख) दूर नही होता, तब आध्यात्मिक जिज्ञासा पैदा होती है और फिर वह जिज्ञासा तृप्त करने की कोशिश करता है।

अगले श्लोक से भगवान् ने यह समझाना शुरू किया है।

: ३ :

भगवान् उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन साख्याना कर्मयोगेन योगिनाम्॥

अनघ=हे निष्पाप अर्जुन, **अस्मिन् लोके मया**=इस लोक मे मेरे द्वारा, **पुरा**=प्राचीन काल मे, **द्विविधा निष्ठा**=दो मार्ग से निष्ठा यानी मोक्ष, **प्रोक्ता**=प्राप्त होता है, ऐसा कहा गया है, **साख्यानाम्**=सास्य यानी ज्ञान की इच्छा रखनेवाले, ज्ञानेच्छु, **ज्ञानयोगेन**=ज्ञानमार्ग से मोक्ष पाते हैं, **योगिनाम्**=(और) योगी यानी मोक्ष की इच्छा रखनेवाले, **कर्मयोगेन**=कर्मयोग-मार्ग से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भगवान् कह रहे हैं कि मैंने पहले यानी प्राचीन-काल मे मोक्ष प्राप्त करने के दो मार्ग बतलाये है। 'निष्ठा' का अर्थ है मोक्ष, और 'पुरा' का अर्थ है प्राचीनकाल। लोकमान्य तिलक ने 'पुरा' का अर्थ किया है 'पहले जो दूसरा अध्याय कहा गया है उसमे।' शकराचार्य ने 'प्राचीन काल मे' अर्थ लिया है। गाधीजी ने 'पुरा' का अर्थ स्पष्ट नही किया है। विनोबाजी ने भी 'पुरा' का अर्थ कही स्पष्ट नही किया है। मुझे शकराचार्य का अर्थ ही जँचता है। इसलिए मैंने 'प्राचीन काल मे' लिखा। प्राचीन काल से आज तक मोक्ष-प्राप्ति के दो मार्ग चले आये है एक ज्ञानमार्ग और दूसरा कर्मयोग-मार्ग। साख्यो का यानी ज्ञानियो का जो मार्ग है—जिस मार्ग से साधना करके ज्ञानी पुरुष मोक्ष प्राप्त करते है, उसे भगवान् ने इस लोक मे कहा है। योगियो का जो मार्ग है यानी जिस मार्ग से साधना करके योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करते है, उसे कर्मयोग कहा है।

सत तुलसीदासजी कहते है

ग्यानपंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निरबिघ्न पंथ निरबहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥

अर्थात् ज्ञानमार्ग तलवार की धार है। उस पर चलने से पाँव फिसलने मे कोई देर नही लगती। लेकिन निर्विघ्नता से इस मार्ग से पार हो गये तो कैवल्यपद यानी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

ज्ञानमार्ग कठिन मार्ग है। इसमे फिसलने का बहुत डर है, क्योकि इस मार्ग की साधना बहुत कठिन है। इसमे ध्यान, धारणा, समाधि, अध्ययन, मौन, तप आदि कर्मविहीन साधना का समावेश है। ध्यान मे भक्त निर्गुण ध्यान करता रहता है।

इसके अतिरिक्त शारीरिक तप भी इसमे मुख्य वात मानी गयी है। परिग्रह इसमे रख नहीं सकते। एकात मे, जगल मे रहना होता है और भिक्षा पर निर्वाह करना पडता है। इसलिए इस मार्ग से जाने के लिए वल चाहिए। पॉचवे अध्याय मे इसे 'न्यास-मार्ग' कहा है। ब्रह्मचर्य-पालन इसका मुख्य अग है। इसमे हमेशा जन-सपर्क टालना होता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने इसे 'विहगम-मार्ग' कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज इस श्लोक के भाष्य मे कहते है पक्षी उडकर तुरन्त फल के पास पहुँच जाता है, लेकिन क्या मनुष्य उसी प्रकार उडकर फल तक पहुँच सकता है? मनुष्य तो धीरे-धीरे एक-एक डाल के सहारे जाकर ही कुछ समय मे फल के पास पहुँच पाता है।

ज्ञानमार्ग जगल का मार्ग है। जगल मे वना-बनाया मार्ग नही रहता। साथ ही जगल के हिसक पशुओ के साथ भेट होने की भी पूरी सभावना रहती है। शकराचार्य इस मार्ग का वडा मार्मिक वर्णन करते है **साख्यानाम् आत्मानात्मविषयक-विवेकज्ञानवतां ब्रह्मचर्याश्रमादेव कृतसंन्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मणि एव अवस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता।** अर्थात् "साख्यो यानी ज्ञानियो—आत्मा और अनात्मा, चेतन और जड यानी सत्य, असत्य, इस विषय मे विवेकी पुरुषो की और ब्रह्मचर्याश्रम से ही जिन्होने सन्यास लेकर वेदान्त-ज्ञान द्वारा परमात्म-तत्त्व को निश्चित रूप से जान लिया है और जो परमहस सन्यासी वनकर ब्रह्म मे ही स्थित हो गये है, ऐसे ज्ञानी पुरुषो की निष्ठा (स्थिति) यानी वे किस प्रकार ज्ञानमार्ग से मोक्ष प्राप्त कर लेते है, वह मैने वतलाया।"

शकराचार्य स्वय ब्रह्मचारी थे, ब्रह्मचर्य से ही वचपन मे सन्यास ले लिया और असाधारण योग्यता के कारण वे इस सन्यास यानी ज्ञानमार्ग से ही मोक्ष तक पहुँचे। लेकिन सवकी योग्यता इस ज्ञानमार्ग से साधना करने की नही रहती। विरल, एकआध साधक ही इस ज्ञानमार्ग से स करके पार होते है। योग्यता न होते हुए भ लोग ज्ञानमार्ग से साधना करने की कोशिश है, वे गिरते है। इनका वर्णन आगे आये साधारण व्यक्ति के लिए जगल का विकट, पथ नही है। उनके लिए सीधा-सरल राज ही ठीक है। जिस रास्ते से ऑखे वन्द निर्विघ्न जा सके, वही मार्ग साधारण व्यक्ति लिए उचित है। भगवान् कहते है कि यो का जो कर्मयोग-मार्ग है, वह भी ज्ञानमार्ग के कहा है। मोक्ष-प्राप्ति का एक ही मार्ग दो मार्ग है। एक कठिन है जो चन्द लोगो के है। दूसरा सरल-सीधा है जो सवके लिए है। श्लोक मे भगवान् ने सिर्फ दो मार्गो का ही किया है—एक सरल है और दूसरा कठिन। यह यही नही वतायी है। अर्जुन पॉचवे अध्याय मे प्रश्न फिर से पूछता है और वहॉ भगवान् उत्तर दिया है, उसमे दोनो मार्ग, मोक्ष-प्राप्ति दृष्टि से यानी मुकाम पर पहुँचने की दृष्टि समान होते हुए भी, कर्मयोग मार्ग को ज्ञान से सरल वताया है।

कर्मयोग-मार्ग मे भक्ति ही मुख्य साधन गीता ने यही मुख्य साधन के तौर पर वतलाय सत तुलसीदासजी कहते है

राम भजत सोइ मुकित गोसाईं।
अनइच्छित आवइ वरिआईं॥

'राम-भक्ति से वही मोक्ष इच्छा न रखते भी अपने-आप, सहज ही प्राप्त हो जाता है।' भ के साथ स्वधर्मरूप, स्वकर्तव्य-रूप सेवा का भी करना होता है। इसलिए इन्द्रिय-निग्रह अभ्यास भी सहज ही हो जाता है। सवके हमेशा सम्वन्ध आने से काम, क्रोध, अहकार अ विकारो को क्षीण करने का मौका मिल जाता क्योकि विकारो को हटाये विना आपसी व्यवह

शातिपूर्वक चल ही नही सकता। यह कर्मयोग का सरल मार्ग है।

अगले श्लोक मे भगवान् वतला रहे है कि कर्म प्रारभ न करने से निष्कामता प्राप्त नही होगी। प्रारभ किये हुए कर्मो का त्याग करने से भी मोक्ष प्राप्त नही होता।

: ४ :

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

कर्मणा अनारम्भात्=चित्तशुद्धि करनेवाले कर्मो का आरभ किये विना, **पुरुषः नैष्कर्म्य न अश्नुते**=मनुष्य निष्कामता को, प्राप्त नही होता, **सन्यसनात् एव**=वैसे ही चालू कर्मों को छोडने से ही, **सिद्धि न समधिगच्छति**=मोक्ष को (दु ख-मुक्ति को) प्राप्त नही होता।

इस श्लोक मे भगवान् ने दो वाते वतायी है (१) हम कर्म शुरु ही न करे तो भीतर की निष्कामता, निरहकारिता, अकर्तापन का अनुभव हमे प्राप्त नही होगा। (२) जो कर्म हम कर रहे है उन्हे छोड दे, तो भी हम सिद्धि या मोक्ष प्राप्त नही कर सकते।

अगले श्लोक मे भगवान् वतलायेगे कि कर्म किये विना मनुष्य एक क्षण भी नही रह सकता। जब हम कर्म किये विना रह ही नही सकते, तो कर्म न करने का आग्रह व्यर्थ है। हम कर्म न करने का आग्रह रखे तो आगे के छठे श्लोक के अनुसार हम मिथ्याचारी, दभी वनेगे। हमारी उन्नति के वजाय अवनति ही होगी। दूसरे अध्याय के ५९वे श्लोक मे भगवान् ने वतलाया कि हम पच ज्ञानेन्द्रियो के पच विषयो का त्याग नही कर सकते। वह प्रयत्न व्यर्थ जायगा, क्योकि विषयो के वारे मे जो आसक्ति है, उनके वारे मे जो रस है, वह नही छूटता। इतना ही नही, हम वाहर मे विषयो का त्याग करने जायँगे तो भीतर विषयो के प्रति वासना वढ जायगी। इसलिए वहाँ वतलाया कि मध्यम मार्ग से चलने पर ही यानी सयमपूर्वक मर्यादित, आवश्यक विषयो का सेवन करते हुए परमात्मा की भक्ति करेगे तो भीतर की विषय-वासना छूट जायगी। यहाँ भी भगवान् वही वात कह रहे है। ५९वे श्लोक मे मुख्यत पच ज्ञानेन्द्रियो के विषयो को छोडने की वात थी। यहाँ कर्मेन्द्रियो मे कर्म छोडने की वात है, यही दोनो मे फर्क है।

(१) भगवान् कह रहे है कि कर्म की शुरुआत ही हम न करे तो मन मे स्थित विषय-वासनाएँ, अनेक प्रकार की इच्छाएं, महत्त्वाकाक्षाएँ कभी छूट न सकेगी। इन्हे छोडना है तो हमे दिन-रात कर्म मे लगे ही रहना होगा। कर्म तीन प्रकार के होते है सात्त्विक, राजस और तामस। इनका स्पष्टीकरण १८वे अध्याय के २३–२५ श्लोको मे है। राजस-तामस कर्मो का त्याग करना होता है, क्योकि वे कर्म भीतर की निष्कामता या अकर्तापन वढाने मे सहायक नही होते। वे कर्म आदमी की सकामता और अहकार को ही वढावा देते है। काया, वाचा, मन से किये जानेवाले सिर्फ सात्त्विक कर्म ही अकर्तापन और निष्कामता का अनुभव करा देने मे समर्थ होते है। वे ही कर्म आत्मज्ञान प्राप्त करा देने मे सहायक होते है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि मन मे उठनेवाली कर्मो के न करने या छोडने की इस कल्पना की जड कहाँ है, उसका मूल कारण क्या है ? छानवीन करने पर मालूम होगा कि हम देह, इन्द्रियाँ, मन, वुद्धि आदि के सघात नही यानी हमारा अपना स्वरूप देह, इन्द्रियाँ, मन, वुद्धि नही, फिर भी हम इनके सघात को अपना स्वरूप मान रहे है। कारण हमे अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान नही है। जिसे हम अपना स्वरूप मानकर सारा व्यवहार करते है, वह सघात वदलनेवाली चीज है, नित्य पदार्थ नही है। अनजान मे ही उसमे से निकलने के लिए हमारी कोशिश चलती है। लेकिन देह आदि से कैसे निकले, यह मालूम नही होता। शास्त्र मे कहा

है कि हम देहस्वरूप नहीं, ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता, अकर्ता है। अकर्ता कैसे बने, यह ठीक से ध्यान मे नही आता। अत बाहर मे ही कर्म छोडने के लिए प्रवृत्त हो जाते है। लेकिन इससे भीतर की वासना क्षीण होने के बजाय ज्यादा प्रबल होती है, यह ध्यान मे न आने से साधक मुमुक्षु गलत रास्ते पर चलने लगते है।

शकराचार्य एक स्तोत्र मे ऐसे गलत रास्ते से जानेवाले सन्यासी लोगो का वर्णन करते है। वे कहते है :

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू
रात्रौ चुबुकसमर्पितजानु. ।
करतल-भिक्षा तरुतल-वास-
स्तदपि न मुञ्चति आशापाश. ॥

अर्थात् सामने आग जल रही है पीठ पर सूर्य तप रहा है। रात मे ठुड्डी घुटने से सटाकर रात बिताते है। हथेली पर भिक्षा लेकर खाते है। वृक्ष के नीचे निवास करते है, फिर भी मन मे आशा का बन्धन छूटता नही।

(२) जैसे कर्म का प्रारभ न करना एक बात है, वैसे ही चालू कर्म या स्वकर्तव्य छोड देना दूसरी बात है। दोनो मे भीतर की निष्कामता नही प्राप्त हो सकेगी, चित्तशुद्धि न होगी। इतना ही नही, चित्त का पतन होगा। चित्त ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधोगामी होगा। इसलिए बाहर मे कर्मरत रहना चित्त-विकास की दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है।

ज्ञानदेव महाराज पूछते है "नदी के उस पार जाने की इच्छा हो तो नाव छोड देने से कैसे चलेगा ? अथवा भूख लगी हो और उसे शान्त करना है तो रसोई न पकाने से या पका कर भी वह खायी न जाय तो तृप्ति कैसे होगी ?" फिर कहते है इसका मतलब यही है कि जब तक भीतर निष्कामता प्राप्त नही होती, तब तक निष्कामता की प्राप्ति के लिए भी स्वधर्मरूप कर्म करते रहना चाहिए।" बाहर मे कर्म छोडा जाय तो भीतर विकारो का बल बढेगा। जिस निष्कामता को पाने के लिए हम कर्म छोड बैठते है, वह कर्म छोडने से कभी प्राप्त नही हो सकेगी। साराश, स्वधर्मरूप कर्म करते-करते निष्कामता प्राप्त होगी और निष्कामता प्राप्त होने पर चित्त शुद्ध हो जाने से मोक्ष-प्राप्ति यानी भगवान् की पहचान होगी।

: ५ :

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश. कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

हि कश्चित्=क्योकि कोई भी मनुष्य, क्षण अपि अकर्मकृत्=एक क्षण के लिए भी कर्म किये बगैर, जातु न तिष्ठति=कभी भी नही रहता, हि सर्व =क्योकि प्राणी-मात्र, अवश एव=प्रकृति के अधीन होकर, प्रकृतिजै· गुणै = प्रकृति के तीन गुणो के अनुसार, कर्म कार्यते=कर्म करते रहते है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) कोई भी पुरुष एक क्षण के लिए भी कर्म किये बिना नही रहता। (२) और प्रकृति के तीन गुणो—सत्त्व, रज, तम—के अधीन होकर ही उसे कर्म करना पडता है।

कपिल महामुनि ने साख्य-शास्त्र की रचना की है। उन्होने दो तत्त्व माने है (१) पुरुष यानी आत्मा, (२) प्रकृति। पुरुष चैतन्यस्वरूप यानी ज्ञानस्वरूप है और प्रकृति जड है। पुरुष असख्य है, जब कि प्रकृति जड और एक है। उस प्रकृति मे सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण है। प्रकृति इन गुणो की सहायता से जगत् के अनत पदार्थ पैदा करती है। कोई भी पदार्थ स्थूल हो या सूक्ष्म, उसमे ये तीन गुण होते ही है। शरीर और उसमे स्थित भीतरी और बाहरी इन्द्रियाँ आदि भी प्रकृति के तीन गुणो से ही बनी है। यो हर पदार्थ मे तीन गुण होते हुए भी किसी भी पदार्थ मे वे समान-

रूप से नही रहते। तीनो मे से एक ज्यादा होगा और दूसरे दो कम। जिस पदार्थ मे जो गुण ज्यादा परिमाण मे होगा, उसीके अनुसार उस पदार्थ को नाम दिया जायगा। उदाहरण के तौर पर, जिस पदार्थ मे सत्त्व गुण ज्यादा होगा उसे 'सात्त्विक' पदार्थ नाम दिया जायगा। जिस पदार्थ मे रजोगुण की प्रवलता दिखाई दे, वह 'रजोगुणी' पदार्थ कहलायेगा। किसी पदार्थ मे तमोगुण अधिक रहेगा, उसे 'तामसिक' पदार्थ कहा जायगा। पेड-पत्ते आदि जड सृष्टि तमोगुण-प्रधान मानी गयी है, पशु-पक्षी की जीव-सृष्टि रजोगुणप्रधान तो मनुष्य की सृष्टि सत्त्वगुणप्रधान मानी गयी है। यह वर्गीकरण सामान्य कोटि का है। मनुष्य मे भी जिनमे सात्त्विकता ज्यादा रहती है, उन्हे 'सात्त्विक' मनुष्य कहा जाता है। राजसिक और तामसिक प्रकृति के मनुष्य तुरत पहचाने जाते है। सात्त्विक प्रकृति के मनुष्य दुनिया मे वहुत थोडे और रजोगुण-तमोगुणप्रधान प्रकृति के लोग ही अधिक होते है।

सांख्य जिसे 'त्रिगुणात्मक जड प्रकृति' कहता है, उसे वेदान्त की भाषा मे 'माया' कहा जाता है। साख्य मे प्रकृति को स्वतन्त्र तत्त्व माना जाता है, जव कि वेदान्त मे माया स्वतन्त्र पदार्थ नही। परमात्मा की सर्ग-शक्ति यानी सृष्टि पैदा करने की शक्ति को 'माया' कहते है। परमात्मा की दो शक्तियाँ है (१) चैतन्य शक्ति या ज्ञान-शक्ति और (२) दूसरी सर्ग-शक्ति यानी सृष्टि पैदा करने की माया-शक्ति। इसमे तीन गुण है, इसलिए इसे 'त्रिगुणात्मिका माया' कहते है। परमात्मा का चैतन्य-स्वरूप स्थिर रहता है, उसमे हलन-चलन नही होती। लेकिन सृष्टि का भास या दिखावा पैदा करनेवाली माया-शक्ति मे हलन-चलन है।

(१) इसी माया ने यह पचमहा ... शरीर वनाया है। इसलिए शरीर मे भी ह... हलन-चलन होती रहती है। हम सोते है तव भी शरीर मे क्रियाएँ चलती रहती है। मृत्यु तक शरीर की भीतरी क्रियाएँ वरावर चलती रहती है। सारी इन्द्रियाँ और अग-अग अपना काम सुचारु रूप से अविरत करते रहते है। ऐसी स्थिति मे क्रिया यानी कर्म छोड़ने का सवाल ही पैदा नही होता। खाना, पीना, स्नान करना, मुँह धोना, पेशाव-टट्टी करना, सोना ये सव कर्म तो हमे करने ही पडते है। ये जरूरी शारीरिक कर्म हम किसी भी हालत मे छोड नही सकते। यहाँ वैठना भी क्रिया हो जाती है, खडे-खडे थक जाते है तो वैठते है और वैठे-वैठे थक जाते है तो खडे होकर चलने लगते है। छोटे वच्चे का शरीर हमेशा हिलता-चलता ही दिखाई देता है। मतलव यह कि हर क्षण आदमी कुछ-न-कुछ क्रिया कर ही रहा है, यह एक वात भगवान् ने वतायी।

(२) दूसरी वात यह कि शरीर की सारी क्रियाएँ त्रिगुणात्मक प्रकृति यानी माया के अधीन होकर चलती है, हमारे अधीन नही। देखना, सुनना, खाना, सूँघना, चलना, वोलना, वैठना आदि सव क्रियाएँ हम चाहे न चाहे, सहजभाव से चलती रहती है। निश्चय ही सव इन्द्रियो के अपने-अपने व्यापारो का सर्वथा त्याग किसी भी हालत मे नही किया जा सकता। हाँ, उन पर नियन्त्रण अवश्य रख सकते है और रखना भी चाहिए। सव क्रियाओ मे सयम रहना ही चाहिए। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है . "जव हम रथ पर वैठते है तो चाहे कितने ही निश्चल होकर क्यो न वैठे, फिर भी परतन्त्रता के कारण हिलते-डुलते रहते है।" फिर कहते है . "सूखे पत्ते खुद न हिलते-डुलते हो, लेकिन जोर की हवा चलती है तो वे भी मजवूर होकर इधर-उधर उडने लगते है।" इसलिए जव ... शरीर जीवित है, तव तक कुछ-न-कुछ ... ही रहेगा।

... त सिद्धान्त को ध्यान मे न रखकर जो

हठपूर्वक इन्द्रियो के बाह्य कर्म छोडने की कोशिश करते है, उनका भीतर-भीतर विषय का ध्यान बढने से कैसे नुकसान होता है और किस तरह वे मिथ्याचारी बनते है, यह अगले श्लोक मे बतला रहे है

: ६ :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

य. विमूढात्मा=जो मिथ्याचारी दभी या अज्ञानी जीव, **कर्मेन्द्रियाणि सयम्य**=पच कर्मेन्द्रियो को रोककर, **इन्द्रियार्थान्**=पच ज्ञानेन्द्रियो के विषयो को, **मनसा स्मरन् आस्ते**=मन से स्मरण करता रहता है, **स' मिथ्याचार उच्यते**=वह 'मिथ्याचारी दभी' कहलाता है ।

इस प्रश्न पर 'कि परमात्म-स्वरूप पहचानने या दु ख-मुक्त होने की साधना कैसे की जाय, कर्म करते रहकर या कर्म छोडकर ?' भगवान् ने इस अध्याय के चौथे श्लोक मे बतलाया कि कर्तव्य कर्म का आरभ न करने या वर्तमान कर्मो को छोडने से भीतर से निष्काम बनने का अभ्यास सध नही सकता, क्योकि बाह्यत कर्म छोडने पर भीतर विषयो का चिन्तन बढेगा। मन मे सतत विषयो का ही चिन्तन चलता रहे तो हम निष्काम या निर्विकार कैसे बन सकेगे ? बाहर से हम सत्कर्म मे लगे रहते है तो मन भी सत्कर्म मे फँसा रहता है । उसे विषय-चिन्तन के लिए मौका ही नही मिलता ।

सन् १९२४ की बात है । गाधीजी को दो साल की सजा हुई थी । उनके साथ और एक सज्जन को भी उतने ही साल की सजा सुनायी गयी। दोनो को एक ही जेल मे रखा गया, लेकिन उस सज्जन को गाधीजी से अलग कर दिया गया। वे अकेले अलग कोठरी मे रहते थे । दो ही रोज मे उस सज्जन ने अनुभव किया कि एकात मे निष्क्रिय बनकर रहने की उनकी योग्यता नही है । वे यह सोचते थे कि उनके मन मे कभी बुरे विचार नही आते । उनके मन मे बुरे विचार आने लगे और कष्ट देने लगे । उन्होने जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को लिख दिया कि यदि मुझे गाधीजी के साथ नही रखा गया तो थोडे दिनो मे मै पागल हो जाऊँगा । उन्हे तुरत गाधीजी के साथ रख दिया गया और वे स्वस्थ हो गये । एकात और निष्क्रियता दोनो के न रहने से बुरे विचार दूर हो गये । निर्विकार, निष्काम बनने मे कर्म कितनी सहायता पहुँचाता है, यह उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है । बाह्य कर्म छोडने से मन मे विषय-चिन्तन बढने लगे और फिर भी कर्म छोडने का आग्रह रखकर निष्क्रिय बने रहे तो हम मिथ्याचारी बनेगे ।

प्राचीनकाल मे कर्म छोड़ने का विचार बहुत चला । कारण परमात्मा को जानने के लिए ध्यान, धारणा, ब्रह्मचिन्तन, समाधि आदि पतजलि का अष्टाग योगमार्ग ही उस जमाने मे मुख्य साधन माना गया था । ध्यान-समाधि के लिए बाह्यत कर्म छोडने ही चाहिए। इस मार्ग से जो परमात्मा की पहचान कर लेते थे, वे परमात्मा मे डूब जाते थे, इसलिए वे सहज ही निष्क्रिय होते थे। लेकिन ज्ञानी पुरुषो की इस सहज निष्क्रियता का अनुकरण साधक-दशा मे भी होने लगा। समाज मे इस निष्क्रियता का आकर्षण बढता गया। नतीजा यह निकला कि जो कुछ भी क्रिया नही करता, गेरुए वस्त्र धारण कर भटकता है, दाढी-केश-नख बढाता है उसे साधु-सन्यासी माना जाने लगा। इसीसे हमारी अवनति शुरू हुई। ऐसे ही नामधारी साधु-सन्यासियो को गीता ने 'मिथ्याचारी' कहा है ।

सत तुलसीदासजी को भी कहना पडा

सत बिसुद्ध मिलहि परि तेही ।
चितवहि राम कृपा करि जेही ।।

जिन पर राम की कृपा होती है उसकी विशुद्ध सत से भेट होती है । सत के लिए 'शुद्ध' विशेषण तुलसीदासजी को लगाना पडा । तुलसीदासजी दूसरे स्थान पर लिखते है **बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरोसो ।**

आम यानी कच्चे, 'घरोसो' यानी घडे मे कच्चे घडे मे जल बहुत देर तक ठहरता नही। इसी तरह कच्ची अवस्था मे सन्यास लेकर निष्क्रिय बनने पर मन बिगड जाता है। सिद्ध-दशा मे ज्ञान हो जाने पर भगवान् की पहचान हो जाने से सहज ही निष्क्रियता आये, तो वह चल सकती है। क्योकि परमात्मा की पहचान होने पर उस निष्क्रियता मे सबको प्रेरणा देने की प्रचण्ड शक्ति रहती है। लेकिन साधकदशा मे कोई कर्मेन्द्रियो से कर्म न करेगा तो भगवान् बताते है कि वह मिथ्याचारी, दभी बनेगा।

मिथ्याचार से बचने के लिए क्या करना चाहिए, यह अगले श्लोक मे बता रहे है।

: ७ :

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

अर्जुन=हे अर्जुन, **तु यः इन्द्रियाणि**=लेकिन जो पुरुष ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि को, **मनसा नियम्य**=मन यानी विवेक से सयम मे रखकर, **असक्त**=अनासक्त बनकर, **कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग आरभते**=कर्मेन्द्रियो मे कर्मयोग का आरम्भ करता है, **स विशिष्यते**=वह (पुरुष) श्रेष्ठ है।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी गयी है·
(१) ज्ञानेन्द्रियाँ, मन आदि सब इन्द्रियो को विवेक से और आतरिक साधना से काबू मे लेना, (२) फलासक्ति, ममता छोडकर अनासक्त बनना और (३) कर्मेन्द्रियो से निष्काम कर्मयोग का आचरण। तीनो बाते ठीक से सध जायँ तो परमात्मा की पहचान के लिए हम योग्य बनकर मिथ्याचरण से बच सकते है। उन्नति का यह त्रिविध कार्यक्रम है।

(१) पच ज्ञानेन्द्रियो मे आँख, कान और जिह्वा मुख्य यानी बलवान् है। इन्हे हमेशा सन्मार्ग पर रखना चाहिए। प्रयत्नपूर्वक लुभावनी या मोहक चीजो के देखने-सुनने, स्वाद लेने या गध लेने का मोह रोकना चाहिए।

उपनिषद् मे शरीर को रथ की उपमा दी गयी है। आत्मा शरीर की मालिक है। बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोडे है। पचविषय घोडों के चरने के लिए घास का जगल है। यदि हमे रथ को ठीक रास्ते पर रखना हो तो सारथी अच्छा होना चाहिए। यदि सारथी जागृत है, रथ चलाने का ज्ञान है और वह लगाम को काबू मे रखता है तो इन्द्रियरूपी घोड़े काबू मे रहेगे। इस तरह रथ सन्मार्ग पर सुचारुरूप से चलता रहेगा। लेकिन सारथी ठीक न हो तो रथ घोडे के अधीन होकर गड्ढे मे गिर सकता है। बुद्धिरूपी सारथी यदि जागृत और विवेकी है तो मन और इन्द्रियाँ उसके अधीन रहेगी। मन मे विवेक और अविवेक दोनो शक्तियाँ है। विवेक से मन, बुद्धि और पचज्ञानेन्द्रियो पर काबू आ जाता है। विवेक और वैराग्य आदि साधनो द्वारा स्वरूप की पहचान होती है तथा यह अनुभव होने लगता है कि हम देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियो आदि से अलग है। यह विवेकदशा है। अविवेक से देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियो से हम एकरूप है, ऐसा अनुभव होता है जिससे अपने स्वरूप की पहचान न होने के कारण हम दु ख का ही अनुभव करते रहते है।

(२) सगरहित होने का अर्थ है भीतर, मन मे फलासक्ति न रखकर निष्काम, निर्विकार बनकर आसक्ति छोडना।

(३) कर्मयोग का आरभ करना यानी योगयुक्त होकर कर्म करना। केवल कर्म तो सभी करते रहते है। किन्तु योगयुक्त होकर यानी चित्त की समता रखकर परमेश्वर को अर्पण करके कर्म करनेवाले विरल होते है। अगर योगयुक्त होकर कर्म करेगे तो हम दु खमुक्त होकर बन्धन से छूट सकते है। छठे श्लोक मे 'मिथ्याचार' बताया और सातवे श्लोक मे 'श्रेष्ठ आचार' बतलाया। मिथ्याचार मे फँसा आदमी कर्मेन्द्रियो को निष्क्रिय कर मन मे विषय-चिन्तन करता रहता है। श्रेष्ठ

आचार मे कर्मेन्द्रियो को निष्क्रिय न रखते हुए कर्मयोग मे यानी योगयुक्त कर्म करने मे कर्मेन्द्रियो को रोकता है और विषय-चिन्तन के बजाय परमात्म-चिन्तन कर विवेक से मन, बुद्धि और पच इन्द्रियो को काबू मे रखता है। इस तरह वह नि सग होकर परमेश्वरार्पण-बुद्धि से जीवन बिताता है।

कर्मेन्द्रियो के कार्यरत रहने से चित्त की एकाग्रता बढती है। इससे विषय-चिन्तन नही होता। कर्मेन्द्रियो का यह कितना उपकार है ? चित्त जब चचल हो जाता है, तभी विषय-चिन्तन शुरू होता है। सन् १९४८ मे मै सौराष्ट्र मे गाये लेने गया। लौटते समय ट्रेन मे मझे बैठने को जगह नही मिली। चार घटे खडा रहना पडा। खडे-खडे मैने तकली कातना शुरू किया। पूरे चार घटे तकली पर काता। कातने में चित्त सहज ही इतना एकाग्र हुआ कि चार घटे खडे रहना मुझे महसूस ही नही हुआ। कर्मेन्द्रियो को कार्यरत रखने से जो कार्य सधता है वह कार्य परमात्मा मे ध्यान के अभ्यास से भी सध सकता है। लेकिन परमात्मा का ध्यान सबको नही सध पाता। इसलिए अपनी कर्मेन्द्रियो को कार्यरत रखना ही विषय-चिन्तन से बचने का सरल उपाय है।

सब क्रियाएँ योगयुक्त करना और नि सग होकर, फलासक्ति छोडकर, निर्विकार होकर क्रिया करना विषय-चिन्तन से बचने का दूसरा उपाय है।

: ८ :

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

त्व नियत कर्म कुरु=तू नियत कर्म यानी प्रवाहपतित कर्म कर, **हि अकर्मण**=क्योकि कर्म न करने से, **कर्म ज्याय.**=कर्म करना बहुत श्रेष्ठ है, **ते शरीरयात्रा**=तुम्हारी शरीर-यात्रा, **अकर्मणः न प्रसिद्ध्येत्**=कर्म न करने से सिद्ध नही होगी।

इस श्लोक मे तीन बाते है · (१) नियत कर्म यानी प्रवाहपतित कर्म कर, (२) क्योकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, (३) और कर्म न करने से शरीर-यात्रा यानी आजीविका प्रामाणिकता से सिद्ध नही होगी।

(१) 'नियत कर्म' शब्द के अर्थ के विषय मे मतभेद है। गाधीजी कहते है कि 'नियत कर्म के मानी है इन्द्रियो को नियमन मे यानी सयम मे रखकर कर्म करना।' इससे अर्थ बहुत स्पष्ट नही होता। विनोबाजी कहते है 'जो कभी टाल नही सकते वह।' यह अर्थ ठीक लगता है। इसका अर्थ है प्रवाहपतित कर्म, स्वधर्म, स्वकर्तव्य। स्वधर्म इस प्रकार का कर्म है जिसे कभी टाल नही सकते।

अठारहवे अध्याय के ७वे श्लोक मे बताया है **नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते**--यानी नियत कर्म का त्याग (सन्यास) नही किया जा सकता। फिर आगे कहा है कि यदि मोह से नियत कर्म का त्याग किया जाय तो वह त्याग 'तामस' कहलायेगा। आगे ९वे श्लोक मे बता रहे है कि "नियत कर्म कर्तव्य समझकर तथा आसक्ति और फल का त्याग कर किया जाता है तो वह त्याग 'सात्त्विक' कहा जायगा।" फिर २३वे श्लोक मे बता रहे है कि "आसक्ति, रागद्वेष और फलाकाक्षा छोडकर जो नियत कर्म किया जाता है वह सात्त्विक कर्म माना जायगा।" फिर ४५वे श्लोक मे बता रहे है कि "अपने-अपने कर्म मे रत रहकर मनुष्य मोक्ष पा सकता है। अपने कर्म मे रत रहकर मोक्ष किस तरह पा सकता है वह सुनो।" यह कहकर ४६वे श्लोक मे बताते है "जो भूतमात्र को यानी सब भूतो को प्रेरणा दे रहा है और जिस परमात्मा का यह सब जगत् विस्तार है, उसीको अपना स्वकर्म यानी स्वकर्तव्यरूपी फल अर्पण कर उसकी पूजा करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है।" ४७वे श्लोक मे कह रहे है कि "जिसका अनुष्ठान अच्छी तरह किया जा

सकता है, ऐसे परधर्म की अपेक्षा अपना विगुण स्वधर्म यानी स्वकर्तव्य श्रेष्ठ है। स्वभाव-नियत कर्म करने यानी प्रवाह-पतित कर्म करने से पाप नही लगता।" फिर ४८वे श्लोक मे कहते है कि "सहज कर्म मे थोडा दोष दिखाई देने पर भी उसका त्याग नही किया जा सकता। क्योकि जैसे अग्नि के साथ धुआँ रहता है, वैसे ही सब कर्तव्य कर्मो मे कुछ-न-कुछ दोष या कमियाँ रहती ही है।"

भगवान् के इन विभिन्न वचनो से मालूम होगा कि नियत कर्म, स्वधर्म, स्वकर्तव्य, अपना-अपना कर्म, स्वभाव-नियत कर्म, सहज कर्म, ये सभी शब्द एक ही अर्थवाले है। साराश, जीवन के प्रवाह मे जो सहज कर्तव्य आते-जाते है, उन्हे हम टाल नही सकते, वे करने ही चाहिए। प्रवाह से उलटा वर्ताव करने पर ही कष्ट होगा। 'प्रवाह-पतित कर्म' का अर्थ गाधीजी ने मेरे एक पत्र मे इस तरह बताया है "बिना खोजे अपने आप अपने पास आया हुआ यज्ञ-कर्म यानी सात्त्विक, नि स्वार्थ कर्म।" इस पर से नियत शब्द का अर्थ स्वधर्म, स्वकर्तव्य, प्रवाह-पतित कर्म, सहज कर्म करने से वह ठीक ठीक बैठता है। हरएक का अपना जीवन-प्रवाह स्वतन्त्र होता है। उस प्रवाह मे अनेक कर्तव्य आते-जाते है। माता-पिता की सेवा सहज प्राप्त हो जाती है। उसे खोजना नही पडता। पति का पत्नी के प्रति कुछ कर्तव्य रहता है, वैसे ही पत्नी का पति के प्रति भी कुछ कर्तव्य रहता है। बच्चे जब छोटे होते है तो उनके प्रति माता-पिता का कर्तव्य होता है। माता-पिता के प्रति या पुत्रादि के प्रति हमारा जैसा कुछ कर्तव्य रहता है, वैसे ही हमारे जीवन मे किसीके प्रति हमारी आध्यात्मिक श्रद्धा पैदा हुई हो तो उसके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य रहता है। उसका पालन हमे करना होगा। इस तरह 'नियत' शब्द मे जीवन मे आनेवाले नाना प्रकार के कर्तव्यो का समावेश है। नाना प्रकार के कर्तव्य हम ढूँढने जायँगे तो वे नियत कर्तव्य नही माने जायँगे। वे स्वाभाविक रूप से प्रवाह-पतित न्याय से आनेवाले और टाले न जा सकनेवाले कर्म ही 'नियत' से अभिप्रेत है। फिर वे नियत कर्म सात्त्विक अर्थात् सत्कर्म होने चाहिए। प्रवाह मे असत्कर्म आते हो तो उन्हे स्वकर्तव्य नही मान लेना चाहिए। असत्कर्म कभी भी स्वकर्तव्य नही हो सकता। इस तरह भगवान् कहते है कि तुम अपना नियत कर्म, प्रवाह-पतित कर्म, सहज कर्म या स्वधर्म किसी भी हालत मे मत छोडो, उसे निरन्तर करते रहो।

(२) दूसरी बात यह कि स्वधर्म का पालन करना उसका पालन न करने से श्रेष्ठ है। स्वधर्म छोडने से विषय-चिन्तन होता है, तो उससे काम-क्रोधादि विकार बढकर अवनति होती है। विषय-चिन्तन कम होने से चित्त निर्विकार, निष्काम बनता है। उससे चित्त मे शाति पैदा होती है।

(३) तीसरी बात यह है कि यदि कर्म बिलकुल न किया जाय तो परिणाम क्या निकलेगा ? परिणाम यह आयेगा कि हमारी आजीविका प्रामाणिकतापूर्वक सिद्ध नही होगी। यानी हम जीवित तो रहेगे, लेकिन दूसरे के कधे पर बोझ बनकर रहेगे। भोजन को ही लीजिये। भोजन तो सबको चाहिए, लेकिन उसके लिए परिश्रम कोई करना नही चाहता। जमीन तैयार करने से लेकर फसल घर मे आने और उस अनाज को साफ-कर आटा बनाकर भोजन तैयार करने तक पचासो क्रियाएँ किसान तथा गृहिणी को करनी पडती है। तब जाकर भोजन मिलता है। लेकिन आज समाज की स्थिति ऐसी है कि परिश्रम करनेवाले को उसका पुरस्कार ठीक-ठीक तो क्या, पेट भरने जितना भी नही मिलता। जो परिश्रम नही करता, उसे ज्यादा लाभ मिलता है। इसका एक ही कारण है कि सब लोग समानरूप से परिश्रम नही करते। कम-से-कम परिश्रम करके ज्यादा-से-ज्यादा कमाई कैसे हो, इसीकी चिन्ता मे लोग

रहते हैं। 'जितना काम उतना ही दाम' यह विचार समाज से उठ गया है। इससे समाज मे परिश्रम टालने की वृत्ति बहुत बढ गयी है। कुछ भी काम न करते हुए निष्क्रिय रहकर आजीविका प्राप्त हो जाय तो उसमे आनन्द का अनुभव करने की प्रवृत्ति है। किसान या मजदूर भी मजबूर होकर १०-१२ घटे का परिश्रम करते हैं। यह वृत्ति-बढती जाय तो समाज का पतन ही होगा। इसलिए विनोबाजी ने भिक्षा, धधा, चोरी, ऐसे तीन भेद करके यह अर्थ किया कि समाज की ज्यादा-से-ज्यादा सेवा करके समाज से कम-से-कम लिया जाय, तो उसे 'भिक्षा'-वृत्ति कहेगे। प्राचीन काल मे सन्यासी इस वृत्ति से भ्रमण करते थे। जहाँ जाते, समाज की सेवा करके ही समाज से थोडी भिक्षा प्राप्त कर लेते थे। भिक्षा-वृत्ति से जीनेवाले, समाज मे जितने भी बढ़ेगे, वे समाज का उत्थान करेगे। 'धधा' का मतलब है जितनी समाज की सेवा करेगे, उतने अनुपात मे समाज से आजीविका प्राप्त करना। 'चोरी' का अर्थ है समाज की कम-से-कम सेवा करके समाज से ज्यादा-से-ज्यादा प्राप्त करने की कोशिश। समाज मे जब काम करके या बिलकुल निष्क्रिय बनकर जीने की वृत्ति पैदा होती है तब उसके लिए क्या करना चाहिए, यही इस श्लोक मे बताया गया है। वे कहते हैं कि काम किये बिना, परिश्रम किये बिना अपने अन्न-वस्त्र की आजीविका प्रामाणिकता मे सिद्ध नही होगी, यह मूलभूत विचार जँच जाय तो समाज मे बने श्रीमान् और गरीब जैसे भेदो मे सतुलन आ सकता है। गाधीजी ने परिश्रम करके जीने के विचार को बहुत बढावा दिया है।

अगले श्लोक से यज्ञ-प्रकरण शुरू होता है। भगवान् बतला रहे है कि यज्ञार्थ यानी परोपकार की भावना छोडकर स्वार्थ-भावना से कर्म किया जाता है, जीवन बिताया जाता है तो लोग कर्म-बन्धन मे फँसते है। इसलिए कर्म-बधन से छूटने के लिए यज्ञ-भावना, और ईश्वरार्पण-बुद्धि मे तथा आसक्ति छोड़कर कर्म किया जाना चाहिए

: ९ :

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग, समाचर॥

अयं लोक=यह लोक यानी यह सृष्टि—सृष्टि के सब प्राणी, आदमी, यज्ञार्थात् कर्मण=यज्ञ के लिए यानी परोपकार के लिए कर्म करना है (इस भावना को छोडकर), अन्यत्र=स्वार्थ की भावना से कर्म करने मे, कर्मबन्धन=कर्म-बन्धन मे फँसे हुए हैं, कौन्तेय मुक्तसंग=इसलिए हे अर्जुन, आसक्ति छोडकर, तदर्थ कर्म समाचर=परमात्मार्पण बुद्धि से कर्म करो।

इस श्लोक मे चार बाते बतायी गयी हैं (१) परोपकार के लिए कर्म करना। (२) केवल अपने लिए ही यानी स्वार्थ के लिए कर्म करने से हमे बन्धन मे फँसना पडता है। (३) इसलिए परोपकार की भावना से और ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करना चाहिए। (४) और उसमें भी आसक्ति-ममत्व छोडकर कर्म करना चाहिए।

(१) पहले भगवान् यज्ञार्थ कर्म करने के लिए कहते हैं। यज्ञ का अर्थ क्या है? प्राचीन काल मे यज्ञ की व्याख्या अलग की जाती थी। आज उससे काम नही चलेगा। यज्ञ का मूल अर्थ है त्याग, उपकार। यह सनातन अर्थ है। लेकिन समाज की परिस्थिति के अनुसार यज्ञ का बाह्य स्वरूप बदलता रहता है।

प्राचीन काल मे अत्यधिक जगल होने से लकडी की आहुति देकर लकडी जलाने को ही 'यज्ञ' माना गया। उस समय इसकी जरूरत थी। प्राचीन काल मे गायो की नस्ल अच्छी थी, इसलिए दूध काफी होता था, इसलिए घी भी बहुत था। इसलिए यज्ञ मे घी की आहुति शुरू हुई। समाज मे चार आश्रमो की प्रबलता होने से गृहस्थाश्रम बहुत मर्यादित था। अभी जैसे ६०, ७० साल तक

भी कइयो का गृहस्थाश्रम चलता है, वैसी स्थिति प्राचीन काल मे नही थी । समाज मे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास इन तीन आश्रमो की बहुत प्रतिष्ठा थी । इसलिए सहज ही सतान-मर्यादा थी। दूसरी ओर आज यह स्थिति है कि जगल सब कटते जा रहे है, पेड भी बहुत कम हो गये है। इसलिए जगल बढाना, वृक्ष लगाना, वृक्षो को बढाना ही इस समय यज्ञ माना जायगा। आजकल गायो की नस्ल भी बिगड गयी है, क्योकि भैस हमारे समाज मे घुस गयी है। दूध के लिए भैस और बैलो के लिए गाय, यह हिसाब किसानो मे चल पडा है । दो पशुओ का पालन किसानो की शक्ति के बाहर की बात है। इसलिए दोनो मे से किसी एक की उपेक्षा स्वाभाविक है। भैस की उपेक्षा नही हो सकती, क्योकि वह दूध देती है । गाय की उपेक्षा होने से गाय बिगडती गयी और गाय का दूध कम हो जाने से घी भी कम होता गया। ऐसी स्थिति मे घी का उपयोग जलाने मे करना आज तो अधर्म ही माना जायगा। आज तो जो गो-पालन करके गाय की नस्ल-सुधार कर दूध बढायेगा, वह बडा भारी यज्ञ कर रहा है, ऐसा समझा जायगा । गाधीजी ने सूत कातने को यज्ञ माना, क्योकि प्राचीन जमाने मे सब लोग कातते थे और देहात का समाज वस्त्र की दृष्टि से पूरा स्वावलबी था। इसलिए देहात समृद्ध थे। देहात की सपत्ति देहात मे ही रहती थी । यन्त्रो का प्रचार न होने से देहातो मे सारे ग्रामोद्योग चलते थे। आज यन्त्रीकरण के कारण देहात की सपत्ति शहरो मे जा रही है । देहात स्वावलम्बी नही, शहरो पर अवलबित है । बहुत सारे ग्रामोद्योग नष्ट होने से ग्रामीण बेकार हो गये है। हिन्दुस्तान गॉवो का देश है। दस मे से नौ आदमी देहात मे रहते है। इसलिए जिस बात मे समाज का कल्याण है, समाज की रक्षा है, समाज की उन्नति है, उसे नित्य जीवन मे दाखिल करना कर्तव्य हो जाता है और इसीको 'यज्ञ' कहा जाता है । इसलिए चाहे जितना काम हो, गाधीजी रोजाना काते बिना सोते नही थे और सूत कातने को उन्होने यज्ञ कहा।

(२) दूसरी बात—जो लोग केवल अपने स्वार्थ मे रत रहते है, दुनिया के कल्याण की चिन्ता नही रखते, दुनिया के भले मे अपना भला नही मानते वे सुख-दु ख के बन्धन मे फॅसे रहते है। सिर्फ अपने लिए ही जीवन बिताने से आदमी को शाति नही मिल सकती। आत्मा की प्रेरणा स्वार्थ से निकलकर परार्थ यानी दूसरो के कल्याण के लिए कुछ-न-कुछ करने की रहती है । केवल स्वार्थ की प्रेरणा देह की प्रेरणा है और देह नित्य वस्तु नही है। देह की प्रेरणा आदमी को बहुत ही सकुचित दायरे मे रखती है, उसे व्यापक नही बनाने देती। लेकिन चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रेरणा व्यापक बनाने की रहती है । इसलिए केवल स्वार्थ मे तल्लीन होने से आदमी बन्धन मे ही रहता है। उसमे से वह निकल नही पाता।

(३) तीसरी बात यह है कि हम यज्ञार्थ कर्म करे यानी यज्ञमय, परोपकारमय जीवन बिताये। हमारी दृष्टि सिर्फ स्वार्थ की ही रहे तो बन्धन से निकल नही सकते। बन्धन से निकलने के लिए परोपकारी जीवन बहुत जरूरी है, यानी पहला कदम यह उठाना पडेगा कि हमारा जीवन परोपकारमय रहे। परोपकार की दृष्टि रखने पर अपना जरूरी स्वार्थ तो सध ही जायगा। जीवन का लक्ष्य जगत् का कल्याण, सबका कल्याण हो और सबके कल्याण मे अपना कल्याण सधे, यह हो तो स्वार्थ परार्थ-परमार्थ के नियन्त्रण मे रहेगा। फिर वह स्वार्थ बन्धनकारक नही होगा । इसलिए तीसरी वस्तु यह बतलायी कि यज्ञ की प्रधान दृष्टि रखकर जीवन बिताना हरएक का कर्तव्य है।

(४) चौथी बात है कि यज्ञ की दृष्टि रहते हुए, यज्ञमय यानी परोपकारमय जीवन होते हुए भी उसमे अहकार, आसक्ति, काम, क्रोधादि

विकार रहेगे तो वन्धन नही हटेगा। सस्था मे यह चीज पायी जाती है। किसी सार्वजनिक संस्था मे सब लोग जनसेवा की दृष्टि से इकट्ठे होते है। मगर उच्च उद्देश्य रखकर इकट्ठे होने पर भी आपस मे ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि दोष प्रकट होने लगते है। आपस मे जो सघर्ष खडा होता है, उससे सब लोग तग आ जाते है। कभी-कभी सस्था सुचारुरूप से चलाना मुश्किल हो जाने पर, उसे विसर्जित कर देना पडता है। सिद्धान्त उच्च रखने पर भी यदि चित्तशुद्धि का लक्ष्य न रहे तो वन्धन नही टाल सकते।

: १० :

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापतिः पुरा=प्रजापति ने सृष्टि के आरभ मे, **प्रजाः सहयज्ञाः**=प्रजा को यज्ञ के साथ, **सृष्ट्वा उवाच**=पैदा करके कहा कि, **अनेन प्रसविष्यध्व**=इस यज्ञ से अपना उत्कर्ष करो, **एष वः**=यह तुम्हारे लिए, **इष्टकामधुक् अस्तु**=इच्छित फल देनेवाला हो।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी है

(१) प्रजापति ने सृष्टि के आरभ मे प्राणीमात्र को यज्ञ यानी परोपकार-वृत्ति के साथ पैदा किया।
(२) इस परोपकार-वृत्ति से अपना उत्कर्ष साधो।
(३) और यह सवके लिए इच्छित फल देनेवाला सावित हो।

(१) प्रजापति यानी सृष्टि पैदा करनेवाला ब्रह्मदेव। प्राचीन काल मे हमारे शास्त्रकारो ने यानी पुराणकारो ने देवो की कल्पना कर रखी है। इन देवो मे सृष्टि को पैदा करनेवाला ब्रह्मदेव, उसे स्थित रखनेवाला विष्णु और उसका सहार करनेवाला शिव, ये तीन देव मुख्य माने गये। वस्तुत सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति या सहार के ये सारे भास परमात्मा ही कराता है। सृष्टि सत्य पदार्थ नही है। जैसे मिट्टी का घडा और सूत का कपडा भास है, वैसे ही सृष्टि भी परमात्मा का भास है। सृष्टि परमात्मा से भिन्न स्वतन्त्र वस्तु नही। परमात्मा की अनतशक्तियाँ है। कुछ शक्तियो को 'देव' कहा गया। परोपकार की प्रेरणा प्राणीमात्र मे है। गाय वछडे के लिए मरने को तैयार हो जाती है। कुतिया जव व्याती है तव उसके पास जाकर यदि उसके वच्चे को उठाया जाय तो तुरत काटने लगेगी। कुतिया को स्वय खाना न मिले तो भी कहीसे वह टुकडा ले आयेगी और अपने पिल्लो को देगी। सस्कृत की एक प्रसिद्ध सूक्ति है

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

अर्थात् आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चार चीजे मनुष्य और पशु दोनो मे समान है। ये चारो वाते मनुष्य और पशुओ मे समान है, फिर भी मनुष्य मे वुद्धि-शक्ति का विकास अधिक है। पशु मे ऊपर उठने की शक्ति नही है तो नीचे गिरने की भी शक्ति नही। मनुष्य अपनी शक्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनो कर सकता है। इस वुद्धि-शक्ति के कारण मनुष्य परोपकार-वृत्ति का अपने मे इतना विकास कर सकता है कि पूरा जीवन परोपकार मे व्यतीत कर सकता है। उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करके अत्यन्त विशुद्ध, काम-क्रोधादिरहित जीवन विताया जा सकता है। मनुष्य परमात्मा को जानकर, सवमे परमात्मा देखकर, भेद-दृष्टि छोडकर व्यवहार कर सकता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि भगवान् ने यह जो जन्म के साथ ही यज्ञ यानी परोपकार-वृत्ति लगा दी, है उसका पूर्णतया विकास करके जीवन वितायें। सत तुलसीदासजी लिखते है

परहित वस जिन्हके मन माँहीं।
तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

सत तुलसीदासजी अन्यत्र लिखते है

परहित सरिस धरमु नही भाई।
परपीड़ा सम नहि अधमाई॥

नर शरीर धरि जे परपीरा ।
करहिं ते सहहिं महा भवभीरा॥

(२) परोपकार-वृत्ति से अपना उत्कर्ष करो। देह-बुद्धि रखने से अवनति होती है और जितनी देह-बुद्धि छोडते जायँगे और हम अपने को सकुचित दायरे मे न रखकर व्यापक बनाते जायँगे, उतना सतोष हमे मिलता जायगा, यह अनुभवसिद्ध बात है।

विनोबाजी 'गीता-प्रवचन' मे कहते हैं कि हम भोजन करने की तैयारी मे हैं और उतने मे ही एक अतिथि कई दिनो का भूखा हमारे पास पहुँच जाय और उस समय हम अपनी थाली मे से उसे खाने को देते हैं तो हमे कितना आनन्द होगा ? उस दिन हम अपने मन मे अपार आनन्द का अनुभव करते हुए सोयेगे। परोपकार-वृत्ति से जीने का अर्थ है, त्यागवृत्ति से जीना, भोग-वृत्ति से नही। मानवता भोग भोगने के लिए नही है। भोग भोगने की शक्ति की तरह ही त्याग करने की शक्ति भी मानव को अधिक-से-अधिक मिली है। दोनो शक्तियाँ हैं। भोग भोगने की शक्ति का दुरुपयोग किया जाय तो आखिर मे महादु ख होगा। उसके सदुपयोग का मतलब है, देहधारणा करने के लिए ही भोजन, निद्रा आदि आवश्यक भोगो का भोगना। भूख लगने पर भोजन करते है तो हमे कुछ आनन्द तो मिल ही जाता है। देह की ये जो आवश्यक क्रियाएँ हैं, उनमे आनन्द की दृष्टि नही होती। आनन्द के लिए ये क्रियाएँ नही की जाती। इसलिए मनुष्य मे जो त्याग-शक्ति है, उसका विकास करके ही जीना चाहिए। त्यागशक्ति जितनी बढेगी, उतना आनन्द मिलता रहेगा। भोग के पीछे लगने से देह और मन की शक्ति क्षीण हो जाती है। जीवन मे त्याग-शक्ति बढने से देह और मन की शक्ति सुरक्षित रहती है। त्याग-वृत्ति से जीने मे अखण्ड आनन्द है। भोग-वृत्ति से जीने मे शुरू मे थोडा आनन्द लगता है, लेकिन वह टिकता नही। इसीलिए उसे बार-बार भोगना पडता है। श्रीशकराचार्य अपने 'भज गोविन्दम्' स्तोत्र मे लिखते है

सुखतः क्रियते रामाभोग
पश्चाद्धन्त शरीरे रोग.।
यद्यपि लोके मरणं शरण
तदपि न मुंचति पापाचरणम्॥

अर्थात् मनुष्य बडे आनन्द से स्त्री-समागम करता है, लेकिन बाद मे सचमुच शरीर मे रोग हो जाता है। इस तरह प्राणीमात्र मरण की ही शरण लेते हैं। फिर भी पापाचरण को नही छोडते।

इससे स्पष्ट है कि सच्चा सुख यज्ञ, परोपकार-वृत्ति या त्याग-वृत्ति से ही मिलता है। ईशावास्य-उपनिषद् के पहले श्लोक मे यही बात कही गयी है

ईशावास्यमिद सर्व यत्किच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुजीथाः मा गृध· कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात् इस जगत् मे जितने भी पदार्थ हैं, वे ईश्वर से ही व्याप्त हैं, इसलिए ईश्वर के नाम से त्याग-कर तू आवश्यक भोग भोगता जा, किसी विषय की तृष्णा मत रख। क्योकि धन किसका है यानी जो भी भोग भोगने के साधन हैं, वे किसके हैं ?

सारे पदार्थ जब ईश्वर से व्याप्त हैं तब उसको सब अर्पण करके और त्याग की वृत्ति रखकर ही सारा जीवन बिताना चाहिए, यह बोध सहज ही मिल जाता है।

(३) तीसरी बात यह है कि यह यज्ञ यानी परोपकार-वृत्ति कामधेनु के समान है। समर्थ रामदास स्वामी कहते हैं कि 'जो हमेशा परोपकार ही करता गया और इससे सबके लिए जो बहुत प्रिय हो गया, उसके लिए फिर किसी भी चीज की कमी कैसे रहेगी ?'

गाधीजी दक्षिण अफ्रीका मे बैरिस्टरी करते थे। वहाँ कोर्ट मे एक मामला लम्बे अरसे से चल

रहा था। वहाँ उनकी परोपकार-वृत्ति ने अपना जोर दिखाया। उनके मन मे विचार आया कि दोनो पक्षों का कोर्ट मे जाने से बेहद आर्थिक नुकसान हो रहा है, उसमे वृद्धि करने के बजाय दोनो का आपस मे समझौता करा दिया जाय तो दोनो पक्ष आर्थिक हानि से बच जायँगे। उन्होने अपनी सारी बौद्धिक शक्ति दोनो पक्षो को समझाने मे लगा दी और अत मे वे सफल हो गये। गाधीजी की उम्र उस समय २१-२२ साल की थी। इतनी छोटी उम्र मे सात लाख पौड का केस आपस मे समझौता कराकर निपटा देना सामान्य बात नही है। गीता की भाषा मे यह कार्य 'कामधेनु' के समान हो गया।

: ११ :

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व.।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

अनेन=इस यज्ञ से, परोपकार-कार्य से, **देवान् भावयत**=देवो का, गरीब जनता यानी आम जनता का, उत्कर्ष करो, **ते देवा.**=(उसके बदले मे) वे देव, **वः भावयन्तु**=तुम्हारा उत्कर्ष करेंगे, **परस्परं भावयन्त.**=एक-दूसरे का उत्कर्ष करते हुए, **पर श्रेय. अवाप्स्यथ**=परम कल्याण को दोनो प्राप्त होंगे।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है (१) देवो (गरीब, आम जनता) की सेवा कर उनका उत्कर्ष साधो। (२) उनका उत्कर्ष साधने से वे भी आपकी सेवा करके आपका उत्कर्ष करेंगे। और (३) इस तरह एक-दूसरे की सेवा कर उत्कर्ष साधते हुए दोनो कल्याण को प्राप्त होगे।

(१) प्राचीन काल मे जनता मे आपस मे काफी सहकार था। हिन्दुस्तान देहातो मे बसा है। यहाँ किसान-वर्ग अधिक सख्या मे है। किसान को गाधीजी ने 'जगत् का पिता' कहा था। पिता कुटुब का भरण-पोषण करता है। हिन्दुस्तान के इस सारे बडे कुटुम्ब का भरण-पोषण भी किसान ही करता है। लेकिन इस जगत्-पिता की बडी उपेक्षा होती है। किसान अपनी रोटी अपने परिश्रम से प्राप्त कर लेता है। उसके पूरे परिवार मे छोटे बालक को छोड सभी परिश्रम करते है। उसकी स्त्रियाँ यानी माता, पत्नी, लडकी, बहन सब खेत मे काम करती है। इसके विपरीत मध्यम वर्ग और अमीर वर्ग के लोग प्रत्यक्ष परिश्रम नही करते और किसान-मजदूरो द्वारा पैदा किया अनाज आराम से खाते है। अन्न के लिए कोई परिश्रम न करते हुए हम किसान की अपेक्षा ज्यादा सुविधाएँ भोगते है।

इस श्लोक मे जो विचार भगवान् ने रखा है, गाधीजी का सारा जीवन उसी विचार के अनुसार रहा। उन्होने किसान की तरह जीने की कोशिश की। आम जनता यानी गरीब जनता का किस प्रकार उत्थान हो, इसके चिन्तन मे और उन्हीकी सेवा मे अपना सारा जीवन बिताया। अपने पारिवारिक जनो को भी उसमे शामिल कर लिया। उन्होने अपने लडको से पाखाना-सफाई, खेत मे मजदूरी करना आदि परिश्रम के कार्य करवाये। मैंने भी किसान के साथ एकरूपता साधने की कोशिश की, मगर सफल नही रहा। हम सब गरीब, मध्यम, अमीर आखिर मे इन्सान है, मनुष्य है, फिर हम सबके जीवन मे समानता क्यो नही आती, यह सोचने की बात है। पूरी समानता कोशिश करने पर भी न आये, तो भी फिलहाल तीनो वर्गो मे जो भारी अतर पड गया है, वह खतरनाक है। इसीसे समाज मे दु ख बढा है। सघर्ष भी इसीमे से पैदा होता है।

गाधीजी का सब वर्गो (गरीब, मध्यम, अमीर—तीनो वर्गो) के साथ सपर्क रहा है। तीनो वर्गो मे समानता कैसे पैदा हो, वे हमेशा इसीके प्रयत्न मे रहे। धनियो के साथ उनका बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है। धनी-वर्ग से वे हमेशा कहते आये है कि आप जो धन कमाते है, उसके ट्रस्टी बनकर रहे।

आप अपनी कमाई मे से एक निश्चित तनख्वाह ले और सयम से रहने का अभ्यास करे। अमीर और गरीव-वर्ग के बीच का आज का अतर धीरे-धीरे कम होना चाहिए और जीवन की आवश्यक सुविधाएँ सवको ठीक-ठीक परिमाण मे मिलनी चाहिए। यह प्रयत्न अमीरवर्ग को करना है। गरीवो की केवल तनखाह वढा देनेमात्र से काम नही चलेगा। उनमे जो व्यसन, वुरी आदते है, उन्हे भी हटाना होगा। गरीवो की शिक्षा, भोजन, वस्त्र, रहने आदि की समुचित सुविधाएँ करना भी अमीर-वर्ग का कर्तव्य है।

भगवान् इस श्लोक मे वतला रहे है कि जो परोपकार-वृत्ति हरएक को मिली है, उसका उपयोग करना चाहिए। जिनके पास सपत्ति आदि साधन है, जो पहले से ही साधन-सम्पन्न है, उनका कर्तव्य है कि वे गरीव जनता की सेवा करे, उसका उत्कर्ष करे।

(२) दूसरी वात यह कि देव यानी गरीव या आम जनता अपनी सेवा करनेवालो की सेवा करे या जिसमे उनका उत्कर्ष हो, ऐसी कोशिश करे। यहाँ एक-दूसरे की सेवा करने की वात है। गरीव-वर्ग मे सेवाभाव, परोपकार-वृत्ति वहुत अधिक पायी जाती है। ईश्वर पर श्रद्धा भी भरपूर होती है। इतनी गरीवी होते हुए भी गरीवो मे जितना अतिथि-सत्कार पाया जाता है, उतना शायद ही और वर्ग मे पाया जायगा। इतना निश्चित है कि हम गरीवो की सेवा करते है तो फौरन वे हमारी सेवा के लिए तैयार रहते है।

(३) इस तरह तीनो वर्ग परस्पर सहकार मे एक-दूसरे की सेवा का लक्ष्य रखेगे तो तीनो वर्ग कल्याण को प्राप्त होगे। तीनो वर्गो का सघर्ष मिटेगा और सहज ही तीनो की उन्नति होगी। मनुष्य मे विवेकशक्ति, विचारशक्ति इतनी है कि उसका यदि ठीक उपयोग किया जाय तो तीनो वर्ग मे समानता पैदा करके प्रेम प्राप्त कर सकते है।

: १२ :

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥

हि यज्ञभाविता· देवा =और यज्ञ मे सतुष्ट देव यानी गरीव जन, **इष्टान् भोगान् व दास्यन्ते**=आवश्यक भोग आपको देगे, **तै· दत्तान्**=देवो द्वारा दिये हुए भोगो को भोगकर भी, **एभ्य· अप्रदाय भुक्ते**=उन गरीवो की सेवा न करते हुए, जो भोगता है, **स स्तेन· एव**=वह चोर ही है।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है

(१) गरीव, श्रमनिष्ठ जनता की हम यदि सेवा करते है तो वे सतुष्ट रहेगे और सतुष्ट श्रमनिष्ठ लोग आपको भी उचित भोग देगे।

(२) लेकिन इस तरह उनके दिये भोगो को भोगते हुए उन्हे वापस न देकर, उनका ऋण न चुकाकर, उनकी सेवा न करते हुए जीवन विताये तो हम जीने के अधिकारी सावित नही होगे। इतना ही नही, हम चोर सावित होगे।

(१) जव तक समाज अन्न-वस्त्र के विना नही चल सकता, तव तक समाज के हर आदमी का कर्तव्य हो जाता है कि वह अन्न और वस्त्र पैदा करने मे अपना हाथ वँटाये। इसके लिए सवको 'किसान' और 'वुनकर' वनना होगा। शहरो के वदले देहात मे रहना होगा। सव किसान या वुनकर वने तो अन्न-वस्त्र के अलावा अन्य जरूरी चीजे कौन पैदा करेगा, वच्चो को शिक्षा कौन देगा? घर वनाने के लिए वढई की, घडे के लिए कुम्हार की और हजामत के लिए नाई की जरूरत रहेगी। रक्षण के लिए, चोर, डाकुओ से वचने के लिए रक्षको की यानी क्षत्रिय-वर्ग की यानी पुलिस या शाति-सैनिको की जरूरत रहेगी। सारे समाज की व्यवस्था रखने के लिए व्यवस्थापक यानी सरकार की जरूरत रहेगी। इस तरह समाज मे विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ होने से समाज मे सिर्फ किसान या वुनकर, ये ही दो वर्ग निर्माण हुए, लेकिन ये वर्ग निर्माण करते समय यह

विचार हरगिज नही था कि उनमे उच्च-नीच भाव रहे और सबके जीवन मे समानता न रहे। बल्कि सब धर्मों मे आपस मे सहकार रहे, उच्च-नीचभाव न रहे, सब वर्गो मे जीवन की समानता रहे, यानी एक श्रीमत, एक गरीब, एक मध्यम--ऐसी असमानता पैदा न हो। यह खयाल, यह ध्येय शुरु मे रखते हुए भी धीरे-धीरे वह छूटता गया और धनी, मध्यम और गरीब जैसे तीन वर्ग खडे हो ही गये।

पहले नाई, बढई, लुहार, कुम्हार—सबको उनकी सेवा के बदले मे अन्न-वस्त्र ही मिलता था। पैसे का व्यवहार नही जैसा ही था। मगर अब सारा व्यवहार पैसे से होने के कारण विषमता पैदा हुई और पैसा कमाना ध्येय बन गया। इस कारण पारस्परिक सहकार बहुत कम होता गया, स्वार्थ बढता गया और यज्ञवृत्ति यानी परोपकार-वृत्ति का, जो सहज मे ईश्वर ने जन्म के साथ सबको दी है, उसका उत्कर्ष न होकर अपकर्ष होता गया। पैसे की महत्ता के कारण समाज और राष्ट्र मे अनुत्पादको के अनेक वर्ग खडे हो गये। जहाँ एक ओर उनकी प्रतिष्ठा बढी, वही उत्पादको की, श्रमिको की महत्ता, श्रम की प्रतिष्ठा गिरती भी गयी। विषमता का मूल कारण यही है। अनुत्पादक वर्ग मे नम्रता होनी चाहिए और मन मे हमेशा इसका पूरा भान रहना चाहिए कि उत्पादन मे हम भाग नही ले रहे है। उन्हे इसका सतत चिन्तन करते रहना चाहिए कि उत्पादक वर्ग की सेवा कैसे की जाय। गरीब वर्ग के लिए अपनी सपत्ति मे से, अपनी आय मे से कुछ भाग अलग रखना चाहिए। गरीब वर्ग के लडको के लिए अच्छी शिक्षा का प्रबध हो, उनके स्वास्थ्य का प्रबध किया जाय। इस तरह अमीर और मध्यम वर्ग के लोग गरीबो की सेवा करने का लक्ष्य रखकर जीवन बितायेगे तो गरीब भी इन दो वर्गो से द्वेष न करते हुए दोनो की सुविधा का काम करने के लिए हमेशा तैयार रहेगे। इससे विषमता भी दूर होगी।

(२) दूसरी बात--गरीब वर्ग के लोग हम सबको जो अन्न, वस्त्र प्रदान करते है, सब कष्ट कर हमारे लिए अन्न-वस्त्र पैदा कर हमारी सब जरूरते पूरी करते है, उनकी इस अमूल्य सेवा का ऋण यदि हम उन्हीकी सेवा करने का लक्ष्य रखकर उन्ही की सुविधाएं ध्यान मे रखकर नही चुकाते है तो फिर अनुत्पादक वर्ग के सारे लोग चोर है और चोरी का अन्न ग्रहण करके जी रहे है, ऐसा समझा जायगा। यहाँ 'चोर' शब्द भगवान् ने बहुत रुखा इस्तेमाल किया है।

: १३ :

यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै.।
भुंजते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्त=यज्ञ-शेष पर ही निर्वाह करनेवाले सन्त या सज्जन, सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते=सब पापो से मुक्त हो जाते है। तु ये=लेकिन जो लोग, आत्मकारणात् पचन्ति=सिर्फ अपने लिए ही, पकाते-जीते है, ते पापा अघ भुजति=वे पापी सिर्फ पाप ही भक्षण करते है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है (१) यज्ञमय यानी परोपकार-वृत्ति से जीवन बिताने मे जो सज्जन, जो सत रत रहते है वे सब दोषो से मुक्त हो जाते है। (२) जो सिर्फ अपने लिए ही जीते है वे पापी पाप ही भक्षण करते है।

(१) यज्ञ करके यानी समाज की सेवा करके जो शेष बचता है, उस पर अपना निर्वाह करने के लिए यहाँ कहा गया है। समाज की सेवा करके शेष जो उसके बदले मे मिले, उसीमे अपना निर्वाह करने का अर्थ है त्यागवृत्ति से जीना, या विनोबाजी के शब्दो मे भिक्षा पर जीना। भिक्षा यानी समाज की ज्यादा-से-ज्यादा सेवा करके समाज से कम-से-कम लेना। भिक्षा-वृत्ति का मतलब माँगकर खाना, दीन-हीन बनकर रहना नही है। श्रम करके, अधिक-से-अधिक समाज का भला करके अपनी आवश्यकता के अनुसार निर्वाहभर का ग्रहण

करना ही सच्ची भिक्षा-वृत्ति है। यही अपरिग्रह-वृत्ति है। लेकिन आजकल तो समाज की सुख की कल्पना ही वदल गयी है। ज्यादा-से-ज्यादा परिग्रह मे ही सुख माना जाता है।

वस्तुत जितना परिग्रह वढाते है उतना ही दु ख वढता है। इसलिए कम-से-कम परिग्रह से सुख प्राप्त करने का अभ्यास रहे तो सुख ज्यादा-से-ज्यादा टिका रहेगा। जितने वाह्य साधन वढायेगे, उतना ही हमारा मन कमजोर वनेगा। आजकल की शिक्षा मे यह वडा भारी दोप है कि वौद्धिक ज्ञान तो दिया जाता है, किन्तु मनोनिग्रह का, मन की शक्ति वढाने का ज्ञान नही मिलता। चाहे जितना वौद्धिक ज्ञान प्राप्त किया जाय, उससे शाति प्राप्त नही हो सकती। प्राचीन जमाने मे समाज का ध्यान मन को वलवान्, निग्रही, मजवूत, निर्विकारी वनाने की तरफ रहता था। समाज की आज की यह स्थिति भयानक है। इससे छुटकारा तभी मिल सकेगा जव लडको को चारित्र्यवान्, मनोनिग्रही, परोपकाररत वनाने की हमारी कल्पना रहेगी। जव तक सुख भौतिक साधनो की विपुलता पर निर्भर रहेगा तव तक समाज का सुख वढाने की कोई सभावना नही।

इसलिए हमारी शिक्षा यज्ञमय जीवन विताने-वाली वने, परोपकार-रत वने। इसलिए भगवान् यहाँ यज्ञ यानी परोपकारी जीवन का इतना गौरव वता रहे है कि जो यज्ञमय, परोपकाररत जीवन विताकर वदले मे जो थोडा-सा मिलता है उस पर सतुष्ट रहता है, वह 'सत' है। ऐसे सत पुरुप, सत तुलसीदासजी के शव्दो मे, **हेतुरहित परहितरत सीला** होते है। किसी प्रकार की कामना के विना, निष्काम भावना से परहितरत रहना ही जिनका शील यानी स्वभाव वन गया है। तुलसीदासजी सतो के इस गुण की सराहना करते हुए लिखते है

पर उपकार वचन मन काया।
संत सहज सुभाव खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी।
पर-दुःख हेतु असंत अभागी॥
भूरज तरु सम संत कृपाला।
परहित नित सह बिपति बिसाला॥

अर्थात्—काया, वाचा, मन से परोपकारमय जीवन विताना, सतो का सहज स्वभाव होता है। दूसरो के कल्याण के लिए सत दु ख सहन करते है, लेकिन असत यानी दुर्जन दूसरो के अकल्याण के लिए, दूसरो को नुकसान पहुँचाने के लिए दु ख सहन करते है यानी जीते है। कृपालु सत पुरुप भोज-पत्ते के वृक्ष के समान दूसरो के कल्याण के लिए हमेशा वहुत सकटो का सामना करते है, उन्हे सह लेते है। इस प्रकार जिनका परोपकारमय जीवन वन जाता है, वे सव दोपो से मुक्त हो जाते है। क्योकि देह-वुद्धि के कारण ही दोप पैदा होते है। नाना प्रकार के दोष जीवन मे पैदा होने का कारण देह की आसक्ति या ममता ही है। आसक्ति, ममता जैसे-जैसे क्षीण होती है, वैसे-वैसे हमारे दोप दूर होते और गुण पनपने लगते है।

(२) जो सिर्फ अपने लिए ही जीते है यानी परोपकार-वृत्ति का उत्कर्प न करते हुए देह-वुद्धि को वढानेवाले स्वार्थ के लिए जीवन विताते है, वे पापी है और पापमय ही जीवन विता रहे है। यह कहकर भगवान् ने वहुत कठोर शव्दो से ऐसे जीवन का निपेध किया है। कारण इस प्रकार के जीवन से मानवता नष्ट हो जाती है। कठोर शव्द से निपेध करके भगवान् यह वतलाना चाहते है कि आदमी को पशु की तरह नहीं वरतना चाहिए। मनुष्यता इसीमे है कि वह सिर्फ पशु की तरह स्वार्थ के लिए न जीकर परार्थ और परमार्थ के लिए जीये। मनुष्य अभी पूरा मनुष्य वना नही है। उसमे काफी पशुपन है। उसे हटाने के लिए ही मनुष्य-देह मिली है, यह समझकर यदि हम चलते है तो हमारा जीवन परोपकारमय वनकर हम भगवान् की कृपा के पात्र वन सकते है।

: १४-१५ :

अन्नाद् भवन्ति भूतानि परजन्यादन्नसभवः ।
यज्ञाद् भवति परजन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

भूतानि अन्नात् भवन्ति=भूतमात्र अन्न से पैदा होते है, **परजन्यात् अन्नसभव.**=वर्षा से अन्न पैदा होता है, **यज्ञात् परजन्य· भवति**=यज्ञ से वर्षा होती हे, **यज्ञ· कर्म-समुद्भवः**=यज्ञ कर्म से पैदा होता हे, **कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि**=कर्म ब्रह्म यानी प्रकृति से पैदा होता है, **तस्मात् सर्वगत ब्रह्म**=इसलिए सर्वत्र व्याप्त परमात्मा, **नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्**=नित्य यज्ञमय जीवन से ओतप्रोत है ।

यहाँ दो श्लोक एक साथ लिये, क्योकि दोनो मिलकर एक बात पूरी होती है ।

१४वे श्लोक मे चार बाते बतायी है
(१) अन्न से सब प्राणियो की उत्पत्ति होती है। (२)अन्न वर्षा से पैदा होता है। (३) वर्षा यज्ञ से होती है । (४) यज्ञ कर्म मे पैदा होता है।

(१) अन्न से सबकी उत्पत्ति होती है, यह सभी जानते है । भोजन से रक्त ओर फिर वीर्य पैदा होता है । वीर्य सारे शरीर का मक्खन है । उसीसे प्रजोत्पत्ति होती है । वीर्य सुख-प्राप्ति के लिए नही, सिर्फ प्रजोत्पत्ति के लिए ही है, यह समझकर पवित्र, सयमी आचरण रखना चाहिए ।

(२) दूसरी बात यह कि अन्न वर्षा से पैदा होता है । बरसात यदि नही हो तो अन्न पैदा नही होगा । पीने का पानी भी नही मिलेगा । वर्षा से ही हमे लकडी मिलती है, खेत पनपते है। वर्षा के विना हमारा जीवन सकट मे पड जाता है । वर्षा का हम पर बहुत उपकार है । इसलिए वर्षा को हमारे शास्त्रकारो ने 'पर्जन्य' (देवता) कहा है । पर्जन्य देवता हर साल हम पर प्रसन्न रहे, तभी अनाज पैदा होगा । तभी हमे पीने के लिए पानी मिलेगा ।

(३) तीसरी महत्त्व की बात यह बतलायी कि यज्ञ से पर्जन्य यानी वर्षा होती है । यज्ञ का अर्थ क्या ? यही मुख्य प्रश्न है । प्राचीन जमाने मे जगल इतने घने थे कि वे कम कैसे हो, यह एक चिन्ता का विषय था । सब लोग जगल काटने मे भाग ले, तभी सामूहिक रीति से यह कार्य बन सकता था । हमारा सारा समाज उस समय पूरा धर्मनिष्ठ था । इसलिए कोई भी कार्य सामूहिक रूप से करना हो तो उसे धर्म का स्वरूप मिले बगैर उसके अमल मे आने की सभावना नही रहती थी । इसलिए लकडी काटकर जलाने के कार्य को व्यवस्थित रूप देकर, उसके नियम बनाकर, उसे 'यज्ञ' नाम दिया गया । उसके मत्र निश्चित कर वह चीज धार्मिक रूप मे समाज मे रूढ की गयी । यज्ञ यानी लकडी जलाकर हवन करना, यह अर्थ रूढ हो गया । जिन्होने वानप्रस्थ लिया है, उनके लिए दो कुण्ड बनाकर उसमे लकडी जलाकर २४ घटे सतत अग्नि रहे, ऐसी व्यवस्था करनी पडती थी । उन दो अग्नि-कुण्डो की रोजाना दो या तीन घटा प्रदक्षिणा करके मत्र बोलते हुए उपासना करनी पडती थी । यह कल्पना रूढ हो गयी कि उस अग्नि को लकडी और घी की आहुति दी जाय । वह आहुति सूर्य को पहुँचती है, और सूर्य से यानी इसी यज्ञ से बरसात होती है । बरसात से अन्न, अन्न से प्रजा पैदा होती है ।

शब्द के अर्थ परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते है । अब जब जगल ही नही रहे बल्कि जहाँ जगल बढाना धर्म माना जाने लगा, वहाँ लकडी जलाने को यज्ञ समझना अज्ञान है । आज तो वृक्ष लगाना यज्ञ है ।

यज्ञ का मूल अर्थ है—सृष्टि का जिसमे कल्याण हो वह कर्म । यज्ञ का मूल अर्थ परोपकार लिया जाय तो भगवान् के इस वचन का कि 'यज्ञ से पर्जन्य यानी बरसात होती है', कैसे अर्थ बैठाया जाय, यह देखना होगा । पर्जन्य सूर्य की वजह से होता

है। सूर्य न हो तो पर्जन्य नही होगा। अर्थात् सूर्य ही वादल तैयार कर वर्षा करता है। सूर्य नही हो तो जीवित रहने के लिए शरीर को आवश्यक उष्णता न मिलने से हम जीवित नही रह सकेंगे। सूर्य इतना नियमित है कि उसकी गति मे एक पल का भी अतर नही पडता। हम जो भोजन करते हैं, उन सारी वनस्पतियो मे सूर्य की किरणो से विटामिन यानी जीवनसत्त्व पैदा होते हैं। सूर्य पृथ्वी को खीच रहा है। पृथ्वी आकाश मे लटकती रहती है, वह सूर्य की वजह से ही। मतलव यह कि सूर्य जितना परोपकारी और कोई नही। उपनिषद् मे कहा है **सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु**। सूर्य सवकी आँखे हे। सूर्य ही नही, सम्पूर्ण जड सृष्टि हम पर उपकार करती है। आम का वृक्ष हमे आम देता है, उसका उपयोग खुद उसके लिए तो कुछ भी नही। सव फल, फूल, झाड, घास, मिट्टी, पत्थर आदि सृष्टि का उपयोग हमे होता है। इस तरह जव सारी सृष्टि यज्ञ कर रही है तव हमे भी अपना जीवन स्वार्थपूर्ण न वनाकर यज्ञमय वनाने का लक्ष्य रखकर चलना चाहिए।

(४) चौथी वात यह कि यज्ञ कर्म से पैदा होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ मे अर्जुन ने प्रश्न पूछा था कि कर्म से निष्कामता, निर्विकारता, समता श्रेष्ठ है तो मुझे इस घोर कर्म मे क्यो प्रवृत्त कर रहे है? भगवान् इसी प्रश्न का इस तीसरे अध्याय मे विस्तार से जवाव दे रहे है, एक-एक कारण वतला रहे है। यज्ञ समझकर कर्म करना चाहिए। और यज्ञ का अर्थ वतलाते हुए कह रहे है कि यज्ञ का अर्थ है परोपकार-वृत्ति। परोपकार-वृत्ति से जीने का मतलव ही है कुछ ठोस कार्य करते हुए जीना। निष्क्रिय वनकर कुछ न करते हुए जीने का मतलव है, तमोगुणी वनकर जीना। परोपकार-वृत्ति मे जीने का मतलव है सत्त्वगुण का उत्कर्ष करके परोपकार का कर्म करते हुए जीना। स्वार्थी जीवन मे कुछ पुरुषार्थ, कुछ सक्रियता अवश्य होती है, मगर वह पुरुषार्थ सकुचित है। वह सक्रियता या पुरुषार्थ समाज का कल्याण करनेवाला नही है। इसलिए भगवान् यहाँ पर जो कह रहे हैं, वह कर्म यज्ञ-कर्म है। यह परम पुरुषार्थ है। यह सामान्य कर्म नही, अत्यन्त सात्त्विक कर्म है।

पिछले श्लोक मे यज्ञ की उत्पत्ति सात्त्विक कर्म से होती है, ऐसा कहा गया। अव १५वे श्लोक मे वता रहे है कि यह कर्म किससे पैदा होता है।

(५) कर्म ब्रह्म से पैदा होता है। 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ क्या है? यहाँ ब्रह्म का अर्थ परमात्मा या सारी सृष्टि का मूलकारण अपेक्षित नही। क्योकि आगे तुरत ही भगवान् कह रहे है कि ब्रह्म अक्षर से पैदा होता है। ब्रह्म यदि पैदा होता है तो उसका अर्थ मूलकारण परमात्मा नही हो सकता। मूलकारण उसीको कहते है जो कभी पैदा ही नही होता। पैदा हुई सव चीजो का यानी कार्यो का जो कारण होता है वह पैदा होता है, ऐसा माने तो वह कार्य-कोटि मे आयेगा और अनित्य हो जायगा। इसलिए 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ यहाँ प्रकृति या परमात्मा की मायाशक्ति करना चाहिए।

गीता के १४वे अध्याय के तीसरे श्लोक मे भगवान् ने कहा है·

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम्।
संभव· सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

"मेरी योनि यानी प्रकृति या माया-शक्ति वहुत वडी है। इनसे भिन्न न होने के कारण उसे 'ब्रह्म' कहते है। उसमे मै सव भूतो का वीज वोता हूँ और इसी वीज से सव भूतो की उत्पत्ति होती है।" तो, यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ प्रकृति या मायाशक्ति है। प्रकृति या माया के लिए 'ब्रह्म' शब्द इसलिए इस्तेमाल किया गया है कि जगत् का कारण जो मूलब्रह्म है उससे यह प्रकृति या माया स्वतत्र वस्तु नही है। साख्य प्रकृति को स्वतत्र तत्त्व और जड भी मानते है। पर गीता का

मानना ऐसा नही है। गीता प्रकृति या मायाशक्ति को स्वतत्र पदार्थ नही मानती। प्रकृति या माया-शक्ति परमात्मा की एक अलौकिक शक्ति है। वह परमात्मा से भिन्न नही। परमात्मा मे ही है, परमात्मा से विलकुल एकरूप है। परमात्मा मे दो शक्तियाँ है १ चैतन्य-शक्ति यानी ज्ञान-शक्ति और २ सर्ग-शक्ति यानी सृष्टि के नाना पदार्थ पैदा करने की शक्ति। उनका भास कराने की शक्ति को माया या प्रकृति कहते है। इस प्रकृति या माया मे तीन गुण—सत्त्व, रज, तम है, इसलिए इसे त्रिगुणात्मक प्रकृति या माया कहा जाता है। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, तीन प्रकार के कर्म पैदा होते है। यहाँ जिस यज्ञ का जिक्र है, वह यज्ञ कर्म सात्त्विक कर्म है। इस तरह प्रत्येक कर्म या क्रिया का आधार त्रिगुणात्मक प्रकृति है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से तीन प्रकार के कर्म निकलते है।

(६) छठी वात यह कि यह ब्रह्म यानी पर-मेश्वर की प्रकृति या माया अक्षर से निकली है। परमात्मा अक्षर है यानी अक्षीण है, शाश्वत स्थिति म रहनेवाला है, उसमे कभी परिवर्तन नही होता। वह स्थिर रहता है, इसलिए अविनाशी है। प्रकृति या माया स्वतत्र न होकर परमेश्वर के अतर्गत, पर-मात्मा के अधीन रहती है। परमात्मा की चैतन्य-शक्ति इस माया-शक्ति पर पूरा नियत्रण रखती है। प्रकृति का सारा कार्य परमात्मा के अधीन चलता है। परमात्मा की आज्ञा मे उसका कार्य सुचारुरूप से अखड चलता रहता है।

(७) सातवी वात यह कि प्रकृति और सारे जगत् का मूल कारण यानी मूल आधार ब्रह्म यानी परमात्मा होने से यज्ञ के लिए भी उसी परमात्मा का नित्य आधार रहता है। यज्ञ मे वही परमात्मा नित्य प्रतिष्ठित यानी विराजमान है। ब्रह्म या पर-मात्मा कैसा है, वह कहाँ रहता है ? तो वताते है कि वह' सर्वगत' है—**सबमे रम रहा प्रभु एकाकी**। वह अकेला प्रभु सबमे रम रहा है। लेकिन वह निर्गुण, निराकार, निर्विकार होने से, विलकुल नजदीक होने पर भी हमे उसका पता तक नही रहता। फिर भी भगवान् हमे भान करा रहे है कि वह आपके इतना नजदीक है कि वह आपका स्वरूप ही है। आप उस परमात्मा से विलकुल भिन्न नही। यदि आप नित्य ऐसा अनुभव करते रहेगे तो अपने यज्ञमय जीवन मे परमात्मा की पूरी कृपा का अनुभव करते रहेगे। अपना सारा जीवन परमात्मा के साथ अनुसधान रखते हुए यज्ञमय वितायेगे।

अगला श्लोक इस यज्ञ-प्रकरण का आखिरी श्लोक है। उसमे भगवान् वता रहे है कि सवको पैदा कर शुरु किये गये इस यज्ञचक्र मे जो भाग नही लेता, उसका अनुसरण नही करता—उसके अनुसार जो नही चलता, वह पापी है, वह इन्द्रियो मे आराम ले रहा है, उसका जीना व्यर्थ है।

: १६ :

एव प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य॰।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति ॥

पार्थ=हे अर्जुन, **एव प्रवर्तितं चक्र**=इस प्रकार चलता हुआ यज्ञ-चक्र, **इह**=इस लोक मे, **य**=जो पुरुप, **न अनुवर्तयति**=आगे नही चलाता यानी उसके अनुसार नही चलता, **स**=वह पुरुप, **अघायुः**=पापी है, **इन्द्रियाराम**=वह इन्द्रियो के विपयो मे फँसा है, **मोघ जीवति**=वह व्यर्थ जी रहा हे।

इस श्लोक मे चार वाते वतायी है

(१) सृष्टि मे परोपकार-वृत्ति भी है, तो उसका उत्कर्प कर जो सृष्टि-चक्र को नही चलाता। (२) वह पापी मनुष्य है। (३) जो इन्द्रियो के विपयोपभोग मे मग्न हो गया है, (४) उसका जीवन व्यर्थ समझना चाहिए।

(१) सृष्टि के जड-चेतन पदार्थो का सूक्ष्म अवलोकन करने पर मालूम होगा कि सब पदार्थो मे यह यज्ञ-वृत्ति, परोपकार-वृत्ति नही होती तो सृष्टि

चल ही नहीं सकती। जिसे हम स्वार्थी कहते हैं, उसमें भी यह वृत्ति पायी जाती है। नितांत स्वार्थी आदमी भी जब चलते हुए देखता है कि तालाब में कोई डूब रहा है, तो फौरन दौड़ा जाता है। सबको मदद के लिए जोर से पुकारता है और डूबते हुए को बाहर निकालने की कोशिश करता है। आदमी हमेशा सोचकर परोपकार में प्रवृत्त नहीं होता। हरएक में भगवान् ने यह परोपकार-वृत्ति रखी है, उससे प्रेरित होकर आदमी परोपकार के कार्य में प्रवृत्त होता है। आदमी अकेला नहीं रहता। वह समाज में रहता है। मतलब, आदमी सामाजिक प्राणी है। पशुओं में भी संघ में रहने की प्रवृत्ति पायी जाती है। किसी भी गाय को सब गायों से अलग करते हैं तो वह घबरा जाती है। सबके साथ रहने की उसे भीतर से प्रेरणा होती है और संकट-काल में सब गायें एक साथ रहकर किसी हिंसक पशु का सामना सामूहिक बल के साथ करने की प्रवृत्ति भी उनमें सहज रहती है। पति-पत्नी भी जब एक-दूसरे को अपनाते हैं तो काफी सहन करते हैं, संयम रखते हैं, त्याग करते हैं। यह प्रेमशक्ति का ही चमत्कार है। लेकिन यह प्रेम-शक्ति सिर्फ अपने परिवार तक ही सीमित रहती है तो वह दूषित हो जाती है, कुण्ठित हो जाती है।

जड़ सृष्टि में भी यह परोपकार-वृत्ति छिपी रहती है, लेकिन उसे हम पहचान नहीं पाते। थोड़ा-सा सोचने पर स्पष्ट मालूम होगा कि सृष्टि के सारे पदार्थों का उपयोग हमारे लिए होता है, उनके खुद के लिए उसका कोई उपयोग नहीं। इस तरह जड़-चेतन सारी सृष्टि में परोपकार-वृत्ति स्वाभाविक रूप से निहित है। इसलिए उसे संकुचित न रखकर व्यापक बनाने की कोशिश करनी चाहिए। यह परोपकार-वृत्ति संकुचित दायरे में रहेगी तो हम दुःख को कम करने में, हटाने में सफल नहीं रहेंगे।

(२) दूसरी बात भगवान् कहते हैं कि सिर्फ स्वार्थरत आदमी पापी है, ऐसा समझो। व्यभिचार आदि जो पाप-कर्म करता है वह तो पापी है ही, मगर परोपकार-वृत्ति का उत्कर्ष न करते हुए केवल स्वार्थी जीवन जीनेवाला भी पापी है। जो समाज परोपकार-वृत्ति का उत्कर्ष न करते हुए जीने की कोशिश करेगा, वह अंत में टिकेगा नहीं, छिन्न-भिन्न हो जायगा। द्वादश-पंजरिका स्तोत्र में शंकराचार्य कह रहे हैं

> मूढ जहीहि धनागमतृष्णां
> कुरु सद्बुद्धिं मनसि वितृष्णाम्।
> यल्लभसे निजकर्मोपात्तं
> वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।
> अर्थमनर्थं भावय नित्यं
> नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
> पुत्रादपि धनभाजां भीतिः
> सर्वत्रैषा विहिता नीतिः॥

अर्थात्—हे मूढ, धन से प्राप्त तृष्णा त्याग दे। मन में स्थित इस तृष्णा को त्याग सद्बुद्धि का आश्रय ले। अपने कर्म से उपार्जित धन का जो लाभ मिला है, उतने से ही मन को संतुष्ट रख। धन-वैभव अनर्थ-कारक है, सतत ऐसी भावना रख। समझ कि धन-वैभव में किंचित् भी सुख नहीं। धनी लोगों को पुत्र से भी डर लगता है। सर्वत्र यही नीति दिखाई देती है।

(३) तीसरी बात यह कि स्वार्थमय जीवन विषयासक्त रहता है। परोपकार-वृत्ति से स्वार्थ-वृत्ति धीरे-धीरे क्षीण होती है और जीवन संयमी बनता है। संयम के अभ्यास से विषयों का आकर्षण कम हो जाता है, इसलिए मन पर उसका धीरे-धीरे नियंत्रण आ जाता है। बुद्धि विवेकयुक्त हो जाती है। इस तरह परोपकार-रत जीवन ऊर्ध्वगामी हो जाता है और स्वार्थमय जीवन अधोगामी रहता है।

(४) चौथी बात यह है कि सिर्फ स्वार्थपूर्ण जीवन जीनेवाले के जीवन को निकम्मा समझना चाहिए। हम सबको जागृत करने के लिए भगवान् ने बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग किया है।

: १७-१८ :

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

तु यः मानवः=लेकिन जो पुरुष, आत्मरति एव=परमात्मा मे ही रत रहता है, च आत्मतृप्त.=और परमात्मा मे तृप्त रहता है, च आत्मनि एव सतुष्टः—और परमात्मा मे ही सतुष्ट रहता हे, तस्य कार्य न विद्यते=उसके लिए कुछ करना शेप नही रहता। इह तस्य कृतेन=इस लोक मे उस (परमात्मरत पुरुष) के लिए किये हुए कर्मों का, अर्थ. न एव अस्ति=कोई प्रयोजन नही रहता, अकृतेन कश्चन=कर्मों को न करने का भी कोई, अर्थ न एव अस्ति=प्रयोजन नही रहता, अस्य सर्वभूतेषु=इस (आत्मज्ञानी पुरुप) के लिए सब भूतो मे, अर्थव्यपाश्रयः=अपने स्वार्थ का, कश्चित् न अस्ति=कुछ भी प्रयोजन नही रहता।

इन दो श्लोको मे उस पुरुप का वर्णन हे, जिसने परमात्मा की पहचान कर ली है। १७वे श्लोक मे उसके चार लक्षण बताये है (१) परमात्मा मे ही वह रत रहता है। (२) परमात्मा मे ही वह तृप्त रहता है। (३) परमात्मा मे ही वह सतुप्ट रहता है। और (४) इसी कारण उसका अपने लिए कुछ करना शेप नही रहता।

इन दो श्लोको मे ज्ञानी पुरुप के लक्षण इसलिए बता रहे है कि ज्ञानी पुरुप के लक्षण क्या है, यह ठीक-ठीक समझ लेने से उसकी स्थिति का पूरा ज्ञान हो जाय, चित्त मे जो शकाएँ या गलतफहमियाँ हो, वे दूर हो जायँ। शका यही कि ज्ञानी पुरुष के लिए कर्म करने का मूल्य कितना रहता है, सचमुच वह कर्म करेगा या नही, कर्म करेगा तो वह किस रूप मे करेगा, नही करेगा तो क्यो नही करेगा, वह अपने लिए कर्म करेगा या दूसरो के लिए करेगा, यह सब ठीक-ठीक समझ नही लिया जाता है तो शका बनी रहेगी। ज्ञानी पुरुप, साधक के लिए आदर्श पुरुप है. उसके लक्षण साधकावस्था मे प्रयत्न-साध्य रहते है। सिद्धावस्था मे यानी ज्ञानावस्था मे वे लक्षण सहज हो जाते है। यदि ज्ञानी पुरुप कर्म नही करता तो साधकावस्था मे कर्म क्यो करना चाहिए, इसका उत्तर तो सारे अध्याय मे दिया जा रहा है। किन्तु ज्ञानी पुरुप की, कर्म करने या न करने मे क्या स्थिति रहती है, यह स्पप्ट हो जाना चाहिए। उसे स्पष्ट करने के लिए बीच मे दो श्लोक आये है और वे इस स्थान पर जरूरी भी है।

(१) पहला लक्षण यह है कि वह परमात्मा मे ही रत रहता है। यहाँ सवाल उठता है कि सब लोग यानी अज्ञानी लोग परमात्मा मे क्यो नही रत रहते और ज्ञानी ही परमात्मा मे क्यो रत रहता है ? जवाब यह है कि ज्ञानी पुरुप ने परमात्मा को जान लिया है। यहाँ एक सवाल यह हो सकता है कि परमात्मा है, इसका क्या प्रमाण ? उसके लिए बडा भारी प्रमाण स्वय हम है। हम कौन है, यह सोचने लगते है तो 'देह नही, इन्द्रियाँ नही, मन नही, बुद्धि नही और अहकार नही' ऐसा मालूम होता है। क्योकि इन सबका हमे ज्ञान होता है। जिन-जिन चीजो का हमे ज्ञान होता है, वे सब हमसे भिन्न रहते है, तभी हमे उन चीजो का ज्ञान होता है। हम घर मे रहते है। घर हमसे अलग न हो तो हमे घर का ज्ञान कभी नही होगा। इसलिए सब चीजो का जब कि हमे ज्ञान होता रहता है, तब हम उन चीजो से अलग है, इसमे सदेह नही। हम बोलचाल मे कहते भी है कि मेरा मन आजकल स्वस्थ नही है, मेरी बुद्धि मद है। ज्ञानस्वरूप होने पर भी, सबसे हमारा स्वरूप अलग होने पर भी हमने गलत कल्पना से देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप मान लिया है। जब तक हम झूठी कल्पना से देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप मानेगे, तब तक हम विपयो मे ही रत रहेगे। जब सत्सगति से यह ध्यान मे आयेगा कि हमारा स्वरूप परमात्मा है, तब हमारी विषयासक्ति छूटेगी और हम विपयो मे नही, परमात्मा मे ही रत रहेगे।

(२) दूसरा लक्षण यह वताया कि वह आत्म-
रहता है। मनुष्य को अनेक प्रकार के रसयुक्त
न मे वहुत आसक्ति रहती है। भोजन से तृप्ति
ती है। उपवास करना वहुत कठिन लगता है।
त विगडने पर भी आदमी चाहता है कि भोजन
न करना पडे और बीमारी चली जाय। एलो-
का यह सिद्धान्त ही वन गया है कि दवा के
थ खाना चालू रह सकता है। रोग हटाने के
ए दवा लेना जरूरी माना गया है। इसलिए
ग प्राय प्राकृतिक चिकित्सा का आश्रय नही
ओर जव लेते है तो मजवूर होकर ही लेते हैं।
ह्वा-तृप्ति के सुख को ध्यान मे रखकर भगवान्
ते है कि लोग जैसे जिह्वा-तृप्ति से सुखानु-
करते है, वैसे आत्मज्ञानी पुरुप परमात्म-
त यानी आनन्दस्वरूप परमात्मा के अनुभव से
का अनुभव करते है।

(३) तीसरी वात—आत्मज्ञानी आत्म-सतुप्ट
ता है। सवको पचविपयो से सतोप मिलता
। शकराचार्य सतोप के वारे मे लिखते है
तोषो हि सर्वस्य वाह्यार्थलाभे भवति। अर्थात्
तोप वाह्य विपयो की प्राप्ति से होता है।

फिर लिखते है **अय तु वाह्यलाभनिरपेक्ष-**
ष्ट। अर्थात् ज्ञानी पुरुप वाह्य विषयो के लाभ की
पेक्षा न रखकर सतुप्ट रहता है।

विषयो के सयोग मे सुख और विपयो के
योग मे दुख। यह सयोग-सुख और वियोग-
ख सिर्फ रिश्तेदारो तक सीमित रहता है सो वात
ही। मित्रो के वियोग मे दुख और उनके सयोग
सुख होता है। कोई सत पुरुप १५ रोज या
क महीना अपने घर रहते है। उनके रहते वहुत
ानन्द मिलता है। मगर जव उनका जाने का समय
ाता है, तव वडी व्याकुलता होती है। सत तुलसी-
ासजी ने सत पुरुप और दुर्जन दोनो की वन्दना
ी है। वे लिखते हे

वंदउँ संत असज्जन चरना।
दुखप्रद उभय बीच कछु वरना॥
बिछुरत एक प्रान हर लेहीं।
मिलत एक दारुन दुख देहीं॥

—मै सत और दुर्जन दोनो के चरणो की वन्दना करता हूँ, क्योकि दोनो मे एक चीज समान रहती है, वह कौन-सी? वह चीज है दुख देना। सत पुरुप का वियोग होते ही दुख होने लगता है और दुर्जन की भेट होते ही दुख होने लगता है। एक अच्छा भजन सुना, उससे आनन्द हुआ। मगर उतने से तृप्ति नही होती। फिर-फिर से उसे सुनने की इच्छा होती है। सतो की वाणी एक दफा सुनने से तृप्ति नही होती। रोज सुनने को मिले, यही इच्छा वनी रहती है। जिनके पास रोजाना चिट्ठियाँ आती रहती है, उन्हे एक दिन चिट्ठी न मिली तो तुरत दुख का अनुभव होता है। मन मे छटपटाहट रहती है। जिन्हे अच्छे सुगधित इत्र या अच्छे फूलो की सुगध लेने की आदत पड गयी है, वे उसके विना एक दिन भी नही रह सकते। अच्छे फूल एक दिन न मिले तो उन्हे दुख होने लगता है। इस तरह विषयो के सयोग से सुख, सतोप और विपयो के वियोग से दुख और असतोप, इस तरह चक्र चलता रहता है।

यह चक्र तभी वन्द होता है, जव परमात्मा का अनुभव आने से आनन्द का सागर हाथ लग जाय। परमात्मा हमारा स्वरूप होने से उससे वियोग तो हमारा किसी भी क्षण नही हो सकता। मगर परमात्मा से हम एकरूप होते हुए भी कल्पना से उससे अलग हो जाते है। देह ही मेरा स्वरूप है, ऐसा जव हमे लगने लगता है तव एक काल्पनिक स्वरूप हमारे सामने खडा हो जाने से अपने मूल-स्वरूप को परमात्मा का अनुभव नही मिल पाता। जव हम इस काल्पनिक स्वरूप को छोड परमात्म-भक्ति से उसका अनुभव लेते है, तव प्राप्त होनेवाला आनन्द, सुख अखण्ड रहता है। चोवीसो घटे पर-

मात्मा का हमारे साथ सयोग ही रहता है। किसी भी क्षण परमात्मा से वियोग न होने के कारण हमे कभी भी परमात्मा के वियोग का दु ख अनुभव नही हो सकता।

(४) इस श्लोक के दूसरे चरण मे चौथी वात यह वतलायी गयी है कि आत्मज्ञानी पुरुप को अपने खुद के लिए कुछ करना नही रहता। क्योकि आत्मज्ञानी पुरुप की साधना पूर्णता को पहुँच चुकी होती है। ज्ञानी पुरुप मुकाम पर पहुँच गया होता है। भगवान् कहते है **तस्य कार्यं न विद्यते**—उसके खुद के लिए कुछ करने को नही रहता।

इस वचन का अर्थ यह भी लिया जाता है कि आत्मज्ञानी पुरुष कोई कर्म नही करता। लेकिन वह अर्थ ठीक नही। खुद के लिए कुछ कार्य करने का नही रहता, यह तो ठीक है। मगर दूसरो के लिए भी कुछ करने का नही रहता, ऐसा अर्थ नही ले सकते। जव तक आत्मज्ञानी पुरुप की देह है, तव तक कर्म को वह किसी भी हालत मे टाल नही सकता। पहले वह अपने लिए कर्म करता था, अव दूसरो के लिए करता है। पहले वह अपने लिए जीता था, अव दूसरो के लिए जीता है। उसकी सारी शक्ति अव दूसरो के दु ख दूर करने मे ही लगेगी। सत तुलसीदासजी ने कहा है **परदुख दुख, सुख सुख देखे पर**—दूसरो के दु ख से दु खी और दूसरो के सुख सुखी होता है। और जगह तुलसीदासजी ने भगवान् के वारे मे लिखा है

गिरा अरथ जल बीच सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद, जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।।

'शब्द और उसका अर्थ, जल और तरग, ये दोनो कहने को भिन्न है, लेकिन दरअसल अभिन्न है, वैसे परमात्मा और जीव दरअसल अभिन्न है। ऐसे परमात्मा को, जिन्हे दीनजन, दु खीजन वहुत ही प्यारे रहते है, मै वन्दन करता हूँ।' इसी सिल-सिले मे मुण्डक उपनिषद् मे एक श्लोक (३ १ ४) है

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रिया वा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।।

अर्थात् जो परमात्मा सव भूतो द्वारा प्रकाशमान होता है, उसे जाननेवाला ज्ञानी वहुत वाद-विवाद नही करता। वह आत्मा मे क्रीडा करनेवाला, आत्मा मे रत रहनेवाला, दूसरो के लिए सतत कर्मशील, परोपकार-रत ज्ञानी पुरुप ब्रह्मवेत्ताओ मे श्रेष्ठ है।

इस श्लोक मे स्पष्ट वताया है कि ज्ञानी पुरुप दूसरो के लिए जीवित रहता है, इसलिए वह सेवा-परायण रहेगा। ऐसे सेवापरायण ज्ञानी सवसे श्रेष्ठ है, यानी सव ज्ञानियो मे श्रेष्ठ है।

इस १८वे श्लोक मे जो तीन वाते वतायी है उनका मेल पीछे के श्लोक के साथ है। १७वे श्लोक मे जिस ज्ञानी पुरुप का वर्णन किया ह, उसीका वर्णन इस श्लोक म है।

(१) पहली वात यह कि ज्ञानी पुरुप से जो भी क्रिया होगी, वह उसके खुद के लिए नही। पीछे के श्लोक के दूसरे चरण मे जो लक्षण वतलाया, उसीको यहाँ दुहराया है। ज्ञानी पुरुप का अहभाव या जीव भाव इतना क्षीण हो जाता है कि वह प्रत्येक क्रिया मे अपनी शून्यता का ही अनुभव करता है। परमात्मस्वरूप मे जो डूव जायगा, उसकी इससे भिन्न स्थिति नही हो सकती। तुलसीदासजी कहते है, वैसी ही उसकी स्थिति रहती है। वे कहते है

गावहि सुनहि सदा मम लीला।
हेतुरहित परहितरत सीला।।

वे सदा भगवान् की लीला का वर्णन करते, यानी श्रवण करते और निष्काम भाव से दूसरो के कल्याण मे रत रहते है। सामान्य मनुष्य मे भी भगवान्

ने परोपकार-वृत्ति रखी है, यह पिछले यज्ञ-प्रकरण मे देखा। ज्ञानी मे इस परोपकार-वृत्ति की पराकाष्ठा, परिपूर्णता देखने मे आती है।

परोपकार-वृत्ति मे भी सामान्य मनुष्य मे स्वार्थ-वृत्ति रहती ही है। सामान्य मनुष्य परोपकार करेगा, तो भी उसमे कुछ सकामता जरूर रहेगी। कई लोग अपना, अपनी पत्नी का, अपने पिता या माता का नाम देने की शर्त मे दान करते है। कई लोग कीर्ति की इच्छा से दान देते है, कई लोग अपना ससार ठीक चले, कठिनाइयाँ उपस्थित न हो, व्यापार मे घाटा न आये, ऐसी वासना रखकर दान देते है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओ मे भी ऐसी ही कामनाएँ रहती है। हम परोपकार-रत है, हमारा सारा जीवन सेवामय हो गया है, ऐसी सराहना सब लोग करते रहे, ऐसी इच्छा सेवको के मन मे रहती है। ससारी हो या समाजसेवक, वासना से मुक्त नही रहते। जो साधकावस्था मे है, जो मोक्ष की साधना कर रहे है, उनके मन मे भी 'मुझे लोग सन्यासी, वैराग्यवान् कहते रहे' ऐसी वासना रहती है। लेकिन ज्ञानी पुरुष की क्रिया मे, उसके सेवा-कार्य मे तनिक भी अपनत्व नही रहता।

(२) दूसरी बात यह कि ज्ञानी पुरुष की अक्रियावस्था मे भी उनका अपना कुछ स्वार्थ या प्रयोजन नही रहता। कर्म करना जैसे एक क्रिया है, वैसे ही कर्म न करना भी क्रिया है। कर्म करने से कुछ कार्य सफल होते है, वैसे ही न करने से भी कुछ कार्य सफल होते है। माता का प्रेम बोलने से प्रकट होता है, वैसे न बोलने मे भी प्रकट होता है। क्रोध की भी यही बात है। जीवन मे कर्म करना और कर्म न करना, दोनो जरूरी है। ज्ञानी पुरुष मे दोनों प्रकार के कर्म मिलते है। ज्ञानी और अज्ञानी सेवक या साधक या अज्ञानी ससारी, दोनो मे फर्क यह है कि ज्ञानी पुरुष के कर्म करने या न करने मे कोई स्वार्थ, वासना, इच्छा, अहकार नही रहता और अज्ञानी मे अहकार, इच्छा, वासना, स्वार्थ कम-ज्यादा परिमाण मे रहता ही है।

(३) तीसरी बात यह कि कर्म करने मे या कर्म न करने मे जैसे ज्ञानी पुरुष का कोई स्वार्थ नही रहता, वैसे ही भूतो मे यानी सब प्राणीमात्र मे भी उसका कोई स्वार्थ नही रहता। पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी, माता-पिता, चाचा, मामा आदि रिश्तेदारो मे हमारी स्वार्थ या ममता की भावना रहती है, यह स्पष्ट ही है। गुरु की शिष्य मे ममत्व-भावना, शिष्य की गुरु मे ममता की भावना, अपने मित्रो मे भी यही ममत्व की यानी स्वार्थ की भावना हमारे अनुभव मे आती है। बहुत साल तक किसी एक स्थान मे हम रहते है, तो उस स्थान मे हमारी ममता की भावना इतनी दृढ हो जाती है कि वह स्थान छोडकर दूसरी जगह जाना हमारे लिए दु खदायी हो जाता है। ज्ञानी पुरुष का वर्णन मुण्डक-उपनिषद् मे इस प्रकार है

सप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता
कृतात्मानो वीतरागा· प्रशान्ता ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥

(३२५)

अर्थात् परमात्मज्ञान से तृप्त, ऋषि, ज्ञानी इस परमात्मा को प्राप्त कर कृतकृत्य, वीतराग और प्रशात हो जाते है। वे धीर पुरुष सर्वत्र व्याप्त परमात्मा को सब प्रकार से प्राप्त कर निर्विकार-चित्त हो परिपूर्ण परमात्मा मे ही विलीन हो जाते है।

इन दो श्लोको मे ज्ञानी पुरुष की स्थिति बतायी। अगले श्लोक मे भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि तुम्हे भी इस प्रकार ज्ञानी बनना हो तो अनासक्त होकर प्राप्त कर्तव्य करना होगा। इस तरह प्राप्त कर्तव्य अनासक्त भाव से करने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

: १९ :

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

तस्मात्=इसलिए, असक्तः=अनासक्त होकर तू, कार्य कर्म समाचर=प्राप्तकर्म भलीभाँति कर, हि सतत=क्योकि सतत, असक्त कर्म आचरन्=अनासक्त बनकर प्राप्त कर्तव्य करते रहने से, पूरुषः=मनुष्य, पर आप्नोति=मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे मुख्यरूप से दो बाते बतायी है (१) प्राप्त कर्तव्य अनासक्त होकर करते जाना चाहिए और इस तरह, (२) अनासक्त बनकर सतत कर्तव्य-कर्म करने से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

(१) इस श्लोक के कुछ शब्दो की छानबीन करना समुचित होगा।

तस्मात्—यह शब्द श्लोक के प्रारभ मे आया है। तस्मात् यानी इसलिए, इस कारण। पिछले दो श्लोको मे ज्ञानी पुरुष की जो स्थिति बतायी गयी, उसे प्राप्त करना है। तो सिर्फ ज्ञानी पुरुष का बाह्य अनुकरण करने से कोई ज्ञानी नही बन सकेगा। अर्जुन का मूल प्रश्न था कि भीतर की निष्कामता, निर्विकारता, चित्त की समता एव आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ हो तो मुझे इस घोर कर्म मे क्यो प्रवृत्त कर रहे हो? भगवान् ने इसका जवाब देना शुरू किया और कर्म करने के अनेक कारण बतलाये। अत मे बताया कि यज्ञ-वृत्ति से सब कर्म करने चाहिए। साथ ही अत मे कौन-सी स्थिति प्राप्त करनी है, यह बतलाना जरूरी है, ताकि अतिम ज्ञानमय स्थिति सरलता से प्राप्त हो सके, वह ठीक-ठीक ध्यान मे आये। अब अर्जुन को लक्ष्य करके कह रहे है कि भीतर की निष्कामता, निर्विकारता, चित्त की समता एव आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ है, इसमे सन्देह नही। लेकिन सवाल यह है कि वह श्रेष्ठ स्थिति प्राप्त कैसे की जाय? भोजन से तृप्ति प्राप्त करनी है, तो भोजन तैयार करना पडेगा। भोजन तैयार करने मे कष्ट तो होगा ही। मान लीजिये, बडी मेहनत से भोजन तैयार किया, मगर वह भोजन मुँह मे डाला ही नही तो भी तृप्ति का अनुभव नही होगा। इसलिए भोजन तैयार करने का कष्ट पहले उठाना पडेगा और बाद मे मुँह मे डालना होगा। उस अन्न को ठीक-ठीक चबाकर खाना होगा, तब जाकर तृप्ति का अनुभव होगा। तो, भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है, इसमे सन्देह नही। मगर वह ज्ञान कर्तव्य-कर्म किये बिना, साधना किये बिना प्राप्त नही होगा, यह भी निश्चित ही समझो। इसलिए आत्मज्ञान प्राप्त करना हो तो वह साधना के बिना, प्राप्त कर्तव्य किये बिना उपलब्ध नही होगा। इसलिए तू,

कार्यं कर्म—प्राप्त कर्तव्य करता जा। ज्ञानेश्वर महाराज इस अध्याय के सातवे श्लोक पर भाष्य करते हुए कहते है कि 'प्राप्त कर्तव्य जो-जो भी उचित है, वह कभी भी ज्ञानी पुरुष नही छोडता।' तब अज्ञानी पुरुष को तो प्राप्त कर्तव्य कभी छोडना नही चाहिए, इसमे कहना ही क्या है? प्राप्त-कर्तव्य सहज प्रवाह से आया हुआ रहता है, उसके लिए कोशिश नही करनी पडती और इसीलिए उसे ईश्वर-प्रेरित समझना चाहिए। ईश्वर-प्रेरित कर्म सत्य और धर्मरूप होता है, यह कहने की जरूरत नही। असत्य और अधर्मस्वरूप कर्म को ईश्वर-प्रेरित नही मान सकते, क्योकि ईश्वर स्वय ही सत्यस्वरूप है, इसलिए वह धर्म का मूर्तिमत स्वरूप है। अतएव ईश्वर-प्रेरित जो भी कर्म होगा, वह किसी भी हालत मे असत्य-स्वरूप और अधर्मस्वरूप नही होगा, यह निश्चित है। यदि ईश्वर की पहचान करनी है तो हमारा सारा कार्य ईश्वर-प्रेरित होना चाहिए। यह बात सहज ही ध्यान मे आने जैसी है। ईश्वर को पसन्द कार्य हम नही करते तो ईश्वर की कृपा भी हम पर कैसे होगी और बिना ईश्वर-कृपा के ईश्वरस्वरूप का ज्ञान कैसे होगा?

आगे भगवान् कह रहे है प्राप्त कर्तव्य कर, किन्तु असक्त. यानी अनासक्त, निर्विकार बनकर। काम-क्रोधादि विकारो के अधीन होकर हमारा सारा व्यवहार क्यो चलता है ? इसका दोहरा कारण है—(अ) सृष्टि का मिथ्यापन हमारे ध्यान मे हमेशा नही रहता। सृष्टि और सृष्टि के सारे पदार्थो को हम सत्य समझकर चलते है। (आ) दूसरी ओर हम अपने परमात्म-स्वरूप को भूलकर देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियो को अपना स्वरूप समझकर व्यवहार करते है, इस कारण चित्त मे काम-क्रोधादि विकार उठते रहते है। काम-क्रोधादि विकार चित्त मे क्षोभ, खलबली पैदा करते है, उससे दु ख का अनुभव आता है। इसी दु ख के अनुभव के साथ हम सारा जीवन जीते है। भीतर प्रेरणा तो अखण्ड सुख-शाति की रहती है, मगर पल्ले पडता है दु ख का अनुभव।

(२) दूसरी बात बतला रहे है **असक्त. सततं कार्य कर्म आचरन्**—'इस तरह अनासक्त और निर्विकार बनकर सतत कार्य यानी प्राप्त कर्तव्य करते रहने से पुरुप मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। यहाँ 'सतत' शब्द महत्त्वपूर्ण है। बिजली चमकती है आकाश मे बडी जोर से, मगर वह क्षणिक रहती है। उसका प्रकाश भी बडा तेज रहता है। किन्तु वह कुछ क्षण ही टिकता है। इसलिए सूर्य, चन्द्र या लाल-टेन का प्रकाश स्थिर रहने से जैसे उसका उपयोग होता है, वैसे आकाश मे चमकनेवाली बिजली का उपयोग व्यवहार मे नही होता। ठीक इसी तरह हम प्राप्त कर्तव्य को हमेशा न करते रहेगे तो उसका फल मोक्ष नही मिलेगा। इसलिए प्राप्त कर्तव्य निष्कामभाव से सतत करते रहना चाहिए। प्राप्त कर्तव्य अनासक्तभाव से नित्य करते रहने से चित्त-शुद्धि होकर मोक्ष यानी अपने स्वरूप की पहचान हो सकेगी। साधना मे खण्ड न पडे—वह बिलकुल सतत, नित्य, अखण्ड चलती रहे, यह जरूरी है। क्योकि हमारे सामने मायाशक्ति अखण्ड खडी है। वह हमे फँसाने के लिए, बन्धन मे डालने के लिए तत्पर है। माया का सामना कर उस पर विजय प्राप्त करनी हो तो हमारी साधना मे विक्षेप न आकर वह सतत, अखट चलती रहे, यह देखना जरूरी है।

: २० :

कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय. ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

हि जनकादय.=क्योकि जनक वगैरह ज्ञानी पुरुषो (ने), **कर्मणा एव**=कर्म के अनुष्ठान मे ही, **ससिद्धि आस्थिता** = मोक्ष पाया है, **लोकसग्रह एव अपि सपश्यन्**=लोकसग्रह की तरफ देखते हुए भी, **कर्तुं अर्हसि**=तुम्हारे लिए कर्तव्य-कर्म करना उचित है।

इस श्लोक मे मुख्यत दो बाते बतायी गयी है (१) जनक, व्यास आदि ज्ञानी पुरुष कर्तव्य-कर्म करते हुए ही मोक्ष को प्राप्त हुए है। (२) लोक-सग्रह की तरफ देखे तो भी तुझे कर्म करना चाहिए। वही तेरे लिए उचित है।

अर्जुन के मूल प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है। भगवान् कर्म करने का और एक कारण बतला रहे है और उदाहरण भी दे रहे है। पहले चरण मे उदाहरण दिया है और दूसरे चरण मे एक बडा भारी कारण कर्म करने के लिए बतला रहे है।

(१) कर्म करते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकते है, इसके लिए जनक राजा का उदाहरण दिया गया है। महाराज जनक को सामान्य लोग भी जानते है। इसलिए ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देने से बात जल्दी और यथार्थरूप से समझ मे आ सकती है। जनक की विशेषता यह थी कि वे राजा होने पर भी ज्ञानी थे। राजा होते हुए आत्मज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ बात है। उनके बारे मे एक वचन मशहूर है **मिथिलाया प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन।** अर्थात् 'मिथिलानगरी के जल जाने पर भी मेरा कुछ नही जलता।'

जनक कर्मयोगी थे। उनके गुरु याज्ञवल्क्य सन्यासी थे। सन्यासी गुरु से आत्मज्ञान प्राप्त कर वे लोगो की सेवा मे लग गये। सभी आत्मज्ञानी यदि सन्यासी वन जायँ तो जनता का मार्गदर्शन कौन करेगा? जिसे आँख से दिखाई देता है, वही अधो को मार्ग बता सकता है। सारा समाज अज्ञानी यानी अधा ही होता है। इसलिए ज्ञानी पुरुषो पर समाज का मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी रहती है। राजा जनक ने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया कि अलिप्ततापूर्वक राज्य चलाया जा सकता है। ऊपर के वचन के अनुसार वे कह रहे हैं कि मिथिलानगरी का मै राज्य कर रहा हूँ, फिर भी उसके बारे मे आसक्ति नही। इतनी अलिप्तता के कारण ही गुरु याज्ञवल्क्य ने अपने पुत्र शुकदेव को जनक के पास प्रमाणपत्र लेने के लिए भेजा। शुकदेव सन्यासी थे। लेकिन अलिप्तता की, निष्कामता की, निर्विकारता की कसौटी तो प्रवृत्ति मे ही होती है। इसलिए जो लोग प्रवृत्ति मे भी अलिप्त, निष्काम, समतावान्, निर्विकार रहते है, वे सन्यासियो से भी श्रेष्ठ माने जायँगे। ज्ञानी पुरुष समाज की दो आँखो के समान होता है। इसलिए जनक का दृष्टान्त दिया।

व्यास, वसिष्ठ, अश्वपति, ये सभी उस जमाने मे प्रवृत्तिमार्गी ज्ञानी थे। स्वय श्रीकृष्ण भगवान् भी प्रवृत्तिमार्गी ज्ञानी थे। अपना उदाहरण भी वे इसी अध्याय के २२, २३, २४ इन तीन श्लोको मे देगे।

गाधीजी का उदाहरण हमारे सामने है। गाधीजी को जिनके सहवास से बहुत लाभ हुआ, उनके बारे मे गाधीजी अपनी आत्मकथा मे लिखते है कि रायचदभाई सोने-चाँदी के व्यापारी थे। व्यापारी होते हुए भी वे आत्मज्ञानी थे। लाखो का सौदा कर लेते और तुरत ही अपनी विचारपोथी मे-आध्यात्मिक गूढ विचार लिखने बैठ जाते। इस तरह लाखो का सौदा करके जो तुरत आध्यात्मिक गूढ बाते लिखने बैठ जाता है, उसकी जाति व्यापारी की नही, ज्ञानी की समझनी चाहिए। इन महापुरुषों मे से कुछ महापुरुषों को भगवान् का अवतार-कार्य करना होता है, इसलिए वे उस जमाने के अवतारी पुरुष गिने जाते है। श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, भगवान् बुद्धदेव, तीर्थंकर महावीर, इन सभीकी अवतारो मे गिनती है। ऐसे अवतारी पुरुषो का कार्य अति-व्यापक रहता है। कुछ ज्ञानी पुरुष गुप्त रहना पसन्द करते है। गुप्त रहने पर भी इनके ज्ञान की सुगंध चारो ओर, दूर-दूर तक फैलती रहती है।

विनोबाजी वर्धा-आश्रम में उत्तर दिशा के बरामदे मे सोया करते थे। पूछा गया कि वे उत्तर की तरफ ही क्यो सोते है? तो उन्होने कहा कि उत्तर मे हिमालय है और हिमालय की गुफाओं मे समाधि मे बैठे महात्मा पुरुष भगवान् के ध्यान मे मग्न हो गये है। उत्तर की ओर से जो हवा आती है, उसके साथ समाधि मे बैठे इन महात्माओ की खुशबू यहाँ आ रही है और उस खुशबू से मेरी पावनता बढती है। ऐसे गुप्त महात्मा पुरुष जितने भी पैदा हो, वे भले ही समाज मे रहकर समाजसेवा का स्थूल कार्य करते हुए देखने मे न आये, लेकिन उनकी सेवा अनुपम है। ऐसे अव्यक्त महात्मा पुरुष समाज मे आकर दो दिन रहे, तो समाज को उनके दर्शनमात्र से प्रचण्ड स्फूर्ति मिलेगी।

समाज मे रहकर जिन्होने आध्यात्मिक साधना की हो और साधना करते-करते जो सिद्ध पुरुष हो गये हो, उन पर लोक-सग्रह की बडी जिम्मेदारी रहती है। इस लोकसग्रह की तरफ देखकर तुम्हे कर्म करना चाहिए, ऐसा भगवान् इस श्लोक के दूसरे चरण मे अर्जुन को बतला रहे है।

(२) लोकसग्रह की यह बात महत्त्वपूर्ण है। श्रेष्ठ पुरुषो पर लोकसग्रह की बहुत जिम्मेदारी रहती है। अर्जुन उस जमाने मे श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता था, इस कारण लोकसग्रह का खयाल रखते हुए चलने की जिम्मेदारी उस पर थी, उसे वह टाल नही सकता था। श्री शकराचार्य ने लोक-

संग्रह की व्याख्या बहुत अच्छी की। सारी गीता मे 'लोकसग्रह' शब्द दो ही बार आया है और वह भी इसी अध्याय मे। शकराचार्य कहते है **लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसंग्रहः**—अर्थात् लोगो को उन्मार्ग से (पतन की प्रवृत्ति से) निवृत्त करना ही लोकसग्रह है।

'लोक-सग्रह' का अर्थ लोगो को इकट्ठा करना नही है। श्री शकराचार्य ने जो अर्थ बताया है, वही यथार्थ है। लोगो की सामान्य प्रवृत्ति पतन की तरफ ही हुआ करती है। विषय सामने खडे है, इसलिए उनका आकर्षण ही इन्द्रियो को रहता है। विषयो मे चित्त फँस जाने से सयम सधना मुश्किल हो जाता है। सयम के अभाव मे प्रवृत्ति पतन की तरफ ही सहज रहती है। उसे रोकने के लिए सत्सगति आवश्यक मानी गयी।

सत तुलसीदासजी ने इस पर बहुत जोर दिया है। वे लिखते है

राम कथा के ते अधिकारी ।
जिन्हके सतसंगति अति प्यारी ॥

जिन्हे सत्सगति अति प्यारी यानी प्रिय है वे ही राम-कथा के अधिकारी है।

बड़े भाग पाइय सतसंगा ।
बिनहिं प्रयास होहिं भव-भंगा ॥

बडे भाग्य से सत्सग मिलता है जिसे बिना तकलीफ के ही ससार का भग हो जाता है यानी ससार की आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर लिखते है .

सब कर फल हरि-भगति सुहाई ।
सो बिनु सत न काहू पाई ॥

सबका अतिम फल सुन्दर हरिभक्ति है, लेकिन वह सत्सग के बिना नही पा सकते। फिर लिखते है
बिनु सतसंग न हरिकथा, तेही बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ अनुराग ॥
सत्सग के बिना हरिकथा नही, हरिकथा के बिना मोह नही नष्ट होगा और मोह गये बिना परमात्मा मे दृढ अनुराग पैदा नही होगा। फिर लिखते है

सतसंगति दुर्लभ संसारा ।
निमिष दंडभरि एकहि बारा ॥

इस ससार मे सत्सगति बहुत दुर्लभ है। थोड़े समय के लिए और वह भी एकबार भी मिलना मुश्किल है। फिर लिखते है ·

बिनु सतसंग बिबेक न होई ।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
सतसंगति मुदमंगल मूला ।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥

'सत्सगति के बिना विवेक हाथ नही आयगा। और रामकृपा के बिना वह यानी सत्सग सहज मे यानी सुलभता से प्राप्त नही होता। सत्सग, आनन्द और कल्याणरूपी वृक्ष का मूल है। सब साधन उसके फूल है और सिद्धि यानी मोक्ष उसका फल है।

पतन के लिए प्रयत्न की जरूरत नही। मन मे विचार पवित्र चल रहे है, मन ऊर्ध्वगामी हो गया है, ऐसा भीतर लग रहा है और हम रास्ते से जा रहे है।

सामने किसीका नोटो का बडल गिर गया हो तो उसे देखते ही मन मे विचार आ जाता है कि इसे ले लूं तो मेरी दरिद्रता मिट जाय। दारिद्र्य से परेशान तो हो ही गया हूँ। भगवान् ने यह अच्छा मौका दिया है। उस बडल को वह उठा लेता है। भीतर से आवाज उठती है कि 'यह तूने ठीक नही किया।' लेकिन आत्मा की आवाज की वह परवाह नही करता। मन मे अच्छे विचार चलने पर भी प्रलोभन का प्रसग आते ही मनुष्य गिर जाता है।

एक तपस्वी साधु था। पहाड पर एक मदिर मे रहता था। अकेला था। लोगो मे उस साधु की बहुत प्रतिष्ठा थी। लोग उसे पूजते थे। वह भिक्षा के लिए जब शहर मे आता था, तब बडे भक्ति-भाव से उसे लोग भिक्षा देते थे। एक बहन की उस

साधु पर बडी श्रद्धा पैदा हुई । दुर्दैव से प्लेग मे उसके परिवार के सारे लोग मर गये । वह अकेली रह गयी । उसके मन मे विचार आया कि उस साधु की सत्सगति मे एकात मे रहूँगी, तो कुछ साधना भी होगी और जीवन सफल हो जायगा उसने उस साधु के सामने अपना विचार रखा। पहले तो वह साधु तैयार नही हुआ । मगर वहुत आग्रह करने पर वह अपने पास उसे रखने के लिए तैयार हो गया । वह शिष्यभाव से उस साधु के पास रहने लगी । थोडे ही दिन मे उस साधु का उस स्त्री के साथ पतन हो गया ।

भगवान् ने इन्द्रियो का मुँह विषयो की तरफ, विषयो के सन्मुख ही रखा है, इसलिए विपय सामने आते ही विषयो के अधीन होकर पतन मे देर नही लगती । इस स्थिति मे से निकलना हो तो सत्सगति मे दीर्घकाल रहना चाहिए, ऐसा सत तुलसीदास और हमारे सव शास्त्र कहते है। इसलिए जो सयमी पुरुष है, निग्रही है, परमात्मा का अनुभव लेने के लिए तत्पर है, ऐसे श्रेष्ठ साधको पर समाज का मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी रहती है। सिद्ध पुरुपो पर तो जिम्मेदारी है ही । लेकिन जो श्रेष्ठ माने जाते है, उनके ऊपर भी लोकसग्रह की यानी लोगो की जो पतन की तरफ सहज प्रवृत्ति होती है उसका निवारण करने की जिम्मेदारी रहती है । सिद्ध पुरुष हो या श्रेष्ठ साधक हो या लोगो के नेता हो, वे सिर्फ उपदेश द्वारा लोकसग्रह नही कर सकते । उनका खुद का आचरण ऐसा होना चाहिए कि आचरण द्वारा समाज मे उन्हे प्रवेश मिले यानी समाज मे परिवर्तन हो ।

आजकल विज्ञान के युग मे वौद्धिक ज्ञानी बहुत मिलेंगे, लेकिन वौद्धिक ज्ञान जिन्होने अपने आचरण मे उतारा है, ऐसे आचरणशील लोग ही समाज की पतनोन्मुखी प्रवृत्ति को रोक सकेंगे । समाज मे अनुकरण करने की प्रवृत्ति बहुत रहती है। बुरी सगति मिलेगी तो उसका अनुकरण होगा ।

: २१ :

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ=श्रेष्ठ पुरुष, **यत् यत् आचरति**=जिस-जिसका आचरण करते है, **तत् तत् एव**-उमीका ही, **इतर जन आचरति**=इतर लोग, यानी सव लोग अनुकरण करते है, **सः**=वह श्रेष्ठ पुरुप, **यत् प्रमाण कुरुते**=जिसे प्रमाण समझकर वरतता है, **लोकः तत् अनुवर्तते**=सव लोग उसीको प्रमाण समझकर वरतते है ।

इस श्लोक मे दो वाते है (१) श्रेष्ठ लोग जैसा अपना आचरण रखेगे, अन्य सारे लोग भी उसीके अनुसार चलने की कोशिश करेगे । (२) वह जिन विचारो को, जिस आचार-धर्म को मान्य रखेगा, लोग भी उसीको मानकर चलते है ।

(१) वच्चे के लिए माता-पिता ही सव कुछ होते है। सर्वप्रथम माता का ही वच्चे से सम्वन्ध आता है । वच्चे के लिए माँ जो सहन करती है, जो प्रेम करती है, उसका वर्णन शव्दो मे करना कठिन है । प्राचीन काल मे गुरुगृह मे शिक्षा पूरी होने के वाद घर लौटने का दिन आता तो गुरु उसे उपदेश देते थे । पहले कहते **मातृदेवो भव**—'माता को देव समझकर चलो ।' फिर कहते **पितृदेवो भव**—'पिता को देव समझकर चलो ।' फिर **आचार्य देवो भव**— 'आचार्य को यानी गुरु को देव समझकर चलो ।' पश्चात् **अतिथिदेवो भव**— 'अतिथि को देव समझकर चलो ।' इस प्रकार पहले माता का स्थान माना है । वालक को पहली शिक्षा माँ से ही मिलती है । वह वच्चे से कहती है यह पानी है, यह पेड है, इसे कौआ कहते है ।' इस तरह सारी सृष्टि के पदार्थो का परिचय माता ही करा देती है । जीवन की सारी क्रियाएँ—खान-पान, स्नान सवकी जानकारी उसीसे मिलती है। सस्कारी माता-पिता का मिलना भी वडे भाग्य की वात होती है । क्योकि वच्चो का सारा लक्ष्य हमेशा माता-पिता की तरफ रहता है। वच्चे वहुत अनुकरणशील होते है ।

ससार मे अनेक ऐसे उदाहरण है कि कितने ही महापुरुषो, तपस्वियो एव श्रेष्ठ जनो के विकास और जीवन-निर्माण मे माता-पिता की तपस्या, सहिष्णुता तथा दूरदर्शिता काम करती रही। उन्होने सस्कार देकर अपने वच्चो को योग्य वनाया । गाधीजी, विनोवाजी आदि के उदाहरण तो सामने ही है । इस प्रकार माता-पिता, वडे भाई, शिक्षक, मित्र, सव पर अच्छा आचरण और अच्छे विचार रखने की वहुत जिम्मेदारी रहती है। उनके आचरण और विचारो को देखकर ही उनके परिवार के तथा आसपास के लोग उनका अनुकरण करते है।

(२) दूसरे चरण मे भगवान् दूसरी वात यह वतला रहे है कि श्रेष्ठ पुरुप जिसे प्रमाण समझता है, जिन विचारो को वह मान्य रखता है, लोग भी उसे मान्य करते है। प्राचीन जमाने मे गुरुगृह मे लडके को शिक्षा के लिए भेजा जाता था। वहाँ वारह साल तक शिक्षा पाकर घर लौटते समय गुरु उन्हे उपदेश देते। उस समय वे कहते

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिन । युक्ता अयुक्ता । अलूक्षाः धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः। अर्थात् जव तुम्हारे मन मे कर्तव्य और विचारो के वारे मे कोई उलझन हो, निर्णय न कर सको तो जो ईश्वर-परायण और विवेकी है, निप्कामवृत्तिवाले है, स्नेही और धर्म-नीतिपरायण है, उनका अनुसरण करो।

भारत ऐसी भूमि है कि यहाँ प्राचीनकाल से श्रेप्ठ पुरुष, सतपुरुप पैदा होते आये है। महापुरुपो का जीवन सिद्धान्त-निप्ठ होता है। सामान्य मनुप्य के सामने कोई सिद्धान्त नही रहता। इसलिए उसके विचार एव आचार मे स्थिरता नजर नही आती। गाधीजी की यह विशेपता थी कि उन्होने समाज के सामने दृढता से कुछ सिद्धान्त पेश किये। उन्होने वताया कि जो सिद्धान्त सिर्फ साधको या मुमुक्षुओ के लिए ही माने जाते थे, वे

जनसाधारण के लिए भी हो सकते है। इतना ही नही, जनसाधारण के सामने वे सिद्धान्त होने चाहिए। ये सिद्धान्त है सत्य, अहिसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय अपरिग्रह। इन सिद्धान्तो या व्रतो पर उन्होने एक किताव भी लिखी है जिसका नाम 'मगल प्रभात' है।

गाधीजी ने यह विचार समाज मे दाखिल किया कि जिस विचार या सिद्धान्त का हमे प्रचार करना है, वह पहले हमारे आचरण मे आना चाहिए। यदि आचरण मे वह चीज नही तो हमारा वौद्धिक प्रचार वेकार है। ऐसे श्रेप्ठ पुरुप समाज मे जो विचार दाखिल करेगे, उससे समाज का उत्थान होगा। इसलिए श्रेप्ठ गिने जानेवाले लोगो पर अपने आचरण द्वारा (सिर्फ विचारो द्वारा नही) समाज का उत्थान करने की वडी जिम्मेदारी है। श्रेप्ठ लोगो का अनुकरण सामान्य लोग करते है, यह समझकर उन्हे कभी भी निष्क्रिय रहकर सत्कर्म की उपेक्षा नही करनी चाहिए, ऐसा भगवान् इस श्लोक मे वता रहे है।

: २२ :

न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥

पार्थ=हे अर्जुन, **मे त्रिषु लोकेषु**=मेरेलिए तीनो लोको मे, **किंचन कर्तव्य न अस्ति**=कुछ भी कर्तव्य नही रहता। **अनवाप्तं अवाप्तव्य न अस्ति**=प्राप्त न हुआ, प्राप्त करना है, ऐसा कुछ नही हे। **कर्मणि वर्ते एव**=फिर भी मैं कर्म मे रत रहता ही हूँ।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है (१) मेरेलिए कुछ प्राप्त करना वाकी रहा हो और वह मुझे प्राप्त करना है, ऐसी वात नही। (२) फिर भी मै हमेशा कर्मरत रहता हूँ।

(१) इस श्लोक मे भगवान् कृष्ण स्वय अपना ही उदाहरण दे रहे है। वे महाज्ञानी थे, अर्जुन के गुरु थे, उन्होने अर्जुन को सात सौ श्लोको

का उपदेश देकर जगत् पर उपकार किया। महाज्ञानी होने से उनकी गिनती अवतारो मे होती है। वे अर्जुन के सारथि वन गये, भक्त-हृदय गोपियो मे वे अलिप्तता से रहते, ग्वालो मे घुल-मिलकर गाये भी चराते। गायो का दूध निकालना तो जानते ही थे। समाज मे जो कर्म हीन कोटि के माने जाते, उन्हे करते रहना इनका काम था।

गाधीजी का भी जीवन इसी तरह का रहा। गाधीजी ने १९१५ मे अहमदावाद के पास कोचरव नाम के गॉव के पास सत्याग्रहाश्रम स्थापित किया, तो वे आश्रम मे रहकर मजदूर की तरह काम करते थे। सुवह एक घटा चक्की पीसते। शरीर भी उनका उस समय इतना मजवूत था कि चक्की चलाते समय उनका एक हाथ १५ मिनट तक लगातार चलता रहता। गाधीजी ने जीवन के हर क्षेत्र मे काम किया और समाज से यह धारणा मिटाने का प्रयत्न किया कि कोई कर्म छोटा या हीन नही। उन्होने पाखाना-सफाई की महत्ता भी वढायी। वे कृष्ण की तरह कर्मयोगी थे। मृत्यु तक उनका कर्मयोग जारी रहा।

विनोवाजी कहते है कि सव अवतारो मे कृष्ण भगवान् की विशेषता यह थी कि वे अति-नम्र थे। अमानित्व का उत्कर्ष जितना कृष्ण भगवान् मे हुआ, उतना शायद ही किसी अवतार मे हुआ हो। गाधीजी की भूमिका भी कृष्ण की ही थी। उनमे भी अमानित्व का इतना उत्कर्ष हुआ कि उनके साथ जो कोई भाई-वहन निकट रहते, वे उनकी महत्ता को न पहचानकर उनके साथ व्यवहार करते। इससे गाधीजी को तकलीफ भी होती। लेकिन वे उसे प्रसन्नता से वरदाश्त करते। गाधीजी मे वडप्पन की भावना जरा भी नही थी।

ज्ञानी पुरुषो मे सामान्यत नम्रता रहती ही है, क्योकि परमात्मा की पहचान होने से अहकार नष्ट होने के कारण उसका सहज परिणाम नम्रता अनुभव मे आयेगी ही। फिर भी कई ज्ञानियो मे नम्रता की, अमानित्व की पराकाष्ठा देखने मे आती है। ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है नम्रता। वैसे ही दूसरा महत्त्व का लक्षण है सर्वभूतहित-रत होना। जो ज्ञान मे जितना रंग गया हो, उतना ही वह सर्वभूतहित-रति मे रँगा होना चाहिए। क्योकि साधकावस्था मे उसके खुद के लिए कुछ करने को वाकी रहता है। लेकिन सिद्ध या ज्ञानी होने के वाद कुछ करना या पाना शेष न रहने मे वह सव भूतो के कल्याण मे, सेवा मे ही मग्न रहेगा।

(२) जैसे श्वासोच्छ्वास के विना मनुष्य जीवित नही रह सकता, वैसे ही ज्ञानी पुरुष सेवा के विना नही रह सकता, यह वात इस श्लोक के दूसरे चरण मे कही गयी है। कहते है कि मुझे कुछ प्राप्त करना वाकी न रहने के कारण मै कुछ भी कर्म न करूँगा, तो चल सकता है। फिर भी मै वैसा नही करता। क्योकि एक तो सेवा मेरा स्वभाव वन गया है। जव तक देह है, सेवा के सिवा मेरा दूसरा धर्म नही है। सेवा मेरे लिए सहज वन गयी है। वल्कि सेवा न करना ज्ञानी पुरुष के लिए कोशिश का विषय वन जायगा। इसलिए भगवान् कह रहे है कि सेवा मे ही यानी कर्म करने मे ही मै एकाग्र हूँ।

: २३ :

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातुकर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

हि यदि अहं=क्योकि यदि मै, अतन्द्रित कर्मणि=आलस्य छोडकर, कर्मो मे, जातु न वर्त्तेयं=कदापि न वर्तूं, पार्थ=तो हे अर्जुन, मनुष्या. सर्वश.=मनुष्य सव तरह से, मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते—मेरे मार्ग का अनुकरण करेगे।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है· (१) यदि मै आलस्य छोडकर कर्म न करूँ तो, (२) सव लोग मेरा ही अनुकरण करेगे।

(१) पहली वात तो आलस्य छोडने की है। प्रत्येक आदमी मे तमोगुण और रजोगुण की प्रवलता

रहती है। तमोगुण से निष्क्रियता आती है। आदमी को फल तो चाहिए ही। कर्म-फल की ओर वरावर ध्यान रहता है। कर्म किये विना यदि फल मिले तो आदमी उसीको पसन्द करता है। लेकिन कर्म किये विना फल मिलेगा नही, ऐसा जव वह देखता है, तव कर्म करने मे प्रवृत्त होता है। फिर कर्म न करने की उसकी आतरिक वृत्ति मे कोई फर्क नही पडता। होना तो इससे उलटा चाहिए। फल मिले या न मिले, ध्येय सामने रखकर उसके लिए विना थके प्रयत्न करते रहना चाहिए। एक वहन वीमार हो गयी। प्रयत्न के वावजूद वह ठीक नही होती थी। उसके चित्त मे निराशा छा जाती थी। उसके ध्यान मे नही आता कि निराश होने से सुधरने की आशा कम ही रहेगी। तवीयत सुधरना या न सुधरना हाथ की वात नही। हमारे हाथ मे सिर्फ इतना है कि समचित प्रयत्न करते रहे और आवश्यक ज्ञान प्राप्त करे। इतना करते है तो हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है। किन्तु आदमी का सतत ध्यान फल पर रहता है। वैसे तवीयत सुधरती है या नही, इसकी तरफ ध्यान तो रखना ही होता है। हम जव चाहते है तव फल नही मिलता तो निराश हो जाते है और हमारे प्रयत्न मे ढिलाई आ जाती है। ढिलाई तमोगुण का कार्य है और फल की आसक्ति रखना रजोगुण का कार्य। तमोगुण और रजोगुण दोनो टालने है। दोनो टालकर सिर्फ सत्त्वगुण की ही शरण जाना है। सत्त्वगुण फल मे आसक्ति पैदा नही करेगा और सतत कर्म करायेगा। भगवान् अपना उदाहरण देकर कहते है कि मै आलस्य यानी तमोगुण छोडकर सतत कर्म किया करता हूँ। भगवान् ने हमे शरीर दिया है। भगवान् हमारे शरीर मे अविरत कर्म करते रहते है। एक शिशु के जन्म को ही लीजिये। गर्भ-धारण से लेकर प्रसूति तक भगवान् निरतर कर्म करते है, तव जाकर सुन्दर शिशु अवतरित होता है।

उपनिषद् मे एक कहानी है कि एक वार इन्द्रियो मे वाद-विवाद छिडा कि हममे श्रेष्ठ कौन ? निर्णय के लिए प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने कहा कि शरीर मे से जिसके निकल जाने पर शरीर का कार्य विलकुल नही चलेगा, वही श्रेष्ठ है। पहले वाणी एक साल के लिए शरीर से वाहर चली गयी। वापस आने पर उसने इन्द्रियो से पूछा कि मेरे विना शरीर का कार्य कैसे चला ? तो जवाव मिला—'गूँगे आदमी की तरह।' फिर आँखे एक साल के लिए वाहर गयी। लौटने पर उन्होने पूछा, तो वाकी इन्द्रियो ने जवाव दिया 'अधे आदमी की तरह शरीर का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।' कानो के विना भी ठीक चला। यही अनुभव सव इन्द्रियो का रहा। अन्त मे मुख्य प्राणो ने वाहर जाने की सोची। तव सव इन्द्रियाँ हाथ जोडकर खडी हो गयी और कहने लगी 'आप ही हममे सर्वश्रेष्ठ है।' प्राण शरीर से निकलने की कोशिश करते है, तो इन्द्रियो का अस्तित्व ही नही रह पाता। भगवान् प्राण के रूप मे शरीर मे दिन-रात रहकर कर्म कर रहे है, तभी शरीर जीवित रहता है। भगवान् रात-दिन आलस्य छोडकर शरीर मे रहकर कर्म करते रहते है, फिर भी हम आलस्य को छोडने के लिए तैयार नही होते।

(२) दूसरे चरण मे यह वतलाया है कि मै (भगवान्) सतत कार्य करता रहता हूँ, फिर भी लोग आलस्य छोडने के लिए तैयार नही, तो कर्म करना छोड दूँ तो लोग मेरा अनुकरण करेगे और पूरे तमोगुणी वन जायँगे। व्यापक श्रीकृष्ण भगवान् सवमे है। उनका दृष्टान्त लेकर यह वात समझायी। किन्तु अर्जुन के सामने जो देहधारी कृष्ण भगवान् थे, जो महाज्ञानी थे, उनका उदाहरण लेते है तो वे कह रहे है कि 'मै दिन-रात जो लोकसेवा का कार्य कर रहा हूँ, उसे छोड दूँ तो सभी लोग मेरा अनुकरण करेगे। मै अर्जुन का रथ हाँकता हूँ, घोडे को स्नान कराकर खिलाता हूँ। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ मे मैने जूठन उठाने का काम किया।

जूठन उठाना, झाड़ू लगाना, वर्तन मॉजना, कपडे धोना, रसोई पकाना, अनाज साफ करना, आदि काम समाज मे आवश्यक माने जाने पर भी हलके, हीन दर्जे के गिने जाते है। कृष्ण भगवान् की विशेपता थी कि इन सव हीन गिने जानेवाले कामो को ही वे पसन्द करते थे। अपने आचरण से श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रम का गौरव किया। आधुनिक जमाने मे श्रीकृष्ण भगवान् की तरह यह कार्य गाधीजी ने किया। समाज मे श्रम टालने की प्रवृत्ति जहाँ सव लोगो मे दिखाई देती हो, वहाँ उस-उस जमाने के महात्मा पुरुपो पर यह वडी भारी जिम्मेदारी रहती है कि वे श्रम की प्रतिष्ठा वढ़ाये और समाज के वीच सव लोगो मे श्रम टालने की फैली प्रवृत्ति को भलीभाँति रोके। उस जमाने मे श्रीकृष्ण भगवान् ने यह महत्त्व का कार्य किया तो इस युग मे गाधीजी ने यह काम किया है।

: २४ :

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

चेत् अह कर्म=यदि मै कर्म, **न कुर्या**=न करूँ तो, **इमे लोका**=ये सव लोग, **उत्सीदेयुः**=नष्ट हो जायँगे, **च**=और, **संकरस्य कर्ता स्याम्**=समाज मे अव्यवस्था मचेगी ओर उस अव्यवस्था का कर्ता मै ही वन जाऊँगा, **इमाः प्रजा**=यह सारी प्रजा, **उपहन्याम्**=मैं ही नष्ट करूँगा।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी है

(१) मै यदि कर्म न करूँ तो ये सव लोग नष्ट हो जायँगे, आलसी वन जायँगे। (२) और लोगो के आलसी वनने से सर्वत्र अव्यवस्था मच जायगी। कोई तत्र नही रहेगा और इस अव्यवस्था के लिए जिम्मेदार मै ही वनूंगा। (३) इतना ही नही, सारी प्रजा का नाश मानो मैने ही किया, ऐसा हो जायगा।

(१) भगवान् सर्वत्र व्याप्त है। निरतर जागृत है। हम जव सोते है तव वे हमारे शरीर और ब्रह्माड मे जगे रहते है। हम सोते रहते है तव भी हमारी इद्रियाँ, मन, वुद्धि और श्वासोच्छ्वास आदि अखण्ड रूप से जागृत रहते है और शरीर के भीतर सारी क्रियाएँ चलती रहती है। भगवान् मे दो शक्तियाँ है, चैतन्य-शक्ति और माया-शक्ति। दोनो शक्तियाँ अखण्ड कार्य कर रही है। ज्ञान-शक्ति से जानने का कार्य अखण्ड चल रहा है आर क्रिया-शक्ति से क्रिया भी शरीर मे अखण्ड चल रही है। यह तो पिड की स्थिति हुई। अव जगत् यानी ब्रह्माण्ड की तरफ देखे तो ब्रह्माण्ड यानी जड सृष्टि मे अखण्ड क्रिया चल रही है और वह क्रिया भी अति नियमित चल रही है। जड सृष्टि भी भगवान् का एक शरीर है। मुण्डक (२ १ ४) मे कहा है

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृत्ताश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

अर्थात् अग्नि जिसका सिर है, चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र है, दसो दिशाएँ जिसके कान है, चार वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसका प्राण है, सपूर्ण ब्रह्माड जिसका हृदय है, जिसके पैरो से पृथ्वी उत्पन्न हुई है, वही (परमात्मा) सव भूतो का अतरात्मा है।

ये सव भगवान् के शरीर है और भगवान् ने इन सवको इस प्रकार कार्य-प्रवृत्त किया है कि ये अपना कार्य सुचारुरूप से अखण्ड करते रहते है। कठोपनिषद् (२ २ ३) मे एक श्लोक है .

भयादस्याग्निस्तपति। भयात् तपति सूर्य ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥

अर्थात् भगवान् के डर से अग्नि तप रहा है, सूर्य तपता है, इन्द्र और वायु तथा मृत्यु अपना अपना कार्य कर रहे है।

जड सृष्टि मे सारा कार्य अत्यन्त नियमित रूप से चलता दिखाई देता है। उपनिपद् के ऋषि

कहते है कि सूर्य, चन्द्र, पर्जन्य-देवता इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु जो सतत दौड रहा है (क्योकि मृत्यु को दौडने का ही काम रहता है), वे सव अपना-अपना कार्य भलीभाँति क्यो कर रहे है ? कारण है परमात्मा का डर। जिस परमात्मा ने उन्हे वनाया है, उसका स्मरण वे दिन-रात रखते है और उनका डर रखकर अपना कार्य दक्षतापूर्वक परमात्मा की आज्ञा से करते है। इस तरह सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी के रूप मे परमात्म-शक्ति अखण्ड कार्य कर रही है। लेकिन परमात्मा अपना यह कार्य करना छोड दे तो नतीजा क्या निकलेगा ?

(२) परिणाम यह निकलेगा कि लोग व्यवस्थित रूप से नही चलेगे। सृष्टि की नियमितता देखकर लोग भी नियमितता से चलने की कोशिश करते है। चाहे जैसा आलसी भी सूर्योदय के वाद वहुत समय तक सोया नही रह सकता।

पिछले श्लोक मे वताया है कि मै आलस्य छोडकर कर्म न करूँ, तो सव लोग मेरा अनुकरण करेगे। लेकिन यहाँ एक वात और वतायी जा रही है। वह यह कि भगवान् यदि नियमिततापूर्वक अखड कर्म नही करेगे, तो समाज मे अव्यवस्था फैल जायगी। समाज से नैतिक मर्यादा खतम हो जायगी। सव स्वच्छन्द वन जायँगे। भगवान् सूर्य, इन्द्र, हवा, पानी, अग्नि के रूप मे नियमित चल रहे है, इसका मतलव यही है कि नियमितता के रूप मे वे नैतिक मर्यादा का भी पालन कर रहे है। सूर्य हमेशा समान रूप से प्रकाश देता रहेगा। केले के पेड से केले ही पैदा होगे। आम के वृक्ष से आम का फल ही निकलेगा। सव पदार्थो का ऐसा ही स्वरूप है। सृष्टि के सव पदार्थ यदि अपनी-अपनी मर्यादा छोडकर स्वच्छन्द वनेगे तो मनुष्य भी स्वच्छन्द वनेगा और सृष्टि मे सव प्रकार से अव्यवस्था फैल जायगी।

उपनिषद् मे भगवान् के वारे मे वर्णन आता है **'स वा एष महानज आत्मा। योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु। य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते। सर्वस्य वशी, सर्वस्य ईशानः सर्वस्य अधिपति.। एष सर्वेश्वरः। एष भूताधिपतिः एष भूतपाल·। एष सेतुर्विधरणे एषां लोकानां सभेदाय।** अर्थात् वह महान्, अज परमात्मा है जो सव पदार्थो मे चैतन्यमय, ज्ञानस्वरूप है और शरीर के भीतर हृदयरूपी आकाश मे शाति से वास कर रहा है। वह सवको अपने वश मे रखनेवाला, सवका अधिपति, सवका ईश्वर और सवका स्वामी है। भूतमात्र का नियमन करनेवाला, सवका रक्षण करनेवाला, इन सव लोगो का नाश न हो यानी पतन न हो, इसके लिए यह परमात्मा, सवको धारण करनेवाला पुल जैसा है।

यह भगवान् सवके लिए पुल के समान है। पुल नदी मे डूवने नही देता, सवका रक्षण करता है। भगवान् इस तरह अखड कर्म-रत रहते है यानी मर्यादा-पालन करते है, स्वच्छन्द नही वनते। आदमी भी कर्मरत रहेगा तो स्वच्छन्द नही वनेगा। निष्क्रियता मे शिथिलता आती है और आदमी का पतन होता है। सन्यास के नाम पर भगवा वस्त्र धारण करके जो निष्क्रिय वन भटकते रहते है, वे अनाचारी और व्यसनी वनते है। कर्म का यह वडा उपकार है कि वह हमे नैतिक दृष्टि से गिरने नही देता।

(३) तीसरी हानि इससे यानी स्वच्छन्दता से यह होती है कि समाज का अत मे नाश होता है। अर्थात् भगवान् ही समाज की अव्यवस्था के लिए, समाज के नाश के निमित्त यानी कर्ता वने, ऐसा हो जायगा। इसलिए सृष्टि मे भगवान् ही इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि और असख्य पदार्थो के रूप मे अपना उच्च आदर्श सवके सामने रखते है, जिससे हम कभी स्वच्छन्द न वने।

अव अर्जुन के सामने जो देहधारी श्रीकृष्ण भगवान् खडे है, उनको ध्यान मे रखकर इस श्लोक का अर्थ देखे। श्रीकृष्ण भगवान् अखड कर्मरत थे। इतना ही नही, उनका सारा आचरण नैतिक दृष्टि से अतिमर्यादित एव अति-आदर्शस्वरूप का था। वे

गोपियो मे रहते थे, लेकिन अति-अलिप्त होकर। उनकी हर क्रिया—वोलना, चलना, खाना-पीना इतना आदर्श था कि उस समय का समाज श्रीकृष्ण भगवान् की उपस्थिति मे सुव्यवस्थित और नैतिक दृष्टि से, धर्मदृष्टि से उच्च श्रेणी का माना जाता था।

इन तीन श्लोको मे भगवान् ने अपना उदाहरण देकर समझाया है कि समाज का उन्नति के लिए अखड कर्तव्य-कर्म मे रत रहना कितना जरूरी है।

अगले श्लोक मे वतला रहे है कि लोकसग्रह की जिन पर जिम्मेदारी है, ऐसे ज्ञानी पुरुप को कैसे चलना चाहिए।

: २५ :

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

भारत=हे भारत, **कर्मणि सक्ता**=कर्मों मे जो आसक्त है, **अविद्वास**=ऐसे अज्ञानी पुरुप, **यथा**=जिस प्रकार, **कुर्वन्ति**=(कर्म) करते है, **तथा**=उसी तरह, **लोकसग्रहं चिकीर्षुः**=लोकसग्रह की इच्छा रखनेवाले, **विद्वान् असक्तः कुर्यात्**=ज्ञानी पुरुप को अनासक्त होकर (कर्म) करना चाहिए।

इस श्लोक मे मुख्य दो वाते वतायी गयी है (१) अज्ञानी लोग कर्मो मे आसक्त होकर कर्म करते है, (२) ज्ञानी पुरुप को अनासक्त रहकर लोकसग्रह की दृष्टि से कर्म करना चाहिए।

(१) आसक्ति दो प्रकार की होती है एक देह, इन्द्रिय, मन, वुद्धि आदि स्वदेह-सम्वन्धी और दूसरी जगत्-सम्वन्धी। यह आसक्ति सवमे रहती है। इसका मूल कारण है अध्यास। अध्यास की व्याख्या और स्पष्टीकरण शकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' के भाष्य मे शुरू मे वहुत अच्छी तरह किया है **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम**। अर्थात् अध्यास के मानी 'जो नही है उसमे है की वुद्धि करना'। जैसे डोरी मे सर्प न रहते हुए भी 'डोरी सर्प है' ऐसी वुद्धि करना। इस अध्यास को उदाहरण द्वारा उन्होने स्पष्ट किया है **तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो इति बाह्यधर्मान् आत्मनि अध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लंघयामि च इति। तथा इंद्रियधर्मान् मूकः, काणः, क्लीवः, वधिरः, अंधः, अहमिति। तथा अंतःकरण-धर्मान् काम-संकल्पविचिकित्साऽध्यवसायादीन्।** अर्थात् उदाहरण के तौर पर जैसे पुत्र, स्त्री आदि परिवार के दुखी होने पर 'मै ही मानो सव तरह से दुखी हूँ' ऐसा वाह्य धर्मो का अपने मे अध्यास यानी आरोपण करते है, वैसे ही 'मै स्थूल यानी मोटा हूँ, मै कृश हूँ, मै वैठा हूँ, मै जा रहा हूँ, मै लॉघ रहा हूँ' इस प्रकार देह के धर्मो का अपने मे अध्यास यानी आरोपण करते है। वैसे ही 'मै गूँगा हूँ, मै काना हूँ, मै वधिर हूँ, मै अधा हूँ' इस प्रकार इन्द्रियो के धर्मो का अपने मे अध्यास यानी आरोपण करते है। वैसे ही इच्छा, नाना प्रकार के सकल्प, नाना प्रकार की शकाएँ, निश्चय आदि अतकरण के धर्मो का अपने मे अध्यास यानी आरोपण करते है। श्री शकराचार्य आगे कहते है

एवं अहंप्रत्ययिनं अशेषस्वप्रकाशसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य त च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अतकरणादिषु अध्यस्यति। एवं अनादिरनन्त नैसर्गिकः अध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तक. सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा च अयं अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयं अस्या शारीरक-मीमांसाया प्रदर्शयिष्याम.।

अर्थात्—इस तरह 'मै' ऐसा अनुभव जहाँ आता है उस अतकरण को यानी मन को, जीव को सव मनोवृत्तियो का साक्षी जो प्रत्यगात्मा यानी परमात्मा है, उसमे अध्यास यानी आरोपण करके और उस प्रत्यगात्मा को, जो सवका साक्षी है उसमे यानी परमात्मा से विपरीत, जो अतकरण यानी

मन है उसमे और बुद्धि, इन्द्रियो आदि मे अध्यास यानी आरोपण करते हैं। इस तरह अनर्थ के लिए कारण बननेवाला जो यह अध्यास यानी आरोपण है, उसे नष्ट करने के लिए सब वेदान्तो का यानी उपनिषदो का आरभ हुआ है। सब वेदान्तो मे यह जो अर्थ रहा है, यह जो अभिप्राय या रहस्य बताया है, उसी प्रकार वैसा ही अभिप्राय हम शारीरिक यानी शरीर-स्थित आत्मा की मीमासा मे यानी ब्रह्मसूत्र की छानबीन करनेवाले इस भाष्य मे बतायेगे।

शकराचार्य के अनुसार हम सब लोगो मे दो प्रकार का अध्यास चल रहा है १ बाह्य जगत् के बारे मे और २ अपने शरीर के बारे मे। इन दो अध्यासो के प्रति मन मे आसक्ति जम जाती है। जगत् के पिण्ड और ब्रह्माण्ड इस तरह दो विभाग हो जाते हैं। पिण्ड यानी शरीर। शरीर भी ब्रह्माड का ही एक भाग है। ब्रह्माड मे पाँच भौतिक पदार्थ दिखाई देते है। शरीर भी पचमहाभूतो का ही बना हुआ है। शरीर मे चैतन्यस्वरूप परमात्मा दिखाई देता है। वह चैतन्यस्वरूप परमात्मा पशु-पक्षी, छोटे-बडे कीडो के शरीर मे भी प्रकट है। मनुष्य-शरीर, पशु-पक्षी, जतुओ के शरीर को छोडकर बाकी के सब पदार्थो मे वह चैतन्यस्वरूप परमात्मा गुप्त है, जैसे अग्नि सब पदार्थो मे होती हुई भी गुप्त रहती है। घर्षण से वह प्रकट होती है और लकडी के सहारे प्रकट स्वरूप मे सालो तक दखाई दे सकती है। इसी तरह परमात्मा भी कही प्रकट और कही अप्रकट रहता है। मतलब यह कि पिड तथा ब्रह्माड मे एक ही परमात्मा प्रकट और अप्रकट स्वरूप मे रहता है, फिर भी हमे उसका भान नही होता। समझ लेने पर भी बार-बार उसे भूल जाते हैं और पिड-ब्रह्माडरूपी जगत् को सही मान लेते है। शकराचार्य के अनुसार हमारा दो प्रकार का अध्यास चलता रहता है। इसी अध्यास के कारण पिड-ब्रह्माड के बारे मे हमारे मन मे आसक्ति रहती है।

विनोबाजी कहते हैं कि आतरिक, मानसिक शुद्धि करनेवाले विकर्म और बाहर से स्वकर्तव्यरूप कर्म दोनो करने से ही आसक्ति छूटेगी। लेकिन यह विचार अज्ञानी लोगो को कौन समझा सकता है? इसका जवाब यह है कि ज्ञानी पुरुष ही अज्ञानी लोगो को यह विचार समझा सकते हैं। लेकिन वे भी खुद कर्म करते हुए ही समझा सकेगे। इसलिए भगवान् कहते है कि अज्ञानी लोग तो आसक्ति से कर्म करते है, पर ज्ञानी पुरुष को लोकसग्रह यानी लोक-कल्याण की दृष्टि रखकर कर्म करते रहना चाहिए। ज्ञानी निष्क्रिय रहने लगे तो अज्ञानियो की आसक्ति कौन दूर कर सकेगा? ज्ञानी पुरुष को कर्म करते हुए अज्ञानी जनो को यह बताना है कि दो प्रकार का अध्यास दूर करके आसक्ति कैसे मिटायी जाय। ज्ञानी पुरुष कर्म-रत होगे तो वे ससार मे उपस्थित होनेवाले जटिल प्रश्नो के हल प्रत्यक्ष बता सकेगे। वे यदि व्यवहार से अलग रहे और व्यवहार मे बिलकुल ही न पडे तो ससार मे उपस्थित जटिल प्रश्नो का हल लोगो को कौन बतायेगा? लोग व्यवहार मे आसक्त रहते है, इसलिए उनका निर्णय हर हालत मे सही ही रहेगा, ऐसा नही कह सकते। इसलिए यह अत्यन्त जरूरी है कि ज्ञानी पुरुष को लोकसग्रह की दृष्टि रखकर सही मार्गदर्शन की दृष्टि से कर्मरत रहना चाहिए।

लोक-सग्रह शब्द २०वे श्लोक मे आया है और इस २५वे श्लोक मे दूसरी बार आया है। सारी गीता मे इन्ही दो स्थानो पर यह शब्द आया है। लोकसग्रह की सबसे ज्यादा जिम्मेदारी ज्ञानी पुरुष की इसलिए माननी पडती है कि उसने परमात्मज्ञान हासिल कर लिया है। वही ज्ञानी पुरुष सब लोगो का अज्ञान, आसक्ति, दुर्गुण, खामियाँ, कमियाँ दूर कर सकता है।

ज्ञानी पुरुष पर जैसे लोकसग्रह की जिम्मेदारी रहती है, वैसे ही अज्ञानी लोगो का बुद्धिभेद न होने पाये, यह देखने और उसके अनुसार चलने की

जिम्मेदारी भी रहती है। भगवान् अगले श्लोक में यही बता रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष को कभी भी कर्म में आसक्त अज्ञानी जनों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष को अपना आचरण सब प्रकार से विशुद्ध, ऊँची कोटि का रखकर अज्ञानी लोगों से अच्छा आचरण करवाना चाहिए।

: २६ :

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

कर्मसंगिनां अज्ञानाम्=कर्म में आसक्त अज्ञानी पुरुषों का, विद्वान् बुद्धिभेदं न जनयेत्=ज्ञानी पुरुष को बुद्धिभेद न करना चाहिए। विद्वान् युक्तः=ज्ञानी पुरुष को सावधान होकर, समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत्=अज्ञानी जनों से सब कर्म कराने चाहिए।

इस श्लोक में दो बातें बतायी गयी हैं : (१) कर्म में फँसे अज्ञानी जनों का बुद्धिभेद न करना चाहिए। (२) ज्ञानी पुरुष को अज्ञानी जनों से सत्कर्म स्वयं अमल में लाकर करवाना चाहिए।

(१) 'स्थितप्रज्ञ' गीता का अपना शब्द है। उपनिषदों में यह शब्द नहीं है। इसी तरह 'लोक-संग्रह' शब्द भी उपनिषदों में नहीं मिलता। उस शब्द को भी गीता का ही समझना चाहिए। 'लोक-संग्रह' शब्द अब समाज में बहुत प्रचलित हो गया है। वैसे ही 'बुद्धिभेद' शब्द भी एक खास शब्द है। 'बुद्धिभेद' शब्द भी उपनिषदों में नहीं मिलता। गीता में भी 'बुद्धिभेद' शब्द एक ही बार आया है।

सामान्य मनुष्य में अज्ञान और असंयम के विचार और आचरण में बहुत अन्तर रहता है। कभी-कभी या प्रायः विचार और आचार में परस्पर-विरोध भी दिखाई देता है। विचार और आचरण में कुछ अंतर तो रहेगा, लेकिन बहुत ज्यादा नहीं रहना चाहिए। दोनों में विरोध तो होना ही नहीं चाहिए। आचार और विचार का अंतर या विरोध कम कैसे हो, यही प्रश्न है। इसका जवाब यह हो सकता है कि समाज में जो ज्ञानी पुरुष हैं, जिनके विचार और आचरण का सम्मिलित मेल खास रहता है, उन पर यह जिम्मेदारी आती है कि वे अपने आचरण से अज्ञानियों के विचार और आचरण दोनों का अंतर कम करायें। सिर्फ उपदेश से यह अंतर कम नहीं हो सकता।

जब ज्ञानी पुरुषों के विचार और आचरण में अंतर पड़ जाता है, तब समाज में बुद्धिभेद पैदा होता है। बुद्धिभेद का अर्थ है बुद्धि का असमंजस में पड़ना, बुद्धि का विचलित होना, बुद्धि में उलझन पैदा होना। ज्ञानी पुरुषों के विचार और आचार में जब मेल नहीं रहता, तब अज्ञानियों में बुद्धिभेद पैदा होता है। सभी तपस्याएँ करके जब परमात्मा की अनुभूति होती है, ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब तपस्याओं का आचरण ज्ञानी पुरुषों का बन्द हो जाय तो जन-समाज का बुद्धिभेद होता ही। ऐसी स्थिति में जन-समाज ऊँचा नहीं उठ सकता। महापुरुषों की हर कृति ऐसी होनी चाहिए कि उसका अनुकरण हो। इतना ही नहीं, समाज का बुद्धिभेद किसी भी प्रकार न हो, ऐसा उनका हर कार्य होना चाहिए। महापुरुषों का भोजन भी ऐसा होना चाहिए कि बुद्धिभेद न हो। महापुरुष मिष्टान्न भोजन करते हैं, तली हुई चीजें खाते हैं, तो समाज असमंजस में पड़ जाता है। महापुरुषों का भोजन सादा, सात्त्विक ही होना चाहिए।

(२) इसलिए भगवान् इस श्लोक के दूसरे चरण में कह रहे हैं कि महापुरुष समाज से जिस आचरण की अपेक्षा रखते हैं, समाज के लिए जो वे हितावह समझते हैं, वह सारा-का-सारा निरपवाद रीति से उन्हें अपने आचरण में लाना चाहिए। गांधीजी समाज का बुद्धिभेद न हो, इस बारे में बहुत दक्ष थे। वे खुद रोजाना डायरी लिखा करते थे और बिना भूले सुबह-शाम प्रार्थना में हाजिर रहते थे, क्योंकि वे चाहते थे कि आश्रम के सब लोग डायरी लिखें और प्रार्थना में सम्मिलित हों।

आगे के श्लोक मे भगवान् कह रहे है कि अज्ञानी पुरुष अहकार के कारण यानी देह को ही अपना स्वरूप समझने के कारण देह की सब क्रियाओ का स्वय कर्ता बन जाता है।

: २७ :

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश ।
अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रकृते. गुणै.=प्रकृति के गुण यानी शरीर और दस इन्द्रियो से, **सर्वशः क्रियमाणानि**=सब प्रकार से किये जानेवाले, **कर्माणि अह कर्ता**=कर्मो का मै ही कर्ता हूँ, **इति अहकारविमूढात्मा**=इस तरह अहकार से देह, इन्द्रियो के अभिमान से जिनका चित्त विमूढ यानी मोहित हो गया है, **मन्यते**=वे मानते है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है

(१) प्रकृति के बनाये शरीर और दस इन्द्रियो से ही सब क्रियाएँ सब प्रकार से होती रहती है।

(२) किन्तु देह और इन्द्रियो मे जो आसक्त हो गया है, वह अज्ञानी पुरुष अपनेको ही देह और इन्द्रियो की क्रियाओ का कर्ता समझता है।

(१) यहाँ 'प्रकृति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कपिल महामुनि ने अपने साख्यशास्त्र मे प्रकृति को ही सृष्टि-कर्ता माना है। जड होते हुए भी प्रकृति मे सत्त्व, रज, तम, इस प्रकार तीन गुण रहते है और इन्ही गुणो के सहारे वह सारा जगत् पैदा करती है। गीता के १४वे अध्याय मे सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो के कार्य और लक्षण विस्तार से बताये है। शरीर-इन्द्रियाँ भी प्रकृति ने ही बनायी है। गीता साख्यशास्त्र की तरह प्रकृति को स्वतत्र नही मानती, क्योकि वह जड होने से चेतन या चेतन-स्वरूप परमेश्वर के बिना जगत् को पैदा नही कर सकती। इसलिए साख्य जिसे 'प्रकृति' कहता है, उसे गीता परमेश्वर की 'माया' कहती है। माया परमेश्वर की अलौकिक शक्ति है। माया को 'सर्ग-शक्ति' या 'क्रिया-शक्ति' भी कह सकते है। सर्ग-शक्ति यानी जगत् को पैदा करने और उसका भास करानेवाली शक्ति जो परमेश्वर से स्वतत्र न होने के कारण परमेश्वर के अधीन रहती है। परमेश्वर स्वय चैतन्यस्वरूप यानी ज्ञानस्वरूप है। इस तरह परमेश्वर मे दो शक्तियाँ होती है १ ज्ञानशक्ति यानी चैतन्य-शक्ति, और २ माया-शक्ति यानी सर्ग-शक्ति। ईश्वर की माया-शक्ति पर उसकी चैतन्य-शक्ति का नियत्रण रहता है। माया-शक्ति चैतन्य-शक्ति के अधीन रहकर सारा जगत् निर्माण करती है। इसी माया-शक्ति ने यानी प्रकृति ने शरीर, इन्द्रियाँ पैदा की है। इसलिए शरीर तथा इन्द्रियो से जितनी भी क्रियाएँ होती है, उनका कर्ता प्रकृति को ही मानना होगा।

इस श्लोक मे 'प्रकृति के गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। गुण का सामान्य अर्थ प्रकृति के सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण किया जाता है। किन्तु यहाँ और आगे २८वे श्लोक मे जो 'गुण' शब्द आया है, उसका अर्थ 'इद्रियाँ' करना है। इद्रियो मे दस इद्रियाँ और शरीर का भी समावेश करना होगा। प्रकृति के गुणो से सारी क्रियाएँ होती है, इसका मतलब त्रिगुणात्मक प्रकृति ने जो शरीर और इद्रियाँ पैदा की है, उनसे सब कर्म, सब क्रियाएँ, होती रहती है।

क्रियाएँ या कर्म देह और इद्रियो से होते है, मगर देह मे रहनेवाला, देह और इद्रियो का सचालन करनेवाला कोई सचालक है या नही, यह प्रश्न खड़ा होता है। उसका जवाब है—हाँ, देह व इद्रियो का सचालन करनेवाला कोई है। वह है आत्मा या परमात्मा। वह सिर्फ सचालन करता है यानी सिर्फ देह व इद्रियो का ज्ञाता है, कर्ता नही। आत्मा या परमात्मा जो देह मे रहकर सिर्फ सचालन करता है, सिर्फ देह-इद्रियो का ज्ञाता है। उसका दूसरा नाम है 'मै'। मै कौन हूँ ? मै ज्ञाता, या आत्मा, परमात्मा हूँ। लेकिन 'मै' ज्ञाता, आत्मा, या परमात्मा होते हुए भी मुझे ज्ञातापन का अनुभव

न होने से मै अपने ज्ञातापन का स्वरूप भूल जाता हूँ और पास गे जो शरीर और इद्रियो का समूह है, उसे ही अपना स्वरूप मानता हूँ। देह-इद्रियो के सारे कर्म अपने ऊपर ओढ लेता हूँ और उन सब कर्मो का कर्ता बन जाता हूँ। 'इन सब क्रियाओ का मै सिर्फ ज्ञाता हूँ' यह ज्ञातापन की मेरी भूमिका रह नही पाती। इसी बात को इस श्लोक के दूसरे चरण मे बताया गया है।

(२) इसके लिए 'अहकारविमूढात्मा' शब्द आया है। अपने ज्ञातापन का स्वरूप भूलकर 'देह-इद्रियो की सारी क्रियाएँ मेरे से हो रही है' ऐसा मानना ही 'अहकार' है। इस अहकार से जिसकी आत्मा यानी जो पुरुष मूर्च्छित हो गया है, उसे 'विमूढात्मा' कहते है। मै ज्ञाता होते हुए भी अपने को यदि देह-इद्रियाँ मानता हूँ तो उसे 'रज्जु-सर्प' जैसा भ्रम ही कहा जायगा। डोरी पडी है, लेकिन सर्प मालूम हुआ तो वह भ्राति यानी मूढता ही है। मूढता यानी मूर्च्छा। इसी मूढता के कारण मै देह-इद्रियो की क्रियाओ का कर्ता बन जाता हूँ। इसीको अज्ञानावस्था कहते है। हम सब लोगो के कर्म इसी अज्ञानावस्था मे अखड रूप से चल रहे है।

: २८ :

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥

तु महाबाहो=लेकिन हे महापराक्रमी अर्जुन, **गुण-कर्मविभागयोः**=गुण यानी इद्रियाँ और कर्म यानी इद्रियो के कर्म, दोनो मुझसे भिन्न है, ऐसे विभाग को, **तत्त्ववित्**=पहचाननेवाला ज्ञानी पुरुष, **गुणा गुणेषु वर्तन्ते**=दस इद्रियाँ अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त होती है, **इति मत्वा न सज्जते**=ऐसा समझकर (उनमे) आसक्त या लिप्त नही होता।

पिछले श्लोक मे अज्ञान-दशा का वर्णन किया। यहाँ ज्ञानी किस तरह चलता है, यह बताते है।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है (१) इद्रियाँ और इद्रियो के कर्म, इनसे अपने स्वरूप को भिन्न जानना। (२) और इसीसे इद्रियाँ अपने विषयो मे प्रवृत्त होती है, ऐसा मानना। (३) और इद्रियो मे, उनके कर्मो मे और इद्रियो के विषयो मे आसक्त न होना। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष का तिहरा स्वरूप बताया है।

(१) **गुणकर्मविभागयो. तत्त्ववित्**। यह पहली बात कही है। गुण यानी दस इद्रियाँ। कर्म यानी दस इद्रियो के कर्म। अज्ञान-दशा मे दस इद्रियो और इनके कार्यो के साथ हम अपने को हमेशा एकरूप देखते रहते है। किसी भी स्थिति मे हमे कभी यह अनुभव नही आता कि हम इन इद्रियो और इनके कार्यो से सर्वथा भिन्न है। पाँच ज्ञाने-न्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर दस इद्रियाँ और भीतर मन और बुद्धि, इन सारी अतर्बाह्य इद्रियो से जो-जो क्रियाएँ होती है, सभी मै ही कर रहा हूँ, ऐसा अनुभव हमे आता है। इस श्लोक मे ज्ञान-दशा का वर्णन है कि गुण यानी सब अतर्बाह्य इद्रियो और उनके सारे कार्यो से मै बिलकुल अलग हूँ, मै उनका कर्ता न होकर सिर्फ ज्ञाता हूँ, ऐसा विवेक यानी अलगपन का अनुभव करनेवाला तत्त्व-वित् क्या अनुभव करता है, यह कह रहे है।

(२) **गुणा गुणेषु वर्तन्ते**। 'गुणा' यानी सब अतर्बाह्य इद्रियाँ, 'गुणेषु' यानी उन-उन इद्रियो के विषयो मे, 'वर्तन्ते' यानी बरतती है, ऐसा अनुभव ज्ञानी किया करता है। पूर्व-दिशा मे एक गाँव बसा है। हमे उस गाँव मे जाना है। किन्तु पूर्व-दिशा मालूम न होने के कारण हम पश्चिम को ही पूर्व-दिशा समझकर चलने लगते है। इस तरह कितना भी चलते चले, पूर्वदिशा का गाँव नही आता। यह हमारा अज्ञान हुआ। लेकिन इससे पूर्व या पश्चिम दिशा मे तो कुछ भी फर्क नही हुआ। पूर्व-दिशा तो पूर्व की तरफ ही है और पश्चिम-दिशा पश्चिम की तरफ। पूर्व को पूर्व मानकर चलते तो भी

पाँव मे चलने की क्रिया तो करनी ही पडती। पूर्व को पश्चिम मानकर चले तो भी पाँव से चलने की क्रिया करनी ही पडी। पर पूर्व को पूर्व मानकर चलते तो जिस गाँव पहुँचना चाहते थे, पहुँच जाते और चलने का परिश्रम सफल हो जाता और आनन्द का भी अनुभव आता। लेकिन पश्चिम को पूर्वदिशा मानकर चलने पर सारा परिश्रम बेकार गया, आनन्द भी नही आया, बल्कि दु ख का अनुभव आया। इसी तरह देह-इद्रियो को हम अपना स्वरूप समझकर चलते है तो पूर्व को पश्चिम दिशा मानकर चलने जैसी स्थिति बन जाती है। बधन-मुक्ति यानी मोक्ष, ही हमारा मुकाम है। उस मुकाम पर हम पहुँच नही पाते और मुकाम पर न पहुँचने से हमे आनन्द मिलने के बजाय दु ख का ही अनुभव करना पडता है।

जैसे पूर्व और पश्चिम दिशा अपने-अपने स्थान पर रहती है, वैसे ही देह और आत्मा अपने-अपने स्थान पर ही विराजमान है। पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा मानने से वह कभी पश्चिम दिशा नही बन जाती, वैसे ही हम देह-इद्रियो को अपना स्वरूप यानी आत्मा माने तो उससे देह आत्मा नही बन जाती। मै चैतन्यस्वरूप हूँ तो देह जड-स्वरूप है। चैतन्यस्वरूप होने के कारण मै देह को, इद्रियो को, मन को, बुद्धि को जानता हूँ और जगत् के सभी पदार्थो को जानता हूँ। इसलिए मै सबका ज्ञाता हूँ। किसी भी हालत मे कर्ता मै नही हूँ। देह जडस्वरूप होने से मुझे जान नही सकती, इसलिए वह ज्ञाता नही है। देह किसीके जानने का विषय है। जानने का विषय और जानना दोनो भिन्न-भिन्न चीजे है। देह, इद्रियाँ, मन, ये हमारे लिए जानने के विषय है यानी हम इन्हे जानते है यानी ज्ञाता बन गये और देह, इद्रियाँ, जानने के विषय यानी ज्ञेय बन गये।

इसलिए तत्त्ववित् के मन मे यह भावना पक्की हो गयी है कि **गुणा गुणेषु वर्तन्ते**—इद्रियाँ अपने विषयो मे व्यवहार करती है। व्यवहार करना इद्रियो का स्वभाव है। आँख का स्वभाव है देखना, कान का स्वभाव है सुनना, नाक का स्वभाव है सूँघना, जीभ का स्वभाव है रुचि का ज्ञान कराना, मन का स्वभाव है चिन्तन करना। इन स्वभावो को इद्रियाँ कभी छोड नही सकती। छोडने की जरूरत भी नही है। हमारा खुद का सम्बन्ध इन इद्रियो और उनके कर्मो के साथ बिलकुल नही है, हम इनसे अलग है, यह पहचानने की जरूरत है। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार की पहचान रखता है।

(३) तीसरी बात यह है कि ज्ञानी पुरुष इद्रियो के कर्मो और उनके विषयो मे कभी नही फँसते। वे उनमे आसक्त नही होते। आसक्त न होने का कारण देह से उन्होने अपनेको अलग पा लिया है। कठोपनिषद् मे एक श्लोक है

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुजादिवेषीकां
धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥

(अ० २, व० ३, म० १७)

अर्थात् हाथ के अँगूठे जितना ही केवल यह पुरुष (ईश्वर) लोगो के हृदय मे विराजित है। मूज नाम के घास से जैसे तिनके को निकालते है, वैसे ही उस परमात्मा-आत्मा को अपने शरीर से धीरज-पूर्वक अलग करना चाहिए। उस परमात्मा को शुद्ध और अमर समझो, उस आत्मा को शुद्ध और अमर समझो।

उपनिषद् के इस श्लोक मे ऋषि कहते है कि परमात्मा हृदय मे प्रवेश करके देहरूपी घर मे अलग रहता है। लेकिन वैसा हमे नही लगता। मूँज नामक घास से एक तिनके को निकालना हो तो बडे धीरज के साथ निकालना पडता है, नही तो वह निकलता नही। वैसे ही धीरज के साथ देह से आत्मा को अलग देखने की कोशिश करनी चाहिए, ताकि हम इद्रियो और उनके कर्मो मे आसक्त न हो जायँ।

: २९ :

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥

प्रकृतेः गुणसमूढा=प्रकृति द्वारा निर्मित इद्रियो मे जो मोहित हो गये हैं, वे, **गुणकर्मसु सज्जन्ते**=इद्रियों और उनके कार्यो मे आसक्त होते हैं। **तान् अकृत्स्नविद मदान्**=ऐसे अज्ञानी, मन्द, मोहित उन पुरुपो को, **कृत्स्नवित् न विचालयेत्**=सर्वज्ञ ज्ञानी पुरुप विचलित न करे।

इस श्लोक मे तीन वाते है (१) प्रकृति या माया द्वारा निर्मित शरीर, इद्रियो मे जो मोहित हो गये है। (२) और इसी कारण इद्रियो, उनके विपय और कार्यो मे जो आसक्त हो जाते हैं। (३) उन अज्ञानी और मद यानी मोहित पुरुषो को सर्वज्ञ आत्मज्ञानी पुरुप विचलित न करे।

(१) **प्रकृतेः गुणसंमूढाः**—कपिल महामुनि ने जिस शास्त्र की रचना की है, उसे साख्यशास्त्र कहते है। वे मानते है कि प्रकृति से सारा जगत् पैदा होता है। गीता 'प्रकृति' को माया भी कहती है। साख्य प्रकृति को स्वतत्र मानते हुए उसे जड-तत्त्व भी मानते है। पर गीता माया को स्वतत्र तत्त्व न मानकर परमेश्वर की ही अलौकिक शक्ति कहती हैं। वह परमेश्वर के अधीन होकर ही अपना कार्य करती है। इसी माया ने गुण यानी देह, इन्द्रिय आदि समुदाय और पचविषयो को पैदा किया है। आदमी अपने स्वरूप को पहचानता नही, इस कारण माया द्वारा पैदा किये इन देह, इन्द्रियाँ आदि विपयो से मोहित हो जाता है। जव हम मोहित हो जाते है और उससे सुख मिलने के वजाय दुःख का ही अनुभव करते है, तव उस मोह से निकलने के लिए कोशिश करते है। प्यासा आदमी ही पानी प्राप्त करने की कोशिश करेगा। जव वहुत प्यास लगती है तभी पानी पीने मे आनन्द आता है। इसलिए भगवान् की माया ने इद्रियों और विपय ऐसे वनाये है कि सव लोग उसमे मोहित हो जाते है। इद्रियो को विपयो का आकर्पण न हो तो विपयो के त्याग मे जो आनन्द आता है, वह कभी नही आ सकेगा। हम जव विपयो मे आसक्त होते है, तभी आसक्ति छोड़कर अनासक्ति का आनन्द लूट सकते है। इद्रियो के लिए विपयो का आकर्पण स्वाभाविक है।

(२) इसी कारण **सज्जन्ते गुणकर्मसु**—इद्रियाँ और उनके सारे व्यापारो मे लोग आसक्त हो उठते है। किसी भी अच्छी या बुरी चीज का हमे आकर्पण होता है तो उससे हम चिपक जाते है। इससे तात्कालिक आनन्द मालूम होता है, लेकिन वह आनन्द दीर्घकाल तक टिक नही पाता। प्रतिकूल परिस्थिति भी कभी उसमे रुकावट डालती है। जव प्रतिकूल परिस्थिति विक्षेप डालती है, तब पता चलता है कि जिस विषय के साथ चिपकने मे हमने आनन्द माना था, वह आनन्द तात्कालिक ही सावित हुआ। जव इस प्रकार का अनुभव आने लगता है तव मनुष्य इस चिन्ता मे पड जाता है कि विपयो से आसक्ति कम कैसे हो? फिर सत्सग, शास्त्र का अध्ययन आदि चीजो की तरफ झुक जाता है।

(३) फिर भगवान् कहते है कि **तान् अकृत्स्नविदः मंदान्**—उन अज्ञानी पुरुषो को जो कि मन्द यानी मूढ है, विषयो से मोहित हो गये हैं उन्हे **कृत्स्नवित् न विचालयेत्**—सर्वज्ञ, ज्ञानी पुरुष उनकी कर्म के विपय मे जो श्रद्धा रहती है उसे विचलित न करे। कठोपनिषद् के एक श्लोक मे मन्द यानी मूढ वनने का कारण इस प्रकार वतलाया है

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

(कठोप० १.२.२)

अर्थात् श्रेय और प्रेय मनुष्य को हमेशा प्राप्त होते है। जो धीर है यानी विवेकी ज्ञानी है वह उन श्रेय और प्रेय दोनो का विश्लेपण करके दोनो को

पृथक्-पृथक् करता है और वह धीर यानी ज्ञानी पुरुष प्रिय वस्तु मे, प्रिय वस्तु के मुकाबले मे, 'श्रेय' यानी जिसमे कल्याण हो उसीको पसन्द करता है। लेकिन जो मन्द यानी मूढ और अविवेकी है, वह अपनी इन्द्रियो के योगक्षेम यानी विषयोपभोग के लिए 'प्रेय' यानी प्रिय वस्तु को ही पसन्द करता है।

हमारे सामने इद्रियाँ और विषय है और परमात्मा हमारे पीछे है। इद्रियो की प्रेरणा प्रेय यानी भोगो की तरफ रहती है, भीतर परमात्मा की प्रेरणा श्रेय, कल्याण की तरफ रहती है। जिसमे हमारा कल्याण हो, वह हमेशा प्रिय लगे ऐसी बात नही। हमारा यही निश्चय हो कि जिसमे श्रेय हो वही करेगे, फिर चाहे वह प्रिय न भी हो। उसमे काफी तकलीफ होनेवाली हो तो भी हम हमेशा सत्य के यानी सुरक्षित रास्ते पर रहेगे। हमारी प्रतिज्ञा ऐसी हो कि हम हमेशा परमात्मा की प्रेरणा से परमात्मा के अधीन ही चलेगे तो हमारा जीवन हमेशा कल्याणमय ही रहेगा। लेकिन परमात्मा की प्रेरणा की परवाह किये बिना हम इद्रियो के अधीन और इद्रियो की प्रेरणा से ही चलते चलेगे तो हमारा जीवन सुरक्षित न रहकर खतरे के रास्ते पर चल पडेगा। इद्रियो को जो प्रिय लगता है वही हम करते चलेगे तो शुरू मे वह प्रिय होने से थोडा सुख भी मिलेगा। लेकिन अन्त मे वह दु ख देनेवाला ही साबित होगा।

अधिकाश लोग तो इद्रियो के अधीन चलना ही पसन्द करते है। पर ज्ञानी पुरुष कभी भी इद्रियो के अधीन नही चलते। ऐसे ज्ञानी पुरुषो को अज्ञानी लोगो के साथ कैसे चलना चाहिए, यह महत्त्व का प्रश्न है। भगवान् कहते है अज्ञानी लोग इद्रियो के अधीन चलते है। उनको उनसे हटाकर परमात्मा के अधीन रहकर चलाना हो तो आहिस्ता-आहिस्ता ही वह हो सकेगा। उनके भीतर जो श्रद्धा रहती है उसे विचलित किये बिना ही यह हो सकता है। अज्ञानियो मे जिस आचरण की हम अपेक्षा रखते है, वह ज्ञानी पुरुष के आचरण मे सोलह आने होना चाहिए इस बात पर भगवान् का बड़ा ध्यान रहा है।

लोकसग्रह का यह प्रकरण २०वे श्लोक से चालू हुआ है। महाराज जनक का और अपना उदाहरण देकर यही बात भगवान् इन श्लोको मे कह रहे है कि लोगो का अज्ञान दूर करना है तो यह अटल सिद्धान्त है कि ज्ञानी पुरुष का आचरण अतिआदर्श होना चाहिए। ज्ञानी पुरुष को आत्मज्ञान हुआ है, इस कारण यदि आचरण मे वह छूट लेने लगे तो किसी भी हालत मे वह ज्ञानी पुरुष अज्ञानी लोगो के लिए उदाहरण या दृष्टान्त-स्वरूप नही हो सकेगा। उसके छूट लेने के आचरण से समाज का बुद्धिभेद हुए बिना, समाज की बुद्धि विचलित हुए बिना नही रहेगी। ज्ञानी पुरुष छूट लेता है, इसका यही मतलब होगा कि वह उतने परिमाण मे अज्ञानी लोगो का अकल्याण, नुकसान ही करेगा। इसलिए यह निश्चित सिद्धान्त समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष किसी भी बात मे अपने को अपवाद न समझे। विशेषकर कर्म करने मे तो उसे बहुत जागृत रहना चाहिए। उसकी अकर्मण्यता समाज को नुकसान पहुँचायेगी। अज्ञानी लोगो मे वह बहुत ज्यादा काम अखड कर रहा है, अज्ञानी के सामने हमेशा ऐसा दृष्टान्त रहना चाहिए। अज्ञानावस्था मे आलस्य यानी तमोगुण तो रहेगा ही। इसलिए अज्ञानी कम काम करे, तो वह समझ मे आने जैसी बात है। पर ज्ञानावस्था मे तमोगुण बिलकुल नही रहता। सत्त्वगुण के उत्कर्ष के बाद ही ज्ञान प्राप्त होता है। अत ज्ञान होने के बाद अज्ञानी से ज्ञानी का कर्म ज्यादा ही होना चाहिए। अज्ञानी से ज्ञानी पुरुष का कर्म अधिक सुन्दर भी होना चाहिए।

लेकिन ज्ञानी पुरुष के बारे मे समाज मे यह विचित्र धारणा जम गयी है कि ज्ञानी पुरुष निवृत्ति-परायण ही होगा। लोगो के उद्धार के लिए दिन-रात कर्म करनेवाले पुरुष को पूर्णरूपेण ज्ञानी समझने

की प्रवृत्ति समाज में है ही नहीं। इसका मतलब तो यही हुआ कि कर्म मजबूर होकर ही करना है। आत्म-ज्ञान न होने के कारण अज्ञानावस्था में कर्म किये बिना दूसरा कोई चारा नहीं। इसलिए कर्म करना गौरव की बात नहीं, इस गलत धारणा के निमित्त तो हमारे पूर्वज ही है। प्राचीन काल में संन्यास-धर्म श्रेष्ठ माना गया। संन्यास यानी 'नाना प्रकार के संकल्पों का संन्यास', यह नहीं और न लेकर 'बाहर से कर्म न करना' यही गलत अर्थ रूढ़ हो गया। इने-गिने कर्मपरायण ज्ञानी हो गये। मगर सर्वत्र निवृत्ति-परायण ज्ञानी पुरुषों का ही प्रवाह जारी रहा। उस अकर्मण्यता से झूठे संन्यासी भी निकल पड़े। इस तरह संन्यास-संस्था मूल में बहुत ऊँची कोटि की और अत्यन्त पवित्र थी, जो अपवित्र बनकर पतित हो गयी। इस तरह संन्यासियों की गिरावट होते हुए भी आज भी समाज में संन्यास-संस्था के विषय में, संन्यासियों के विषय में अत्यन्त आदरभाव मौजूद है।

लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' ग्रन्थ के अन्त में इस सम्बन्ध में मार्मिक वचन लिखे हैं। वे लिखते हैं "सर्वभूतहित के लिए अखंड कर्म करनेवाले महात्मा पुरुष जब इस भारतभूमि में मौजूद थे, तब यह देश परमेश्वर की कृपा का पात्र बनकर ज्ञान ही नहीं, वरन् वैभव के शिखर पर भी पहुँच गया था। ज्ञान के साथ का यह सर्वभूतहित के लिए अखंड कर्म करने का धर्म छूट गया, तब इस देश को निकृष्ट स्थिति प्राप्त हो गयी। इसलिए भक्ति और ब्रह्मज्ञान के साथ कर्म का सम्बन्ध जोड़ देने-वाले भगवद्गीता के धर्म से परमेश्वर का भजन-पूजन करनेवाले महात्मा पुरुष इस भारतभूमि में फिर से पैदा हों, ऐसी परमेश्वर के पास प्रार्थना करके यह गीतारहस्य विवेचन समाप्त करता हूँ।"

हरएक पुरुष का स्वधर्म क्या है, यह देखकर उसे आत्मज्ञान की तरफ ले जानेवाला रास्ता ज्ञानी पुरुष बताता है। किसी आदमी को श्मशान-वैराग्य हो जाय तो सब छोड़ने की प्रेरणा होगी। लेकिन ज्ञानी पुरुष उसकी इस त्याग-वृत्ति को पोषण देते हुए उसका ध्यान रखेगा कि वह स्वधर्मच्युत न हो जाय। ज्ञानी पुरुष पर अनेक लोगों की श्रद्धा होती है और अपना स्वधर्म छोड़कर संन्यास लेने में भी बहुत लोग प्रवृत्त होते हैं। पर भगवान् ने अर्जुन को अपने स्वधर्म का भान कराया और स्वधर्म का पालन करते हुए ही उसे आत्मज्ञान की तरफ ले गये। उसे स्वधर्म से विचलित नहीं किया। आत्म-ज्ञान की चाहे कितनी इच्छा हो, इच्छामात्र से आत्मज्ञान की संभावना नहीं। वह तो योग्यता पर निर्भर है। इच्छा होते हुए भी यदि योग्यता नहीं है, तो योग्यता बढ़ाने में समय लगेगा ही। इस-लिए हरएक की योग्यता के अनुसार उसकी स्वधर्म या स्वकर्तव्य संबंधी श्रद्धा विचलित किये बिना ज्ञानी पुरुष सबको ठीक तरह मार्गदर्शन करते रहें, यह बात इस श्लोक के दूसरे चरण में बताती है।

: ३० :

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

सर्वाणि कर्माणि=सब कर्मों को, अध्यात्मचेतसा=अध्यात्म-चित्त से, विवेकबुद्धि से यानी ज्ञानपूर्वक, मयि संन्यस्य=मुझे अर्पण करके, निराशीः निर्ममो भूत्वा=अपेक्षारहित और ममतारहित होकर, विगतज्वरः युध्यस्व=शोक-संतापरहित होकर, युद्ध कर, यानी स्वधर्म का पालन कर।

इस श्लोक में यों तो दो ही बातें हैं, किन्तु उनमें चार बातों का समावेश हुआ है (१) मन में विवेकबुद्धि रखना, (२) विवेकबुद्धि से जीवन के सब कर्म मुझे अर्पण करना, (३) आशा-अपेक्षारहित, ममतारहित और शोक-मोह-संताप-रहित होना, (४) और फिर स्वधर्म का पालन करना।

(१) **अध्यात्मचेतसा**–इस श्लोक में अध्यात्म-चित्त शब्द आया है। अध्यात्मचित्त का अर्थ क्या ? शकराचार्य कहते है **अध्यात्मचेतसा–विवेकबुद्ध्या अह कर्ता ईश्वराय भृत्यवत्करोमि इति अनया बुद्ध्या**–अध्यात्म चित्त से का अर्थ है विवेक बुद्धि से मैं कर्म करता हूँ और ईश्वर के लिए नौकर की तरह कर्म करता हूँ–इस ईश्वरार्पण-बुद्धि से ।

शकराचार्य ने अध्यात्म-चित्त का जो अर्थ किया है, वही गाधीजी ने किया है। विनोवाजी ने इससे भिन्न अर्थ किया है। वे कहते है 'अध्यात्म-वृत्ति से यानी आत्मनिष्ठ निरहकार वृत्ति से, कर्म प्रकृति के है, मेरे नही, मै उनसे भिन्न हूँ, इस ज्ञान से।' ज्ञानेश्वर महाराज ने भी विनोवाजी जैसा ही अर्थ किया है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है 'यह मेरेलिए विहित यानी इष्ट कर्म है और मै उनका कर्ता हूँ। इसी कारण इन विहित कर्मो को मै आचरण मे लाऊँगा–ऐसा कर्तापन का अभिमान चित्त मे मत रख।' इसका अर्थ यह हुआ कि स्वय कर्ता मत बनो, सब कर्म अकर्तापन की भावना से ईश्वर को अर्पण करके करो।

शकराचार्य और गाधीजी का अर्थ सबकी समझ मे आने जैसा है और आचरण के लिए सुगम है। शकराचार्य अद्वैतवादी है। वे आत्मा को अकर्ता ही मानते है। अकर्तापन की भूमिका तो ज्ञान-भूमिका हुई। मै देह, इद्रियाँ, मन, बुद्धि से अलग हूँ। मेरा उनके साथ कोई सम्बन्ध नही, इसलिए उनके सब कर्मो का मै सिर्फ साक्षी हूँ, ज्ञाता हूँ, कर्ता नही हूँ, यह ज्ञान-भूमिका हुई। इस ज्ञान-भूमिका का उल्लेख तो ऊपर २८वे श्लोक मे आ गया। उस श्लोक मे बता ही दिया गया है कि मै देह आदि से भिन्न हूँ, इसलिए मै कर्म का कर्ता नही हूँ।

किन्तु इस श्लोक मे भगवान् ने ईश्वर को अर्पण करके सब कर्मो को करने के लिए कहा है। इसलिए इस श्लोक मे भक्त की भूमिका बतायी गयी है। भक्ति का आश्रय लेकर सब कर्म भगवान् को अर्पण करने के लिए इस श्लोक मे कहा है। इसलिए यहाँ मै कर्ता हूँ और ईश्वर मेरा स्वरूप है यानी स्वामी है, इसलिए उसे अर्पण करके ही मुझे सब कर्म करना है, इस भक्त की भूमिका से ही कर्म करने के लिए कहा है, यही मानना अधिक समुचित है। शकराचार्य या गाधीजी ने जो अर्थ किया है, उससे यही प्रतीत होता है। महान् अद्वैतवादी होते हुए भी शकराचार्य ने अपने षट्पदी स्तोत्र मे कहा है

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

अर्थात् मुझमे और तुममे भेद न होते हुए भी हे नाथ, हे परमात्मन्, मै तुम्हारा हूँ तुम मेरे नही; क्योकि तरगे समुद्र की होती है, तरगो का समुद्र नही, यानी तरगो से समुद्र नही बना, समुद्र से तरगे बनी है।

भक्ति के लिए शकराचार्य कहते है कि तुममे और मुझमे बिलकुल अतर नही है। मै और तुम (परमात्मा) दोनो एक ही है। फिर भी मै तुम्हारा हूँ यानी तुमने मुझे पैदा किया है। मेरे तुम नही हो यानी मैने तुम्हे पैदा नही किया है। 'अमृतानुभव' ग्रथ मे ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि पहाड खोदकर उसीसे एक मदिर बनाते है। उसमे पत्थर का ही देव बनाते है, देव यानी भगवान् का परिवार कछुआ, नदी, बैल, यह सब भी पहाड से निकले पत्थर के ही होते है और उस पत्थर से बने मदिर मे एक पुजारी यानी पूजा करनेवाला भी पहाड के पत्थर का ही बनाते है। इस तरह सब चीजे पत्थर की ही होती हुई भी भक्ति के लिए यह सारा भेद-व्यवहार सुचारुरूप से चलता रहता है। वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा एक होते हुए भी परमात्मा उपास्य और जीवात्मा उपासक, ऐसा भेद-व्यवहार भक्ति के लिए हो सकता है।

इस भक्ति से अद्वैत मे कोई बाधा नही आती।

शंकराचार्य ने अद्वैतज्ञान को आखिरी भूमिका मानी है। भक्ति उसका उपाय है। देह से मैं अलग हूँ, यह ज्ञान हो गया। लेकिन इस श्लोक में भक्ति बतायी है। भक्ति में देह-बुद्धि थोड़ी-सी आ ही जाती है। इसलिए उन्होंने यह अर्थ किया—'मैं सेवक हूँ यानी कर्म का कर्ता हूँ और परमात्मा स्वामी है और नौकर स्वामी के लिए जिस तरह कर्म करता है उसके मुताबिक मैं परमात्मा के लिए कर्म करता हूँ, परमात्मा के लिए ही सारा जीवन बिताता हूँ।'

विनोबाजी ने ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों को एक माना है। अंतिम अवस्था में तीनों एक हो जाते हैं। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, इसका मतलब ही यह है कि मैं देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियों से अलग हूँ और यह जो ज्ञान है वही परमात्मस्वरूप की भक्ति कराता है। मैं कर्म का कर्ता हूँ, इसका मतलब तो मैं देह हूँ, यह हो जाता है। मैं परमात्मस्वरूप हूँ ऐसी उसमें पहचान नहीं। मैं परमात्मस्वरूप हूँ, ऐसी पहचान होते ही परमात्मस्वरूप के बारे में प्रेम पैदा होता है। अब तक देह के बारे में प्रेम, आसक्ति थी। अब वह देह का प्रेम छूट गया। देह का प्रेम छूट गया, इसलिए वह प्रेम परमात्म-स्वरूप में बैठ गया। इसलिए देह से अलग हुए बिना परमात्मस्वरूप की सच्ची भक्ति पैदा होना संभव नहीं है। विनोबाजी कहते हैं : शक्कर का टुकड़ा जीभ पर रखते ही उसका प्रथम ज्ञान होगा और फिर तुरंत ही मुँह में पानी छूटेगा। यानी शक्कर का ज्ञान होते ही उससे स्नेह यानी प्रेम, भक्ति पैदा हो जायगी। इसलिए विनोबाजी या संत ज्ञानेश्वर महाराज जिस प्रकार 'अध्यात्मचेतसा' का अर्थ लेते हैं, वही अर्थ यथार्थ है, ऐसा प्रतीत होता है।

(२) दूसरी चीज भगवान् ने बतायी है : **मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य।** अध्यात्म-चित्त से यानी 'मैं देह से अलग हूँ,' यह ज्ञान, यह भान मन में रखकर फिर देह की सब क्रियाएँ भगवान् को अर्पण कर परमात्मस्वरूप में अपनी बुद्धि या मन को स्थिर करके जीवन जीना चाहिए। देह, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सब परमात्मा यानी परमात्मा की मायाशक्ति ने पैदा की हैं, हमने इन्हें पैदा नहीं किया। देह आदि को पैदा कर भगवान् उन में विराजमान हैं और देह जब तक जीवित रहती है तब तक उसकी सारी क्रियाएँ भगवान् द्वारा ही होती रहती हैं। जब परमात्मा देह से अलग हो पुरुष कर देते हैं तब तो प्रेत समझकर उसे जला ही देते हैं, फिर वह महात्मा पुरुष की ही देह क्यों न हो। मतलब यह कि जीवित देह में परमात्मा से ही देह की सब क्रियाएँ चल रही हैं। जब परमात्मा से ही देह, बुद्धि, इन्द्रियों की सब क्रियाएँ चलती हैं, तो मैं देह के कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता हूँ? मैं यदि अपने को कर्ता समझता हूँ तो वह झूठी चीज, अहंकाररूप ही समझना चाहिए। अतः सत्य-पालन के लिए ही भगवान् कह रहे हैं कि देह से होनेवाले सब कर्म परमात्म-शक्ति से चल रहे हैं, ऐसा मन में दृढ़ निश्चय कर सारा जीवन परमात्मा को अर्पण करके ही बिताना चाहिए।

(३) तीसरी बात यह बतायी कि निराशी, निर्मम बनकर जीना चाहिए। हमारी सब क्रियाएँ, सब कर्म, किसी-न-किसी आशा, अपेक्षा या इच्छा, महत्त्वाकांक्षा से ममता या अपनापन रखकर चलती हैं। ऐसा हमेशा कहते हैं : 'ब्लेस्ड आर दे हू एक्स-पेक्ट नथिंग' यानी जो मन में कुछ भी अपेक्षा, वासना, इच्छा नहीं रखते, वे पुरुष धन्य हैं। ज्ञानेश्वर महा-राज भी कहते हैं कि जिस पुरुष के मन में अपेक्षा, आशा और इच्छाएँ प्रवेश नहीं करतीं, उनका आन्त-रिक आनन्द बढ़ता ही जाता है, वह कभी घटता नहीं। जहाँ सब क्रियाएँ भगवान् को अर्पण करके करनी हैं, वहाँ आशा, अपेक्षा और ममता रह ही नहीं सकती और न रहनी ही चाहिए।

(४) अन्त में भगवान् चौथी बात बतला रहे हैं : **युद्धस्व विगतज्वरः।** ज्वर यानी शोक-मोहरूपी

बुखार (नशे) को त्यागकर तू युद्ध कर यानी अपना कर्तव्य कर। अर्जुन शोक-मोहरूपी सागर मे डूब गया था। जब शोक-मोह पैदा होते है तो मानसिक शाति जाती रहती है, साथ ही शारीरिक स्वस्थता भी। इस तरह 'ज्वर' शब्द का अर्थ है मन की शाति नष्ट करने और शरीर का स्वास्थ्य बिगाडनेवाले शोक-मोह। 'युद्ध' शब्द का अर्थ स्वधर्म या स्वकर्तव्य है। दूसरे अध्याय के १८वे श्लोक मे शकराचार्य ने युद्ध के अर्थ के बारे मे स्पष्टीकरण किया ही है। इस श्लोक मे सब कर्म भगवान् को अर्पण करने के लिए कहा गया है। भगवान् को सब कर्म अर्पण करने का मतलब ही है भगवान् की भक्ति। दूसरे अध्याय के १६वे श्लोक मे 'मत्परायण' यानी भगवत्परायण होने के लिए कहा गया है। गीता मे भक्ति को ही मोक्ष का सुलभ उपाय बताया है। इसलिए उसका जिक्र हरएक अध्याय मे बराबर किया गया है। यही बात कठोपनिषद् के इस मत्र मे कही है

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

अर्थात् अतिसूक्ष्म होने से जिसका अनुभव कठिन है, ऐसे और गुप्त स्थान मे स्थित यानी काम-क्रोधादि विकारो से ढँके, बुद्धिरूपी गुफा मे विद्यमान विषम प्रदेश यानी मर्त्य-शरीर मे वर्तमान और अनादि काल से चले आ रहे परमात्मा को अध्यात्मयोग यानी 'देह से हम अलग है' इस विवेक से जानकर और परमात्मा का अनुभव कर धीर-ज्ञानी, विवकी पुरुष हर्ष एव मोह को त्याग देते है।

इस मत्र मे परमात्मा के ४ विशेषण बताये है (१) परमात्मा अतिसूक्ष्म है। (२) वह काम-क्रोधादि विकारो से ढँका है। (३) बुद्धिरूपी गुफा मे गुप्त है। (४) और शरीर मे ओतप्रोत है। ऐसे परमात्मा को जानना हो तो पहले आत्मा और अनात्मा की भिन्नता का अध्यात्म-योग से अनुभव करके फिर परमात्मा का अनुभव करना चाहिए। परमात्मा का

अनुभव भक्ति से ही हो सकता है, यह गीता के इस श्लोक मे बताया है। भक्ति का जिक्र उपनिषद् के इस श्लोक मे न होने पर भी "अध्यात्म-योग से यानी 'आत्मा देह से भिन्न है' ऐसा जानकर फिर अनुभव लेता है" ऐसा कहा है। इसमे भक्ति से परमात्मा का अनुभव लेता है, ऐसा अनुमान लगा लिया जा सकता है। उसी उपनिषद् मे एक और श्लोक है

अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

अर्थात्—"नाना प्रकार के मनुष्य, पशु आदि शरीरो मे जो अशरीरी परमात्मा है, उसे तथा अनित्य पदार्थो मे जो नित्य-निर्विकार रहा है, उस महान् और व्यापक परमात्मा को जानकर, उसका अनुभव करके धीर यानी ज्ञानी पुरुष शोक नही करते।"

: ३१ :

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

ये श्रद्धावन्त.=जो श्रद्धावान्, **अनसूयन्त मानवा** = ईर्ष्या से मुक्त मनुष्य है, वे, **इद मे मत**=इस मेरे मत का, **नित्यं अनुतिष्ठन्ति**=नित्य अनुष्ठान करते है, **ते अपि कर्मभि. मुच्यन्ते**=वे पुरुष भी कर्मबधन से छूट जाते है।

इस श्लोक मे चार बाते बतायी गयी है (१) श्रद्धावान् होना। (२) मत्सर, ईर्ष्या आदि दोषो से मुक्त होना। (३) मैने जो अपना मत बताया है, तदनुसार आचरण करना। (४) कर्म-बधनो से छूट जाना।

(१) **श्रद्धावन्तः**। इस श्लोक की यह पहली बात बहुत महत्त्व की है। जो श्रद्धावान् है, उन्हे भगवान् के कथनानुसार चलने पर कितना भारी फल मिलता है, यह बतला रहे है। मनुष्य के पास जैसे बाह्य पच ज्ञानेन्द्रियाँ और पच कर्मेन्द्रियाँ है, वैसे ही भीतर बुद्धि और मन भी है। बुद्धि से ज्ञान प्राप्त होता है और मन से वह कार्यान्वित होता

वे नाव छोडकर पानी मे से चलकर जाने लगे। एक दिन शाम को महाराज को नदी-पार जाना था। प्रवचन के बाद नदी पर आकर नाव की राह देख रहे थे। मजदूर भी नदी पार करने के लिए आ पहुँचे तो उन्हे यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ। आखिर उन्होने महाराज से पूछ ही लिया। महाराज ने सोचा कि मजदूर भगवान् का नाम लेकर जब नाव के बिना नदी-पार हो जाते है तो मै भी प्रयोग कर देखूँ कि बिना नाव के पार जा सकता हूँ या नही। वे भगवान् का नाम ले नदी मे से चलने की कोशिश करने लगे, लेकिन असफल रहे, नीचे ही जाने लगे। उन्हे आश्चर्य हुआ। सोचने पर उनके ध्यान मे आया कि प्रवचन मे वैसा कहने पर भी दरअसल मेरी वैसी श्रद्धा नही है। मजदूरो की नाम पर पूरी श्रद्धा है, इसीलिए वे बिना नाव के नदी-पार कर जाते है।

श्रद्धा एक अद्‌भुत वस्तु है। भगवान् चौथे अध्याय के ३९वे श्लोक मे कह रहे हैं कि श्रद्धा से ज्ञान हासिल हो सकता है। उपनिषद् मे श्वेतकेतु को उसके पिता ज्ञान देते हुए उदाहरण द्वारा समझा रहे है

न्यग्रोधफलमत आहरेति। इदं भगव इति। भिन्द्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति। न किंचन भगव इति।

अर्थात्—श्वेतकेतु के पिता ने वट-वृक्ष का एक फल लाने को कहा। श्वेतकेतु फल लाया। फिर उसने पिता के कहने पर उसके टुकडे किये। उसके बीज के भी टुकडे किये। आखिर पिता ने पूछा कि तू क्या देख रहा है ? तब श्वेतकेतु बोला 'अब कुछ भी नही देख रहा हूँ।'

फिर पिता उससे कहता है

यं वै सौम्य एतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सौम्य एष. अणिम्नः महान् न्यग्रोधः तिष्ठति। श्रद्धस्व सौम्य इति।

अर्थात्—इस अतिसूक्ष्म वस्तु को, हे सौम्य, तू नही देख रहा है, देखने की सामर्थ्य तुझमे नही है। हे सौम्य, इसी अतिसूक्ष्म वस्तु या परमात्मा से यह बहुत बडा वटवृक्ष पैदा हुआ है। बेटे, इस मेरे कथन पर विश्वास रख, श्रद्धा रख।

श्वेतकेतु के पिता ने उसे परमात्मा का भान बडी खूबी से उदाहरण देकर कराया। जो दिखाई देता है, उस पर विश्वास रखने का तो कोई सवाल ही नही रहता। मगर बीज के टुकडे करने पर जब कुछ शेष नही रहता और वृक्ष खडा हुआ हम देख रहे है, तो बीज के टुकडे-टुकडे करने पर जो दिखाई नही देता, उसी अव्यक्त-तत्त्व यानी परमात्मा मे से यह बडा वृक्ष पैदा हुआ है, ऐसा मानना होगा। अन्त मे ऋषि कहते है 'इस पर श्रद्धा रखो।' श्रद्धा एक अद्‌भुत वस्तु है।

(२) **अनसूयन्तः**—जिस पुरुष मे श्रद्धावृत्ति रहती है, उसमे असूया यानी मत्सर या ईर्ष्यावृत्ति नही टिकती। मत्सर और ईर्ष्या आसुरी वृत्तियाँ है। १६वे अध्याय मे इस आसुरी वृत्ति का विस्तार से वर्णन है। साधक और मुमुक्षु को इस वृत्ति से शीघ्र हट जाना चाहिए। ईर्ष्या, मत्सर अभिमान का ही महान् रूप है। जिनमे अभिमान की मात्रा ज्यादा है, उन्हीमे यह वृत्ति पनपती है। नम्रता धारण करनेवालो मे यह वृत्ति टिक नही सकती।

(३) **ये मे इदं मतं अनुतिष्ठन्ति**—श्रद्धावान् पुरुष मेरे इस मत यानी अभिप्राय को स्वीकार कर तदनुसार अनुष्ठान करते है। यहाँ सवाल होगा कि कौन-सा अभिप्राय लिया जाय—क्या पिछले श्लोक मे भगवान् ने जो महत्त्वपूर्ण अभिप्राय बतलाया कि 'देह से अपने को भिन्न कर जीवन की समस्त क्रियाएँ भगवान् को अर्पण करते चलो' इसे लिया जाय या दूसरे अध्याय से लेकर तीसरे अध्याय के ३०वे श्लोक तक भगवान् ने जो-जो बाते करने के लिए कही है, वे सब ली जायँ ? स्पष्ट करते है कि ३१वे श्लोक मे भगवान् ने जो चीज अमल मे

लाने के लिए कही है, उसे श्रद्धावान् और ईर्ष्या-रहित पुरुष आचरण मे लाते है।

(४) उन्हे उसका यह फल मिलता है कि वे कर्म-बधन से छूट जाते है। ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल पर जो चीज आचरण मे लाते है, श्रद्धालु अपनी श्रद्धा के बल पर अमल मे लाकर उसीके द्वारा ज्ञानी पुरुष को ज्ञान से मिलनेवाला मोक्षरूपी फल प्राप्त कर लेते है। श्रद्धा का यह भारी फल इस श्लोक मे बताया गया है।

लेकिन जो मत्सर-बुद्धि से मेरे इस अभिप्राय को आचरण मे नही लाते, वे ज्ञानशून्य और मूढ है। इस ससार मे उनका नाश ही हुआ समझो, ऐसा अगले श्लोक मे भगवान् बतला रहे है।

: ३२ :

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतस.॥

तु ये अभ्यसूयन्त.=लेकिन जो ईर्ष्या, मत्सर करनेवाले पुरुष है, **एतत् मे मतं न अनुतिष्ठन्ति**=वे मेरे इस मत को आचरण मे नही लाते, **तान् सर्वज्ञान-विमूढान्**=सब प्रकार के ज्ञानो मे मूढ-से बने वे पुरुष, **अचेतस नष्टान् विद्धि**=अविवेकी है और मान लो कि वे नष्ट हो गये है।

इस श्लोक मे कुल मिलाकर पाँच बाते कही है (१) जो ईर्ष्या और मत्सर से युक्त है, (२) इसलिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से सब कर्म करने का मेरा मत आचरण मे नही लाते। (३) ऐसे पुरुष सब प्रकार का ज्ञान होते हुए भी मूढ है, (४) वे अविवेकी है, (५) और मान ले कि वे नष्ट ही हो गये है।

(१) **ये अभ्यसूयन्तः**—जो ईर्ष्या और मत्सर से युक्त है। पिछले श्लोक मे बताया गया कि जो ईर्ष्या और मत्सर से मुक्त है और श्रद्धालु है। यहाँ बताया है कि जो ईर्ष्या और मत्सर से युक्त है। यहाँ इसके साथ वे अश्रद्धालु है, यह भी कहा जा सकता है, क्योकि जिनमे ईर्ष्या, मत्सर होता है वे प्रायः श्रद्धालु नही होते। श्रद्धालु व्यक्ति निष्कपट और सरलचित्त होता है। जिनमे ईश्वर-श्रद्धा की कमी है, उन्हीमें ईर्ष्या, मत्सर, स्पर्धा आदि वृत्तियाँ दिखाई देती है। जहाँ ईर्ष्या, मत्सर है, वहाँ क्रोध-वृत्ति की भी प्रबलता रहती है। जहाँ सरलता है, निष्कपटता है, सौम्यता, नम्रता, कोमलता है, वहाँ मत्सर और ईर्ष्या टिक नही सकती। मन मे ईर्ष्या, मत्सर-वृत्ति की लहर नही उठ सकती। उठ भी जाय तो वह ज्यादा देर तक ठहर नही पाती। जहाँ क्रोध-वृत्ति की प्रबलता है, वहाँ अभिमान प्रबल रहता है। इस तरह जब मूल मे अभिमान, क्रोध प्रबल हो जाते है, तब ईर्ष्या और मत्सर-वृत्ति पैदा होती है और अपना जोर दिखाती है।

विनोबाजी 'गीता-प्रवचन' मे कहते है कि दो साधु पास-पास ही दो गुफाओ मे बैठे हो तो वे कभी आपस मे नही मिलेगे। मत्सर-वृत्ति होने के कारण दोनो मे एक-दूसरे के प्रति नफरत का भाव रहता है। एक गुरु के पाँच-दस शिष्य हो तो उनमे भी आपस मे ईर्ष्या, मत्सरवृत्ति होती है।

एक धनी मनुष्य था। उसके पास बहुत धन था। आलीशान कोठी मे रहता था। दिनभर कुछ काम तो रहता नही था। श्रम या व्यायाम कुछ नही करता था। इससे उसकी सेहत भी बहुत अच्छी नही रहती थी। सुख के सब साधन मौजूद होते हुए वह काफी असतुष्ट, अशांत और दु खी था। वह रोजाना पालकी मे बैठकर घूमने जाता था। रास्ते मे एक टोकरी बनानेवाले की झोपडी थी। वह झोपड़ी के पास बरामदे मे बैठकर टोकरी बनाता और भजन गाता रहता। जीवन श्रमनिष्ठ होने से उसकी सेहत अच्छी थी और वह सतोष और आनद-पूर्वक रहता था। उस धनी आदमी के मन मे टोकरी बनानेवाले को सतुष्ट और प्रसन्न देखकर बडी ईर्ष्या और मत्सर-वृत्ति पैदा होने लगी।

धीरे-धीरे ईर्ष्या इतनी बढी कि उस श्रीमत आदमी ने टोकरी बनानेवाले की झोपडी मे

एक दिन आग लगवा दी। उस गरीब आदमी ने धनी आदमी का कोई नुकसान तो किया नही था। फिर भी उसकी झोपडी जला दी गयी और उसका रोटी का साधन ही नष्ट हो गया। अब वह कहॉ रहे ? बेचारा रोता हुआ न्यायाधीश के पास गया ओर सारी कहानी सुना दी। न्यायाधीश ने पुलिस द्वारा उस श्रीमत आदमी को पकडवाया और पूछा 'इस गरीब का नुकसान तुमने क्यो किया ?' उसने सारी बाते सही-सही बता दी। न्यायाधीश ने कहा 'तुम्हे कुछ सिखावन मिले, इसलिए जेल न भेजकर दोनो को किसी एक टापू मे भेजता हूँ। वहॉ दोनो अपने परिश्रम से गुजारा करो। इतनी सजा पर्याप्त है।' दोनो दूर के टापू मे भेजे गये। वहॉ के लोगो की भाषा ऐसी थी कि वे समझ नही पाते थे। टोकरी बनानेवाले मे हिम्मत थी। उसने उन जगल-निवासियो को कौन-सी चीज प्रिय है और उन्हे किस चीज की नितात आवश्यकता है, यह जान लिया। उसने देखा, उन लोगो को फूलो की माला बहुत प्रिय है, इसलिए जगल से फूल ला-लाकर और मालाएँ गूँथ कर जगल-निवासियो को देने लगा। वे लोग खुश हो गये और उन मालाओ के बदले उसे भोजन देने लगे। उधर श्रीमत आदमी की स्थिति दयनीय हो गयी। उसे काम करने की बिलकुल आदत नही थी। वह अपना दिमाग भी नही चलाता था, उसमे सूझ-बूझ बहुत कम थी। भूखो मरने की बारी आयी।

टोकरी बनानेवाले को उसकी इस हालत पर दया आ गयी। उसने श्रीमत से कहा 'घबराओ मत। मेरे साथ फूल तोडने चला करो। मैं तुम्हे माला बनाना सिखा दूँगा।' वह उसे अपने साथ जगल ले जाने लगा। माला बनाना भी सिखा दिया। इस तरह थोडे दिनो मे वह श्रीमत सब सीख गया और दिन-रात मेहनत करके अपनी रोटी कमाने लगा। उसे मानसिक शाति का अनुभव होने लगा। काम करने से उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी ठीक रहने लगा। उसके ध्यान मे आ गया कि हमेशा कर्म-रत रहने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है और मन भी स्वस्थ रहता है।

वापस लौटकर दोनो न्यायाधीश के पास पहुँचे। श्रीमत ने न्यायाधीश क सामने कबूल किया कि 'जीवन जीने का सही रास्ता मुझे मालूम हो गया। आपने बडा उपकार किया कि इस प्रकार की सिखावन देनेवाली सजा मुझे दी। अब मैं इस टोकरी बनाने-वाले की झोपडी बॉध दूँगा और कभी भी किसी से ईर्ष्या, तिरस्कार, मत्सर, द्वेष नही करूँगा। अपना सारा जीवन कार्यरत रखूँगा।'

साराश, काम क्रोध आदि विकार आत्मज्ञान को ढँकते है, मगर उनमे भी सबसे खतरनाक विकार तो ईर्ष्या और मत्सर ही है। भगवान् सोलहवे अध्याय के १८वे श्लोक मे कहते है कि अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध से युक्त होकर ईर्ष्या और मत्सर के कारण अपनी देह और दूसरो की देह मे स्थित पर-मात्मा का द्वेष ही करते है। ईशावास्य उपनिषद् मे इसे आत्मा का हनन करनेवाली वृत्ति कहा है।

(२) दूसरी बात यह कि वे लोग ईर्ष्या, मत्सर वृत्ति के कारण पिछले श्लोक मे कथित परमेश्वरार्पण-बुद्धि से सब कर्म करने का मेरा उप-देश अमल मे नही लाते। उसकी अवहेलना और उपेक्षा करते है। गाधीजी कहते है 'परमात्म-स्मरण पूर्वक और उसे सब अर्पण करके कर्म करना आत्मा का यानी अपना स्वाभाविक धर्म होना चाहिए।' हम परमात्मा से किसी भी अवस्था मे भिन्न नही है। ईर्ष्या और मत्सर ऐसी भयकर आसुरी वृत्ति है कि परमात्मा से एकरूप होने पर भी हमे परमात्मा से भिन्न और देह से भिन्न होते हुए भी उससे एकरूप बना देती है।

(३) तीसरी बात है--**सर्वज्ञानविमूढान्।** भगवान् कह रहे है कि जिन आदमियो मे ईर्ष्या और मत्सर-वृत्ति पनपी हुई है, सब प्रकार का ज्ञान होते हुए भी वे ज्ञान के बारे मे मूढ-जैसे ही

ार ही वरतता है, तो फिर मूर्ख अपनी प्रकृति के नुसार वरतता है इसमे कहना ही क्या ?

पूर्वजन्म मे धर्म और अधर्म के आचरण के कारण ो सस्कार वने, वे हमारे चालू जन्म मे उसी स्वरूप प्रकट हुए हैं। इन्ही सस्कारो को हम 'प्रकृति' ा स्वभाव नाम से पहचानते हे। प्राणीमात्र इस कृति या स्वभाव के अनुसार चलते है। अज्ञानी ोग इन्ही सस्कारो या प्रकृति के अनुसार जीवन ाते ह, यह कहने मे किसीका मतभेद नही होगा। गर ज्ञानी पुरुप भी पूर्वजन्म के धर्म-अधर्म के मिले स्कारो के अनुसार चलता है, यह माने तो हमे ान पाने का लाभ ही क्या मिला ? पूर्वजन्म मे कये धर्म-अधर्म के सस्कार ज्ञान के सस्कार तो ही माने जा सकते। उन्हे अज्ञान का ही कार्य ानना होगा। ज्ञानी पुरुप पहले तो अज्ञानी ही हता है। इस जन्म मे उसने ज्ञान पाया। लेकिन ान-प्राप्ति के वाद भी अज्ञान के वे सस्कार कायम ानते है तो ज्ञान-प्राप्ति का कोई अर्थ ही नही रह ाता। गीता के चौथे अध्याय के ३७वे श्लोक मे गवान् ने कहा है कि 'जिस तरह सपूर्ण प्रज्वलित ग्नि लकडी को जला देती है, उसी तरह ज्ञानरूपी ग्नि सव कर्मो को जला देती है।' तव ज्ञानी ुरुप को ज्ञान-प्राप्ति के वाद भी ज्ञान-प्राप्ति के पूर्व े स्वभाव के अनुसार चलनेवाला मानना भगवान् ी इस उक्ति से विसगत लगता है। यह वात ुक्ति-युक्त नही लगती।

तुलसीदासजी ने उत्तरकांड मे लिखा है

उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा।
मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥
सुनु प्रभु वहुत अवग्या कीये।
उपज क्रोध ग्यानिहु के हीये॥
अति संघरषन जौं कर कोई।
अनल प्रगट चन्दन तें होई॥

—मै उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगा तो मुनि के चेहरे पर क्रोध के लक्षण दिखाई देने लगे। स्वामिन्, सुनिये! वहुत अवज्ञा करने पर ज्ञानी के हृदय मे भी क्रोध प्रकट होने लगता है। अतिघर्पण करने पर चन्दन से भी अग्नि प्रकट होने लगती है। तुलसीदासजी के इन वचनो और शकराचार्य के इस श्लोक के भाष्य से मालूम होता है कि ज्ञान प्राप्त होने के वाद भी काम-क्रोधादि विकार मन मे प्रकट होते हैं। दुर्वासा ऋपि ज्ञानी थे, किन्तु क्रोध के लिए वे प्रसिद्ध हैं। प्राचीन काल मे यह कल्पना थी कि ज्ञानी पुरुप भी अपनी पुरानी प्रकृति के अनुसार कार्य कर सकता है, अकार्य भी कर सकता है।

इसकी तह मे यही कल्पना रही है कि ज्ञान होने के वाद ज्ञानी को वर्तमान देह धारण करनी पडती है। ज्ञान होते ही ज्ञानी पुरुप की देह गिरती नही, वल्कि प्रारव्ध-कर्मवश वर्तमान देह चलती रहती है। प्रारव्ध-कर्म पर ज्ञान की सत्ता नही चलती। प्रारव्ध-कर्म पूर्ण होने तक यानी प्रारव्ध-कर्म का नाश होने तक ज्ञानी पुरुप को भी राह देखनी ही पडती है। प्रारव्ध-कर्म क्षीण होने के पहले वह देह का त्याग नही कर सकता। इस तरह जव ज्ञान होने के वाद भी प्रारव्ध-कर्मवश देह वनी रहती है, तो प्रारव्ध-कर्म मे कभी पूर्वजन्म के पाप-कर्म का फल भी भुगतना पडता हे। इसलिए ज्ञान होने के वाद भी पाप-कर्म हो सकते हैं। लेकिन अलिप्त रहने से ज्ञानी को पाप-कर्म का लेप नही लगता।

इसी धारणा के कारण गीता के छठे अध्याय के ३१वे श्लोक मे और १३वे अध्याय के २३वे श्लोक मे ज्ञानी पुरुप के वर्णन के प्रसग मे अतिम लक्षण वताया है **सर्वथा वर्तमान· अपि** यानी चाहे जैसे वह ज्ञानी पुरुप चले तो भी **स योगी मयि वर्तते**—यह योगी मुझमे ही रहता है (६ ३१)। १३वे अध्याय के २३वे श्लोक मे यह वचन इस प्रकार है **सर्वथा वर्तमान. अपि न स भूय अभिजायते**—अर्थात् चाहे जैसे वह ज्ञानी पुरुप चले, फिर से जन्म नही लेता, उसे मोक्ष मिल जाता है। ज्ञानी

पुरुष के इस लक्षण का शाब्दिक अर्थ लेने पर तो अनर्थ होगा। क्योकि ज्ञान प्राप्त होने के वाद यदि अज्ञानी की तरह पाप-कर्म होने की कल्पना की जाय तो ज्ञान का उपयोग क्या रहा ? इसलिए 'सर्वथा वर्तमान अपि" को केवल ज्ञान की प्रशसा करनेवाला वचन मानना चाहिए।

उदाहरण के तौर पर, महात्मा गाधी इतने सत्यनिष्ठ थे कि उनकी स्तुति या गौरव करना हो तो कहा जायगा कि 'महात्मा गाधी इतने सत्याचरणी थे कि वे स्वप्न मे भी असत्य नही वोलते थे।'

इसलिए ऊपर जो वाक्य आ गया कि **सर्वथा वर्तमानः अपि** यानी चाहे जैसा वह चले तो भी, इसका अर्थ यही है कि ज्ञानी पुरुप को इतना विश्वास है कि वह किसी भी हालत मे चाहे जैसा चल ही नही सकता। उसके ज्ञान की महिमा गाने, उसकी सराहना करने के लिए कहते है कि "ज्ञानी पुरुप चाहे जैसा चलने पर भी वह भगवान् मे ही रहता है, अलिप्त रहता है और देह छूटने के वाद उसे मोक्ष मिल जाता है।' इसका यह मतलव कदापि नही कि ज्ञानी पुरुष चाहे जैसा वर्ताव करता है। वह चाहे जैसा चल ही नही सकता, परमात्म-ज्ञान के कारण वह ऐसी अलौकिक स्थिति मे विराजमान हो गया है। इसलिए ज्ञानी पुरुप अपनी पुरानी प्रकृति (पुराने स्वभाव) के अनुसार चल सकता है, यह मानना ठीक नही।

अव सवाल यह उठता है कि फिर शंकराचार्य जैसे ज्ञानी ने ऐसा अर्थ क्यो किया कि 'ज्ञानी पुरुष अपने पुराने स्वभाव के अनुसार चल सकता है।' इसका अर्थ इतना ही लेना है कि ज्ञान होने के वाद भी ज्ञानी पुरुप के स्वभाव की जो एक विशेपता रहती है, उसमे वहुत फर्क नही पडता। उदाहरण के तौर पर, ज्ञानी पुरुप को ज्ञान होने के पहले उसके स्वभाव मे वचपन से क्रोध की वृत्ति ज्यादा परिमाण मे रही हो तो ज्ञान होने के वाद वह ज्यादा क्रोध तो निकल ही जायगा, उसमे क्रोध पैदा होगा, ऐसी वात भी नही। उसमे कोमलता ओर प्रेम का ही आविष्कार होगा। लेकिन किसी प्रसग से उसके आचरण मे कठोरता का आविष्कार अवश्य होगा और वह कठोरता सामनेवाले को खटकेगी भी।

उदाहरण के लिए विनोवाजी को ले। वचपन मे उनके स्वभाव मे क्रोध दिखाई देता था। आज उनमे कोमलता और प्रेम का आविष्कार अच्छी तरह दिखाई देता है। फिर भी प्रसग-प्रसग पर उनमे कठोरता, नि स्पृहता का आविष्कार दिखाई देता ही है। अज्ञ समाज को सिखावन देने के लिए, सुधारने के लिए ऐसी कठोरता की वीच-वीच मे जरूरत रहती है, ऐसा भी मान सकते है। फिर भी उनके स्वभाव मे वचपन मे यदि क्रोध-वृत्ति ज्यादा न होती तो सभव है, वे कठोर होना चाहते तो भी उतने कठोर न हो पाते। गाधीजी मे वचपन मे प्रेम-वृत्ति का ही उत्कर्ष था। उनमे जो कठोरता दिखाई देती थी, वह उनके जीवन की सिद्धान्त-निष्ठा के कारण थी। लेकिन प्रेम का उत्कर्ष होने के कारण वे किसी प्रसग पर चाह कर भी कठोर नही हो पाते थे।

मतलब यह है कि ज्ञानी पुरुष को ज्ञान होने पर भी उसके स्वभाव की जो एक विशेपता रहती है, जो एक खासियत रहती है, वह विलकुल नष्ट नही हो जाती। लेकिन इसका अर्थ यह कभी भी लिया नही जा सकता कि ज्ञान होने के वाद उसके पुराने स्वभाव के कारण वह कभी पाप-कर्म या अनुचित कार्य करेगा। पाप-कर्म करना ज्ञानी पुरुप के लिए विलकुल असभव है।

विनोवाजी ने इस श्लोक के पूर्वार्ध का यह अर्थ किया है कि ज्ञानी पुरुप की प्रकृति या स्वभाव, ज्ञान के कारण, ज्ञान का ही वन गया है। ज्ञान होने के पहले उसकी प्रकृति या उसका स्वभाव अज्ञान का था। इसलिए उसके कार्यो मे वह स्वभाव प्रकट होना स्वाभाविक ही है। किन्तु ज्ञान होने के वाद उसका अज्ञान नष्ट हो गया। अव उसके कार्यो

मे अज्ञान कैसे प्रकट होगा ? उसके कार्यो मे तो ज्ञान ही प्रकट होना चाहिए । इसलिए विनोबाजी उस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ ऐसा करते है कि 'ज्ञानी पुरुष भी'— यानी अज्ञानी पुरुष जैसे अपने अज्ञान-स्वभाव या प्रकृति के अनुसार चलते है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञानस्वभाव के अनुसार चलते है ।

ज्ञानेश्वर महाराज के मन मे भी यही अर्थ था । इस श्लोक के भाष्य मे वे लिखते है कि 'ज्ञानी पुरुष को भी अपने ज्ञान के बल पर मौज मे आकर इद्रियो का लालन-पालन नही करना चाहिए ।' वे पूछते है कि 'क्या सर्प के साथ खेल सकते है ? अथवा बाघ की सगति करे तो चल सकेगा ? या जहर पीकर उसे कोई हजम कर सकेगा ? खेलते-खेलते विनोद मे कही हमने आग लगा दी तो वह फिर बढती ही जायगी, हमारा उस पर काबू नही रहेगा । ऐसे ही विनोद मे, मजाक मे इद्रियो का लालन-पालन ज्ञान के घमड मे आकर करने लग जायँ तो इद्रियाँ हमे गिरा देगी । हमारा उसमे भला नही होगा । इसलिए ज्ञानी पुरुष अपने स्वभाव के अनुसार चलता है ।'

इसका मतलब यही हुआ कि वह अपने ज्ञानस्वभाव के अनुसार जीवन बितायेगा, इसलिए जीवन मे उसके मूल स्वभाव मे जो विशेषताएँ होगी, वे प्रसग-प्रसग पर कुछ परिमाण मे प्रकट होती रहेगी । उसके मूल स्वभाव के अनुसार जो भी चीजे प्रकट होती रहे, वे ज्ञानी पुरुष मे स्थित ज्ञान के खिलाफ नही चलेगी । यहाँ इतना ध्यान रखना जरूरी है कि ज्ञानी पुरुष का सारा आचरण अज्ञानी जनो के लिए आदर्शरूप, मार्गदर्शक होने के कारण उसकी कोई भी क्रिया अज्ञानमूलक नही रहेगी । वह सबके लिए अनुकरणीय होनी चाहिए । यदि ऐसा नही दिखाई देता तो उस ज्ञानी पुरुष को पूर्ण ज्ञानी नही समझना चाहिए । ज्ञानी पुरुष की कोई क्रिया नैतिक दृष्टि से विपरीत दिखाई दे तो निश्चित समझना चाहिए कि वह ज्ञानी नही, अपितु दभी पुरुष है । विनोबाजी कहते है, ज्ञानी की प्रकृति यानी स्वभाव ज्ञानमय होने से उसकी सब क्रियाएँ सहज होती है । उसमे कही भी कृत्रिमता दिखाई नही देती ।

(२) दूसरी बात यह कि सब लोग अपने-अपने स्वभाव के अनुसार बरतते रहते है । **प्रकृति यान्ति भूतानि**— यह गीता का मूल वचन है । शकराचार्य की स्वभाव की व्याख्या बहुत ठीक है । वे कहते है 'पूर्वजन्म मे किये धर्म और अधर्म के सस्कार वर्तमान जन्म मे जो दिखाई देते है, उसका नाम है प्रकृति यानी स्वभाव । इस स्वभाव के अनुसार प्राणीमात्र बरतते रहते है ।'

अब एक सवाल पैदा होता है कि आदमी को अपना स्वभाव या प्रकृति बदलने की स्वतंत्रता है या नहीं ? क्योकि पूर्वजन्म मे किये धर्म-अधर्मादि सस्कार इस जन्म मे प्रकट होते है और उसके अनुसार सब लोग चलते है, इसी तरह इस जन्म मे जो सस्कार इकट्ठे होगे, उसके अनुसार अगले जन्म मे कार्य चालू रहेगा, तो यह संस्कार या स्वभाव की गुलामी हो गयी । स्वभाव मे हमे परिवर्तन करना हो तो कर सकते है या नहीं, यह स्पष्ट नही होता, क्योकि सब लोग अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते रहते है ।

(३) तीसरी चीज यह बतला रहे है कि **निग्रहः किं करिष्यति** । किसी पर जबरदस्ती नही कर सकते यानी स्वभाव मे कुछ परिवर्तन नही कर सकते । तो फिर यह 'दैववाद' हो गया ? इसमे प्रयत्न के लिए कोई गुजाइश नही रही । इसलिए भगवान् को इसमे क्या कहना है, इसकी छानबीन करनी होगी ।

गीता के अठारहवे अध्याय के ६०वे श्लोक मे भगवान् कह रहे है कि 'अर्जुन, तुम्हारा जो स्वभाव है, उसके अनुसार जो तुम्हारे स्वाभाविक कर्म है, उससे तू बँधा है । मोहवश तू अभी जो करना नही

चाहता, उसे स्वभाव के वश होकर अवश्य करेगा।' इस श्लोक मे भी स्वभाव की प्रवलता वतायी है। परमात्मा की माया-शक्ति, जिसे 'प्रकृति' भी कहा जाता है, त्रिगुणात्मक है। सृष्टि के सारे पदार्थ तीन गुणो से वने है। कोई पदार्थ सत्त्वप्रधान, कोई रजोगुण-प्रधान, कोई तमोगुण-प्रधान है। हम अपने जीवन मे जिस गुण का उत्कर्ष करते है, उस पर हमारा सारा स्वभाव अवलवित रहता है। हमारा सात्त्विक, राजसिक या तामसिक जो भी स्वभाव है, उसमे परिवर्तन कर सकते है। यह स्वभाव-परिवर्तन सामान्यत धीमे-धीमे होगा, जोर-जवर-दस्ती से नही।

भगवान् ने यहाँ 'निग्रह' शब्द प्रयुक्त किया है, उसका दुहरा अर्थ लेना चाहिए। एक अर्थ है, समझ-पूर्वक सयम का पालन और दूसरा अर्थ है कोई चीज न जँचने पर भी मजवूर होकर करना। 'निग्रह' शब्द मे सयम का निषेध नही है। लेकिन हम निग्रह यानी सयम का जो भी अभ्यास करेगे, वह ज्ञान-पूर्वक होगा, समझ-पूर्वक होगा, वलात्कार-पूर्वक नही। तभी हम अपना राजस या तामस स्वभाव धीरे-धीरे सात्त्विक वना सकते है। तामस स्वभाव को एकदम सात्त्विक वनाना चाहे तो वह नही वन पायेगा। उसमे वलात्कार की सभावना रहेगी। किसीसे कुछ भी कार्य जवरदस्ती कराना चाहे तो उसकी प्रतिक्रिया अच्छी नही होती। दवकर वह उस समय कार्य करेगा, लेकिन वाद मे छिपकर उससे उलटी चीज करने मे प्रवृत्त होगा। अत जो भी कार्य जिस किसीसे करवाना हो, वह उसे समझाकर कराते है तो सफल होते है। सत तुलसी-दासजी कहते है

> **सठ सुधरहिं सतसगति पाई।**
> **पारस परसि कुधातु सुहाई॥**
> **विधिवस सुजन कुसंगति परही।**
> **फनि-मनि सम निज गुन अनुसरही॥**

—शठ सत्सग मिलने पर सुधरने लगता है, जिस तरह पारस मणि के स्पर्श से लोहा सोना वन जाता है। लेकिन किसी भी प्रसग से सज्जन कुसगति मे पडता है तो वह सर्प-मणि के समान अपना गुण नही छोडता। सर्प की मणि सर्प की सगति मे रहती है, लेकिन जहर उतारने का अपना गुण नही छोड़ती।

अपनी इद्रियो पर कावू पाने के लिए दो चीजो की जरूरत रहेगी एक सयम, दूसरा निग्रह। सयम और निग्रह के वारे मे विनोवाजी ने 'स्थित-प्रज्ञ-दर्शन' मे वहुत अच्छी तरह समझाया है 'इद्रिय-सयम हमेशा के लिए रहता है। वह जीवन का अग ही वन जाता है। उदाहरण के तौर पर मीठी चीज खाने की मुझे वडी रुचि है। उस पर विजय प्राप्त करनी हो तो कुछ समय के लिए मीठी चीज खाना छोड देता हूँ। उसमे हेतु यही है कि मीठी चीज खाने का आकर्षण कम हो जाय। मीठी चीज खाना कुछ दिनो के लिए छोड देना 'निग्रह' है। उस निग्रह के अभ्यास का मुझे यह फल मिलता है कि अव मै मीठी चीज खाता हूँ, लेकिन सयम से खाता हूँ। पहले जो असयमपूर्वक खाने की आदत थी, वह अव छूट गयी।'

वैसे ही आगे लिखते है 'मुझे वोलने की वहुत आदत है। अव मै कुछ सयम के लिए रोजाना निश्चित रूप से मौन रहता हूँ। उसमे मुझे वाणी के निग्रह का अभ्यास हो जाता है और इससे वोलने पर मुझे धीरे-धीरे कावू मिल जाता है। वाणी के निग्रह के अभ्यास से मेरे जीवन मे वाणी का सयम दाखिल हो जाता है। वाणी का सयम नित्य की चीज हो गयी।'

इस श्लोक मे 'निग्रह' शब्द वलात्कार के अर्थ मे आया है। अपने या दूसरे पर वलात्कार करना यानी जवरदस्ती करना। इस तरह वलात्कार या जवरदस्ती करने से आदमी का विकास रुक जाता है। निग्रह का ऊपर जो अर्थ दिया हुआ है, उससे लाभ होता है। उससे हमारे जीवन मे सयम आ

जाता है। निग्रह जब बलात्कार का रूप धारण करता है, तब वह अपने को और दूसरो को नुकसान पहुँचानेवाला बन जाता है।

एक सज्जन थे। वे नौकरी करते थे। थोडा-बहुत सेवा का कार्य भी करते थे। लेकिन सेवा के उतने कार्य से उन्हे समाधान न होता था। उनकी इच्छा ज्यादा सेवा करने की थी। मगर नौकरी छोडे बिना ज्यादा सेवा हो नही सकती थी और नौकरी वे छोड नही सकते थे।

आखिर नौकरी छोडकर पत्नी के साथ आश्रम मे आ गये। आश्रम मे दो-चार रोज रहे। इतने मे ही उन्हे मालूम हो गया कि नौकरी छोडकर एकदम आश्रम मे आ गये, यह ठीक नही किया। इस तरह जल्दबाजी करने मे गलती हुई। क्योकि उन्हे यह मालूम हुआ कि आश्रम मे रहने के लिए जो योग्यता चाहिए, वह अभी आयी नही है। खूब पछताये। वापस लौट गये। सुदैव से उन्हे वही नौकरी मिल गयी। नौकरी छोडने का उन्होने जो साहस किया, वह अपने पर बलात्कार था।

लेकिन कुछ सालो के बाद उन्हे लगा कि अब मैं नौकरी छोडकर सेवा-क्षेत्र मे हमेशा के लिए रह सकता हूँ, क्योकि नौकरी करते हुए वे अपनी तैयारी करते रहे। अपनी त्याग-शक्ति बढाते रहे। परिणाम यह हुआ कि अब जब वे नौकरी छोडकर सेवा-क्षेत्र मे आये तो स्थिर हो गये। फिर सेवा-क्षेत्र से लौट जाने की नौबत नही आयी।

गाधीजी ने साबरमती-आश्रम की स्थापना करके जनता के सामने बडा उदाहरण रखा। यम-नियम-पालन को अग्रेजो के जमाने मे कोई जानता नही था। गाधीजी ने उसकी साधना करने के लिए आश्रम की स्थापना की। आश्रम मे गृहस्थ भी थे। उनके बाल-बच्चे भी साथ रहते थे। लेकिन इस प्रयोग मे यह पाया गया कि बच्चो मे नियम-पालन की आदत तो डाली जाती थी, मगर उनके जीवन मे वे प्रविष्ट नही हो सके। उनके जीवन पर उनका कोई प्रभाव नही पडा। उन बच्चो मे से कोई लडका ब्रह्मचारी नही निकला। इतना ही नही, उनमे से अधिकाश लडके जन-सेवा के क्षेत्र मे न रहकर पैसा कमाने के पीछे पडे। आश्रम मे जो लोग ब्रह्मचारी थे, वे सब बाहर से आये हुए थे। उन्हे ब्रह्मचर्य की प्रेरणा आश्रम मे नही मिली। आश्रम मे मदद मिली, पोषण मिला।

लेकिन जो बच्चे दिन-रात आश्रम के शुद्ध वातावरण मे रहते थे, उन पर आश्रम के सिद्धान्तो का प्रभाव क्यो नही पडा, इसकी छानबीन करते है तब दो चीजे नजर आती है १ उन बच्चो के सस्कार त्याग की तरफ उतने नही थे, जितने होने चाहिए। २ यम-नियम का पालन करवाने मे बलात्कार ही हुआ। समझा-बुझाकर यम-नियमो का पालन करवाया गया, ऐसा वहाँ देखने मे नही आया।

वर्धा-आश्रम मे विनोबाजी का सत्याग्रहाश्रम का प्रयोग चलता था। वहाँ भी यही पाया गया कि जितना परिणाम इस प्रयोग मे से निकलना चाहिए था, उतना नही निकला। इसकी तह मे यही चीज पायी जाती है कि निग्रह का जीवन मे पूरा स्थान है। निग्रह के बिना जीवन नही बनता। निग्रह के अभ्यास से ही जीवन मे नित्य सयम दाखिल होने की सभावना है। अपनी प्रकृति को सात्त्विक बनाना है, अपने जीवन मे सत्त्वगुण का उत्कर्ष करना है, तो रजोगुण और तमोगुण को निग्रहपूर्वक छोडना पडेगा, इसमे कोई सन्देह नही। मगर निग्रह का रूपान्तर बलात्कार मे न होने पाये, इसलिए निग्रह का अभ्यास हमेशा ज्ञानपूर्वक होते रहना चाहिए। अपने मन को हमेशा समझा-बुझाकर हर कार्य करने की आदत डालनी चाहिए। आश्रम-जीवन हमेशा यम-नियमो से जकडा बँधा रहता है और रहना भी चाहिए। मगर यम-नियमो का पालन यत्रवत् करने पर मन को जो बोध मिलना चाहिए, वह नही मिलता और बोध के

अभाव मे वह यम-नियम-पालन हमेशा टिक नही पाता। जब तक वह सयम की तरफ प्रयाण करता है, तब तक निग्रह सुरक्षित है। लेकिन जब उसका प्रयाण बलात्कार के रास्ते होने लगता है, तब वह खतरनाक साबित होता है।

गाधीजी इस श्लोक की टिप्पणी मे लिखते है 'दूसरे अध्याय के ६१ से लेकर ६८वे श्लोक तक के श्लोको मे जो चीज भगवान् ने बतायी है, इससे विरोधी कोई चीज इस श्लोक मे भगवान् ने नही बतायी है। इद्रियो का निग्रह करते हुए हमे मर-मिटना चाहिए। मगर इद्रिय-निग्रह करते हुए यदि सफलता न मिले तो अपने ऊपर बलात्कार यानी जबरदस्ती नही करनी चाहिए। बलात्कार करना बेकार साबित होगा।' फिर वे लिखते है 'इस श्लोक मे निग्रह की निन्दा नही है। स्वभाव यानी प्रकृति की प्रबलता बतायी है। लेकिन कोई कहे कि मै क्या करूँ, मेरा तो यह स्वभाव बन गया है, तो वह मनुष्य इस श्लोक के अर्थ को ठीक-ठीक नही समझ रहा है। अपना स्वभाव क्या है, इसका पूरा पता तो स्वय को नही रहता। जो हमारी आदते रहती है वही हमारा स्वभाव है, ऐसा मानने की गलती हम न करे। इसलिए मन जब नीचे गिरने लगता है यानी झूठा रास्ता पकड लेता है तब उसके सामने होना हमारा कर्तव्य है। क्योकि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन यानी ऊँचे जाने का है।'

: ३४ :

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे=हर इन्द्रिय के हर विषय मे, **रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**=राग-द्वेष, काम-क्रोध अवश्य पैदा होनेवाले है,' **तयो वश**=उन राग-द्वेष के, काम-क्रोध के वश, **न आगच्छेत्**=नही होना चाहिए, **तौ अस्य**=क्योकि वे राग-द्वेष इस मनुष्य के, **परिपन्थिनौ**=कल्याण-मार्ग मे बाधा डालनेवाले चोर-डाकू है।

इस श्लोक मे तीन बाते बतायी गयी है

१ हरएक इद्रिय के विषय मे स्वभावत राग-द्वेष छिपे रहते है। विषय-सेवन मे वे राग-द्वेष प्रकट हो जाते है। २ इसलिए उन राग-द्वेष के, काम-क्रोध के अधीन हमे नही होना चाहिए। ३ क्योकि वे मनुष्य के कल्याण-मार्ग मे विघ्न डालनेवाले चोर-डाकू ही है।

(१) इंद्रियस्य इद्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। शकराचार्य कहते है कि पिछले श्लोक मे भगवान् ने कहा है कि प्राणीमात्र अपने स्वभाव, प्रकृति के अधीन रहते है, इसलिए किसी पर बलात्कार या जबरदस्ती करना असभव है। यह तो दैववाद हो गया यानी पुरुष के प्रयत्न के लिए कोई गुजाइश ही नही रही। इसलिए इस श्लोक मे भगवान् पहले बता रहे है कि इद्रियो का जब विषयो के साथ सम्बन्ध आता है, तब राग-द्वेष, काम-क्रोध, प्रीति-अप्रीति यह द्वन्द्व यानी दो प्रकार के भाव अवश्य पैदा होते है, उन्हे कोई टाल नही सकता। ऑख का विषय रूप है। लेकिन रूप देखते ही मन मे दो भाव पैदा होगे। सुन्दर रूप देखा तो प्रेम का भाव पैदा होगा और भद्दा रूप देखा तो नफरत का भाव। यह क्रिया इतनी जल्दी होती है कि हम उसे रोक ही नही पाते। रूप के साथ सम्बन्ध आते ही एकदम ये दो भाव पैदा हो ही जाते है। किसी सुन्दर फूल या पेड को देखते है, तो तुरत मन मे उसका आकर्षण पैदा होता है, लेकिन देखने मे जो फूल सामान्य है, पेड भी निकम्मा है, फल भी खाने योग्य नही, तो उसका आकर्षण पैदा नही होता। शब्द कान का विषय है। सगीत का जिसे ज्ञान नही, वह भी सुन्दर सगीत सुनेगा तो उसके मन मे उसके प्रति प्रेम होगा, आकर्षण होगा। वह गायन बार-बार सुना करे, ऐसा भाव मन मे होगा। लेकिन बेसुरा सगीत चल रहा हो तो सुनने की इच्छा नही होगी, सुनने से नफरत होगी। जीभ का विषय रस है। जो पदार्थ हमे रुचिकर

मालूम होता है, उसका मोह होकर उसे खाने या जरूरत से ज्यादा खाने मे प्रवृत्त होते है। मगर रसोई फीकी बनी हो तो खाने मे प्रेम नही रहता। हम या तो भोजन करना छोड देते है अथवा कम खाते है।

इस तरह पच ज्ञानेन्द्रियो के जो पॉच विषय है, उनमे राग-द्वेष पैदा करने की शक्ति भगवान् ने स्वाभाविक रूप से ही रखी है। जैसे लोह-चुबक मे लोहे को खीचने की शक्ति स्वाभाविक रूप से ही रहती है, वैसे ही विषयो मे राग-द्वेष, काम-क्रोध, प्रीति-अप्रीति पैदा करने की शक्ति स्वभावत ही है। इसीलिए उपनिषद् मे कहा है कि इद्रियो मे विषय श्रेष्ठ है—**इन्द्रियेभ्यः परा हि अर्थाः**।

गीता के इस अध्याय के ४२वे श्लोक मे विषयो से इद्रियो को श्रेष्ठ माना है—**इन्द्रियाणि पराणि आहुः**। उपनिषद्कार कहते है कि विषय इद्रियो से श्रेष्ठ है, क्योकि विषयो के विना इद्रियो का कोई उपयोग नही। दूसरी दृष्टि से यह भी कह सकते है कि इन इद्रियो के विना विषयो का कभी कोई उपयोग नही।

उपनिषद् का कथन सत्य है कि इद्रियो से विषय श्रेष्ठ है। विषय लोहचुम्बक की तरह है। विषय इद्रियो को खीचते रहते है। जब हमारे सामने विषय आता है, तब उसके वारे मे राग-द्वेष पैदा हो जाते है और तदनुसार हम अनुकूल या प्रतिकूल वर्ताव भी करते रहते है। उदाहरण के तौर पर हम किसी उदात्त विषय मे तल्लीन होकर गहरा चिन्तन कर रहे है कि सामने एक फल वेचनेवाला आ जाता है। उसके पास तरह-तरह के फल देखकर जी ललच जाता है। कुछ अच्छे फल खरीदते है और उस समय भूख हो या न हो, मुँह मे उन्हे डाल ही लेते है, कुछ खा भी लेते है। पहले फल खाने की न कल्पना थी और न इच्छा। मगर हम उस विषय के अधीन हो गये और फल-स्वरूप हमने उन फलो को खा लिया।

तुलसीदासजी कहते है

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।
दीप-सिखा सोइ परम प्रचंडा॥

—'वह परमात्मा मै हूँ यानी परमात्मा मेरा स्वरूप है, यह अनुभव मे आया और यह वृत्ति अखड रही तो वह मानो दीये की परम तेजस्वी ज्योति ही जल रही है।' लेकिन फिर वे लिखते है ·

इद्रिय द्वार झरोखा नाना।
तहँ तहँ सुर वैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बयारी।
ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

—'इद्रियो के दरवाजे मानो अनेक झरोखे है। उन दरवाजो पर देवता अपना स्थान जमाकर बैठे है। जब विषयरूपी वायु को बहती देखते है तब वे देवता इद्रियो के कपाट यानी दरवाजे खोल देते है।' वे फिर लिखते है

जब सो प्रभंजन उर गृह जाई।
तवहिं दीप विग्यान वुझाई॥
ग्रथिन छूटि मिटा सो प्रकासा।
वुद्धि विकल भइ विषय वतासा॥"

—'यह विषयरूपी पवन जब हृदयरूपी घर मे घुसता है तब तुरत ही वह मानव का विज्ञानरूप दिया वुझा देता है। भीतर की अज्ञानरूपी ग्रथि तो खुली नही, इतने मे ही विषयरूपी हवा ने उसके परमात्म-स्वरूप प्रकाश को वुझा दिया। विषयरूप पवन वहता रहा। अब फिर उस दिये को किस तरह जलाया जाय? वुद्धि हार जाती है।' वे फिर लिखते है

इद्रिय सुरन्ह न ग्यान सुहाई।
विषय-भोग पर प्रीति सुहाई॥

—'इद्रियो के देवता को कभी ज्ञान भाता नही। वे देवता हमेशा विषयोपभोग पर मुग्ध है, मोहित है।' फिर लिखते है ·

विषय समीर वुद्धिकृत भोरी।
तेहि विधि दीप की वार वहोरी॥

—'विषयरूपी वायु से जब हमारी बुद्धि हार जाती है तब फिर से ज्ञानरूपी दिया कौन जलायेगा ?' भगवान् कहते है कि विषय अपनी तरफ खीचकर इद्रियो को अपने वश कर लेते है, जिससे इद्रियो पर विषयो का ही स्वामित्व बना रहे। ये विषय ही आत्मज्ञान को ढाँकने के लिए हमेशा तत्पर रहते है।

(२) फिर कहते है **तयोर्न वशमागच्छेत्।** जिन्हे अपने कल्याण की इच्छा है उन्हे यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इन विषयो के अधीन हम कभी नही होगे। क्योकि—

(३) ये विषय **तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**— कल्याण-मार्ग से जानेवाले पुरुष के लिए परिपन्थी यानी रास्ते मे लूटनेवाले चोर-डाकू है। मार्ग मे लूटनेवाले चोरो का यह तरीका रहता है कि वे पहले मित्रता का व्यवहार करते है। ऐसा अनुभव कराते है कि हम परम मित्र है। लेकिन जहाँ हम शहर या गाँव से काफी दूर पहुँचे, वही वे अपना सही रूप प्रकट कर हमे पूरी तरह लूट लेते है। विषय भी ऐसे ही है। पहले वे अच्छे रूप मे हमारे सामने खडे होते है और जब वे देखते है कि मोक्ष की इच्छा करनेवाले इस साधक को हमारा आकर्षण हो गया, तब वे अपने जाल मे बराबर फँसाकर उस साधक को पटक देते है। शकराचार्य इस श्लोक के भाष्य मे कहते है :

शास्त्रार्थे प्रवृत्तः पूर्वमेव रागद्वेषयोः वशं न आगच्छेत्। या हि पुरुषस्य प्रकृतिः सा रागद्वेषपुरस्सरैव स्वकार्ये: पुरुषं प्रवर्तयति तदा स्वधर्मपरित्याग. परधर्मानुष्ठान च भवति। यदा पुनः रागद्वेषौ तत्प्रतिपक्षेण नियमयति तदा शास्त्रदृष्टिरेव पुरुषो भवति, न प्रकृतिवशः। तस्मात्तयोः रागद्वेषयोः वशं न आगच्छेत्। अर्थात् जो शास्त्र के अनुसार चल रहा है, उसे पहले से ही रागद्वेष के वश मे न होना चाहिए; क्योकि जो पुरुष की प्रकृति या स्वभाव है, वह राग-द्वेषयुक्त पुरुष को अपने कार्य मे प्रवृत्त करती है। उस समय स्वधर्म का छोडना और परधर्म का आचरण हो जाता है। लेकिन जब राग-द्वेष का प्रतिपक्ष-भावना यानी विरुद्ध-भावना से विवेक द्वारा पुरुष नियमन करता है, तब वह शास्त्र की आज्ञा के अनुसार चलनेवाला हो जाता है। वह पुरुष प्रकृति के, स्वभाव के वश नही होता। इसलिए राग-द्वेष के वश मे नही होना चाहिए।

शकराचार्य कह रहे है कि शास्त्र की आज्ञा से, सतो की आज्ञा से जिसका जीवन चल रहा है, उसे कभी राग-द्वेप, काम-क्रोध के अधीन न होना चाहिए। फिर एक नियम बताते है कि मनुष्य की जो प्रकृति या स्वभाव है, वह उसे राग-द्वेप के अधीन करके ही कार्य मे प्रवृत्त कराता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि हम उस कार्य मे अखड प्रवृत्त रहेगे, ऐसा नही कह सकते। जहाँ राग-द्वेप है, वहाँ फलासक्ति है ही। जहाँ फल इच्छा के अनुसार नही मिल रहा हो, वहाँ मनुष्य कार्य छोडने को ही प्रवृत्त होगा, यानी उस समय वह अपना स्वधर्म, स्वकर्म छोडने के लिए तैयार हो जायगा और जो अपना स्वधर्म नही है उसे करने मे प्रवृत्त हो जायगा। इसलिए आचार्य स्वधर्म न छोड़ने की चाभी बतला रहे है कि राग-द्वेष दूर करने के लिए उनके विरुद्ध भावना करनी चाहिए।

योगसूत्र मे १ मैत्री, २ करुणा, ३ मुदिता और ४. उपेक्षा इन चार प्रतिपक्ष भावनाओ का वर्णन है। सारी दुनिया के प्रति मित्रता का भाव रखा जाय तो मानापमान से जो दु ख होता है, वह आसानी से टल सकता है। करुणावृत्ति का विकास होने पर, क्रोध नही आता। मुदिता यानी आनन्द का अभ्यास किया जाय तो सृष्टि के प्रति दोपदृष्टि के बजाय गुणदृष्टि ही पनपेगी। फिर गुण देखकर मन मे आनन्द की भावना बढेगी। यदि उपेक्षाभाव यानी तटस्थभाव का अभ्यास किया जाय तो सृष्टि मे चल रहे पापाचरण और अन्याय को देखते हुए हम निराश न

होकर तटस्थ-वृत्ति रखेगे। इस तरह इन चार प्रतिपक्ष-भावनाओ का अभ्यास किया जाय, तो राग-द्वेप के अधीन होने से वचा जा सकता है। जव राग-द्वेप पैदा न होगे तव सहज ही हम शास्त्र तथा सतो की इच्छा के अनुसार चलेगे। राग-द्वेप के वश होने का अर्थ है अविवेक से चलना। राग-द्वेप मे हमारी प्रकृति मलिन हो जाती है। हम राग-द्वेप के अधीन होकर नही चलते, तो चित्त विशुद्ध रहता है। विशुद्ध चित्त मोक्ष पाने का यानी परम शाति का अनुभव करने का एकमात्र साधन है। इसलिए भगवान् कहते है कि राग-द्वेप के अधीन कभी नही होना चाहिए, क्योकि ये राग-द्वेप परिपथी यानी मार्ग के चोर-डाकू है। हम सवकी मुसाफिरी मोक्षरूपी मुकाम पर पहुँचने के लिए चल रही है।

: ३५ :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

स्वनुष्ठितात् परधर्मात्=सर्वगुणसम्पन्न परधर्म से, **विगुण· स्वधर्म· श्रेयान्**=गुणरहित स्वधर्म श्रेयस्कर है। **स्वधर्मे निधन श्रेयः**=स्वधर्म का आचरण करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है। **परधर्म· भयावह** =(लेकिन) पर-धर्म भयप्रद है।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी गयी है: (१) स्वधर्म मे कुछ कमी लगे, गुणहीनता लगे और पर-धर्म सर्वगुणसम्पन्न लगे तो भी स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। (२) स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु आये तो भी वह कल्याण करनेवाला है, ऐसा समझो। (३) पर-धर्म कितना भी गुण-सम्पन्न और पालन करने मे सुगम प्रतीत हो, वह भयकर यानी अहित-कारक, अवनति करनेवाला ही होता है।

(१) **श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्**। इस श्लोक का सव टीकाकारो ने जो अर्थ किया है और जो अर्थ सामान्य रीति से किया जाता है, वैसा अर्थ विनोवाजी ने नही किया है। उनका अर्थ भिन्न प्रकार का है। १८वे अध्याय के ४७वे श्लोक मे भी उपर्युक्त वचन आया है। विनोवाजी का कहना है कि वहाँ सामाजिक धर्म अपने स्वभाव के अनुसार करने के लिए भगवान् ने कहा है। मगर इस श्लोक मे व्यक्तिगत आतरिक स्वधर्म वताया है। इस अध्याय के १७-१८वे श्लोक मे ज्ञानी पुरुष का वर्णन है और कहा है कि ज्ञानी पुरुप आत्मतृप्त, आत्म-सतुष्ट होने से कर्म करे या न करे, उसके अपने लिए उसका कोई उपयोग नही। उसे अपने लिए जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त कर लिया है। वह पुरुप मुकाम पर पहुँच गया है। उसे अव अपने लिए कुछ करना नही है। अर्थात् लोगो के लिए वह अवश्य कर्म करेगा, मगर उसमे भी उसका कोई स्वार्थ नही रहेगा।

लेकिन जो ज्ञानी नही, अज्ञानी यानी साधक अथवा मुमुक्षु है, उसे अपना अज्ञान दूर करने के लिए आतरिक और वाह्य कर्म या साधना करनी पडेगी। वह साधक ज्ञानी पुरुषका अनुकरण करने लगे तो वह नही सधेगा, इसलिए वह चीज नही चलेगी। वह उसके लिए अनुचित होगा। अत उसकी साधना मे भले ही उसे अपूर्णता लगे, लेकिन वही उसके लिए श्रेयस्कर यानी कल्याण साधने-वाली है। वही उसका स्वधर्म है। ज्ञानी पुरुप का धर्म अज्ञानी के लिए अभी 'परधर्म' है। जव वह ज्ञानी वन जायगा, तव उसके लिए ज्ञानी पुरुप का धर्म 'स्वधर्म' वन जायगा। उसके खुद के लिए जो अभी स्वधर्मरूप है, वह भले ही उसे अपूर्ण लगे और ज्ञानी पुरुप का धर्म उसे परिपूर्ण लगे, फिर भी उसका अपने स्वधर्म मे ही मर-मिटना ज्यादा कल्याण-प्रद है। भावार्थ यह कि ज्ञानी पुरुष को किसी भी हालत मे वाह्य अनुकरण नही करना चाहिए।

विनोवाजी का यह अर्थ वहुत उत्तम है। किन्तु शकराचार्य, लोकमान्य तिलक अथवा गाधीजी ने

'अपना-अपना स्वकर्तव्य' यही सामान्य अर्थ किया है। वह भी ठीक है।

यह स्वधर्म निश्चित करने की कोई कसौटी तो होनी ही चाहिए ?

विनोबाजी ने एक पत्र मे इसका स्पष्टीकरण किया है "'कोऽहम्' का जवाव क्या मिलता है, इस पर 'स्वकर्तव्य' निर्भर है। लक्ष्मण ने अपने से यह प्रश्न पूछा। उसे भीतर से जवाव मिला 'राम-वधु अहम्'—मै राम का वधु हूँ। वह दशरथ का बेटा था, उर्मिला का पति और अनेक का अनेक था, पर उसका भीतर का जवाव 'मै राम का बधु हूँ' यही था। मान लीजिये, उसका जवाव 'मै दशरथ का बेटा' ऐसा आता तो वह राम के साथ वन मे न जाता और दशरथ की अनन्य भाव से सेवा करता रहता या भरत को राज्य-कारोवार मे मदद करता। उसका यह निर्णय और उस निर्णय के अनुसार उसका चलना गलत था, यह कौन कहेगा ? **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**—'सव धर्म को छोडकर मेरी शरण आओ'—यह गीता का वचन है, उसका मै यही अर्थ करता हूँ। मै अपनी अतरात्मा से पूछूँगा 'कोऽहम्' ? मै कौन हूँ ? इसका जो सहज उत्तर मिलेगा, फिर चाहे वह सदोष हो, मै उसी जवाव की शरण रहूँगा। वाकी सारे धर्म उसमे आ जाते है, ऐसा ही मानूँगा। मै ऐसा अनुभव करूँगा—इतना ही नही, और धर्म उसमे न आते हो तो न आये, ऐसी वृत्ति रखूँगा। यदि ऐसी दृष्टि न रखूँ तो विचार की शाखाओ का अत नही आयेगा और नाना कर्तव्यो का घोटाला हो जायगा। कोई भी एक चीज पूरी नही होगी। जीवन मे चाचल्य रहेगा। कोई ध्येय नही सधेगा।"

मान लो, एक गृहस्थ है। उसकी पत्नी और चार वच्चे हैं। सरकारी नौकर है। उसे २०० रुपये तनख्वाह मिलती है। विनोबाजी के भूदान-आन्दोलन मे उसने नौकरी छोड दी, क्योकि उसके विचार मे परिवर्तन हुआ। भूदान-समिति से उसे १५० रुपये तनख्वाह मिलती रही। किसी कारण १५० रुपये मिलना वन्द हो गया। अव उसका स्वधर्म क्या हो सकता है ? क्या वह भूदान का कार्य छोडकर कुटुम्ब के पोपण के लिए पुन नौकरी करे ? वह कुटुम्व की उपेक्षा नहीं कर सकता। लेकिन जव वह नौकरी करता था, तव कुटुम्व-पोपण ही उसने अपना स्वधर्म मान लिया था। विचार-परिवर्तन के वाद जव उसने सरकारी नौकरी छोड दी तो यह समझना होगा कि कुटुम्व-पोपण उसका गौणधर्म हो गया और भूदान-कार्य करना ही उसका स्वधर्म हो गया। १५० रुपये वन्द होने से जो परिस्थिति पैदा हुई, उसका मुकावला भूदान-कार्य छोडकर तो नही किया जा सकता। तो, उसे क्या करना चाहिए ? अव उसे कुछ मित्रो से विनती करके सहायता प्राप्त करने की कोशिश करनी होगी। पत्नी भी कुछ काम करके स्वावलवी वनने की कोशिश करे। वडा लडका हो तो वह भी कुछ परिश्रम कर कमाने की कोशिश करे। ब्रह्मचर्य व्रत लेकर कुटुम्व-वृद्धि वन्द करे। कुछ खर्च कम कर जीवन अधिक सादा और अपरिग्रही वनाये। भूदान या सार्वजनिक सेवा का कार्य ही जव स्वधर्म वना लिया, तव ईश्वर समय-समय पर कसौटी करेगा ही। ईश्वर से वह प्रार्थना करेगा कि वह उसे स्वधर्म-पालन मे दृढ रखे और अधिक वल प्रदान करे। परिवार के प्रति अपना भार, जो उसका गौण-धर्म है, ईश्वर पर छोड देगा। 'ईश्वर ने अनेक को अव तक मदद पहुँचायी है तो मुझे भी वह मदद पहुँचायेगा' इतना विश्वास उसके मन मे रहना चाहिए। मतलव यह कि स्वधर्म-पालन किसी भी स्थिति मे नही छोडा जा सकता।

(२) **स्वधर्मे निधनं श्रेयः**। फिर भगवान् वताते है कि स्वधर्म या स्वकर्तव्य इतनी श्रेष्ठ वस्तु है कि उसका पालन करते हुए मृत्यु आये तो

भी उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए । ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि 'दूसरो के अच्छे घर देखकर यदि हम अपनी झोपडी नष्ट कर दे तो कैसे चलेगा ? पत्नी फूहड हो तो भी उसीके साथ गृहस्थी करनी चाहिए। इसलिए चाहे जितनी अडचने आये और स्वधर्म का आचरण कितना ही मुश्किल मालूम दे, तो भी उसीके पालन मे अत मे सुख-प्राप्ति होगी'।

(३) तीसरी बात है **परधर्मो भयावह.** । भगवान् कहते है कि स्वधर्म छोडकर परधर्म का पालन करना हानिकर ही साबित होगा । स्वधर्म-पालन मे इच्छा-वासनाओ का क्षय होने की सभावना रहती है । परधर्म मे वह सभावना नही, क्योकि स्वधर्म प्रवाह-पतित होता है । उसमे इच्छा का कोई प्रश्न नही । अपनी इच्छा से जब किसी चीज का चुनाव करते है, पसन्द करते है, ग्रहण करते है, तब उसीसे प्रेरित होकर हमने अपना कर्म प्रारम्भ किया, ऐसा समझे । मगर स्वधर्म मे चुनाव की गुजाइश नही होती। वह पहले से ही अपने आप पास आया रहता है । इसलिए उसका पालन कठिन है या आसान, यह सवाल ही पैदा नही होता । वह आसान है, यह सोचकर हम उसका पालन करते है या वह गुणवान् है, यह सोचकर उसका पालन करते है, ऐसी बात नही । वह सहज ही आया होता है। वह सत् रहता है, असत् नही । सत् होने से वह सात्त्विक ही होता है, इसलिए चित्त के इच्छा, वासना, महत्त्वाकाक्षा, अहकार आदि विकारो को क्षीण करने मे उससे बडी सहायता मिलती है । लेकिन स्वधर्म छोडकर परधर्म का पालन करते है तो यह बिलकुल ही स्पष्ट है कि हम किसी चीज का चुनाव कर रहे है, उसे पसन्द कर रहे है यानी इच्छा से प्रेरित होकर उसका पालन करना चाहते है । कर्म की शुरुआत मे ही जहाँ इच्छा का बीज बोया गया, वहाँ तो इच्छा ही पनपती है। इच्छारूपी बीज को रोजाना पोषण मिलता रहता है । उस चुने, पसन्द किये कर्म मे हमारी आसक्ति बराबर जम जाती है और हम निरीच्छ, अनासक्त बनने के बजाय इच्छा-लोलुप, ससारासक्त, महत्त्वाकाक्षी, तथा अहकारी बनते जाते है । इस तरह स्वधर्म छोडकर परधर्म के पालन मे हमारा पतन ही होगा और वह जारी रहेगा । इच्छा के अधीन होकर हमने जहाँ कर्म का चुनाव करके स्वधर्म छोड दिया, वहाँ चुने हुए कर्म मे भी हम निष्ठापूर्वक कायम रहेगे, इसका कोई निश्चय नही । इच्छा हमे हमेशा ठगती रहती है । हमेशा बदलते रहना इच्छा का स्वरूप है। इच्छा के अधीन होकर जब तक कर्म का चुनाव करते रहते है, तब तक उस पर कायम नही रह सकते । इच्छा का स्वभाव है कि अमल मे आने पर उसकी तृप्ति हो जाती है । इच्छा की तृप्ति हो जाने पर फिर उस कर्म को यानी उस स्वधर्म को छोडकर अन्य कर्म करने की इच्छा होना, यही इच्छा का धर्म है।

इच्छा कभी स्थिर नही रहती । अस्थिरता ही इच्छा का महान् अवगुण है। तुलसीदासजी एक भजन मे कहते है

जे लोलुप भये दास आस के, ते सबही के चेरे ।
प्रभु बिस्वास आस जीति जिन्ह, ते सेवक हरि केरे ।।

—'जो लोग विषय लोलुप, मुग्ध होकर, आसक्त बनकर आशा या इच्छा के दास बनते है, वे सबके दास है । जैसा नचायेगे, वैसे वे नाचेगे। लेकिन ईश्वर-श्रद्धा से आशा को जिन्होने जीत लिया, वे हरि के सेवक है।' इच्छा ही मनुष्य से परधर्म का आचरण कराती है। इसलिए जिस किसीको स्वधर्म-रत रहना है, उसे हमेशा इच्छारहित, निरीच्छ होकर स्वधर्म-पालन करने का लक्ष्य रखना चाहिए, तभी वह उसमे सफल होगा । लेकिन परधर्म का पालन भयावह है। दूध और शक्कर मधुर है, मगर जिनके पेट मे कृमि हो, उन्हे वह किस काम का ?

अर्जुन के मन मे प्रश्न उठता है कि पापकर्म

करना न चाहते हुए भी मनुष्य पाप-कर्म कर बैठता है। इच्छा न रहते हुए भी यह पाप-कर्म कौन कराता है? उसके लिए कौन जिम्मेदार है?

: ३६ :

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष. ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित. ॥

वार्ष्णेय=हे कृष्ण (वृष्णि-कुल मे उत्पन्न), **अथ केन प्रयुक्त.**=अब किससे प्रेरित होकर, **अय पूरुषः अनिच्छन् अपि**=यह मनुष्य इच्छा न होते हुए भी, **बलात्**=मजबूर होकर, **नियोजित इव**=मानो नियुक्त किया हुआ, **पाप चरति**=पाप-कर्म करता हे?

यो तो इस श्लोक मे अर्जुन ने एक ही प्रश्न पूछा है। मगर एक प्रश्न मे चार वाते आती है (१) किससे प्रेरित होकर, किसकी प्रेरणा से? (२) इच्छा न होते हुए भी, यानी इच्छा के खिलाफ। (३) मजबूर होकर ही मानो नियुक्त किया गया हो। (४) हम पाप-कर्म कर बैठते है, यह कौन है?

(१) **अथ केन प्रयुक्त. अयं पूरुष·**—यह मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप-कर्म मे प्रवृत्त होता है?

(२) **अनिच्छन्नपि**—इच्छा न होते हुए भी। यह मुख्य वात है। अपनी इच्छा से जब आदमी पापकर्म, कुकर्म करता है तब कोई सवाल नही रहता। क्योकि पापकर्म करने की मन मे इच्छा है, इरादा है, इसलिए आदमी पापकर्म करता है, वही निमित्त है। लेकिन इच्छा बिलकुल नही रखता, फिर भी आदमी से पापकर्म या पापाचरण हो जाता है, तो उसका कारण क्या है, यह प्रश्न सहज ही उठता है।

(३) **बलात् नियोजितः इव**—मानो भीतर से कोई दबाव डाल रहा है, कोई धक्का दे रहा है, कोई नियुक्त कर रहा है, इस तरह।

(४) **पापं चरति**—मनुष्य पाप कर बैठता है। अर्जुन ने इस श्लोक मे जो प्रश्न पूछा है, वह सबके अनुभव मे कम-ज्यादा परिमाण मे आता ही है। ज्ञानेश्वर महाराज लिखते है कि जो सर्वज्ञ हो चुके और उपाय भी जानते है, फिर भी वे परधर्म मे किस तरह फँस जाते है? क्या कारण है कि वे परधर्म का आचरण करते है? जिस प्रकार अधा आदमी अनाज और भूसे को अलग नही कर सकता, वैसे ही जिसे आँखे है, वह भी कभी-कभी दोनो को अलग न देख सके, यह कैसे? इतना ही नही, जो विषय-सग को छोड बैठे है, वे ही विषय-सग करने से अघाते नही। जो जगल मे रहना पसन्द करते है, वे ही फिर जन-समुदाय मे आकर बसते है। खुद पापकर्म से बचते है, लेकिन फिर उसीमे फँस जाते है। यह कैसे होता है, कृपा करके कहिये, ऐसी प्रार्थना अर्जुन भगवान् से कर रहा है।

: ३७ :

श्री भगवान् उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव. ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

एष· काम.=यही काम यानी इच्छा है और, **एष क्रोध.**=यही क्रोध है, **रजोगुणसमुद्भवः**=रजोगुण से पैदा हुआ है, **महाशन· महापाप्मा**=बहुत खानेवाला है, महा-पापी है, **इह**=इस ससार मे, **एनम्**=इस काम, क्रोध को, **वैरिण विद्धि**=(मोक्षमार्ग का) शत्रु समझो।

इस श्लोक मे पाँच वाते है· (१) इच्छा न होते हुए जो आदमी से पाप कराता है, वह इच्छा और क्रोध ही है। (२) रजोगुण से यह पैदा हुआ है। (३) यह बहुत पेटू है। (४) यह महापापी है। (५) और मोक्षप्राप्ति मे शत्रु के समान बाधक है।

(१) **काम एषः क्रोध एषः**—अर्जुन प्रश्न पूछता है कि इच्छा न होते हुए भी बलात्कार से,

मजबूर होकर हम पापकर्म मे घसीटे जाते है, यह कैसी बात है ? यह पापकर्म कौन करवाता है ? भगवान् जवाब देते है कि हमे ऐसा जो लगता है कि हमारी इच्छा न होते हुए भी हम पापकर्म मे घसीटे जाते है, वह गलत है। हमारे मन मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध इन पाँच विषयो को भोगने की जो सूक्ष्म इच्छा रहती है, वही हमसे बुरा अथवा अनुचित कर्म करवाती है। हम इच्छा से प्रेरित होकर ही बुरा कर्म करते हैं। इच्छा के बिना अनुचित कार्य कर ही नही सकते। हमारे मन मे नाना प्रकार की इच्छाएँ होती है। वे ही समय-समय पर हमे तग करती है और पाप-कर्म करवाती है।

सोचने की बात है कि भगवान् ने काम और क्रोध को दो भिन्न चीजे नही कहा है। भगवान् कहते है कि जो काम है, वही क्रोध है। दूसरे अध्याय के ६२वे श्लोक मे कहा है कि विषयो का ध्यान करने से उनके प्रति मन मे आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्ति पैदा होने से उस विषय को प्राप्त करने की इच्छा यानी काम पैदा होता है और काम से क्रोध पैदा होता है।

विनोबाजी ने यह अर्थ लिया है कि काम मे ही क्रोध निहित है। इस अध्याय के इसी श्लोक के साथ विनोबाजी ने अनुसधान रखते हुए यह अर्थ किया है कि काम से क्रोध भिन्न नही है। काम ही क्रोध है। काम-क्रोध के लिए दूसरे नाम है राग और द्वेष और इच्छा-द्वेष। ये शब्द भी गीता मे इस्तेमाल किये गये हैं। सातवे अध्याय के २७वे श्लोक मे **इच्छा-द्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत** इस प्रकार जिक्र है। १३वे अध्याय के छठे श्लोक मे **इच्छा द्वेषः सुखं दुःख संघातश्चेतना धृतिः** का उल्लेख है। शकराचार्य लिखते है

कामः एषः सर्वलोकशत्रुः यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनां सः एषः कामः प्रतिहतः केनचित् क्रोधत्वेन परिणमते। अतः क्रोधः अपि एषः एव। अर्थात् 'काम सबका शत्रु है। इसीके कारण सब लोगो को अनर्थ की प्राप्ति होती है। यह काम जब किसी कारण से बाधित होता है, तब वह क्रोध मे बदल जाता है। इसलिए क्रोध भी काम ही है।'

मतलब यह कि काम और क्रोध दो अलग चीजे नही है। काम अतृप्त रहेगा तो तृष्णा पैदा होगी और काम-तृप्ति मे रुकावट आयी तो क्रोध पैदा होगा। जब काम तृप्त होता है तब लोभ बढ जाता है। यानी काम-क्रोध की तरह तृष्णा पैदा होती है। यानी काम से लोभ भी पैदा होता है। मूलवृत्ति एक ही है। इसीका नाम **काम** है।

'स्थितप्रज्ञ-दर्शन' ग्रथ मे विनोबाजी ने इस बात को स्पष्ट किया है। काम यानी चित्त मे पैदा होनेवाला क्षोभ, खलबली। यह क्षोभ क्यो पैदा होता है ? विनोबाजी कहते है कि 'परिपूर्ण परमात्मा ही हमारा स्वरूप है। लेकिन हम देह, इद्रियाँ, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप समझकर पूर्ण होते हुए भी अपने को अपूर्ण मानते है। इसी अपूर्णता के भान के कारण हमे हमेशा चित्त मे क्षोभ, खलबली और अशाति का अनुभव होता रहता है।' 'महत्त्वाकाक्षा' शब्द का अर्थ बताते हुए विनोबाजी कहते है कि 'महत् की आकाक्षा मन मे होना ही महत्त्वाकाक्षा है।' यह महत् की आकाक्षा क्यो पैदा होती है ? तो विनोबाजी बताते है कि 'हम दरअसल महत् यानी महान् है यानी जो महान् परमात्मा है वही हम है, यह हमारे ध्यान मे नही रहता। इसलिए हम अपने को छोटा समझ कर महान् यानी बडे होने की आकाक्षा करते है और बडे होने की इच्छा मे रुकावट आती है, तो क्रोध पैदा होता है।' लेकिन विनोबाजी कहते है 'इच्छा पैदा होते ही मन मे जो क्षोभ पैदा होता है, वही क्रोध है। क्षोभ जब सौम्य रहता है तब वह बाहर प्रकट नही होता, मगर जब बढ जाता है, तब वह बाहर प्रकट होने लगता है। तब उसे **क्रोध** कहते है।"

पतजलि ने योगसूत्र[1] मे साधनपाद के तीसरे सूत्र मे पॉच क्लेश बताये है १ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेप और ५ अभिनिवेश। ये पाँचो क्लेश दु ख देनेवाली चीजे है। इसमे राग और द्वेष को भिन्न माना है। गीता मे राग-द्वेप को एक ही वृत्ति कहा गया है। जब काम, क्रोध या राग, द्वेप का अर्थ समझाना होता है तब दोनो को भिन्न समझकर ही समझाना पडता है। राग, द्वेप, काम, क्रोध पैदा होने का मूल कारण अविद्या है, ऐसा योग-सूत्रकार बतला रहे है। देह को आत्मा समझना, यह 'अविद्या' यानी मूल अज्ञान हुआ। उसमे से 'अस्मिता' यानी अहकार का प्रवाह शुरू हो जाता है। अविद्या को नदी का उद्गमस्थान समझ ले तो अस्मिता नदी का प्रचड प्रवाह है और उसमे राग, द्वेप, काम, क्रोध की प्रचड लहरे पैदा होती है। अहकाररूपी प्रवाह मे 'अभिनिवेशरूपी' छोटा-बडा भॅवर पैदा होता है और उसमे जीव फँस जाता है। अभिनिवेश यानी जीने की आसक्ति।

इस तरह अज्ञान से जो अभिमान या अहकार का सतत प्रवाह जीवन मे शुरु हो जाता है उसमे से राग-द्वेप की लहरे पैदा होती है। योगसूत्रकार ने राग-द्वेप की बहुत अच्छी व्याख्या की है। वे कहते है **सुखानुशयी राग**· यानी सुख देनेवाले पदार्थो मे काम की आसक्ति का नाम 'राग' यानी 'काम' है और दु ख देनेवाले पदार्थो मे क्रोध की आसक्ति का नाम 'द्वेप' या 'क्रोध' है। किसीके द्वारा स्तुति करने पर मन मे यही कामना होती है कि लोग इसी तरह मेरी स्तुति करते रहे और कोई निन्दा या अपमान करने लगे तो क्रोध होने लगता है और उसमे से ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर पैदा होने लगते है। अनुकूलता मे वृत्ति तृष्णासक्ति को नही छोडती और प्रतिकूलता मे वृत्ति क्रोधासक्ति को नही छोडती।

(२) **रजोगुणसमुद्भवः**। यह दूसरी बात कही गयी। एक अर्थ यह किया जाता है कि काम रजोगुण से पैदा होता है और दूसरा अर्थ यह किया जाता है कि काम रजोगुण पैदा करनेवाला है। दोनो अर्थ ठीक है। सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण स्वभाव यानी प्रकृति मे निहित है। इन तीन गुणो के दो वर्ग कर सकते है। एक वर्ग मे सिर्फ सात्त्विक गुण आता है और दूसरे वर्ग मे रजोगुण और तमोगुण। रज और तम दोनो गुण ऐसे है कि इनके साथ जब तक सम्बन्ध रहेगा तब तक काम का क्षय सभव नही। दोनो काम के पोपक है।

हमारे शरीर की उत्पत्ति ही काम से होती है। इस कारण शरीर, मन, इद्रियो मे यह काम बाल्यावस्था से ही रहता है। इतना अवश्य है कि बाल्यावस्था मे वह सुप्त रहता है और युवावस्था मे प्रकट होने लगता है। कारण जिनके पूर्वजन्म के सयम के सस्कार प्रबल रहते है वे ब्रह्मचारी रहते है। लेकिन उनमे भी काम-विकार तो पैदा होता ही है। काम-विकार कम-ज्यादा परिमाण मे ब्रह्मचारियो मे भी होता है। मगर सयम के सस्कार उनमे इतने प्रबल रहते है कि वह काम-विकार औरो की तरह उन्हे गिरा नही पाता। फिर भी काम-विकार का स्पर्श उन्हे हो ही जाता है। उसमे से उन्हे गुजरना पडता है। काम-विकार के साथ बराबर युद्ध करके आखिर मे उस पर वे विजय प्राप्त कर लेते है। विजय मिलने तक वे चैन से नही बैठ सकते।

इस काम से यानी रजोगुणी क्रिया से जो सन्तति होगी, उसमे काम-विकार का बीज बोया ही जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि काम-विकार माता-पिता के रजोगुण के कार्य से पैदा होता है और वह काम-विकार रजोगुण को पैदा करता है और उसमे से फिर काम पैदा होता है—इस तरह सृष्टि का चक्र चलता रहता है। समस्त इच्छा-वासनाओ मे स्त्री-पुरुप-विषयक काम यानी वासना बहुत ही प्रबल पायी जाती है। प्रजा उत्पन्न करने

---

१ देखिये, लेखक की 'जीवन-साधना' (योगसूत्र-भाप्य) पुस्तक साधनपाद, सूत्र ३—११।

की क्रिया बहुत महत्त्व की क्रिया होने से वहाँ भगवान् ने आकर्षण ज्यादा रखा है, यह ठीक ही है। मगर उस क्रिया को लोगो ने भोग का साधन, सुख का साधन बना दिया, यह उस प्रजोत्पत्ति की क्रिया का दुरुपयोग है। इससे शारीरिक और मानसिक हानि होती है।

(३) **महाशनः**। तीसरी बात यह बतायी कि यह काम बडा पेटू है यानी उसे खुराक बहुत चाहिए, थोडे मे उसका सतोष नही होता। उसके अधीन होने के मानी है अपने को नष्ट करना। काम के अधीन होने से काम छाती पर बैठता है। वह हमे बराबर नचाता है। कोई ब्रह्मचारिणी बहन सार्वजनिक सेवा-कार्य मे मग्न है। किसी सत्पुरुष का उसे सग मिल जाता है। उस सत्पुरुष के सत्सग मे उसे आनन्द आने लगता है। उस सत्पुरुष पर उसकी श्रद्धा हो जाती है। उस सत्पुरुष के बारे मे उसके मन मे बहुत भक्ति-भाव पैदा होता है। भक्ति-भाव का परिणाम यह होता है कि वह बहन उस सत्पुरुष की सेवा करने लगती है। सेवा करते-करते भक्ति का रूपान्तर उस सत्पुरुष की देह की आसक्ति मे हो जाता है। काम बहुत चतुर है। वह पहले भक्ति के रूप मे रहेगा और फिर भक्ति का रूपान्तर आसक्ति मे कर देगा। जब आसक्ति ठीक-ठीक जम जाती है तब काम अपना असली रूप प्रकट कर देता है। भक्ति का स्थान देहासक्ति ले लेती है।

अब उस बहन के मन मे भक्ति न रहकर उस सत्पुरुष के प्रति आसक्ति पैदा हो गयी। आसक्ति के चक्कर मे वह आ गयी। अब स्त्री-पुरुष-सहवास मे मर्यादा न रही। वह पुरुष भी उसके चक्कर मे आ जाता है। दोनो को यह भान नही रहता कि समाज मे जब हम रहते है तो सामुदायिक नीति के भी कुछ नियम होते है। सत तुलसीदासजी लिखते है

> **खल कामादि निकट नहि जाही।**
> **बसइ भगति जाके उर माही॥**
> **गरल सुधा सम अरि हित होई।**
> **तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥**

अर्थात् जिनके मन, हृदय मे परमात्म-भक्ति निवास करती है, उनके पास काम आदि दुष्ट विकार कभी फटकते नही। उनके लिए तो जहर अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान कल्याणकारी हो जाते है। ऐसी जो राम-भक्तिरूपी चितामणि है, वह हाथ मे लगे बिना कोई अखड सुख प्राप्त नही कर सकता।

(४) **महापाप्मा**– यह काम महापापी है, क्योकि यह सबको गिरा देता है।

(५) इसलिए पाँचवी बात यह है कि इस काम को वैरी यानी शत्रु समझो। दर्शन अथवा वेदान्त का यह महत्त्व का सिद्धान्त है कि मोक्ष कोई प्राप्त करने की चीज नही। वह तो हमेशा हमे प्राप्त है। मोक्ष ही हमारा स्वरूप है। यदि हमारा स्वरूप मोक्ष नही तो उसे बधन ही मानना पडेगा। किसीका स्वरूप कभी नष्ट नही होता तो फिर वह बन्धन भी कभी नष्ट न होगा। जो विनाशधर्मा है, वह हमारा स्वरूप नही हो सकता। बधन दुखरूप होने से उसे नष्ट करने के लिए ही सारी साधना है। हमारा स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो अखड रहे। वह स्वरूप मोक्ष ही हो सकता है।

फिर यह सवाल खडा होता है कि यदि मोक्ष ही हमारा स्वरूप है तो हमे उसका अनुभव क्यो नही आता? कारण यही है कि किसी स्वच्छ स्फटिक-मणि के पास एक लाल फूल रख दिया हो तो वह स्फटिक-मणि अतिनिर्मल, सफेद होते हुए भी लाल लगेगी। वैसे ही हमारे नजदीक देह, मन, बुद्धि, इद्रियाँ होने से वही हमारा स्वरूप है, ऐसा लगने लगता है। हम परमात्म-स्वरूप होते हुए भी उसका ज्ञान, उसकी पहचान न होने मे 'देह आदि सघात यानी समूह हमारा स्वरूप है'

ऐसा लगने के कारण उसमे देह की ओर से जो काम, क्रोध आदि भेदबुद्धि से उत्पन्न विकार पैदा होते है, वे हमे पूरी तरह घेर लेते हैं और अपने स्वरूप की पहचान नही करने देते । इसलिए मुक्त होते हुए भी हमे मुक्ति का अनुभव नही आता । काम-शक्ति और उसका क्रोध, लोभ, तृष्णा, मोह, आसक्ति आदि परिवार मुक्ति को ढँक लेता है । इसलिए मोक्ष का यानी हमारे अपने स्वरूप का शत्रु काम है, ऐसा समझकर इन विकारो के जाल मे कभी मत फँसो, यह भगवान् कह रहे है ।

: ३८ :

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

यथा धूमेन=जैसे धुएँ से, **वह्नि आव्रियते**=अग्नि ढँक जाती है, **च यथा**=और जैसे, **मलेन आदर्श आव्रियते**=धूल से दर्पण आच्छादित होता है, **यथा उल्वेन गर्भ आवृत** =और जैसे जेर मे गर्भ ढँका रहता है, **तथा तेन**=वैसे ही काम-क्रोधादि विकारो से, **इद आवृत**=यह ज्ञान, आत्मज्ञान, मोक्ष ढँका हुआ है ।

इस श्लोक मे भगवान् ने यो तो एक ही बात कही है कि ज्ञान भीतर ही है । मगर वह काम से ढँका रहता है, इसलिए उसका अनुभव नही होता । उसके लिए तीन उदाहरण दिये (१) धुएँ से जिस प्रकार अग्नि ढँक जाती है, (२) धूल से दर्पण ढँक जाता है, (३) और जेर से गर्भ ढँक जाता है । इसी प्रकार आत्मज्ञान यानी मोक्ष काम आदि से ढँक जाता है ।

(१) ज्ञान को काम किस तरह ढँक देता है, यह भगवान् पहले बता रहे है—**धूमेन आव्रियते अग्नि.** । धुएँ से जैसे अग्नि ढँक जाती है, वैसे ही सात्त्विक पुरुष के ज्ञान को काम ढँक देता है । धुएँ से जो अग्नि ढँकती है, वह पूरी तौर से नही ढँकती, धुएँ के साथ अग्नि की ज्वाला भी दिखाई देती है । अग्नि पर धुएँ का आवरण घना नही रहता । सात्त्विक पुरुष मे भी काम, क्रोध आदि विकार रहते है, मगर वे प्रबल नही, दुर्बल रहते हैं । धुएँ को हटाने मे हमे बहुत मेहनत नही उठानी पडती, आसानी से उसे हटा देते है । सत्त्वगुण काम का सहयोगी नही, विरोधी गुण है । सात्त्विक पुरुष का लक्षण है कि उसके चित्त मे काम सूक्ष्म-रूप से पैदा हो, तो भी वह उसे बरदाश्त नही कर पाता । स्त्री-विषयक विकार तो स्थूल विकार हैं । नाना प्रकार की इच्छाएँ भी ज्ञान को ढँक देती है । सार्वजनिक सेवा मे लगे कार्यकर्ताओ के मन मे भी कीर्ति और प्रतिष्ठा की इच्छा, लालसा रहती है । मगर मोक्ष की दृष्टि से किसी भी प्रकार की इच्छा-लालसा, या वासना मोक्ष की विरोधी है । जिसे आत्मानुभव प्राप्त करना है, उसे इच्छा-मात्र का त्याग करना चाहिए । ईश्वर की इच्छा मे चलना ही इच्छा से मुक्त होने का साधन है । ऐसे सात्त्विक पुरुष मे काम अग्नि मे धुएँ की तरह रहता है । अग्नि मे धुएँ को हटाने मे कोई कष्ट नही होता, वैसे ही सात्त्विक पुरुष की इच्छाओ को दूर करना बहुत कठिन नही है ।

(२) दूसरा दृष्टान्त है—**यथा आदर्श. मलेन** शीशे का, दर्पण का । दर्पण पर जमी धूल निकालने मे देर लगती है । धूल चिपक गयी हो तो शीशे को घिसना पडेगा । रजोगुणी पुरुष मे काम इस प्रकार रहता है कि उसे हटाने मे कष्ट होता और समय लगता है । रजोगुणी पुरुष का आत्मज्ञान शीशे पर जमी धूल की तरह ढँका रहता है । उसका चित्त सदा चचल रहता है । चचल चित्त मे इच्छा, वासनाएँ तीव्रता से पैदा होती है और पनपती रहती है । भाग-दौड रजोगुण का स्वभाव है । तीव्र इच्छाओ से आदमी नाना झझटो मे पडता है । उससे लोभ पैदा होता है ।

एक व्यापारी कह रहे थे कि जब हम व्यापार शुरू करते है तो मन मे कल्पना होती है कि पचास हजार रुपये मिल जायँ तो सतोष रहेगा । पचास

हजार रुपये मिलते ही एक लाख रुपये कमाने की इच्छा, एक लाख मिलने पर १० लाख की इच्छा, दस लाख मिलने पर पचास लाख और पचास लाख मिलने पर एक करोड माने की इच्छा हो जाती हैं। इस तरह इच्छा आदमी को अपने वश मे कर लेती है और अनेक प्रकार से उसे नचाती है। स्त्री-विषयक काम भी रजोगुणी पुरुष मे बहुत प्रबल रहता है। जब किसी भी तरह से स्त्री-विषयक कामना कम नही होती तब आदमी परेशान हो जाता है। सतान बढने लगती ह तब तकलीफ शुरू होती है। उससे बचने के लिए कृत्रिम सतति-नियमन का आश्रय लेता है। लेकिन वासना बढती ही जाती है। इस तरह रजोगुणी पुरुष काम के अधीन होकर जीवन बरबाद कर देता है।

(३) फिर तीसरा दृष्टान्त है—**उल्वेन गर्भः आवृत**.—गर्भ का। गर्भ जेर से ढँका रहता है। जेर का आवरण बहुत पक्का रहता है। इसी तरह तमोगुणी पुरुष मे ज्ञान पक्की रीति से ढँका रहता है। रजोगुण और तमोगुण एक ही वर्ग के है, मगर दोनो के लक्षणो मे थोडा फर्क है। तमोगुण मे जडता रहती है। रजोगुणी पुरुष मे काम के अधीन होने पर अशाति पैदा होती। मगर तमोगुणी पुरुष काम के अधीन होने पर भी अशात नही होता। लेकिन बुरा कार्य करते हुए आदमी अशात न हो तो उससे निकलने की कोशिश भी नही करेगा। तमोगुण का यह लक्षण है कि वह आदमी को सुस्त रखता है। इसलिए काम-विकार के अधीन होने पर भी तमोगुणी पुरुष उनमे से निकलने की कोशिश नही करता। तमोगुण आत्मज्ञान को पूरी तरह ढँक देता है। तमोगुणी पुरुष को भारी सत्सग दीर्घकाल तक मिल जाय तो वह जागृत होकर काम से निकलने की कोशिश करेगा और निकल भी जायगा। रजोगुणी पुरुष मे परिवर्तन-प्रक्रिया बहुत जोर से नही होगी। लेकिन अगर जागृति आ जाय, तो एकदम बदल सकता है। फिर भी तमोगुणी पुरुष मे जागृति मुश्किल है, इसलिए भगवान् ने कहा कि जैसे गर्भ पर जेर का आवरण घना रहता है, वैसे ही तमोगुणी पुरुष में ज्ञान इस तरह ढँका रहता है। वह उस आवरण को आसानी से दूर नही कर पाता।

: ३९ :

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

कौन्तेय ज्ञानिनः=हे अर्जुन, ज्ञानी पुरुष का **नित्यवैरिणा**=नित्य शत्रु, **च दुष्पूरेण**=और महाकष्ट से पूर्ण होनेवाला, **अनलेन**=और जिसकी कभी तृप्ति हो नही सकती, **एतेन कामरूपेण**=ऐसे इस कामरूप शत्रु से, **ज्ञानं आवृत**=आत्मज्ञान ढँका है।

इस श्लोक मे चार बाते बतायी गयी है (१) यह काम ज्ञानी पुरुष का नित्यशत्रु है। (२) महाकष्ट से यह पूर्ण होनेवाला यानी हमेशा अपूर्ण रहनेवाला है। (३) इसीलिए इसकी भोगो से कभी तृप्ति नही होती। और (४) आत्मज्ञान को इस काम ने ढँक लिया है।

(१) **ज्ञानिनो नित्यवैरिणा**—यह ज्ञानी पुरुष का हमेशा का वैरी यानी शत्रु है। यहाँ सवाल उठता है कि भगवान् ने यह क्या कह दिया कि ज्ञानी पुरुष का यह नित्य-शत्रु है। काम तो सभीका शत्रु है। शकराचार्य इसका बडा मार्मिक जवाब दे रहे है। वे लिखते है **ज्ञानी हि जानाति अनेन अहं अनर्थे प्रयुक्तः पूर्वमेव इति। दुःखी च भवति नित्यमेव। अतः असौ ज्ञानिन नित्यवैरी, न तु मूर्खस्य। सः हि काम तृष्णाकाले मित्र इव पश्यन् तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते जानाति तृष्णया अह दु.खित्वम् आपादित. इति न पूर्वमेव। अत ज्ञानिन एव नित्यवैरी**। अर्थात् 'इस काम ने मुझे हमेशा अनर्थ मे, दुख मे ही डाला है' यह बात ज्ञानी पहले से ही जानता है, इसलिए ज्ञानी हमेशा सावधान रहता

है। ज्ञानी प्रारम्भ में ही उससे नफरत करता है, इसलिए काम ज्ञानी का नित्य-वैरी है। लेकिन काम मूर्ख या अज्ञानी का शत्रु नहीं है, क्योंकि वह मूर्ख अज्ञानी इच्छा के बढ़ने पर काम को अपना मित्र जैसा ही समझकर उसका परिणाम—दु:ख प्राप्त होने पर 'तृष्णा से मैं दु:ख को प्राप्त हो गया' ऐसा समझता है। पहले से ही वह काम को शत्रु नहीं मानता। इसलिए यह ज्ञानी का नित्य-वैरी है।

शंकराचार्य कहते हैं: काम सबका शत्रु नहीं, क्योंकि सब लोग काम को शत्रु नहीं समझते। अज्ञान के कारण इच्छा-काल में यानी मन में जब इच्छा पैदा होकर वह तृष्णा का रूप लेती है, तब काम मित्र जैसा ही लगने लगता है। इच्छा इतनी बढ़ जाती है कि हम उसमें फँस जाते हैं। हमें उस समय कोई भान नहीं रहता। इसलिए तृष्णाकाल में तृष्णा में हम फँसे रहते हैं तब हमें काम मित्र के समान ही लगता है। उसके साथ हमारा पूरा सहकार रहता है। लेकिन तृष्णा का परिणाम दु:ख है। वह जब अनुभव होता है तब मनुष्य के ध्यान में काम का असली स्वरूप आ जाता है और तब वह दु:खी हो जाता है। तृष्णा का परिणाम भुगतने पर जागृति आती है। फिर वह पुरुष काम का शत्रु बनता है। लेकिन अज्ञानावस्था में यह जागृति भी तात्कालिक ही रहती है। तृष्णा से दु:ख प्राप्त होता है, यह अनुभव करने पर भी आदमी भूल जाता है और फिर से उसी काम के, तृष्णा के अधीन हो जाता है। इसलिए अज्ञानी पुरुष के लिए काम हमेशा का शत्रु नहीं समझा जाता। काम सामान्य लोगों का मित्र ही है। वह तो सिर्फ ज्ञानी पुरुष का ही शत्रु है, क्योंकि अज्ञानावस्था में काम के साथ दोस्ती करने से कितना अनर्थ हो जाता है, कितना दु:ख सहन करना पड़ता है, उसका अनुभव उसने कर लिया है। इसलिए वह काम से दूर ही रहता है। इस काम से जो दु:ख होता है, उसका विस्मरण उसे कभी नहीं होता। वह जागृत रहता है।

विनोबाजी कहते हैं: "काम कभी भी और किसी भी रूप में शत्रु ही है, यह विवेकी यानी ज्ञानी पुरुष पहचान लेता है, इसलिए इसे विवेकी पुरुष का नित्य-शत्रु समझना चाहिए। काम शत्रु है, यह पहचानना बड़ी भारी बात है। इस प्रकार जो काम को पहचानता है, वह उस पर निश्चित ही विजय प्राप्त कर लेता है। इसलिए ३७वें श्लोक में काम को वैरी ही समझो, ऐसी साधक के लिए विधि कही है।"

(२) **कामरूपेण**—यह दूसरी चीज बतायी गयी। काम का रूप क्या है, ऐसा सवाल हो सकता है। भगवान् उसका जवाब देते हैं कि काम का रूप काम है यानी इच्छा ही काम का रूप है। इसका मतलब यह कि चाहे जैसा रूप लेना ही उसका रूप है। यह काम बहुरूपिया है। काम यानी इच्छा, और इच्छा अनन्तरूपिणी होती है यानी अनन्त निमित्तों से यह पैदा हो सकती है। मान लो, एक चीज हमने तय की। उसे दूसरा कोई बदलना चाहे तो वह बदल नहीं सकता। हम उसे बदलने नहीं देंगे। हमने तय किया है, इसलिए मन में उसका इतना आग्रह रहेगा कि दूसरों की चीज विचार से जँच भी जाय, तो भी हम उसे नहीं छोड़ेंगे। लेकिन हमें उसे बदलने की इच्छा हो जाय, तो एक क्षण में बदल देंगे। बदलने के लिए कोई खास विशेष कारण रहता है, ऐसी बात नहीं। हमने जो एक तय किया है, वह बहुत सोचकर किया है, ऐसा भी नहीं। हमारे बहुत-से निर्णय हमारी इच्छा-वासना के अधीन नहीं रहते, इसलिए निर्णय के पीछे कोई खास सिद्धान्त रहता है, ऐसी बात नहीं। लेकिन एक इच्छा मन में जागृत हुई, उससे प्रेरित होकर हम निर्णय ले लेते हैं, वह इच्छा बदल गयी तो हम निर्णय तुरत बदल देते हैं।

ससारी लोगो के निर्णय हमेशा विचार के अधीन न होकर इच्छा-वासनाओ के अधीन रहते हैं, यह ध्यान मे रखने की वात है। हम सव लोग इच्छा के अधीन होने से वात-वात मे झगड पडते हैं, क्योकि मन मे इच्छा पैदा होती है और वरावर उसका आग्रह वना रहता है। जव तक मन मे भगवान् की इच्छा से चलने का निश्चय न हो जाय, तव तक इच्छा से होनेवाले सघर्ष और दु ख को आदमी टाल नही सकता। ईश्वर की इच्छा से चलने का मतलव है, सतो की इच्छा से चलना। इसलिए सत तुलसीदासजी ने एक जगह लिखा है **मोंते संत अधिक करि लेखा।** भगवान् रामचन्द्रजी शवरी को नौ प्रकार की भक्ति वता रहे हैं। उसमे सातवी भक्ति यह वतायी कि सारा जगत् परमात्मरूप देखना और मुझसे यानी परमात्मा से सत को अधिक समझना। ज्ञानेश्वर महाराज ने भी लिखा है **संत हे माझे रूपडी**—सत मेरा ही स्वरूप है। वैसे देखा जाय तो भगवान् सभी वस्तुओ मे है। मगर सव वस्तुओ मे वे पूर्णरूपेण प्रकट नही होते; सतो मे पूर्णरूप से भगवान् प्रकट होते हैं। इसलिए जिसे इच्छा के अधीन नही चलना है, वह यदि निश्चय करे कि मुझे ईश्वर की इच्छा से ही चलना है, तो ईश्वर की इच्छा की खूवी सतो की शरण जाने से मालूम हो सकती है।

(३) **दुष्पूरेण अनलेन च**—ये दो वाते काम के वारे मे और हैं। दुष्पूर यानी काम की पूर्ति कभी नही होती, ऐसा काम का स्वरूप है। वह हमेशा अपूर्ण ही रहेगा। अनल यानी यह कभी तृप्त नही होता। कभी इसकी तृप्ति नही होती, इसलिए यह अपूर्ण रहता है। जिसकी कभी पूर्ति नही होती, वह **दुष्पूर** और जिसकी कभी तृप्ति नही होती, वह **अनल**। वह अग्नि की तरह अतृप्त रहता है। अनल यानी अग्नि। अग्नि की कभी तृप्ति होने की सभावना नही। ययाति राजा ने एक हजार साल तक कामोपभोग किया। उन्होने अपना वुढापा अपने लडके को देकर उसकी जवानी ले ली। आखिर उनको कहना पडा

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थात्—कभी भी विषयोपभोग से काम शात नही होता। आहुति डालने से जैसे अग्नि और वढती है, वैसे ही काम भी अधिकाधिक वढता रहता है।

काम की तृप्ति काम के त्याग से, सयम से ही हो सकती है। गीता के १६वे अध्याय मे आसुरी-सम्पत्ति यानी वहुरूपी, अनेकरूपी काम का वर्णन विस्तार से है।

(४) ऐसे काम ने ज्ञान को ढँक दिया है।

: ४० :

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

इन्द्रियाणि=दस इद्रियाँ, **मनः**=सकल्प-विकल्पात्मक मन, **बुद्धिः**=सारासार-विचार करनेवाली वुद्धि, **अस्य अधिष्ठानं उच्यते**=इस काम के आश्रय-स्थान कहे गये हैं, **एष एतैः**=यह काम इन इद्रियो के सहारे, **ज्ञानं आवृत्य**=ज्ञान को ढँककर, **देहिनं विमोहयति**=देही को यानी जीवात्मा को मोहित करता है।

इस श्लोक मे तीन वाते कही है (१) काम का अधिष्ठान, काम का आश्रय इद्रियाँ, मन और वुद्धि हैं। (२) इन स्थानो पर रहकर वह ज्ञान को ढँक देता है। (३) ज्ञान को ढँककर मनुष्य को नाना प्रकार के मोह मे फँसाता है।

(१) **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः अस्य अधिष्ठानं उच्यते**—पच ज्ञानेन्द्रियाँ और पच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर दस इद्रियाँ, यह पहला स्थान इस काम के रहने का वताया। ये दस इन्द्रियाँ वाहर रहती है। शत्रु को नष्ट करने के लिए वाहर से ही शुरुआत करनी होगी। वाहर से ही भीतर प्रवेश मिल सकता है। इद्रियो मे जो काम है, उसे वश मे करके ही मन, इद्रियो मे रहनेवाले काम को वश मे कर सकते है। इद्रियाँ

और विपय ये दो चीजे ही मन मे काम को पैदा करती है। मतलव यह कि इद्रियो के साथ विषयो का सम्वन्ध होने से जो राग-द्वेप की लहरे मन मे पैदा हो जाती है, वे इद्रियो मे निहित काम से ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। हरएक इद्रिय मे यह काम है।

यदि इसे वश मे करना हो तो इद्रियो और के विपयो सम्वन्ध मे सयम दाखिल करना होगा। यानी देखने, सुनने, सूँघने, खाने और स्पर्श करने मे वाहर से सयम रखना होगा। इन विपयो के साथ हमारा कल्याण हो, उतनी ही मर्यादा मे सम्वन्ध रखना चाहिए। मन मे जो काम-वृत्ति पनपती, पुष्ट होती है वह इद्रियो द्वारा ही होती है। यदि इद्रियाँ और विपय नही है तो मन मे काम पैदा ही नही होगा। सिनेमा के पोस्टर दीवारो पर नही लगने चाहिए, ऐसा विनोवाजी कहते है, क्योकि उन चित्रो के हमेशा आँख के सामने रहने पर चित्त निर्विकार नही रह सकता। हर इद्रिय की यही वात है। महात्मा गाधी के चित्र का या विनोवाजी का दर्शन करते ही इतना पवित्र भाव पैदा होता है कि आँखो से अश्रुधारा वहने लगती है। उनके सहवास मे वुरे विचार मन मे उठते ही नही।

ऐसा भी पाया जाता है कि कई विचारको के मन मे जो उलझने रहती है, उन्हे दूर करनेके लिए वे पॉच-सात दिन का उपवास करते है, ताकि खून शुद्ध हो जाय। दिमाग को शुद्ध खून मिलने से मन की उलझने सुलझ जाती है। कई प्रश्न-मसले, जो पहले हल नही होते, अपने आप विना प्रयास हल हो जाते है। इसी तरह सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के आहार का मन पर परिणाम होता है। आहार का परिमाण है। उसका भी परिणाम चित्त पर होता है। ज्यादा आहार लिया जाय तो मन मे जडता पैदा हो जाती है। रात्रि को अधिक भोजन किया जाय तो जोर से काम-विकार पैदा होता है। सयम रखने का निश्चय करने पर भी रात्रि मे आवश्यकता से ज्यादा भोजन किया जाय तो सयम रह नही पाता। स्त्री-पुरुप-सम्वन्ध मे स्पर्श की मर्यादा न रखी जाय तो भी आदमी का पतन हो जाता है।

इस सवका अर्थ यही है कि सव इद्रियो मे, मन मे काम-वृत्ति अच्छी या वुरी पैदा करने की जो शक्ति रही है, प्रेरणा देने की जो शक्ति रही है, वह ध्यान मे रखते हुए आदमी को सव इद्रियो पर पहरा रखकर हमेशा अतिसयम मे रखने की कोशिश करनी चाहिए।

(२) दूसरी वात है **एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य।** यह काम ज्ञान को ढँक देता है। ज्ञान को यानी मोक्ष को। मोक्ष कोई प्राप्त करने की चीज न होते हुए अथवा अपना अखड स्वरूप होते हुए भी मोक्ष का हमे अनुभव नही होता, यह एक आश्चर्य है। मोक्षस्वरूप यानी परमात्म-स्वरूप होते हुए भी हमे परमात्म-स्वरूप का अनुभव एक क्षण भी नही आता। इसके विपरीत देह, मन, इद्रियाँ, वुद्धि न होते हुए भी वही हमारा स्वरूप है, ऐसा दिन-रात हम अनुभव करते रहते है। अपने सत्य स्वरूप को ढँक देने का यह कार्य इद्रियाँ, मन और वुद्धि मे रहनेवाला 'काम' ही करता है। उसीसे हमेशा हम रँगे रहते है, उसीसे प्रेरित होकर हमारी सारी क्रियाएँ चलती रहती है।

(३) फिर तीसरी चीज वतला रहे है· **देहिन विमोहयति**—यह काम देह, इद्रियाँ, मन, वुद्धि के द्वारा ज्ञान, आत्म-स्वरूप के ज्ञान को ढँककर आदमी को मोह मे फँसाता रहता है। एक माता है। उसका लडका गलत रास्ते जा रहा है। वीडी पीता है, चोरी भी करता है। पाठशाला मे लडको को पीटता है, छोटी वहन को पीटता है, इससे उसकी माता वहुत तग आ जाती है। लेकिन उसमे यह कहने की हिम्मत नहीं है कि 'सीधे रास्ते से चलना हो तो घर मे रहो, नही तो निकल जाओ।' माता के चित्त मे, इद्रियो मे पुत्र के प्रति ममता है। ममता 'काम' का ही रूप

है । पुत्र के प्रति इच्छा रही कि वह मेरा बेटा है, घर से निकल जायगा तो उसका सहवास मिट जायगा। ऐसे पुत्र का सहवास दु खद होने पर भी माता को उसके सहवास की भूख रहती है ।

यह इच्छा, काम स्थूलरूप से तो इद्रियो मे रहता है, पर उसका सही स्थान मन और बुद्धि हैं । इद्रियो से हम जो व्यवहार करते है, उसके सस्कार मन पर पडते है । इन सस्कारो को इद्रियो से पोषण मिलता है । ये पुष्ट सस्कार ही सारे जीवन की पूजी है । इन्ही सस्कारो को लिग-देह या सूक्ष्म-देह कहते है । एक देह छूटने के बाद यह सूक्ष्मदेह ही दूसरी देह धारण करती है । इन सस्कारो को इद्रियो से सिचन मिलने के कारण पहले इद्रियो पर काबू प्राप्त करना पडता है । यही बात अगले श्लोक मे कही जा रही है ।

: ४१ :

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

भरतर्षभ=हे अर्जुन, **तस्मात् त्व**=इसलिए तुम, **इन्द्रियाणि नियम्य**=तुम अपनी (अतर्बाह्य) इद्रियो को काबू मे रखकर, **ज्ञानविज्ञाननाशन**=ज्ञान और विज्ञान को यानी अनुभव को नष्ट करनेवाले, **एन पाप्मान प्रजहि**=इस पापी काम को त्याग दो, नष्ट कर दो ।

इस श्लोक मे दो बाते है (१) तू पहले सब इद्रियो को काबू मे कर ले । (२) फिर ज्ञान और विज्ञान को यानी आत्मानुभव को नष्ट कर देनेवाले इस कामरूपी पापी को हटा दे, उसे नष्ट कर दे ।

(१) **त्वं आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ।** भगवान् ने पिछले श्लोक मे बताया कि काम का आश्रय-स्थान इद्रियाँ है । इद्रियो पर काबू हो जाय तो मन मे निहित काम को नष्ट करना आसान हो जाता है । मन मे ही काम का बीज है । पहले उस बीज को पोषण मिलना बन्द हो जाना चाहिए, नही तो ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि 'वृक्ष की ऊपर की डालियाँ यानी शाखाएँ, पत्ते आदि ऊपर-ऊपर से काट लिये जायँ, लेकिन उसकी जड मे बराबर पानी सीचा जाय तो वह नष्ट कैसे होगा ?' काम को जडमूल से नष्ट करने के लिए सबसे पहले इद्रियो का पहरेदार बनना होगा । सारी इद्रियो को इस तरह सयम मे रखा जाय, ताकि मन मे निहित काम क्षीण होता चला जाय । मनुष्य प्राय ब्रह्मचर्य-पालन मे बहुत दुर्बल होता है । ब्रह्मचर्य साधने के लिए पहले उसे बाह्य नियत्रण ही रखना पडता है ।

गाधीजी को भी ब्रह्मचर्य-पालन मे कठिनाई का सामना करना पडा । मगर उन्होने शुरू मे बाह्य साधना शुरू कर दी । रात के भोजन पर नियत्रण रखा । दिनभर परिश्रम करके सोने का नियम रखा । शरीर थक जाने पर सोते ही नीद आ जाती है । अत सोते समय मन मे विकार पैदा नही होता । सोते समय तकिये के नीचे भगवद्-गीता और माला रखने लगे । माला फेरकर सोने का नियम रखा । इन बाह्य नियमो के पालन से गाधीजी को ब्रह्मचर्य-पालन मे बल मिला ।

मतलब यह कि बाह्य नियत्रण के बल से भीतर के विकारो को निकालने मे बहुत मदद मिलती है । विषयो के उपभोग से मन को पोषण मिलना बन्द हो जाय तो धीरे-धीरे काम क्षीण हो जाता है। काम यानी काम से उत्पन्न होनेवाले सब विकार । ये विकार ही अखड सुख और शाति को रोकते है ।

(२) दूसरी बात यह कि—**पाप्मानं प्रजहि ।** इस पापी काम को छोड दे । भगवान् ने ३७वे श्लोक मे काम को 'महापाप्मा' कहा है । इस श्लोक मे भी वही शब्द 'काम' के लिए प्रयुक्त किया है । यह शब्द वैसे बहुत कडा लगता है, लेकिन

काम ही हमे हमेशा नीचे गिराता है और उसकी चाल भी सीधी नही होती। वह बडा कपटी है। क्रोध, लोभ आदि विकारो को भी काम ही पैदा करता है। मोक्ष का तो शत्रु ही है, इसलिए 'पापी' विशेषण बिलकुल यथार्थ है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने इस काम-क्रोध का वर्णन बडे अच्छे ढँग से किया है। वे कहते है "इनमे करुणा का लेश भी नही रहता। काम-क्रोध को प्रत्यक्ष यमराज के स्थान पर ही समझो। ये ज्ञान-निधि पर बैठे सर्प है। विषयरूपी खाइयो मे छिपे व्याघ्र है। ये ईश्वर-भक्ति के मार्ग मे डाका डालने-वाले प्राणघातक डोम है। ये शरीररूपी किले के पत्थर है अथवा इन्द्रियरूपी बस्ती के कोट है। इनका अविवेकरूपी अधिकार सारे ससार पर छाया है। ये मन मे स्थित रजोगुण से बने है। मूल मे ये आसुरी सपत्ति के है। अज्ञान से ये पुष्ट होते है। इनकी उत्पत्ति रजोगुण से हुई है, मगर तमोगुण को ये बहुत ही प्रिय है, इसलिए तमोगुण ने प्रमाद और मोहरूपी अपनी गद्दी इन्हे दे रखी है। मृत्यु के नगर मे इनकी बहुत प्रतिष्ठा है, क्योकि वे सबका प्राण हरण करनेवाले है। जब इनकी एकबार भूख शुरू होती है, तब समस्त विश्व भी इनके ग्रासभर भी नही होता।

"ज्यो-ज्यो इनका हाथ चलता जाता है, त्यो-त्यो इनकी आशा भी उत्तरोत्तर बढती जाती है। इसी तरह आशा की छोटी बहन भ्रान्ति भी इन्हे बहुत प्रिय है। यह भ्रान्ति ऐसी है कि सबको एक बार सहज मे अपनी मुट्ठी मे कर लेती है। तब चौदहो भुवनो का भी पता नही चलता। यह भ्रान्ति ऐसी विलक्षण है कि जब यह रसोई का खेलवाड करती है तब तीनो लोको को सहज हजम कर जाती है। आशा की यह प्रिय बहन है। तृष्णा का जीवन भी इसी भ्रान्ति की सेवा-चाकरी के बल पर चलता है। मोह हमेशा इसका सम्मान करता है।

"जो सब जगत् को नचाता है वह अहकार काम-क्रोध के साथ लेन-देन का व्यवहार करता है। सत्य के पेट मे स्थित माल-मसाला निकालकर उसमे असत्य का भूसा भरकर जिस दभ की काम-क्रोध ने जगत् मे प्रसिद्धि की, उन्ही काम-क्रोध ने पवित्र शाति को लूटकर और वस्त्रहीन बनाकर उस मायारूपी भिखमगिनी का शृगार किया और साधु-मडली को भ्रष्ट किया। इन्ही काम-क्रोध ने विवेक का आश्रय-स्थान उजाड दिया। वैराग्य की चमडी उतार ली है और जीते जी उपशम का यानी निग्रह का गला घोट डाला। इन्होने सतोषरूपी वन को उजाड डाला। धैर्य का कोट तोड गिराया और आनन्द का छोटा पौधा उखाड फेक दिया है। बोधरूपी बडे पौधे को भी उखाड दिया है। सुख के अक्षर पोछ डाले है। इन्होने सबके हृदय मे तीनो तापो की आग लगा दी है। ये शरीर के साथ ही पैदा हुए है। अत करण के साथ चिपके है और ब्रह्मा आदि को भी ढूँढने पर मिलते नही। ये चैतन्य-तत्त्व के पास ही ज्ञान की पक्ति मे घुसकर जा बैठते है। ये जब एकबार अपना कार्य शुरू कर देते है तब किसी प्रकार रोके नही रुकते। ये बिना पानी के ही डुबा देते है, बिना आग के ही जला देते और बिना बोले ही प्राणियो को घेर लेते है और शर्त लगाकर ज्ञानियो का वध कर डालते है। बिना कीचड के ही जीवो को नीचे धँसा देते है, बिना जाल के ही पकड लेते है और भीतर बहुत गहरे घुसे रहने के कारण किसी के हाथ नही आते।"

सार यह कि ये काम-क्रोध ही आदमी को बधन मे डालते है। इनसे बहुत सावधान रहना चाहिए। विनोबाजी कहते है कि बाहर से इन्द्रियो को जीतने से तो काम-विजय की सिर्फ शुरुआत ही होती है।

इनपर पूर्ण विजय किस तरह पायी जाय, यह अगले दो श्लोको मे भगवान् बतला रहे है।

४२ :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य परं मन. ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे. परतस्तु स. ॥

इन्द्रियाणि=पच ज्ञानेन्द्रियाँ (स्थूल शरीर की अपेक्षा), **पराणि आहु** =श्रेष्ठ हैं, ऐसा ज्ञानियो ने कहा है, **इन्द्रियेभ्य मन' पर**=पच इन्द्रियो से मन श्रेष्ठ है, **तु मनस' बुद्धि परा**=और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, **तु यः**=लेकिन जो, **बुद्धे परत' स'**=बुद्धि से परे है, वह परमात्मा है।

भगवान् ने इस श्लोक मे शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा-परमात्मा, यह क्रम बताया है। शरीर बिलकुल स्थूल है। शरीर की अपेक्षा पाँच ज्ञान-इद्रियाँ सूक्ष्म हैं, इसलिए वे शरीर से श्रेष्ठ है। देखने, सुनने, स्पर्श करने और रस चखने की इनकी शक्ति सूक्ष्म है और वह भीतर हैं। इन इन्द्रियो के बाहर भी रहने के स्थान शरीर मे मुकर्रर है। वे हैं—आँख, कान, नाक, त्वचा और जीभ। इन पाँच स्थानों पर इन्द्रियो की ये पाँच शक्तियाँ रहकर पच-विषयो का ज्ञान प्राप्त करा देने का कार्य अखड रूप से करती हैं।

लेकिन इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो की शक्तियो के साथ भीतर उनसे भी जो सूक्ष्म मन है, उसका सम्बन्ध न रहे तो बाह्य पच विषयो का ज्ञान नही हो सकता। इसीलिए ज्ञानेन्द्रियो से उसे श्रेष्ठ कहा हैं। किसीका व्याख्यान हम सुन रहे हो तो वह व्याख्यान सुनने मे जब तक हमारा ध्यान रहता है, तभी तक हम उस व्याख्यान को बराबर सुन पाते हैं। लेकिन किसी कारण हमारा ध्यान दूसरी जगह चला जाय तो हम उस व्याख्यान को सुन नही पाते। सब इद्रियो को विषयो का जो ज्ञान होता हैं, वह मन के सहकार से ही होता है।

मन से बुद्धि को श्रेष्ठ कहा हैं। बुद्धि मन का ही एक भाग है। मन और बुद्धि दो इद्रियाँ भीतर है, ऐसी बात नही। मन का एक भाग निश्चय करनेवाला होता है। किसी भी विषय का जब हमे ज्ञान होता है तब उस विषय का ज्ञान होने के बाद उसके बारे मे कुछ छानबीन करके हमे कुछ निर्णय लेना पडता है। उदाहरण के तौर पर, हमने एक फूल का पौधा देखा। वह फूल गुलाब का है और वह सुगधित है, इतना ज्ञान हो गया। अब उसे तोडने की इच्छा हो जाती है। वह पौधा है किसी दूसरे का, इसलिए उसे तोडना या न तोडना, यह विचार शुरू हो जाता है।

चिंतन करना, विचार करना, सोचना यह कार्य बुद्धि का है। बुद्धि सात्त्विक है, शुद्ध है तो निर्णय सही होगा। बुद्धि मे इतनी सात्त्विकता न हो, इतनी शुद्धि न हो तो निर्णय गलत होगा। छानबीन करके निर्णय करना बुद्धि का कार्य है। बुद्धि के निर्णय के अनुसार मन चलेगा ही, ऐसी बात नही। बुद्धि के निर्णय के अनुसार मन चले, ऐसा यदि हम चाहते हो तो मन को उस प्रकार का अभ्यास डालना होगा। मन भी शुद्ध हो जाय, काम, क्रोध आदि के अधीन न रहे, तो वह बुद्धि के अधीन रह सकता है।

मन उभयविध माना जाता है। उसके दो व्यापार है १ ज्ञानेन्द्रियो के साथ सहकार करके पच-विषय को ग्रहण करना और २ बुद्धि के निर्णय को अमल मे लाना। बुद्धि का एक ही कार्य है, निर्णय देना। कुल मिलाकर तीन व्यापार हो गये। पहले विषयो को ग्रहण करना, बाद मे निर्णय करना और निर्णय की हुई बात को अमल मे लाना। इन तीन व्यापारो मे से दो व्यापारो को 'मन' नाम दिया गया और एक व्यापार को 'बुद्धि। इस तरह भीतर एक ही इन्द्रिय के, जिसे मन कहते है, भिन्न-भिन्न व्यापारो के आधार पर दो इन्द्रिय बनाने पडे। विषयो का ग्रहण करने के बाद चिन्तन, मनन और फिर निर्णय लेना, यह व्यापार होने की वजह से मन से बुद्धि श्रेष्ठ हो जाती है। ग्रहण की हुई चीज के बाद ही चिन्तन-मनन हो सकता है।

ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य (२ ३.३२) मे मन को दलीलो से सिद्ध किया है, वह अत मे देखेगे।

बुद्धि से परे एक चीज है, उसे 'आत्मा' कहा गया है। उसे 'ज्ञाता' भी कहते है। 'प्रत्यगात्मा' भी कहते है। पच ज्ञानेन्द्रियाँ, पच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि ये सब इद्रियाँ किसके अधीन है ? इनका मालिक, स्वामी कौन है ? इन इन्द्रियो के व्यापार को जाननेवाला कौन है ? इन्हे प्रेरणा देनेवाला कौन है ? शरीर मे सब इन्द्रियो पर काबू रखनेवाली कोई शक्ति न हो तो सारे व्यापार, सारी क्रियाएँ एकसूत्रता से नही चल सकती। खुली मणियो को जब सूत मे पिरोया जाता है तब माला बनती है और तभी उसका उपयोग कर सकते है। हम व्यवहार मे 'मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा शरीर, मेरी आँख, मेरा कान' इस प्रकार कहते है। इसका मतलब शरीर, इद्रियाँ, मन, बुद्धि से मैं भिन्न हूँ, ऐसा अनुभव आता है। 'मै कौन हूँ ?' इसकी छानबीन से यह मालूम होता है कि मै सबको जाननेवाला हूँ। मुझे सबका ज्ञान होता है यानी मुझे देह, मन, बुद्धि और सारी इन्द्रियाँ, इन सब जड वस्तुओ का ज्ञान होता है। वैसे ही बाह्य जड जगत् के सब पदार्थो का ज्ञान भी मुझे होता है।

ध्यान मे रखने की बात है कि मै जिस तरह देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और बाह्य जगत् के सारे पदार्थो को जानता हूँ, वैसे ही मेरा ज्ञान किसी जड पदार्थ को नही होता, यानी देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मुझे नही जानते। सूर्य जैसा अद्भुत पदार्थ भी मुझे नही जानता। मै उसे जानता हूँ, इसलिए सूर्य से भी मेरी अद्भुतता बहुत बढ जाती है। इतना अद्भुत होते हुए भी 'मै' जब अज्ञान के कारण देह, इद्रियाँ, मन, बुद्धि को अपना स्वरूप मानने लगता हूँ तो मेरी उस अद्भुतता का कोई उपयोग नही होता। लखपति आदमी यदि अपने को अज्ञानवश भिखारी मानने लगे तो उसके पास जो सपत्ति है, उसका उसे उपयोग नही हो सकता। मेरी यह जो अद्भुतता, जो ऐश्वर्य है, वह सारा-का-सारा देह को अपना स्वरूप मानने से नष्ट हो जाता है। इसीलिए काम-क्रोधादि विकार भी तकलीफ देते रहते है। इसलिए बुद्धि से परे जो आत्मा यानी परमात्मा है, वही अपना स्वरूप है, यह ठीक तरह से जान लेना चाहिए।

इस परमात्मा को जान लेने से ही काम को हम पूर्ण रीति से जीत सकेगे, ऐसा अगले श्लोक मे बता रहे है। अगले श्लोक पर जाने के पूर्व इस श्लोक के स्पष्टीकरण मे दो बाते और देखनी है।

पहली बात यह कि इस श्लोक मे जो क्रम बतलाया है उससे भिन्न क्रम कठोपनिषद् (१ ३ १०) मे है

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥

अर्थात्—'क्योकि इद्रियो से विषय श्रेष्ठ है, पच विषयो से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से जीवात्मा महान् और श्रेष्ठ है।'

गीता मे 'पचविषयो से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ है' कहा है तो यहाँ 'इन्द्रियो से पच विषय श्रेष्ठ है', ऐसा कहा गया। पच विषय जगत् मे न हो तो ज्ञान होगा ही नही। इस दृष्टि से देखा जाय तो इन्द्रियो से विषय श्रेष्ठ हो जाते है। लेकिन पच विषयो का अस्तित्व होते हुए भी यदि उन्हे जानने का साधन इन्द्रियाँ न हो, तो भी पचविषयो का ज्ञान नही होगा। इस दृष्टि से पच विषयो से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हो जाती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से दोनो श्रेष्ठ है। आगे उसी उपनिषद् का श्लोक (१ ३ ११) इस प्रकार है-

महत. परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष. परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति.॥

अर्थात्—'महत् से यानी महान् जीवात्मा से अव्यक्त (माया) श्रेष्ठ है। माया से पुरुष (ईश्वर) श्रेष्ठ है। पुरुष (परमात्मा) से कोई श्रेष्ठ वस्तु नही है। परमात्मा ही परम गति है।'

इस श्लोक मे जीवात्मा से परमेश्वर की माया को श्रेष्ठ कहा है। क्योकि परमेश्वर की अलौकिक माया देह आदि जगत् को पैदा करके जीवात्मा को मोहित करके अपने जाल मे फँसा लेती है, इसलिए जीवात्मा से परमेश्वर की माया श्रेष्ठ हो जाती है। माया पुरुष के यानी परमेश्वर के अधीन है, इसलिए अव्यक्त से यानी माया से परमात्मा श्रेष्ठ हो जाता है। परमात्मा से कोई भी चीज श्रेष्ठ न होने से परमात्मा को आखिरी मर्यादा और आखिरी गति समझना चाहिए।

दूसरी बात—मन को क्यो मानना चाहिए ? इसे श्री शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य मे दलीलो से समझाया है। वे कहते है कि यदि मन को न माने तो आपत्ति यह है कि मन न हो तो हमेशा ज्ञान होता रहेगा या हमेशा ज्ञान न होगा। ज्ञाता यानी आत्मा और ज्ञान के साधन पच ज्ञानेन्द्रियाँ ये दो ज्ञान के साधन अखड मौजूद होते हुए हमेशा ज्ञान होता रहना चाहिए। वस्तु सामने होते हुए भी हमे उसका कभी ज्ञान होता है तो कभी नही होता, ऐसा नही होना चाहिए। क्योकि ज्ञान के दो साधन ज्ञाता और पच ज्ञानेन्द्रियाँ यह अखड मौजूद है। तब क्या ऐसा समझे कि आत्मा यानी ज्ञाता और ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रियाँ अखड मौजूद होते हुए भी हमे ज्ञान होता ही नही। लेकिन हमे अखड ज्ञान होता रहता है, ऐसा भी नही, अखड ज्ञान नही होता, ऐसा भी नही। हमे कभी ज्ञान होता है तो कभी नही भी होता।

आत्मा की ज्ञान-शक्ति जो अखड चल रही है, उसमे कोई रुकावट आ गयी है, ऐसा भी नही मान सकते। इन्द्रियो की भी जो अखड ज्ञान-शक्ति चल रही है उसमे भी अचानक कोई रुकावट आती है, ऐसा मानने का भी कोई कारण नही है। जब चाहे तब हम देख सकते है, सुन सकते है, सूँघ सकते है, स्वाद ले सकते है और स्पर्श भी कर सकते है।

इसीलिए आचार्य 'मन' की व्याख्या इस प्रकार करते है **यस्यवधानानवधानाभ्यामुलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मन**। अर्थात्—जिसके ध्यान देने पर पदार्थो का ज्ञान होता है और जिसके ध्यान न देने पर पदार्थो का ज्ञान नही होता, वह मन है।

एक सस्कृत उक्ति है **चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुपा**। आँखे रूप को **मन से** देखती है। सिर्फ आँख से ही रूप को नही देख सकती।

इसलिए शकराचार्य मन की व्याख्या करते है कि जिसके ध्यान देने पर हमे पदार्थ का ज्ञान होता है और जिसके ध्यान न देने पर हमे पदार्थ का ज्ञान नही होता, वह मन है।

: ४३ :

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

महाबाहो एव बुद्धे. पर=हे अर्जुन, इस प्रकार बुद्धि से परे, **आत्मानं बुद्ध्वा**=आत्मा (परमात्मा) को जानकर, **आत्मना सस्तभ्य**=शुद्ध मन से अपने को काबू मे रखकर, (**एन**) **कामरूप**=(इस) कामरूप, **दुरासद शत्रु जहि**=दुर्जय शत्रु को नष्ट कर।

पिछले श्लोक मे बतलाया कि इन्द्रियो से लेकर बुद्धि तक व्याप्त काम को हटाकर बुद्धि से परे जो परमात्मा देह मे विराजित है, उसे पहचानो। इस श्लोक मे तीन बाते बता रहे है १. बुद्धि से परे परमात्मा को पहचानो। २ मन को शुद्ध यानी निर्विकार बनाने की चेष्टा करके अपने को काबू मे रखो और ३ इस कामरूप दुर्जय शत्रु को नष्ट करो।

(१) पहली बात है, बुद्धि के परे परमात्मा को पहचानना। प्राणीमात्र यह बिलकुल ही नही जानते कि अपनी देह मे एक अद्भुत वस्तु निवास करती है। पच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहकार,

इन सवकी हमे पहचान है । हम खुद इन इन्द्रियो के वश होकर सुख-दु ख का अनुभव करते रहते है। मगर हमारा स्वरूप परमात्मा है, यह हम नही जानते । हमारे पास जो देह, इद्रियाँ आदि सघात है, उसीको जव तक हम अपना स्वरूप समझते है, तव तक परमात्मा हमारा स्वरूप है, यह वात हमारे ध्यान मे आना सभव नही। यह चीज पहले बुद्धि को जँच जानी चाहिए । सिर्फ श्रद्धा से ग्रहण करने के वजाय दलीलो से बुद्धि को जँचा दिया जाय, तो परमात्म-स्वरूप का अनुभव करना आसान हो जाय। बुद्धि नि शक हो जाने से प्रयत्न करने मे सहूलियत रहेगी । इसलिए भगवान् पहले वता रहे है कि बुद्धि से परे परमात्मा है, उसे जान लो ।

(२) दूसरी बात यह है कि बुद्धि को जँचा लेने के बाद मन को निर्विकार वनाने की कोशिश करनी चाहिए । मन मे अनेक प्रकार की अच्छी-बुरी वृत्तियाँ रहती है। मन इन्ही वृत्तियो का वना है । जव तक बुरी वृत्तियो को नही हटायेगे, तव तक अच्छी वृत्तियाँ नही पनपेगी। बुरी वृत्तियो, भावनाओ या विकारो को हटाने का अभ्यास करके अच्छी वृत्तियो के विकास का प्रयत्न करने से मन पर काबू हो जायगा। मन को वश मे करने के लिए भगवान् वतला रहे है कि मन को निर्विकार वनाने की कोशिश करो तो काम को हटाने मे समर्थ हो सकते हो ।

(३) तीसरी बात यह है कि कामरूपी दुर्जय शत्रु को इन दो के सहारे त्याग दो, उसे नष्ट कर दो। मोक्ष के सामने विरोधी शक्ति के रूप मे काम और क्रोध खडे है। मनुष्य के शरीर मे दो चीजे है । एक ओर देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि है, दूसरी ओर आत्मा यानी परमात्मा है । परमात्मा की प्रेरणा मोक्ष के लिए, परमात्मा की पहचान के लिए, निर्विकारता के लिए रहती है । देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि की ओर से भोगो की, अनेक कामनाओ की प्रेरणा रहती है । इन दो प्रेरणाओ के यानी मोक्ष और काम के वीच मनुष्य-जीवन चलता रहता है। दोनो के सघर्प मे मनुष्य को जीवन विताना पडता है । दोनो प्रेरणाओ मे सघर्प न चले, इसलिए मोक्ष और काम के वीच शास्त्रकारों ने मोक्ष की ओर से धर्म और काम की ओर से अर्थ को प्रतिनिधि के तौर पर स्वीकार कर लिया है । अतिम विजय तो इसमे मोक्ष की ही होगी, इसलिए काम और मोक्ष के वीच धर्म और अर्थ को मान्यता दे दी गयी है ।

जीवन मे काम से शुरुआत होती है और मोक्ष उसका मुकाम ह, अत. काम से मोक्ष तक का एक मार्ग तैयार करना पडता है । इसलिए अर्थ और धर्म की शरण जाकर धीरे-धीरे मोक्ष की तरफ प्रयाण करना पडता है। मोक्ष की प्रेरणा असग्रह की तरफ है। मोक्ष कहता है—देह के परिग्रह को भी छोडो । ब्रह्मचर्य के विना मोक्ष असंभव है, इस-लिए ससार मे किसी को फँसना नही चाहिए । इच्छा, वासनाओ का सपूर्ण त्याग करो। इनके अधीन होने से हमेशा बधन मे ही रहना पडेगा । इनके जाल मे जब तक हम फँसे रहेगे तव तक वधन से कभी छूटेगे नही । कामिनी और काचन दोनो मोक्ष-विरोधी चीजे है, इसलिए इन दोनो का सर्वथा त्याग ही करना चाहिए। दिन-रात हम कुछ-न-कुछ कर्म करते रहते है । कर्म ही तो हमारे मन मे काम, क्रोधादि विकार पैदा करता है, इस-लिए सव कर्मो का सव प्रकार से त्याग ही करना चाहिए । इसके अलावा हम समाज मे रहते है। समाज मे रहने से ही अनेक प्रसग पैदा होते है। वहुत-सी खटपट पैदा होती है । इससे काम, क्रोध, अभिमान आदि विकार पैदा होते है और दु ख का ही अनुभव होता रहता है, इसलिए जो मोक्ष चाहता है उसे समाज का त्याग करके जगलो मे रहना चाहिए । इस प्रकार मोक्ष की जव एकागी प्रेरणा शुरू होती है, तब मोक्ष की साधना मुश्किल हो जाती है ।

एक ओर मोक्ष एकागी प्रेरणा है तो दूसरी ओर काम की प्रेरणा भी उतनी ही एकांगी है। काम कहता है 'मोक्ष की कभी सुनना नही। वह मारे जीवन को बर्बाद करने के लिए बैठा है। इस तरह यदि सबको वैराग्य प्राप्त होता तो अब तक सभी को मोक्ष मिल जाता और यह सृष्टि अब तक रहती ही नही, कभी की नष्ट हो जाती। सब ब्रह्मचारी रहने लग जायँ तो सृष्टि कैसे चलेगी ? यदि सृष्टि के अनत पदार्थ और शरीर भोग भोगने के लिए नही है तो यह सब ईश्वर ने पैदा ही क्यो किया ? मोक्ष सुख ही तो है। तपस्या करके, कष्ट झेलकर, मोक्षसुख प्राप्त करने के बजाय इद्रियो के विषयोपभोग से यदि सहज रीति से, आसानी से सुख प्राप्त होता है तो कष्ट, तप, त्याग करने की जरूरत ही क्या है ? आखिर मे कष्ट, तप, त्याग करके भी सुख ही तो प्राप्त होता है।

इस तरह मोक्ष और काम परस्पर विरुद्ध दो छोर है। मनुष्य सघर्परहित होकर सुचारुरूप मे जीना चाहता है। इसलिए शास्त्रकारो ने समझौता करने के लिए मोक्ष की तरफ से धर्म और काम की तरफ से अर्थ को प्रतिनिधि के तौर पर खडा किया है। धर्म काम के लिए कहता है कि कामनाओ का पूरा त्याग करने की जरूरत नही है और पूरा त्याग हो भी नही सकता, इसलिए अच्छी कामनाएँ रखो और बुरी कामनाओ को छोड दो। लेकिन अच्छी कामनाओ की भी आसक्ति मत रखो तो मोक्ष प्राप्त करने मे कोई कठिनाई नही होगी। वैसे ही ब्रह्मचर्य के बारे मे धर्म कहता है कि सब लोग ब्रह्मचारी रहे, इसकी जरूरत भी नही है। लेकिन गृहस्थाश्रम मे सयम से रहो। भोग भोगने मे मर्यादा रखो। सतानोत्पत्ति की भी मर्यादा रखो। परोपकार करो। सपत्तिदान करो और २०–२५ साल के गृहस्थ-जीवन के बाद वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार करो और वानप्रस्थ के बाद आयु शेप बचे तो सन्यास भी लिया जाय। इस तरह क्रमश मन का विकास होता रहेगा। अपने पर त्याग की जबरदस्ती नही होगी और अन्त मे मोक्ष का आत्यतिक सुख प्राप्त करना आसान हो जायगा।

काम की ओर से अर्थ कहता है कि धर्म की यह योजना हमे मजूर है। अब झगडे का कोई कारण काम और मोक्ष के बीच नही रहता है। लेकिन अर्थ-सग्रह के बारे मे भी समझौता होना चाहिए। काम चाहता है, खूब पैसा कमाओ। अर्थ कहता है कि पैसा कमाने मे कोई दोष नही, लेकिन पैसा कमाने मे गरीब लोग और गरीब बनते जायँ तो सृष्टि मे विषमता बढेगी। पाँच अगुलियो जितनी विषमता चलेगी, लेकिन ज्यादा विषमता हो तो समाज मे शाति नही रह सकेगी। गरीब लोग बहुत गरीब बनते जायँ तो उनका दु ख बढता ही जायगा। इसलिए उन्हे दु ख न रहे, यह योजना जरूर बनानी चाहिए। उनके लिए अन्न, वस्त्र, घर का इतजाम अच्छा होना चाहिए। इसलिए जो भी पैसा कमाये, उसमे गाधीजी का 'ट्रस्टी-शिप' का सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए भी तैयार हो जायँ। इस तरह मोक्ष का जो त्याग का सिद्धान्त है, वह जीवन मे दाखिल करने की कोशिश की जाय। हम मर्यादित साधन के साथ बाह्य विषयो का सुख प्राप्त करने की कोशिश करे। अर्थ का यह कहना धर्म मजूर करता है और समझौता करके समाज की प्रगति की चेष्टा चलती रहती है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रेरणाएँ आदमी के मन मे है। चारो का समन्वय करके काम पर विजय प्राप्त करके मनुष्यदेह का अतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त हो सकता है। सत तुलसीदासजी ने कहा है

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दु.खरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप॥

"काम, क्रोध, मद, लोभ मे जो रत है, जो फँस गये है, वे रघुपति को यानी परमात्मा को कैसे जान

सकते है, क्योकि तमरूपी यानी अज्ञान-रूपी कूप मे वे मूढ गिरे है।" अतिम लक्ष्य तो परमात्मा को पहचानना है। सत तुलसीदासजी अन्यत्र कहते है

हरि माया कृत दोषगुन, बिनु हरि भजन न जाहिं।
भजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मनमाँहि॥

"हरि माया के जो गुण-दोष है वे हरि-भजन के विना यानी परमात्म-भक्ति के विना नही जायेंगे, नही नष्ट होगे। इसलिए सब अच्छी-बुरी कामनाएँ उपर्युक्त विचार से छोडकर भगवान् की भक्ति करो।"

बिनु संतोष न काम नसाही।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाही॥
राम-भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥

"विना सतोष काम नष्ट नही होगा। जब तक मन मे काम है तब तक स्वप्न मे भी सुख नही मिलेगा। और राम-भजन के विना यानी राम-भक्ति के विना काम कैसे नष्ट होगा? विना जमीन के भी कभी झाड पैदा हुआ है?"

इन सबका अर्थ यह हुआ कि काम के ऊपर पूरी विजय पाने के लिए एकमात्र ईश्वर-भक्ति ही बलवान् और आसान उपाय है। यही बात इस श्लोक के शुरू मे बतायी है कि परमात्मा को पहचान कर ही काम को त्याग दो, नष्ट कर दो। ●

चौथा अध्याय

चौथे अध्याय के पहले और दूसरे श्लोक मे भगवान् योग की परपरा का यानी वह योग पहले किसे कहा, वाद मे किसे कहा, इस इतिहास-परपरा का वर्णन कर रहे है।

: १ :

श्रीभगवान् उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

अह इम अव्यय योग=मैने यह अव्यय योग, **विवस्वते**=सूर्य को, **प्रोक्तवान्**=पहले-पहल कहा, **विवस्वान् मनवे प्राह**=सूर्य ने मनु से कहा, **मनु इक्ष्वाकवे अब्रवीत्**=मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

इस श्लोक मे योग की इतिहास-परपरा वतायी है १ पहले भगवान् ने यह योग सूर्य मे कहा। २ सूर्य ने मनु से यानी मनन करनेवाले ऋषि-मुनियो से कहा; और ३ ऋषि-मुनियो ने इक्ष्वाकु यानी श्रेष्ठ साधक या मुमुक्षु को सिखाया।

(१) **इमं योगं विवस्वते प्रोक्तवान्**— भगवान् कह रहे है कि पहले-पहल मैने सूर्य-नारायण को यह योग वतलाया और सूर्यनारायण जब से पैदा हुए है, तब से उसका भलीभाँति पालन कर रहे है। सृष्टि को पैदा हुए लगभग २०० करोड साल हो गये। आगे भी उतने ही साल सृष्टि रहेगी, ऐसा कहा जाता है। उसके वाद प्रलयकाल तक सूर्य अपना कार्य चालू रखेगा। सूर्य को जड समझने से उसकी अलौकिक शक्ति का भान हमे नही होता। पश्चिमी देशो मे जो विज्ञान का विकास हुआ है, केवल उसमे सूर्य, पृथ्वी आदि जो अलौकिक चीजे देखने मे आती है उनका महत्त्व हमे प्रतीत नही होता, क्योकि ये जो अलौकिक, आश्चर्यकारक चीजे हमारे नजर के सामने खडी है, सब जड है, ऐसा समझने से हमारी वुद्धि भी जड वन जाती है। वास्तव मे सूर्य अलौकिक शक्ति है। सूर्य का अस्तित्व न हो तो पृथ्वी और हमारा भी अस्तित्व नही रहेगा। सूर्य मे इतनी प्रचड उष्णता है कि नौ करोड मील दूर होने पर भी उससे हमे गरमी मिलती रहती है। सूर्य की गरमी कम हो जाय तो पृथ्वी ठडी हो जायगी और मनुष्य, पशु, वृक्ष कोई जीवित नही रह सकते। इसलिए सूर्य का जगत् पर वहुत वडा उपकार है। पृथ्वी सूर्य के आकर्षण से ही आकाश मे निराधार स्थित है। सूर्य मे इतनी आकर्षण शक्ति है कि वह पृथ्वी को खीचे रहता है। वनस्पतियो, पेडो अथवा अनाजो मे जो विटामिन यानी जीवनसत्व (अ ब, क, ड आदि) रहते है वह सब सूर्य के कारण ही। प्राचीन काल मे सूर्य की उपासना का वहुत महत्त्व था। गायत्री-मत्र, जो ब्राह्मणो का मुख्य मत्र माना जाता है, सूर्य की उपासना का ही मत्र है। वह इस प्रकार है

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो न प्रचोदयात् ॥

अर्थात्—'सूर्यनारायण के श्रेष्ठ तेज को हम धारण करते है और वह धारण किया हुआ तेज, हमारी वुद्धि को हमेशा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।'

रोज सूर्योदय के समय उसके सामने खडे होकर भक्तिभाव से उसकी महत्ता मन मे लाने का अभ्यास करे तो श्रेष्ठ परमात्म-भक्ति प्राप्त हो सकती है। उपनिषद् मे सूर्य के वारे मे कहा है

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्-बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

अर्थात्—'जिस प्रकार सूर्य लोगो का चक्षु होकर भी चक्षुओ के बाह्य दोषो से लिप्त नही होता; वैसे ही सब भूतो मे व्याप्त एक परमात्मा, लोगो के दु खो से लिप्त नही होता।'

दु ख अज्ञान से होता है। ज्ञानस्वरूप होने से परमात्मा को दु ख न होना स्वाभाविक है। मगर परमात्मा की यह अलिप्तता बताने के लिए उपनिषद् के ऋषि ने सूर्य का उदाहरण दिया है। इस प्रकार सूर्य को भगवान् ने पैदा किया और उसे अलिप्तता का योग सिखा दिया। आज तक वह उस योग का पालन कर रहा है।

(२) **विवस्वान् मनवे प्राह**—सूर्य ने मनु यानी ऋषि-मुनियो से कहा। इसका मतलब यह कि ऋषि-मुनियो ने उदाहरण रूप मे सूर्यनारायण को सामने रख उससे सब प्रेरणाएँ ग्रहण की और स्वय साधना कर परमात्मा का अनुभव प्राप्त किया। अनुभव प्राप्त करने मे सूर्यनारायण की गुरुमूर्ति हमेशा सामने रखी। जब भगवान् ने पहले-पहल सृष्टि पैदा की, मनुष्य को परमात्म-स्वरूप की पहचान कैसे हुई? क्योकि गुरु-परपरा तो सृष्टि के प्रारभ मे हो नही सकती थी, अनुभवी पुरुष के शास्त्र भी सृष्टि के प्रारभ मे नही थे? पहले-पहल मनुष्य को परमात्म-विषयक जो ज्ञान प्राप्त हुआ, वह स्वप्रयत्न से ही हुआ। उस समय जिनका मन सहज ही विमल था, उन्हे सृष्टि के अवलोकन से परमात्म-ज्ञान प्राप्त हो गया। सृष्टि के अवलोकन मे सूर्यनारायण का उदाहरण परमात्म-ज्ञान प्राप्त कराने में श्रेष्ठ प्रेरणादायक उदाहरण है।

यहाँ एक सवाल उपस्थित होता है कि आरभ मे सृष्टि विषम कैसे पैदा होगी? प्रलय-काल के बाद पैदा होनेवाली सृष्टि समान स्वरूप की होनी चाहिए? उसका उत्तर 'ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य' में यह दिया है कि सृष्टि अनादि है। अत सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दोनो अनादि काल से चल रहे है। सृष्टि का प्रलय निर्बीज नही होता। सृष्टि के नाना प्रकार के सपूर्ण भेद प्रलय-काल में बीजरूप से परमात्मा मे और अव्यक्तरूप मे मौजूद रहते है। जब हम मानते है कि सृष्टि की उत्पत्ति चैतन्य-स्वरूप परमात्मा से है, तब सृष्टि का प्रलय भी उसी परमात्मा मे मानना होगा। यदि हम ऐसा न माने तो प्रलय-काल मे सब अज्ञानी जीव अपने आप मुक्त हो जायेंगे, ऐसा मानना पडेगा। अज्ञान दूर करने के लिए परमात्म-ज्ञान की जरूरत है, यह सिद्धान्त मिथ्या हो जायगा। फिर तो प्रलय-काल के बाद जब फिर से सृष्टि पैदा होगी तब ज्ञान से जिनका अज्ञान दूर हो गया, ऐसे मुक्त पुरुष भी पुन. पैदा होगे! भेद का बीज यदि अज्ञान रूप से प्रलय-काल में कायम न रहे तो परमात्मा से पुन. भेदयुक्त सृष्टि पैदा नही होगी। क्योकि परमात्मा सम होने से उससे पैदा होनेवाली सृष्टि सम नही हो सकेगी। किसी कारण से जब कोई कार्य पैदा होता है, तो कारण से एकरूप होते हुए भी दोनो मे कुछ फर्क रहता ही है। यदि कारण-कार्य मे कुछ भी फर्क न रहे तो दोनो के बीच कारण-कार्य-सबध ही न चल पायेगा। मिट्टी से बननेवाला घडा मिट्टी से एकरूप होते हुए भी मिट्टी और घडा दोनो को बिलकुल एक नही कह सकते।

विनोबाजी मार्मिक ढग से कहते है . "यदि कार्य कारण से यानी घड़ा मिट्टी से भिन्न है, ऐसा कहो तो हमारी मिट्टी हमारे पास रहने दो और अपना घडा तुम ले जाओ। घडे को मिट्टी से अलग नही कर सकते। किंतु मिट्टी से घड़ा एक-रूप है, थोडी-सी भी उनमे भिन्नता नही है, ऐसा कहते है तो घडा बनाने की जरूरत ही नही रहनी चाहिए। फिर तो खुशी से मिट्टी से पानी भरो। लेकिन मिट्टी और घडा बिलकुल यानी पूर्णरूप से

एक है, ऐसा समझकर मिट्टी से हम पानी नही भर पाते।"

सार यह कि कार्य कारण से एक होते हुए भी दोनो के बीच थोडा फर्क रहता है और यह फर्क अनिर्वचनीय है। इससे यह सिद्ध है कि जैसे मिट्टी मे अनत घडे छिपे रहते और कुम्हार का हाथ लगते ही वे प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मा मे भेद-युक्त सृष्टि के अनत पदार्थ वीजरूप मे और अव्यक्त-रूप मे छिपे रहते है। सृष्टि पैदा होने के समय वे सब अपने आप प्रकट होने लगते है और प्रलयकाल मे परमात्मा मे छिपकर दूसरी सृष्टि के आरभ मे फिर से प्रकट होने लगते हैं। इस तरह सृष्टि का उत्पत्ति-प्रलय-चक्र अनादि काल से अखड चला आ रहा है और भविष्य मे भी इसी प्रकार अखड चालू रहेगा। यही सृष्टि का स्वरूप है।

(३) सूर्यनारायण से जिन मनु ने यह ज्ञान पाया, उन्होने इक्ष्वाकु यानी श्रेष्ठ, अधिकारी साधक या मुमुक्षु को वताया। ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ साधक की जरूरत है। परमात्म-ज्ञान के लिए परम पुरुपार्थ की जरूरत है। इसलिए जो पात्र और योग्य अधिकारी हैं, जिनमे परमात्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा पैदा हुई है, ऐसे श्रेष्ठ साधक ही परमात्म-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

: २ :

एवं परपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदु.।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥

एव परपराप्राप्त=इस प्रकार परपरा से प्राप्त, **इम राजर्षय विदु.**=इस (योग) को राजर्पियो ने जाना, प्राप्त किया, **परतप**=हे अर्जुन, **महता कालेन**=वीच मे लवा समय इस (योग) के अनुष्ठान के विना ही वीतने से, **स योग**=वह योग, **इह नष्टः**=फिलहाल यहाँ टूट गया है।

इस श्लोक मे तीन वाते हैं १ पिछले श्लोक मे जो परपरा वतायी, उसके अनुसार इस योग को श्रेष्ठ मुमुक्षुओ से राजर्पियो ने जाना। २ लेकिन वीच मे लवा समय इस प्रकार वीता कि इस योग का अनुष्ठान करनेवाले नही रहे। ३ इस-लिए फिलहाल यह योग नष्ट-सा हो गया।

(१) **एवं परंपराप्राप्तं इम योगं राजर्षयः विदुः।** पिछले श्लोक मे परपरा वतायी कि सृष्टि के उत्पत्ति-काल मे भगवान् ने यह योग पहले सूर्यनारायण से कहा, फिर सूर्यनारायण के ज्वलत दृष्टान्त से विमलमना ऋपि-मुनियो ने अपने प्रयत्न से साधना कर इसे प्राप्त किया। ऋपि-मुनियो से श्रेष्ठ साधको ने जाना। 'मनु' यानी मनन करनेवाले ज्ञानी ऋषि-मुनि। **मननात् मुनि**—यह शकराचार्य की व्याख्या है। मनु ने यानी ऋषि-मुनियो ने इक्ष्वाकु यानी श्रेष्ठ साधको से कहा। इक्ष्वाकु का अर्थ साधक या मुमुक्षु है। 'ईक्ष' यानी देखना। साधक या मुमुक्षुजन परमात्मा को देखने की कोशिश करते रहते हैं, यह एक अर्थ हुआ। ईक्ष यानी ऑख, ऐसा अर्थ लिया जाय तो साधक या मुमुक्षु अखड जागृत रहते है, कभी अजागृति या मोहरूपी निद्रा उन्हे नही घेरती हैं। अखड जागृति और सावधानता मुमुक्षु की निशानी हैं। इसलिए ऋपि-मुनियो ने श्रेष्ठ साधको से, मुमुक्षुओ से कहा। मुमुक्षुओ ने ज्ञान प्राप्त किया। इन श्रेष्ठ मुमुक्षुओ से राजर्पियो ने इस योग को प्राप्त कर लिया, ऐसा भगवान् वतला रहे है।

प्राचीन जमाने मे राजाओ का जीवन पवित्र और वैराग्य-सपन्न होता था। राजा जनक का उदाहरण तो प्रसिद्ध ही है। उनकी यह विशेपता थी कि राजा होने पर भी, वाहरी जीवन वैभवयुक्त होने पर भी भीतर से वे अलिप्त थे। ऋपि, मुनि, ज्ञानी पर श्रद्धा रखते थे, नीति और धर्म से ही राज्य चलाने का सिद्धान्त स्वीकार करते थे। इसलिए उस समय की प्रजा भी नीतिनिष्ठ और धर्मनिष्ठ रहती थी और इसी कारण वहुत सुखी थी। प्रजा मे वहुत सयम था, क्योकि राजा भी वहुत सयमी थे।

राजा की श्रद्धा किसी योगी या ज्ञानी पर रहने से वे योगी या ज्ञानी राजाओ का मार्ग-दर्शन करते और उन महापुरुषो के मार्गदर्शन मे ही वे राज्य चलाते। इस प्रकार राजाओ का जीवन योगयुक्त होता था।

भगवान् ने 'राजा' शब्द इस्तेमाल न कर 'राजर्षि' शब्द इस्तेमाल किया है। राजा का जीवन ऋषि-मुनियो की तरह होने से राजा को ऋषि की पदवी प्राप्त हो गयी थी। नवे अध्याय के ३३वे श्लोक मे भी 'राजर्षि' शब्द आया है।

साढे तीन सौ साल पहले शिवाजी महाराज समर्थ रामदास स्वामी से पूछकर ही राज्य चलाते थे। इसी कारण शिवाजी महाराज का जीवन पवित्र रहा। भगवान् ने एक समय शिवाजी महाराज की कसौटी भी की। एक खूबसूरत मुसलमान बहन शिवाजी महाराज के पास लायी गयी। उस बहन को देखकर शिवाजी महाराज को तनिक भी विकार नही आया। इतना ही नही, उस बहन को अपवित्र उद्देश्य से ले आनेवाले अपने साथियो को महाराज ने उलाहना दिया और कुछ आदमियो के साथ उसे सुरक्षित रूप से उसके घर भिजवा दिया। शिवाजी महाराज को तो बीच मे इतना वैराग्य हो गया था कि तुकाराम महाराज को सारा राज्य अर्पण करने लगे। तुकाराम महाराज द्वारा बहुत समझाने पर वे रुके।

(२) राजर्षियो द्वारा इस योग को जान लेने के बाद बीच मे लबा समय इस प्रकार बीता कि इसका अनुष्ठान ही नही हुआ। राजा और प्रजा, सभी भोगो मे आसक्त हो गये। साधारण मनुष्य की प्रवृत्ति पतन की तरफ ही रहती है। उसे रोकने के लिए नीति और धर्म की प्रवृत्ति है। पच-महाव्रतो का पालन भी इसीके लिए है। धर्म, नीति और व्रतो के पालन से आदमी सयम के मार्ग पर स्थिर रहता है। लोग धर्मनिष्ठ, नीतिनिष्ठ और व्रत-नियमनिष्ठ रहे, इसके लिए भगवान् भी अवतार लेते है। यहाँ भगवान् बता रहे है कि बीच मे एक लबा समय इस प्रकार बीत गया कि इस योग का अनुष्ठान करनेवाला कोई नही रहा।

(३) तीसरी बात यह कि योग की परपरा नष्ट हो गयी। योग का अनुष्ठान करनेवाले, उसका आचरण करनेवाले ही नही रहे तो योग की परपरा का नष्ट होना स्वाभाविक ही है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है

"इस योग को राजर्षियो द्वारा जान लेने के बाद अब तक इस निष्काम कर्मयोग को किसीने जाना ही नही यानी किसीको यह योग मालूम ही नही हुआ। क्योकि सब प्राणी विषयोपभोग के चक्कर मे फँस गये। देह के लिए ही सबमे आदर पैदा हुआ यानी देहासक्ति मे ही सब पड गये। फलस्वरूप सब लोगो को आत्मज्ञान का विस्मरण हो गया। आत्मबोध यानी परमात्म-ज्ञान की आस्था यानी श्रद्धा रखनेवाली बुद्धि गलत रास्ते पर चलने के कारण सब लोगो को विषय-सुख ही परम सुख लगने लगा। और देहादि प्रपच ही प्राणो से भी प्यारा हो गया। दिगबर जैन-साधुओ के, जो सदा नग्न रहते है, सघ मे कीमती कपडो का क्या महत्त्व ? जन्मान्ध के लिए सूर्य का क्या महत्त्व ? या बहरो की सभा मे सगीत की क्या कीमत हो सकती है ? इसी तरह जो लोग वैराग्य-नगर की सीमा तक ही नही पहुँचे, जिन्हे मालूम ही नही कि विवेक किसे कहते है, वे मूर्ख-पुरुष परमात्मा की तरफ कैसे मुड सकते है ?"

: ३ :

स एवाय मया तेऽद्य योग प्रोक्त. पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

स एव अयं पुरातन योग=वही यह प्राचीन समता का निष्काम कर्मयोग, **मया ते अद्य प्रोक्त**=मैंने तुमसे आज कहा, **मे भक्त. असि च सखा असि इति**=क्योकि तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिए कहा, **हि एतत् उत्तम रहस्य**=क्योकि यह जीवन का उत्तम-से-उत्तम रहस्य है।

इस श्लोक मे तीन बाते है १ प्राचीन-काल से चला आया, लेकिन जिसकी परपरा बीच मे टूट गयी, वही पुराना योग मैंने तुम्हे आज बतलाया है। २ क्योकि तुम मेरे भक्त और मित्र भी हो। ३ यह जीवन का उत्तम-से-उत्तम रहस्य या सार है, इसलिए कहा।

(१) पहली बात है—**स एव अयं मया ते अद्य पुरातन योगः प्रोक्तः**। पुराने जमाने से चला आया, लेकिन जिसकी परपरा बीच मे टूट गयी, वही योग आज तुमसे मैंने कहा। कोई नयी बात नही कह रहा हूँ। हिन्दुस्तान की अनेक विशेषताएँ है। चार आश्रम-धर्म, चार पुरुषार्थ आदि ये विशेष कल्पनाएँ समाज के कल्याण के लिए उपयोगी साबित हो चुकी है। वैसे ही गुरु-परपरा और ज्ञान-परपरा की विशेष कल्पनाएँ भी समाज की आध्यात्मिक उन्नति के लिए जरूरी है। गुरु यानी मार्गदर्शक। पहले-पहल जिन ऋषि-मुनियो ने सूर्य का उदाहरण सामने रखते हुए अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म-ज्ञान प्राप्त किया, उन्हे जितना कष्ट हुआ, उनके जमाने के साधको और बाद मे होनेवाले साधको को वह न हो और आसानी से ज्ञान की जिज्ञासा रखनेवाले साधक या मुमुक्षु को परमात्म-ज्ञान हो जाय, इस करुणा-बुद्धि से उन्होने वह ज्ञान देना शुरू किया, शास्त्र की रचना की।

उपनिषद् के मत्र ऋषि-मुनियो के ही रचे हुए है। उस जमाने मे गुरुगृह मे बचपन मे ही १२ साल तक लडके को भेजने की प्रथा थी। इस पद्धति से ज्ञान-परपरा को टिकाये रखने मे बहुत सहायता मिली। यह परपरा उस जमाने से इतनी दृढ हो गयी थी कि गुरु के बिना किसीको ज्ञान नही मिल सकता।

शकराचार्य अलौकिक ज्ञानी पुरुष हो गये, लेकिन उन्हे भी ज्ञान गुरु से ही मिला। ज्ञानेश्वर महाराज अलौकिक योगी थे, लेकिन उन्हे भी अपने बडे भाई गुरु निवृत्तिनाथ से ही ज्ञान प्राप्त हुआ। गुरु से ज्ञान मिलने से एक बडा लाभ यह होता है कि प्राप्त ज्ञान मे अभिमान नही होता। मोक्ष यानी परमशून्यता। इस तरह अधिकारी गुरु मिलने पर चित्त मे परमशून्यता जल्दी पैदा हो सकती है। गुरु यानी समर्पण। 'सारी क्रियाएँ परमात्मा को समर्पण करके करो' यह गीता का उपदेश है। लेकिन परमात्मा तो निर्गुण, निराकार, अव्यक्त है। उसे अर्पण करके सब कर्म करने का उपदेश अमल मे लाने मे कठिनाई होती है। लेकिन गुरु तो प्रत्यक्ष रहता है, इसलिए उसीको सब अर्पण करके जीना आसान है।

सत तुलसीदासजी ने कहा कि **मो ते संत अधिक करि लेखा**—मुझसे यानी परमात्मा से सत को अधिक समझकर चलो। ज्ञानेश्वर महाराज भी **सत हे माझी रूपडी**—सत यह मेरा ही रूप है, ऐसा कह रहे है। गाधीजी को भी हिन्दू-धर्म के बारे मे जब शका हुई, तो उन्होने श्रीमद् राजचद्रभाई से पूछा और उनसे गाधीजी को समाधान हुआ। गीता मे सतो के लक्षण वर्णित है। सत तुलसीदासजी ने भी उनका वर्णन किया है। ये लक्षण जिस पुरुप मे दिखाई दे, उस पुरुप को अपने जीवन का मार्गदर्शक बना सकते है। इस प्रकार प्राचीन काल मे ज्ञान-परपरा गुरु-परपरा से टिकी रही।

(२) दूसरी बात यह है कि मैंने तुमसे यह योग इसलिए कहा कि तुम मेरे यानी परमात्मा के भक्त हो, श्रद्धालु और मित्र भी हो। स्वय श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन के पास मौजूद थे, इसलिए स्थूल रूप से कह रहे है कि तुम मेरे भक्त और मेरे मित्र भी हो, इसलिए तुम ज्ञान के अधिकारी हो। मैंने तुमसे वही पुराना योग कहा।

अर्जुन को निमित्त बनाकर सबके लिए भगवान् यह आध्यात्मिक नियम ही बतला रहे है कि यह परमेश्वरार्पण-बुद्धि का योग किससे कहना चाहिए। वे बतला रहे है कि जिनमे परमात्म-श्रद्धा पैदा हुई है, जो परमात्मा के मित्र है—परमात्मा सब

जगत् मे व्याप्त है, इसलिए परमात्मा यानी जगत् लेना चाहिए—यानी जगत् के साथ जिनके मन मे मित्रता का भाव है, वे इस परमेश्वरार्पण-बुद्धि का योग सुनने के अधिकारी है । जगत् के प्रति मित्रता के भाव का अर्थ है जगत् के साथ के व्यवहार मे काम, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेप आदि का अभाव । यह योग सुनने के लिए भगवान् ने दो शर्ते वतायी है

१ परमात्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति और २ जगत् के सव प्राणियो के साथ मित्रता का सवध । जो पुरुप ये दो शर्ते पालन कर सकते है, उनसे यह गीतारूपी अमृत कहने मे कोई हर्ज नही ।

(३) भगवान् तीसरी चीज यह वतला रहे है कि यह परमेश्वरार्पण-बुद्धि का योग उत्तम रहस्य है । जगत् मे जितने भी रहस्य है—जितनी भी गुप्त-गूढ वाते है, उनमे सवसे उत्तम रहस्य यानी गूढ-गुप्त यह योग है । रहस्य का एक अर्थ गूढ और गुप्त है तो दूसरा अर्थ है सारभूत वस्तु । जीवन मे कोई सारभूत वस्तु है तो यह योग ही है। क्योकि यह योग सव सकटो से वचा लेता है, सव वधनो से मुक्त कर देता है, परमात्मा का अनुभव कराता है और मोक्ष यानी अखड सुख प्राप्त कराता है । यह योग स्थूल चीज नही है। इस योग का निवासस्थान मन है और यह अनुभवगम्य है । वुद्धि से इस योग की सिर्फ कल्पना ही हो सकती है । जव यह योग अनुभव मे आता है, तभी उसका उपयोग है । यह सूक्ष्म है, इसीलिए गूढ-गुप्त है यह योग चाहे जिसके मन मे वैठेगा भी नही । तुलसीदासजी ने कहा है

राम कथा के ते अधिकारी ।
जिन्हके सतसगति अति प्यारी ॥

जिन्हे सत्सगति अतिप्रिय है वे ही राम-कथा सुनने के अधिकारी है । इसलिए भगवान् ने कहा है कि जो परमात्मा के भक्त है और जगत् के मित्र है, वे ही इस रहस्य को सुनने के अधिकारी है । गीता के १८वे अध्याय मे ६७ से लेकर ७१वे श्लोक तक के पाँच श्लोको मे यही वात कही गयी है ।

: ४ :

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वत. ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

भवतः जन्म अपर=आपका जन्म तो अर्वाचीन है, **विवस्वत. जन्म पर**=सूर्य का जन्म सृष्टि के आरभ मे हुआ है, **त्व आदौ प्रोक्तवान्**=इसलिए आपने सृष्टि के आरभ मे सूर्य से कहा, **इति एतत् कथ विजानीया**=इस प्रकार का कथन कैसे सत्य समझूँ ?

इस श्लोक मे अर्जुन ने तीन वाते पूछी है १ आपका जन्म अर्वाचीन है । २. और सूर्य-नारायण का जन्म सृष्टि के विलकुल प्रारम्भ मे हुआ है । ३ ऐसी स्थिति मे आप जो कह रहे है कि मैने सृष्टि के आरभ मे यह योग सूर्य से कहा, यह सच है, ऐसा कैसे समझूँ ?

(१) **अपरं भवतः जन्म** । अर्जुन का पहला प्रश्न है कि आपका जन्म तो अभी का है । अर्जुन के मन मे यह प्रश्न इसलिए उठा कि वह भगवान् कृष्ण को देहधारी समझ रहा है। कृष्ण भगवान् साधारण देहधारी जीव है, ऐसा तो अर्जुन नही समझ रहा है । लेकिन उसे यह ज्ञान नही कि वे परमेश्वर के साक्षात् अवतार है । परमात्मा को जव अवतार धारण करना पडता है, तव देह तो धारण करनी ही होगी । देह के विना परमात्मा प्रकट नही होगे । मगर कृष्ण भगवान् के अवतार की विशेषता यह थी कि वे अलौकिक होते हुए भी किसीको अलौकिक नही लगते थे । इसी कारण अर्जुन यह नही समझ रहा है कि भगवान् ने जो अनेक अवतार लिये, उसमे यह 'कृष्ण' का भी एक अवतार है । ११वे अध्याय मे जव भगवान् ने अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया, तव उसे पता चला कि कृष्ण भगवान् तो परमात्मा के अवतार है ।

अनेक ज्ञानी पुरुष इतने सीधे-सादे रहते हैं, उनका बाह्य स्वरूप इतना साधारण रहता है कि उनकी आन्तरिक अलौकिक महत्ता की पहचान निकट के लोगो को भी नही हो पाती । इसलिए नजदीक रहनेवालो को महापुरुपो का जितना लाभ होना चाहिए, उतना नही होता । अग्रेजी मे एक कहावत है **निअरर द चर्च फरदर फ्राम गॉड** अर्थात् जो मदिर के जितने नजदीक रहते है वे परमात्मा से उतने ही दूर रहते हैं । सस्कृत मे भी एक वचन है । **अतिपरिचयात् अवज्ञाः** अति-परिचय होने पर महापुरुपो मे भी अनेक दोप दीखने लगते है, उनकी आज्ञा का भग करने मे भी हिचक नही होती । इसलिए महापुरुपो के अतिनिकट रहने मे यह जिम्मेदारी रहती है कि उनके वारे मे आदरभाव कम न हो, उनके प्रति दोष-दृष्टि पैदा न हो । इस प्रकार का ख्याल रखकर जागृत रहकर जो महापुरुपो के सहवास मे रहते हैं, उन्हे वहुत लाभ होता हैं । महापुरुपो का जो दिव्य आचरण होता है, हरएक क्रिया मे जो वारीकी, सूक्ष्मता रहती है, उसे देखने का मौका नजदीक रहने पर सहज मे मिल जाता है और उसका प्रभाव अपने आचरण पर भी पडने लगता है । हमारे प्राचीन ग्रथो मे भगवान् का जो ऐतिहासिक वर्णन आता है, उससे भी हम भगवान् को देहधारी समझकर उनकी अवतार-लीला का सही रहस्य नही समझ पाते ।

सत तुलसीदासजी की रामायण (मानस) एक अद्भुत ग्रथ है। रावण द्वारा सीता के ले जाने के वाद श्रीरामचन्द्रजी को जो सीता-विरह का दुख हुआ, उससे पार्वती के मन मे भी शका हो गयी कि यह भगवान् कैसा, जो सीता के विरह मे दुख का अनुभव करता है ? लेकिन वारीकी से तुलसी-रामायण का अध्ययन करने पर मालूम हो जाता है कि तुलसीदासजी के मन मे तो वे ही रामचन्द्रजी हैं, जो सपूर्ण जड-चेतन मे निवास कर रहे है । उन्होने लिखा भी है

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि ।
बंदउ सवके पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

—'जगत् मे जितने भी जड, चेतन पदार्थ है वे सव राममय समझकर उनके पदकमलो को हाथ जोडकर वदन करता हूँ ।' फिर लिखते है

सीय राममय सव जग जानी ।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥
जानि कृपाकर किंकर मोहू ।
सब मिलि करहु छाँडि छल छोहू ॥

—'सपूर्ण जगत् को सीता-राममय समझकर उनको मै दोनो हाथ जोडकर प्रणाम करता हूँ । मुझे अपना दास समझकर सव कृपा करे और सव मिलकर मुझ पर निष्कपट प्रेम करे ।' जगत् के प्रति तुलसीदासजी ने परमात्म-दृष्टि रखी । यह जो सवमे व्याप्त भगवान् है, उन्हीका अवतार अयोध्यावासी रामचन्द्रजी है, ऐसा समझकर सवकी समझ मे आये, ऐसा रामचन्द्रजी का ऐतिहासिक वर्णन किया । वर्णन करते समय मन मे व्यापक परमात्मा को रखते हुए वाहर से रामचन्द्रजी का चरित्र-चित्रण किया है ।

(२) दूसरी वात अर्जुन यह पूछ रहे है कि सूर्य का जन्म तो सृष्टि के आरभ मे हुआ है ?

(३) तीसरी वात, ऐसी परिस्थिति मे यह मै कैसे जानूँ कि आपने ही यह निष्काम कर्मयोग पहले-पहल सूर्य से कहा ?

विनोवाजी कहते है "गीता मे युद्ध की जो परिभापा दी गयी हे, उसका आध्यात्मिक अर्थ तीसरे अध्याय के आखिरी प्रकरण के आठ श्लोको मे वर्णित है । युद्ध का स्थूल अर्थ न लकर सूक्ष्म यानी आध्यात्मिक अर्थ यह है कि हरएक के मन मे जो काम-क्रोधादि विकार हैं, वे ही वास्तविक शत्रु है । उनके साथ युद्ध करके उसपर विजय प्राप्त करनी है ।" वे कहते है "गीता के उपदेश का आरभ दूसरे अध्याय के ११वे श्लोक मे

'आत्मज्ञान' कथन से होता है और तीसरे अध्याय के आखिरी प्रकरण के आठ श्लोकों मे 'काम-हनन' मे उसकी परिसमाप्ति हो जाती है। सूत्ररूप से यानी थोडे मे गीता तीसरे अध्याय मे समाप्त हो जाती है। चौथे अध्याय के पहले तीन श्लोको मे ज्ञान की परपरा बतायी है। 'काम को यानी काम, क्रोध आदि विकारो को शत्रु समझकर चलो यानी उनका त्याग करो' यह वाक्य तीसरे अध्याय के अतिम श्लोक मे आया है। इस तरह चौथे अध्याय के पहले तीन श्लोको के साथ दूसरा और तीसरा अध्याय मिलकर जो १०८ श्लोक है, वे गीता के बीज के रूप मे है और उसी बीज का विस्तार १८वे अध्याय के अन्त तक हुआ है, ऐसा मान सकते है।"

: ५ :

श्रीभगवान् उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्ज़ुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

अर्ज़ुन मे च तव=हे अर्जुन मेरे और तेरे, बहूनि जन्मानि व्यतीतानि=अनेक जन्म हो चुके है, अह तानि सर्वाणि=मै उन सब जन्मो को, वेद=जानता हूँ, परतप त्वं न वेत्थ=लेकिन हे अर्जुन, तू उनको नही जानता।

इस श्लोक मे तीन बाते है १. मेरे और तेरे अनेक जन्म हो गये है। २ मुझे उन सब जन्मो का स्मरण है। ३ तुझे मेरे या अपने जन्मो का स्मरण नही है।

(१) **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव च।** अर्जुन ने जो प्रश्न पूछा, वह प्रश्न सबके मन मे उठता है। अर्जुन को सबका प्रतिनिधि ही समझना चाहिए। अज्ञ जीवो के मन मे जो प्रश्न खडे होते है, वे ही अर्जुन पूछता है। क्योकि वह भी अज्ञानावस्था मे है, इसलिए उसके मन मे भी इस प्रकार के प्रश्न उठना स्वाभाविक है। आज पुनर्जन्म मानने मे लोगो की श्रद्धा कम है। फिर भी हिन्दुस्तान की आम जनता पुनर्जन्म पर श्रद्धा रखती है।

गाधीजी से पुनर्जन्म के बारे मे १९३१ मे मैने प्रश्न पूछा था। उन्होने जवाब दिया था. "पुनर्जन्म सिद्ध करने के लिए एक ही कारण काफी है और वह कारण दूसरे अध्याय मे है। इस शरीर की उत्पत्ति के पहले आत्मा था और इसीलिए शरीर के नाश के बाद भी वह रहेगा। यदि ऐसा न माने तो शरीर ही आत्मा बन जायगा। इस मूल कारण से और सब कारण घटा सकते है।"

यदि हम पुनर्जन्म न माने तो हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा। हरएक आदमी के चित्त मे अलग-अलग सकल्प रहते है। उन सकल्पो को सिद्ध करने के लिए वह कोशिश करता रहता है। सकल्प एक ही जन्म मे पूर्ण होते है, ऐसा देखने मे नही आता। उन सकल्पो को पूर्ण करने के लिए एक देह छूटने के बाद दूसरी देह प्राप्त होना स्वाभाविक है। यदि ऐसा न माने तो सकल्प व्यर्थ हो जायँगे, क्योकि सकल्प के पीछे सकल्प पूरा करने की कामना रहती है। सकल्प अपूर्ण रहे, इस खयाल से कोई सकल्प नही करता। सकल्प करनेवाले की यही इच्छा रहती है कि वह सकल्प पूर्ण सफल हो। नदी के अखड प्रवाह की तरह हरएक आदमी के जीवन का एक स्वतत्र प्रवाह है। वह प्रवाह अनेक जन्मो तक चलता रहता है। समुद्र मे मिलने के बाद नदी का प्रवाह पूरा हो जाता है। वैसे ही हम जन्म लेते है, तो अपूर्ण है, यही महसूस होता है। इसी अपूर्णता को दूर करने की हमारी सतत कोशिश रहती है।

दर्शन के अनुसार जब तक हम देह को आत्मा मानते है, तब तक उस अज्ञान के कारण देह के प्रति आसक्ति रहती है। उस आसक्ति के कारण ही मनुष्य मे जीवित रहने की प्रबल लालसा रहती है। कोई पुरुष मरना पसद नही करता। सब लोग दीर्घकाल तक जीना चाहते है। जब देहासक्ति इतनी प्रबल रहती है, तब एक के बाद एक जन्म लेते रहना स्वाभाविक ही है।

अब यह जन्म-चक्र कब तक चालू रहेगा, यह सवाल पैदा होता है। जब तक देह की आसक्ति है, तब तक जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा नही मिल सकता। आसक्ति से हमे देह मिली है, इसलिए वह आसक्ति और अज्ञान दूर होने के बाद ही हमे जन्म-मृत्यु के चक्र मे मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा मुक्ति सभव नही। जब हम वर्तमान मे रहते है तो भूतकाल मानना ही पडेगा और भविष्य भी मानना पडेगा। वर्तमानकाल भूतकाल मे विलीन होता है और भविष्यकाल वर्तमानकाल मे दाखिल होता है। इस प्रकार तीनो कालो का कालचक्र अखड रूप से चलता रहता है। इसलिए देह की उत्पत्ति आकस्मिक नही है। हमारी देह भूतकाल मे थी, वर्तमानकाल मे है और भविष्यकाल मे भी रहेगी। जब तक परमात्म-स्वरूप की पहचान नही होती तब तक जन्म-मृत्यु के अखड-चक्र को टाल नही सकते। एक ही माता-पिता के घर पाँच लडके पैदा होते है। लेकिन उनमे से एक की प्रवृत्ति त्याग की तरफ रहती है तो दूसरे की भोग की तरफ। यह सब पूर्वजन्म का सस्कार है, यही मानना पडेगा।

(२) **तान्यहं वद सर्वाणि**। भगवान् दूसरी बात यह बतला रहे है कि मै अपने और तुम्हारे सब पूर्वजन्मो को जानता हूँ।

(३) तीसरी बात यह बतला रहे है कि तू पूर्वजन्मो को नही जानता, मै पूर्वजन्मो को जानता हूँ और तू नही जानता, इसका कारण शकराचार्य अपने गीताभाष्य मे कहते है

न त्वं वेत्थ जानीषे, धर्माधर्मादिप्रतिबद्ध-ज्ञानशक्तित्वात्। अहं पुन नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावत्वात् अनावरणज्ञानशक्तिरिति वेद अहं हे परतप।

अर्थात्—तुम पूर्वजन्मो को नही जानते, क्योकि धर्म, अधर्म आदि के आचरण मे तुम्हारी पूर्वजन्मो को जानने की ज्ञान-शक्ति प्रतिबद्ध हो गयी है यानी ढँक गयी है। लेकिन मै नित्य शुद्ध-स्वभाव, ज्ञान-स्वभाव और मुक्त-स्वभाव हूँ, अत मेरी पूर्वजन्म जानने की ज्ञान-शक्ति आवरणरहित है। इसलिए मै पूर्वजन्मो को जानता हूँ और तुम नही जानते।

भगवान् अपने जन्मो को जानते है, क्योकि उनकी ज्ञान-शक्ति ढँकी नही रहती। उस पर कोई आवरण नही रहता। क्योकि भगवान् अति शुद्ध-स्वभाव-युक्त और मुक्त-स्वभावयुक्त यानी अत्यत निर्विकार और बुद्ध यानी अखड ज्ञान-स्वभावयुक्त है। लेकिन हम सब जीव धर्म और अधर्म से लिपटे रहते है, पापाचरण करते रहते है। उसके सस्कार भी जमे रहते है। हम काम-क्रोधादि विकारो के अधीन रहते है। अहकार से युक्त तो है ही। इस कारण हमारी ज्ञान-शक्ति प्रतिबद्ध रहती है और पूर्वजन्म का ज्ञान नही होता। लेकिन ऐसे ज्ञानी पाये जाते है जिन्हे पूर्वजन्म का ज्ञान या स्मरण रहता है। उन्हे **जातिस्मर** की सज्ञा या नाम दिया गया है।

विनोबाजी का पूर्वजन्म-विषयक अनुभव इस प्रकार है "मै अपना ही एक अनुभव बता रहा हूँ। उस समय मै पाँच साल का बच्चा था। माँ के साथ नाना के घर जा रहा था। हम लोग प्लैटफार्म पर बैठे रेलगाडी की राह देख रहे थे। सहसा मेरी आँखो के सामने एक दृश्य उपस्थित हुआ। मैने देखा कि एक घर है, उसका एक बडा दरवाजा है। फिर एक बगीचा है, दाहिनी ओर एक सीढी है। मैने तब तक कभी भी वह घर नही देखा था। लेकिन बाद मे जब मै नाना के घर पहुँचा तो मुझे ताज्जुब हुआ। नाना का घर ठीक वैसा ही था, जैसा मैने देखा था। फिर मैने माँ से उस घटना के बारे मे पूछा तो उसने कहा कि पूर्व-जन्म के कुछ ऋणानुबध होगे। मै अभी तक उसे भूला नही हूँ।"

जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो, उन्हे पूर्वजन्म का स्मरण हो सकता है। एक दफा विनोबाजी मे

पूर्वजन्म के विषय मे पूछा गया, तो उन्होने जवाब दिया. 'मै सब कामो से मुक्त हो जाऊँ और ध्यान-मग्न हो जाऊँ तो पूर्वजन्म मे मै कौन था, यह ठीक-ठीक बता सकूँगा।' फिर कहा कि 'शायद मै पूर्वजन्म मे बगाली था।' इसका कारण बताते हुए कहा कि 'जब पहली बार बगाली किताब हाथ मे ली तो लगा कि मुझे बगाली भाषा आती ही है। रामकृष्ण परमहस के आकर्षण आदि से भी मेरा यही अनुमान है।'

: ६ :

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभवाम्यात्ममायया॥

अह अज. अपि सन्=मै जन्मरहित होकर भी (और), **अव्ययात्मा अपि सन्**=मेरा ज्ञानशक्ति-स्वरूप कभी क्षीण न होनेवाला होते हुए भी (और), **भूताना ईश्वरः अपि सन्**=सब भूतो का ईश्वर यानी नियमन करनेवाला होने पर भी, **स्वा प्रकृति अधिष्ठाय**=अपनी अचित्य माया नामक प्रकृति मे अधिष्ठित होकर यानी उसे वश मे रखकर, **आत्ममायया सभवामि**=अपनी अचिन्त्य सामर्थ्य से मै जन्म लेता हूँ।

इस श्लोक मे तीन बाते है १ मै अज, अव्यय और सब भूतो का ईश्वर यानी नियमन करनेवाला होता हुआ भी, २ माया नामक जो अलौकिक शक्ति है उसमे अधिष्ठित होकर, ३ अपनी अचित्य सामर्थ्य से मै जन्म लेता हूँ।

(१) **अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।** इस पहले चरण में पहली बात यह बतलायी है कि मै अज हूँ यानी अजन्मा हूँ। जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु भी है। अगर भगवान् का जन्म माना जाय, तो उनकी मृत्यु भी माननी पडेगी। अत परमात्मा को अज मानना पडता है। परमात्मा जिस प्रकार अज है, उसी प्रकार अव्यय भी है। परमात्मा मे सृष्टि पैदा करने की शक्ति हम माते तो उसमे ज्ञानशक्ति यानी चैतन्यशक्ति है, यह भी मानना होगा। क्योकि ज्ञान-शक्ति के बिना सृष्टि के नाना प्रकार के पदार्थो को उत्पन्न करना असभव है। फिर, वह ज्ञान-शक्ति भी अखड चल रही है और क्षीण भी नही होती। जीवो की ज्ञान-शक्ति क्षीण होती रहती है, क्योकि हम देह के, इद्रियो के, मन के, बुद्धि के अधीन होते हैं, इसलिए हमारी ज्ञान-शक्ति क्षीण होती रहती हैं। हम देहादि मे आसक्त होकर फँस जाते हैं। परमात्मा आसक्त न होने के कारण फँसता नही है। इसलिए परमात्मा की ज्ञान-शक्ति अकुठित, अक्षीण, अखड रहती है। इसी कारण वह सारे जगत् का नियत्रण कर पाता है। जिनका चित्त विशुद्ध हो गया है, जिन्होने अखड निर्विकारता प्राप्त कर ली है, उनकी ज्ञान-शक्ति की रुकावट दूर होने से समाज पर उनका नियत्रण चलता है। सतो के नियत्रण से समाज को लाभ पहुँचता है।

सृष्टि मे अनत पदार्थ पैदा होते हैं, कुछ काल तक उनकी स्थिति रहती है, फिर अत मे उन पदार्थो का विनाश होता है। इस प्रकार पदार्थो की उत्पत्ति, स्थिति और नाश हमारे देखने मे आता है, तब उसका कोई नियता यानी नियत्रक होना चाहिए, यह हमे मानना पडेगा। वह नियत्रण करनेवाली जो शक्ति है, उसमे केवल ज्ञान-शक्ति हो तो भी नही चलेगा। ज्ञान-शक्ति के साथ उसमे क्रिया-शक्ति यानी पदार्थो को उत्पन्न करने और उन्हे कुछ काल तक कायम रखने की शक्ति होनी चाहिए। इसलिए परमात्मा दो शक्तियो से सजा हुआ है। एक चैतन्य-शक्ति और दूसरी क्रिया-शक्ति यानी पैदा करने की सर्ग-शक्ति। इन दो शक्तियो का परमात्मा मे अखड अस्तित्व है। अतः वह इस जगत् का नियत्रण करनेवाला है।

(२) दूसरी बात भगवान् यह बतला रहे है कि **प्रकृति स्वामधिष्ठाय** यानी अपनी शक्ति जो प्रकृति है उसमे अधिष्ठित रहते है, अपनी प्रकृति के स्वामी रहते है। प्रकृति परमात्मा के अधीन

रहती है। परमात्मा की सर्ग-शक्ति यानी देह आदि नाना प्रकार के असख्य पदार्थ पैदा करने की शक्ति उसके अधीन न रहे, तो खुद चैतन्य यानी ज्ञान-शक्ति से सपन्न होते हुए भी वह शरीर आदि जगत् पैदा नही कर सकेगा। कोई भी छोटा या वडा कार्य हो, उसके करने मे ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनो की जरूरत होती है। सिर्फ क्रिया-शक्ति है और ज्ञान-शक्ति नही या सिर्फ ज्ञान-शक्ति है और क्रिया-शक्ति नही, तो भी हमारा कार्य नही वनेगा।

ईश्वर के पास दोनो शक्तियाँ है। उसने हमे भी दो शक्तियाँ दी है। हमारे शरीर मे मन, वुद्धि, पच ज्ञानेन्द्रियाँ, ये ज्ञान-शक्ति के साधन है। हाथ, पाँव आदि पच-कर्मेन्द्रियाँ और पच महाभूतात्मक शरीर क्रिया करने के साधन है। इन दो शक्तियो का विकास हम समान रूप से करते है तो हमारा जीवन पूर्ण विकसित होता है। इन दो शक्तियो मे सिर्फ ज्ञान-शक्ति का ही विकास हमने किया और क्रिया-शक्ति दुर्वल रह गयी तो हमारा ज्ञान पगु रहेगा यानी वह आचरण मे नही आ सकेगा। यदि क्रिया-शक्ति का ही विकास किया तो भी हमारे कार्य मे ज्ञान-शक्ति की अपूर्णता से कमी रह जायगी। ईश्वर मे ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति समान रूप से यानी पूर्णरूप से रहती है, वैसे ही हमे भी ईश्वर ने दो शक्तियाँ दी है। उनका पूर्णरूपेण विकास करते रहना चाहिए।

(३) तीसरी वात है—**आत्ममायया संभवामि।** परमात्मा अपनी माया से यानी अचित्य-अलौकिक सामर्थ्य से, शक्ति से जन्म लेते है, देह धारण करते है, अवतार लेते है। लेकिन हम जिस तरह देह मे आसक्त हो जाते है, वैसे परमात्मा आसक्त नही होते। इसलिए उनका अलिप्तता-पूर्वक जगत् का उद्धार करने का पवित्र कार्य चलता रहता है। परमात्मा सर्वशक्ति-सम्पन्न होने से उनके लिए कोई चीज अशक्य नही रहती, वह जो चाहे कर सकते है। ब्रह्म-सूत्र के शाकरभाष्य मे परमात्मा के वारे मे जिक्र है

एवं प्रवृत्तिरहितः अपि ईश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिः च सन् सर्वं प्रवर्तयेत् इति उपपन्नम्।

अर्थात्—इस प्रकार ईश्वर प्रवृत्तिरहित होते हुए भी सर्वत्र व्याप्त और सवका स्वरूप और सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् होने से सव-कुछ कर सकता है।

: ७ :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

भारत=हे अर्जुन, **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः**=जव-जव भी धर्म की ग्लानि, **च अधर्मस्य अभ्युत्थान**=और अधर्म वढ जाता है, **तदा अहं आत्मानं**=तव मैं अपने को, **सृजामि**=पैदा करता हूँ।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ जव कभी भी धर्म की हानि हो जाती है, धर्म क्षीण हो जाता है, २ इतना ही नही, अधर्म फैल जाता है, ३ (भगवान् कहते है) तव मै अवतार यानी शरीर धारण करता हूँ।

(१) **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः भवति।** इस त्रिगुणात्मक सृष्टि मे सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणो की आपस मे लडाई चलती रहती है। इन तीन गुणो के दो वर्ग है, यह हमने पहले देख लिया है। एक ओर सिर्फ सत्त्वगुण है और दूसरी ओर रजोगुण और तमोगुण। जव समाज मे सत्त्वगुण वढता है तव धर्म का, नीति का उत्कर्ष होता है। लेकिन जव रजोगुण और तमोगुण दोनो वढ जाते है, तव धर्म और नीति-निष्ठा समाज मे कम होने लगती है। सत्त्वगुण समाज को ऊँचा ले जानेवाला है। रजोगुण और तमोगुण समाज को नीचे ले जानेवाले गुण है। जव तक समाज मे सत्त्वगुण का उत्कर्ष करनेवाले व्यक्ति काफी

तादात मे मौजूद रहते है, तब तक समाज सत्त्वगुणी रहता है। उस समय भगवान् को अवतार लेने की जरूरत नही रहती। मगर जब सत्त्वगुण की उपासना करनेवाले लोगो की सख्या घट जाती है और रजोगुण और तमोगुण के पीछे पागल होनेवालो की सख्या बढ जाती है, तब भगवान् को अवतार लेना पडता है। इसलिए भगवान् ने पहले यह कहा कि 'जब भी धर्म का नाश होने लगता है'।

(२) दूसरी बात है 'अधर्म बहुत बढ जाता है' (तब मै अवतार धारण करता हूँ)। धर्म का नाश यानी अधर्म का बढना। प्रश्न खडा हो सकता है कि भगवान् ने ये दो बाते भिन्न रूप से क्यो बतायी? प्रश्न ठीक है, लेकिन अहिसा का अर्थ हिसा न करना, इतना ही नही, प्रेम करना, ऐसा दुहरा भी अर्थ है। तभी अहिसा का अर्थ पूर्णरूप से स्पष्ट होता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। 'सत्य बोलो', यह जब कहा जाता है तब 'झूठ मत बोलो', उसमे आ ही जाता है। फिर भी परिपूर्ण रीति से अर्थ स्पष्ट करने के लिए दो रीतियो से अर्थ बताने की परिपाटी रूढ है। 'सत्य बोलो', यह विधि है तो 'झूठ कभी न बोलो' यह निषेध है। शास्त्र विधि-निषेधो से युक्त होता है। शास्त्र जिन-जिन सिद्धान्तो का निरूपण करता है, उन-उन सिद्धान्तो का दुहरा रूप ही बतायेगा। इसीको 'विधि-निषेध' कहते है। 'धर्म का पालन करना मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है' ऐसा शास्त्र पहले बताता है। बाद मे बताता है कि 'अधर्म का आचरण नही करना चाहिए।' इस तरह जब धर्म का नाश हो जाता है और अधर्म बढ जाता है, तब—

(३) तीसरी बात यह है कि 'मै उस समय धर्म की स्थापना करने के लिए जन्म लेता हूँ यानी अवतार धारण करता हूँ।' शकराचार्य ने गीता-भाष्य के उपोद्घात मे कहा है

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्ति-लक्षणश्च। जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदय-निःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च श्रेयोऽर्थिभिरनुष्ठीयमानः।

अर्थात्—वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है: १ प्रवृत्ति-रूप और २, निवृत्तिरूप। जगत् की स्थिति का जो कारण है और प्राणियो की उन्नति का और मोक्ष का साक्षात् यानी प्रत्यक्ष कारण है, वही धर्म है और वह धर्म कल्याण की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण आदि वर्णो और चार आश्रमों द्वारा आचरण मे लाया जानेवाला है।

वेद सबसे प्राचीन प्रमाणभूत ग्रंथ है। वेद किसी ऋषि-मुनि का रचा हुआ ग्रथ नही है। साक्षात् ईश्वर के श्वास से ही वे पैदा हुए है, ऐसी कल्पना प्राचीन काल से चली आयी है। ये वेद चार है १ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद। वेद ने दो धर्म बताये है १ प्रवृत्ति-धर्म और २ निवृत्ति-धर्म। बाह्यरूप मे जिस स्वधर्म को आचरण मे लाते है, वह स्वधर्माचरण-रूप प्रवृत्ति-धर्म है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग का आतरिक अभ्यास निवृत्ति-धर्म है। भीतर अनासक्ति निवृत्ति है तो बाहर स्वधर्माचरण प्रवृत्ति है। स्वधर्माचरण से अभ्युदय यानी बाह्य उत्कर्ष और भीतर की अनासक्ति से निःश्रेयस् यानी मोक्ष दोनो मिलकर परिपूर्ण जीवन बनता है। यह दो प्रकार का धर्म सब वर्ण और सब आश्रम-वासियो के आचरण मे लाने के लिए वेद ने कहा है।

फिर शकराचार्य लिखते है.

दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवात् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यः विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणः ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन कृष्णः किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्यात् वैदिकः धर्मः तदधीनत्वात् वर्णाश्रमभेदानाम्।

अर्थात्—"बीच मे बहुत काल बीत जाने से अनुष्ठान करनेवालो मे विषय-वासना बढ जाने से, और जिसके पालन से विवेक और विज्ञान नष्ट हो जाते है, उस अधर्म से धर्म की पराजय हो जाने और अधर्म के बढ जाने के कारण जगत् की स्थिति की रक्षा करने की इच्छा रखनेवाले वे, 'आदिकर्ता', 'नारायण' जिनका नाम है, ऐसे विष्णु भगवान् भूलोक के यानी पृथ्वी के ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मणो के ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए वसुदेवजी से देवकी के गर्भ मे अपने अश से कृष्ण के रूप मे प्रकट हुए । क्योकि ब्राह्मणत्व के रक्षण मे ही वैदिक धर्म सुरक्षित रह सकता है । वर्ण और आश्रमो के भेद यानी विभाग ब्राह्मणो के ही अधीन है ।"

प्राचीन काल मे ब्राह्मणो की खूब प्रतिष्ठा थी । ब्राह्मण वर्ग अत्यत तेजस्वी, ज्ञान-सपन्न और चित्तशुद्धि-सपन्न होता था । ब्राह्मण-वर्ग के अधीन ही सारा समाज रहता था । आश्रम भी ब्राह्मणो की नैतिक और धार्मिक शक्ति के आधार से ही टिके रहते थे । ब्राह्मणो का ब्राह्मणत्व आजकल नही दिखाई देता, यह शोचनीय बात है ।

शकराचार्य आगे लिखते है

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य-शक्ति-बलवीर्य-तेजोभिः सदा संपन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजः अव्ययः भूतानां ईश्वरः नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावः अपि सन् स्वमायया देहवान् इव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् इव लक्ष्यते ।

अर्थात्—"ज्ञान, ऐश्वर्य-शक्ति, बल, वीर्य, और तेज से सपन्न भगवान् अपनी त्रिगुणात्मक यानी तीन गुणो से युक्त और व्यापक माया को अपने वश मे रखकर तथा स्वय अज, अव्यय और सब भूतो के ईश्वर यानी नियत्रक और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव होते हुए भी मानो लोगो की तरह शरीर धारण किये हुए और लोगो पर अनुग्रह करते हुए दीखता है ।"

शकराचार्य के दादागुरु आचार्य गौडपाद लिखते है

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जात तस्य हि जायते ॥

अर्थात्—"जो सत् है यानी विद्यमान है, उसका जन्म माया से ही हो सकता है । लेकिन सही अर्थो में वह जन्म कभी नही हो सकता । जिनके मत से सही रीति से जन्म, विद्यमान वस्तु का होता है, उनके मत से जो पहले से ही मौजूद है, वही फिर से अस्तित्व मे आता है ।"

गौडपादाचार्य कहते है कि अनादि काल से जो परमात्म-वस्तु चली आयी है, हमेशा विद्यमान रहती है, वह जन्म किस तरह ले सकती है ? लेकिन वह जन्म लेती हुई दिखाई देती है, तो उस जन्म को मायिक यानी भ्रामिक ही समझना चाहिए । लेकिन जो सदा विद्यमान वस्तु है, अगर वह सचमुच जन्म लेती है तब तो कहना होगा कि जो वस्तु पहले से ही है, वही पुन पैदा होती है । लेकिन ऐसा मानना गलत होगा । जो चीज विद्यमान नही रहती, वह वस्तु पैदा होती है, ऐसा सब लोग मानते है । जो विद्यमान है वह तो पैदा हो ही चुकी है, उसे पैदा क्या होना है ? इसलिए भगवान् अपनी अलौकिक माया से सारे जगत् का भास निर्माण कराते हुए अनुग्रह करने के लिए, लोगो की सुख-शाति के लिए उसी अलौकिक माया मे देह धारण कर अवतार-कार्य करने का भास कराते है । जगत् या अवतार भास होते हुए भी हमे जब तक जगत् सत्य लगता है, भास नही लगता, तब तक भगवान् का अवतार-कार्य हमारे लिए सत्य है । शकराचार्य आगे लिखते है

स्वप्रयोजनाभावे अपि भूतानुजिघृक्षया वैदिक हि धर्मद्वयं अर्जुनाय शोक-मोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैः हि गृहीतः अनुष्ठीयमानः च धर्मः प्रचय गमिष्यति इति । त धर्म भगवता

यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञः भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबंध ।

अर्थात्––"अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी भूतो पर अनुग्रह की इच्छा से, प्रवृत्ति और निवृत्ति-स्वरूप वैदिक धर्म का शोक-मोहरूपी महासमुद्र मे डूबे अर्जुन को उपदेश किया। क्योकि गुण-सपन्न लोगो द्वारा स्वीकार किया गया और आचरण मे लाया गया धर्म लोगो मे फैलता है, उसका विकास और वृद्धि होती है, यह समझकर भगवान् ने जिस प्रकार उसका उपदेश किया, उसी धर्म को सर्वज्ञ और पूजनीय वेदव्यासजी ने 'गीता' नामक सात सौ श्लोको के रूप मे रच डाला।"

: ८ :

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

साधूना परित्राणाय=साधुओ के रक्षण के लिए, **च दुष्कृतां विनाशाय**=और पापियो का विनाश करने के लिए, **धर्मसंस्थापनार्थाय**=धर्म की सस्थापना, समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए, **युगे युगे संभवामि**=प्रत्येक युग मे अवतार धारण करता हूँ।

इस श्लोक मे चार वाते है. १. साधुओ का भलीभाँति रक्षण करना, २ पापियो का नाश करना, ३. धर्म की स्थापना करना, ४ इन तीनो कार्यो के लिए हरएक युग मे (समय-समय पर) अवतार धारण करना।

भगवान् अवतार कैसे लेते है, यह छठे श्लोक मे वताया। अवतार कव लेते है, यह सातवे श्लोक मे वताया। किस कार्य के लिए अवतार लिया जाता है, यह इस श्लोक मे वता रहे है।

(१) **परित्राणाय साधूनाम्**। जो सन्मार्ग मे स्थित है, उन साधुजनो की रक्षा के लिए भगवान् अवतार लेते है, ऐसा एक उद्देश्य वता रहे है। एक प्रश्न यह खडा होता है कि साधुओ को रक्षण की क्या जरूरत है? साधु भी अपना रक्षण नही कर सकते, तो ऐसी असहाय, दुर्वल साधुता किस काम की? साधुजन अपने आत्म-वल से अपना रक्षण तो कर ही सकते है। स्वार्पण करके भी साधु-जन अपना रक्षण कर सकते है। यहाँ साधु का अर्थ महात्मा न करके सज्जन करना चाहिए। सज्जन सज्जनता फैलाने की कोशिश करते रहते है। सज्जनो का यह स्वभाव ही है। लेकिन सज्जनो का वल जव कम पड जाता है, सज्जन समाज मे जव कम हो जाते है और दुर्जनो का वल वढ जाता है, तव सज्जनो के रक्षण के लिए नही, लेकिन सज्जनता के रक्षण के लिए यानी धर्म-रक्षा के लिए भगवान् अवतार लेते है। महापुरुष अपनी सज्जनता का खुद ही रक्षण कर लेते है। इतना ही नही, वे समाज मे सज्जनता फैलाते भी है। सामान्य फूल से वहुत सुगन्ध नही फैल सकती। क्योकि उस फूल मे सुगन्ध तीव्ररूप मे नही रहती। लेकिन गुलाव जैसे सुगधित फूल की महक अपने आप वहुत फैल जाती है। वैसे ही सज्जनो की सज्जनता इतने ऊँचे दर्जे की नही होती कि वे दुर्जनता को रोक सके, उसका सामना कर सके। दुर्जनता का सामना महापुरुष ही कर सकते है। इसलिए सज्जनता पर जव दुर्जनता का आक्रमण होता है, तव दुर्जनता समाज मे फैलने की सभावना रहती है। दुर्जनता फैलने से समाज टिक नही सकता। समाज के सुव्यवस्थित रहने के लिए यह जरूरी है कि समाज मे दुर्जनता का वल न वढने पाये। सज्जनता का वल समाज मे ठीक परिमाण मे रहे, तभी समाज शाति से रह सकता है। अन्यथा समाज मे धांधली, अराजकता वढेगी और समाज छिन्न-विच्छिन्न हो जायगा। इसलिए भगवान् के अवतार का पहला उद्देश्य 'सज्जनता का वल वढे' यही कहा जायगा।

(२) दूसरी वात है–**विनाशाय च दुष्कृताम्**। दुर्जनो का नाश। यहाँ भी 'दुर्जनो का नाश' का शाब्दिक अर्थ न लेकर दुर्जनों की दुर्जनता का नाश करना,

यह अर्थ लेना चाहिए। राम ने रावण का सहार किया, ऐसा सब मानते है। इसका शाब्दिक अर्थ नही लेना चाहिए। भगवान् अवतार लेकर दुष्ट लोगो का सहार करते है, ऐसा शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो जनता के सामने भगवान् हिसा का उदाहरण पेश कर रहे है, ऐसा समझा जायगा। समाज के सामने हिसा का आदर्श रखने से समाज का कल्याण नही हो सकता। हिसा-वृत्ति समाज मे स्वाभाविक ही रहती है। हिसा-वृत्ति समाज मे सघर्ष पैदा करती है, समाज को गिराती है, इसलिए समाज के सामने हिसा का आदर्श कभी नही रखा जा सकता। आदर्श तो अहिसा का ही रखा जायगा। समाज का कल्याण या उत्कर्ष हिसा-वृत्ति का क्षय करके अहिसा का विकास करने मे ही है। राम ने स्थूल रावण का सहार किया, ऐसा मानने के बजाय यही मानना उचित होगा कि समाज मे जो रावण-तत्त्व बढ गया था यानी आसुरी वृत्ति बढ गयी थी, उसे रामचन्द्रजी ने अपने आत्मिक बल से नष्ट कर दिया। दुर्जनता नष्ट करना ही अवतार-कार्य है।

स्वामी विवेकानन्द एक दफा गाजीपुर के सत्पुरुष पवहारी बाबा के पास कुछ दिन सत्सग के लिए गये थे। रात मे एक आदमी चोरी के इरादे से वहाँ आ गया। पवहारी बाबा के पास एक गठरी थी, और सामान तो उनके पास कुछ था नही। चोर ने जब गठरी उठायी तब पवहारी बाबा जाग गये। वे चोर के पीछे जाने लगे। चोर समझ गया कि मेरे पीछे बाबाजी आ रहे है। चोर गठरी वैसी ही रास्ते मे छोड-कर भागने लगा। पवहारी बाबा ने वह गठरी उठायी और चोर के पीछे भागने लगे। उसे पुकार कर कहा कि यह गठरी तुम्हारी है, ले जाओ। बाबाजी की बात चोर को सत्य नही लगी, इसलिए चोर भागता रहा। बाबाजी का शरीर बलवान् था, इसलिए बाबाजी ने तेजी से दौड-कर उसे पकड लिया। कहा 'तुम इस गठरी को ले जाओ। यह तुम्हारी ही है, ऐसा समझो। क्योकि तुम्हे जरूरत थी, तभी तो उसे लेने के लिए तुम मेरे पास आये हो। इसलिए इसे तुम खुशी से ले जाओ।' बाबाजी के इन अहिसक वचनो का चोर पर इतना विलक्षण असर हुआ कि वह उनके पाँव पर गिर पडा। वह उनका शिष्य बन गया। उसने चोरी करना हमेशा के लिए छोड ही दिया। भगवान् जब अवतार धारण करते है, तब इस प्रकार लोगो के विचारो मे परिवर्तन करने का कार्य करते है।

(३) तीसरी बात है **धर्मसंस्थापनार्थाय**—अवतार धारण करना। ऊपर बताया कि सज्जनो की सज्जनता का रक्षण यह पहला कार्य और दुर्जनता को दूर करना यानी दुर्जनो के विचारो मे परिवर्तन लाना, यह दूसरा कार्य हुआ। तीसरा कार्य है धर्म की सस्थापना करना यानी समाज मे धर्म की प्रतिष्ठा बढाना। धर्म की व्याख्या इस प्रकार है **धारणात् धर्म इति आहुः**—'जो धारण किया जाता है यानी जिसके आधार से हम जीवन धारण करते है, जीवन जीते है उसीका नाम धर्म है।' समाज मे जब सज्जनता कम होकर दुर्जनता बढ जाती है, तब धर्म की प्रतिष्ठा कम हो जाती है। धर्म की कोई इज्जत नही करता, लेकिन समाज मे महात्माओ के सहवास से दुर्जनता कम होने लगती है यानी लोगो के विचार मे जब परिवर्तन हो जाता है तब सज्जनता बढने लगती है। सज्जनता जैसे-जैसे बढने लगती है, वैसे-वैसे धर्म की प्रतिष्ठा बढने लगती है।

एक मराठी कवि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है

सत्या परता नाहीं धर्म। सत्य तेचि परब्रह्म॥

'सत्य के समान दूसरा कोई धर्म नही है। सत्य परब्रह्म यानी परमात्मा है।' समाज मे जब सत्य को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानने लगते है, तब समाज को

ऊँचे चढने मे देर नही लगती। गाधीजी के जीवन मे सत्यनिष्ठा ही सर्वोपरि धर्म था। उन्होने सत्य का पालन करके ही वकालत की थी, यह एक अद्-भुत कहानी है। सत्य पालन करके वकालत करना लगभग अशक्य है, ऐसी प्राय सब वकीलो की मान्यता है। मगर यह कठिन धर्म अपने आचरण मे लाने से गाधीजी की प्रतिष्ठा बहुत बढी। समाज मे जब सत्य-पालन का ही ध्येय नजर के सामने रहने लगे, तब धर्म-सस्थापना हो गयी, ऐसा समझना चाहिए।

(४) चौथी बात है—**संभवामि युगे युगे।** युग-युग मे मै अवतार लेता रहता हूँ। युग-युग मे यानी समय-समय पर——जब भी समाज मे जरू-रत महसूस हो तब मुझे समाज मे आकर देह धारण करनी पडती है। सत तुलसीदासजी ने अवतार के सबध मे वर्णन किया है :

जब जब होइ धरम कै हानी।
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी॥
करहि अनीति जाइ नहि बरनी।
सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहि कृपानिधि सज्जन-पीरा॥

——जब-जब धर्म क्षीण हो जाता है और दुष्ट और अभिमानी यानी उन्मत्त असुर-वृत्ति पैदा होकर समाज मे अनीति का आचरण शुरू हो जाता है—ब्राह्मण, गाये, देव और पृथ्वी सब सत्रस्त यानी बहुत व्याकुल हो जाते है तब-तब दयासागर प्रभु नानाविध शरीर धारण करके सज्जनो के दुखो का निवारण करते है।

नाना भाँति राम अवतारा।
रामायन सतकोटि अपारा॥
कलप भेद हरिचरित सुहाये।
भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥

——राम के नाना प्रकार के अवतार है और रामायण भी शतकोटि है, जिसका पार नही है। युग-युग मे यानी समय-समय पर मुनियो ने हरि के सुन्दर चरित अनेक प्रकार से गाये है।

राम अनंत अनंत गुनानी।
जनम कर्म अनत नामानी॥
जल-सीकर महि-रज गनि जाहीं।
रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥

——राम अनत और उनके गुण भी अनत। उनके जन्म, कर्म और नाम भी अनत। जल के बिंदु और पृथ्वी के रज कण गिने जा सकते है, मगर रघुपति के चरित्र का वर्णन पूरा नही होता।

: ९ :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत.।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

य· मे एव दिव्यं—जो पुरुष मेरे ऐसे दिव्य, **जन्म च कर्म तत्त्वत. वेत्ति**—जन्म और कर्मो को यथार्थ रूप मे जानता है, **देहं त्यक्त्वा**—वह देह छूटने के बाद, **पुनर्जन्म न एति**—पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, **अर्जुन स मा एति**—हे अर्जुन, वह मुझे ही प्राप्त होता है।

इस श्लोक मे तीन बाते है १ मेरे दिव्य जन्म और कर्मो को यथार्थ रूप से जानना। २ ऐसा जाननेवाला वर्तमान देह छूटने के बाद जन्म नही लेता। ३ वह पुरुष मुझे प्राप्त हो जाता है।

(१) **य. मे एवं दिव्यं जन्म च कर्म तत्त्वतः वेत्ति।** भगवान् ने इस अध्याय के छठे श्लोक मे भगवान् दिव्य जन्म किस प्रकार लेते है, यह बताया और सातवे और आठवे श्लोक मे उनके दिव्य यानी अलौकिक कर्म बतलाये।

इस श्लोक के शुरू मे भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का जिक्र है। दिव्य कर्म का आरभ तो ज्ञानावस्था मे होता है। लेकिन दिव्य जन्म का आरभ देह धारण करते ही हो जाता है। देह धारण करके शुरू मे अज्ञानावस्था का आवि-

प्रकार होता है और बाद मे ज्ञानावस्था का। एक ही शरीर मे जब दो रूप देखने मे आये तो उसे दिव्य यानी अलौकिक ही कहना चाहिए। भगवान् के दो अवतार-कार्यो मे से दिव्य-कर्म का संबंध अज्ञानावस्था के साथ कभी नही मान सकते। क्योकि अज्ञानावस्था मे दिव्य यानी अलौकिक कर्म देखने मे नही आते। अलौकिक कर्म यानी धर्म की स्थापना, साधुता का रक्षण और दुष्टता का नाश, ये तीन प्रकार के कार्य ज्ञानावस्था मे ही हो सकते है। जो अवतार होते है, उनसे एक विशेष विचार मिलता है। भगवान् इस श्लोक के पहले चरण मे इसी अर्थ मे दिव्य यानी अलौकिक जन्म की बात कह रहे है।

(२) दूसरी बात है—**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म न एति**। यह देह छूटने के बाद दूसरा जन्म नही लेना पडता। भगवान् के अलौकिक जन्म को और अलौकिक कर्म को सिर्फ बुद्धि से जान लेने से उसका कोई फल नही मिल सकता। बुद्धि से तो पहले जानना ही चाहिए, क्योकि बुद्धि ही ज्ञान का साधन है। मगर बुद्धि से दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने के बाद उसे आचरण मे लाना महत्त्व की बात है।

भगवान् अलिप्त रहते हुए कैसे देह धारण करते है, यह पहले जान लेना जरूरी है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि हमारे लिए देह, इद्रियाँ मन, बुद्धि, स्थूल इद्रियाँ बधनकारक है या भीतर वासना, इच्छा, महत्त्वाकाक्षा, काम, क्रोध, मद, मत्सर, अहकार आदि विकार बधनकारक है? क्योकि परमात्म-स्वरूप का ज्ञान होने के बाद देह तुरत तो गिर नही जाती। प्रारब्ध-कर्म का भोग पूरा होने तक, ज्ञान होने के बाद ज्ञानी पुरुष को देह छूटने तक देह मे ही रहना पडता है। तो ज्ञान होने के बाद वर्तमान देह धारण करना ज्ञानी पुरुष के लिए यदि बधनकारक नही तो दूसरी देह धारण करना किस तरह बधनकारक हो सकता है? बधन तो वासना, अहकार आदि विकारो का रहता है। जब पूरी निर्विकारता प्राप्त हो जाय, परमात्मा-स्वरूप की पहचान हो जाय तो देह बधनकारक होने के बजाय अखड सेवा का साधन बन सकती है। तो दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने के बाद देह नही मिलती, यह भगवान् ने क्यो कहा?

भक्त तो अखड भक्ति के लिए बार-बार जन्म माँगते हुए ही देखने मे आते है। गुजरात के नरसी भगत ने कहा है

> **हरिना जन तो मुक्ति न मागे**
> **मागे जन्मोजन्म अवतार रे।**
> **नित सेवा नित कीर्तन ओछव**
> **निरखवां नद - कुमार रे॥**

अर्थात् भगवान् की भक्ति करनी हो, जनता की सेवा करनी हो तो देह धारण किये बिना नही चलेगा। किंतु परमात्म-स्वरूप जान लेने के बाद देह-धारण आवश्यक नही, ऐसा मानना पडता है। यद्यपि वासना, अहकार आदि मनोविकार ही बधन-कारक है, जन्म बधनकारक नही है, फिर भी नयी देह प्राप्त होना अज्ञान का कार्य होने और पुन जन्म न मिलना ज्ञान का परिणाम होने से परमात्म-स्वरूप की पहचान होने के बाद दुबारा जन्म नही मिलता, भगवान् का यह कथन सत्य है। ज्ञानी पुरुष की यही स्थिति हो जाती है। अज्ञानी को अनेक जन्म लेना होगा, यह स्पष्ट ही है।

(३) तीसरी बात है—**मां एति**। वे भगवान् मे लीन हो जाते है, भगवान् को ही प्राप्त हो जाते है। भगवान् के साथ ही वे एकरूप हो जाते है। भगवान् से यानी परमात्मा से उनका अलग अस्तित्व नही रह पाता। अज्ञानावस्था मे परमात्मा से हम अलग रहते है, इसलिए हम 'जीव' कहलाते है। ज्ञानावस्था मे हम परमात्मा से अलग न रहकर देह से अलग होकर परमात्मा मे विलीन हो जाते है। जैसे गगा समुद्र मे जब तक मिली नही तब तक अलग रहती है। मगर जब वह समुद्र मे

मिल जाती है तब उसका अलग स्वरूप नही रह जाता । वैसे ही ज्ञानी पुरुष परमात्मा से अलग रह ही नही सकते, इसलिए ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य मे बताया कि 'परमात्मा से जो ज्ञानी पुरुष एकरूप हो जाते है, उनका सचित-कर्म और प्रारब्ध-कर्म नष्ट हो जाता है। कुछ शेष नही रहता।'

मगर परमात्मा से एकरूप हो जाने से उनके लिए एक कार्य शेष रहता है। वह है परमात्मा की आज्ञा से लोकोद्धार के लिए अवतार धारण करना। परमात्मा अकर्ता है, इसलिए वह जगत् के उद्धार का कार्य ज्ञानी पुरुष से करवाता है । जब भी परमात्मा की आज्ञा हो जाय, ज्ञानी पुरुषो को परमात्मा की आज्ञा का पालन करने के लिए देह धारण करनी पडती है। ज्ञानी पुरुष जब परमात्मा के साथ पूरे एकरूप हो जाते है तब वे परमात्मा की आज्ञा से देह धारण करते है, ऐसा कैसे कहा जायगा ? क्योकि जब उनका स्वतत्र अस्तित्व ही नही रहा तब ज्ञानी पुरुष परमात्मा की आज्ञा से देह धारण करते है, ऐसा कहना सुसगत नही लगता । उसका जवाब यह है कि ज्ञानी पुरुष के सब कर्म जल जाते है। मगर लोकसग्रह की यानी लोगो को ऊँचे उठाने की जिम्मेदारी ज्ञानी पुरुष की ही रहती है। इसलिए उसका सिर्फ एक कर्म—जगत् का उद्धार शेष रह जाता है। वह कर्म भी उसका खुद की प्रेरणा का नही होता । वह परमेश्वर की आज्ञा का, परमेश्वर की प्रेरणा का होता है । यानी परमेश्वर द्वारा सौपा गया रहता है । जो परमेश्वर के साथ पूरा एकरूप हो गया, उस पर भगवान् का अधिकार हो जाता है, वे उसे आज्ञा कर सकते है। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य मे उसके लिए सूर्य का दृष्टान्त दिया है। सूर्य-नारायण भगवान् का एक अवतार है। भगवान् ने सबको प्रकाश और उष्णता देने का कार्य उसे सौपा है। वह उसे करता रहता है। बाद मे मुक्त हो जायगा। इस तरह सभी ज्ञानी पुरुष भगवान् की आज्ञा से एक-एक अवतार लेकर अन्त मे मुक्त हो जाते है।

: १० :

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता. ॥

वीतरागभयक्रोधाः=आसक्ति, डर और क्रोध जिनके चित्त से नष्ट हो गये है, **मन्मया**=मुझमे ही जो डूब गये है, **मा उपाश्रिता**=मेरा ही जिन्होने आश्रय लिया है, **बहवः**=ऐसे अनेक साधक, **ज्ञानतपसा पूता**=ईश्वर के ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए, **मद्भाव आगताः**=मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जिनकी आसक्ति, डर, क्रोध आदि विकार नष्ट हो गये है। २ मुझमे डूब गये है, मेरा ही आश्रय जिन्होने लिया है । ३ ज्ञानरूप तप से जो विशुद्ध होगये है और ४ ऐसे मेरे स्वरूप को बहुत लोग प्राप्त हुए है।

(१) **वीतरागभयक्रोधा.** । यह वचन गीता के दूसरे अध्याय के ५६वे श्लोक मे एकवचन मे आया है । यहाँ बहुवचन मे आया है। राग यानी आसक्ति । हमारे मन मे विषयो के प्रति आसक्ति रहती है । हम समाज मे रहते है तो हमारे इर्द-गिर्द समाज और सृष्टि के नाना प्रकार के पदार्थ रहते है । इनमे समाज चैतन्य-स्वरूप है तो सृष्टि के नाना पदार्थ जड । जड, चेतन के साथ हमारा नित्य सबध आता रहता है और इस कारण उसमे तीन लहरे पैदा होती है। पहली लहर है राग की । चैतन्य और जड पदार्थो मे आसक्ति पैदा होने के कारण पदार्थ प्रिय लगने लगते है । जिन्हे इस आसक्ति से पैदा होनेवाली अनुराग-वृत्ति क्षीण करनी हो, उन्हे अपवित्र अनुराग हटाने की कोशिश करनी चाहिए। पवित्र आकर्षण मन मे अवश्य रहे । परमात्मा का आकर्षण होने

लगे । परमात्मा की आसक्ति पैदा होने पर पवित्र वस्तुओ की आसक्ति निकल जायगी । हॉ, पवित्र वस्तुओ के साथ सवध नष्ट नही होगा, क्योकि परमात्मा के प्रति मन मे आसक्ति पैदा हो गयी है ।

राग की तरह ही कुछ पदार्थो के वारे मे नफरत पैदा होती है, डर पैदा होता है और क्रोध भी आता है । डर और क्रोध एक ही कोटि के है । राग अनुकूलता से पैदा होता है । किसीके वारे मे हमारे मन मे वहुत पूज्यभाव हो, लेकिन जव वह हमारे अनुकूल नही रहता, तव उसके प्रति क्रोध पैदा होता है । जिससे हम कभी डरते नही थे, निर्भयता से उसके पास चले जाते थे उससे डर, सकोच होने लगता है । जड पदार्थ का भी यही हाल है ।

साराश, अनुकूलता से राग और प्रतिकूलता से डर और क्रोध, ऐसी तीन लहरे मन मे पैदा होती रहती है । ये तीन लहरे क्षोभ पैदा करती है । चचलता, अस्थिरता का वातावरण खडा करती है । जव तक ये तीन लहरे मन मे पैदा होती रहती है तव तक मन के पीछे जो आत्म-स्वरूप, परमात्म-स्वरूप है उसका अनुभव नही हो पाता । जव तक परमात्म-स्वरूप मे हमारा मन नही डूवता तव तक अखड शाति का अनुभव नही होता ।

(२) दूसरी वात है—**मन्मया मामुपाश्रिता** । मेरे मे डूव गये और मेरे ही आश्रय से जो जी रहे है । एक ओर राग, भय, क्रोध से निकलने की कोशिश करते रहना तो दूसरी ओर परमात्म-स्वरूप मे डूवने की कोशिश करना, परमात्मा के आधार पर ही जीने की कोशिश करना—इस प्रकार दुहरा प्रयत्न करने से राग, भय, क्रोध क्षीण हो जाते है और हम हमेशा परमात्म-स्वरूप मे ही डूवे रहते है । अतिम लक्ष्य तो परमात्म-स्वरूप मे डूवना ही होना चाहिए । अहकार इतना शून्य हो जाय कि राग, भय, क्रोध की लहरे मन मे उठे ही नही और सारा जीवन परमात्मा के आधार पर परमात्मा के आश्रय से हम जी रहे है, मृत्यु तक ऐसा अनुभव होता रहे ।

(३) तीसरी वात है—**वहवः ज्ञानतपसा पूता.** । वहुत से साधक, मुमुक्षु ज्ञानरूपी तप से पवित्र हो गये है । यहॉ भगवान् ने इतिहास का हवाला दिया है । अव तक ऐसे वहुत-से मुमुक्षु या साधक हो गये है जो ज्ञानरूपी तप करके अत्यत पवित्र हो गये है ।

यहॉ 'ज्ञान-तप' शव्द का अर्थ 'ज्ञान और तप' यह लिया जाय या 'ज्ञानरूपी तप' ले, यह प्रश्न उपस्थित होगा । ज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञान और तप' यही अर्थ लिया है । गाधीजी, लोकमान्य तिलक और विनोवाजी ने 'ज्ञानरूपी तप' अर्थ लिया है । मुडकोपनिषद् के ११९वे श्लोक मे 'ज्ञानमय तप' शव्द आया है **य. सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः** । अर्थात् परमात्मा सर्वज्ञ है, क्योकि सामान्य रूप से वह सव जानता है । वह सर्ववेत्ता है, क्योकि सव कुछ विशेषरूप से जानता है । उस परमात्मा का ज्ञानमय तप है । इसी ओर इशारा करके विनोवाजी ने कहा है कि 'ज्ञानरूप तप' अर्थ लेना ठीक है । तो अर्थ होगा—'ज्ञानरूप तप से जो अत्यत पवित्र हो गये यानी परमात्मा की पहचान होने से जिनके मनोविकार नष्ट हो गये और इसी-लिए जो अतिपवित्र हो गये है, वे साधक ।

(४) चौथी वात यह है कि परमात्म-स्वरूप मे लीन हो जाते है यानी वे मोक्ष प्राप्त कर लेते है । चित्त के नाना प्रकार के विकार ही परमात्म-स्वरूप की पहचान मे रुकावटे है । यह रुकावट ज्ञानरूप तप यानी विवेकरूप अभ्यास से जिन्होने दूर की है, ऐसे वहुत से मुमुक्षु प्राचीन जमाने मे परमात्म-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त हो चुके है । 'ज्ञानरूप-तप' शव्द के दो अर्थ है । गुरु का यानी साधकावस्था मे विवेकरूप अभ्यास हमेशा करते रहना ही तप है, यह एक अर्थ है । विवेक का अभ्यास सहज हो जाने पर परमात्म-स्वरूप

की पहचान हो जाना दूसरा अर्थ है । यह दूसरा अर्थ परिपूर्ण ज्ञान के अर्थ मे लेना है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है ।

विनोबाजी इस श्लोक के भाष्य मे कहते है · "ज्ञान यानी ईश्वर के दिव्य जन्म जानना । और ज्ञान-तप यानी ज्ञान ही तप और ज्ञान ही शुद्धि-कर साधना है । श्लोक के चार चरणो मे अनुक्रम से साधना, ईश्वर-भक्ति, ज्ञान और ईश्वर-प्राप्ति वर्णित है ।"

राग, भय, क्रोध से मुक्त होना पहले वताया है। इसीको 'साधना' कह सकते हैं। पहले विकार हटाने की कोशिश करनी पडती है । इसके लिए सत्सग, सद्ग्रथ-पठन, सत्कर्म—सवका आश्रय लेना पडता है । इन सवका आश्रय लेकर विकारो को हटाने मे यदि हम समर्थ होते हैं तो उससे परमात्मा की 'भक्ति' प्राप्त होती है, यही वात **मन्मया मामुपाश्रिताः** इस वचन मे है । फिर **ज्ञानतपसा पूता.** वताया है । भक्ति के वाद ज्ञानरूप तप हासिल होता है। और ज्ञान से **मद्भावं आगताः**— मुझे प्राप्त कर लेते है यानी ज्ञानरूप तप से आखिर मे 'मोक्ष' प्राप्त होता है । यह चार प्रकार का एक के वाद एक क्रम वताया है, ऐसा विनोबाजी कहते है ।

ज्ञानेश्वर महाराज ने इस श्लोक के भाष्य मे कहा है "अपने लिए या दूसरो के लिए ये कभी शोक नही करते, क्रोध के रास्ते तो वे कभी फटकते ही नही । वे हमेशा मेरी भावना से ही भरे रहते है, सपन्न रहते है । सिर्फ उनका जीवन मेरी सेवा के लिए ही रहता है । व आत्मज्ञान से सतुष्ट रहते हैं । उनमे विपयो के प्रति वैराग्य रहता है । तप के तो वे पुज ही है । ज्ञान के वे वसति-स्थान है । तीर्थ को पवित्र करनेवाले मूर्तिमत तीर्थरूप ही हैं । वे सहज ही मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेते और मुझमे ही लीन रहते है । मुझमे और उनमे कोई परदा नही रहता ।"

अगले श्लोक से नया प्रकरण शुरू होता है । उसमे वता रहे है कि मुझे जो जिस प्रकार भजते है, उन्हे उसी प्रकार फल देता हूँ । लेकिन सव लोग किसी-न-किसी तरह मेरे पास ही आ रहे है ।

: ११ :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वश. ॥

ये मा यथा प्रपद्यन्ते=जो मनुष्य मुझे जिस प्रयोजन से भजते है, **तान् तथा एव अहं भजामि**=उनको मै उसी प्रकार फल देता हूँ, **पार्थ मनुष्याः**=हे अर्जुन, सव लोग, **सर्वश. मम वर्त्म**=सव प्रकार से मेरे मार्ग का ही, **अनुवर्तन्ते**= अनुसरण करते है ।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ जो लोग जिस रीति से मुझे भजते है, २ उन्हे मै उसी प्रकार फल देता हूँ, ३. चाहे जो हो, अत मे सव लोग मेरे मार्ग का ही अनुसरण कर रहे है, मेरे पास ही आते हैं ।

(१) **ये यथा मां प्रपद्यन्ते** । भगवान् कहते है कि मेरे दिव्य जन्म और कर्मो का आकलन सव लोग नही कर सकते । मै सव जगह व्याप्त हूँ । अणु-अणु मे हूँ, मगर यह वात लोगो के ध्यान मे नही वैठती । यह जो **सवमें रम रहिया प्रभु एकाकी** व्यापक परमातमा है, उसका ग्रहण सवको नही हो पाता । उस व्यापक परमात्मा पर सवकी श्रद्धा नही वैठती । सवकी यह स्थिति देखकर भिन्न-भिन्न देवी-देवताओ की कल्पना का वर्णन शास्त्रो मे है। लोग विपयो के पीछे पागल है, उनसे आदमी को शाति-समाधान नही मिल पाता । जव मनुष्य को यह अनुभव आने लगता है तव विपयो से वृत्ति हटने लगती है और आदमी सुख शाति की खोज मे लग जाता है। परमात्मा, निर्गुण-निराकार होने से उसका ग्रहण नही हो पाता । उसकी भक्ति कैसे की जाय, यह मालूम नही होता और मालूम होने पर भी प्रयत्न करने

पर वह मथ नहीं पाता। आम जनता की सामान्य श्रद्धा परमात्मा पर रहती है। लेकिन शाति-सुख के लिए विशेष श्रद्धा की जरूरत है। निर्गुण-निराकार की भक्ति के लिए वैराग्य जरूरी है। शकराचार्य लिखते हैं 'ससार से जो विरक्त हो गया हो, उसे ही भक्ति का अधिकार प्राप्त होता है, अन्य को नही। सब लोगो के मन मे ससार के प्रति उतना वैराग्य नही रहता। ससार मे मन रहता है, आसक्ति रहती है। मगर वह आसक्ति जब दु खदायक साबित होती है तब मनोमथन शुरू होता है और उस आसक्ति से छूटने के लिए उपाय ढूँढना शुरू हो जाता है।'

भगवान् ने १७वे अध्याय के तीसरे श्लोक मे बताया है **श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध· स एव सः**—'यह मनुष्य श्रद्धामय है, जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा ही वह हो जाता है।' मनुष्य मे श्रद्धा है। बाल्यकाल मे माता-पिता पर श्रद्धा रहती है। शादी होने के बाद स्त्री, पुत्र आदि परिवार मे वह समा जाती है। मगर आसक्ति पैदा होकर दु ख का अनुभव जब शुरू हो जाता है, तब वह श्रद्धा किसी सत पर बैठती है। सबको सत पुरुष उपलब्ध नही होते। व्यापक परमात्मा की भक्ति कैसे की जाय, यह मालूम न होने से और ईश्वर पर श्रद्धा रखकर उसकी भक्ति किये बिना आदमी को सतोष नही मिल पाता इसलिए बीच का मार्ग शास्त्र ने बताया है। शास्त्र ने अनेक देवी-देवता खडे किये है, ताकि अपनी रुचि के अनुसार किसी भी देवता पर श्रद्धा रखकर उसकी उपासना, भक्ति की जा सके। शकर, विष्णु, राम, काली माता, गणपति, आदि देवी-देवता शास्त्र मे वर्णित है। उनके हरएक के अलग-अलग स्वभाव, चरित्र आदि का वर्णन शास्त्र मे मिलता है। सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि वस्तुओ के रूप मे, मनुष्य-आकार मे अथवा विभिन्न गुणो के रूप मे देवताओ की मूर्तियाँ खडी की जाती है, मदिर खडे किये जाते है। अपने-अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए इन देवताओ की उपासना की जाती है। कुछ साधक निर्गुण-निराकार परमात्मा की ध्यान-भक्ति करते है। परमात्मा तो सर्वत्र व्याप्त है। किसी भी रूप मे उसकी उपासना की जा सकती है। बात इतनी ही है कि जब तक आसक्ति नही मिटती, तब तक परमात्मा फल नही देता।

(२) दूसरी बात यह कि उन सगुणोपासको की उन उपासनाओ मे जिस प्रकार की भावना होगी, उन्ही भावनाओ के अनुसार उन्हे मै फल देता हूँ। कहते है **तान् तथैव भजामि अहम्।** जैसी जिसकी भावना, वैसा उसका फल। पुत्र की इच्छा रखकर यदि उपासना की जाय तो उसे निश्चय ही पुत्र-प्राप्ति होगी। धन-प्राप्ति की इच्छा से कोई उपासना करते है तो उन्हे धन-प्राप्ति भी हो सकती है। सिद्धियाँ और चमत्कार की शक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से उपासना की जाती है तो उन्हे सिद्धियाँ, चमत्कार प्राप्त हो सकते है। मोक्ष प्राप्त करने की दृष्टि से उपासना की जाय तो मोक्ष प्राप्त हो सकता है। गीता के सातवे अध्याय के २०वे से २३वे तक चार श्लोको मे इसी विषय का विवरण है। फिर नवे अध्याय के २३ से २५ तक तीन श्लोको मे इसी विषय का वर्णन है।

(३) तीसरी बात है—**मम वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश·**। वे कह रहे है कि कि किसी कामना से देवी-देवताओ की उपासना, भक्ति करनेवाले उन कामनाओ के कारण भले ही मोक्ष प्राप्त न कर सके, उन्ही कामनाओ के कारण मेरा सही निर्गुण-स्वरूप उनके ध्यान मे न आने से भले ही उन्हे भगवान् के सही स्वरूप का अनुभव न हो, फिर भी कभी-न-कभी ये सारे देवी-देवताओ के भक्त ससार मे छूटने के लिए वैराग्य प्राप्त कर भगवान् के सत्य स्वरूप का अनुभव तो कर ही लेगे। भले ही इसमे दो-चार जन्म निकल जायँ, मगर वे मेरी तरफ ही आ रहे है, ऐसा समझो।

उपर्युक्त वचन का व्यापक अर्थ लिया जाता है । जो देवी-देवताओ की उपासना कर रहे है, वे सव सगुणोपासक अत मे कामना के क्षीण होने पर मुझे प्राप्त कर लेगे, यह एक अर्थ तो इस वचन का है ही । व्यापक अर्थ यह है कि मनुष्य-देह अतिम देह है, इसलिए जिन्हे मनुष्य-देह मिली है वे यदि वहुत वुरे कर्म करे तो उसके फलस्वरूप उन्हे पशु-पक्षी योनियो मे भी जन्म मिल सकता है । मगर उन पशु-पक्षियो की योनियो मे अपने वुरे कर्म का फल भुगतकर फिर से उन्हे मनुष्य-देह ही मिलेगी । जहाँ मनुष्य-देह मिली, वहाँ वे भले ही ससार मे आसक्त हो, लेकिन उन्हे धीरे-धीरे ससार से विरक्ति प्राप्त होगी और वे भगवान् की तरफ ही खिचते जायँगे । मनुष्य-जन्म की यही विशेषता है और मनुष्य-जन्म प्राप्त होने का फल भी यही है । पशु-देह मे नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, योग्य-अयोग्य को पहचानने की शक्ति न होने से भगवान् की पहचान पशु-पक्षियो के देह मे कभी नही हो सकती । मनुष्य-देह मे ही नीति-अनीति, धर्म-अधर्म को पहचानने की शक्ति ईश्वर ने दे रखी है । अधर्म और अनीति को छोडकर धर्म और नीति का पालन करने की शक्ति भी मनुष्य-देह मे ही पायी जाती है । इसीलिए अत्यत पापी, दुराचारी पुरुष को भी अत मे पश्चात्ताप होने लगता है । दुराचरण करते समय भी उसे वह आचरण अखड शाति का अनुभव नही कराता । दुराचरण मे वह इतना फँसा रहता है कि पश्चात्ताप होने पर तत्काल उसमे से छुटकारा नही पाता । फिर भी दुराचारी के मन मे, गहराई मे अशाति का ही अनुभव होता है । इसलिए दुराचारी पुरुप जव किसी महात्मा पुरुप के सत्सग मे आता है, तव उसमे परिवर्तन शुरू हो जाता है । यही कारण है कि शकराचार्य इस श्लोक के भाष्य मे कुछ मार्मिक वचन कहते है

न हि एकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत् सभवति । अतः ये फलार्थिनः तान् फलप्रदानेन । ये यथोक्तकारिण· तु अफलार्थिनः मुमुक्षवः च तान् ज्ञान-प्रदानेन ।

अर्थात्—चूँकि एक ही पुरुप को मोक्ष और कर्म-फल प्राप्त करने की इच्छा एक साथ नही हो सकती । अत जो फल की इच्छा रखनेवाले है, उन्हे मै फल देता हूँ । लेकिन जो शास्त्र के कथनानुसार कर्म करते है, और फल की इच्छा से रहित हो मोक्ष की इच्छा रखते है, उन्हे ज्ञान देता हूँ ।

आचार्य ने दो वर्ग किये १ फल की इच्छा रखनेवाले और २ कर्म करते हुए फल की इच्छा न रखनेवाले मुमुक्षु (मोक्ष की इच्छा रखनेवाले) ।

: १२ :

काङ्क्षन्तः कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥

कर्मणा सिद्धि कांक्षन्त.—कर्म की सिद्धि यानी फल की इच्छा रखनेवाले पुरुप, **इह देवताः यजन्ते**—इस मृत्यु-लोक मे सूर्य, अग्नि आदि देवताओ की उपासना करते है, **हि मानुषे लोके**—क्योकि मनुष्य-लोक मे, **कर्मजा सिद्धिः**—कर्म से निष्पन्न सिद्धि, **क्षिप्र भवति**—वहुत जल्दी प्राप्त होती है ।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी है १ जो कर्मफल की इच्छा रखते है वे, २ इस मनुष्य लोक मे देवताओ की पूजा-उपासना करते रहते है, ३ क्योकि, मनुष्य-लोक मे कर्म की सिद्धि यानी फल वहुत जल्दी मिल जाता है ।

(१) पहली वात है—**कांक्षन्त. कर्मणां सिद्धिम्** । जो कर्म के फल की इच्छा रखते है ।

(२) वे यहाँ पर भिन्न-भिन्न देवताओ की पूजा-उपासना करते है—**यजन्त इह देवता·** । यह दूसरी वात है । हर आदमी की प्रवृत्ति यही है कि जो कर्म मै करता हूँ, वह फल-प्राप्ति के लिए ही

करता हूँ। फल प्राप्त न हो, ऐसा दिखाई देने पर आदमी कर्म छोडने को प्रवृत्त हो जाता है। बाहर से धन प्राप्त करने की कोशिश करने पर भी जब अपनी इच्छा के अनुसार वह मिलता नही दीखता तब आदमी देवताओ के चक्कर मे पडता है। परमात्मा व्यापक व निर्गुण होने मे उसकी आराधना-उपासना किस तरह की जाय, यह बराबर मालूम न होने से वह सगुण-मूर्ति की उपासना करने लगता है। अलग-अलग मूर्ति की उपासना के कुछ नियम रहते है। विष्णु की उपासना करनी हो तो अमुक फल, अमुक मत्र निश्चित है। कितनी प्रदक्षिणा करना, किस तरह कौन-से मत्र बोल कर पूजा करना, यह सब शास्त्र द्वारा निश्चित है। शकर की पूजा करनी हो तो बिल्वपत्र चाहिए। शकर की पूजा के भी निश्चित नियम है। उन नियमो को समझकर निष्ठापूर्वक लोग उपासना करते रहते है।

बबई मे एक जैन मिल-मालिक है। उनके घर जब मै ठहरा था तो देखा कि सुबह स्नान आदि से निबट कर अपने मकान मे ही उन्होने ऊपर की मजिल पर जो जैन-मदिर (चैत्यालय) बनवाया है, उसमे वे दो घटे तक जप, ध्यान आदि करते है। उनकी पत्नी भी उसमे शामिल रहती है। मुझे आनद के साथ आश्चर्य हुआ। मैने कहा 'आप श्रीमत होकर इतनी लगन से पूजा, जप, ध्यान करते है, यह देखकर मुझे बहुत आनद हुआ।' उन्होने जवाब दिया 'यह पूजापाठ निष्काम भाव से करते है, ऐसी बात नही। मेरे मन मे यह कामना है कि मेरी जो सिल्क-मिल है, वह सुचारु रूप से चलती रहे, उसमे घाटा न हो, हमेशा मुनाफा ही होता चले। इसी कामना से प्रेरित हो हम दोनो पूजापाठ करते रहते है। उसमे खड नही पडने देते।' पूजापाठ होने के बाद तुरत ही वे हुक्का ले आये और हुक्का पीते-पीते मुझसे बाते करते रहे।

जैन-धर्म मे परमात्मा को जगत् का कर्ता नही माना गया है। महावीर स्वामी, ऋषभदेव आदि जो तीर्थंकर हो गये है, उन्हे ही जैन ईश्वर मानते और उनकी उपासना करना धर्म समझते है। वे ऐसी श्रद्धा रखते है कि उनसे जो माँग करेगे, वह पूरी हो जायगी। इतनी स्पष्टता से सत्य बात बिना छिपाये उन्होने कही कि उससे मुझे आनद ही हुआ। दो घटे वे जो उपासना करते है, उसमे यद्यपि स्थूल-कामना है और इसीसे उन्हे जो फल मिलेगा, वह भी अशाश्वत ही होगा। मोक्ष जैसा शाश्वत फल उन्हे इस प्रकार की कामना-युक्त भक्ति से नही मिल सकता। फिर भी दो घटे तक सासारिक कार्यों से मन हटाकर उपासना मे तल्लीन हो जाना कोई सामान्य बात नही। इसलिए भगवान् भी इस प्रकार की निष्ठा-युक्त की गयी उपासना का फल उपासको की कामना के अनुसार देते ही है।

दूसरा उदाहरण देखिये—१९४० मे मै पचगनी था, वहाँ शकर के एक भक्त रहते थे। वे मेरे पास आते रहते। वहाँ किसी राजा के छोटे लडको की पढाई होती थी। उनके सरक्षक के तौर पर वे वहाँ रहते थे। रोजाना महादेव की पूजा-प्रदक्षिणा लगन से करते। बरसो से महादेव की उपासना का यह क्रम चला आ रहा था। महादेव की पूजा के समय महादेव के सामने १० तोला दूध नैवेद्य के तौर पर रखा करते। एक दिन प्रदक्षिणा पूरी होने के बाद उन्होने देखा कि दूध वहाँ से गायब हो गया है। उन्होंने तलाश की, कोई बिल्ली या कुत्ता भी नही आया। मदिर खुला था, इसलिए प्रदक्षिणा करते समय वहाँ का सारा दृश्य दिखाई देता था।

मै पास ही रहता था। इसलिए वे तुरत मेरे पास दौडे आये और यह सब घटना सुनायी और बोले 'चलिये, देखिये और दूध कहाँ गया, यह मुझे समझाइये।' मैने मदिर मे जाकर जाँच की। मुझे ध्यान मे आ गया कि भगवान् यानी महादेव

उस दूध को पी गये। मैंने उन्हे समझाया कि 'आपकी महादेव की भक्ति काफी अर्से से चली आ रही है। उस भक्ति पर मुग्ध होकर महादेवजी ने आज आपके दूध का प्रसाद ग्रहण कर लिया है। रोज इस तरह प्रसाद ग्रहण करेगे, ऐसी वात नही। मगर आज आप पर प्रसन्न होकर आपका प्रसाद शकरजी ने ले लिया।'

यह एक प्रकार की सिद्धि यानी चमत्कार ही माना जायगा। लेकिन इस प्रकार की सिद्धि उपासना से प्राप्त होने पर यह फल मोक्ष की तरह शाश्वत यानी कायम टिकनेवाला तो है ही नही। सोचने की वात है कि शकर की इतनी भक्ति होते हुए भी वे ब्रह्मचर्य का पालन नही कर पाते थे। मुझसे हमेशा पूछते कि वगैर कारण के वे एकदम झूठ वोल पडते है, इसके लिए क्या करना चाहिए? इस प्रकार देव-देवताओ की उपासना कई लोग फल की कामना रखकर करते है। इसका कारण आगे वताते है।

(३) **क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।** देव-देवताओ की उपासना करने का कारण यही है कि मनुष्य-लोक मे कर्म का फल वहुत जल्दी प्राप्त होता है। मैंने जो ऊपर दो उदाहरण दिये है, उनसे यह ज्ञात होगा कि कर्म का फल जल्दी मिल जाता है। पशु, पक्षी आदि योनियो मे नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, परखने की शक्ति न होने से उनका जीवन नीति-अनीति की कल्पना के आधार पर नही चलता, इसलिए उन्हे कर्म का अधिकार भी प्राप्त नही होता। मनुष्य को नीति-अनीति, धर्म-अधर्म का भेद जानने की शक्ति प्राप्त होने से उसे कर्म का अधिकार प्राप्त होता है। कर्म का अधिकार यानी शास्त्रानुसार कर्म करना। इसलिए मनुष्य नियम-पालन कर कर्म की साधना कर सकता है और उसका फल वह इसी जन्म मे प्राप्त कर सकता है। अर्थात् कामनाओ से प्राप्त होनेवाला फल यद्यपि इसी जन्म मे मिल सकता है, फिर भी वह फल क्षणजीवी ही रहता है।

स्वर्ग के लिए जो कर्म किये जाते है, उनका फल इस जन्म मे न मिलकर देह छूटने के वाद ही मिल पाता है। मोक्षरूपी फल प्राप्त करने के लिए तो वहुत कडी साधना करनी पडती है। वह फल एक जन्म मे न मिलकर अनेक जन्मो की साधना के वाद मिल पाता है। यो मोक्ष अपनी पहचान या परमात्मा की पहचान है। यह इसी देह मे यानी एक जन्म मे भी हो सकती है। मगर देह-वुद्धि इतनी दृढ हो गयी है कि अपनी पहचान के लिए कई जन्म वीत जाते है, इतना ही इसका अर्थ है। ज्ञानेश्वर महाराज दृष्टान्त देते है कि खेत मे जो वोया जाता है वही उगता है, अथवा दर्पण मे वही दिखाई देता है जो उसके सामने आता है। अथवा पहाड के पास जाकर जो आवाज निकालेगे, उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पडेगी। इसी प्रकार मैं तो सिर्फ साक्षीरूप मे रहता हूँ।

साराश, देव-देवताओ की उपासना करनेवालो की भावना जैसी होती है, उसीके अनुसार फल मिलता है। देव-देवताओ की उपासना का प्रकरण इन दो श्लोको मे समाप्त हुआ।

: १३ :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

मया=मैंने, **गुणकर्मविभागशः**=तीन गुण और उसके अनुसार कर्म, इन दो विभागो के अनुसार, **चातुर्वर्ण्य सृष्ट**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ऐसे चार वर्ण पैदा किये है, **तस्य कर्तार अपि**=उनका कर्ता मैं होने पर भी, **मा अकर्तार अव्यय विद्धि**=मुझे उनका अकर्ता, अविनाशी जानो।

इस श्लोक मे तीन वाते है: १ तीन गुण और उनके मुताविक कर्म किये जाते है तो इन दो विभागो के अनुसार मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

शूद्र ऐसे चार वर्ण पैदा किये हैं । २ उन वर्णों का कर्ता मैं हूँ । ३ फिर भी अलिप्त होने के कारण मैं उसका अविनाशी, अकर्ता हूँ, ऐसा समझो ।

(१) **चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः** । भगवान् इस श्लोक में बतला रहे हैं कि समाज-व्यवस्था का मूल आधार चार वर्ण हैं। इनकी स्थापना मैंने की है । चार वर्णों की रचना सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों और उनके अनुसार विभिन्न कर्म, इन दो विभागों को लक्ष्य मे रखकर की गयी है। चार वर्ण और चार आश्रम यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम। ये दो बुनियादी बाते समाज-व्यवस्था का मूल आधार थी।

अग्रेजो के १५० साल के राज्य-काल मे हमारी वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गयी। अग्रेजो के आने के पहले हिन्दुस्तान के केन्द्रस्थान देहात थे। अग्रेजो ने शहरो को केन्द्र-स्थान बना दिया । पहले शहर के लोग देहात पर ही अवलबित थे । मगर अग्रेजो ने सब देहातो को शहर पर ही अवलबित कर दिया, अतएव केन्द्र-स्थान मे शहर आ गये । शहरो मे समृद्धि बढती गयी और देहातो मे दरिद्रता । शहरो मे रहनेवालो की देहातो के प्रति उपेक्षा बढती गयी । सब प्रकार की सुविधाएँ शहरो मे उपलब्ध हो, यही लक्ष्य अग्रेजो ने रखा । उन्होने १५० साल मे शहरो की जो रचना कर दी है, उसीके अनुसार स्वराज्य मिलने के बाद भी चलना पड रहा है । शहरो मे सुविधाएँ करने के पीछे यह खयाल बराबर रखा गया कि अमीर-वर्ग को सब प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हो । अमीर-वर्ग की सहानुभूति से ही अग्रेजो का राज्य यहाँ चल सकता था ।

अमीर-वर्ग के बाद मध्यम-वर्ग की सुविधाओ का खयाल रखा गया। मध्यम-वर्ग के लोग सरकार की नौकरियो मे थे। इसलिए उन्हे सतुष्ट रखे बगैर अग्रेजो को ६००० मील दूर मे राज्य चलाना असभव हो जाता ।

उनके राज मे हरिजन तथा मजदूर-वर्ग के लोगो की सुविधा का बिलकुल खयाल नही रखा गया । उनका समावेश उपेक्षित वर्ग मे ही किया गया । मजदूर यदि काम न करे तो कपडा आदि चीजे तैयार नही हो सकती । मगर उन्हे तनखाह कम और काम ज्यादा, रहने और पानी की सुविधाएँ अतिअल्प ! यही स्थिति शहरो मे सफाई करनेवाले हरिजन-वर्ग की रही ।

स्वराज्य के बाद इन उपेक्षित दो वर्गों की सुविधा की तरफ ध्यान दिया जाने लगा है । इन उपेक्षित वर्गों की तरफ सबसे पहले गाधीजी ने हमारा ध्यान खीचा। उन्होने अहमदाबाद मे मिल-मजदूरो को न्याय मिले, इसके लिए मजदूरो से हडताले भी करवायी और न्याय के लिए मज-दूरो के साथ रहे । देहात की तरफ हम देखते हैं तो शहरो से उलटा दृश्य देखने को मिलता है । अभाव-ग्रस्तता, दीनता, गदगी, असस्कार आदि का वहाँ बोलबाला है । हाँ, देहातो मे कुदरत की एक सुविधा जरूर है और वह है शुद्ध हवा । शहरो मे शुद्ध हवा नही मिलेगी ।

हिन्दुस्तान शहरो मे नही, देहातो मे बसा है । हमारी समाज-रचना ऐसी होनी चाहिए कि देहात उन्नति के शिखर पर रहे । इस दृष्टि से देखा जाय तो प्राचीन जमाने मे देहातो का खयाल रखकर यानी आम जनता का खयाल रखकर चार आश्रमो की व्यवस्था और चार वर्णों की व्यवस्था निर्माण की गयी थी ।

इसलिए भगवान् इस श्लोक के पहले चरण मे बतला रहे है कि आम जनता के कल्याण की दृष्टि मे मैने यानी भगवान् के जो अवतार प्राचीन जमाने मे हो गये, उनमे से किसी अवतार ने इन चार वर्णो की स्थापना की । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

शूद्र, ये चार वर्ण भगवान् के अवतार ने यानी ऋषि-मुनियों ने गुण और कर्म के विभाग करके बनाये। समाज हमेशा ज्ञानभूमिका पर आरूढ रहे, इसके लिए सत्त्वगुणप्रधान शम, दम, तप, शौच, शांति, सरलता आदि आंतरिक गुण या आंतरिक विकर्म और ज्ञानरूपी दान यानी समाज को ज्ञान देना, ये सब बाह्य कर्म करनेवालों का एक वर्ग निर्माण किया गया और उसका नाम 'ब्राह्मण' रखा गया। इसी तरह रजोगुणप्रधान शौर्य, तेज, धृति, दक्षता आदि आंतरिक गुण और युद्ध से कभी पलायन न कर शत्रु के आक्रमण तथा चोर-डाकुओं से समाज के रक्षारूप कर्म जिनमें विकसित हुए हों, ऐसा दूसरा एक वर्ग निर्माण कर उसे 'क्षत्रिय' नाम दिया गया। रजोगुणप्रधान वृत्तियुक्त एक तीसरा वर्ग निर्माण किया, जिसका बाह्य कर्म खेती और वाणिज्य तय किया गया, उसका नाम 'वैश्य' रखा गया। इस वर्ग में ब्राह्मणों या क्षत्रियों के आंतरिक गुण कम-ज्यादा परिमाण में विकसित हो सकेंगे, ऐसी अपेक्षा इस वर्ग में रखी गयी। इसी तरह रजोगुणप्रधान वृत्तियुक्त चौथा वर्ग निर्माण किया गया, जिसका नाम 'शूद्र' रखा गया। इसका बाह्य कर्म सेवा निश्चित की गयी। सहज विकसित हो सकनेवाले ब्राह्मणों या क्षत्रियों के आंतरिक गुणों की अपेक्षा इस शूद्र वर्ग से भी रखी गयी। इस प्रकार चार वर्गों की यानी चार वर्णों की रचना ऋषि-मुनियों ने की। ब्राह्मण समाज को ज्ञान देते रहे, क्षत्रिय समाज की रक्षा करते रहे, वैश्य कृषि और गोरक्षा तथा व्यापार का कार्य करके समाज की बाह्य आवश्यकताएँ पूरी करते रहे और समाज की सेवा का कार्य शूद्र करते रहे। इस तरह चार वर्णों पर हमारा समाज-भवन खडा था।

इन चार वर्णों में उच्च-नीच भेद तो था ही नहीं। इसलिए समाज में सन्तुलन यानी साम्यावस्था बनी रही। सबको सुख का ही अनुभव होता रहा। तब समाज में पारस्परिक ऐक्य आज की अपेक्षा कई गुना ज्यादा था। कोई भी योजना शुरू में ठोस रहती है। बाद में कुछ काल बीतने के बाद समाज में शिथिलता आने लगती है और योजना का ठोसपन रह नहीं पाता और अंत में वह टूट जाती है। अंग्रेजों के यहाँ आने के बाद उनकी संस्कृति के विचार समाज में फैले और हमारी समाज-रचना टूट गयी। सृष्टि के प्रवाह में कोई एक चीज अखंड रहेगी, ऐसा नहीं कह सकते। परिवर्तन सृष्टि का स्वरूप है और यही उसका वैभव है।

(२) दूसरी बात यह कि तस्य कर्तारमपि माम्। चातुर्वर्ण्य का कर्ता यानी चार वर्णों की स्थापना करनेवाला मैं हूँ। किसी अवतार यानी किसी ऋषि को चार वर्णों की कल्पना सूझी और उसके प्रभाव से समाज में वह रूढ हो गयी। आद्य शंकराचार्य ने सन्यास-संस्था का पुनरुद्धार किया। चार आश्रमों की कल्पना पुरानी है, वह शंकराचार्य की नहीं। लेकिन चौथे सन्यास-आश्रम का विकास शंकराचार्य ने किया। सच्चे सन्यासी तैयार किये। उस जमाने में इन सच्चे सन्यासियों ने हमारी जनता में एक परमात्मा ही सत्य है बाकी सारी दृश्य-सृष्टि मिथ्या है, यह शंकराचार्य का विचार अच्छी तरह प्रविष्ट कराया। पीछे सन्यासियों में शिथिलता आने लगी और वह वर्ग इतना गिरा कि आज सन्यास के नाम पर जो लोग भटक रहे हैं, वे समाज पर भाररूप हो गये हैं। बहुत ही थोडे सन्यासी सच्चे कहलाने योग्य हैं।

शंकराचार्य ने जिस तरह सन्यास-कल्पना को बढावा दिया, उसी तरह गांधीजी ने कई नये विचार समाज को दिये। अन्याय का प्रतीकार अहिंसा से करने का मौलिक विचार हिन्दुस्तान में फैलाया। वानप्रस्थ-विचार को काफी बढावा दिया। श्रम की प्रतिष्ठा बढायी। उच्च-नीच भेद के विचार को कमजोर बना दिया। उनके पश्चात् विनोबाजी ने भूदान का बुनियादी विचार समाज में प्रविष्ट

किया है । इस प्रकार के नये विचार भगवान् समय-समय पर जो अवतार धारण करते है, उन्हीसे समाज मे फैलते है । भगवान् ठीक ही कहते है कि चार वर्णो की स्थापना मैने की है ।

(३) तीसरी बात है-- **विद्धि अकर्तार अव्ययम्** । यानी मै चार वर्णो का कर्ता होते हुए भी उनका अकर्ता ही हूँ । भगवान् यानी भगवान् के अवतार जो भी नयी कल्पना समाज मे दाखिल करते है, उनसे वे अलिप्त रहते है । उनकी अलिप्तता, अनासक्ति, अकर्तापन का ज्ञान ज्यो-का-त्यो रहता है । उसमे कोई भी फर्क नही आता । सब-कुछ करते हुए कुछ भी न करना ही अवतार का कार्य है । साधारण मनुष्य भी कभी-कभी कोई नयी कल्पना का आविष्कार करता है । इस जमाने मे जो विज्ञान की नयी-नयी खोजे हो रही है, वह नयी कल्पनाओ का आविष्कार ही है। मगर जो नयी कल्पना अपनी बुद्धि से निकालते और नयी-नयी खोजे करते रहते है, उन सबको उन-उन आविष्कारो का भान रहता है यानी कर्तापन का भान रहता है। लेकिन कर्तापन का भान अज्ञान का कार्य है, क्योकि कल्पना का आविष्कार या नयी-नयी खोजो का सबध बुद्धि से है । बुद्धि से ये सब नयी-नयी खोजे होती है। उनका आत्मा के साथ कोई सबध नही । जिसे हम 'मै' नाम से पुकारते है यानी 'मैने यह नयी कल्पना निकाली, मैने यह नयी खोज की' ऐसा जो हम कहते है, वह 'मै' आत्मा ज्ञाता, साक्षी और अकर्ता है । कर्तापन का सारा आविष्कार बुद्धि का है । लेकिन साधारण लोगो को आत्मा के इस अकर्तापन का ज्ञान न रहने से वे अपने को बुद्धि के सब कर्मो का कर्ता मानते है । लेकिन भगवान् के अवतार ज्ञानी पुरुष जो-जो नये आविष्कार प्रकट करते है, सबका कर्ता अपने को न मानकर बुद्धि को कर्ता मानते है, इसलिए वे अकर्तापन का ही अनुभव करते रहते है । इसीलिए वे नित्य आनद मे रहते है । जहाँ कर्तापन आया, वहाँ दुख का बीज-वपन हो जाता है ।

इस अकर्तापन का फल बधन से मुक्ति पाना है । यही भगवान् अगले श्लोक मे कह रहे है ।

: १४ :

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।

मां कर्माणि न लिंपन्ति=मुझे कर्मो का लेप नही लगता, **कर्मफले मे स्पृहा न**=क्योकि कर्मफल मे मेरी आसक्ति नही है, **इति य· मा**=इस प्रकार मुझे जो पुरुष, **अभिजानाति**=यथार्थरूप से जानता है, **स कर्मभि न बध्यते**=वह कर्मो से लिप्त नही होता ।

इस श्लोक मे चार बाते है (१) मेरे कर्मो का मुझे लेप नही लगता । (२) क्योकि उन कर्मो के बारे मे मेरे मन मे कोई स्पृहा यानी इच्छा, आसक्ति नही है । (३) इस प्रकार मुझे जो पुरुष यथार्थरूप से जान लेता है, (४) वह पुरुष अलिप्त रहकर कर्मो के बधन मे नही पडता ।

(१) **न मां कर्माणि लिंपन्ति**– मुझे मेरे कर्मो का लेप नही लगता, मुझे वे कर्म नही चिपकते । भगवान् ने अवतार धारण कर लिया है यानी देह धारण की है, ऐसा मानकर उपर्युक्त वचन का अर्थ लगाया जा सकता है और परमात्मा, जो कि सृष्टि के सब पदार्थो मे व्याप्त है, उसे लक्ष्य करके लगाया जा सकता है । भगवान् अवतार किस तरह धारण करते है, यह इसी अध्याय के छठे श्लोक मे और कब धारण करते है, यह सातवे श्लोक मे भगवान् ने बताया । आठवे श्लोक मे बताया कि किस उद्देश्य से अवतार धारण करते है । जब भगवान् का यह अवतार-कार्य चालू होता है, तब उन्हे देह धारण करनी ही पडती है । देह धारण कर नाना प्रकार के कर्म भी करने पडते है ।

साधारण आदमी भी दिन-रात कर्म करते रहते है, तो भगवान् और साधारण आदमी के कर्मो मे क्या फर्क है, यह समझ ले । साधारण आदमी हमेशा सात्त्विक कर्म ही करेगे, सो बात नही । अक्सर राजसिक और तामसिक कर्म की तरफ ही उनका झुकाव होता है । साधारण आदमी के कर्मो मे फलासक्ति रहती है । फलासक्ति के कारण उसमे उन कर्मो के बारे मे राग-द्वेष पैदा होता है । राग-द्वेष से मन मे दु ख, ग्लानि का अनुभव होता है । कोई भी कर्म किसी उद्देश्य से तो करना ही होगा । अच्छे कर्म के लिए कुछ ध्येय, कुछ सिद्धान्त रखने पडते है, कुछ योजनाएँ भी बनानी पडती है । इसी तरह जब कर्म करना शुरू हो जाता है, तो यह भी ध्यान मे रखना पडता है कि जिस उद्देश्य को लेकर हम कर्म करना चाहते है, वह सध रहा है या नही । लेकिन उन कर्मो के प्रति जब आसक्ति पैदा हो जाती है तो सघर्ष शुरू हो जाता है और सघर्ष से दु ख होता है ।

यह बात सिर्फ राजसिक और तामसिक कर्मो पर ही लागू होती है, सो बात नही । सात्त्विक कर्मो पर भी यह लागू होती है । यानी सात्त्विक कर्मो मे भी आसक्ति पैदा होती है और आसक्ति-मात्र अत्यत दु खदायक है, यह स्पष्ट है । मोक्ष की साधना के बारे मे भी आसक्ति पैदा होने पर दु ख का अनुभव होने लगता है । शकराचार्य ने लिखा है **मोक्षे अपि फले संगं त्यक्त्वा**—अर्थात् मोक्षरूप फल मे भी आसक्ति छोडकर ।

(२) **न मे कर्मफले स्पृहा**—मुझे उन कर्मो की फलासक्ति नही रहती । यह बडे महत्त्व का सिद्धान्त है ।

गाधीजी कहते है कि गीता का मुख्य सार फलासक्ति का त्याग है । गीता मे ज्ञान, भक्ति, कर्म, ध्यान, गुणोत्कर्ष आदि बाते बतलायी है । लेकिन गीता की चाभी है कर्म-फल-त्याग । गाधीजी 'अनासक्ति-योग' की प्रस्तावना मे लिखते है

"फल-त्याग यानी फल के बारे मे आसक्ति का अभाव । सच पूछिये तो फल-त्यागी को तो हजार-गुना फल मिलता है । गीता के फलत्याग मे अटूट श्रद्धा की कसौटी है । जो आदमी परिणाम का ही ध्यान धरे रहता है, वह कई बार कर्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है । अधीरता आ जाने से वह क्रोध के वश हो जाता और न करने योग्य भी करने लगता है । एक कर्म से दूसरे कर्म मे, दूसरे से तीसरे मे, इस तरह वह गिरता जाता है । परिणाम का चितन करनेवाले की स्थिति विषयाध की-सी हो जाती है । अन्त मे वह विषयासक्त की तरह सार-असार और नीति-अनीति का विवेक खो बैठता है और फल-प्राप्ति के लिए चाहे जिस साधन का उपयोग करने लगता है । उसे ही वह धर्म मानता है ।"

फिर गाधीजी एक मार्मिक वाक्य लिखते है "कर्म छोडता है, वह गिरता है और कर्म करते हुए फल छोडता है, वह चढता है ।" आगे गाधीजी लिखते है "साधन की पराकाष्ठा ही मोक्ष यानी परम शाति, ज्ञान और भक्ति को भी कर्मफल की कसौटी पर चढना होगा ।

"मनुष्य को ईश्वररूप हुए बिना शाति-सुख नही मिलता । ईश्वररूप होने का प्रयत्न करना ही सही पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है । यह आत्मदर्शन सब धर्मग्रथो का विषय है, इसी तरह गीता का भी विषय है । मगर गीताकार ने उस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नही रची है । किन्तु आत्मार्थी मुमुक्षु या साधक के लिए अद्वितीय उपाय बताना ही गीता का आशय है । यह अद्वितीय उपाय है कर्मफल-त्याग ।"

फिर लिखते है "कर्म करते हुए मनुष्य किस तरह बधनमुक्त रह सकता है ? इस प्रश्न का हल गीताजी ने जिस प्रकार किया है, वैसा किसी भी धर्मग्रथ ने किया हो, यह मै नही जानता । गीता कहती है 'फलासक्ति छोडो और कर्म करो', 'निराशी हो जाओ और कर्म करो', 'निष्काम होकर

कर्म करो ।' गीता का यह सदेश कभी न भूलने जैसा है। सत्य और अहिंसा के सपूर्ण पालन के बिना कर्मफल-त्याग मनुष्य के लिए असभव है। गीता विधि-निषेध बतलानेवाला ग्रथ नही है। क्योकि एक के लिए जो विहित यानी करने योग्य हो, वह दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। किसी एक काल मे या किसी एक देश मे जो विहित हो, वह दूसरे काल में या दूसरे देश मे निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध मात्र फलासक्ति है। विहित अनासक्ति यानी फलत्याग है।"

भगवान् इस श्लोक मे यह चाभी बतला रहे है कि कर्म मुझे चिपकते नही, क्योकि मुझमे फलासक्ति नही है। भगवान् ने अवतार धारण किया है यानी देह धारण की है, ऐसा मानकर यह अर्थ अभी तक बतलाया। अब सर्वव्यापक परमात्मा को लक्ष्य करके अर्थ करे।

सर्वव्यापक परमात्मा गुप्त है। अवतार-धारण मे वह प्रकट हो जाता है। परमात्मा सब जड पदार्थो मे गुप्त रहता है, तब भी उसका कर्म तो अखड चलता ही रहता है। सूर्य, चद्र, तारे और पृथ्वी के रूप मे तथा वृक्ष और नाना प्रकार के पदार्थो के रूप मे वही परमात्मा प्रकट हो रहा है। यह सृष्टि अखड कर्म कर रही है। चौबीसो घटे इस जड-सृष्टि का कर्म चलता रहता है। फूल के एक पौधे को ले तो मालूम पडेगा कि उसमे कितने फूल पैदा होते है। फूलो के पैदा होने की यह क्रिया अखड चलती रहती है। इस तरह सृष्टि के हरएक पदार्थ मे जो अखड क्रिया चल रही है, वह परमात्मा ही कर रहा है। इस तरह सृष्टि मे परमात्मा का अखड कर्म चल रहा है, फिर भी परमात्मा पर इन कर्मो का कोई परिणाम नही होता। वह सपूर्ण अपरिणामशील ही रहता है।

(३) तीसरी बात है—इस प्रकार भगवान् के कर्मो को जो बराबर जान लेता है, यानी जानकर अमल मे लाता है।

(४) वह कर्म के बधन मे नही फँसता है, यह चौथी वस्तु भगवान् बता रहे है। भगवान् के कर्मो को जाननेवाले बहुत मिल सकते है। शास्त्री-पडित तो इस पर प्रवचन भी कर सकते है, मगर भगवान् के अलिप्त कर्मो को जानकर उनको अमल मे लाना कठिन है। विरले लोग ही भीतरी अलिप्तता प्राप्त कर पाते है। शास्त्री-पडित भी काम-क्रोध के अधीन रहते है। इसलिए भीतर अलिप्त होकर जो कर्म करेगे, वे इस ससार-बधन मे फँसे नही रहेगे, मुक्त होकर फिर से जन्म नही लेगे।

शकराचार्य इस श्लोक पर भाष्य करते हुए लिखते है कि भगवान् को अपने कर्मो का लेप क्यो नही लगता, इसका एकमात्र कारण यह है कि **अहकाराभावात्** 'अहकार का अभाव रहता है।' सब ससारी लोग, शास्त्री-पडित भी अहकार से प्रेरित होकर ही कर्म करते है। जीवन मे अहकार जितना ज्यादा रहेगा, चित्त मे राग-द्वेष उतने ही ज्यादा उठेगे। उतना कर्मबधन भी ज्यादा होगा। यदि हमे मालूम हो जाय कि अहकार से ही मन मे राग-द्वेष पनपते है तो हमारी साधना, हमारा लक्ष्य राग-द्वेष क्षीण करने मे रहेगा। जितने अशो मे परमात्मा का स्मरण रहेगा, उतने ही अशो मे अहकार क्षीण होगा। भगवान् के अखड स्मरण से अहकार क्षीण होता है और अहकार क्षीण होने से राग-द्वेष आदि विकार क्षीण हो जाते है।

: १५ :

एव ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभि ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वै पूर्वतरं कृतम् ॥

पूर्वै अपि मुमुक्षुभि=प्राचीनकाल के भी मुमुक्षुओ ने, **एव ज्ञात्वा कर्म कृत**=इस प्रकार जानकर कर्म किये है, **तस्मात् त्व**=इसलिए तू भी, **पूर्वैः पूर्वतर कृत**=पहले पैदा हुए मुमुक्षुओ द्वारा सदा मे किये हुए **कर्म एव कुरु**=कर्मो को ही कर।

इस श्लोक मे दो वाते है (१) प्राचीन काल मे जो मुमुक्षु साधक हो गये है, उन्होने भगवान् के अलिप्त कर्मो को जानकर कर्म किये । (२) इसलिए तू भी उन मुमुक्षुओ की तरह अलिप्तता से कर्म कर ।

(१) **एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः**। प्राचीन काल मे जो मुमुक्षु या साधक हो गये, उनका उदाहरण भगवान् यहाँ दे रहे है। वश-परपरा की तरह ज्ञान-परपरा भी चलती है। नदी के पानी के प्रवाह की तरह ज्ञान का प्रवाह भी प्राचीन जमाने से वहा आ रहा है। जो ज्ञान परपरा से मिलता है, वह अनुभवयुक्त रहता है। गुरु-शिष्य-परपरा प्राचीन काल से चली आ रही है। सगीत, चित्रकला, पदार्थविज्ञान, यत्रविज्ञान ऐसी अनेक विद्याएँ भी आदमी स्वय ही विना किसी आधार यानी गुरु के प्राप्त नही कर सकता। तव परमात्मा जैसी अत्यत सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु की जरूरत रहेगी, यह सहज ही ध्यान मे आने जैसी वात है। स्थूल विद्या प्राप्त करने मे आचरण के साथ कोई सवध नही रहता। यानी सगीत सिखानेवाला व्यसनी हो तो भी उससे सगीत-विद्या प्राप्त हो सकती है। मगर परमात्म-ज्ञान स्थूल-वस्तु नही है, उसे जानने के लिए चित्त के विकारो को क्षीण करना पहली शर्त है। जो व्यसनी है, इद्रियो का दास है, चरित्रहीन है और सयमी नही है, वह परमात्म-ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। इसीलिए परमात्म-ज्ञान दुर्लभ वस्तु है। फिर भी इस भरतखड मे आज भी पहुँचे हुए पुरुष मिल जाते है।

(२) जिस तरह प्राचीन काल के मुमुक्षु भगवान् किस तरह अलिप्तता से अखड कर्म करते रहे है, यह ठीक-ठीक जानकर उसी प्रकार सत्कर्म करते रहे है, वैसे ही तुझे भी कर्म करते रहना चाहिए। अर्जुन स्वधर्म छोडने के लिए तैयार हो गया था। सन्यास की भाषा भी वोल रहा था। भगवान् उसे विविध प्रकार से ज्ञान देकर स्वधर्म मे प्रवृत्त कर रहे है। क्योकि परमात्म-ज्ञान स्वधर्म छोडकर प्राप्त नही हो सकता, यह भगवान् का सिद्धान्त है। ज्ञान प्राप्त होने के वाद सहज जो अकर्मावस्था किसी की देखने मे आये तो उस अकर्मदशा मे अनत कर्म छिपे रहते है। ऐसे पहुँचे हुए पुरुष के दर्शनमात्र से अनत प्रेरणाएँ मिल सकती है। लेकिन अज्ञानावस्था मे कोई स्वधर्म छोड़कर परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहे, तो वह सभव नही।

: १६ :

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥

कर्म किं=कर्म किसे कहते है, **अकर्म किं**=अकर्म किसे कहते है, **इति अत्र कवय. अपि**=इस सवध मे वडे-वडे वुद्धिमान् भी, **मोहिताः**=मूढ वन गये है, **तत् ते कर्म**=इसलिए तुम्हे कर्म क्या है और अकर्म क्या है, **प्रवक्ष्यामि**=(सो) समझाता हूँ, **यत् ज्ञात्वा**=जिस कर्म, अकर्म आदि को जानने से, **अशुभात् मोक्ष्यसे**=अशुभ मे मुक्त हो जायगा।

इस श्लोक मे तीन वाते वतायी है

(१) कर्म और अकर्म का स्वरूप क्या है यानी कर्म किसे कहते है और अकर्म किसे, इस विषय मे वडे-वडे विद्वान् भी ठीक-ठीक जान नही पाते, मूढ वन जाते है। (२) इसलिए तुम्हे कर्म और अकर्म के वारे मे समझाता हूँ (३) ताकि तुम इस अशुभ से यानी ससार-वधन से मुक्त हो जाओ।

(१) **किं कर्म किं अकर्म इति कवयः अपि मोहिता.**। 'कर्म' और 'अकर्म' इन दो शव्दो का गीता मे सामान्य नही, विशेष अर्थ मे उपयोग हुआ है। अगले श्लोक मे 'विकर्म' शव्द आता है। 'विकर्म' शव्द का विशेष अर्थ ही लेना है। तीनो शव्दो के सवध मे वहुत थोडे लोगो को यथार्थ कल्पना है। कर्म का सामान्य अर्थ तो काया और

वाचा से जो हम जागृत्-काल मे अनेक क्रियाएँ करते रहते है, वही है। मगर कुछ न करना यानी चुपचाप वैठना, आराम करना, सोना--विचारको ने इनकी भी गिनती कर्म मे की है। न करना भी जहाँ कर्म हो जाता है, वहाँ कर्म शब्द का यथार्थ अर्थ क्या ले, इस बारे मे कठिनाई उपस्थित होना ठीक ही है। चुपचाप वैठना या आराम लेना या निद्रा लेना आदि क्रियाओ को साधारण लोग 'अकर्म' कहते है। वे 'कर्म' का अर्थ क्रियामात्र और 'अकर्म' यानी अक्रिया मानते है। जो आदमी लगातार सुवह से शाम तक काया-वाचा से कर्म करता है, उसे वे कर्म करनेवाला कहेगे। मानसिक कर्म को लोग क्रिया नही कहते। काया-वाचा से जो कर्म नही करता यानी चुपचाप वैठा रहता है, मानसिक कर्म करता रहता है, फिर भी उसे लोग 'अकर्म' यानी कर्म न करनेवाला कहते है।

लेकिन भगवान् यहाँ कह रहे है कि कर्म और अकर्म के वारे मे वुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी लोगो मे भी मूढता पायी जाती है। शकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, गाधीजी ने गीता पर अनुवाद और भाष्य लिखे है। कर्म-अकर्म के वारे मे सवकी एक राय नही है, यह तो ठीक है। मगर यथार्थ समाधान किसी भाष्य मे नही मिलता। किशोरलालभाई मश्रूवाला ने भी गीता पर भाष्य लिखा है। मगर इन कर्म, अकर्म और विकर्म के अर्थ के वारे मे समाधानकारक खुलासा वे भी नही कर सके। हाँ, विनोवाजी ने अपने 'गीता-प्रवचन' मे कर्म, अकर्म और विकर्म पर अपूर्व प्रकाश डाला है।

विनोवाजी का कहना है कि कर्म यानी स्वधर्म-रूप कर्म, स्वकर्तव्य। स्वधर्म या स्वकर्तव्य मे चुनाव के लिए स्थान नही रहता, इसलिए स्वधर्मरूप कर्म यानी प्रवाह-पतित सात्त्विक कर्म। इस स्वधर्मरूप कर्म का पालन करने मे आदमी निप्काम हो सकता है, क्योकि शुरू से ही उसने इच्छा-वासना से प्रेरित होकर वह कर्म शुरू नही किया है। सव लोग इच्छा-वासना से प्रेरित होकर ही कर्म करते है। जव कर्म की शुरुआत मे इच्छा-वासना की प्रेरणा रहती है तो कर्म करते हुए इच्छा-वासनाओ का त्याग हो नही सकता, क्योकि उनका बीज शुरू मे ही वो दिया गया रहता है। इसलिए जिसके मन मे निप्कामता का महत्त्व है, निप्कामता का अभ्यास करने की ओर ही ध्यान है, उसे कर्म की शुरुआत भी निप्कामता से ही करनी चाहिए।

हम अपनी रुचि का कर्म चुनकर निप्कामता का अभ्यास करेंगे, ऐसा कोई कहे तो वह भ्रान्ति मे है। स्वकर्म मे पसदगी नही होती। स्वकर्म ईश्वर-प्रेरित यानी प्रवाह-पतित होना चाहिए। मगर प्रवाह मे चाहे जैसी चीज आये तो हम उसे स्वीकार नही करेगे। इसलिए चुनाव का मतलव तो यही है कि जो कर्म हम करते है, वह सात्त्विक है या नही, यह देखे। क्योकि सात्त्विक कर्म ही ज्ञान प्राप्त करा देने मे, निप्काम वनाने मे सहायक हो सकते है। राजसिक और तामसिक कर्म निप्कामता के अभ्यास की दृप्टि से निकम्मे है। वे चित्तशुद्धि मे मदद नही करते।

सात्त्विक कर्म मे अपनी तरफ से चुनाव नही होना चाहिए। चुनाव का मतलव होता है अह-प्रेरित और अहकार को ही तो सव तरह से मिटाना है। वह ईश्वर-प्रेरित यानी प्रवाह-पतित होना चाहिए। ये दो शर्ते जिस कर्म मे रहेगी, वह आखिर मे आदमी को पूरा निष्काम वनाकर परमात्म-स्वरूप की पहचान कराने मे समर्थ सावित होगा। ये दो शर्ते जिस कर्म मे नही है, वह कर्म निप्काम वनाने मे समर्थ नही हो सकता। जो कर्म निप्काम वनाने मे समर्थ नही वन सकता, उसे गीता 'स्वधर्म' कहने को तैयार नही। जिस कर्म से हम सर्वथा निप्काम वन सकते है, वही मोक्षदायी हो सकता है। मोक्ष के लिए निष्कामता प्राप्त करनी है और निप्कामता प्राप्त करने के लिए कर्म ईश्वर-प्रेरित होना चाहिए।

ये दो बाते जान ली तो कर्म किसे कहते है, यह जान लिया। ऐसे कर्म को यानी जो स्वय सात्त्विक हो और जो निष्कामता से किया जा सके, उसे ही 'कर्म' संज्ञा दे सकते है। कर्म यानी स्वधर्मरूप स्वकर्तव्य।

अब 'अकर्म' का विचार करे। निष्काम-कर्म से अकर्म-दशा प्राप्त होती है। 'स्वय कर्म के कर्ता न होकर पूरे अकर्ता, अभोक्ता, सिर्फ ज्ञाता है' इस अनुभव का नाम ही अकर्म है। अकर्म का यह अर्थ गाधीजी, शकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज आदि को मान्य है। ज्ञानेश्वर महाराज ने इस श्लोक के भाष्य मे अकर्म का अर्थ ही नही बताया। १८वे श्लोक के उनके भाष्य मे अकर्म-दशा का जो वर्णन है, उसमे 'अकर्म' का उनका अर्थ ध्यान मे आ जाता है। भगवान् के दिव्य कर्म और दिव्य जन्म, इस अकर्तापन की भूमिका से ही कहे गये है। जीवन का सार ही अकर्ता बनना है। अकर्ता बनने के बाद सहज ही अभोक्ता बनते है। उसके लिए कोशिश नही करनी पडती। अकर्ता बनने के लिए ही ध्यान, भक्ति, वैराग्य आदि साधनाएँ है। अकर्ता बनने का मतलब कोई नयी चीज प्राप्त करना नही है। अकर्तापन हमारा स्वरूप है। उस स्वरूप की पहचान न होने का कारण है, स्वरूप का अज्ञान।

(३) तीसरी बात भगवान् कह रहे है कि कर्म और अकर्म के बारे मे तुम्हे समझाता हूँ। भगवान् ने कर्म मे अकर्मी यानी अकर्ता किस प्रकार रहे, यह १८ से २४ तक सात श्लोको मे बताया है।

(४) चौथी बात यह कह रहे है कि कर्म और अकर्म का स्वरूप जानकर उसे आचरण में लाने से अशुभ से यानी ससार के बंधन से मुक्ति मिल सकती है। कर्ता बनने से बधन पैदा होता है। हम कर्म के कर्ता बनते है, तभी नाना प्रकार की इच्छा-वासनाएँ पनपती है। उन इच्छा-वासनाओ के अधीन होने से स्वधर्म भी नही पहचान पाते। स्वधर्म छोडने को तैयार हो जाते है। जहाँ स्वधर्म छोडा, वहाँ हम भिखारी बन गये, सारी जीवन-पूंजी नष्ट हो गयी, यही समझना चाहिए। इसलिए स्वधर्म किसी भी स्थिति मे नही छोडना चाहिए। अकर्ता बनने के लिए स्वधर्म या स्वकर्तव्य का पालन बहुत जरूरी है। अकर्ता यानी शून्य और निष्काम बनना। कामना के वश होकर ही आदमी स्वकर्तव्य छोडने को तैयार होता है। वह निर्णय नही कर पाता, उलझन मे पड जाता है। इसलिए प्रवाह-पतित कर्म करना पहली बात है और प्रवाह-पतित कर्म करते हुए अकर्ता बनना दूसरी बात है। ये दो बाते अमल मे लाने से कर्म-बधन छूट सकता है।

'विकर्म' का भी कर्म और अकर्म जितना ही महत्त्व है। यह बात अगले श्लोक मे बतायी गयी है।

: १७ :

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्य च विकर्मण ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति ॥

हि कर्मण. अपि बोद्धव्य=क्योकि कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, च विकर्मण बोद्धव्य=और विकर्म भी जानना चाहिए, च अकर्मण बोद्धव्य=और अकर्म भी जानना चाहिए, कर्मण गति. गहना=कर्म का यथार्थ स्वरूप जानना बहुत कठिन है।

इस श्लोक मे दो बाते है १ कर्म, अकर्म और विकर्म तीनो का यथार्थ स्वरूप क्या है, यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए। २ क्योकि कर्म, अकर्म और विकर्म का यथार्थ स्वरूप समझना बहुत कठिन है।

(१) **कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः अकर्मणश्च बोद्धव्यम्।** इस श्लोक मे नयी बात 'विकर्म ही है। कर्म और अकर्म को भली-

भाँति जान लेना चाहिए तथा 'विकर्म' को भी जानना बहुत जरूरी है, यही बतलाने के लिए यह श्लोक है। कर्म और अकर्म का स्पष्टीकरण पिछले श्लोक मे किया गया। 'विकर्म' शब्द को इस श्लोक मे स्पष्ट करना है। अनेक भाष्यकारो ने 'विकर्म' का अर्थ विपरीत कर्म, निषिद्ध कर्म किया है। 'विशेष कर्म' यह अर्थ विनोबाजी ने ही किया है। इस अध्याय मे आगे कही भी 'विकर्म' शब्द नही आया है। भगवान् इस श्लोक मे यह बतला रहे है कि विकर्म को ठीक-ठीक जान लेना चाहिए। विकर्म, कर्म, अकर्म को भलीभाँति जान लेना चाहिए, क्योकि कर्म, अकर्म और विकर्म का स्वरूप समझना बहुत गहन है। स्वधर्म के बारे मे तो दूसरे, तीसरे अध्याय मे भगवान् ने काफी स्पष्टीकरण किया। अकर्म का स्पष्टीकरण इसी अध्याय मे १९वे से २४वे तक छह श्लोको मे आयेगा। २५वे से ३२वे तक आठ श्लोको मे विकर्म का प्रकरण है।

तीसरे अध्याय मे स्वधर्मरूप यज्ञ का काफी स्पष्टीकरण कर दिया गया। उसी यज्ञ के बारे मे विविध प्रकार के यज्ञो के रूप मे २५वे से ३२वे श्लोक तक स्पष्टीकरण है, यह नही कह सकते। 'विकर्म' का अर्थ विनोबाजी बताते है "आन्तरिक चित्तशुद्धि करनेवाले सूक्ष्म कर्म। अर्थात् परमात्म-स्वरूप की पहचान मे विघ्नरूप काम, क्रोध, अभिमान आदि आन्तरिक विकारो को नष्ट कर देनेवाले जो सूक्ष्म कर्म है, वे ही विकर्म है। विकर्म यानी विशेष कर्म। आतरिक विकारो को नष्ट करके चित्त की शुद्धि करनेवाले कर्म 'विशेष कर्म' है। दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, ध्यान, भक्ति, आत्मानात्मविवेक आदि साधन गीता मे जो अलग-अलग अध्यायो मे बताये है, वे सारे विकर्म ही है। बाहर से स्वधर्मरूप कर्म और भीतर से चित्त को शुद्ध करनेवाले भक्ति, वैराग्य आदि आन्तरिक कर्म, जिन्हे 'विकर्म' कहा है, जब स्वधर्म-रूप कर्म मे मिल जाते है तभी उससे अकर्म यानी अकर्तापन का अनुभव निष्पन्न होता है। यही मोक्ष है। विनोबाजी ने बडे मार्मिक ढग से कर्म, विकर्म, अकर्म की सगति बैठा दी है।

'गीता-प्रवचन' (अध्याय ४) मे इसी बात को बहुत अच्छी तरह विनोबाजी ने समझाया है। वे लिखते है "कर्म के साथ विकर्म का मिलन जरूरी है। इस मिलन को ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहर का स्वधर्म-रूप सामान्य कर्म और यह आतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विकर्म के ऐसे अनेक प्रकार नमूने के तौर पर चौथे अध्याय मे बताये गये है। उसीका विस्तार आगे छठे अध्याय से किया गया है। इस विशेष कर्म का, इस मानसिक अनुसधान का योग जब हम करेगे, तभी उसमे निष्कामता की ज्योति जगेगी। कर्म के साथ विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अदर आती जाती है। यदि शरीर और मन भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है तो साधन भी दोनो के लिए भिन्न-भिन्न ही होगे। जब इन दोनो का मेल बैठ जाता है, तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। यदि बाह्य कर्म मे हृदय की आर्द्रता न रही तो वह स्वधर्माचरण सूखा रह जायगा। उसमे निष्कामतारूपी मूल फल नही लग सकते। मान लो, हमने किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परन्तु उस सेवा-कर्म के साथ यदि मन मे कोमल दयाभाव न हो तो वह रुग्ण-सेवा नीरस मालूम होगी और उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ होगी। रोगी को भी वह सेवा बोझ मालूम पडेगी। उस सेवा मे यदि मन का सहयोग न हो तो उससे अहकार पैदा होगा। मै आज उसके काम आया हूँ तो उसे भी मेरे काम आना चाहिए, उसे मेरी तारीफ करनी चाहिए, लोगो को मेरा गौरव करना चाहिए, आदि अपेक्षाएँ मन मे उत्पन्न होगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेगे 'हम इतनी सेवा करते है,

फिर भी यह वडवडाता रहता है।' बीमार आदमी वैसे ही चिडचिडा रहता है। उसके ऐसे स्वभाव से वह सेवक, जिसके मन मे सच्चा सेवाभाव नही होगा, ऊव जायगा।

"कर्म के साथ जव आतरिक भाव का मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ निराला ही हो जाता है। तेल और वत्ती के साथ जब ज्योति का मेल होता है, तव प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्म के साथ विकर्म का मेल होने पर निष्कामता आती है। वारूद मे वत्ती लगाने से धडाका होता है। उस वारूद मे एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्म को वदूक की वारूद समझो। उसमे विकर्म की वत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जव तक विकर्म आकर नही मिलता, तव तक वह कर्म जड है। उसमे चैतन्य नही। एक वार जहाँ विकर्म की चिनगारी उसमे गिरी कि फिर उस कर्म मे जो सामर्थ्य पैदा होती है, वह अवर्णनीय है। चिमटी भर वारूद जेव मे पडी रहती है, पर जहाँ उसमे वत्ती लगी कि शरीर के टुकडे-टुकडे उडे। स्वधर्माचरण की अनत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहती है। उसमे विकर्म को जोडिये, फिर देखिये कि कैसे वनाव-बिगाड होते है। उसके स्फोट से अहकार, काम, क्रोध के प्राण उड जायँगे और उसमे से परम ज्ञान की निष्पत्ति हो जायगी।

"कर्म के साथ जव विकर्म का जोड मिल जाता है, तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमे से अकर्म निर्माण होता है। लकडी जलने पर राख हो जाती है। पहले का वह इतना वडा लकडी का टुकडा! अत मे बेचारी चिमटी भर राख रह जाती है उसकी। खुशी से उसे हाथ मे ले लीजिये और सारे वदन पर मल लीजिये। इस तरह कर्म मे विकर्म की ज्योति जला देने से अत मे अकर्म हो जाता है। कर्म मे विकर्म उँडेलने से अकर्म होता है, इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम नही होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्म का वोझ मालूम नही होता। करके भी अकर्ता रहते है।"

(२) दूसरी वात है **गहना कर्मणो गति.**—कर्म की गति यानी स्वरूप वहुत गहन है। सस्कृत-वचन है **सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य**—धर्म का स्वरूप सूक्ष्म है। और एक सस्कृत-वचन है · **धर्मस्य तत्त्व निहितं गुहायाम्**—अर्थात् धर्म का तत्त्व गूढ है, छिपा हुआ है।

: १८ :

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

यः कर्मणि=जो विवेकी पुरुष कर्म करते हुए, **अकर्म पश्येत्**=अकर्तापन का अनुभव करता है, **च य.**=और जो विवेकी पुरुष, **अकर्मणि कर्म पश्येत्**=अकर्म मे कर्म देखता है, **स· मनुष्येषु बुद्धिमान्**=वह मनुष्यो मे वडा बुद्धिमान है, **सः युक्त स. कृत्स्नकर्मकृत्**=योगी है, वही कृतकृत्य है।

इस श्लोक मे पाँच वाते है १ कर्म करते हुए जो अकर्म देखता है, २ अकर्म मे जो कर्म देखता है, ३ वह पुरुष मनुष्यो मे बुद्धिमान् है, ४ वह योगी है, और ५ वही कृतकृत्य पुरुष है।

(१) **कर्मण्यकर्म यः पश्येत्**—कर्म करते हुए जो अकर्म देखता है यानी स्वय को अकर्ता देखता है, क्योकि उसने अपने परमात्म-स्वरूप को जान लिया है। परमात्मा अकर्ता है, यह वात इसी अध्याय के १३वे श्लोक मे स्पष्टरूप से 'अकर्ता' शब्द द्वारा स्पष्ट कर दी गयी है। उस श्लोक मे भगवान् ने यह नही कहा कि 'सिर्फ मै अकर्ता हूँ।' यही कहा कि 'मै सव जगत् का कर्ता होते हुए अकर्ता हूँ' यानी सव शुभ कर्म करते हुए भी कुछ नही करता, इतनी अलिप्तता का अनुभव करता हूँ। १४वे श्लोक मे तो यह भी वता दिया कि कर्म-फल की आसक्ति न होने के कारण मै कर्म से लिप्त

नही होता यानी मैं अलिप्त रहता हूँ । इतना ही नही, यह भी कहा कि इस तरह जानकर जो कर्म का आचरण करेगा वह भी कर्म से नही बँधेगा । मतलव यह जो कल्पना है कि अकर्ता वनना यानी देह, मन आदि से कुछ भी कर्म न करना, वह गलत कल्पना है । कर्म न करते हुए अकर्तापन के अनुभव का कोई अर्थ नही । कसौटी पर जो अनुभव सही साबित होता है, उसीको सही कहेंगे । सत्कर्म करते हुए जव मैं 'सव कर्तृत्व परमात्मा का ही है' ऐसा अनुभव करूँगा, तभी मेरा अकर्तापन सिद्ध होगा । साधक के लिए परमात्मा की पहचान विना सपूर्ण अकर्ता-पन के अनुभव के सभव नही । साधक को कर्म करते हुए अकर्ता वनने का अभ्यास नित्य करते रहना चाहिए । प्रयत्न की पराकाष्ठा मे ही अकर्ता-पन का पूर्ण अनुभव होता है ।

यहाँ पूर्ण पुरुष का वर्णन किया गया है । इस प्रकार वाहर से स्वधर्म का पालन और मन मे अनेक प्रकार के भक्ति, वैराग्य, फलाशा-त्याग आदि सात्त्विक भाव विकसित करते हुए विकर्मो का अभ्यास चालू रहने पर ही साधक को अकर्तापन का परिपूर्ण अनुभव हो सकता है ।

(२) अव दूसरी वात **अकर्मणि च करम** की है । कर्म करते हुए अकर्तापन का जो अनुभव होता है, उसीमे सारा कर्म भरा है । साधक और सिद्धपुरुष की दृष्टि से इसके दो अर्थ हो सकते है। साधक के लिए यह अर्थ है कि कर्म यानी सत्कर्म, स्वधर्मरूप कर्म करते हुए अकर्तापन का अनुभव लेने का सतत लक्ष्य रखना चाहिए और यह प्रतीत होना चाहिए कि अकर्तापन का अनुभव ही सवसे श्रेष्ठ कर्म है, वही जीवन का सारभूत तत्त्व है ।

सिद्धपुरुष के लिए यह अर्थ है कि जव अकर्ता-पन का परिपूर्ण अनुभव आता है, स्वप्न मे भी ऐसी भ्राति नही रहती कि मैं कर्म का कर्ता हूँ, ऐसी अकर्म-दशा का जो नित्य अनुभव करता है, उसके इस अलौकिक अनुभव से सारे जगत् के लिए सत्कर्म करने की, अकर्तापन के अनुभव की प्रचण्ड प्रेरणा मिलती रहती है । यानी जिस तरह कर्म करते हुए न करना, यह एक प्रकार का अनुभव हुआ उसी तरह 'कुछ न करते हुए सव कुछ करता हूँ'— ऐसा अनुभव करना सिद्धपुरुष का लक्षण है । कर्म करते हुए कुछ भी न करना, इस अकर्तापन के अनुभवी को 'कर्मयोगी' कहते है और कुछ न करते हुए सव कुछ करने—अकर्मदशा मे प्रचड कर्म करते रहने का अनुभव करनेवालो को 'सन्यासी' कहते है । इस योगी और सन्यासी का वर्णन पाँचवे अध्याय मे है । सिद्धपुरुष मुकाम पर पहुँचा हुआ है तो साधक मार्ग मे ही है, लेकिन उसे मुकाम पर पहुँचना है ।

(३) **स. बुद्धिमान् मनुष्येषु** । जो कर्म मे अकर्म का अनुभव करता है और अकर्म मे कर्म छिपा देखता है, वही मनुष्यो मे वुद्धिमान् है ।

लोगो मे वुद्धिमान् आदमी की व्याख्या अलग प्रकार से की जाती है । पडित और शास्त्री की व्याख्या भी लोगो की अलग रहती है, लेकिन पडित के वारे मे गीता की व्याख्या भगवान् ने दूसरे अध्याय के ११वे श्लोक मे वता दी है । जिनकी वुद्धि आत्मनिष्ठ यानी परमात्म-निष्ठ है, वे ही पडित है, ऐसी व्याख्या उस श्लोक के भाष्य मे शकराचार्य ने की है। स्वय भगवान् ने उसी श्लोक मे वताया है कि पडितजन शोक नही करते । इसी तरह यहाँ भी वुद्धिमान् की व्याख्या की है । लोगो मे वही वुद्धिमान् माना जाता है, जिसमे विविध विषयो का या किसी एक विषय का ज्ञान शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति होती है । मगर यहाँ वुद्धिमान् पुरुष की व्याख्या विलकुल अलग की है। जो स्वधर्म-रूप कर्म करते हुए अकर्तापन का अनुभव करते है और ऐसे अकर्तापन के अनुभव मे प्रचड कर्म के अस्तित्व का अनुभव करते है, वे वुद्धिमान् है ।

(४) और वे ही युक्त यानी योगी है। चित्त की समता योग है, ऐसी व्याख्या भगवान् ने दूसरे अध्याय के ४८वे श्लोक मे की है। यहाँ उस व्याख्या मे वृद्धि की है यानी कर्म मे अकर्म और अकर्म मे कर्म देखना जिन्हे सध गया, वे योगी है।

(५) और वे **कृत्स्नकर्मकृत्** यानी सब कुछ करनेवाले है। जीवन मे जो कुछ हासिल करना था, हासिल कर लिया, जीवन मे प्राप्त करने की कोई चीज रही नही। यानी थोडे मे कृतकृत्य हो गये है। गीता के १५वे अध्याय के श्लोक मे 'कृतकृत्य' शब्द प्रयुक्त है। वहाँ बताया है कि १५वे अध्याय मे जो ज्ञान कहा है, वह जिन्होने हासिल किया, उनके लिए कोई प्राप्त करने की वस्तु शेप न रहने से वे कृतकृत्य हो गये। यही बात **कृत्स्नकर्मकृत्** शब्द द्वारा इस श्लोक मे बतायी है। मुडकोपनिषद् मे 'कृतात्मा' शब्द आया है। वह श्लोक इस प्रकार है **संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ता· कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वग सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मान· सर्वमेवाविशन्ति ॥** (३. २. ५) अर्थात्, इस परमात्मा को यथार्थरूप से जानकर, परमात्म-ज्ञान से जो तृप्त हो गये है, कृतकृत्य, वीतराग, अत्यत शात वन गये, वे सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म को प्राप्त होकर धीर और महान् योगी वनकर सर्वत्र व्याप्त परिपूर्ण ब्रह्म मे जीवित रहते है और मृत्यु के समय उसीमें विलीन होते है।

इस श्लोक पर 'गीताई-चितनिका' मे भाष्य करते हुए विनोबाजी इस प्रकार लिखते है "यह श्लोक सारी गीता की चाभी-स्वरूप है। ज्ञानी पुरुप करते हुए कुछ करता नही और न करते हुए सब कुछ करता है। एक ही पुरुप को यह दुहरा अनुभव आ सकता है। लेकिन किसीके जीवन मे मुख्य रीति से करते हुए न करने का खेल दिखाई देता है तो किसीके जीवन मे न करते हुए करने का खेल प्रकट होता है। पहले को 'योगी' कहते है और दूसरे को 'सन्यासी' कहते है। वास्तव मे दोनो एक ही है। देहधारी पुरुप के लिए सन्यास-मार्ग ग्रहण करना अधिक कठिन है (गीता १२ ५, १८ ११)। इसलिए गीता ने साधक के लिए कर्मयोग की सिफारिश की है। वास्तव मे दोनों एक है, ऐसा अनुभव करना ही मुख्य सार है।"

:१९:

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्प वर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधा.॥

यस्य सर्वे समारंभा·=जिस ज्ञानी पुरुप के सब अच्छे आरभ, **कामसंकल्पवर्जिताः**=काम और सकल्पो से रहित होते है, **ज्ञानाग्निदग्धकर्माण**=ज्ञानरूप अग्नि से जिसके सारे कर्म जल गये है, **त बुधाः पडितं आहुः**=उसे ज्ञानीजन 'पडित' कहते है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जिस ज्ञानी पुरुप के सभी आरभ सत्कर्मरूप रहते है, २ काम और सकल्पो से रहित होते है, ३ और जिस पुरुप के सारे कर्म ज्ञानरूप अग्नि से जल गये है, ४ ऐसे पुरुष को ज्ञानीजन 'पडित' कहते है।

(१) **यस्य सर्वे समारभा·**। 'समारभ' शब्द कर्म के लिए प्रयुक्त है। कर्म तो सब लोग करते रहते है, लेकिन वे सब कर्म 'समारभ' शब्द के योग्य नही। 'आरभ' शब्द का अर्थ शुरुआत है और 'सम्' का अर्थ है उत्तम। यो 'सम्' का सपूर्ण भी अर्थ होता है। तो, उत्तम शुरुआत किसकी ? कर्म की। कर्म उत्तम यानी सत् या सात्त्विक होना चाहिए और परिपूर्ण भी, यानी सात्त्विक कर्म परिपूर्ण रीति से करना चाहिए। सात्त्विक कर्म जैसे-तैसे भी हो सकता है और परिपूर्ण रीति से भी। यहाँ दोनो अर्थ लेने चाहिए। जब कोई कर्म सात्त्विक और परिपूर्ण रीति से किया जाय, तब उसे 'समारभ' कह सकते है। इसमे एक तीसरी चीज भी दाखिल होनी चाहिए।

बारहवे अध्याय के १६वे श्लोक मे **सर्वारभ-परित्यागी** यह भक्त का लक्षण बताया है।

चौदहवे अध्याय के २५वे श्लोक मे त्रिगुणातीत पुरुष के लिए **सर्वारंभत्यागी** लक्षण बताया है। इस तरह यहाँ जो बात बतायी है उससे १२वे और १४वे अध्याय मे बतायी बात का विरोध आता है, ऐसा लग सकता है। १२वे और १४वे अध्याय मे 'सर्वारभ' शब्द है और यहाँ 'सर्वे समारभा'। इसमे यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि भक्त या त्रिगुणातीत पुरुष **आरंभ-त्यागी** यानी सामान्य कर्म या राजसिक कर्मो का त्याग करनेवाला होता है। लेकिन इस श्लोक मे जो समारभ यानी अच्छे कर्म करने के लिए कहा है, वह सत्कर्म भक्त या त्रिगुणातीत पुरुष नही छोडता, राजसिक और तामसिक कर्म ही छोडता है। सात्त्विक कर्म तो वह करता ही रहता है। उसका निषेध कोई नही कर सकता। इस प्रकार 'समारभ' और 'आरभ' इन दो शब्दो के अर्थ मे जो भिन्नता है, उसे ध्यान मे लेते हुए उपर्युक्त अर्थ कर सकते है।

मगर उसका दूसरा अर्थ भी ध्यान मे रखने योग्य है। वह यह है कि भक्त, त्रिगुणातीत या ज्ञानी पुरुष अपनी ओर से किसी कर्म का आरभ नही करते। भक्त, ज्ञानी या त्रिगुणातीत तीनो पुरुषो के कर्म ईश्वर-प्रेरित होते है, क्योकि वे खुद शून्य रहते है। अहकार-प्रेरित यानी स्वय-प्रेरित कर्म अज्ञानावस्था का कार्य है तो ईश्वर-प्रेरित कर्म ज्ञानावस्था का लक्षण। कर्म करते हुए अकर्म-दशा यानी अकर्तापन का अनुभव करनेवालो का यह वर्णन चल रहा है। इसमे वह जो-जो कर्म करेगा, वे सारे ईश्वर-प्रेरित यानी दूसरी भाषा मे प्रवाह-पतित होगे। प्रवाह-पतित कर्म को ही सहज कर्म, स्वभाव-नियत कर्म, नियत कर्म, स्वधर्म, यज्ञ-कर्म, ऐसे अलग-अलग नाम दिये गये है। इसलिए १२वे अध्याय मे भक्त के लक्षणो मे और चौदहवे अध्याय मे त्रिगुणातीत पुरुष के लक्षणो मे जो **सर्वारंभत्यागी** बताया है, वह यथार्थ ही है।

(२) दूसरा लक्षण बताया—**कामसकल्प-वर्जिता.**। ईश्वर-प्रेरित सत्कर्म काम-सकल्प-वर्जित होते है। ईश्वर-प्रेरित कर्म काम-सकल्प-वर्जित ही होने चाहिए; क्योकि अहकार पैदा होते ही सकल्प का विकार पैदा होता है। सकल्प से काम यानी नाना प्रकार की इच्छाएँ, वासनाएँ, पैदा होती है। छठे अध्याय के २४वे श्लोक मे **सकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषतः** ऐसा भगवान् बता रहे है। वहाँ स्पष्ट रूप से बताया है कि 'सकल्प से पैदा होने-वाली सब कामनाओ, वासनाओ या इच्छाओ को नि शेष छोडकर'। इससे ध्यान मे आता है कि वासनाओ और इच्छाओ का मूल सकल्प मे है। जगत् बनाने के पहले परमात्मा ने भी सकल्प किया कि 'अब हम जगत् बनाना शुरू करेगे' और फिर बनाना शुरु किया, ऐसा उपनिषद् मे आता है। कोई भी कार्य करना हो तो पहले मन मे सकल्प उठता है कि हम इस कार्य का प्रारम्भ करे, इस कार्य की शुरुआत करे। सकल्प के बाद कार्य जब शुरु हो जाता है, तब उसमे इच्छा-वासनाएँ पैदा होती है। आदमी ईश्वर-प्रेरित होकर ही सकल्प करे, और सकल्प पूरा करना हो तो भी वह ईश्वर-प्रेरणा पर ही होना चाहिए। सकल्प ईश्वर-प्रेरित हो और वह पूर्ण भी ईश्वर-प्रेरणा से हो। सकल्प के पीछे आदि-अत मे ईश्वर की प्रेरणा होगी तो मध्य मे यानी नित्य उसीकी प्रेरणा रहेगी। आदि, अत, मध्य मे ईश्वर-प्रेरणा से कार्य चलता रहे तो शुभ सकल्प से वासना—इच्छाएँ पैदा नही हो सकती।

सकल्प के पीछे ईश्वर-प्रेरणा नही रहती तो वैसे सकल्प से इच्छा-वासनाएँ पनपती है। फिर चाहे वह शुभ सकल्प हो तो भी इच्छा-वासनाओ को हम रोक नही सकते। ईश्वर-प्रेरित सकल्प होने पर भी यदि सावधानता न रही तो शुभ-सकल्प मे से इच्छा-वासना पैदा हो जायगी। जब अच्छे कार्य किये जाते है तब शुभ कर्म करनेवालो के चित्त मे भी 'इस कार्य की सराहना हो' यह प्रबल वासना पैदा होती है और वह पनपती रहती है।

इसलिए हमारे शुभ सकल्प ईश्वर-प्रेरित हो और आदि, मध्य, अत मे ईश्वर-प्रेरणा से हम चले तो इच्छा-वासनाएँ जोर नही करेगी। इच्छा-वासनाओ के कारण आदमी कभी-कभी निराश होकर शुभ-कार्य छोडने के लिए भी तैयार हो जाता है। इसलिए भगवान् कहते है कि ज्ञानी पुरुष के शुभ-कर्म काम-सकल्प-वर्जित रहते है।

(३) तीसरी चीज भगवान् बताते है **ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्**। ज्ञानी पुरुष के सब शुभ-कर्म ज्ञानरूप अग्नि से जल जाते है। यानी उसे शुभ-कर्म बधन मे नही डाल सकते। अकर्तापन का अनुभव ही ज्ञान है और कर्तापन का अनुभव ही अज्ञान। अज्ञानी पुरुष अपने को कर्म का कर्ता समझते है। कर्तापन से बधनरूपी बीज जल नही पाता, वह कायम ही रहता है। जब तक कर्तापन का अनुभव चल रहा है, तब तक जन्म-मरण का चक्र चालू ही रहता है। अकर्तापन का अनुभव मृत्यु तक कायम रहा तो समझना चाहिए कि ज्ञानरूपी अग्नि प्रकट हो चुकी है। अग्नि प्रकट होने से कर्तापन का बधनरूपी बीज जल जाता है।

इस अध्याय के ३७वे श्लोक मे कहा है कि ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मो को जला देती है। यहाँ भी यही कहा है, तो दोनो चीजे एक है या दोनो मे कुछ भिन्नता है, यह सवाल खडा होता है।

विनोबाजी ने इसका अच्छा उत्तर दिया है। वे कहते है कि ज्ञान से सब कर्म जल गये, इसका मतलब है बाहर से स्वधर्मरूप कर्म करते हुए भी ज्ञान से उन्हे निरुपद्रवी कर्म बनाकर कुछ न करने (अकर्तापन) का अनुभव करना 'ज्ञान' कहा जाता है। यहाँ ज्ञान का यह स्वरूप बताया। लेकिन ३७वे श्लोक मे ज्ञानरूप अग्नि से कर्म जलने का जो जिक्र है, वह ज्ञान का फल क्या मिलता है, इसे ध्यान मे रखकर है।

इस श्लोक मे ज्ञान का स्वरूप बतलाया है और ३७वे श्लोक मे ज्ञान का फल। इस तरह १९वे और ३७वे श्लोक मे शब्द एक होते हुए भी अर्थ मे थोडी भिन्नता है।

(४) चौथी बात यह कि उपर्युक्त तीन लक्षण जिस पुरुष मे दिखाई दे, उसे 'पडित' कह सकते है। आजकल तो पडित उसे माना जाता है जो शास्त्रो का ज्ञाता हो, जो प्रवचन कर सके, व्याख्या कर सके। आचरण का विद्वत्ता से सबध अनिवार्य नही माना जाता। लेकिन विद्वत्ता के साथ आचरण का मेल न हो तो वह विद्वत्ता समाज के उत्थान और कल्याण के लिए विशेष उपयोगी न होगी। प्राचीनकाल मे प्रचार का मुख्य साधन आचरण ही माना जाता था। इसलिए गुरु की व्याख्या भी यही की गयी है—**शाब्दे परे च निष्णातम्**। 'शाब्दे' यानी शब्द मे, समझाने की शक्ति मे और 'परे' यानी परमात्मा के अनुभव मे वह निष्णात होना चाहिए। दोनो मे निष्णात होने पर ही वह गुरु पात्र, अधिकारी माना जाता था। लेकिन धीरे-धीरे यह कल्पना बदलती गयी। प्राचीन काल मे 'पडित' की व्याख्या मे समझाने की शक्ति की अपेक्षा परमात्मा के अनुभव को ज्यादा महत्त्व दिया गया था। परमात्मा का जिन्होने अनुभव कर लिया हो, वे ही उपदेश के अधिकारी माने जाते थे। उन्हीको 'पडित' अथवा 'शास्त्री' कहा जाता था। गीता की भी यही व्याख्या है। **तमाहु पडितं बुधा.** इस श्लोक मे जो लक्षण बताये है, वे जिस पुरुष मे दिखाई दे उन्हे 'बुधा' यानी ज्ञानीजन 'पडित' कहते है।

: २० :

त्यक्त्वा कर्मफलासगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति स. ॥

य. कर्मफलासगं त्यक्त्वा=जो (ज्ञानी पुरुष) कर्मफल की आसक्ति को त्यागकर, **नित्यतृप्त.**=सदा सतुष्ट और **निराश्रय**=आश्रयरहित रहता है, **स कर्मणि**=वह स्वधर्मरूप कर्म मे, **अभिप्रवृत्त. अपि**=अच्छी तरह प्रवृत्त रहते हुए भी, **किंचित् न करोति एव**=किंचित् भी नही करता, यानी अकर्ता है।

उस श्लोक मे चार बाते बतायी है १ ज्ञानी पुरुष कर्मफल की आसक्ति छोडता है । २ वह नित्य-तृप्त और सतुष्ट रहता है । ३ आश्रयरहित रहता है । ४ ऐसा पुरुष कर्म मे प्रवृत्त होते हुए भी कुछ नही करता, अकर्ता रहता है ।

(१) **त्यक्त्वा कर्मफलासगम्** । कर्मफल की आसक्ति का त्याग ज्ञानी पुरुष का लक्षण है । अकर्तापन के अनुभव का यह सहज लक्षण है कि मन मे कर्म करते हुए फल की वासना रह नही जाती । उसे रखना असभव हो जाता है । अहकार नष्ट होने पर अहकार से प्रेरित होकर उठनेवाले सकल्पो, इच्छाओ, वासनाओ का नष्ट होना अत्यत स्वाभाविक है । अज्ञानी पुरुष अपने को सब कर्मो का कर्ता समझता है, इसलिए उसके मन मे स्वाभाविक रूप से ही कर्मफल की इच्छा-वासना रहती है । उसीके कारण अज्ञानी पुरुष को कर्म करने मे उत्साह और आनद आता है । जब तक उसे आत्मा के स्पर्श का आनद नही मिलता, तब तक वह कर्मफल-प्राप्ति के आनद को छोड नही सकता । कर्मफल की वासना रखने और कर्म करने मे जो उत्साह और आनद आता है, उसे भी वह छोड नही सकता । मगर ज्ञानी पुरुष को परमात्मा के स्पर्श से आनद प्राप्त हो गया रहता है, इसलिए वह क्षणिक आनद नही चाहता । फल-वासना और फल-प्राप्ति से मिलनेवाला आनद क्षणिक है, क्योकि अपने इच्छानुसार हम जब कर्म शुरू करते है तो आनद रहता है । मगर कर्म करते हुए काफी कठिनाइयाँ आती है तो शुरू का वह आनद-उत्साह टिक नही पाता । कर्म करते हुए आनद कायम रखने की यही शर्त है कि अपनी इच्छा-वासना से कर्म शुरू न करे । इच्छा-वासना से शुरू मे आनद मिलता है, पर बाद मे वह नष्ट होने लगता है । इच्छा-वासना के त्याग मे शुरू मे थोडा कष्ट सहन करना पडता है, लेकिन अत मे आनद ही आनद रहता है । इसलिए कर्मफल की वासना रखने मे जो थोडा आनद शुरू मे मिलेगा, कर्मफल-त्याग से उसकी अपेक्षा कई गुना बढकर आनद मिलेगा, यह अनुभवसिद्ध बात है । १२वे अध्याय के १२वे श्लोक के दूसरे चरण मे **त्यागात् शांतिरनतरम्**— कर्मफल-त्याग मे से तुरत ही शाति मिलती है, ऐसा कहा गया है ।

(२) दूसरी बात है— **नित्यतृप्तः** । ज्ञानी नित्य-तृप्त रहता है, क्योकि आनदस्वरूप परमात्मा का अनुभव हो जाने से उसका अखड आनद मे रहना स्वाभाविक है । क्योकि वह फलासक्ति छोड चुका है । एक ओर परमात्म-अनुभव का आनद और दूसरी ओर कर्मफल-वासना के त्याग का आनद । इस तरह दोहरा आनद मिलने से वह नित्य-तृप्त रहता है ।

(३) तीसरी बात है— **निराश्रय.** । ज्ञानी आश्रयरहित रहता है । अज्ञानी को हमेशा किसी-न-किसी आधार की जरूरत रहती है । बाल्यकाल मे बालक को माँ का ही आधार आवश्यक रहता है । बडा होने पर मित्र का आधार मिल जाता है । कइयो को विद्या-प्राप्ति का आधार रहता है । विवाह के बाद पत्नी का आधार पति को और पति का आधार पत्नी को रहता है । सतान होने पर सतान मे प्रेम बैठ जाता है । उसका आधार मिल जाता है । धन की प्रीति होने पर धन का आधार भी मिलने लगता है । धन के आधार पर वैभव शुरू होता है, उसका आधार मिल जाता है । फिर इन सब चीजो से जब वैराग्य आने लगता है तब सद्ग्रथ का आधार मिलने लगता है । भाग्य से सत का समागम हो जाय तो सत का आधार मिल जाता है और सत्सगति मे परमात्म-अनुभूति हो जाय तो परमात्मा का आधार मिल जाता है ।

परमात्मा का आधार अतिम आधार है । वह आधार अखड शाति देता है, अत वह कभी छूटता नही । बाकी के सब आधार क्षणिक है । उनमे अखड शाति या आनद नही मिल पाता । इसलिए एक-एक आधार छूटता जाता है । पर-

मातमा का आधार जिसे मिल गया उसे 'निराश्रय' कहते है। इसका एक अर्थ यह भी है कि ज्ञानी को 'निश्चित आश्रय' यानी शाश्वत आश्रय मिल जाता है।

(४) चौथी बात है . **कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः।** अर्थात् कर्म मे अभिप्रवृत्त यानी तल्लीन हो जाने पर भी वह कुछ नही करता। क्योकि अकर्तापन का अभ्यास या अनुभव ज्ञानी के लिए इतना सहज हो जाता है कि दिन-रात लोकसेवा का कार्य चलते रहने पर भी उसके चित्त पर कर्म का कोई परिणाम नही होता। साधारण मनुष्य का चित्त परिणामशील रहता है, क्योकि वह इद्रियो के अधीन होता है। किसीने निदा-स्तुति की, तो तुरत परिणाम होता है। निदा का परिणाम दु ख मे होगा, तो स्तुति का परिणाम सुख मे। रास्ते मे कोई दुर्घटना देखते ही उसके चित्त पर परिणाम हो जाता है। दिनभर मे कितनी ही वार चित्त पर सुख-दुख का परिणाम होता रहता है। सोते समय भी चित्त स्वस्थ नही रहता। उस समय भी दिन की कोई न कोई घटना याद आकर चित्त मे सुख-दु खात्मक परिणाम पैदा करती है और उसी परिणाम के साथ हम सोते है। गाढ निद्रा मे सुख-दु ख का अनुभव नही आता, क्योकि उसमे हम परमात्मा के साथ एकरूप हो जाते है। लेकिन स्वप्न मे हमे सुख-दु ख का अनुभव होता रहता है, उससे चित्त मुक्त नही रहता। जाग जाने पर तो फिर वही चक्र शुरू होता है। इस तरह मृत्यु आने तक हमारा चित्त परिणाम-शील रहता है। उससे 'हम मुक्त हुए है' यह अनुभव अज्ञान-दशा मे नही आ सकता।

चित्त अपरिणामशील तभी हो सकता है, जब उसे परमात्मा का अनुभव मिले। ज्ञानी पुरुष को परमात्मा का अनुभव प्राप्त रहता है। वह परमात्मा मे अपना आसन जमाकर शरीर से कर्म करता रहता है, इसलिए उस पर कर्म का बोझ नही रहता। हम सब लोग कर्म का बोझ महसूस करते रहते है, जब कि ज्ञानी पुरुष के कर्म श्वासो-च्छ्वास की तरह अखड अनायास होते रहते है। वह उसका स्वभाव बन जाता है, उसके विना वह जीवित नही रह सकता।

विनोबाजी 'गीताई-चितनिका' मे इस श्लोक पर इस प्रकार लिखते है (१) कर्म शुरू करने के लिए कर्तापन की आकाक्षा रहती है यानी 'मै कर्म का कर्ता हूँ' ऐसा सकल्प मन मे रहता है और (२) कर्म करने के लिए साधनो का आधार लेना पडता है, साधन जुटाने पडते है, और (३) कर्म सफल बनाने के लिए फल-वासना की भी जरूरत रहती है। ज्ञानी पुरुष मे इन तीनो चीजों का अभाव रहता है। इन तीनो का अभाव १ नित्य-तृप्त, २ निराश्रय और ३ कर्म-फलासक्ति छोडना, इन तीन शब्दो मे बतलाया है।

लेकिन उपर्युक्त तीन चीजो का अभाव हो जाय तो ज्ञानी पुरुष कर्म मे तल्लीन होता है, ऐसा जो इस श्लोक मे बताया है, वह कैसे ? इसका जवाब आगे के तीन श्लोको मे दिया गया है—नित्य-तृप्त का जवाब २३वे श्लोक मे, निराश्रय का जवाब २१वे श्लोक मे और फल-वासना के त्याग का जवाब २२वे श्लोक मे।

: २१ :

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह.।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

निराशीः=जो तृष्णा-वासनारहित हो गये है, **यत-चित्तात्मा**=जिन्होने अपने चित्त पर और इद्रियो पर काबू पा लिया है, **त्यक्तसर्वपरिग्रह**=जिन्होने (व्यर्थ के) सभी परिग्रह छोड दिये है, **केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् अपि**=*केवल शरीर से ही अखड सत्कर्म करते हुए भी,* **किल्बिष न आप्नोति**=कर्मबधनरूपी दोष (उस ज्ञानी पुरुष को) नहीं लगता।

इस श्लोक मे पॉच वाते यानी ज्ञानी पुरुष के पॉच लक्षण वताये है १ वह ज्ञानी पुरुष निराशी यानी आगारहित रहता है। २ चित्त और सव इद्रियॉ उसके वश मे रहती है। ३ उसने अनावश्यक सभी परिग्रह छोड दिये है। ४ वह स्वय अकर्ता रहकर शरीर से ही सत्कर्म करता है। और ५ उसीसे कर्मवधनरूपी दोप से अलिप्त रहता है।

(१) पहला लक्षण **निराशीः** वतलाया है । निराशी यानी आशारहित, अपेक्षारहित । हम सव अपेक्षाओ से युक्त रहते है । हम स्वय से कुछ अपेक्षाएँ रखते है और दूसरो से भी । परिवार मे पति-पत्नी एक दूसरे से अपेक्षा रखते है। लडके पिता से कुछ अपेक्षा रखते है, तो पिता लडको से । भाई-भाई भी एक-दूसरे से अपेक्षा रखते है। सार्वजनिक सस्थाओ मे भी मुख्य सचालक सव सदस्यो और कर्मचारियो से अपेक्षा रखता है कि सभी उसके अधीन चले, सिद्धान्तो का ठीक तरह से पालन करे। कर्मचारी और अन्य सेवक सचालक से यह अपेक्षा रखते है कि वह सवके साथ प्रेमयुवत, क्षमायुवत वर्ताव रखे । मालिक-नौकर, स्वामी-सेवक, गुरु-शिष्य मे भी एक-दूसरे से कुछ अपेक्षाएँ रहती ही है। उचित अपेक्षाएँ रखने मे तो कोई हर्ज नहीं है। ज्ञानी पुरुष भी जव सेवा-कार्य मे मग्न रहता है तो वह भी दूसरो से कुछ अपेक्षा रखेगा और रखनी ही चाहिए । मगर अपेक्षा के पीछे आवश्यक तटस्थभाव, अनासक्ति न रहने से ही खरावी शुरू होती है। जहॉ आसक्ति पैदा हुई, वहॉ अशाति और दुख का अनुभव तो आता ही है। आसक्ति से ही उसका दूसरो के साथ ठीक व्यवहार वन नही पाता । आसक्ति काम, क्रोध, अहकार आदि विकारो को उत्तेजित करती है । जहॉ एक जगह आसक्ति और उसमे से काम, क्रोध, अहकार पैदा होने लगते है वही सवके अतःकरण पर उनकी प्रतिक्रिया यह हो जाती है कि सवके मन मे आसक्ति और काम, क्रोध, अहकार जोर करने लगते है । वातावरण मे ही ये सव विकार दाखिल होकर सस्था या कुटुम्व का सारा वातावरण कलुपित कर देते है । इसलिए अपेक्षा पर अनासक्ति का पूरा अकुश रहना चाहिए । अपेक्षा तटस्थवृत्ति के अधीन रहनी चाहिए । जव अनासक्ति और तटस्थवृत्ति सध जायगी, तव आसपास का वातावरण कलुपित होने के वजाय विशुद्ध रहेगा और उसकी सुगध आसपास के वातावरण मे फैलती रहेगी । इसलिए ज्ञानी का लक्षण 'निराशी' वताया है।

(२) दूसरा लक्षण है—**यतचित्तात्मा** । चित्त यानी मन और पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ और पॉच कर्मेन्द्रियॉ मिलकर ग्यारह है । शरीररूपी रथ मे हम मालिक बैठे है। हमारा सारथि वुद्धि है और लगाम है मन। इद्रियाँ रथ मे जुते घोडे है। घोडे के विना रथ चल नही सकता । वुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी लगाम न हो तो रथ चलेगा नही, ऐसी वात नही। इद्रियरूपी घोडे चलते रहेगे, लेकिन मार्ग पर ही चलेगे, ऐसी कोई गारटी नही। वे रथ को गड्ढे मे भी गिरा सकते है तो कभी अडे भी रह सकते है। इसलिए सारथि तो होना ही चाहिए और हाथ मे लगाम भी होनी चाहिए । ग्यारह इद्रियो मे वुद्धि मिलने पर वारह हो जाते है। वुद्धिरूपी सारथि मे ज्ञान और विवेक होना चाहिए और मनरूपी लगाम मे निग्रह-शक्ति और विकार-रहितता । तभी इद्रियरूपी घोडे अधीन रह सकते है । वुद्धि परमात्मा के अधीन हो, उसके अधीन मन और मन के अधीन सव इद्रियॉ । इस तरह हमारा जीवन-रथ चले, तो निश्चय ही मोक्ष मुकाम पर पहुँच जायगा। लेकिन इद्रियो के अधीन मन, मन के अधीन वुद्धि और वुद्धि के अधीन जीवात्मा, इस प्रकार हमारा जीवन-रथ चलने लगे तो मोक्षरूपी मुकाम पर न पहुँचकर ससार के वधन-रूपी गड्ढे मे ही जा गिरेगा ।

(३) तीसरा लक्षण है—त्यक्तसर्वपरिग्रहः। ज्ञानी सब परिग्रह यानी सब अनावश्यक परिग्रह त्याग देता है। परिग्रह करने मे हमारी दृष्टि भविष्य की तरफ रहती है। भविष्यकाल मे, वृद्धावस्था मे निश्चितता रहे, यह हम सभी चाहते है। यह भी चाहते है कि हमारे बाल-बच्चो को कोई कष्ट करना न पडे। इस तरह सग्रह करने मे विषयोपभोग की भावना रहती है। समाज मे शरीर-परिश्रम टालने की जो वृत्ति पैदा हुई है, उसीसे यह सग्रहवृत्ति पैदा हुई है।

विनोबाजी कहते है कि असग्रह के साथ शरीर-परिश्रम को भी जोडना चाहिए। कई त्यागी पुरुष असग्रही, अपरिग्रही होते है, लेकिन शरीर-परिश्रम का व्रत लेने के लिए तैयार नही होते। इतना ही नही, शरीर-परिश्रम न करना वे अपना हक ही समझते है। वे यह भी मानते है कि हम ससारी तो है नही। ससारी लोगो को अपनी आजीविका के लिए शरीर-परिश्रम करना चाहिए। किसान, मजदूर आदि शरीर-परिश्रम को किसी भी हालत मे टाल नही सकते, तो उन्हे टालना नही चाहिए। मगर त्यागी होने के कारण ससारी लोगो की तरह हम शरीर-परिश्रम नही करेगे, हमारा कार्य उपदेश देना ही है—ऐसा मानना मिथ्या कल्पना है।

गाधीजी और विनोबाजी ने अपने आचरण द्वारा इस कल्पना मे परिवर्तन करने की कोशिश की है। विनोबाजी ने विचार बताया कि कर्म करने के लिए साधारण लोग सग्रह की जरूरत मानते है। इतना ही नही, सार्वजनिक कार्यकर्ता भी मानते है कि काम का विस्तार सग्रह के विना सभव नही। मगर ज्ञानी पुरुष कर्मरत होता हुआ भी अपनी शक्ति के मुताबिक ही कर्म का विस्तार रखता है। वह खयाल रखता है कि साधनो का उपयोग कम-से-कम और जितना आवश्यक हो, उतना ही किया जाय।

(४) चौथी चीज भगवान् शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् बता रहे है। सिर्फ वह शरीर से ही सत्कर्म करने का ध्यान रखता है। शरीर से मतलब अकर्ता बनकर कर्म करना। शरीर से कर्म तो अज्ञानी लोग भी करते है। फिर भी ज्ञानी पुरुष के लिए यह कहने का कि 'वह सिर्फ शरीर मे कर्म करता है' अर्थ है, वह शरीररूप बनकर कर्म नही करता। चाहे जितना शरीर से कर्म होता रहे, सेवा होती रहे, उसके बारे मे 'मै कर्म कर रहा हूँ' ऐसा कर्तापन का भान उसके चित्त मे नही रहता।

सिर्फ शरीर से कर्म करता है, इस वचन का अर्थ सन्यासपरक भी लिया जाता है। यानी ज्ञानी पुरुष सिर्फ शरीरधारणार्थ यानी शरीर टिका रहे, उतने ही कर्म—शौच, स्नान, भोजन आदि करता है। ये कर्म भी प्रारब्ध-कर्म क्षीण होने तक देह-धारणार्थ करने पडते है। लोकसेवा का कर्म जीवित रहने के लिए आवश्यक नही। ज्ञान होने के बाद कोई भी कर्म करने की उसे जरूरत नही। प्रारब्ध-कर्म छोडकर वह दूसरे कर्म करने लग जाय, तो उसे भोगने के लिए उसे दूसरी देह धारण करनी पडेगी।

लेकिन यह गलत धारणा है। शौच, पेशाब, भोजन जैसे कर्म वह यदि अलिप्तता से कर सकता है तो लोकसेवा के कार्य भी अलिप्तता से कर सकता है। अलिप्तता प्राप्त होने के बाद वह अलिप्तता सर्वगामी, व्यापक ही रहती है। वहाँ डर तो किसी बात का रहता नही। जिसे तैरना आता है, वह कमरभर पानी मे ही तैरता रहे, ज्यादा गहरे पानी मे डर के मारे न जाय तो उसे पूरा तैरना नही आया, यही माना जायगा। ज्ञानी पुरुष ही निष्क्रिय बनते जायँ तो अलिप्ततापूर्वक अच्छी तरह कर्म करना अज्ञानियो को कौन सिखायेगा ? अज्ञानी पुरुषो का अज्ञान, आसक्ति आदि दोष दूर करने की जिम्मेदारी ज्ञानी पुरुष की है। अत ज्ञानी पुरुष निष्क्रिय नही रह सकता।

(५) पाँचवी वात है—**न आप्नोति किल्विषम्।** अलिप्ततापूर्वक ज्ञानी पुरुप लोकसेवा का अखड कर्म करता रहता है, फिर भी वह किल्विप को यानी वधन को प्राप्त नही होता । किल्विप यानी पाप । लेकिन यहाँ ज्ञानी पुरुप पाप का भागी नही होता, ऐसा अर्थ नही ले सकते । क्योकि पापकर्म तो पुण्यकर्म से नष्ट हो जाता है, उसके लिए आत्मज्ञान की जरूरत नही । लेकिन पुण्यकर्म भी आसक्ति से किया जाय तो वह वधनरूप सावित होता है और ज्ञानी पुरुप तो पुण्यकर्म ही करता है । पुण्यकर्म करना, उसका स्वभाव वन गया होता है । लेकिन वह पुण्यकर्म इतनी अलिप्तता से करता है कि उसे कर्म-वधन नही होता ।

: २२ :

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निवध्यते ॥

यदृच्छालाभसतुष्टः=जो सहज प्राप्त वस्तु या परिस्थिति मे सतुष्ट रहता है, **द्वद्वातीतः**=शीत-उष्ण, सुख-दु ख आदि द्वद्वो से जो अतीत हो गया है, **विमत्सरः**=जो ईर्ष्या-मत्सर से रहित है, **सिद्धौ असिद्धौ सम**=कर्म सफल हो या निष्फल, दोनो मे सम रहता है, **कृत्वा अपि**=ऐसा ज्ञानी पुरुप सत्कर्म करते हुए भी, **न निवध्यते**=वधन मे नही फँसता ।

इस श्लोक मे पाँच वाते वतायी है १ जो वस्तु या परिस्थिति सहज प्राप्त हो, उसमे जो सतुष्ट रहता है, २ शीत-उष्ण, सुख-दु ख आदि द्वद्वो का जिस पर कोई परिणाम नही होता, ३ जो ईर्ष्या-मत्सर से रहित है, ४ कर्मफल प्राप्त हो या न प्राप्त हो यानी सफल हो या निष्फल, दोनो मे जो सम यानी तटस्थ रहता है ५ वह पुरुप सत्कर्म करते हुए भी वधन में नही फँसता ।

(१) **यदृच्छालाभसतुष्टः**—यह ज्ञानी के अकर्तापन की स्थिति का वर्णन चल रहा है । इस श्लोक मे जो परिस्थिति या जो वस्तु प्राप्त हो जाय उसमे सतुष्ट रहना, यह उसका लक्षण वताया है । कर्म करने के लिए तीन चीजे आवश्यक है, यह विनोवाजी का विचार २०वे श्लोक के विवेचन मे दर्शाया है । उनमे साधन जुटाने पडते है, यह वस्तु जो सामान्य आदमी के कर्म के लिए अपेक्षित है, उसका अभाव ज्ञानी पुरुप के कर्म मे दिखाई पडता है । यानी ज्ञानी पुरुप मे साधन-सग्रह की वृत्ति नही रहती । उसके पास जो शरीर है, उसीको मुख्य साधन समझकर उससे जितना हो सके, उतना वह करता रहता है । साधारण आदमी का कर्म वहुत-से साधन इकट्ठा करके होता है । वह शरीर से वचना चाहेगा । वह शरीर को कम तकलीफ देकर कर्म करने की कोशिश करता है । लेकिन ज्ञानी पुरुप शरीर से वरावर काम लेकर, साधनो की आसक्ति न रखकर जितना हो सके, उतना सेवा-कार्य करता रहता है ।

इस श्लोक मे विनोवाजी कहते है कि साधारण आदमी के मन मे फल-वासना रहती है, उसीसे प्रेरित होकर वह कर्म करता है । लेकिन ज्ञानी पुरुप को कर्म की प्रेरणा देनेवाली वस्तु फल-वासना नही है । फल-वासना रखने के लिए तो अह यानी 'मै कर्म का कर्ता हूँ' यह कर्तापन की भावना जरूरी है । ज्ञानी का अह शरीररूपी मदिर मे व्याप्त परमात्मा मे विलीन हो जाने से वह अकर्ता वन गया है और इसी कारण उसके मन मे कर्म करने मे फल-वासना का प्रेरक वल नही रहता । वह तो अतर्यामी परमेश्वर की प्रेरणा से कर्म करता है, इसलिए फल-वासना के अभाव मे **यदृच्छालाभसंतुष्ट** ऐसी उसकी सहज ही स्थिति रहती है । इस स्थिति के लिए उसे कोई कोशिश नही करनी पडती । उसमे वह सतुष्ट रहता है ।

प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर ही आदमी की कसौटी होती है । उसमे वह हताश हो जाता है, दव जाता है । उसे अनुकूल वनाने की कला

उसीको प्राप्त हो सकती है जो परमेश्वर की शरण जाता है। वह प्रतिकूल परिस्थिति में डरेगा नहीं और निराश या हताश तो होगा ही नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति में कुछ परिवर्तन हो सके तो वह कोशिश अवश्य करेगा। कोशिश के बाद जो परिस्थिति प्राप्त हो, उसे परमात्म-प्रेरित समझकर सन्तुष्ट रहेगा। उससे उसका मन अशान्त या व्याकुल नहीं होगा।

(२) दूसरा लक्षण है—'द्वंद्वातीत'। वह शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से अतीत हो गया है। सृष्टि में शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व हैं ही। लेकिन इन शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि में परमात्मा ही है, ऐसा दर्शन हो जाय तो ये चित्त को विचलित न करेंगे और हम शांति कायम रख सकेंगे।

(३) तीसरा लक्षण है—'विमत्सरः'। वह मत्सर यानी ईर्ष्यारहित रहता है। ईर्ष्यावृत्ति शांति को खतम कर देती है। मन जलानेवाली यह वृत्ति बहुत खतरनाक है। उसे क्षणमात्र के लिए भी मन में स्थान नहीं देना चाहिए। हम हमेशा मन से किसी-न-किसी के साथ मुकाबला करते रहते हैं। मुकाबला जिनसे है ज्यादा योग्यता-वाले लोग होते ही हैं। लेकिन अधिक योग्यता वालों के साथ मुकाबला करने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि हमारी शक्ति ही कम है तो मन में जलते रहने पर भी योग्यता बढ़ने की संभावना नहीं। अतएव अपनी योग्यता ही बढ़ानी चाहिए। उसमें ईर्ष्या की बात नहीं। सम योग्यतावालों के साथ मुकाबला करते समय हमारे मन में यही विचार रहता है कि वे हमसे आगे न बढ़ें। ऐसा विचार रखने के बजाय यह विचार रखा जाय कि हम दोनों आगे बढ़ें तो ईर्ष्या पैदा ही नहीं होगी। कम योग्यतावाला आदमी भी आगे क्यों न बढ़े? इस-लिए मन में हमेशा यही शुभ-विचार रखना चाहिए कि हम सभी आगे बढ़ते रहें। 'मैं आगे बढ़ूँ और दूसरा आगे न बढ़े' यह संकुचित वृत्ति है। संकुचित वृत्ति है। ईर्ष्यारहित की व्यापक वृत्ति है। संकुचित-वृत्ति में ईर्ष्या-भावना होती है। [illegible] करता हूँ। व्यापक वृत्ति में ईर्ष्या-मग्न होकर उसकी महिमा गाने से आनन्द का ही अनुभव होता है। संत तुलसीदासजी के शब्दों का गुण-वर्णन करते हुए कहा था :

> निजगुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।
> परगुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥

अपने यानी खुद की सराहना सुनकर बहुत संकोच होना और दूसरे की यानी की सराहना सुनकर बहुत हर्षित होना, यह सब जब यह वृत्ति विकसित हो, तब तो ईर्ष्यावृत्ति उसके मन में कभी उपस्थित ही नहीं होगी।

(४) चौथा लक्षण है—'समः सिद्धौ, असिद्धौ च'। सिद्धि और असिद्धि में समान की भावना। सिद्धि यानी कर्म-प्राप्ति और असिद्धि यानी कर्म का निष्फल होना। कर्म करने में तीन तरह होते हैं : १. 'मैं कर्म करता हूँ', २. 'मैं बहुत कुशलता से कर्म करता हूँ'। कुशलता से कर्म करने में जितना आनन्द मिलता है, उससे कहीं ज्यादा आनन्द 'मैं कितनी कुशलता से कर्म करता हूँ' इस कल्पना से मिलता है। मुझे गायन-विद्या आती हो और मैं अपने गाने में अच्छी तरह गा रहा हूँ, तो उस गायन में जो स्वाभाविक आनन्द है वह तो मुझे मिलता ही है। संगीत का आनन्द सुननेवालों को भी मिलता है। मगर इससे ज्यादा आनन्द 'मैं कितना सुन्दर गा रहा हूँ' इस कल्पना से मिलता है। समुदाय में मुझे गाने का मौका मिल जाय तो मेरा सुन्दर गाना सबको सुनने को मिला, इस कल्पना से आनंद मिलेगा ही। लेकिन इससे बढ़कर आनंद 'मैं कितना सुन्दर गाता हूँ', 'मुझे कितना सुन्दर गाना आता है' इस कल्पना से मिलता है। भगवान् ने यहाँ प्रत्यक्ष साम्य रखी है, संगीत गानेवालों को यह विचार नहीं आता कि 'भगवान् यदि देह में निवास नहीं करते हैं यानी

प्रकट नही हुए तो देह का अस्तित्व ही नही रहेगा। भगवान् ही नौ महीने मे, **ठोक-ठाककर बीनी चदरिया**—सुन्दर देह निर्माण करते है और मृत्यु तक उसमे प्रकट रहते है, तभी हम जीवित रहते है। हम जीवित रहते हैं, तभी गा पाते है। भगवान् देह से निकल जाते है तो देह शव रह जाती है। उसे तुरत जलाना पडता है। उस मृत देह से तो सगीत नही गाया जा सकता। इसलिए यह सुन्दर गाना जो गा रहा हूँ, यह मै नही गा रहा हूँ, वल्कि भगवान् गले मे विशेष रूप मे प्रकट हो जाते है, इसलिए उस गले से सुमधुर सगीत निकलता रहता है। मगर जव तक ईश्वर को अर्पण करके सव कर्म करने का अभ्यास नहीं हो जाता तव तक परमेश्वर ही सुन्दर गायन गा रहा है, यह विचार मन मे टिकेगा नही।

इसलिए कर्म हम अच्छा करने की कोशिश करते है, तो उसमे भी प्रेरणा अह की यानी मै-पन की ही रहती है। उसमे ईश्वर-प्रेरणा नही रहती।

इसी तरह जैसे कर्म करने मे अह की यानी मै-पन की प्रेरणा रहती है, वैसे ही कर्म का इच्छित फल मुझे मिलना चाहिए, इस आग्रह के पीछे भी अह की ही प्रेरणा रहती है। सगीत सीखने मे काफी परिश्रम उठाना पडता है। वह सारा परिश्रम हम उठाते है फल-प्राप्ति के लिए। सगीत की परीक्षा मे हमे उत्तीर्ण होना है, इतना ही नही, पहला नवर आना चाहिए, यह आग्रह मन मे रहता है। परीक्षा मे पास हो जाने पर हमे आनद मिलता है। लेकिन पहला नवर नही आया, इससे दु ख होता है, आघात पहुँचता है। प्रयत्न मे हमारा आनद उतना नही रहता, जितना फल-प्राप्ति मे रहता है। फल प्राप्त करने यानी परीक्षा मे पास होने या पहले नवर मे पास होने का ध्येय नजर के सामने रखने मे कोई दोप नही। ऐसा ऊँचा ध्येय मन मे रखकर सगीत का अभ्यास करना कर्तव्य भी है। लेकिन परीक्षा मे पास होने या पहला नवर आने मे जो हमे आनद मिलता है यानी कर्मफल-प्राप्ति मे जो आनद हमे आता है, उस आनद का अनुभव लेने के वजाय फल-प्राप्ति के लिए जो हम तीव्रता से कोशिश करते है, उस कोशिश मे हमे वहुत ज्यादा आनद मिलना चाहिए।

सालभर रोजाना सगीत का अभ्यास वडी लगन से करे और उसीमे से हम आनद लूटे। वडी लगन से यदि हम सगीत का अभ्यास करते है तो हम पास होनेवाले ही है। अथवा हमने वहुत अच्छा अभ्यास किया हो तो हमारा नवर भी ऊपर ही आनेवाला है। लेकिन पास होने का लक्ष्य अथवा ऊपर नवर लाने का लक्ष्य सामने रखते हुए भी आनद हमे अभ्यास करने मे ही आना चाहिए। फल के प्रति हमेशा तटस्थ, समचित्त, अनासक्त ही रहना चाहिए। यदि हम फल के वारे मे तटस्थ, समचित्त, अनासक्त नही रहते तो निश्चय ही दु ख का अनुभव होगा, क्योकि कर्म का फल हमारी इच्छा के अधीन नही है। फल-प्राप्ति कई कारणो पर निर्भर रहती है। हमारे हाथ मे तो प्रयत्न करना ही है, फल ईश्वराधीन है—यह सिद्धान्त ज्ञानी पुरुष ने आत्मसात् कर लिया है। इसीलिए कर्म सफल हो या निष्फल, इसके वारे मे वह सम, तटस्थ या अनासक्त रहता है।

(५) पाँचवाँ लक्षण है—**कृत्वा अपि न निवध्यते**। ज्ञानी पुरुप को अखड कर्म करते हुए भी अकर्ता रहने से कोई वधन नही लगता। कर्म करते हुए भी वह कर्म मे लिप्त नही होता। हम कर्म मे लिप्त होते है, क्योकि हमारे मन मे वरावर कर्मफल की वासना रहती है। इसीलिए कर्म हमे वधन मे डालता है। कर्म करने मे जो तीन प्रेरणाओ या वस्तुओ की आवश्यकता अज्ञानी मानते है, उनमे तीसरी चीज कर्मफल-वासना है। ज्ञानी पुरुप के चित्त मे फल-वासना न रहने से वह कर्तृत्व-रहित, अकर्ता वन जाता है और इसी कारण कर्म करते हुए भी अलिप्त रहता है।

: २३ :

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

गतसगस्य=जिसकी कर्मफल की आसक्ति नष्ट हो गयी है, **मुक्तस्य**=जो कर्मबधन से मुक्त हो गया है, **ज्ञानावस्थितचेतसः**=जिसका चित्त स्वरूप मे स्थिर हो गया है, **यज्ञाय कर्म आचरत.**=सिर्फ यज्ञ के लिए यानी लोकसग्रह के लिए कर्म करते हुए भी, **समग्र प्रविलीयते**=उसका सब कर्म पूर्णरीति से ज्ञान मे ही लीन हो जाता है, यानी कर्म अकर्म बन जाता है।

इस श्लोक मे पाँच बाते है : १. जिसकी कर्म-फल-आसक्ति खतम हो गयी है, २ जो कर्म-बधन से पूर्णरूप से मुक्त हो गया है, ३ जिसका चित्त ज्ञान मे यानी स्वरूप मे स्थिर हो गया है, ४ जो यज्ञ के लिए यानी सिर्फ परोपकार के लिए कर्म करता रहता है, ५ उस ज्ञानी पुरुष का कर्म पूर्णरीति से ज्ञान मे ही एकरूप हो जाता है, उसे फिर से जन्म नही मिलता।

(१) **गतसंगस्य**। जिस ज्ञानी पुरुष की आसक्ति यानी फलासक्ति, देहासक्ति, कुटुबासक्ति, सेवा की आसक्ति आदि सब प्रकार की आसक्तियाँ नष्ट हो गयी है। आसक्तियाँ अनेक प्रकार की होती है।

एक त्यागी की लँगोटी मे ही आसक्ति थी। वे गाधीजी के पास बहुत अर्से से रहते थे। उन्होने आध्यात्मिक जिज्ञासा से ५५ दिनो का उपवास भी किया था और अतिउपवास के कारण दिमाग पर से काबू भी चला गया था। तभी वे हिमालय जाने के लिए निकले और लँगोटी पहनकर निकले। एक साल घूमकर गांधीजी के पास लौट आये। इस एक साल तक वे खुराक मे सिर्फ कच्चा आटा और कडवे नीम की पत्तियाँ लेते थे। भिक्षा द्वारा आटा प्राप्त करते थे। कुछ दिन तो उन्होने अपना मुँह सी लिया था और आटा पानी मे मिलाकर नली से नाक मे डालने से पेट मे चला जाता था। गांधीजी के पास दुबारा आये, तब तक उनके दिमाग मे सतुलन नही आया था। गाधीजी ने उन्हे खूब दूध पिलाया। दूध पीने से मगज पर काबू आने मे कुछ प्रगति हुई। उस समय वे लँगोटी ही पहनते थे। सेवाग्राम आये तो वहाँ आश्रम मे एक ही मकान था। उसी मकान मे गाधीजी और सब भाई-बहनो का परिवार रहता था। रात को अक्सर नीद मे इनकी लँगोटी खिसक जाती तो बहनो को बडा सकोच होता था। गांधीजी ने उन्हे लँगोटी छोडने के लिए समझाया। लेकिन उनकी लँगोटी मे इतनी आसक्ति थी कि वे उसे छोडने को तैयार नहीं हुए।

एक दिन गाधीजी ने विनोबाजी को बात करने के लिए बुलाया। बहनो ने विनोबाजी से कहा कि लँगोटीवाले को लँगोटी छोडकर एक लुगी पहनने के लिए आप राजी कर सके तो अच्छा रहेगा। विनोबाजी ने उन्हे समझाया, लेकिन वे नही माने। गाधीजी को जब पता चला कि विनोबाजी ने भी लँगोटी छोड़ने के लिए कहा है, तो उन लँगोटीवाले सज्जन को बुलाकर समझाया 'विनोबा और मै दोनो लँगोटी के पक्ष मे नहीं, तुम्हे लँगोटी छोडने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।' उनके लिए बडा सकट-सा हुआ। मगर इस समय वे 'ना' नहीं कर सके।

उसी दिन उन्होने लँगोटी छोडकर लुगी पहन ली। लुगी तो पहन ली, मगर लँगोटी मे आसक्ति इतनी थी कि रात मे उन्हे बुखार आ गया। एक-दो दिन बुखार रहा। जब चित्त स्वस्थ हो गया तब बुखार उतरा। इस उदाहरण से ध्यान मे आयेगा कि आसक्ति कैसी होती है।

दूसरे एक सज्जन उरुली-आश्रम मे रहते थे। वे बाल और दाढी रखते थे। ब्रह्मचारी थे, मगर उनकी आसक्ति बाल और दाढी मे थी। मैने एक दिन कहा. 'आपके बाल और दाढी मै रात मे नीद मे ही कटवा डालूँगा तो फिर आप क्या करेगे ?'

उन्होने जवाब दिया 'दूसरे दिन सुवह उरुली-आश्रम छोडकर चला जाऊँगा ।'

इस तरह स्पष्ट है कि ससार मे आसक्ति सिर्फ स्त्री, पुत्र आदि मे ही नही-रहती, वह वाल, दाढ़ी या लँगोटी मे भी आकर अपना स्थान जमा लेती है । लेकिन ज्ञानी वही है जिसकी आसक्ति सर्वथा खतम हो जाती है ।

(२) इसीसे वह **मुक्तस्य**–वधन से मुक्त हो गया है । मन मे जो आसक्ति रहती है, वही बन्धन मे डालती है, फँसाती है । वह आसक्ति सचमुच चित्त से सर्वथा निकल गयी तो मनुष्य भीतर मुक्ति का ही अनुभव करेगा । हमारा चित्त कही-न-कही अटका रहता है । एक चीज की आसक्ति छोडते है तो वह दूसरी चीज मे वैठ जाती है, क्योकि मन को कोई आधार चाहिए ही । अज्ञानावस्था मे मन के लिए वाह्य वस्तुओ का ही आधार रहेगा । उसे परमात्मा का आधार मिल जाय तो वह वाह्य वस्तु का आधार छोड देगा ।

(३) **ज्ञानावस्थितचेतसः** । इस तीसरे लक्षण मे भगवान् वता रहे है कि ज्ञानी पुरुष को परमात्म-ज्ञान का आधार मिल गया है । उसका चित्त ज्ञान मे यानी परमात्म-ज्ञान मे अवस्थित हो गया है । ज्ञानेश्वर महाराज एक स्थान पर लिखते है कि 'जीव और परमात्मा दोनो एक ही आसन पर वैठे है', यानी दोनो मे अव भेद नही रहा । जीव ने अपना जीवपन छोड दिया और परमात्मा-पन प्राप्त कर लिया । परमात्मा तो आनद का सागर है । ज्ञान का यह सागर हाथ लगने पर ज्ञानी पुरुष विषय की तरफ, वाह्य वस्तुओ की तरफ आकर्षित नही होता । मन की सारी वृत्तियाँ परमात्मा मे डूव जाती है । जिस तरह सव नदियाँ समुद्र मे डूव जाती है, लीन हो जाती है, उसी तरह ज्ञानी पुरुष की सव वृत्तियाँ परमात्मा मे ही लीन हो जाती है ।

(४) **यज्ञायाचरत. कर्म** । यह चौथा लक्षण भगवान् वतला रहे है । ज्ञानी पुरुष को खुद के मोक्ष की चिता तो रही नही । मगर सव लोग जव तक अज्ञान मे, दु ख मे डूवे हुए है, तव तक ज्ञानी पुरुष अपनी मुक्ति मे ही मस्त रहेगा, ऐसी वात नही । सिर्फ भीतर वह अपने आनद मे ही मस्त रहने लगेगा तो वह आनद मे आसक्त हो गया है, यही माना जायगा । अत वह यही चाहता है कि जैसे मैने मुक्ति पा ली और दु ख-मुक्त हो गया, वैसे ही हर आदमी वधन-मुक्त और दु ख-मुक्त हो जाय । इसलिए जिसे दु ख-मुक्ति का मार्ग मिल गया, उसका फर्ज है कि अन्य लोगो को भी वह मार्ग वताये ।

(५) पाँचवी वात है–**समग्र प्रविलीयते** । ज्ञानी पुरुष तो कुछ भी कर्म नही करता । वह अपने लिए नही, सवके लिए जीवित रहता है । कारण है प्रारव्ध-कर्म । प्रारव्ध-कर्म खतम होने तक जीवित रहना पडता है । क्योकि देह की उत्पत्ति अज्ञान-वीज से हुई है । ज्ञान से जव अज्ञान-वीज जल जाता है, तव जीवित रहने का कोई कारण नही रहता । मगर प्रारव्ध-कर्म पर ज्ञान का नियत्रण, ज्ञान की सत्ता नही चल पाती, क्योकि वह ज्ञान होने से पहले ही शुरू हो चुका है । प्रारव्ध-कर्म की चर्चा इसी अध्याय के ३७वे श्लोक मे भी है ।

ज्ञानी का जो प्रारव्ध-कर्म शेष है, वह लोगो के लिए ही है । ज्ञान होने के वाद यदि प्रारव्ध-कर्म न रहे तो ज्ञानी जीवित नही रह पायेगा और अज्ञानी लोगो के लिए ज्ञान-प्राप्ति का दरवाजा ही वद हो जायगा । इसलिए ज्ञान होने के वाद ज्ञानी पुरुष के प्रारव्ध-कर्म का शेष रहना सव लोगो पर उप-कार ही है, ज्ञानी पुरुष लोगो के लिए अखड कर्म करता रहता है । उसका कर्म ज्ञान मे ही विलीन हो जाता है, क्योकि वह भीतर अकर्तावस्था मे ही आरूढ हो गया रहता है । अकर्मावस्था, अकर्ता-

वस्था ही ज्ञानावस्था है। इस ज्ञानावस्था मे उसके सारे सत्कर्म, लोकसग्रह के कर्म मे ही खतम हो जाते है, इसलिए वे कर्म ज्ञानी पुरुष को वधन मे नही डालते।

अज्ञानी पुरुष के कर्म करने मे तीन प्रेरणाएँ रहती है, ऐसा विनोवाजी ने कहा है। कर्म करने मे कर्तापन की आकाक्षा यानी 'मै कर्म करूँगा' इस कर्तापन के सकल्प से उसका कर्म शुरू होता है। यह कर्तापन की भावना ज्ञानी पुरुष के कर्म मे नही रहती, यह वात इस २३वे श्लोक मे वतायी गयी है। अज्ञानी पुरुष को कर्म करने के लिए नाना प्रकार के साधनो का आश्रय लेना पडता है। उसे साधनो का मोह रहता है। कर्म के लिए आवश्यक साधन तो ज्ञानी पुरुष को भी जुटाना पडता है। मगर अज्ञानी पुरुष को नाना प्रकार के साधन यानी अनावश्यक साधन भी जुटाने पडते है, क्योंकि उसमे रजोगुण की प्रवलता रहती है। रजोगुण का यह स्वभाव है कि वह हमेशा दौडधूप करेगा। शक्ति से अधिक कार्य करने मे प्रवृत्त करेगा। इसलिए नाना प्रकार के अनावश्यक साधन भी जुटाने मे वह प्रवृत्त होगा। ज्ञानी पुरुष **निराश्रय** रहता है यानी सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने की वजह से अपनी शक्ति के अनुसार वह आवश्यक साधनो का ही आश्रय लेता है। उसका मुख्य आश्रय स्वदेह ही है। अपनी देह से जितना हो सकता है, उतना वह परिपूर्ण रीति से करता है। कार्य वढाने का मोह उसके चित्त मे नही रहता। यह स्थिति ज्ञानी पुरुष की २१वे श्लोक मे **निराश्रय** शब्द से व्यक्त की है। तीसरी चीज कर्म करते समय 'फल-वासना' अज्ञानी पुरुष के मन मे जागृत रहती है। ज्ञानी पुरुष विलकुल फलवासना-रहित रहता है। यह स्थिति २२वे श्लोक मे **यदृच्छालाभसंतुष्टः** शब्द से वतायी। इस तरह जो तीन प्रेरणाएँ अज्ञानी पुरुष के कर्म के पीछे रहती है, वे ज्ञानी पुरुष के कर्म मे नही रहती।

: २४ :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

अर्पण ब्रह्म=अग्नि मे चम्मच आदि साधनो से आहुति दी जाती है, वह साधन आदि ब्रह्म है, **हविः ब्रह्म**=जिन पदार्थों की आहुति दी जाती है वह घी, दूध आदि ब्रह्म है, **ब्रह्माग्नौ**=जिसमे आहुति डाली जाती है, वह अग्नि भी ब्रह्म है, **ब्रह्मणा हुत**=आहुति डालनेवाला यजमान भी ब्रह्म है, **ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन**=इस तरह ब्रह्मरूप कर्म मे जिसकी समाधि लग गयी है, ऐसा पुरुष, **ब्रह्म एव गन्तव्य**=ब्रह्मरूप फल ही प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे चार वाते वतलायी गयी है १ ,यज्ञ के साधन (चम्मच आदि), आहुति (घी, दूध आदि) और अग्नि ये तीनो ब्रह्मरूप ही जिस पुरुष के लिए हो गये, २ यज्ञ करनेवाला यजमान भी ब्रह्मरूप हो गया है ३ ऐसे ब्रह्मरूप कर्म मे ही जिस पुरुष की समाधि लग गयी, ४ उस पुरुष को ब्रह्मरूप फल ही प्राप्त होता है।

ज्ञान मे यानी अकर्तापन मे कर्म विलीन हो जाता है, उसका मतलव क्या है, यह इस श्लोक मे वताया जा रहा है। गीता के जमाने मे जो यज्ञ रूढ था, उसीका उदाहरण लेकर भगवान् इस श्लोक मे समझा रहे है।

(१) **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि. ब्रह्माग्नौ**। ये तीन चीजे यज्ञ मे रहती है, उनका जिक्र कर कह रहे है कि यज्ञ मे जिन चम्मच आदि साधनो से आहुति दी जाती है, वे ब्रह्म ही है, ऐसी ज्ञानी पुरुष की दृष्टि होती है। ज्ञानी पुरुष की अतिम स्थिति मे सव परमात्ममय ही हो जाता है। इसलिए यज्ञ के साधनो को भी वह ब्रह्ममय देखता है। जिन चीजो की यानी दूध, घी आदि की आहुति दी जाती है, उन्हे भी वह ब्रह्मरूप ही देखता है और जिस अग्नि मे आहुति डाली जाती है, उसे भी ब्रह्मरूप ही देखता है। यज्ञ के सभी उपकरणो को वह ब्रह्मरूप देखता है।

जो भी परोपकार का कार्य करे, वह सब परमात्ममय है, ऐसी दृष्टि हमे रखनी चाहिए। ज्ञानी पुरुष की स्थिति का वर्णन इसीलिए किया जाता है कि हम धीरे-धीरे उस स्थिति को प्राप्त हो जायँ। ज्ञानी पुरुष के जो सहज लक्षण है, वे सब साधक या मुमुक्षु को प्रयत्न से प्राप्त करने पडते है। यत्न से जो लक्षण हम आत्मसात् करते है, वे बाद मे हमारे लिए सहज बन जाते है।

यज्ञ का अर्थ परोपकार होते हुए भी प्राचीन जमाने मे लकडी जलाना आदि यज्ञ माना गया। उस समय लकडी का जलाना परोपकार का ही कार्य था। यानी यज्ञ शब्द का 'परोपकार' अर्थ प्राचीन जमाने मे भी कायम रहा। फिर भी उसकी एक निशानी, उसके एक लक्षण के तौर पर लकडी जलाने की क्रिया को यज्ञ माना गया। इस जमाने मे गाधीजी ने सूत कातना आदि को यज्ञ के तौर पर बताया है। विनोबाजी ने इस सूत कातने पर 'सूत-पचविशी' नामक निबध भी लिखा है। उसमे सूत कातने के २५ कारण निरूपित है। अन्न और वस्त्र ये दो ही जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ है। अन्न मे हमारा समाज सदैव स्वावलबी रहा। फिलहाल जनसख्या बेहद बढने के कारण अन्न मे भी हम परावलबी बन गये है, अन्न भी हमे बाहर से मँगवाना पडता है, यह बात अलग है। मगर गाधीजी के जमाने मे अन्न बाहर से मँगवाना नही पडता था। वस्त्र मे देहाती जनता पूर्ण परावलबी रही है। अभी भी वही हालत है। देहाती समाज वस्त्र मे पूरा स्वावलबी रहे, इस दृष्टि से सूत कातने को यज्ञ कहा गया। गाधीजी खुद एक दिन भी सूत्रयज्ञ किये बिना नही सोते थे।

इस दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ करे तो कहना होगा—अर्पण यानी चरखा आदि साधन, हवि यानी पूनी आदि साधन, परोपकार के लिए यानी देहाती लोग वस्त्र-स्वावलबी बने, गाँव के सुख के लिए त्याग करने को हमेशा तैयार रहे, यह जो परोपकार है, वही अग्नि है।

(२) दूसरी बात है—**ब्रह्मणा हुतम्**। हवन करनेवाला यजमान भी ब्रह्मरूप ही है, ऐसी ज्ञानी पुरुष की भावना रहती है। अर्पण ब्रह्म यानी चरखा आदि साधन उसे ब्रह्मरूप ही लगते है। घी आदि जो हवि यानी पूनी आदि जो अन्य साधन है, वे भी ब्रह्मस्वरूप है, और परोपकाररूपी अग्नि भी ब्रह्मस्वरूप ही है। इस तरह इन तीन साधनो के बारे मे ज्ञानी पुरुष की ब्रह्मभावना यानी परमात्म-दृष्टि रहती है। चरखा, पूनी आदि जड वस्तुएँ है, मगर ज्ञानी पुरुष ने उन जड वस्तुओ के मूल आधार को जान लिया, इसलिए वह जड वस्तु को भी परमात्म-दृष्टि से ही देखता है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा या ब्रह्म ही आकाश आदि समस्त वस्तुओ का मूल आधार है और वह अणु-अणु मे व्याप्त है, यह अनुभव ज्ञानी पुरुष ने कर लिया है, इसलिए उसे सब पदार्थ परमात्ममय यानी ब्रह्ममय लगते है। परोपकाररूपी अग्नि मे अपना सारा जीवन अर्पण करनेवाला यजमान यानी पुरुष भी ब्रह्मस्वरूप ही है।

(३) तीसरी बात यह है कि जहाँ सब जगह परमात्मा को ही देखने की दृष्टि मिल गयी, वहाँ वह ब्रह्मरूप फल प्राप्त कर लेता है। सपूर्ण जीवन ब्रह्ममय हो जाने पर जीवन का अतिम फल ब्रह्म-प्राप्ति ही हो सकता है।

(४) चौथी बात है ब्रह्मरूप फल प्राप्त करने का कारण। **ब्रह्मकर्मसमाधिना**—ब्रह्मरूप कर्म मे ही जिसकी समाधि लग गयी है, उसे ब्रह्म ही प्राप्त हो जाता है। जिसे सतत ब्रह्म का ही स्मरण है, उसे ब्रह्म ही प्राप्त होगा। समाधि दो प्रकार की है एक पातजल-योगसमाधि, जो एक स्थान पर बैठकर लगायी जाती है और जिसमे जगत् का भान नही रहता। यह समाधि अतिम अवस्था नही है। विनोबाजी की भाषा मे यह एक वृत्ति है, लय है, स्थिति नही। स्थिति हमेशा कायम

रहती है, वृत्ति कायम नही रहती । समाधि कुछ घटो या कुछ दिनो के लिए ही लगायी जा सकती है।

लेकिन इस श्लोक मे दूसरे प्रकार की समाधि वतायी गयी है। वह अखड समाधि है। वह कभी खडित नही होती। उसका आदि-अत नही । यह समाधि दिन-रात 'हमेशा अनुभव मे आनेवाली है। इसे यहाँ 'ब्रह्मकर्म-समाधि' कहा है। पातजल-समाधि सव क्रियाएँ छोडकर प्राप्त होनेवाली समाधि है, लेकिन यहाँ भगवान् जो समाधि वतला रहे है वह सव क्रिया करते हुए अनुभव मे आनेवाली समाधि है ।

दूसरे अध्याय मे स्थितप्रज्ञ की स्थिति का जो वर्णन किया गया है वह यही ब्रह्म-कर्म-समाधि है । वहाँ ५४वे श्लोक मे अर्जुन ने जो प्रश्न पूछा है, उसमे 'समाधि' शब्द आया है। समाधि मे रहे हुए स्थित-प्रज्ञ के क्या लक्षण है ? भगवान् ने वहाँ जो जवाव दिया है, स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण वर्णन किये, वह इसी ब्रह्म-कर्म-समाधि की स्थिति है । कर्म का वधन तो भेद-दृष्टि मे है। अभेद-दृष्टि यानी ब्रह्म-दृष्टि के अनुभव मे कर्म का वधन नही रह जाता । २३वे श्लोक के अनुसार ज्ञानी पुरुष का कर्म ज्ञान-स्थिति मे यानी ब्रह्ममय-स्थिति मे विलीन हो जाता है। इस तरह ब्रह्म-कर्म मे जिसकी समाधि लग गयी है यानी कर्म करते हुए जो ब्रह्म मे ही रहता है, उसके लिए सारे कर्म ब्रह्म-यज्ञ हो जाते है । पारमार्थिक सेवा का सारा कर्म ब्रह्ममय हो जाता है।

: २५ :

दैवमेवापरे यज्ञं योगिन· पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥

अपरे योगिन.=कुछ योगी जन, **दैवं एव यज्ञ पर्युपासते**=परमात्म-समर्पणरूप यज्ञ की ही उपासना करते हैं, **अपरे**=और दूसरे (योगी), **ब्रह्माग्नौ**=ब्रह्मनिदिध्यासन-रूप अग्नि मे, **यज्ञेन एव**=साधना मे सतत लाकर ही, **यज्ञ उपजुह्वति**=उसका साधन-पन नष्ट कर देते है यानी ब्रह्म निदिध्यासन से साधना को सहज वना देते हैं।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है . १. कोई योगी परमात्मा को अपना सारा जीवन समर्पण करके परमात्मा की उपासना करते है । २ ब्रह्म के निदिध्यासन-रूप अग्नि मे ब्रह्म का निदिध्यास और उससे साधना को आचरण मे लाकर साधना के साधनपन का होम कर देते है यानी अपनी साधना सहज वना देते है ।

२४वे श्लोक मे ज्ञानी की ब्रह्ममयता, ब्रह्म-कर्म-समाधि का वर्णन किया । वहाँ ज्ञानी पुरुष के लक्षणो का प्रकरण समाप्त हुआ। इस श्लोक मे नया प्रकरण शुरू होता है । उसे 'यज्ञ-प्रकरण' या 'विकर्म-प्रकरण' कह सकते है । १७वे श्लोक मे भगवान् ने कहा कि कर्म विकर्म और अकर्म, इन तीनो को जान लेना चाहिए। कर्म यानी स्व-धर्मरूप वाह्य कर्म, जिसकी चर्चा विस्तार से तीसरे अध्याय मे की गयी है। विकर्म और अकर्म का स्वरूप वताने के लिए यह अध्याय है। भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म इसी अध्याय के प्रारभ मे वता दिये। १८ से २४ तक सात श्लोको मे कहा गया कि कर्म करते हुए अकर्मदशा यानी अकर्तापन का अनुभव तथा उसके लक्षण कितने प्रकट होते है।

अव २५वे श्लोक से विकर्म—विशेष कर्म यानी आतरिक चित्तशुद्धि करनेवाली नाना प्रकार की साधना के कर्मो का निरूपण किया है । इस विकर्म को 'यज्ञ' कहा गया है । इन नाना प्रकार के यज्ञो यानी विकर्मो का वर्णन २५ से ३२ तक आठ श्लोको मे हुआ है । गीता पर जितनी भी टीकाएँ अव तक प्रकाशित हो चुकी है, उनमे से किसीमे भी यह नही कहा गया कि यह वास्तव मे विकर्म-प्रकरण है। विनोवाजी ने विकर्म का अर्थ 'विशेष कर्म' यानी आतरिक चित्तशुद्धिकारक कर्म किया है, जो वहुत मार्मिक और मौलिक है । २५वे श्लोक मे वैसे दो प्रकार के ही यज्ञ कहे गये है।

(१) **दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।** विनोवाजी कहते है कि इस श्लोक के पहले चरण

मे जो यज्ञ वतलाया है वह 'समर्पण-यज्ञ' है। नवे अध्याय के २६वे श्लोक मे जो वात वतलायी है, वही इस श्लोक के पहले चरण मे कही है। उस श्लोक मे वताया है कि पत्र, पुष्प, फल या पानी भक्ति से मुझे अर्पण किया जाता है, तो भक्ति से अर्पित उस चीज को मै स्वीकार करता हूँ। इस श्लोक के पहले चरण मे यही समर्पण-यज्ञ वतलाया है। वैसे देखा जाय तो गीता का सार ही समर्पण यानी भक्ति है। भक्ति सुलभ उपाय होते हुए पूरा फल देनेवाली है, इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से भक्ति का मूल्य वहुत वढ जाता है। अन्य किसी भी आध्यात्मिक साधना से उसका मुकावला नही किया जा सकता।

सत तुलसीदासजी ने इसी उपाय को मुख्य माना है। वे एक पद मे कहते है

तुलसिदास व्रत दान ग्यान तप सुद्धिहेतु स्रुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर विनु मल अति नास न पावै॥

तुलसीदासजी का कहना है कि 'नाना प्रकार के व्रत, दान, यज्ञ और तप श्रुति ने चित्तशुद्धि के लिए कहे है, किन्तु रामचरण के अनुराग यानी परमात्मा की भक्ति के विना चित्त का मल पूरा धुल नही सकता।' तो, पहले चरण मे भगवान् ने वतलाया कि भगवान् को सारी क्रियाएँ समर्पण करने का जो भक्तियोग है, वही यज्ञ कुछ योगीजन करते है।

(२) दूसरी वात है—**ब्रह्माग्नौ अपरे यज्ञं यज्ञेन उपजुह्वति**। परमात्मा का ही निदिध्यास करना ब्रह्मरूप अग्नि है। उस अग्नि मे ब्रह्मतत्त्व का निदिध्यास, उसीका सतत चितन मानो यज्ञ है। इस यज्ञ से यज्ञ का यज्ञपन नष्टकर ब्रह्मचितन, ब्रह्म-निदिध्यासनरूप अपनी साधना को सहज वनाना है। यही ब्रह्म-निदिध्यासनरूप साधना इस अग्नि मे होम देनी है।

ब्रह्म-निदिध्यासनरूप अग्नि मे, ब्रह्मनिदिध्यासरूप सारी साधना का होम कर देने के मानी है सारी साधना सहज वनाना, सारी साधना आत्मसात् करना, साधना का साधनापन मिटा देना। यही इस दूसरे यज्ञ का स्वरूप हुआ। यह यज्ञ निर्गुण भक्ति का है। विनोवाजी ने गीता के अध्यायो की सगति और हर अध्याय के नाम भी वताये है। उनमे ६,७, ८ अध्याय निर्गुण-भक्ति के है तो ९, १०, ११ और १२ ये चार अध्याय सगुण भक्ति के है।

इस श्लोक मे पहले चरण मे जो यज्ञ वताया है, वह समर्पण-यज्ञ यानी सगुण-भक्तिस्वरूप यज्ञ है और दूसरे चरण मे वताया यज्ञ ब्रह्मचितनरूप निर्गुण-भक्ति का यज्ञ है, यह मान सकते है। इसे 'सातत्य-योग' कह सकते है। इस श्लोक मे दो यज्ञ यानी दो विकर्म वताये। पहला विकर्म है सारी क्रियाएँ परमात्मा को अर्पण करके रहना। दूसरा विकर्म है, ब्रह्म का जो निर्गुण रूप है उसका सतत ध्यान करते रहना, और अपनी साधना इतनी सहज वना देना कि हम कोई साधना कर रहे है, ऐसा लगे ही नही। ब्रह्म-चितन का हमे कुछ भान ही न रहे। कोई भी क्रिया सहज वनने से उसका भान मिट जाता है। ब्रह्म का ही ध्यान इतना लग जाय कि दूसरे सारे विचार गौण हो जायँ और ब्रह्म-चितन, ब्रह्म का ध्यान स्वभाव ही वन जाय। यह इस श्लोक का एक अर्थ वताया।

इसका दूसरा अर्थ यह भी किया जा सकता है कि इस श्लोक के पहले चरण मे निर्गुण-भक्ति वतलायी है, क्योकि उसमे देवता यानी परमात्म-देवता की उपासना कही है। परमात्म-देवता के ध्यान मे कुछ योगी पूरे मग्न हो जाते है, ऐसा इसका अर्थ किया जाय, तो वे ध्यान-योगी यानी निर्गुण-भक्त हो गये। निर्गुण-भक्ति का उल्लेख इस श्लोक के पहले चरण मे है, ऐसा अर्थ ले तो दूसरे चरण मे 'यज्ञ के द्वारा यज्ञ को ब्रह्मरूप अग्नि मे होम करते है' इसका अर्थ है सत्कर्म करते हुए सारे सत्कर्म

ब्रह्मरूप अग्नि मे होम कर देना, ब्रह्म को अर्पण कर देना । यह समर्पण-यज्ञ हुआ । विनोवाजी ने जो अर्थ वताया, उसमे इतना अतर हुआ कि उन्होने पहले चरण मे समर्पण-यज्ञ वताया है और दूसरे चरण मे ब्रह्मचितनरूप निर्गुण-भक्तिस्वरूप यज्ञ । दूसरे अर्थ के अनुसार पहले चरण मे परमात्म-ध्यानरूपी यज्ञ यानी निर्गुण-भक्ति का यज्ञ वतलाया और दूसरे चरण मे परमात्म-समर्पणयज्ञ वताया । यह क्रम विनोवाजी के क्रम से उलटा है। अर्थ मे कोई फर्क नही, क्रम मे फर्क है ।

:२६:

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

अन्ये=और दूसरे साधक या मुमुक्षु, **श्रोत्रादीनि इद्रियाणि**=कान, आँख, नाक, जिह्वा और त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो को, **संयमाग्निषु**=सयम यानी निग्रहरूपी अग्नि मे, **जुह्वति**=होम देते है, **अन्ये**=दूसरे साधक या मुमुक्षु, **शब्दादीन् विषयान्**=शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श इन पाँच विपयो को, **इद्रियाग्निषु जुह्वति**=इद्रियरूपी अग्नि मे होम देते है ।

इस श्लोक मे दो प्रकार के विकर्म वताये है १ कुछ साधक या मुमुक्षु पच ज्ञानेन्द्रियो को सयम यानी निग्रहरूपी अग्नि मे होम करते है और २ दूसरे कुछ साधक पच-विषयो को पच ज्ञानेन्द्रियरूप अग्नि मे ।

(१) **श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि अन्ये संयमाग्निषु जुह्वति**—कुछ साधक पच ज्ञानेन्द्रियो को सतत निग्रह मे रखने की कोशिश करते है। इस विषय मे दूसरे अध्याय के ५९वे श्लोक मे कहा है कि कुछ साधक इद्रियो पर काबू प्राप्त करने के लिए विपयो को पूर्णतया त्याग देते है, लेकिन विषयो के प्रति मन मे जो रस रहता है, वह नही छूटता । विपय छूटेगे, लेकिन लालसा नही। जव तक विपयो की वासना, उनके प्रति अनुराग और आकर्षण नही छूटता तव तक सही ढग से विपयो का त्याग हुआ ही नही, यह समझना चाहिए ।

फिर ६०वे श्लोक मे यह भी वताया कि इद्रियाँ इतनी प्रवल है कि ज्ञानी पुरुप भी थोडा असावधान वन जाय तो उसे वे फौरन विषयो की ओर खीच लेती, उनमे फँसा देती है । इसलिए ६१वे श्लोक मे भगवान् फिर उपाय वताते है कि विषयो का पूरा त्याग करने के वजाय उनका मर्यादित यानी सयम से उपयोग करते हुए भक्ति का सहारा लिया जाय। इस तरह वाहर से इद्रिय-सयम और भीतर परमात्म-भक्ति दोनो उपायो से इद्रियो पर विजय पा सकते है ।

(२) दूसरा विकर्म है—**शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।** कुछ साधक शब्द आदि पचविपयो का पूरा त्याग करने के वजाय सीमित उपयोग कर विपय-वासना पर विजय पाने की कोशिश करते है । जव तक आत्मज्ञान नही होता, तव तक विषय-वासना का क्षय नही होता, यह हमने देखा । यह भी देखा कि विषयो के वाह्यत त्याग से भी विपय-वासना क्षीण नही होती, वल्कि कभी-कभी वह वढ भी जाती है । इसलिए सीमित-विषय-सेवन का मार्ग वासना क्षीण करने के लिए वहुत उपयोगी है, यह इस विवेचन का सार है । 'सयम' शब्द विपयो के सीमित सेवन के लिए प्रयुक्त किया जाता है । इस तरह के सयम के लिए पहले चरण मे जो विषय-त्याग का विकर्म वतलाया, जिसके लिए 'निग्रह' शब्द इस्तेमाल किया जाता है, उसकी जरूरत रहेगी । निग्रह और सयम इन दो विकर्मो के साथ ईश्वर-भक्ति के विकर्म का सहारा मिल जाय तो निग्रह, सयम और भक्ति तीनो साधनो, तीन विकर्मो से मन मे रही हुई विपय-वासना क्षीण हो सकती है ।

:२७:

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

अपरे=दूसरे कुछ साधक या मुमुक्षु, **सर्वाणि इद्रिय-कर्माणि**=सब इद्रियो के कर्मो को, **च प्राणकर्माणि**=और प्राण, अपान आदि वायुओ के कर्मो या व्यापारो को, **ज्ञानदीपिते**=विवेकरूपी ज्ञान से प्रदीप्त यानी प्रकाशित, **आत्मसयमयोगाग्नौ**=आत्म-सयमरूप योग की अग्नि मे, **जुह्वति**=होम देते है ।

दो विकर्म २५वे श्लोक मे और दो विकर्म २६वे श्लोक मे वताये है । इस श्लोक मे एक ही विकर्म वताया है । सव इद्रियो के कर्मो और प्राण, अपान आदि वायु के व्यापारो को रोककर विवेकरूपी ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसयम रूपयोगाग्नि मे होम देना इस विकर्म का स्वरूप है ।

यह विकर्म समाधिरूप है । इस श्लोक मे समाधि का विकर्म वतलाया है । फिर भी उसमे चार वाते वतायी है

(१) **सर्वाणि इद्रियकर्माणि**–सव इद्रियो के कर्मो को रोकना । पातजल-योग की समाधि एक आसन पर स्थिर वैठकर लगायी जानेवाली समाधि ह । उसमे इद्रियो के सव व्यापारो को रोकने का अभ्यास करना पडता है । लेकिन दूसरे अध्याय मे वतलायी गयी स्थितप्रज्ञ की समाधि वैठकर लगायी जानेवाली समाधि नही है । वह तो सव क्रियाएँ करते हुए परमात्मा मे डूवने, शून्य वनने की समाधि है । लेकिन इस श्लोक मे जो समाधि वतायी है, वह स्थितप्रज्ञ की समाधि पाने का उपाय है । पत-जलि की समाधि स्थितप्रज्ञ की समाधि का एक अग, यानी एक साधन वन गयी है । पतजलि की समाधि प्राप्त करनी हो तो भी कुछ पूर्व-तैयारी करनी ही पडती है । उमी पूर्व-तैयारी के तौर पर पातजल-समाधि के यम-नियमादि आठ अग वतलाये है इसीलिए इस समाधि को 'अष्टागयोग-समाधि' कह जाता है । उस समाधि का वर्णन और उसके लि आवश्यक ब्रह्मचर्य, ध्यान आदि का वर्णन छठे अध्या मे है । वह ध्यान-समाधि का अध्याय है ।

इस समाधि के आठ अगो का क्रम इस प्रका है यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहा धारणा, ध्यान और समाधि । यम पाँच है—सत्य अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह । इन यम को 'पच-महाव्रत' भी कहते है । इन पच-महाव्रत का विवेचन गाधीजी ने 'मगल-प्रभात' मे सुन्द ढग से किया है । पतजलि के योगसूत्रो मे इन यम की व्याख्या की गयी है । इन यमो पर पतजलि की व्याख्या को हम छठे अध्याय मे विस्तार से देखेगे ।

पतजलि ने नियम भी पाँच वतलाये है—शौच सतोप, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान यम के साथ ये आवश्यक है । इनका स्पष्टीकरण भी छठे अध्याय मे है । तीसरा अग है, आसन और चौथा है, प्राणायाम । पाँचवाँ अग प्रत्याहार है । प्रत्याहार यानी देखते हुए भी न देखना सुनते हुए भी न सुनना, शीत-उष्ण का स्पर्श होते भी कुछ विशेष मालूम न होना ।

इन पाँचो का एक विभाग वन जाता है । शेष तीन अगो—धारणा, ध्यान और समाधि मिलकर दूसरा विभाग वन जाता है । दोनो मिलकर आठ अग हो जाते है । 'धारणा' यानी मन को ईश्वर के चिन्तन मे डुवो देना । ईश्वर के चिंतन से मन मे सासारिक विचारो का उठना वद हो जाता है । एक ही विपय मे डूवने का यानी ईश्वर के चिंतन मे डूवने का अभ्यास हो जाने पर ईश्वर-स्वरूप मे डूव जाने की मनोभूमिका तैयार हो जाती है । ईश्वर-चिंतन मे डूवना और ईश्वर-स्वरूप मे डूवना, दोनो मे फर्क है । ईश्वर-चिंतन मे डूवने का अर्थ है, ईश्वर-विषयक

विचारो के चिंतन मे डूब जाना। ईश्वर-स्वरूप मे डूबने के मानी है ईश्वर-स्वरूप का जो शात-प्रत्यय अनुभव मे आता है, उसीमे चित्त को तल्लीन करना। ईश्वर-स्वरूप के एक शात प्रत्यय मे डूब जाने को 'ध्यान' कहते है। ध्यान के बाद समाधि आती है। 'समाधि' मे ईश्वर-स्वरूप मे इतना गहरा डूबने का अनुभव आता है कि देह का भी कुछ भान नही रहता। देह के किसी अवयव को काटने पर भी मालूम नही पडता। समाधि की अवस्था से वापस जाग्रत्-अवस्था मे आ जाते है, तब देह का भान आता है।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीन अगो को पतजलि ने 'सयम' नाम दिया है। योगसूत्र मे कहा है **त्रयमेकत्र संयमः**। धारणा, ध्यान और समाधि, तीनो का एकत्र यानी एक साथ होना ही सयम है। इसीको लक्ष्य कर श्लोक के उत्तरार्ध मे कहा है **आत्मसंयमयोगाग्नौ**। इसमे ये तीनो बाते कही गयी है। इस प्रकार यम-नियमो की साधना करके सभी इद्रियो के व्यापार को बद कर देते है।

(२) दूसरी चीज यह बतला रहे है कि प्राणो के व्यापार को बद कर देते है। समाधि लगाने के लिए इद्रियो और प्राणो के व्यापार को बद कर देना पडता है। छठे अध्याय मे आसन किस तरह लगाया जाय और फिर उस पर किस तरह बैठा जाय, यह बतलाया है। वहाँ प्राणो के व्यापार को बद करने की बात नही बतायी है। इस श्लोक मे प्राणो के व्यापारो को बद करने के लिए कहा गया है। इसके लिए प्राणायाम का अभ्यास करना पडता है। कई साधक सिर्फ प्राणायाम मे ही परायण रहते है। प्राणायाम के आगे वे नही बढते। उनका जिक्र इस अध्याय के २९वे श्लोक मे है। इस श्लोक मे समाधि का विकर्म बताया है, इसलिए प्राणायाम साधकर प्राणो के सब व्यापार बद कर देते है, ऐसा कहा गया है।

(३) तीसरी चीज यह बतलायी जा रही है कि इद्रियो और प्राणो के सभी व्यापारो को रोककर **आत्मसयमयोगाग्नौ जुह्वति**—आत्म सयम-योगरूप अग्नि मे उन इद्रियो और प्राणो के व्यापारो को होम देते है। 'आत्मसयम' शब्द मे पतजलि ने धारणा, ध्यान और समाधि—तीनो को लिया है और तीनो के एकीकरण के लिए 'सयम' शब्द प्रयुक्त किया है, यह हम ऊपर देख ही चुके है। यहाँ गीता ने 'सयम' के आगे 'योग' तथा पीछे 'आत्म' शब्द लगाकर 'आत्म-सयम-योग' शब्द बनाया है।

(४) फिर इस पातंजल-समाधि के पीछे गीता ने 'ज्ञानदीपिते' शब्द भी जोड दिया है। पातजल-समाधि पूर्णावस्था नही, उसके साथ ज्ञान-रूप दीप भी होना चाहिए। ज्ञान यानी व्यापक परमात्म-स्वरूप का ज्ञान। यह ज्ञान जाग्रत अवस्था मे ही हो सकता है और अखंड रहता है, उसमें खड नही पडता। लेकिन पातजल-समाधि अखड रहनेवाली नही है। वह कुछ समय के लिए ही आत्मा में डूब जाने की स्थिति है। इसलिए उस समाधि को पूर्णावस्था नही कह सकते। पूर्णावस्था ज्ञानावस्था को ही कह सकते है। समाधि के पीछे ज्ञान होने पर समाधि की अपूर्णता मिट ही जाती है। इसलिए उसे 'योग' नाम दे सकते है।

इस प्रकार **ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति** का अर्थ हुआ—ज्ञान से प्रकाशित आत्म-सयम यानी धारणा, ध्यान, समाधिरूप सयम और इस समाधि के पीछे ज्ञानरूप प्रकाश होने से वही योग है। कुछ लोग उस ज्ञान से प्रकाशित समाधि-योगरूप अग्नि मे अपनी इद्रियो और सब प्राणो की क्रियाएँ होम कर देते है—समाधि पाने की कोशिश करते रहते है और उसे पाने पर कुछ काल तक उसमे रहने का अभ्यास भी करते रहते है। यह विकर्म इस श्लोक मे बताया गया।

२८ :

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च यतय. सशितव्रता ॥

द्रव्ययज्ञा.—कुछ साधक द्रव्य-यज्ञ करते है, **तपोयज्ञा.**—कुछ साधक तप-यज्ञ करते है, **तथा अपरे**—वैसे ही दूसरे कुछ साधक, **योगयज्ञा.**—योग-यज्ञ करते है, **च स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञा.**—और कुछ साधक स्वाध्याय और ज्ञान यज्ञ करते है, **सशितव्रताः यतय.**—ये सव यज्ञ करनेवाले तीव्र व्रत-धारी, सन्यासी या सयमशील या याज्ञिक है, ऐसा समझो ।

इस श्लोक मे कुल मिलाकर छह वाते कही गयी है १ द्रव्ययज्ञ, २ तपोयज्ञ, ३ योगयज्ञ, ४ स्वाध्याय-यज्ञ, ५ ज्ञान-यज्ञ, और ६ इन पाँच प्रकार के यज्ञरूप विकर्मो की साधना करनेवाले तीव्र व्रतधारी है ।

(१) यह विकर्मो का प्रकरण चल रहा है । इन विकर्मो मे जो अनेक प्रकार के साधन आते है, उन्हे 'यज्ञ' नाम दिया गया है। ये अनेक प्रकार के यज्ञ चित्तशुद्धिकारक अनेक प्रकार के विकर्म ही है, यह समझना चाहिए ।

विनोवाजी ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार वतलाया है पचीस से लेकर सत्ताईस तक तीन श्लोको मे जो पाँच प्रकार के यज्ञ वतलाये, वे ही यहाँ अलग नामो से वतलाये है। 'द्रव्ययज्ञ यानी २५वे श्लोक के पहले चरण मे वताया देवताराधन-रूप यज्ञ। परमेश्वर की पूजा जीवनरूप द्रव्य से करना द्रव्य-यज्ञ है। इसीको व्यापक भाषा मे 'ईश्वर-समर्पण-योग' कहते है। गीता के नवे अध्याय के २६वे श्लोक मे यह वात वतलायी है । उस श्लोक मे वताया है कि पत्र, पुष्प, फल और जल यदि भक्तिभाव से अर्पण किया जाता है तो उसे मै आनद से ग्रहण करता हूँ ।"

विनोवाजी ने आठवे अध्याय को 'सातत्य-योग' कहा है। ईश्वर का पहले सतत स्मरण रहना चाहिए, तभी हरएक क्रिया समर्पण करने का 'समर्पण-योग' सध सकता है। नवे अध्याय को 'समर्पण-योग' कहा है । 'द्रव्ययज्ञ' का अर्थ स्थूल-द्रव्य यानी धन-सपत्ति नही है । जीवनीय द्रव्य यानी जीवन की हरएक क्रिया समर्पण करने का यह यज्ञ है ।

(२) दूसरा यज्ञ वतलाया है **तपोयज्ञ**। कुछ साधक तपोयज्ञ करते है । तपोयज्ञ के वारे मे विनोवाजी वताते है कि इद्रियो का विषयो के साथ सवध छोडकर सयमरूप अग्नि मे इद्रियो का होम करके उन्हे परिशुद्ध करे और इस तरह इद्रियो को जीत ले । छठे अध्याय मे इसका स्पष्टीकरण है और उसे 'ब्रह्मचर्य-व्रत' भी कहा गया है । इन्द्रियो पर कावू पाने के लिए उन्हे सयम मे और अपने वश मे रखने के लिए निग्रह के अभ्यास की जरूरत है। निग्रह नित्य की वस्तु नही, नित्य की वस्तु है सयम । लेकिन सयम नित्य की वस्तु वन जाय, इसके लिए कुछ काल तक निग्रह के अभ्यास की जरूरत होती है। जैसे कताई सीखना हो तो शुरू मे सात-आठ घटे कातने का अभ्यास करना पडता है । अभ्यास करते समय तकलीफ भी होती है। यह निग्रह का अभ्यास है। इस तरह विषयो का इद्रियो के साथ सवध छोडने का अभ्यास निग्रह है। निग्रह के अभ्यास से सयम हासिल होता है। सयम से इद्रियाँ परिशुद्ध होती है। और उन पर कावू मिल जाता है । इसीको 'तपोयज्ञ' कहते है ।

(३) इसके वाद भगवान् **योगयज्ञा** यह तीसरा यज्ञ वतलाते है। विनोवाजी कहते है कि इद्रियाँ विशुद्ध होने और उन पर विजय पा लेने के वाद पारमार्थिक सेवा के लिए उनका उपयोग करने को ही 'योगयज्ञ' कहते है। पारमार्थिक सेवा करनेवाले के लिए यह जरूरी हो जाता है कि पहले इद्रियो पर कावू प्राप्त करने की कोशिश की जाय । जिनका इद्रियो पर कावू नही रहता, वे ठीक से पारमार्थिक सेवा नही कर पाते। इद्रियो को विशुद्ध कर उन पर कावू पाने को ही विनोवाजी

ने 'ब्रह्मचर्य की साधना' कहा है। पारमार्थिक सेवा का ब्रह्मचर्य की साधना के साथ बहुत घनिष्ठ सबध है और उसीकी साधना को 'तपोयज्ञ' कहा है। तपोयज्ञ यानी थोडे मे ब्रह्मचर्य की साधना। ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए जो पारमार्थिक सेवा की जाती है, वह ठोस होती है, आदर्शरूप हो जाती है। जो लोग ब्रह्मचर्य की साधना करने का लक्ष्य रखे विना पारमार्थिक सेवा करने लगते है, वे अत तक सेवा मे रत ही रहेगे, यह नही कहा जा सकता। ब्रह्मचर्य और इद्रियो के निग्रह का लक्ष्य रखे विना जो सेवा मे लगते है, उनकी निजी गृहस्थी कावू मे नही रह पाती। सतान की मर्यादा पर कावू न रहने से इन पारमार्थिक सेवको को गृहस्थी ही अपने अधीन कर लेती है। वे उसमे फँसकर सेवा मे पूर्णतया असफल हो जाते है। इसलिए तपोयज्ञ के वाद पारमार्थिक सेवा का यह 'योगयज्ञ' वतलाया है। वैसे चित्त की समता, निर्विकारता को गीता मे 'योग' कहा है। लेकिन चित्त की समता और निर्विकारता प्राप्त करनी हो तो इन्द्रिय-निग्रह या ब्रह्मचर्य की साधना के विना वह असभव है। इस तरह ब्रह्मचर्य की साधना और उसके जरिए पारमार्थिक सेवा को ही यहाँ 'योगयज्ञ' कहा गया है।

(४) चौथा यज्ञ है **स्वाध्याय-यज्ञ**। यह स्वाध्याय-यज्ञ २५वे श्लोक के दूसरे चरण मे वतलाया है। स्वाध्याय-यज्ञ को **जप-यज्ञ** भी कहते है। विनोवाजी कहते है "स्वाध्याय-यज्ञ या जप-यज्ञ यानी मन मे साधना का निरतर ध्यान लगना, निरतर उसीकी लगन रहना। इसका वाह्य परिणाम वाहर से नाम-जप मे भी होगा। यानी वाहर वाणी से भी नाम-जप होता रहेगा, मन मे तो चलता ही रहेगा। मन मे नाम-जप चालू रहे, यह मुख्य वस्तु है। भीतर नाम-स्मरण अखड होता है तो वाणी से नाम लेने की जरूरत भी महसूस नही होती। जव भीतर अखड नाम-जप होने लगता है तो वाहर से अपने आप ईश्वर-भजन, ईश्वर-प्रार्थना होने लगती है। गीता, ब्रह्मसूत्र, ज्ञानेश्वरी, रामायण आदि आध्यात्मिक ग्रथो का अध्ययन भी होने लगता है। इन आध्यात्मिक ग्रथो के अध्ययन से आतरिक विचार स्पष्ट हो जाते है। निर्गुण, सगुण, ब्रह्म, माया, वैराग्य, योग, तप, ज्ञान, कर्म-फलत्याग, अभ्यास आदि अनेक शब्दो का यथार्थ अर्थ समझ मे आने लगता है। साधना कैसी करनी चाहिए, यह भी यथार्थरूप से ध्यान मे आता है।

(५) पाँचवाँ यज्ञ वतलाया है **ज्ञानयज्ञ**। यह पाँचवाँ 'ज्ञानयज्ञ' २७वे श्लोक मे वताया है, ऐसा विनोवाजी का मानना है। इसे विनोवाजी **चितनरूप यज्ञ** भी कहते है, जिसमे भीतर 'स्वय अकर्ता हूँ' इसका अखड अनुभव रहता है। लेकिन ऐसा अनुभव पाने के लिए ब्रह्म का चितनरूप ध्यान आवश्यक है। ब्रह्म के ध्यान मे समाधि भी प्राप्त हो सकती है। वैसे पातजल-समाधि कोई जरूरी नही, पर कोशिश करने पर इस ज्ञानरूप यज्ञ से वह भी प्राप्त हो सकती है। लेकिन ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य गौण हो जाय और समाधि प्राप्त की जाय, तो उसे ज्ञान प्राप्त होगा, ऐसी वात नही। इतना ही नही, पातजल-समाधि प्राप्त होने से सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती है और उनमे आदमी फँस भी सकता है। सिद्धियो मे फँस जाने पर वाह्य वैभव, कीर्ति आदि प्राप्त होगे। फिर उन वाह्य चीजो मे चित्त आसक्त हो जाय तो परमात्म-ज्ञान प्राप्त नही होगा। इसलिए २७वे श्लोक मे 'ज्ञानदीपिते' शब्द इस्तेमाल किया गया है, जो जरूरी है। लेकिन उसका अर्थ 'परिपूर्ण ज्ञानावस्था' न करके 'परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक ज्ञान या विवेक का अभ्यास' यह अर्थ यहाँ अपेक्षित है।

इस श्लोक मे कथित पाँच यज्ञो का इससे भिन्न अर्थ भी किया जा सकता है जो इस प्रकार है

(१) **द्रव्ययज्ञ** अपने पास यदि सपत्ति है तो उस सपत्ति का जनसेवा के लिए उपयोग करना।

जितना ज्यादा-से-ज्यादा 'सपत्तिदान' किया जा सके, उतना करना । प्राचीन जमाने मे दान की महिमा वहुत थी। दानो मे गुप्तदान वहुत श्रेष्ठ माना जाता था। यह दान का पुराना सस्कार हिन्दुस्तान मे अभी भी वरावर चला आ रहा है । इस दानवृत्ति का जिनमे वहुत उत्कर्प देखने मे आता है, उनमे यह 'दान का विकर्म' चित्तशुद्धि का साधन वन सकता है । इससे धीरे-धीरे स्वार्थवृत्ति क्षीण होकर हम ममत्व और अहकार से शून्य वन सकते है ।

(२) **तपोयज्ञ :** यह दूसरा विकर्म है। १७वे अध्याय मे कायिक, वाचिक और मानसिक-तीन प्रकार के तप कहे है । पहले कायिक यानी शारीरिक तप वतलाया है। देव यानी भक्त, द्विज यानी सज्जन, गुरु यानी मार्ग-दर्शक, प्राज्ञ यानी सत—इनकी सेवा, शारीरिक-मानसिक शुद्धि, ऋजुता यानी सरलता, व्रह्मचर्य-पालन, अहिंसा यानी किसीको वाहर से तकलीफ न देना, ये शारीरिक तप है। इस प्रकार की वाणी वोलना, जिससे किसीको तकलीफ न हो, दु ख न हो, जो सत्यमय हो, प्रिय हो और जिससे दूसरो का कल्याण हो, तथा धार्मिक ग्रथो का अध्ययन करना, यह वाणी का तप है। हमेशा मन की प्रसन्नता कायम रखना, मन मे सौम्यवृत्ति यानी मृदु-कोमल वृत्ति रखना, कठोर वृत्ति न रखना यानी उत्तेजित न होना, मौन रखना यानी परमात्म-चिंतन मे लीन होना, और मन मे निग्रह तथा विशुद्ध, निर्मल-भावना रखना, यह मानसिक तप है। इस प्रकार जो पुरुप तीन प्रकार के तप करते है, वे 'तप का विकर्म' जीवन मे दाखिल कर चित्त शुद्ध कर लेते है ।

(३) **योगयज्ञ** · यह तीसरा विकर्म है यानी योग का विकर्म साधने की कोशिश । योग यानी चित्त की समता, निर्विकारता । स्वधर्म-पालन करते हुए भी काम-विकारो के कारण आदमी को मन मे दु ख सहना पडता है । इन्ही विकारो के कारण अपने स्वरूप यानी परमात्मस्वरूप की पहचान नही हो पाती और जव तक ईश्वर-स्वरूप की पहचान नही होती, तव तक वधन से मुक्ति भी नही मिलती । इसलिए कई साधक 'योग की साधना का विकर्म' साधने की कोशिश करते है ।

(४) **स्वाध्याय-यज्ञ :** यह चौथा विकर्म है। जिन्हे परमात्म-स्वरूप को जानना है, वधन से छूटना है, उन्हे नित्य स्वाध्याय करना ही चाहिए । जैसे स्नान करते है, वैसे ही नित्य मानसिक स्नान करना भी जरूरी है। जैसे शरीर पर मल जमता रहता है, वैसे ही मन पर भी विकारो का मल जमता है । सृष्टि के साथ हमारा नित्य का सवध है । हम कुछ-न-कुछ कार्य करते ही रहते है। हमारा लोगो के साथ कार्य की दृष्टि से भी सवध आता रहता है । काम-क्रोध की लहरे मन मे उठती ही रहती है । इन विकारो का जो मल मन मे जमता जाता है, उसे रोजाना निकालने की कोशिश न करे तो वह वहुत जम जायगा । उस जमे मल को एक दिन मे धो नही सकते, रोज का थोडा-सा मल रोज धोते रहने से वह जम नही पायेगा। इसलिए स्वाध्याय अति-आवश्यक है। स्वाध्याय के साथ प्रार्थना, भजन आदि हो तो भक्ति-भाव वढाने की दृष्टि से काफी लाभ हो सकता है ।

(५) **ज्ञानयज्ञ** . यह पॉचवॉ विकर्म है । यहॉ 'ज्ञान'शब्द को अतिम ज्ञान नही समझना चाहिए । यह ज्ञान का विकर्म वताया है, इसलिए यहॉ 'ज्ञान' का 'आत्मा और अनात्मा का विवेक प्राप्त करना' अर्थ ही अभिप्रेत है । इस 'ज्ञान'शब्द मे परमात्म-चितन का समावेश भी हो जाता है। पहले तो देह से आत्मा का भिन्नत्व ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए । फिर व्रह्माड मे व्याप्त परमात्मा का देहस्थित आत्मा के साथ कैसा सवध है, दोनो कैसे एक है, यह भी ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए । व्रह्म, माया, प्रकृति, सगुण, निर्गुण इन सवका अर्थ ठीक-ठीक समझ लेने के वाद आत्मानात्म-विवेक का अभ्यास कर सकते है । इस आत्मानात्म-विवेकाभ्यास के लिए

वैराग्य के अभ्यास की जरूरत रहती है। वैराग्य के अभ्यास के बिना देह से आत्मा अलग करने का अभ्यास नही हो सकेगा। ज्ञानाभ्यास चित्तशुद्धि के लिए आवश्यक होने से इसे विकर्म कहा गया है।

(६) ये सब अलग-अलग विकर्मरूप आतरिक यज्ञ करनेवाले, तीव्र व्रतधारी है, ऐसा समझे। इन्हे 'याज्ञिक' भी कह सकते है, क्योकि ये सब व्रतधारी त्यागमय जीवन बिताने की कोशिश करते रहते है। इसलिए ये सन्यासी भी है। भगवान् ने 'यती' यानी सन्यासी कहकर इन विकर्मो की साधना करनेवालो का गौरव किया है।

: २९ :

अपाने जुह्वति प्राण प्राणेऽपानं तथाऽपरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

अपरे=अन्य कुछ साधक, **अपाने**=अपानवायु मे (जो श्वास भीतर लेते है उसमे), **प्राणं**=प्राण-वायु का (जो श्वास छोडते है उसका), **जुह्वति**=होम करते है यानी 'पूरक' नामक प्राणायाम करते है, **तथा प्राणे अपान**= वैसे ही प्राण-वायु मे अपान-वायु का, (**जुह्वति**=होम करते है, यानी 'रेचक' नाम का प्राणायाम करते है), **प्राणापानगती रुद्ध्वा**=प्राण और अपान की गति को रोककर, कुछ साधक, **प्राणायामपरायणा**=प्राणायाम मे परायण (रत) रहते है।

इस श्लोक मे एक ही विकर्म कहा गया है। इस विकर्म का नाम है 'प्राणायाम'। प्राणायाम तीन प्रकार का होता है पतजलि के अष्टाग-योग मे पहला स्थान दिया गया है 'यम' को। यम के बाद 'नियम'। बाद मे 'आसन' और फिर चौथा स्थान 'प्राणायाम' का है। समाधि मे प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। जब समाधि लग जाती है, तब प्राण और अपान यानी श्वास और उच्छ्वास इतने शात हो जाते है कि नाडी हाथ मे लगती ही नहीं। हृदय की गति भी शात हो जाती है। शरीर मानो मृत हो जाता है। फिर भी प्राण और अपान के सूक्ष्म व्यापार शरीर मे चलते रहते है। लेकिन शरीर ठडा नही हो जाता, जब कि मृत शरीर ठडा हो जाता है। समाधि-स्थिति मे शरीर मे कम-से-कम घर्षण रहता है, इसलिए तीन दिन की समाधि अथवा चालीस दिन की समाधि लग जाने पर भी अन्न और पानी की जरूरत महसूस नहीं होती। समाधि मे एकाग्रता की पराकाष्ठा रहती है। जब किसी विषय में चित्त एकाग्र हो जाता है, तब श्वास और उच्छ्वास काफी धीमे पड जाते है।

परमात्मा अतिसूक्ष्म है। हमारे सामने जो सृष्टि खडी है, उसमे जितने भी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ दिखाई देते है, उन सबमे आकाश अत्यत सूक्ष्म है। लेकिन परमात्मा आकाश से भी अत्यत सूक्ष्म है। इस अतिसूक्ष्म प्रभु मे चित्त को अतिएकाग्र करना है, डुबो देना है, जब कि समाधि की अवस्था मे श्वास और उच्छ्वास बिलकुल शात पड जाते है। इस पर से यह कल्पना विकसित हुई कि श्वास और उच्छ्वास की गति रोकने का अभ्यास किया जाय तो उससे क्रमश समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है। इसलिए प्राणायाम का पतजलि के अष्टाग-योग मे चौथा स्थान है।

तुलसीदासजी ने भी कहा है

सुमिरत हरिहि साँस गति बाधी।
सहज विमल मन लागी समाधी॥

—'हरि का स्मरण करते ही श्वास की गति शात हो गयी और मन अतिशुद्ध होने से सहज ही समाधि लग गयी।' इस तरह श्वास और उच्छ्वास का सबध समाधि के साथ होने से प्राणायाम का अभ्यास आवश्यक हो जाता है।

प्राणायाम का यह अभ्यास बहुत आसान नही है। इसमे खतरा भी रहता है। एक सज्जन ने गलत तरीके से प्राणायाम का अभ्यास किया और उन्हे दमे की शिकायत शुरू हो गयी। इसलिए

प्राणायाम का अभ्यास किसी अनुभवी पुरुष के मार्ग-दर्शन मे ही करना चाहिए, स्वतत्ररूप से नही।

प्राणायाम के पूरक, रेचक और कुभक तीन प्रकार है। गीता के इस श्लोक मे पहले 'पूरक' प्राणायाम वताया गया है। भीतर जो श्वास ली जाती है, उसे 'अपान' कहते है। जो भीतर से श्वास छोडते है उसे 'प्राण' कहते है। पहले पूरक प्राणायाम वतलाया है। उसमे अपानवायु मे प्राणवायु का होम करते है। जव हम भीतर श्वास लेते है तो श्वास को वाहर नही छोडते, उसका मतलव वाहर छोडने के श्वास को भीतर लेने के श्वास मे होम कर देते है। अपानवायु मे प्राण-वायु के होम को 'पूरक' प्राणायाम कहते है। इसमे बहुत ही धीमी गति से श्वास लेना पडता है। चालू श्वास की गति धीमी नही रहती। जव चित्त एकाग्र हो जाता है, तव श्वास की और उच्छ्वास की गति सहज ही मद पड जाती है।

यहाँ धीमी गति से श्वास लेने का अभ्यास करने के लिए कहा है। अतिमद गति से श्वास लेने के अभ्यास मे यानी अपान-वायु मे प्राणवायु का यानी वाहर छोडने के वायु का जिस तरह हमने होम कर दिया, वैसे ही वाहर छोडने के प्राणवायु को वहुत आहिस्ता-आहिस्ता छोडने का अभ्यास किया तो प्राणवायु मे अपानवायु का होम हो जाता है। यह 'रेचक' प्राणायाम है। इस तरह इस श्लोक के पहले चरण मे पूरक और रेचक दो प्राणा-याम वताये है। दूसरे चरण मे 'कुभक' प्राणायाम वताया है। पूरक के वाद 'कुभक' और आखिर मे 'रेचक', यह प्राणायाम का क्रम है। प्राण और अपान दोनो की गति रोकने को 'कुभक' कहते है।

तीनो प्राणायामो मे 'कुभक' प्राणायाम कठिन है। उसे कितना रोकना चाहिए, यह ठीक से समझना पडता है। विना समझे पूरक, रेचक और कुभक प्राणायाम किया जाय तो नुकसान की सभावना है। वैसे ही एकाग्रता मे भी विक्षेप आने की सभावना है। जैसे प्राणवायु के प्राण और अपान, ये दो प्रकार निश्चित किये गये है, वैसे ही उसके और भी तीन प्रकार वर्णित है। कुल मिलाकर पाँच प्रकार है १ प्राण, २ अपान, ३ व्यान, ४ उदान और ५ समान। 'प्राण' यानी श्वास वाहर छोडना और 'अपान' यानी श्वास भीतर लेना, इन दोनो का जिक्र इस श्लोक मे आ गया। जव हम कुछ शारीरिक मेहनत करते है, कुछ वोझ उठाते है, तव दम छाँटना पडता है, श्वास को कुछ रोकना भी पडता है, उसे 'व्यान' कहते है। मृत्यु के समय जो प्राण शरीर मे से निकल जाता है, उसे 'उदान' कहते है। अन्नरस को शरीर मे समानरूप से पहुँचानेवाले प्राणवायु को 'समान' कहते है।

: ३० :

अपरे नियताहारा प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

अपरे=और दूसरे साधक, **नियताहारा**=आहार का नियमन करके या उपवास करके, **प्राणान् प्राणेषु**=सव इद्रियो को इद्रियरूपी अग्नि मे, **जुह्वति**=होम देते है, **एते सर्वे अपि**=ये सव साधक या मुमुक्षु भी, **यज्ञविद**=यज्ञ को ठीक तरह जाननेवाले, **यज्ञक्षपितकल्मषा**=और इन विकर्मरूपी यज्ञो से जिनके पाप क्षीण हो गये है, ऐसे है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ कुछ साधक आहार का नियमन करते है, आहार छोड देते है अर्थात् वहुत कम खाते है अथवा दीर्घ-काल तक उपवास करते है। २ सव इन्द्रियो को इद्रियो मे ही होम देते है यानी इद्रियो से जो दोष हुए हो, कोई पापकर्म हुआ हो तो उसे प्रायश्चित्त द्वारा जला देते है। ३ इन सव विकर्मरूपी यज्ञो को करनेवाले, यज्ञ को जाननेवाले है, ऐसा समझो। और ४ इन विकर्मरूपी भिन्न-भिन्न यज्ञो से उन्होने अपने दोषो को, पापो को क्षीण कर दिया है, ऐसा समझो।

(१) इस श्लोक मे अपरे नियताहाराः यह एक ही विकर्म वताया गया। इस श्लोक का समाधानकारक अर्थ किसी भी भाष्यकार ने नही किया है। शकराचार्य, ज्ञानेश्वर महाराज, लोकमान्य तिलक और गाधीजी—चारो मे से किसीका भी अर्थ समाधानकारक नही है। विनोवाजी का अर्थ समाधानकारक है। कई साधक अपने जीवन मे कुछ गंभीर यानी नैतिक गलती कर वैठते है। छोटे-वडे दोष तो जीवन मे होते ही रहते है। उन दोषो को क्षीण करने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए। लेकिन जीवन मे कभी नैतिक पतन हो जाता है और उससे साधना मे वडी रुकावट आती है। ऐसे नैतिक गभीर दोषो के लिए प्रायश्चित्त के सिवा दूसरा कोई उपाय नही।

सबसे वडा नैतिक दोष तो स्त्री-सग है। ब्रह्मसूत्र मे इसके वारे मे चर्चा उपस्थित की गयी है कि जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, उससे स्त्री-सग-रूपी पातक हो जाय तो उसका प्रायश्चित्त हो सकता है या नही ? पूर्वपक्ष की तरफ से यह दलील की गयी है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए तो स्त्री-सग आदि पातको के लिए देहात-प्रायश्चित्त के सिवा और कोई प्रायश्चित्त नही हो सकता। 'उपकुर्वाण ब्रह्मचारी' हो यानी गुरुगृह मे ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा हो और वहाँ स्त्री-सग का दोष उससे हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त हो सकता है, क्योंकि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी नही है। गुरु-गृह से वापस घर जाने के वाद वह गृहस्थाश्रम स्वीकार करता है। अत उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। मगर जिसने आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा ली है, उस नैष्ठिक ब्रह्मचारी से यह पातक हो जाय तो किस तरह प्रायश्चित्त हो सकता है ?

इस पूर्वपक्ष की दलील का उत्तरपक्ष की ओर से जवाव दिया गया है कि उसके लिए भी प्रायश्चित्त हो सकता है। उसके लिए स्मृति मे प्रायश्चित्त वताया है कि तीन दिन एक समय भोजन करे, तीन दिन सिर्फ रात्रि का भोजन करे, तीन दिन पानी का उपवास और तीन दिन भिक्षा माँगकर खाये, इस तरह एक महीने मे १२ दिनो का प्रायश्चित्त करे और यह क्रम एक साल तक चलाये रखे। यह एक प्रकार का प्रायश्चित्त है।

दूसरे प्रकार का प्रायश्चित्त 'चाद्रायण-व्रत' का वतलाया है। पूर्णिमा के दिन सिर्फ १५ ग्रास ले, फिर कृष्णपक्ष यानी चद्र की कला के घटने के अनुपात मे रोज-रोज एक ग्रास कम करे और पुनः शुक्लपक्ष यानी अमावस्या के वाद पूर्णिमा तक एक-एक ग्रास वढाते जायँ। इस प्रकार एक महीना या और भी जितने महीने कर सकते है, उतने महीने उपर्युक्त क्रम से एक-एक ग्रास वढाना और कम करना। यह प्रायश्चित्त थोडा कडा, उपवास जैसा ही है।

जिस तरह अपने दोषो के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है, उसी तरह दूसरो के दोषो के लिए भी प्रायश्चित्त किया जा सकता है। उसमे विचार यह रहता है कि अपने निकट रहनेवाले व्यक्ति ने कुछ नैतिक दोष किया तो वह अपनी ही अपूर्णता समझकर उसे दूर करने के लिए यानी 'अपनी चित्तशुद्धि कम होने से पासवाले ने दोष किया' ऐसा समझकर चित्तशुद्धि के लिए, कुछ दिनो का उपवास किया जाय। साथ ही उस उपवास-काल मे वृत्ति को अतर्मुख कर परमात्म-स्मरण वढाकर चित्त के स्थूल-सूक्ष्म विकारो को दूर करने की कोशिश करे। ऐसे प्रायश्चित्त से अपनी और पासवाले समाज की उन्नति मे मदद हो सकती है।

गाधीजी ने अपनी चित्तशुद्धि और समाज की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करने के विचार को काफी वढावा दिया है। मान लीजिये, किसी दपती ने वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश कर ब्रह्मचर्य-जीवन शुरू किया। दोनो परस्पर को भाई-वहन समझने लगे। यह नियम चार-पाँच साल चला और वाद मे दोनो से ब्रह्मचर्य भग हो गया। इस दोष के लिए प्राय-

श्चित्त के तौर पर उपवास या अल्पाहार का व्रत हो सकता है।

इस तरह स्पष्ट है कि अपने से कुछ भी छोटा-मोटा नैतिक दोप हो जाय, तो फिर वह न होने पाये, इसके लिए प्रायश्चित्त लेने का शास्त्र का विचार समाज की उन्नति की दृष्टि से वहुत उपकारक है। भगवान् इस श्लोक मे वतला रहे है कि कुछ साधक अपने नैतिक दोपो के लिए 'नियताहारा' यानी आहार पर नियत्रण रखते है—कुछ दिनो के लिए आहार छोड देते है। अथवा कुछ दिनो तक या महीनो तक कम आहार पर रहते है। इस प्रकार 'नियताहारा' का दुहरा अर्थ है।

(२) इस तरह आहार पर नियत्रण रखकर **प्राणान् प्राणेषु जुह्वति**—सव इद्रियो को इद्रियो मे ही होम कर देते है, यानी सव इद्रियो को पूरी रीति से काबू मे रखकर अपने नैतिक दोषो को प्रायश्चित्त द्वारा जला देते है।

कुछ लोगो का यह भी कहना है कि 'हमसे जो दोप हो गये वे फिर से न हो, ऐसा हम निश्चय करते है तो प्रायश्चित्त की जरूरत नही। प्रायश्चित्त तो इसीलिए है कि जो दोप हो गये, वे फिर से न होने पाये।' इस कथन मे कोई तथ्य नही, ऐसी वात नही। लेकिन प्रायश्चित्त लेने मे पश्चात्ताप का भी सवध आता है। अपने दोषो के लिए जिन्हे तीव्र पश्चात्ताप हो गया है, उन्हे अपने को कुछ सजा देने की इच्छा हो ही जाती है। प्रायश्चित्त लेने मे दोपो के लिए सजा लेने का भी भाव रहता है। भविष्य मे दोप होने न पाये, ऐसा निश्चय और किये गये दोपो के लिए थोडी सजा भुगतना, यह दुहरा उद्देश्य प्रायश्चित्त लेने मे होता है। इसलिए अपने छोटे-वडे नैतिक दोपो के लिए छोटा-वडा प्रायश्चित्त लेने का शास्त्र का विचार सग्रहणीय है।

(३) तीसरी वात यह है कि इन सव विकर्मो की साधना करनेवाले साधक भी यज्ञ को जाननेवाले ही समझे जायँ। 'यज्ञ को जाननेवाले' का मतलव सिर्फ 'यज्ञ का ज्ञान रखनेवाले' नही है। यज्ञ क्या है, उसका स्वरूप क्या है, छोटे-वडे ये जो आतरिक विकर्म है वे यज्ञ ही है, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करके उन विकर्मो को अमल मे लाने की पूरी कोशिश करना, इतना सारा अर्थ अभिप्रेत है। सिर्फ जानने की कोई कीमत नही।

(४) चौथी वात है—**यज्ञक्षपितकल्मषा.**। यज्ञ से यानी आतरिक चित्तशुद्धि करनेवाले अनेक विकर्मो से जिनके दोप क्षीण हो गये है, ऐसे ये सव याज्ञिक है। २५वे से लेकर ३०वे तक के कुल मिलाकर छह श्लोको मे विनोवाजी के कथन के अनुसार सात विकर्म कहे गये है। लेकिन २८वे श्लोक मे जो पाँच विकर्म कहे है, उन्हे स्वतत्र गिने तो इन छह श्लोको मे कुल मिलाकर वारह विकर्म कहे गये है, ऐसा समझना चाहिए। २५वे श्लोक मे १. निर्गुण-भक्ति, २. सगुण-भक्ति, २६वे श्लोक मे ३ इद्रिय-निग्रह, ४ इद्रियो का सयम, २७वे श्लोक मे ५ ज्ञान-चितनयुक्त पातजल-समाधि, २८वे श्लोक मे ६ सपत्ति-दान, ७ कायिक वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का तप, ८ चित्त की समता, निर्विकारता-रूप योग, ९, स्वाध्याय, १० आत्मानात्मविवेकरूप ज्ञान, २९ वे श्लोक मे ११. प्राणायाम, ३०वे श्लोक मे १२ नैतिक दोपो को उपवास से जलाना। इस प्रकार छह श्लोको मे १२ विकर्म कहे गये है। इन विकर्मो की साधना करके चित्त के मल को धोनेवाले सव साधक ऐसे माने जायेगे जो यज्ञ को जाननेवाले है और यज्ञ से जिनके मनोमल धुल गये है।

अगले श्लोक मे इन विकर्मो की साधना का फल वताया है।

: ३१ :

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजः=अनेक प्रकार के विकर्मरूप यज्ञ करके जो शेष बचता है यानी जो चित्तशुद्धि होती है और उससे जो अमृतलाभ यानी आत्मज्ञान प्राप्त होता है उसे भुगतनेवाले पुरुष, **सनातन ब्रह्म**=सनातन ब्रह्म को यानी मोक्ष को, **यान्ति**=प्राप्त कर लेते है, **कुरुसत्तम**=हे कौरवो मे श्रेष्ठ अर्जुन, **अयज्ञस्य**=जो विकर्मरूप यज्ञ नही करते, उन पुरुषो को, **अय लोकः न अस्ति**=इहलोक मे सुख-शाति नही मिल सकती, **कुत. अन्यः**=फिर परलोक मे शाति कैसे मिल सकती है ?

इस श्लोक मे चार वाते वतायी है १. अनेक प्रकार के विकर्मरूप चित्तशुद्धिकारक यज्ञ करके जिन्होने पूर्ण रीति से अपनी चित्तशुद्धि कर ली है और आत्मज्ञान प्राप्त करके जो तृप्त हो गये है, २ वे सनातन ब्रह्म को यानी मोक्ष को प्राप्त कर लेते है। ३. जो इस प्रकार के चित्त शुद्ध करनेवाले विकर्मो को नही करते उन्हे इस लोक मे शाति प्राप्त नही होती, ४ उन्हे परलोक मे शाति कैसे मिल सकती है ?

(१) **यज्ञशिष्टामृतभुजः** । इसी प्रकार का वचन तीसरे अध्याय के १३वे श्लोक मे आया है **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो** और फिर है : **मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः** । 'यज्ञ' शब्द तीसरे अध्याय के १३वे श्लोक मे आया है, वह ९वे श्लोक से जो स्वधर्मरूप त्यागमय यज्ञ-प्रकरण शुरू हुआ है, उसके सिल-सिले मे है । वहाँ त्यागवृत्ति से स्वधर्म के आच-रण को 'यज्ञ' नाम दिया है । ऐसा यज्ञमय जीवन जो विताते है, वे समाज के लिए भाररूप न होकर आदर्शरूप हो जाते है और अनेक पापो से वच जाते है। लेकिन यहाँ जो 'यज्ञ'शब्द आया है वह आतरिक चित्तशुद्धिकारक अनेक प्रकार के विकर्मों के लिए आया है, जो २५ से लेकर ३०वे श्लोक तक वतलाये है। यानी तीसरे अध्याय के १३वे श्लोक मे कथित 'यज्ञ' वाहर का स्वधर्मरूप यज्ञ है, तो इस श्लोक का 'यज्ञ' आतरिक चित्तशुद्धि कारक यज्ञ है। मोक्ष प्राप्त करने की दृष्टि से जो उन विकर्मरूप यज्ञो का अनुष्ठान करते है, उन्हे इनसे चित्तशुद्धि प्राप्त होती है और उससे ज्ञानरूप अमृत प्राप्त होता है। ज्ञानरूप इस अमृत का भोजन कर जो तृप्त हो गये है, उन्हे क्या फल मिलता है, यह आगे वताया है।

इस **यज्ञशिष्टामृतभुज** शब्द मे तीन वाते वतायी है . १. विकर्मरूप यज्ञ से शेप यानी चित्तशुद्धि प्राप्त होती है, २ इस चित्तशुद्धि से आत्मज्ञानरूपी अमृतलाभ होता है और ३. इस आत्मज्ञानरूप अमृत-लाभ को भोगकर वे तृप्त हो जाते है, सतुष्ट हो जाते है।

(२) दूसरी चीज है इस ज्ञानरूप अमृत से जन्म-तृप्ति का फल . **यान्ति ब्रह्म सनातनम्** । जो सनातन ब्रह्म है, उसे ये (आत्मज्ञान से तृप्त हुए पुरुष) प्राप्त कर लेते है। शकराचार्य ने गीता-भाष्य के प्रारभ मे मोक्ष प्राप्त करने का एक क्रम वतलाया है · १ ईश्वरार्पण-वुद्धि से और फलाशा-त्यागपूर्वक सात्त्विक कर्म करना, २ इस प्रकार सात्त्विक कर्म करने से, चित्तशुद्धि की प्राप्ति और ३ चित्तशुद्धि से ज्ञान-प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त होना, ४ फिर ज्ञानप्राप्ति और ५ ज्ञान-प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त होना। यहाँ यही वात वतायी है १ विकर्मरूप यज्ञ से चित्तशुद्धि। २ चित्तशुद्धि से ज्ञानप्राप्ति। ३ ज्ञानप्राप्ति से अखड तृप्ति-शाति के आनद का अनुभव। ४ ज्ञानामृत से जो अखड शाति मिली, उससे ब्रह्म-प्राप्ति यानी मोक्ष।

(३, ४) तीसरी-चौथी वात यह है कि जो चित्तशुद्धि करनेवाले इस प्रकार आतरिक विकर्म की साधना नही करते, वे याज्ञिक नही है **नायं लोकोऽस्ति अयज्ञस्य** । वे अयाज्ञिक है, यज्ञहीन है। जो चित्तशुद्धि करनेवाले आतरिक विकर्म नही करते

है ऐसे यज्ञहीन पुरुष इस लोक मे रहते तो है, मगर जीवित रहने का लाभ उन्हे नही मिल पाता। क्योकि जब तक चित्त मे काम, क्रोध, अभिमान आदि विकार मौजूद है, शाति नही मिल सकती और शाति के बिना सुख का अनुभव नही आता। इस तरह यज्ञहीन पुरुष को इस लोक मे भी शाति नही। फिर परलोक यानी अगले जन्म मे शाति और सुख कहाँ से मिलेगा ?

: ३२ :

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

एव बहुविधा यज्ञा=इस तरह अनेक प्रकार के विकर्म-रूप यज्ञ, **ब्रह्मणः मुखे**=ब्रह्म-मुख मे यानी वेदशास्त्र मे, **वितता**=विस्तार से वर्णित है, **तान् सर्वान्**=उन सब विकर्मरूप यज्ञो को, **कर्मजान् विद्धि**=कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मो से पैदा हुए है, ऐसा समझो, **एव ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**=ऐसा समझकर तुम ससार-बधन से मुक्त हो जाओगे।

इस श्लोक मे चार बाते है १ इस प्रकार अनेक प्रकार के विकर्मरूप यज्ञ, २ वेदशास्त्र मे कहे हुए है। ३ ये सब विकर्मरूप यज्ञ कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मो मे से पैदा हुए है, ऐसा समझो। ४ इस प्रकार जानने से ससार-बधन से मुक्त हो सकोगे।

(१) **एव बहुविधा यज्ञाः**। इस श्लोक मे विकर्मरूप यज्ञ-प्रकरण समाप्त हो रहा है। २५ से ३२ तक आठ श्लोको मे जो विकर्मरूप यज्ञ कहे गये हैं, उन्हे उदाहरण या नमूने के रूप मे ही समझना चाहिए। जिन कायिक, वाचिक, मान-सिक कर्मो से चित्त-शुद्धि होती हो, उन सबको विकर्मरूप यज्ञ समझना चाहिए। ऐसे अनेक विकर्मरूप यज्ञ है जिनसे मानसिक निर्विकारता प्राप्त हो सकती है। इन बारह यज्ञो मे जप-

यज्ञ नही बतलाया है। फिर भी स्वाध्याय-यज्ञ बत-लाया है तो स्वाध्याय-यज्ञ मे जप-यज्ञ का समावेश मान सकते है। लेकिन कुछ लोग स्वाध्याय मे रुचि न रखकर जप-यज्ञ मे रुचि रखते है। कितनो को नाम-स्मरण मे बहुत आनद आता है। कितनो को सिर्फ सत्सग मे चित्तशुद्धि का अनुभव आता है तो कितनो को सिर्फ सत्कर्म करने मे चित्त-शुद्धि का अनुभव होता है। इसमे भी मन की भूमिका के अनुसार फर्क होता रहता है। आज जो विकर्म चित्तशुद्धि करनेवाला मालूम देता है, एक साल बाद वह सहज हो जाने से दूसरे विकर्मो की जरूरत महसूस होने लगती है। कभी-कभी यह भी अनुभव आता है कि पहले किसी एक अच्छे पुरुष पर श्रद्धा पैदा होती है। इससे उसके सहवास मे चित्तशुद्धि की दृष्टि से शुरू मे काफी लाभ भी महसूस होता है। लेकिन बाद मे उस भले पुरुष की योग्यता कम प्रतीत होने या कुछ दोष दिखाई देने पर दूसरे आदमी के सहवास मे रहने की इच्छा हो जाती है। फिर उस दूसरे आदमी के सहवास मे चित्तशुद्धि का ज्यादा अनुभव होने लगता है। इस तरह चित्तशुद्धि के लिए जो भी पुरुष, जो भी चीज उपयोगी साबित हो, उन सबका विकर्मरूपी यज्ञ मे समावेश होने से भगवान् ने यहाँ विकर्म का व्यापक अर्थ किया है।

(२) दूसरी बात है **वितता ब्रह्मणो मुखे**। इस प्रकार के विकर्मरूपी अनेक यज्ञ वेद मे है। यहाँ **ब्रह्मणः मुखे** जो शब्द है, उसका शब्दश अनुवाद 'ब्रह्म के मुख मे' है,। 'ब्रह्म के मुख मे' का अर्थ प्राय सभी टीकाकारो ने 'वेद-शास्त्र मे' किया है। विनोबाजी, शकराचार्य और गाधीजी ने यही अर्थ लिया है। लोकमान्य तिलक ने यह अर्थ न लेकर 'ब्रह्म के मुख मे' ऐसा अनुवाद करके वैसे ही छोड दिया है। वेद ऋषि-प्रणीत है। ब्रह्म के नि श्वास से निकले है। इसलिए वेद-ग्रथ परिपूर्ण है, ऐसा माना जाता है। वेद से ही उपनिषदे निकली है।

मगर यहाँ 'ब्रह्मणो मुखे' का अर्थ सिर्फ 'वेद' ही लिया जाय तो वह बहुत संकुचित और साम्प्रदायिक भी हो जायगा। गीता को इस तरह साम्प्रदायिक बनाने के बजाय सम्प्रदायरहित रखा जाय तो अच्छा। इस दृष्टि से **ब्रह्मणः मुखे** का अर्थ वेद-शास्त्र के बजाय सिर्फ 'शास्त्र' भी कर सकते है और इस तरह व्यापक अर्थ लेने से वह अर्थ बैठ भी जाता है। जैनशास्त्रो मे भी चित्तशुद्धि के लिए अनेक प्रकार के साधन बताये है, वे सब ले सकते है। और भी सम्प्रदायो के शास्त्र ले सकते है। इस तरह अनेक शास्त्रो मे अनेक प्रकार के चित्त-शुद्धिकारक विकर्मरूप यज्ञ कहे गये है।

ब्रह्मण. मुखे का इससे भी व्यापक अर्थ 'परमात्मा के मुख मे' यानी 'परमात्मा की सृष्टि मे' किया जा सकता है। परमात्मा की सृष्टि मे चित्तशुद्धि करनेवाले अनेक प्रकार के विकर्म 'वितता' यानी चल रहे है, ऐसा उसका अर्थ होगा। 'वितता' का 'कहे गये है' यह अर्थ भी ठीक नही। उसका अर्थ है 'विस्तृत हुए है' यानी व्यापक परिमाण मे ब्रह्म की सृष्टि मे अनेक प्रकार के विकर्म चल रहे है।

(३) तीसरी बात है **कर्मजान् विद्धि तान्-सर्वान्**। ये सब विकर्म कर्म से निकले है यानी निष्क्रियता या कुछ न करने से नही निकले, बल्कि कुछ करने से निकले है। चित्तशुद्धि के लिए जो अनेक विकर्म बतलाये गये है, वे क्रिया से, क्रिया करने से निकले है। वे सब विकर्म प्रयत्न के साथ संबध रखते है। प्राचीन काल मे आध्यात्मिक साधना मे निष्क्रियता यानी कुछ न करने को बहुत महत्त्व दिया गया था। आज भी वह सस्कार जनता मे मौजूद है। समाज-सेवा करनेवाला या चरखा चलानेवाला 'साधु' नही माना जाता। 'साधु के लक्षण जिसमे दिखाई देते है, वह साधु', यह व्याख्या आज भी समाज मे उतनी रूढ़ नही है। बाह्य वेष से यानी दाढी, जटा, बाल बढाये हो, लुगी पहनी हो, भगवे वस्त्र धारण किये हो, मौन धारण किया हो और चुपचाप बैठा हो, गीता या उपनिषद् या और कोई धार्मिक ग्रथ पर प्रवचन करने की थोडी शक्ति हो तो उसे साधु-पुरुष, सिद्ध-पुरुष मानने की वृत्ति आज भी समाज मे पायी जाती है। इसीलिए गीता मे इस श्लोक मे और जगह-जगह पर प्रवृत्ति पर जोर दिया है। अर्जुन भी तो सन्यास की भाषा बोल रहा था।

विनोबाजी लिखते है कि "विकर्म भी कर्म का ही एक प्रकार है, यह समझकर स्वधर्माचरण-रूप मूल कर्म छोडकर उसके बदले मे इन विकर्मो को आचरण मे नही लाना है। ये विकर्म स्वधर्माचरण की पूर्ति करनेवाले है। स्वधर्म-पालन करते हुए ही विकर्मो को आचरण मे लाना है। साथ ही श्लोक के इस चरण मे यह भी संकेत है कि सिर्फ स्थूल स्वधर्म को ही सर्वस्व माननेवाले लोगो को यह खयाल रखना चाहिए कि विकर्म भी आवश्यक कर्म है। इन विकर्मो के लिए जो भी प्रयत्न किया जाय, वह स्वधर्माचरण के लिए बहुत उपयोगी है।"

(४) चौथी बात है . **एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे**। ये सब विकर्म कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मो से निकले है। लेकिन 'मै इन विकर्मो से बिलकुल अलग हूँ, इन विकर्मो का भी मै कर्ता नही हूँ, मै अकर्ता हूँ, ज्ञाता आत्मा हूँ' इस प्रकार अकर्तापन के अनुभव से स्वधर्माचरणरूप कर्म के साथ विकर्मो की साधना की जाय तो यह अनुभव-स्वरूप अकर्तापन मोक्ष प्राप्त करा देने मे समर्थ है, यानी ससार-बंधन से छुडा सकता है। जिस तरह स्वधर्माचरण मे फल की आसक्ति छोडकर अनासक्त रहने का अभ्यास करना पडता है, वैसे ही आतरिक चित्तशुद्धि के लिए विकर्मो की साधना मे भी अनासक्त रहने का अभ्यास करके अकर्तापन का अनुभव करते रहना चाहिए। ऐसा करने पर इनसे मोक्ष मिल सकता है।

: ३३ :

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ. परतप ।
सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

परतप=हे अर्जुन, **द्रव्यमयात् यज्ञात्**=द्रव्यमय यानी फलासक्तिपूर्वक किये गये विकर्मरूप यज्ञो मे, **ज्ञानयज्ञः**=परमात्म-स्वरूप ज्ञान प्राप्त होना, यह जो यज्ञ है, **श्रेयान्**=अधिक श्रेयस्कर है, **पार्थ सर्व अखिल कर्म**=हे अर्जुन, सबके सब कर्म, **ज्ञाने परिसमाप्यते**=मोक्षसाधनरूप ज्ञान मे, परमात्म-स्वरूप ज्ञान मे समाप्त हो जाते है यानी अतर्भूत जाते है।

इस श्लोक मे भगवान् ने दो बाते बतायी है १ द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। २. सब कर्मो का अतिम फल परमात्म-स्वरूप का ज्ञान है।

(१) **श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परतप** । २८वे श्लोक मे 'द्रव्य-यज्ञ' शब्द है, वही यहाँ 'द्रव्यमय' शब्द से प्रयुक्त किया गया है। द्रव्यमय यानी जिसमे फल की आशा, तृष्णा और आसक्ति है। २५वे से ३०वे श्लोक तक जितने विकर्मरूपी यज्ञ बताये है, वे सब फल की आसक्ति छोडकर भी किये जा सकते है और रखकर भी। फल की आसक्ति रखकर किये जायँ तो मोक्ष नही मिलेगा, क्योकि फलासक्ति से पूरी चित्तशुद्धि नही हो पाती। चित्तशुद्धि की अपूर्णता मे परमात्म-ज्ञान नही होता। इसलिए भगवान् यहाँ चेतावनी देते है कि विकर्मरूपी यज्ञ चित्तशुद्धि अवश्य करेगे, मगर उनकी साधना करने मे यदि फल की वासना-आकाक्षा रही तो चित्तशुद्धि मे कमी आयेगी। दूध चाहे जितना अच्छा हो, मगर गरम करते समय यदि उसमे थोडी-सी भी खटाई पड जाय तो वह फट ही जाता है। इसी तरह जितने भी विकर्म है, उनमे अहकार रहा तो फल की आसक्ति रहेगी ही। इसलिए विकर्मो की साधना करने मे अहकार को क्षीण करने का लक्ष्य रहना चाहिए।

परमेश्वरार्पण-बुद्धि का विकर्म तो बहुत श्रेष्ठ विकर्म है, मगर उसमे भी अहकार यानी उसका भान रह सकता है। परमेश्वरार्पण-बुद्धि से सब कर्म करने का अभ्यास ऊँची चीज होते हुए भी उसके पीछे अस्मिता यानी अहकार रह सकता है। समाधि जैसी ऊँची भूमिका प्राप्त होने पर भी उसका अभिमान रह सकता है और पाया भी जाता है। अहकार का अर्थ है, जीवभाव। यह अतिप्रबल वृत्ति है। यदि इसे क्षीण करने मे सफल रहे तो बेडा पार समझना चाहिए। इसलिए अहकारपूर्वक किये जानेवाले विकर्मो की अपेक्षा अहकार छोड फलासक्ति का त्यागकर किये जानेवाले विकर्म सबसे श्रेष्ठ है, यह भगवान् पहले चरण मे कह रहे है।

(२) दूसरी बात यह कि हम जितने भी छोटे-बडे कर्म करते है, सबका अतिम पर्यवसान परमात्म-ज्ञान मे होना चाहिए। जीवन का अतिम फल परमात्म-ज्ञान की प्राप्ति होना चाहिए। पशु-देह और मनुष्य-देह मे यही फर्क है। पशु-देह मे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति नही है। इसलिए पशु-पक्षी योनियो को 'मूढ-योनि' कहते है। नर-देह मे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है। परमात्मा ने अपनी माया-शक्ति से जो सृष्टि रची है, उसका ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति भी हमे दी है। इसलिए सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थो की छानबीन कर हम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर सकते है। सृष्टि मे अनत शक्ति है, इसलिए उस शक्ति के ज्ञान का दुरुपयोग भी कर सकते है। जिस तरह आज का विज्ञान सृष्टि के पदार्थो की खोजकर उनका विश्लेषण करके विनाश के ज्ञान को प्राप्त कर रहा है और उस ज्ञान का विनाश के लिए उपयोग करने मे हम प्रवृत्त भी हो रहे है। नरदेह मे जो ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है, उसका यह अतिदुरुपयोग है। विज्ञान का उपयोग आपस मे सघर्ष बढ़ाने के बजाय प्रेम बढाने मे हो, तभी

वह सदुपयोग माना जायगा। यह तभी हो सकता है जब यह पहचाना जाय कि नर-देह मे जो ज्ञान-शक्ति है, उसका उपयोग चित्तशुद्धि करके आत्म-ज्ञान प्राप्त करने मे ही हो। समाज के सामने अतिम लक्ष्य परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना होना चाहिए। तभी आपसी सघर्ष टलकर सारा समाज अहिसा के मार्ग पर रहते हुए धीरे-धीरे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की दिशा मे बढ सकता है।

केनोपनिषद् मे यही बात बडे मार्मिक ढग मे कही गयी है ·

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
> न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (२५)

अर्थात्—इस मनुष्यदेह मे यदि परमात्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो इसका सदुपयोग समझना चाहिए। 'सत्य अस्ति' यानी सत्य-पालन किया। मतलब, नरदेह का मिलना सार्थक हो गया। लेकिन नरदेह प्राप्त होने पर भी परमात्म-ज्ञान प्राप्त न किया तो बहुत नुकसान है यानी सारा मनुष्य-जीवन बरबाद हो गया, यही समझना चाहिए। धीर पुरुष, सृष्टि का हरएक पदार्थ परमात्मा है, ऐसा अनुभव कर इस लोक से देह छूटने के बाद मोक्ष पा जाते है।

: ३४ :

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

तत्=वह परमात्म-ज्ञान, **प्रणिपातेन**=साष्टाग नमस्कार करके यानी अत्यत विनम्र होकर, **परिप्रश्नेन**=बध-मोक्ष, ज्ञान-अज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग आदि के बारे मे अनेक प्रश्न पूछकर, **सेवया विद्धि**=गुरुजनो की सेवा करके प्राप्त कर लो, **तत्त्वदर्शिनः**=जिन्होने परमात्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष, **ते ज्ञान**=तुम्हें परमात्म-ज्ञान के बारे मे, **उपदेक्ष्यन्ति**=उपदेश देगे, परमात्मा की पहचान करायेगे।

यह श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक मे चार बाते है १ आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अतिविनम्र बनो और २ इस विषय मे जिज्ञासा मे बध, मोक्ष आदि के बारे मे प्रश्न पूछो। ३ जिस आत्मानुभवी पुरुष के बारे मे मन मे श्रद्धा पैदा हुई हो, उसकी सेवा करो, ४ तो जो आत्मानुभवी पुरुष है वे तुम्हे परमात्म-ज्ञान का उपदेश करेगे, यानी परमात्मा का अनुभव करायेगे।

(१) **तद्विद्धि प्रणिपातेन।** परमात्म-स्वरूप के ज्ञान मे ही सब कर्मो का अंतिम पर्यवसान होता है, यह पिछले श्लोक मे भगवान् ने बतलाया। अब वह परमात्म-ज्ञान किस तरह प्राप्त हो सकता है, यह भगवान् इस श्लोक मे बता रहे है। पहला उपाय बताया कि जिसे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना है, उसमे बहुत विनम्रता होनी चाहिए। मन मे ऐसा थोडा-सा भी भाव रहा कि मुझे कुछ ज्ञान है तो वृत्ति मे उतनी नम्रता नही रह सकेगी। इसके अलावा जिनमे अभिमान पहले से ही ज्यादा रहता है, उनका भी नम्र बनना मुश्किल हो जाता है।

नम्रता का मतलब है निरभिमानता। परमात्म-ज्ञान प्राप्त होता है तब तो अहकार बिलकुल गल जाता है, शून्य बन जाता है। इसलिए जहाँ अत मे परम-शून्यता को पहुँचना है, वहाँ शुरू से ही उस शून्यता की वृत्ति मन मे रहनी चाहिए। दूसरे अध्याय के सातवे श्लोक मे, अतिम चरण मे बताया है अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि मैं आपकी शरण आया हूँ। आपका शिष्य हूँ। मेरा, शोक-मोह दूर हो सके, इस प्रकार आत्म-ज्ञान कराइये। वृत्ति मे यदि नम्रता पैदा न हुई हो तो ज्ञान ग्रहण करने की क्षमता, पात्रता, मन मे नही रह सकती। जहाँ अपने अज्ञान का भान हो गया है, वहाँ वृत्ति मे फौरन नम्रता आती है। अर्जुन के मन मे इसलिए नम्रता पैदा हुई कि उसके मन मे शोक-मोह से परेशानियाँ हो रही थी।

जीवन मे जब तक विषम प्रसग नही आता, चित्त व्याकुल बनने का प्रसग नही आता, तब तक आदमी परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की तरफ नही झुकता। पाया गया है कि बहुत-से विद्वान् व्यक्ति, जो लोगो के नेता भी बन चुके है, जब सकट मे पडते है, उनकी प्रतिष्ठा टूटने का प्रसग आता है, तब उनका चित्त अतिव्याकुल हो जाता है। किसी भी तरह उन्हे शाति नही मिलती। ऐसे प्रसग मे चित्त की व्याकुलता दूर करने की दृष्टि से परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा पैदा होती है और उस व्याकुलता से चित्त मे नम्रता पैदा होती है। वह पुरुष अपनी विद्वत्ता भूलकर विद्वत्ता आदि की दृष्टि से जिस पुरुष की योग्यता अपने से कम हो, लेकिन जो साधक या मुमुक्षु-दशा मे हो और उसमे जिसने ठीक-ठीक प्रगति की हो, उसके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने को तैयार हो जाता है। अर्थात् उसके मन मे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक नम्रता पैदा हो जाती है। तो, भगवान् कह रहे है कि परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए अतिनम्र बनना चाहिए। नम्रता का बाहर का चिह्न साष्टाग नमस्कार या चरण-स्पर्श करना है, इसलिए भगवान् ने यह स्थूल चीज ही यहाँ बतलायी है।

(२) दूसरी चीज है **परिप्रश्नेन**। नम्रता की तरह ही दर्शन के बारे मे भी अनेक प्रश्न पूछना जरूरी है। अधिकारी पुरुष साधक या मुमुक्षु की भूमिका देखकर उपदेश देते है और साधक की भूमिका उसके प्रश्न मे मालूम होती है। जिसे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना है उसमे नम्रता, जिज्ञासा और सेवा, ये तीन चीजे होनी चाहिए। तीनो के साथ श्रद्धा, तत्परता और इद्रिय-सयम ये भी तीन चीजे उसमे होनी चाहिए, ऐसा इसी अध्याय के ४०वे श्लोक मे बताया है। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य के पहले अध्याय के पहले पाद के पहले सूत्र मे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' के लिए छह प्रकार की साधन-सपत्ति बतायी है, वैसे ही इस श्लोक और ४०वे श्लोक मे मिलाकर छह प्रकार की साधन-सपत्ति बतायी है।

इस श्लोक मे दूसरी चीज 'जिज्ञासा' बतायी है। जिनके पास हम परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाते है, उनके प्रति यदि पूरी श्रद्धा न हो तो पूरा लाभ नही होता। श्रद्धा बहुत महत्त्व की वस्तु है। इसीलिए ४०वे श्लोक मे इसकी आवश्यकता के बारे मे कहा गया है। वह श्रद्धा होने पर जिनके पास विनम्र बनकर जायँगे और उनसे जो प्रश्न पूछेगे, उसमे सच्ची जिज्ञासा होगी। इसलिए नम्रता और जिज्ञासा के मूल मे जिस व्यक्ति से परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहते है, उसके प्रति श्रद्धा जरूरी है।

हम गुरु से प्रश्न पूछते है तो पूरे अज्ञानी की तरह पूछने चाहिए। हमे भी कुछ ज्ञान है, ऐसा खयाल मन मे न रहे। भरद्वाज मुनि के आश्रम मे याज्ञवल्क्य ऋषि गये, तो भरद्वाज मुनि ने उनका बडा आदर-सत्कार करके उन्हे बैठाया और अज्ञानी की तरह रामचन्द्रजी के बारे मे बडी जिज्ञासा से प्रश्न पूछा। तब याज्ञवल्क्य ऋषि ने जो जवाब दिया, उसका वर्णन सत तुलसी-दासजी इस तरह करते है

जागवलिक बोले मुसुकाई।
तुम्हहि विदित रघुपति प्रभुताई ॥
रामभगत तुम मन क्रम बानी।
चतुराई तुम्हारि मैं जानी ॥

—"भरद्वाज मुनि के प्रश्न सुनकर याज्ञवल्क्य ऋषि हँसकर बोले कि रघुपति के प्रभाव यानी चरित्र को तुम भी जानते हो, क्योकि काया-वाचा-मन से तुम रामचन्द्रजी के भक्त हो। मगर प्रश्न पूछने से तुम्हारी चतुराई समझ गया हूँ।"

चाहहु सुनहिं रामगुन गूढा।
कीन्हहुँ प्रश्न मनहुँ अतिमूढा ॥

—"तुम्हारी चतुराई यह है कि राम के गूढ गुण सुनने की तुम्हारी प्रबल इच्छा होने से अज्ञानी की तरह मुझसे प्रश्न पूछ रहे हो।"

हमारी स्थिति भी भरद्वाज की तरह होनी चाहिए। एक बात यह भी ध्यान मे रखनी चाहिए कि प्रश्न पूछने पर यदि उस समय हमारा समाधान न हुआ, तो कुछ दिनो के बाद फिर से वही प्रश्न पूछने मे कभी हिचकिचाहट या सकोच न होना चाहिए। गाधीजी ने एक पत्र मे लिखा था कि 'बार-बार प्रश्न करते रहने मे जो सकोच करेगा, वह खोयेगा।' गाधीजी हमेशा कहा करते कि 'मुझे हर क्षण ईश्वर का स्मरण है।' मेरे ध्यान मे यह बात ठीक से नही आयी। मैंने उनसे कई बार पूछा और उन्होने उसका जवाब भी दिया, मगर मुझे पूरा सतोष नही हुआ। अत मे गाधीजी जब १९३२ मे यरवदा-जल मे थे तब फिर से वही प्रश्न पूछा। उसका जो जवाब उन्होने दिया, उससे मेरा पूरा समाधान हो गया। फिर कभी मैने वह प्रश्न नही पूछा। इसलिए अधिकारी पुरुषो से बार-बार प्रश्न पूछने मे सकोच न रखना चाहिए। जब तक पूरा समाधान नही होता, नि सकोच प्रश्न पूछते रहना चाहिए। तुलसीदासजी लिखते है कि भरद्वाज मुनि कहते है

संत कर्हाहि अस नीति प्रभु, श्रुति पुरान मुनि गाव।
होइ न विमल विवेक उर, गुरुसन किये दुराव॥

—"गुरु से कोई भी चीज छिपा रखने पर हृदय मे शुद्ध विवेक प्रकट नही होता, ऐसा सत कहते है। श्रुति, पुराण और मुनिजन भी ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं।"

(३) तीसरी बात बता रहे है **सेवया**। जिस पुरुष के प्रति श्रद्धा है, उसकी बाह्य सेवा करने की इच्छा होना स्वाभाविक ही है। शरीर दुर्बल हो और प्रत्यक्ष शरीर-सेवा न हो सके तो द्रव्य आदि अर्पण करके अपना सेवाभाव प्रकट करने की इच्छा होती है। जिस पुरुष के बारे मे श्रद्धा पैदा हो जाय, उसके कथनानुसार चलना, उसकी आज्ञा मे रहना, उसके विचार के अनुसार जीवन बनाना, उसे अपना जीवन अर्पित कर देना, यह श्रद्धा का स्वाभाविक परिणाम है। यही उस श्रद्धेय पुरुष की सच्ची सेवा मानी जायगी। आत्मज्ञान का अर्थ है अहकार को शून्य करना। इसके लिए सब तरह से कोशिश करनी चाहिए। बाह्य-सेवा भी अपने को शून्य बनाने का एक उपाय हैं। इसमे एक बात यह ध्यान मे रखनी चाहिए कि मान लीजिये, किसी सत पर दस साधको की श्रद्धा जब बैठ जाती है, तो हरएक साधक उस सत पुरुष की शारीरिक सेवा करने लग जाय, यह हो नही सकता। एक सत पुरुष की निजी शारीरिक सेवा तो एक या दो साधक ही कर सकते है। ऐसी स्थिति मे साधक जागृत नही रहते, तो सत के प्रति भक्ति आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। सत पुरुष की भक्ति मोक्ष देनेवाली साबित होगी, मगर उसकी आसक्ति दु ख, ईर्ष्या, मत्सर आदि विकार ही पैदा करेगी। इस प्रकार की सत-भक्ति के दुष्परिणाम भी देखने मे आते है।

फिर शिष्यो मे यह वृत्ति पैदा होने लगती है कि दूसरे शिष्यो पर गुरुदेव का ज्यादा प्रेम है। इस तरह उस गुरु के पास से ज्ञान पाने के बजाय अज्ञान को बढावा देने मे अनजान मे शिष्य प्रवृत्त होते है और आध्यात्मिक दृष्टि से अपना नुकसान कर लेते है। इसलिए ऐसे सत की व्यक्तिगत सेवा का बिलकुल आग्रह न रखकर सारा ध्यान इसी पर रखना चाहिए कि उससे परमात्म-ज्ञान किस तरह प्राप्त हो। उस सत को जिससे सेवा लेनी हो ले, ऐसी अनाग्रह और तटस्थ-वृत्ति मन मे रखनी चाहिए। वह सत बारी-बारी से सब साधको से व्यक्तिगत सेवा लेगा अथवा शिष्यो की योग्यता देखकर अपनी व्यक्तिगत सेवा के बजाय सार्वजनिक सेवा मे उन्हे नियुक्त करेगा। जो हो, सत पुरुष की भक्ति आसक्ति का रूप धारण न करे,

यह महत्त्व की वात ध्यान मे रखकर साधक को चलना चाहिए ।

प्राचीन जमाने मे गुरु की सेवा का महत्त्व वहुत ज्यादा था । मुण्डक उपनिषद् मे एक श्लोक है

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणि श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(१२१२)

अर्थात्—अनेक कर्मो मे आसक्त लोगो को देख अथवा धर्म-अधर्म के पालन के फलस्वरूप मिलनेवाले स्वर्ग आदि लोको का परीक्षण कर ब्राह्मण यानी साधक मुमुक्षु को वैराग्य प्राप्त करना चाहिए । स्वर्ग आदि लोक पाने या नाना प्रकार के आसक्ति-युक्त कर्म करने मे मोक्ष नही मिलता । परमात्म-ज्ञान पाने के लिए उस साधक को हाथ मे समिधा लेकर शम-दम आदि गुणो से सपन्न, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए ।

इस श्लोक मे 'समिधा लेकर' ऐसा जो जिक्र है, वह सेवा और नम्रता की वाह्य निशानी के रूप मे है । उस जमाने मे जगल वहुत थे । इसलिए जगल काटना समाज की वडी सेवा गिनी जाती थी । गुरु के आश्रम मे रहकर साधक नम्रता से गुरु की सेवा करके ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करते थे ।

(४) चौथी वात है **उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिन तत्त्वदर्शिन.** । तीन प्रकार की साधन-सपत्ति लेकर जब अधिकारी सत पुरुष के पास ज्ञान प्राप्त करने जाते है तो तत्त्वदर्शी ज्ञानी उसे परमात्म-ज्ञान प्राप्त करा देते है । शकराचार्य ने इस श्लोक के भाष्य मे वडा ही मार्मिक वचन लिखा है । वे लिखते है **ये सम्यग्दर्शिन तै· उपदिष्ट ज्ञान कार्यक्षम भवति, न इतरत् इति भगवत मतम्** । अर्थात्—जो सम्यग्दर्शी है, जिन्होने परमात्म-स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लिया है, उन्हीके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान कार्यक्षम होता है । जिन्होने परमात्म-स्वरूप का अनुभव न किया हो, ऐसे पुरुष द्वारा उपदिष्ट ज्ञान कार्यक्षम नही होता यानी आचरण मे नही आ सकता ।

ध्यान रहे कि आजकल के विज्ञान के जमाने मे यह वात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । आज आचरण-शून्य विद्वान् को भी वहुत महत्त्व दिया जाता है । गाँजा-हुक्का पीनेवाले सत समझे जाते है । उनका भी शिष्य-समुदाय रहता है । एक अवसर पर एक पडित आदमी मेरे पास आकर कहने लगे "मै किसीको भी आत्मज्ञान करा सकता हूँ । आपको भी करा सकता हूँ ।" मैने कहा "अच्छा, मुझे कराइयेगा ।" उन्होने कुछ दर्शन की वाते कहनी शुरु कर दी, जिन्हे मै स्वय जानता था । पद्रह मिनट वाद वीच मे रुककर मुझसे कहने लगे "भावे साहव, माफ कीजियेगा, मुझे सिगरेट पीने की इच्छा हो गयी है, पी आता हूँ ।" मैने कहा "पी आइये ।" सिगरेट पीकर उन्होने फिर से मुझे आत्मज्ञान कराने के लिए दर्शन की वाते चालू की । वात पूरी होने के वाद मैने उनसे आहिस्ता से पूछा "आप जव सवको आत्मज्ञान कराते है तो ब्रह्मचर्य का पालन करते ही होगे ।" उन्होने जवाव दिया "नही जी, ब्रह्मचर्य-पालन वहुत कठिन चीज है ।" उनकी पत्नी उनके साथ ही थी । वे उनकी तरफ इशारा करते हुए वोले "ब्रह्मचर्य-पालन कितना कठिन है, यह इन्हीसे पूछिये ।" तो इस तरह आचरणशून्य पुरुष भी समाज मे आज ज्ञानी कहलाने लगते है ।

शकराचार्य यहाँ स्पष्टरूप से कह रहे है कि जिन्होने परमात्म-स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लिया है, वे ही आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के अधिकारी है । जिन्होने परमात्म-स्वरूप का थोडा-सा भी अनुभव न लिया हो, वे चाहे जैसे विद्वान् हो, दर्शन के ज्ञाता हो, आत्मज्ञान का उपदेश करने के लायक नही । मान लीजिये, ऐसे

पुरुप मे दर्शन की कुछ वाते सुन भी ली, वे वुद्धि तक भी पहुँची, पर उसके आगे वे हृदय मे प्रवेश कर आचरण मे न आ सकेगी। जिन्होने वैराग्य प्राप्त कर लिया है, परमात्म-भक्ति जिनके हृदय मे निवास करती है, जिन्होने दसो इद्रियो पर काबू पा लिया है, खान-पान मे जो अतिसयमी, सेवापरायण है, जिनका जीवभाव क्षीण हो गया है, जिन्होने अहकार शून्य कर लिया है, जो मित-भापी और वडे विनम्र है, ऐसे पुरुप विद्वान् न हो तो भी आत्मज्ञान का उपदेश करने के अधिकारी समझे जायेंगे। ऐसे अनुभवी, ज्ञानी पुरुष ज्ञान का उपदेश करेगे, ऐसा अर्जुन को निमित्त वनाकर भगवान् सवके लिए कह रहे है।

: ३५ :

'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

पाडव यत् ज्ञात्वा=हे अर्जुन, जिस परमात्म-स्वरूप को जानने से, पुन' एव मोह=फिर से ऐसे मोह मे, न यास्यसि=तू फँसेगा नही, येन=जिस परमात्म-स्वरूप के ज्ञान मे, अशेषेण भूतानि=नि शेप यानी सव भूतमात्र, आत्मनि=प्रत्यगा मा मे यानी अपने मे, द्रक्ष्यसि=तू देखेगा, अथो मयि=फिर मुझमे सव भूतो को (देखेगा)।

इस श्लोक मे तीन वाते कही है १ परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से, तुम्हे जिस तरह अभी मोह पैदा हुआ, वह फिर से पैदा नही हो सकेगा। २ परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से अपने शरीर मे स्थित प्रत्यगात्मा मे सव भूतो को तू देखेगा और ३ परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से परमात्मा मे सव भूतो को देखेगा।

(१) इस श्लोक के पहले चरण मे भगवान् अर्जुन से कह रहे है कि गुरु के पास जाकर परमात्म-स्वरूप का जो ज्ञान होगा उससे **यज्ज्ञात्वा न पुन. मोहं एवं यास्यसि पाडव**—तुम्हे फिर कभी ऐसा मोह नही होगा। मोह का प्रसग पहले अध्याय मे वर्णित है। 'मेरा मोह-नाश हो गया' ऐसा अर्जुन ने गीता के १८वे अध्याय के ७३वे श्लोक मे कह दिया है।

गीता के ११वे अध्याय के पहले श्लोक मे अर्जुन ने कहा कि मुझे जो आपने आत्मज्ञान का उपदेश दिया, उससे मेरा मोह नष्ट हो गया। इसका यह अर्थ नही कि मोह सदा के लिए निर्मूल या निर्वीज हो गया। अर्जुन को जिस मोह ने घेर लिया था, वह जडमूल से नहीं गया। यदि जड-मूल से गया होता तो ११वे अध्याय मे ही गीता समाप्त हो जाती। लेकिन १८वे अध्याय तक भगवान् को उपदेश करना पडा। ११वे अध्याय के पहले श्लोक मे मेरा मोह नष्ट हो गया, ऐसा अर्जुन नही कह रहा है। वह कह रहा है कि मेरा मोह तात्कालिक रूप से चला गया। यानी १०वे अध्याय के अत तक भगवान् ने जो उपदेश दिया, उसका परिणाम इतना हुआ कि मोह का प्रचड वेग शात हो गया। १८वे अध्याय के अत मे 'पूरा मोह नष्ट हो गया', यह अर्जुन स्वय ही कह रहा है। परमात्म-स्वरूप के ज्ञान के विना मोह नष्ट नही होगा, यह समझकर भगवान् ने अर्जुन को तत्त्वज्ञान के सभी पहलुओ की ठीक-ठीक जान-कारी कराकर परमात्म-स्वरूप की पहचान करा दी। इससे उसका मोह सदा के लिए नष्ट हो गया। इसी अभिप्राय से भगवान् इस श्लोक मे अर्जुन से कह रहे है कि गुरु के पास से जो परमात्म-स्वरूप की पहचान होगी, उससे पुन मोह पैदा नही होगा। ईशावास्य-उपनिषद् का सातवाँ श्लोक इस प्रकार है

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत।
तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत॥

अर्थात्—'जिस ज्ञानावस्था मे ज्ञानी पुरुप के लिए प्राणीमात्र परमात्ममय हो गये, उस अवस्था मे एकत्व को यानी सिर्फ परमात्मा को ही देखनेवाले पुरुप के लिए कैसा शोक और कैसा मोह?'

(२) दूसरी वात है येन अशेषेण भूतानि आत्मनि द्रक्ष्यसि। अर्थात् जिस परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से भूतमात्र को अपने मे यानी प्रत्यगात्मा मे देख सकोगे। शरीर-स्थित परमात्मा को 'प्रत्यगात्मा' कहते है और शरीर के बाहर सारे विश्व मे व्याप्त परमात्मा को 'परमात्मा'। प्रत्यगात्मा मे सब भूतो को देखने का अर्थ क्या है ? शरीर मे स्थित आत्मा चैतन्य यानी ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जैन और साख्य दोनो मानते है। वेदान्त यानी गीता भी यही मानती है। प्रत्यगात्मा को पहचानकर उसमे लीन हो जाने को 'आत्मदर्शन' कहते है। साख्य और जैन इसे 'आत्मदर्शन' कहते है और वेदान्त यानी गीता भी इस भूमिका को 'आत्मदर्शन की भूमिका' कहती है। इस आत्मदर्शनरूप भूमिका मे चैतन्यस्वरूप प्राणी यानी जडसृष्टि को छोड मनुष्य, पशु-पक्षी, कीडे-जतु आदि जितने भी सचेतन जीव है, वे सभी चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है, ऐसा अनुभव आता है। इसे पतजलि के योगशास्त्र मे 'सप्रज्ञात-भूमिका' कहा है।

श्रीमद् राजचद्रभाई कहते है कि आत्मदर्शी पुरुष को अकेले स्मशान, पहाडो अथवा जगलो मे घूमते समय सिह और व्याघ्र का सामना हो जाय तो उन्हे देख उसे आत्मा का ही दर्शन होता है। शरीर मे दो चीजे रहती है एक शरीर, दस इद्रियाँ तथा मन-बुद्धि। जो सब जड है और दूसरी ज्ञानस्वरूप चैतन्यस्वरूप आत्मा। जब तक शरीर-स्थित आत्मा का अनुभव नही होता, तब तक किसी भी सचेतन प्राणी को देख उसकी आत्मा का दर्शन नही हो सकता। हम किसी भी सचेतन प्राणी को देखते है तो देह और आत्मा जैसी दो चीजे नजर मे ही नही आती। हमारे देखने मे तो स्थूल देह, इद्रियाँ ही आती है। लेकिन शरीर-स्थित आत्मा को जिन्होने पहचान लिया, उन्हे आत्मा का दर्शन हो जाता है। राजचद्रभाई कहते है कि जब आत्मदर्शी पुरुष व्याघ्र, सिह या सर्प आदि प्राणी को देखता है तो उसे आत्मा का ही दर्शन होता है और वह 'अडोल' यानी निर्भय रहता है। आत्मदर्शी के मन मे व्याघ्र, सिह आदि को देख जरा भी क्षोभ या भय पैदा नही होता। आत्मदर्शन की यह भूमिका बहुत ऊँची है। गीता मे इस आत्मदर्शी पुरुष के जो लक्षण वर्णित है, साख्य और जैन-दर्शन मे भी वैसे ही लक्षण है। इस आत्मदर्शन-रूप भूमिका मे प्राणीमात्र आत्मस्वरूप है, ऐसा दर्शन होने से उनके साथ व्यवहार भी अहिसक रहता है।

(३) अब तीसरी चीज है हरिदर्शन, परमात्मदर्शनरूप भूमिका। साख्य और जैन आत्मा को चैतन्यरूप स्वीकार कर उसे 'असख्य' मानते है। जगत् जड प्रकृति से बना है, ऐसा साख्यो का दूसरा सिद्धान्त है। जैन भी जड 'पुद्गल' यानी परमाणु से यह जगत् बना है, ऐसा मानते है। इस तरह साख्य और जैन दोनो जड जगत् का मूल जड-तत्त्व ही मानते है। दोनो जड-चैतन्यवादी या द्वैत-वादी दर्शन है। जगत् का मूल तत्त्व जड माननेवालो मे जड जगत् देख 'ईश्वर-भाव' या 'भक्ति-भावना' पैदा होने की सभावना नही रहती। जड-सृष्टि को छोड यानी चैतन्यस्वरूप आत्मा जिनमे निवास करती है, ऐसी जीवसृष्टि को देखने पर भक्तिभाव, आत्मभाव या आत्म-स्मरण हो सकता है। लेकिन वेदान्त यानी गीता का मानना है कि भिन्न-भिन्न देहो मे जो आत्मा निवास करती है और जिसे 'प्रत्यगात्मा' कहते है, वही सारी अचेतन जड-सृष्टि मे, अणु-अणु मे भरी है। उसे 'ईश्वर' या 'परमात्मा' कहते है।

वास्तव मे भिन्न-भिन्न शरीरो यानी पिड और शरीर के बाहर ब्रह्माड मे एक ही परमात्मा निवास करता है। परमात्मा मे दो शक्तियाँ है १ चैतन्य-शक्ति, और २ माया-शक्ति। परमात्मा जादूगर की तरह माया-शक्ति से सारे जगत् का आभास करा रहा है। वही अपनी चैतन्य-शक्ति से

जगत् पर नियन्त्रण करता है। इस तरह चैतन्य-स्वरूप जीव के रूप मे परमात्मा प्रकट हो रहा है और जड-जगत्रूप मे परमात्मा का चैतन्य-स्वरूप गुप्त है। परमात्मा जीव मे दिखाई दे रहा है और जड-जगत् मे नही। इस तरह परमात्मा सभी जगह समानरूप से रहते हुए भी उसके आविष्कार मे यानी बाहर प्रकट होने मे फर्क होता है। कही वह मनुष्यरूप मे, कही पशु-पक्षी के रूप मे स्पष्ट-रूप मे से दिखाई देता है और नाना प्रकार के जड पदार्थो मे गुप्त रहने से दिखाई नही देता। जैसे हम सो जाते है, तो जागृत-अवस्था का प्रकट परमात्मा निद्रावस्था मे अप्रकट हो जाता है। इस प्रकार उसका दिखाई देना और दिखाई न देना, दोनो मे फर्क हो जाता है।

एक ही परमात्मा सब पिड-ब्रह्माड मे व्याप्त है, गीता की यह मान्यता होने से भगवान् इस चरण मे तीसरी चीज बतला रहे है कि परमात्मा मे ही सम्पूर्ण सृष्टि व्याप्त है, ऐसा ज्ञानी पुरुष देखता है। जड-सृष्टि मे उसे परमात्मा का ही सगुण स्वरूप दिखाई देने से उसके मन मे जड-सृष्टि के बारे मे भी भक्तिभाव पैदा होता है। जड-चेतन सृष्टि परमात्ममय दिखाई देने से ज्ञानी मे अखड भक्तिभाव जागृत रहता है। दिनोदिन उस भक्ति-भाव का उत्कर्ष ही होता है।

साख्य और जैनो के लिए सिर्फ 'आत्मदर्शन' ही है। वे आत्मदर्शन की भूमिका से आगे नही जा सकते। लेकिन गीता इनसे एक कदम आगे जाती है। वह अपने दर्शन से साधक को आत्म-दर्शन और परमात्म-दर्शन दोनो भूमिकाएँ प्राप्त करा देती है। इस श्लोक के दूसरे चरण मे भगवान् कह रहे है कि आत्मदर्शन और परमात्म-दर्शन दोनो भूमिकाएँ ज्ञानी पुरुष को एकत्व के ज्ञान से प्राप्त होती है।

: ३६ :

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तम ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

सर्वेभ्य. पापेभ्य =सब पापियो मे, **पापकृत्तम' अपि**= अतिपाप करनेवाला, **असि चेत्**=तू यदि होगा, **ज्ञान-प्लवेन एव**=तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से, **सर्व वृजिन सतरिष्यसि**=सब प्रकार के पापो को अच्छी तरह पार कर जायगा।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है १ भले ही तू सब पापियो मे अतिपापी हो, २ तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से पापो से मुक्त होकर सब पापो को लॉघ जायगा।

(१) जो पाप-कर्म करते रहते है, उन्हे मोक्ष मिल सकता है या नही, यह प्रश्न उपस्थित है। जब तक पाप-कर्म चालू है, तब तक तो मोक्ष का दरवाजा बद है, यही समझना चाहिए। लेकिन पाप-कर्म का पश्चात्ताप होकर उसे हमेशा के लिए छोडनेवाले पुरुष के लिए भगवान् इस श्लोक मे पूरा आश्वासन दे रहे है कि परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से, परमात्मा की भक्ति से मोक्ष मिल सकता है।

चोरी, व्यभिचार, असत्याचरण, डाके डालना, खून आदि कर्मो की पाप-कर्मो मे गिनती है, यह सभी जानते है। लेकिन पाप-कर्म की व्याख्या इससे सूक्ष्म है। सत तुलसीदासजी कहते है

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

धर्म का मूल दया यानी अहिसा का पालन है। अहिसा मे सत्य का पालन आ ही जाता है, क्योकि सत्य और अहिसा एक-दूसरे से मिले हुए, ओत-प्रोत है। पाप का मूल अभिमान है। तुलसी-दासजी ने पापाचरण का आधार अभिमान बतलाया है। जिनके मन मे देहाभिमान है, वे देह मे आसक्त होकर पापाचरण करते रहते है। वैसे देखा जाय तो पुण्य का आधार भी अभिमान ही है। शुरू मे आदमी देह के अभिमान के कारण

धर्माचरण मे प्रवृत्त होता है। कइयो के मन मे समाज का डर रहता है यानी पाप-कर्म करने की इच्छा मन मे होने पर भी समाज, माता-पिता या अन्य सगे-सबधियो के डर के कारण आदमी पाप-भीरु बनकर पापाचरण से बच जाता है। धर्माचरण से प्रतिष्ठा बढती है, कीर्ति फैलती है, मान-सम्मान मिलता है, इस कारण भी कइयो के मन मे धर्माचरण की निष्ठा जम जाती है। लेकिन इसके मूल मे देहासक्ति ही है। समाज का डर, प्रतिष्ठा नष्ट हो जाने का डर, देहासक्ति के बिना पैदा नही हो सकेगा। लेकिन देहासक्ति के कारण ही सही, यदि मन मे पापभीरुता पैदा होकर धर्माचरण के बारे मे निष्ठा हो जाती है, तो वह प्रशसनीय चीज समझी जायगी। बाल्यावस्था मे आदमी चोरी, असत्याचरण आदि काफी पापो से माता-पिता के डर के कारण ही बच जाते है। इस प्रकार नैतिक डर शुरु मे आवश्यक भी है।

इसमे एक वस्तु ध्यान मे रखनी चाहिए कि धर्माचरण और नीति की शुरुआत देहाभिमान से होते हुए भी धर्म का आचरण देह का अभिमान, देहासक्ति छोडकर अत्यत अनासक्ति से कर सकते है। पर आसक्ति या अभिमान को त्यागकर पापाचरण नही कर सकते। जिस तरह प्रकाश के सामने अँधेरा टिक ही नही सकता, वैसे ही निर-भिमानता और अनासक्ति के सामने पापाचरण टिक नही सकता। कोई अनासक्तिपूर्वक पापकर्म करने की कोशिश करे तो भी वह उसके लिए असभव हो जायगा। लेकिन धर्माचरण अभिमान से या आसक्तिपूर्वक हो सकता है और निरभि-मानता से या अनासक्तिपूर्वक भी। प्राचीन काल मे एक विचार चला था कि पाप-कर्म करके भी आदमी अलिप्त रह सकता है। इतना ही नही, उसमे अलिप्तता की कसौटी भी है। यदि पाप-कर्म करके भी आदमी अलिप्त नही रह सकता, तो उसकी अलिप्तता कच्ची समझी जायगी। लेकिन यह विचार-धारा बिलकुल गलत है। अलिप्तता के साथ पाप-कर्म का आत्यतिक विरोध है। जिस तरह प्रकाश के साथ अँधेरा नही रह सकता, वैसे ही अलिप्तता और अनासक्ति के साथ पाप-कर्म रह ही नही सकता। तो भगवान् बता रहे है कि अतिपापी होने पर भी पाप न करने का निश्चय हो जाय तो—

(२) **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिन संतरिष्यसि।** परमात्म-ज्ञान होने से सब पाप धुल जायँगे। ज्ञानरूपी नौका मे बैठकर पापरूपी समुद्र को पार कर जायँगे। यहाँ ज्ञान की महिमा बतायी है। पापी आदमी को परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा भी हो सकती है। एक बार पापरूपी कीचड मे फँस जाने पर उसमे से निकलना बहुत कठिन हो जाता है। इसके लिए प्रथम तो सत्सगति का ही आश्रय लेना पडता है। सत्सगति की तीव्र भूख तब लगती है, जब पापाचरण का पश्चात्ताप होने लगता है। सत्सगति का सही लाभ भी तभी मिल पाता है। पाप से सर्वथा मुक्त होने का उपाय परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना ही है।

विनोबाजी इस श्लोक की टिप्पणी मे कहते है "परमात्म-ज्ञान से पाप-निस्तार होता है, यह ज्ञान की महिमा निर्विवाद है। लेकिन पापी पुरुष के लिए इसमे तत्काल आश्वासन नही मिल सकता, क्योकि इसी अध्याय के ३८वे श्लोक मे कहा है कि जो पुरुष योगयुक्त होगा, उसे यथासमय परमात्म-ज्ञान प्राप्त होगा। यह तो लबे समय का कार्यक्रम है। पापी पुरुष के लिए तत्काल आश्वासन तो सिर्फ परमात्म-भक्ति मे ही मिल सकता है (९ ३०)। इसी अध्याय के ३४वे श्लोक मे इस भक्ति के उपाय मे सत्सगति बतायी है। अर्थात् पाप-निस्तार करनेवाले ज्ञान के लिए सत्सग का आश्रय लेना चाहिए, यह तात्पर्य हुआ।"

नवे अध्याय के ३०वे श्लोक मे भगवान् बतला रहे है कि बडा भारी दुराचारी आदमी भी यदि

मेरी भक्ति करता है तो पाप से सर्वथा मुक्त होकर धर्मात्मा बन सकता है। भक्ति मे दुहरी सामर्थ्य है। एक ओर वह पाप से छुडाती है तो दूसरी ओर परमात्म-ज्ञान प्राप्त कराती है। तुलसीदासजी कहते है

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलहिं जो संत होहि अनुकूला॥

—'परमात्म-भक्ति अनुपम है और अतिसुख देनेवाली है। वह सुख का मूल ही है। लेकिन सत अनुकूल हो जायँ यानी उनका अनुग्रह प्राप्त हो जाय, तभी वह प्राप्त हो सकती है।' इस तरह परमात्म-ज्ञान-प्राप्ति के लिए भक्ति का आश्रय लेना चाहिए। एक ओर भक्ति सुलभ उपाय है तो उसका दूसरा पहलू भी है। वह सुलभ उपाय होकर भी परिपूर्ण फल देनेवाली है। परमात्म-ज्ञान से पाप को तैर जाने का मतलब है, भक्ति प्राप्त करना।

: ३७ :

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

अर्जुन यथा=हे अर्जुन, जिस प्रकार, **समिद्धः अग्निः**=प्रज्वलित अग्नि, **एधांसि भस्मसात् कुरुते**=लकडी को भस्म कर देती है, **तथा ज्ञानाग्निः**=उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि, **सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**=सब कर्मो को भस्म कर डालती है।

इस श्लोक मे दो बाते बतायी है १ लकडी को जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही २ ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मो को जलाकर भस्म कर डालती है।

(१) **यथा एधांसि समिद्धः अग्नि-भस्मसात् कुरुते**। इस श्लोक के पहले भाग मे तो सिर्फ दृष्टान्त ही दिया है। लकडी के दृष्टान्त मे दो बाते समाविष्ट है १ अग्नि का स्पर्श होते ही वह जलने लगती है और २ अग्नि प्रज्वलित होने पर लकडी पूरी जल जाती है, राख हो जाती है। उसका मूलरूप शेष ही नही रह जाता। यहाँ लकडी के बजाय लोहे का दृष्टान्त लागू नही होता, क्योकि लोहा अग्नि मे तपेगा, लाल हो जायगा, मगर राख नही हो सकता। मिट्टी की ईंट बनाते है, तो अग्नि के सपर्क से वह राख होने के बजाय पक्की हो जाती है। लकडी ही एक ऐसी चीज है, जो अग्नि का स्पर्श होते ही अपना स्वरूप खो देती है। मोक्ष प्राप्त होने के मानी है, सब बधन नष्ट हो जाना। जब तक सब बधन नष्ट नही होगे, तब तक मोक्ष नही मिल सकता। देह नष्ट होने के बाद ही मोक्ष मिल सकता है। लेकिन जब तक देह रहती है, तब तक देहधारण के लिए थोडा-सा अहकार रखना ही पडता है, रह ही जाता है। थोडा-सा भी अहकार या जीवभाव न रहे तो देह उसी समय गिर जायगी। जब तक प्रारब्ध-कर्म शेष रहता है, तब तक देह नही गिरती और पूरा अहकार या जीवभाव नष्ट नही होता। फिर जब तक पूरा अहकार या जीवभाव नष्ट नही होता तब तक मोक्ष नही मिलता। इस तरह देखा जाय तो देह के रहते हुए परमात्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने पर भी पूरा बधन नष्ट नही होता। प्रारब्ध-कर्म भुगतने के लिए जब तक देह जीवित रहती है, तब तक परमात्म-ज्ञान होने से कर्म जल तो जाते है, लेकिन उनकी पूरी राख नही हो पाती। जैसे लकडी पूरी जलने पर उसकी आकृति रह जाती है, एकदम राख नही होती। बाद मे राख हो जाती है, वैसे ही देह जीवित रहते हुए परमात्म-ज्ञान होने से कर्म-बधन जल जायेंगे, लेकिन जली लकडी की आकृति रहेगी, उसकी राख नही होगी। जली लकडी की आकृति नष्ट हो जाने पर ही जैसे उसकी पूरी राख हो जाती है, वैसे ही देह गिरने पर ही पूरा मोक्ष मिलता है। इस तरह लकडी के दृष्टान्त मे दो बाते समायी है १ देह के रहते पूरा मोक्ष न मिलना यानी लकडी की पूरी राख न होना,

जली लकडी की आकृति शेप रहना और २ देह का अत होते ही पूरा मोक्ष मिल जाना यानी लकडी की जली हुई आकृति शेप न रहकर पूरी राख हो जाना।

(२) दूसरी वात यह है कि जैसे अग्नि लकडी को पूरा भस्म कर देती है, वैसे ही परमात्म-स्वरूप के ज्ञानरूप अग्नि कर्म-वधनरूप लकडी को जला-कर भस्म कर डालती है। कर्म के दो भेद है १ प्रारव्ध-कर्म और २ सचित-कर्म। सृप्टि अनादि काल से चल रही है। उसकी कव शुरुआत हुई और कव अत होगा, यह ज्ञात नही। सृप्टि की तरह जीव भी अनादि है। जीव का वधन अनादि काल से चला आ रहा है, जो उसके कर्मो से ही होता ह। हर जीव को देह और इद्रियाँ प्राप्त है और उनसे उसके हाथो अनेक कर्म होते रहते है। कर्म का कायदा है कि जव हम कर्म करेंगे तो उसका फल हमे भुगतना ही पडेगा। इस तरह जो भी कर्म हम करते है, उसका सचय हो जाता है। उसे 'सचित-कर्म' कहते है। इन सचित-कर्मो मे सभी कर्म एक प्रकार के नही होते। कुछ अच्छे कर्म रहते है तो कुछ वुरे। दोनो के फल भी परस्पर विरुद्ध होते है। एक ही जन्म मे परस्पर विरुद्ध सभी कर्मो का भुगतान सभव न होने से हमारे उन सचित कर्मो मे से जिन चंद कर्मो के फलो को हमे भुगतना वाकी रह जाता है, वे फल भुगतने के लिए ही हमे देह मिलती है। इन्ही कर्मो को 'प्रारव्ध-कर्म' कहा जाता है और वाकी के कर्मो को 'सचित'। सचित-कर्मो के कम होने की सभावना नही रहती। इच्छा हो, न हो, फिर भी सचित-कर्मो से 'प्रारव्ध-कर्म' और फिर प्रारव्ध-कर्म से 'सचित-कर्म' का इकट्ठा होना, इस तरह जन्म-मृत्यु का चक्र चालू ही रहता है। इससे छुटकारे के लिए परमात्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी है। परमात्म-ज्ञान से देह की आसक्ति छूट जाती है। इससे देह-इद्रियो का अहकार या जीवभाव नप्ट हो जाता है।

अहकार या जीवभाव ही जन्म का कारण और वीज है। यह वीज ज्ञानरूप अग्नि से लकडी की तरह जल जाता है। अहकाररूपी वीज जल जाने पर जन्मरूपी अकुर भी नही फूटेगा। लेकिन देह के रहते परमात्म-ज्ञान प्राप्त होने पर भी, देह प्रारव्ध-कर्म से पैदा होने के कारण, जव तक प्रारव्ध-कर्म खतम नही होता तव तक ज्ञानी पुरुप देह त्याग नही पाता। जान-वूझकर देह त्यागने का प्रयत्न करेगा तो वह उसका अहकार सिद्ध होगा और अहकार से प्रेरित किसी भी कर्म का फल भुगतने के लिए फिर से जन्म लेना होगा। इसलिए ज्ञान की सत्ता प्रारव्ध-कर्म पर नही चलती। सचित-कर्म परमात्म-ज्ञान से जल जाते है, क्योकि उनका फल भुगतने की शुरुआत नही हुई है। लेकिन सचित-कर्मो मे से जिन कर्मो का फल भुगतने की शुरुआत हो गयी रहती है, उनका फल भुगतना जव तक खतम नही होता, तव तक वीच मे ज्ञानी पुरुप भी उसे रोक नही सकता, जैसे कि वडा-से-वडा धनुर्धारी भी धनुप से छूटा वाण वीच मे रोक नही पाता। प्रारव्ध-कर्म खतम होते ही देह गिर जाती है और जले कर्मो की राख हो जाती है।

विनोवाजी यहाँ वताते है "३५वे श्लोक में मोह-नाश वताया। ३६वे मे पाप-निस्तार यानी पापमुक्ति वतायी और इस ३७वे श्लोक मे कर्म-दाह यानी कर्मो का जल जाना वताया है। इस तरह परमात्म-ज्ञान प्राप्त होने के तीन परिणाम वताये है १ मोह-नाश, २ पापमुक्ति और ३ कर्म-दाह।" वे फिर कहते है "इस अध्याय के १९वे श्लोक मे जो वताया है कि ज्ञान से कर्म जल जाते है, वह कर्मदाह इस कर्मदाह से थोडा भिन्न है। १९वे श्लोक मे वताया है कि वाह्य कर्म करते हुए उन्हे परमात्म-ज्ञान से न करने के वरावर कर देना यानी वाह्य कर्म करते हुए भी उनका लेप न लगना—कर्म करते हुए भीतर पूरी अलिप्तता रहना, यह परमात्म-ज्ञान का स्वरूप है।

परमात्म-ज्ञान का स्वरूप मन मे पूरी अलिप्तता, पूरी अनासक्ति रहना, यह १९वें श्लोक मे बताया है और ३५, ३६, ३७ इन तीन श्लोको मे बताया है कि परमात्म-ज्ञान का फल क्या मिलता है।"

: ३८ :

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वय योगसंसिद्ध. कालेनात्मनि विंदति ।।

हि ज्ञानेन सदृश=क्योकि ज्ञान के समान, इह पवित्र न विद्यते=इस लोक मे पवित्र वस्तु कोई नही है, तत् स्वय=वह ज्ञान, योगससिद्ध.=अनासक्ति-योग की साधना से सुसस्कृत विशुद्ध पुरुष को, कालेन स्वयं आत्मनि विंदति= कुछ समय के बाद अपने आप अपने मे यानी भीतर प्राप्त होता है, अनुभव मे आता है।

इस श्लोक मे पाँच बाते बतायी है, पहली अर्धाली मे एक और दूसरी मे चार।

(१) **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।** दुनिया मे ज्ञान विविध प्रकार के है। उन्हे 'विज्ञान' भी कहा जाता है। अध्यात्मशास्त्र मे विज्ञान का अर्थ 'अनुभव' भी है। लोगो मे विज्ञान का प्रचलित अर्थ है—विविध ज्ञान। ये विविध ज्ञान या विज्ञान बुद्धि तक ही पहुँचते है। इन्हे प्राप्त करके आदमी को रुपये कमाने का साधन भी मिल जाता है। आजकल की पढाई का उद्देश्य भी धन कमाना ही है। जो जितना ज्यादा पढता है, उसे ज्यादा रुपये प्राप्त करने का ज्यादा-से-ज्यादा मौका मिलता है। मन और इद्रियो के निग्रह, सयम और गुणोत्कर्ष के लिए इस ज्ञान का विशेष उपयोग नही। काम-क्रोधादि विकारो को क्षीण करने मे भी इस ज्ञान का उपयोग नही। जब तक काम-क्रोधादि विकार क्षीण नही होते, तब तक परमात्म-ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। परमात्म-ज्ञान प्राप्त करना ही मानवता का परम ध्येय है। मोह-नाश, पाप-निवृत्ति और कर्म के सब बधन खतम होना—जल जाना, ये तीन फल जिस परमात्म-ज्ञान से मिलते है, उसकी पवित्रता और श्रेष्ठता के विषय मे कहना ही क्या है? इसीलिए भगवान् यहाँ बताते है कि इस परमात्म-ज्ञान के समान दूसरा कोई पवित्र ज्ञान, कोई पवित्र वस्तु दुनिया मे मौजूद नही।

(२) **तत्स्वयम्।** वह ज्ञान अपने आप पैदा होता है। परमात्म-ज्ञान को छोड अन्य सब ज्ञान—इतिहास, भूगोल, पदार्थ-विज्ञान, खगोलशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि के विविध ज्ञान अपने आप प्राप्त नही होते। उन-उन विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत कोशिश करनी पडती है। लेकिन परमात्म-ज्ञान के लिए कोशिश नही करनी पडती, क्योकि परमात्मा अपने से भिन्न नही रहता; बाकी सब विषय अपने से भिन्न रहते है। देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि भी अपने से भिन्न रहती है, इसलिए उनके ज्ञान के लिए भी थोडी कोशिश करनी ही पडती है।

सवाल होता है कि यदि परमात्मा हमसे भिन्न न होने के कारण उस ज्ञान के लिए कोई कोशिश नही करनी पडती, तो सबको उस परमात्मा का ज्ञान क्यो नही प्राप्त होता? उसके लिए साधना क्यो करनी पडती है? इसका जवाब यह है कि परमात्मा हमसे बिलकुल भिन्न न होने से उसके ज्ञान के लिए कोशिश करने की जरूरत नही रहती, यह सही है। मगर देह, इन्द्रियाँ, मन आदि की उपाधि बिलकुल नजदीक होने के कारण हमारे चित्त मे यह भ्रान्ति पैदा हो जाती है कि ये ही हमारा स्वरूप है, जैसे कि सफेद कॉच के पास लाल रग का फूल रखने पर काच लाल लगने लगता है। हम परमात्मा से बिलकुल भिन्न नही, एक-रूप ही है, जब कि देह आदि से बिलकुल भिन्न है। फिर भी कभी ऐसा नही लगता कि 'हम देह से भिन्न है।' इसी भ्रान्ति के कारण अपना स्वरूप होने पर भी हमे परमात्मा की पहचान नही हो पाती। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए ही

सारी आध्यात्मिक साधना करनी पडती है । इसी भ्रान्ति के कारण काम-क्रोधादि विकार पैदा होते है और परमात्म-ज्ञान मे बडी रुकावटे आती है । इन सब रुकावटो को दूर करने के लिए सारी योग-साधना गीता मे कही है । योग-साधना से स्वरूपविषयक अज्ञान दूर होकर परमात्म-ज्ञान अपने आप हो जाता है ।

(३) **योगससिद्ध** । योग-साधना से जिन्होने चित्त के विकार दूर कर दिये है । योग यानी चित्त की समता । लेकिन यहाँ 'योग' शब्द से सारी साधना ली गयी है । भक्ति, नित्यानित्य-विवेक, आत्मानात्म-विचार, वैराग्य, ध्यान, तप, सेवा, ज्ञान—इन सब साधनो का समावेश 'योग' शब्द मे किया गया है । इस योग-साधना से जिन्होने चित्त शुद्ध करके अपने स्वरूप की पहचान करने मे प्रतिबन्धक भ्रान्ति को दूर कर लिया है, उन्हे अपने आप परमात्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है ।

इसी सिलसिले मे उपनिषद् मे दो श्लोक इस प्रकार है

यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु· परमां गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

अर्थात्—"जब पच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ परमात्मा मे स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी व्यापार नही करती, उस स्थिति को 'परमगति' कहते है । इन्द्रियो की इस स्थिर-स्थिति को 'योग' कहते है । इसमे साधक प्रमादरहित रहता है, क्योकि योग ही जीवन का आदि-मूल है और वही अतिम स्थिति है ।'

इस प्रकार की योग-स्थिति जिन्होने प्राप्त कर ली है, उनकी देह-विषयक भ्रान्ति मिट जाती है और उन्हे अपने आप परमात्म-स्वरूप की पहचान हो जाती है। लेकिन योग-साधना करते हुए परमात्म-स्वरूप का ज्ञान कब होता है, कितनी देर लगती है, यह सवाल मन मे उठ सकता है। उसका जवाब भगवान् दे रहे है ।

(४) **कालेन** । काल से, यानी कुछ काल बाद । योग-साधना से विकारो मे रुकावट बहुत जल्दी आ जाती है, ऐसी बात नही । क्योकि अनेक जन्मो के विकार सचित रहते है । जन्म से लेकर मृत्यु तक उन्हीका अभ्यास चलता रहता है । विकारो मे ही हमारा सारा जीवन व्यतीत होता है। इस तरह अनेक जन्मो से सचित सस्कारो को उखाडना आसान बात नही। 'इसलिए कुछ काल बाद' यह समय की अवधि भगवान् ने बतायी ।

इससे भी समय की ठीक-ठीक कल्पना नही आती, इसलिए शकराचार्य ने 'कालेन' शब्द के पीछे 'महता' शब्द लगा दिया है **महता कालेन** । थोडे दिन मे योग-साधना नही हो सकती और साधना करते समय फलाशा-त्याग का सिद्धान्त साधना के लिए भी लागू करना पडता है। इसलिए साधना मे तन्मय होकर साधना करते रहना ही हमारा फर्ज है। साधना का अतिम फल परमात्म-ज्ञान कब प्राप्त होगा, इस बारे मे कोई चिता न करते हुए हम तटस्थता से साधना करते रहे, यही गीता का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसी सिद्धान्त का दर्शन कराने के लिए आचार्य ने **महता कालेन** शब्द इस्तेमाल किया है ।

(५) पाँचवी बात है· **आत्मनि विन्दति** । यानी वह परमात्म-ज्ञान अपने भीतर प्राप्त होता है, अनुभव मे आता है। वह किस प्रकार, किस साधना से, कब और कहाँ प्राप्त होता है, ये चार सवाल खडे हो सकते है । उन सबका जवाब भगवान् ने इस श्लोक के दूसरी अर्धाली मे दिया है । **किस प्रकार** का जवाब है, अपने आप । **किस साधना** का उत्तर है, योग-साधना से । **कब ?** दीर्घकाल की साधना के बाद और **कहाँ ?** भीतर यानी चित्त मे । चित्त दर्पण है। दर्पण साफ-स्वच्छ हो तभी उसमे अपना रूप दिखाई देता है। वैसे ही

भीतर का स्वरूप परमात्मा है और उसे देखने का साधन है चित्त। जब तक चित्त विकारो से युक्त है, तब तक मलिन रहता है। विकारो से मुक्त हो जाने पर वह निर्मल हो जाता है। निर्मल चित्त मे आत्मस्वरूप परमात्मा दिखाई देता है, ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

: ३९ :

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

श्रद्धावान्—(जिन्हे परमात्मा, किसी व्यक्ति या किसी ग्रथ पर श्रद्धा पैदा हुई हो, ऐसे) श्रद्धालु पुरुष को, तत्पर.—(और ज्ञान-प्राप्ति के साधन मे) तत्पर पुरुष को, सयतेन्द्रिय.—और जिन्होंने अपनी सब इद्रियो को सयम मे रखा हो, ऐसे पुरुष को, ज्ञानं लभते=परमात्म-ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानं लब्ध्वा=ज्ञान प्राप्त होने के बाद, परा शान्ति=परमशाति को (जिज्ञासु साधक), अचिरेण अधिगच्छति=तुरत ही प्राप्त होता है।

इस श्लोक मे छह बाते बतायी गयी है १ जो श्रद्धालु है, २ जो तत्पर, जागृत है, साधना मे एकाग्र हो गये है, ३ जिन्होने इद्रियो को काबू मे कर लिया है, ४ ऐसे पुरुषो को परमात्म-ज्ञान प्राप्त होता है। ५ परमात्म-ज्ञान प्राप्त होने के बाद शाति और ६ वह भी तुरत प्राप्त हो जाती है।

(१) श्रद्धावान्। ३४वे श्लोक में परमात्म-ज्ञान पाने के तीन बाह्य साधन बताये है १ जिनसे ज्ञान प्राप्त करना है, उनके पास जाकर नम्र बनकर साष्टाग प्रणाम करना, २. जिज्ञासा से प्रश्न करना और ३ सेवा करना। इस श्लोक मे परमात्म-ज्ञान-प्राप्ति के तीन अतरग साधन बतला रहे है। अतरग और बहिरग मिलकर परमात्म-ज्ञान-प्राप्ति के पूर्ण साधन बन जाते है।

शकराचार्य इस श्लोक के भाष्य मे बताते है.

प्रणिपातादि. तु बाह्यः अनैकान्तिकः अपि भवति मायावित्वादिसंभवात्, न तु तत् श्रद्धावत्त्वादौ, इति एकान्तत. ज्ञानलब्ध्युपायः।

अर्थात्—'लेकिन साष्टाग नमस्कार आदि बाह्य उपाय है। वे बाह्य होने से कपटी मनुष्य द्वारा भी किये जा सकते है। इसलिए वे उपाय ज्ञानप्राप्तिरूप फल पैदा करने मे अनिश्चित भी हो सकते है। लेकिन श्रद्धालुपन आदि इन उपायो मे कपट या दभ नही चल सकता। इसलिए श्रद्धालुपन आदि निश्चित रूप से ज्ञान के उपाय है।'

आचार्य ठीक ही कहते है कि तीन बाह्य उपाय कपट रखकर भी आचरण मे लाये जा सकते है। लेकिन इस श्लोक मे बताये ज्ञान-प्राप्ति के अतरग उपाय कपट से आचरण मे नही लाये जा सकते। भगवान् ज्ञान-प्राप्ति का प्रथम उपाय श्रद्धा बता रहे है। ईश्वर पर, सतो या गीता, ब्रह्मसूत्र आदि आध्यात्मिक ग्रथो पर अटल श्रद्धा हो तो चित्त की चचलता दूर होने मे बहुत सहायता मिलती है। जब तक हमे परमात्म-स्वरूप का ज्ञान नही होता, तब तक चित्त मे चचलता रहती है। अनेक प्रकार की परस्पर विरुद्ध भावनाएँ, अनेक विचार पैदा होकर चित्त डॉवाडोल, अस्वस्थ बन जाता है। वह बहुत व्याकुल हो उठता है, बड़ी अशाति पैदा होती है। जीवन मे किसी सन्त पर श्रद्धा हो जाय, तो इस स्थिति से निकलने के लिए चित्त को बड़ा आधार मिल जाता है। प्राचीन सतो पर श्रद्धा पैदा हो जाय तो भी उससे चित्त स्थिर करने मे बल मिलता है और अगर ईश्वर पर श्रद्धा पैदा हो जाय तो फिर पूछना ही क्या! ईश्वर-श्रद्धा से चित्त मे बहुत जल्दी स्थिरता आ जाती है। लेकिन ईश्वर पर मामूली श्रद्धा हो तो यह परिणाम नही आ सकता, उस पर तीव्र—ज्वलत श्रद्धा होने पर ही यह परिणाम संभव है। इसलिए सबसे सुगम उपाय तो किसी सत पर श्रद्धा पैदा होना ही है। सत तुलसीदासजी ने लिखा है मोते संत अधिक

करि लेखा। वे भगवान् से भी सत पर अधिक श्रद्धा रखने के लिए कहते है।

(२) दूसरी वात है **तत्पर.**। साधना मे तन्मयता होनी चाहिए। परमात्मज्ञान-प्राप्ति के लिए तय की गयी साधना मे तन्मयता रहनी चाहिए। चित्त यदि साधना मे तन्मय न हो तो प्रयत्न मे मदता आती है। साधना मे तीव्रता के लिए तन्मयता जरूरी है। तन्मयता के अभाव मे कभी-कभी साधना के वारे मे अश्रद्धा और अरुचि भी पैदा हो सकती है। इन सव दोषो को टालने के लिए साधना मे तन्मयता, तत्परता जरूरी है।

(३) तीसरी चीज है **सयतेन्द्रिय.**। इद्रियो पर कावू होना चाहिए। खासकर खाने मे सावधानी चाहिए। खाने मे सयम न सधे तो जडता आती है। जडता यानी तमोगुण। ज्ञान तो तमोगुण और रजोगुण क्षीण होकर सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने पर ही होता है। इसलिए इद्रियो को निष्क्रिय न रखकर और सयम मे रखकर उन्हे स्वाधीन रखने का अभ्यास करते रहना चाहिए। दूसरे अध्याय मे स्थितप्रज्ञ के लक्षणो मे इद्रिय-निग्रह वहुत महत्त्व का लक्षण है।

(४) चौथी वात है **ज्ञानं लब्ध्वा**। ज्ञान प्राप्त होना। उपर्युक्त छह साधनो से परमात्म-ज्ञान प्राप्त होता है।

(५) पाँचवी वात है. **परां शांतिम्**। शाति के पीछे 'परा' शव्द है, सिर्फ शाति नही। परम शाति परमात्म-ज्ञान से मिलती है। परम शाति का अर्थ है अखड शाति। चाहे जैसी प्रतिकूल परिस्थिति उपस्थित हो जाय, तो भी वह भग नही हो सकती। परम शाति या अखड शाति ही हमारा स्वरूप है। परमात्म-ज्ञान से परम शात-स्वरूप का अखड अनुभव आने लगता है।

(६) छठी वात है. **नचिरेण**। परमात्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होते ही परम शाति **नचिरेण** यानी तुरत मिल जाती है। रज्जु का ज्ञान होते ही सर्प-भ्रान्ति नष्ट होकर तुरत सर्प का डर और उससे पैदा हुई अशाति मिट जाती है। शीशे मे देखते ही मुख का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही परमात्म-स्वरूप का ज्ञान होते ही उसका फल परम शाति प्राप्त होती है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने यहाँ वहुत अच्छा भाष्य किया है "आत्मसुख यानी परमात्म-सुख की मधुरता का रस चखने के वाद पचविषयो का आकर्षण मिट जाता है। विषयो के प्रति नफरत-सी हो जाती है। उसके पास इद्रियो के लिए कोई मान-सम्मान नही, किसी प्रकार की इच्छा नही रहती। वह शरीर से होनेवाले कर्मो का कर्तृत्व नही रखता, श्रद्धा के साथ मित्रता रखने से सुखी हो जाता है। उसके पास अपार शाति से युक्त ज्ञान स्वय खोजता हुआ आ पहुँचता है। उस ज्ञान से शाति का अकुर फूटता है और आगे उसका वहुत विस्तार होता रहता है। ऐसा पुरुष जहाँ देखता है, वहाँ शाति ही शाति दिखाई देती है। उस अपार शाति का कोई पार नही।"

: ४० :

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं सशयात्मनः॥

अज्ञ =जिन्हें आत्मानात्म-विवेक नही है, **च अश्रद्दधान** =और जिन्हे मतो पर, ईश्वर या धार्मिक ग्रथो पर श्रद्धा नही है, **च सशयात्मा**=और सव वातो मे जो सशयी है, **विनश्यति**=(ऐसे पुरुष) विनाश को प्राप्त होते हैं, **सशयात्मन** =ऐसे अविवेकी, अश्रद्धालु और सशयी, **अय लोक न अस्ति**=लोगो के लिए इहलोक का कोई उपयोग नही होता, **न परः (अस्ति)**=और न परलोक का भी कोई उपयोग है, **न सुख (अस्ति)**=उन्हे इहलोक या परलोक मे सुख-शाति नही मिल सकती।

इस श्लोक मे सात वाते है १ जो अज्ञानी है। २ जिसमे श्रद्धा का वल भी नही है। ३ जो हर वात मे सशयी है, ४ इन तीनो

का जीवन विनाश की तरफ जाता है यानी निष्फल जाता है। ५ इस लोक मे उनका उत्कर्ष, उन्नति नही होती। ६ तो परलोक मे उनका उत्कर्ष या उन्नति कैसे होगी ? ७ जो हमेशा सशय से युक्त है, उसे कभी सुख नही मिल सकता।

(१) **अज्ञश्च**। और जो अज्ञ है। 'अज्ञ' का अर्थ है जिसे ज्ञान नही रहता, बुद्धि-शक्ति या विवेक-शक्ति नही रहती। जहाँ बुद्धि है वहाँ यह शक्ति रहती है। लेकिन ससार मे रहते हुए कामासक्ति, विषयासक्ति, मोहासक्ति पैदा होने के कारण यह विवेक-शक्ति नष्टवत् हो जाती है। गीता के दूसरे अध्याय के ६२वे और ६३वे श्लोक मे नीचे गिरने का क्रम बताया है। उसमे कहा गया है कि विषयो के ध्यान मे आसक्ति, आसक्ति से काम, काम की अतृप्ति से क्रोध, क्रोध से मोह यानी मूढता, मोह से विस्मृति और विस्मृति से बुद्धिनाश या विवेक का नाश हो जाता है। जब तक सत्य-असत्य, नीति-अनीति और कार्य-अकार्य को परखने की मन मे शक्ति मौजूद रहती है, तभी तक वह अपने को 'मनुष्य' कहला सकता है। अन्यथा मनुष्यत्व का नाश हो गया, ऐसा समझना चाहिए।

(२) दूसरी चीज है: **अश्रद्दधानश्च**। श्रद्धा का न होना। ईश्वर पर, सत या किसी धार्मिक ग्रथ पर श्रद्धा हो तो भी मनुष्य की उन्नति, उत्कर्ष और विकास हो सकता है। मगर बुद्धि यानी विवेक-शक्ति न हो और श्रद्धा भी न हो तो उन्नति-विकास का कोई साधन नही रह जाता। बुद्धि विचार-प्रधान रहती है और मन भावना-प्रधान। अच्छी भावनाओ का उत्कर्ष करने से उन्नति-उत्कर्ष होता है। अच्छी भावनाओ मे श्रद्धा बहुत समर्थ भावना है। श्रद्धा से ही सब अच्छी भावनाएँ पनपती है। श्रद्धा के अभाव मे अन्य अच्छी भावनाओ का भी ठीक तरह उत्कर्ष नही हो पाता। इसलिए जिनके पास बुद्धि नही और श्रद्धा भी नही उनकी उन्नति का रास्ता रुक गया, यही समझना चाहिए।

(३) **संशयात्मा विनश्यति**। बुद्धि नही और श्रद्धा नही तो अत मे सशय की ही स्थिति रह जाती है। अनेक शकाओ का निराकरण बुद्धि-शक्ति या विवेक-शक्ति होने पर हो सकता है। बुद्धि-शक्ति न हो, लेकिन श्रद्धा हो तो शकाएँ उठेगी ही नही। यह स्थिति श्रद्धा से प्राप्त हो सकती है। लेकिन श्रद्धा के अभाव मे शकाएँ उठे तो बुद्धि-शक्ति मे निवारण हो सकता है। लेकिन श्रद्धा और बुद्धि दोनो के अभाव मे शकारूपी भूत आदमी का जीवन बरबाद कर देता है। शकाओ का निराकरण न होने से कोई भी चीज हासिल होना सभव नही।

(४) चौथी बात है: **विनश्यति**। विनाश। सबसे भयानक चीज सशय का पैदा होना है। पति-पत्नी को एक-दूसरे के चरित्र के बारे मे सशय पैदा होते ही उनका प्रेम वैसे ही टूट जाता है, जैसे गरम दूध नीबू डालने से तुरत फट जाता है। जब शकाएँ उठती है, तब बुद्धि कुतर्क मे पड जाती है। सत तुलसीदासजी ने कहा है **नदी कुतर्क भयकर नाना**। कुतर्क यह भयानक नदी है। उसमे तो डूबना ही डूबना है। तैरना असभव है। इसीलिए शकराचार्य लिखते है **सशयात्मा तु सर्वेषा पापिष्ठ.** अर्थात् सशयात्मा सबसे अधिक पापी है।

(५) पाँचवी बात है. **न अयं लोक. अस्ति**। सशयात्मा के लिए इस जन्म मे स्थान नही है। हमारा सारा व्यवहार श्रद्धा के आधार पर चल रहा है। अर्थात् श्रद्धा के पीछे विवेक होना ही चाहिए। अविवेकमूलक श्रद्धा अधी होती है। उससे लाभ होने के बजाय नुकसान ज्यादा सभव है। अतिविश्वास और अविश्वास दोनो मे खतरा है। संस्कृत मे एक प्रसिद्ध वचन है **अति सर्वत्र वर्जयेत्**। मराठी मे भी कहावत है **अति तेथे माती**। जहाँ अति होती है वहाँ सब मिट्टी हो जाता है। सब चीजो मे दो सिरे टालकर बीच की स्थिति ग्रहण करनी चाहिए। जिसके चित्त मे

सशय ही सशय रहता है, उसके लिए इहलोक भी भारी पड जाता है।

(६) छठी वात है **न परः अस्ति।** उसके लिए परलोक मे भी स्थान नही रहता। परलोक यानी दूसरा जन्म। परलोक का अर्थ स्वर्ग भी किया जाता है। स्वर्ग दिखाई तो देता नही, इसलिए स्वर्ग, नरक और ब्रह्मलोक क वारे मे निश्चित-रूप से कुछ कहना मुश्किल है। परलोक का अर्थ स्वर्ग भी कर सकते है। भगवान् यही कहना चाहते है कि इहलोक मे जिसे स्थान नही यानी जो इह-लोक मे अपना उत्कर्ष, उन्नति और विकास साध नही सकता, उसके लिए परलोक मे भी कहाँ स्थान है? यानी स्वर्ग मे भी वह अपनी उन्नति कैसे साध सकता है?

(७) सातवी वात है **न सुखं संशयात्मनः।** सशयी को सुख नही मिलता। **सशयात्मा विनश्यति**—सशयात्मा का विनाश ही होता है। सवसे अधिक सुख देनेवाली वस्तु श्रद्धा है। श्रद्धामय जीवन मे सशय के लिए स्थान नही रहता। ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है कि श्रद्धा का भोजन करने से मनुष्य तृप्त हो जाता है। जहाँ श्रद्धा का अभाव है, वहाँ सशय की स्थिति रहती है।

कई धनी लोग वूढे होने पर भी तिजोरी की चाभी लडके को सौपने के लिए तैयार नही होते। उन्हे लडके के वारे मे शका रहती है कि सारा पैसा यह अपने नाम पर ही न कर बैठे। शकराचार्य लिखते है **पुत्रादपि धनभाजा भीतिः।** धनी लोगो को पुत्र से भी भय यानी शका रहती है। व्यावहारिक वस्तु मे भी इस तरह वृत्ति में शकाशीलता रहने से काफी दुख भोगना पडता है। फिर ईश्वर के वारे मे शका पैदा हो जाय तो समाधान का वडा भारी आधार ही निकल जाता है। ईश्वर सुखस्वरूप, आनदस्वरूप होने से उसके वारे मे यदि श्रद्धा पैदा हो जाय, ईश्वर के अस्तित्व के बारे मे किसी भी प्रकार से मन मे शका न रहे तो उससे सुख मिलेगा। जिन लोगो के मन मे धर्म और नीति के वारे मे भी शका वनी रहती है, उनके लिए सुख का आधार नही रह पाता। नीति और धर्म की कल्पना इतनी उदात्त है कि उसके आधार से जीवन चले, तो आदमी को सुख मिल सकता है। लेकिन किसी सत, धर्म, नीति, सिद्धान्त-पालन या ईश्वर का आधार न रहे तो आदमी निराधार हो जाने से कैसे सुखी वन सकता है? वह हमेशा दुखी ही रहेगा। उसे सुख मिलना असभव है। इसलिए भगवान् वता रहे है कि सशयी पुरुष सुख प्राप्त नही कर सकता।

: ४१ :

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥

धनजय=हे अर्जुन, **योगसन्यस्तकर्माण**=योग-साधना से जिन्होने कर्मो का त्याग किया है, **ज्ञानसछिन्नसशय**=जिन्होने ज्ञान से सव सशयो को काट डाला है, **आत्मवन्त**=और जो आत्मा मे अत्यत सावधान है, **कर्माणि न निबध्नन्ति**=कर्म ऐसे पुरुषो को वधन मे नही फँसाते।

इस श्लोक मे चार वाते वतायी गयी है

१ जिन्होने योग की साधना से कर्म-फलो का त्याग किया है, २ जिन्होने परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से सव सशयो को काट डाला है, और ३ जो हमेशा आत्मा मे सावधान यानी जागृत है यानी सतुष्ट है, ४ कर्म ऐसे पुरुष को वधन मे नही फँसाते।

(१) **योगसंन्यस्तकर्माणं।** योग-साधना करके जिन्होने कर्मो का यानी कर्म-फलो का त्याग कर दिया है। कर्म वधनकारक नही, कर्म-फल की आसक्ति ही वधनकारक है। योग की सारी साधना कर्मफल की आसक्ति के त्याग पर खडी है। योग-साधना मे कई चीजे आती है। लेकिन सारी

साधना करते हुए कर्मफल-त्याग के सिद्धान्त को यदि याद न रखा तो साधना मे चाहे जितनी तीव्रता आ जाय, तन्मयता आ जाय, वह सफल नही होगी; क्योकि फलासक्ति के त्याग के विना सूक्ष्म अहकार क्षीण नही होता और तव तक जीवभाव भी वना रहता है। जव तक जीवभाव है, तव तक परमात्मा के साथ एकरूपता नही आयेगी और जव तक परमात्मा के साथ एकरूप नही होते, अपने को शून्य नही वनाते, तव तक कर्म-वधन नही छूटेगा। इस-लिए सारी योग-साधना का हार्द कर्मफल-त्याग मे है, यही चीज ध्यान मे रखनी चाहिए।

योग-साधना का हार्द कर्मफल-त्याग है, यह हमने समझ लिया। योग-साधना मे भक्ति, ध्यान, विवेक, वैराग्य, स्वधर्म-पालन, परोपकार, सेवा, ईश्वर-शरणता आदि साधनो का समावेश होते हुए भी इसमे मुख्यत दो ही चीजे ध्यान मे रखने की है १ वाहर से स्वधर्म का पालन और २ भीतर से चित्तशुद्धिकारक भक्ति, ध्यान आदि के विविध विकर्म। योग यानी 'कर्मयोग' मे 'कर्म' और 'योग' दो शब्द है। 'कर्म' यानी वाहर से स्वधर्म-रूप सेवा और 'योग' यानी फलाशात्याग अथवा आतरिक विकर्म। कर्म और विकर्म मिलकर 'कर्मयोग' होता है।

(२) दूसरी वात है **ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्।** जिन्होने परमात्म-स्वरूप के ज्ञान से सशयो को काट दिया है। यानी परमात्म-ज्ञान से जो शका-निवृत्त हो गये है। उपनिषद् मे इस सबध मे एक श्लोक इस प्रकार है:

भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

अर्थात्—'उस परम श्रेष्ठ ब्रह्म को पहचानने से हृदय की सब अज्ञान-ग्रथियाँ छिन्न-विच्छिन्न हो जाती है, सब सशय नष्ट हो जाते है और ऐसे पुरुष के सब सचित कर्म क्षीण हो जाते है।'

(३) तीसरी चीज है **आत्मवन्तम्।** जो आत्मवान् यानी अतिसावधान है, अतिजागृत है दूसरे अध्याय के ४५वे श्लोक मे 'आत्मवान्' शब्द है। वही शब्द यहाँ भी आया है।

गाधीजी की हरएक क्रिया मे सावधानता जागृति रहती थी। एक कागज का टुकडा या पेन्सिल उठाने की क्रिया भी बहुत जागृतिपूर्वक चल रही है, ऐसी छाप देखनेवालो पर पडती थी

जिनका जीवन ईश्वर के अखड अनुसधान मे चल रहा हो, उनकी प्रत्येक क्रिया मे सावधानता की छाप पडनी ही चाहिए। बोलने, खाने, चलने सभी व्यवहारो मे जहाँ निर्मल विवेक दाखिल हुआ हो वहाँ अतिजागृति का ही दर्शन होगा। अर्जुन ने इसीलिए दूसरे अध्याय के ५४वे श्लोक मे स्थितप्रज्ञ के बारे मे प्रश्न पूछा है कि उसका बोलना-चालना किस प्रकार का रहता है। भगवान ने जवाब मे स्थितप्रज्ञ की भीतरी स्थिति बतलायी है। भीतर की उसकी उच्च स्थिति का बाह्य क्रिया पर क्या परिणाम होता है, यह वहाँ नहीं बताया।

ज्ञानी पुरुष की प्रत्येक क्रिया मे अतिसावधानता होती है। वे नपा-तुला ही बोलते है। चित्त की शाति की छाप भी उनके आचरण मे दिखाई देती है आतरिक शाति होने से बाहर प्रत्येक क्रिया मे प्रेम भी प्रकट होता है। गाधीजी की हरएक क्रिया अति-सावधानता से होती थी। इसलिए वह अतिसुन्दर भी होती थी। जो लोग सुन्दरता से कर्म करने का खयाल नही रखते, उनमे कर्म के प्रति जागृति भी नही होती।

(४) **न कर्माणि निबध्नन्ति।** कर्म ऐसे पुरुषो को बधन मे नही फँसाते, जिन्होने कर्म-फलो का त्याग किया है, सशयो को काट दिया है और अत्यन्त जागरूक होकर कर्मयोग की साधना करते है।

: ४२ :

**तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥**

तस्मात् अज्ञानसंभूत=इसलिए अज्ञान में यानी अविवेक में पैदा हुए, **हृत्स्थ आत्मन**=और हृदय में स्थित इस आत्मा के संबंध में, **एनं संशय**=जो संशय है, उनको, **ज्ञानासिना**=(शोक, मोह आदि दोषों को दूर करनेवाली) ज्ञानरूपी तलवार से, **छित्त्वा**=छिन्न-विच्छिन्न करके, **योग आतिष्ठ**=योग का अनुष्ठान कर, **भारत**=हे अर्जुन, **उत्तिष्ठ**=उठो, खड़े हो जाओ, कर्तव्य करने के लिए तैयार हो जाओ ।

इस श्लोक में चार बातें बतायी हैं १ अज्ञान में पैदा हुआ और हृदय में स्थित जो आत्मा है उसके बारे में जो संशय है, उसे, २ ज्ञानरूपी तलवार से काटकर, छिन्न-विच्छिन्न करके, ३, योग-साधना कर और ४ अपने कर्तव्य-पालन के लिए तैयार हो जाओ ।

(१) **तस्मात्**–इसलिए । इसलिए के माने हैं पिछले ४१वें श्लोक को ध्यान में रखकर । परमात्मज्ञान से सब संशय कट जाते हैं इसलिए, **अज्ञानसंभूत**–अज्ञान से पैदा हुए, **हृत्स्थं**—और हृदय में रहे हुए, **आत्मन**.–परमात्मा के बारे में **संशयं**–जो संशय है ।

यह पहली बात बतायी गयी । भगवान् ने संशय को महत्त्व देकर ४०वें श्लोक में संशयी की क्या स्थिति होती है, उसे कौन-सा फल मिलता है, यह बताया । फिर ४१वें श्लोक में संशयों को ज्ञान से तोड़ सकते हैं, ऐसा बताकर इस श्लोक में संशयों को काटने के लिए कहा है ।

संशय के बारे में पहले दो बातें बता रहे हैं

(अ) पहली बात–संशय कहाँ से निकलता है, किसमें से पैदा होता है ? संशय अज्ञान से, अविवेक से पैदा होता है । डोरी सामने पड़ी है, लेकिन उसके बारे में सही ज्ञान न हो तो हमें वह डोरी सर्प जैसी मालूम देती है और हमारे मन में उस डोरी के बारे में शंका पैदा हो जायगी । इसे संशय की स्थिति कहते हैं । संशय अज्ञान से निकलता है । १ अर्थात् अज्ञान भ्रांति को यानी विपरीत ज्ञान को पैदा करता है । २ डोरी देखने में संदेह पैदा हो–कभी डोरी लगे, कभी सर्प लगे तो वह संशय हुआ । ३ डोरी के बारे में सर्प है, ऐसा भी नहीं लगता यानी भ्रांति-ज्ञान पैदा नहीं होता है और कोई शंका पैदा होती है, ऐसा भी नहीं, इसलिए संशय की स्थिति भी नहीं है यानी डोरी के बारे में कुछ ग्रहण ही नहीं होता यानी अग्रहण की स्थिति का अनुभव आता है । ये तीनों स्थितियाँ संशय, शंका और अज्ञान से पैदा होती हैं ।

यहाँ भ्रांति और अग्रहण का जिक्र भगवान् नहीं कर रहे हैं, बल्कि संशय-स्थिति का कर रहे हैं । एक दृष्टि से देखा जाय तो भ्रांति, संशय और अग्रहण ये तीनों स्थितियाँ अज्ञान से निकली होने पर भी तीनों में संशय-स्थिति ज्यादा-भयानक है । भ्रांति यानी वस्तु के बारे में विपरीत ग्रहण एक प्रकार की स्थिर स्थिति है । उसमें चित्त की कोई डाँवाडोल स्थिति नहीं है । वैसे ही वस्तु के बारे में कोई ग्रहण ही नहीं हुआ यानी कोई ज्ञान ही नहीं हुआ, तो यह भी एक स्थिर स्थिति है । लेकिन वस्तु के बारे में संशय, शंका पैदा होने लगे तो यह कोई स्थिर स्थिति नहीं । वह डाँवाडोल स्थिति मानी जायगी । इस डाँवा-डोल स्थिति को भगवान् 'भयानक स्थिति' समझते हैं । इसलिए संशय को इतना महत्त्व देकर समझा रहे हैं ।

(आ) दूसरी बात–संशय कहाँ रहता है ? संशय **हृत्स्थं** यानी हृदय में, बुद्धि में, मन में रहता है । मन की निश्चय-शक्ति को बुद्धि कहा जाता है और बुद्धि का निश्चय जब अमल में आता है तब वह हृदयगत हुआ, ऐसा समझा जाता है । लेकिन बुद्धि, हृदय, यह सब मन ही है । ये तीनों भिन्न नहीं

है। मन मे निश्चय हुआ तो उसे 'बुद्धि' नाम दिया और निश्चय का अमल हुआ तो 'हृदय' नाम दिया। सशय किस विषय मे पैदा होता है ? सशय के विपय तो अनेक है। यहाँ जिस सशय का जिक्र है, वह है परमात्मा। भगवान् के बारे मे जब तक मन मे सशय रहता है, तब तक यथार्थ ज्ञान सभव नही। इतना ही नही, तब तक श्रद्धा का होना असभव है और परमात्मा के बारे मे जब तक श्रद्धा, भक्ति पैदा नही होती है तब तक परमात्म-ज्ञान होना सभव नही है।

(२) दूसरी चीज भगवान् बतला रहे है **ज्ञानासिना छित्त्वा**। परमात्म-विषयक जो सशय उठते रहते है, उन्हे दूर करने के लिए भगवान् उपाय बतला रहे है। ज्ञानरूपी तलवार से शकाओ को दूर करे। उन्हे बिलकुल छिन्न-विच्छिन्न करने के लिए ज्ञानरूपी उपाय बतला रहे है। किसी भी वस्तु के बारे मे जब शका पैदा होती है, तब हम यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए उस वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझने की कोशिश करते है। यदि उस वस्तु का यथार्थ स्वरूप नही समझा, तो शका दूर नही हो सकती। शका दूर करने के लिए तब ज्ञान की ही शरण लेनी पडती है। परमात्मा, आत्मा, माया, प्रकृति जैसी अव्यक्त चीजो के बारे मे शका उठने पर ज्ञान का ही आश्रय लेना पडता है।

कठोपनिषद् (११२०) मे नचिकेता मृत्यु के पास जाता है। मृत्यु ने उससे तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने जो तीसरा वर माँगा वह आत्मा के बारे मे था। वह कह रहा है

येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्ट- स्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

अर्थात् "मनुष्य के मरने के बाद जो यह शका आती है कि 'कोई कहते है मृत्यु के बाद आत्मा जीवित रहती है।' कोई कहते है 'मृत्यु के बाद आत्मा जीवित नही रहती।' तो आप जैसे अधिकारी से मै इस बारे मे जानना चाहता हूँ। वरो मे से यह तीसरा वर है।"

नचिकेता के जमाने मे यह शका चली थी कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जीवित रहता है या देह के साथ उसकी भी मृत्यु हो जाती है। उसकी छानबीन मे किसीका विचार रहा कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जीवित रहता है। भगवान् कह रहे है कि वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके शकाओ को दूर करो। लेकिन उन शकाओ को दूर करने के लिए जो ज्ञान जरूरी है वह प्राप्त कैसे होगा, यह जानना भी जरूरी है।

(३) अब तीसरी बात है **योगं आतिष्ठ**। शका दूर करने के लिए परमात्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान-प्राप्ति के लिए योग का आश्रय लेना। फलाशात्यागपूर्वक निष्काम-कर्म करना कर्मयोग है। कर्मयोग मे स्वधर्माचरण और चित्त शुद्ध करनेवाली भक्ति, ध्यान, कर्मफल-त्याग, आत्मानात्म-विवेक और वैराग्य आदि बातो का समावेश है।

(४) अत मे चौथी बात है **उत्तिष्ठ**। बतला रहे है कि योग का आश्रय लेकर स्वधर्म-पालन के लिए तैयार हो जाओ। अर्जुन को व्यामोह हो गया था और उससे वह स्वकर्तव्य छोडकर चुपचाप रथ मे बैठ गया था। भगवान् उसे स्वकर्तव्य मे प्रवृत्त करने की कोशिश कर रहे है। अर्जुन का मोह इतना गहरा था, व्याकुलता इतनी तीव्र थी कि परिणामस्वरूप तत्त्वज्ञान के सबध मे उसमे जिज्ञासा भी तीव्र पैदा हुई। इसलिए विविध प्रकार से भगवान् ने समझाया है। ●

पाँचवाँ अध्याय

चार अध्याय पूरे होने पर भी अर्जुन की मूल शका का निवारण नही हो सका है, इसलिए अर्जुन फिर से पाँचवे अध्याय मे वही प्रश्न पूछ रहा है

: १ :

अर्जुन उवाच

संन्यास कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

कृष्ण=हे कृष्ण, **कर्मणा सन्यास**=(कभी) कर्मो के सन्यास की, **च पुनः योग शससि**=और फिर (कभी) कर्मयोग की प्रशसा करते हो, **एतयो॰ यत् एक श्रेय.**=इन दोनो मे जो एक श्रेयस्कर हो, **तत् मे सुनिश्चित ब्रूहि**=वही मुझे निश्चित रूप से कहो ।

इस श्लोक मे अर्जुन ने तीन वाते पूछी है १ (वह भगवान् से कहता है कि) कभी तुम कर्मसन्यास की प्रशसा करते हो और कभी कर्मयोग की । इससे मै असमजस मे पड जाता हूँ । अत २ जिसमे मेरा कल्याण हो, ३ ऐसी निश्चित रूप से एक ही वात कहो ।

(१) **सन्यास कर्मणा कृष्ण पुनर्योग च शंससि** । तीसरे अध्याय के पहले श्लोक मे अर्जुन ने ऐसा ही प्रश्न किया था । वह प्रश्न दूसरे अध्याय के श्लोक ४९-५०-५१ मे जो वात भगवान् ने कही थी, उसके सिलसिले मे था । ४९वे श्लोक मे भगवान् ने कहा है कि समत्व-वुद्धि कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसलिए तू समत्व-वुद्धि की शरण ले । ५०वे श्लोक मे वताया है कि समत्व-वुद्धि से पाप-पुण्य दोनो का वधन नही होता, इसलिए उसका आश्रय ले । समता ही कर्म-कुशलता है । ५१वे श्लोक मे कहा कि ज्ञानी पुरुष कर्म का फल छोडकर जन्म-मृत्यु के वधन से निकलकर अच्युत पद पा लेते है । इन तीनो श्लोको मे भगवान् ने वाह्य कर्म की अपेक्षा आतरिक समता, निष्कामता, निर्विकारता को श्रेष्ठ कहा है । इसीसे अर्जुन फिर उलझन मे पड गया, क्योकि दूसरे अध्याय मे कर्तव्य-कर्म पर वहुत जोर दिया गया है । उसके लिए आठ श्लोको का 'स्वधर्म-प्रकरण सुनाया । इस तरह अर्जुन को लगा कि भगवान् ने परस्पर विरुद्ध वाते वतला दी है । तीसरे अध्याय के पहले श्लोक मे भगवान् को अर्जुन ने उलाहना दिया कि एक वार कर्म को श्रेष्ठ वतलाना और दूसरी वार ज्ञान को श्रेष्ठ वतलाना, यह वात समझ मे नही आती । तीसरे अध्याय मे कर्म कितना आवश्यक है, यह वतलाते हुए १८वे श्लोक मे वतलाया कि कर्म मे अकर्म यानी खुद अकर्ता है, ऐसा जो देखता है, इसके साथ ही इस अकर्म मे यानी इसी अकर्तापन मे जो कर्म देखता है, वह वडा वुद्धिमान्, योगी है और वही सव कर्म करनेवाला है । फिर कर्म करते हुए अकर्तापन का अनुभव ज्ञानी पुरुष कैसे करता रहता है, यह भगवान् वतलाने लगे और कुल मिलाकर सात श्लोको मे अकर्तापन के अनुभव और उसके लक्षण वताये । फिर विकर्म का प्रकरण शुरू हुआ । वह प्रकरण समाप्त होते ही ३३वे श्लोक मे कहा कि सव यज्ञो मे यानी विकर्मो मे ज्ञान श्रेष्ठ है और सव कर्म अत मे ज्ञान मे ही समाप्त होते है । यहाँ ज्ञान की श्रेष्ठता वतायी । ज्ञान की अपेक्षा, अकर्तापन की अपेक्षा कर्म गौण हो गया । फिर भगवान् ने वताया कि वह ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है और ज्ञान का कितना श्रेष्ठ फल मिलता है ।

ज्ञान से सव प्रकार का मोह नष्ट हो जाता है, यह भी वतलाया । पापी से पापी भी ज्ञान-

नौका से पाप को तर जाता है। ज्ञान-रूप अग्नि सब कर्मो को जला देती है तथा यह ज्ञान प्राप्त करना हो तो योग का आश्रय लेना चाहिए, यह बतलाते हुए कहा कि 'तुम्हे ज्ञान प्राप्त करना है तो मन मे परमात्मा के बारे मे जो शकाएँ है, उन्हे दूर करके योग की शरण लो और अपना कर्तव्य पालन करने के लिए खडे हो जाओ।'

इस तरह एक ओर कर्म पर यानी कर्मयोग पर जोर दे रहे है, दूसरी ओर अकर्म यानी अकर्तापन, परमात्मज्ञान प्राप्त करना श्रेष्ठ है, यह भी कह रहे है। अर्जुन को भगवान् का कथन परस्पर विरुद्ध लग रहा है। अर्जुन के मन मे भगवान् की यही बात स्पष्ट नही हो रही है कि मेरा कल्याण किसमे है। क्योकि भगवान् कर्म पर, स्वधर्म पर जोर दे रहे है, उसीका महत्त्व समझा रहे है। वैसे ही आतरिक निर्विकारता, समता, निष्कामता, अनासक्ति, फलत्याग, भक्ति आदि पर भी जोर दे रहे हे। इन विकर्मो का महत्त्व भी बतला रहे है। दोनो का जो अपना स्थान है यानी स्वधर्मरूप बाह्य-कर्म और भीतर के ये चित्त-शुद्धिकारक विकर्म और उसमे से प्राप्त होनेवाली अतिम अकर्मदशा, ज्ञान-स्थिति, इन तीनो का अपना स्थान है और तीनो अपने स्थान पर श्रेष्ठ है। इन तीनो मे ज्ञान-स्थिति तो अतिम फल है। उसके लिए जो साधना करनी पडती है, उसके दो अग है १ बाह्य स्वधर्माचरण और २ चित्त-शुद्धिकारक विकर्म। बाह्य स्वधर्मा-चरण और भीतरी चित्त-शुद्धिकारक विकर्म दोनो की तुलना करने की कोई जरूरत नही है, फिर भी यदि तुलना की जाय तो कहा जायगा कि स्वधर्मा-चरण से विकर्म श्रेष्ठ है। लेकिन बाह्य स्वधर्मा-चरण के विना विकर्म भी नही सधता। सिर्फ विकर्म से यानी बाह्य स्वधर्माचरण के त्याग से भी परमात्म-ज्ञान यानी अतिम ज्ञानावस्था प्राप्त नही हो सकती। अब यह सारी बात ठीक-ठीक मन मे जँच जाना मोह की दशा मे आसान नही है। अर्जुन की यही दशा थी। उसे मोह ने घेर लिया था। इसलिए वह भगवान् को ही प्रेम से उलाहना दे रहा है।

(२) **यत् श्रेयः एतयोः**। इन दोनो मे से मेरा कल्याण किसमे है, यह मुझे मालूम नही है। इसलिए जिसमे मेरा कल्याण हो, वह बताओ। दूसरे अध्याय के सातवे श्लोक मे अर्जुन भगवान् से कह रहा है कि धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, कार्य-अकार्य के बारे मे मोह के कारण मे कुछ निर्णय नही ले सकता। मेरा ज्ञान नष्ट-सा हो गया है, निर्णय-शक्ति खो बैठा हूँ। शोक-मोह से मेरी वृत्ति मे हीनता आ गयी है, इससे मेरा मन स्थिर नही हो रहा है। चित्त डॉवाडोल हो गया है। मै आपके पास शिष्य-भाव से आया हूँ। मेरा जिसमे कल्याण हो, वही मुझे कहिये।

तीसरे अध्याय के दूसरे श्लोक मे भी वह कह रहा है कि जिसमे मै अपना कल्याण प्राप्त करूँ, वह मुझे कहो। अध्यात्म-ज्ञान का अधिकारी वही समझा जायगा जिसके मन मे व्याकुलता पैदा हुई हो। हर समय अर्जुन के मन मे अपने कल्याण की जो आतुरता है, वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए अच्छी भूमिका मानी जायगी।

(३) तीसरी बात अर्जुन कह रहा है कि कल्याण करनेवाली चीजे तो बहुत-सी रहती है, इस-लिए **एक तत् मे ब्रूहि सुनिश्चितम्**—जो कुछ कहना हो वह एक बात निश्चित रूप से कहो। निश्चित रूप से दो चीजे भी कही जा सकती है। इसलिए अर्जुन कह रहा है कि एक ही निश्चित बात कहिये।

: २ :

श्रीभगवान् उवाच

सन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

सन्यास. च कर्मयोग =सन्यास और कर्मयोग, **उभौ निश्रेयसकरौ**=दोनो कल्याणकारी है, **तु तयो. कर्मसन्या-सात्**=लेकिन दोनो मे से कर्म-सन्यास की अपेक्षा, **कर्मयोग विशिष्यते**=कर्मयोग श्रेष्ट हे।

इस श्लोक मे दो बाते है १ सन्यास और कर्मयोग दोनो कल्याण करनेवाले है। २ लेकिन दोनो मे कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

(१) **सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ**—सन्यास और कर्मयोग दोनो कल्याण करनेवाले है। अर्जुन ने तीसरे अध्याय मे प्रश्न पूछा था। उसका भगवान् ने जवाब दिया है कि मोक्ष प्राप्त करने अथवा परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मैने दो मार्ग बताये है १ साख्यो का यानी ज्ञानियो का ज्ञानमार्ग और २ योगियो का कर्मयोग। इस अध्याय के चौथे श्लोक मे 'साख्य' और 'योग' शब्दो का प्रयोग हुआ है। लेकिन इस अध्याय के दूसरे श्लोक मे भगवान् ने जवाब देते हुए साख्य और योग शब्द के बदले 'सन्यास' और 'कर्मयोग' शब्द प्रयुक्त किये है। अर्जुन के प्रश्न मे ये ही दो शब्द है, अत भगवान् ने भी ये ही दो शब्द इस्तेमाल किये है। मतलब यह कि साख्य यानी ज्ञानमार्ग, सन्यास या ज्ञानयोग और योग यानी कर्मयोग। सन्यास मे बाह्य-कर्म का त्याग दिखाई देता है। फिर भी यह कर्म-त्याग सहजावस्था का कर्मत्याग है यानी कर्म-त्याग का इसमे कोई इरादा नही है। आतरिक ज्ञानावस्था मे जो डूब गया या रँग गया, उसके जीवन मे बाह्यत कर्म-त्याग दीखने पर भी ज्ञानावस्था स्वय मे ही भारी कर्म है। अत उसके आगे बाहरी कर्म की कीमत नगण्य हो जाती है।

इस परिपूर्ण ज्ञानावस्था का ही नाम 'सन्यास' है। इसे शकराचार्य 'विद्वत्सन्यास' कहते है। परिपूर्ण ज्ञानावस्था और परिपूर्ण योगावस्था दोनो एक ही अवस्था है। फिर भी योगावस्था मे बाहर से कर्म-त्याग नही दिखाई देता। यानी श्वासोच्छ्वास की तरह योगावस्था मे बाहर से सेवा-कर्म अखण्ड चलता रहता है। सेवा-कार्य मे, कर्म मे कभी अतर नही पडता। इसी कारण उसे 'कर्मयोग' कहा जाता है। ज्ञानावस्था के सन्यास को जैसे 'विद्वत्-सन्यास' कहा जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्था के सन्यास को 'अविद्वत्-सन्यास' कहा जाता है। इस प्रकार सन्यास के दो भेद हो जाते है। वैसे ही योगावस्था यानी कर्मयोग मे अज्ञानावस्था का कर्मयोग और ज्ञानावस्था का कर्मयोग, ऐसे दो भेद किये जा सकते है। अज्ञानावस्था यानी साधकावस्था, मुमुक्षु अवस्था। ज्ञानावस्था और साधकावस्था को छोडकर ससार मे कर्म करनेवाले अन्य लोगो के लिए 'कर्मयोगी' नही कहा जा सकता। वहाँ पर 'योगी' शब्द के बदले 'कर्मनिष्ठ' प्रयुक्त करना होगा। कर्मयोग मे 'योग' शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगयुक्त होकर कर्म करना यानी निष्काम भाव से कर्म करना, परमेश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करना—यह अर्थ योग शब्द मे समाविष्ट है।

लेकिन सकाम-भाव से, आसक्ति से, ममत्व-भाव से जो कर्म किया जाता है, उसके लिए 'योग' शब्द इस्तेमाल नही किया जा सकता। सिद्धावस्था मे सन्यास और योग दोनो एकरूप है। नाम ही भिन्न है, क्योकि सन्यास मे ज्ञान के साथ बाहर से कर्म-त्याग आता है, तो योग के साथ बाहर से कर्म आता है। सन्यास और कर्मयोग दोनो सिद्धावस्था मे एक होने से समानरूप से मोक्ष देनेवाले है।

सन्यास और योग दोनो भीतर से सिद्धावस्था मे एक होते हुए भी दोनो मे जो भेद पड जाता है, उसका मुख्य कारण है वृत्ति-भेद। किसीकी वृत्ति बुद्धिप्रधान यानी ज्ञानप्रधान रहती है, तो किसीकी भावनाप्रधान रहती है। जिनकी वृत्ति बुद्धिप्रधान रहती है, वे यदि ज्ञानमार्ग से परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने मे सफल रहे तो उनकी वृत्ति सहज ही कर्मत्याग की तरफ मुड जाती है। जिनकी भावना-प्रधान वृत्ति रहती है, वे परमेश्वरार्पण-बुद्धि के मार्ग से परमात्म-ज्ञान प्राप्त करते है। इसलिए परमेश्वरार्पण-बुद्धि का बाह्य परिणाम सेवा, जन-सेवा दिखाई देता है। यानी वे कर्मत्याग की तरफ न मुडते हुए कर्मयोग की तरफ मुडते है। कइयो मे दोनो का मिश्रण दिखाई देता है। जिनमे ज्ञान और

भक्ति दोनो होती है, वे बाहर से जनसेवा मे तल्लीन दिखाई देते है यानी उनमे ज्ञान, भक्ति और कर्म का त्रिवेणी-सगम दिखाई देता है। यह बड़े भाग्य की बात है। इस तरह साख्य और योग सिद्धावस्था मे दोनो श्रेयस्कर, समानरूप से मोक्ष देनेवाले है, ऐसा भगवान् ने पहले चरण मे बताया है।

(२) अब दूसरी बात है **तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**। सिद्धावस्था मे ज्ञानावस्था और योगावस्था एकरूप होते हुए भी अज्ञानावस्था के कर्म-सन्यास से अज्ञानावस्था का कर्मयोग श्रेष्ठ है, अधिक कल्याणकारी है। कर्म-त्याग का अधिकार सिद्ध-दशा मे ही है, साधक-दशा मे नही। साधक-दशा मे कर्म-त्याग करने से मिथ्याचारी बनने की पूरी सभावना है, यह बात तीसरे अध्याय के छठे श्लोक मे बतायी है। सिद्ध-दशा मे कर्मत्याग सहज हो जाता है। यह भूमिका इतनी ऊँची है कि उसमे जो आरूढ हो गये है, वे बाहर से कुछ भी न करे, तो भी उनमे प्रचड कर्म-प्रेरणा की शक्ति रहती है। विनोबाजी इसे "कुछ भी न करते हुए सब-कुछ करना" कहते है।

जिस सिद्धावस्था मे सबको जीवन-परिवर्तन की प्रेरणा मिलती है, वह कर्म-त्याग अलौकिक वस्तु है। ऐसे कर्म-त्याग का बाह्य अनुकरण साधकावस्था मे कोई करना चाहे, तो वह सभव नही। वृत्ति मे जब तक निर्विकारता न आयी हो, परमात्म-स्वरूप की पहचान न हुई हो, निष्कामता न आयी हो, अहकार-शून्यता न आयी हो, तब तक बाहर से कर्मत्याग भयानक वस्तु बन जाती है। बाहर से कर्म-त्याग के प्रयत्न मे भीतरी काम-क्रोधादि विकार बढने लगते है। उन्हे क्षीण करने के लिए बाहर से कर्म का, सत्कर्म का आश्रय लेना जरूरी है। अन्यथा काम-क्रोधादि विकार बढेगे और छाती पर बैठकर आदमी को अनाचार की ओर धकेलेगे। सिद्ध-दशा मे 'न करते हुए सब-कुछ करना' सन्यास है और 'सब-कुछ करते हुए कुछ भी न करना' योग है। दोनो मे अकर्म-दशा यानी अकर्तापन की दशा, भूमिका परिपूर्ण रीति से है।

अकर्मदशा या अकर्तापन की स्थिति प्राप्त होने पर बाहर से कर्म का होना या कर्म का न होना, दोनो बाते आतरिक दृष्टि से गौण हो जाती है। लेकिन अकर्तापन की यह स्थिति प्राप्त करने के लिए अज्ञानदशा मे यानी साधक-दशा मे कर्म-त्याग की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, कल्याणप्रद है। सत तुलसीदासजी कहते है

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होई नहिं बारा॥

ज्ञान का मार्ग तलवार की धार के समान है। ज्ञानमार्ग से साधना करने मे गिरते देर नही लगती। कर्मयोग राजमार्ग है। इसके द्वारा आँख मूँदकर मुकाम पर पहुँच सकते है। ज्ञानेश्वर महाराज लिखते है .

"ज्ञानी या अज्ञानी दोनो के लिए कर्मयोग नौका के समान सरल है। नौका मे बैठने से डूबने का डर नही रहता। वैसे ही कर्मयोग-मार्ग से साधना करने मे कोई खतरा नही। सन्यास जगल का रास्ता है। घने जगल मे बाघ, सिह आदि हिसक पशु रहते है और कोई बना-बनाया रास्ता भी नही होता। इसलिए साधक-दशा मे कर्म-त्याग के मार्ग से जाने मे गिरने की सभावना रहती है।" अत भगवान् ने इस श्लोक के दूसरे चरण मे कर्म-सन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है।

: ३ :

ज्ञेय. स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काक्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुख बन्धात् प्रमुच्यते॥

य न द्वेष्टि न काक्षति=जो द्वेष नही करता, (जो) आकाक्षा नही रखता, स. नित्यसन्यासी ज्ञेयः=वह नित्य सन्यासी है, ऐसा जानो, हि महाबाहो=क्योकि हे अर्जुन ! निर्द्वन्द्वः=जो द्वद्व-रहित हो गया है बधात् सुख प्रमुच्यते=वह कर्म-बधन से आसानी से मुक्त हो जाता है।

इस श्लोक मे छह बाते है १ जो किसीका
प नही करता, २ जो किसी चीज की आकाक्षा
ही रखता, ३ वही नित्य-सन्यासी है। ४ जो
ुख-दु ख आदि द्वद्वो से परे हो गया है, ५ बडी
ासानी से, विना प्रयास, ६ वह कर्म-बधन से,
ुक्त हो जाता है।

(१) **य. न द्वेष्टि**। पिछले श्लोक मे
ह बतलाया है कि सिद्धावस्था मे कर्म-सन्यास
ौर कर्मयोग दोनो समानरूप से मोक्ष देनेवाले है।
ेकिन साधकावस्था मे कर्म-सन्यास से कर्मयोग
्रेष्ठ है। अब यहाँ 'सन्यास' की व्याख्या की जा रही
ै। समाज मे सन्यास की गलत व्याख्या रूढ हो
ायी है। समाज मे सन्यासी वही माना जाता है
जसने गेरुए वस्त्र धारण किये हो, जो सेवा का कार्य
ा करता हो, सिर्फ दर्शन का उपदेश करता हो,
ोगो के बाह्य दु ख दूर करने की चेष्टा न करता
ो। जो ससारी लोगो की अनेक समस्याओ मे
भी न पडता हो, कुछ भी सामाजिक सेवा-
ार्य किये विना भोजन करने मे जिसे किसी
कार का क्षोभ न होता हो—ऐसे लोग सन्यासी
मझे जाते है। भगवान् ने यहाँ सन्यासी की जो
्याख्या दी है, उसका बाहर के साथ कोई सम्बन्ध
ही है। सन्यासी का पहला लक्षण यह बतलाया
ै कि वह किसीका द्वेष नही करता। द्वेष न करना,
ातरिक लक्षण है। इस श्लोक मे सन्यासी के जो
भी लक्षण बतलाये है, वे सब आतरिक है। द्वेष
ैदा होने के कई कारण होते है। द्वेष तो साधक
े भी छूटता नही। दो साधक या मुमुक्षु साधना
र रहे हो और एक-दूसरे की कीर्ति सुने तो मन मे
जलन होती है यानी द्वेष पैदा होता है। सासारिक
ोग, जनसेवक और मुमुक्षु आदि तो अपूर्ण है ही,
अत उनमे से द्वेषभावना क्षीण न हुई हो तो कोई
आश्चर्य नही। सत तुलसीदासजी कहते है

उमा जे रामचरण रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहिसन करइँ बिरोध।।

—'जो राम के चरण मे लीन हो गये है और जिनके
काम, क्रोध आदि विकार नष्ट हो गये है, जो सब
जगत् को प्रभुमय ही देख रहे हो, वे पुरुष किसीसे
भी विरोध कैसे करेगे ?' उपर्युक्त दोहे मे द्वेषरहित
जीवन जीने की कुजी है। जो राम-चरण मे लीन
हो गये है और जगत् को परमात्म-दृष्टि से देखते है,
उनमे द्वेष आदि विकार न रहने से किसीका वे विरोध
यानी ईर्ष्या नही करते। गीता के १२वे अध्याय
मे भक्त के लक्षण बताये गये है। भक्त के लक्षणो
की शुरुआत ही हुई है **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** से।
यानी भक्त किसीसे भी द्वेष नही करता। इसी तरह
सन्यासी की व्याख्या करते हुए सन्यासी का पहला
लक्षण भगवान् ने बताया कि जो किसीका भी द्वेष
नही करता, उसे सन्यासी समझो।

(२) दूसरा लक्षण है **न कांक्षति**। वह किसी
भी प्रकार की आकाक्षा नही रखता। आकाक्षा
यानी इच्छा, कामना। मनुष्य के मन मे नानाविध
आकाक्षाएँ रहती है। हिटलर के मन मे यह आकाक्षा
पैदा हो गयी थी कि जर्मन राष्ट्र की हुकूमत सारे
जगत् पर चले। इसी महत्त्वाकाक्षा ने जर्मनी का सर्व-
नाश कर दिया। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है कि
"जिनके मन मे अपेक्षा कभी प्रवेश नही करती,
उनका भीतरी सुख बढता रहता है।" इसमे शुरू
मे यह देखना पडता है कि अशुभ आकाक्षाएँ मन मे
पनपे नही, इसलिए शुभ आकाक्षाएँ रखो। अशुभ
आकाक्षाओ के हट जाने से शुभ आकाक्षाएँ स्थिर
होगी। शुभ आकाक्षा यानी मोक्ष की इच्छा—वैराग्य,
भक्ति आदि प्राप्त करने की इच्छा। गीता के १६वे
अध्याय के पहले तीन श्लोको मे जिन दैवी गुणो का
वर्णन है, वे अपने मे विकसित हो, ऐसी इच्छा रखनी
चाहिए। शुभ इच्छा का उत्कर्ष होने के बाद उसके
बारे मे अनासक्ति पैदा करने की कोशिश करनी
चाहिए। यह सन्यासी का दूसरा लक्षण है।

(३) तीसरी बात यह है कि "वही नित्य
सन्यासी है" ऐसा समझना चाहिए। ऊपर सन्यासी

के दो लक्षण बताये है और आगे 'द्वन्द्व से परे' यह तीसरा लक्षण बताया है । इन तीन लक्षणो से सपन्न पुरुष ही 'नित्य-सन्यासी' है, ऐसा इस श्लोक मे बताया है। ये तीनो आतरिक लक्षण है। आगे छठे अध्याय के पहले श्लोक मे सन्यासी का एक और आतरिक लक्षण बताकर उसके साथ बाह्य लक्षण भी बताया है। भगवान् कहते है ' "कर्मफल की आसक्ति छोडकर जो कर्तव्य करता है, वह सन्यासी है। जो निर्यज्ञ और निष्क्रिय रहता है वह सन्यासी नही है।" कर्मफल की आसक्ति छोडना आतरिक लक्षण है और कर्म करते रहना बाह्य लक्षण है। इस तरह चार आतरिक और एक बाह्य—कुल पॉच लक्षण जिसमे दिखाई दे वही नित्य-सन्यासी है।

(४) चौथी बात है **निर्द्वन्द्वः**। द्वन्द्व से परे होना। द्वद्व मे बाहर के शीत-उष्ण आदि और भीतर के सुख-दु ख आदि दोनो का समावेश होता है। अत्यधिक गरमी अथवा ठढ बरदाश्त नही होती। अतिवर्षा भी असह्य होती है। सृष्टि के मानी ही द्वद्व यानी द्वैत है। दो यानी एक-दूसरे से विपरीत—अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय। जो इनसे परे हो गया, वह सन्यासी कहलाने योग्य है, यह सन्यासी का तीसरा लक्षण है।

(५) उपर्युक्त तीन लक्षणोवाला सन्यासी आसानी से ससार-बधन से मुक्त हो जाता है। बडी आसानी से यानी बिना कष्ट के, यह भगवान् के कहने का आशय है। अद्वेष, निराकाक्षा और द्वद्व से परे हो जाना—ये तीन लक्षण प्राप्त करना आसान नही है। इन लक्षणो को प्राप्त करने मे काफी प्रयत्न की जरूरत है। ये लक्षण प्राप्त होने के बाद ससार-बधन से मुक्त होने मे देर नही लगती।

(६) **बधात् प्रमुच्यते**। यानी ससार-बधन से, कर्मबधन से मुक्त होता है, यह छठी चीज हुई। इस श्लोक पर भाष्य करते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते है

"भूतकाल को जो याद नही करता और कोई चीज प्राप्त न होने पर उसकी चाह नही रखता; मेरु-पर्वत की तरह मन मे जो निश्चल यानी स्थिर रहता है और जिसके अत करण को 'मैं' और 'मेरापन' दोनो का विस्मरण हो गया है; वह पुरुष निरतर सन्यासी ही है, ऐसा समझो। ऐसी जिसके मन की तैयारी हो गयी, आसक्ति उसे छोड जाती है। इसलिए अनायास उसे अखड सुख प्राप्त होता है। अब उसे गृह आदि छोडने की कोई जरूरत नही, क्योकि गृह आदि की आसक्ति रखनेवाला मन नि सग हो गया है। अग्नि जब बुझ जाती है और राख हो जाती है, तब कपास मे भी उसे रख सकते है। वैसे ही ससार की उपाधि रहते हुए भी जिसकी बुद्धि मे सकल्प-विकल्प नही रहे, वह पुरुष कर्मबधन मे कभी नही फँसता। इसलिए जिस समय मन से कल्पना निकल जाती है, तभी सन्यास प्राप्त होता है। अतएव कर्म-सन्यास और कर्म-योग दोनो समान श्रेणी के है, ऐसा ही समझो।"

: ४ :

साख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पंडिता: ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

बाला:=अज्ञानी जन, **साख्ययोगौ**=साख्य और योग, **पृथक् प्रवदन्ति**=अलग-अलग (एक-दूसरे से विपरीत फल देनेवाले) कहते है, **पंडिता: न**=लेकिन पडितगण नही (कहते), **एकं अपि**=(दोनो मे से किसी) एक का भी, **सम्यक् आस्थित**=सम्यक् रीति से आचरण करनेवाला, **उभयो: फलं**=दोनो के फल को (मोक्ष को), **विन्दते**=प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ अज्ञानी लोग कर्म-सन्यास और कर्मयोग को भिन्न-भिन्न या परस्पर विरुद्ध फल देनेवाले मानते है, २ मगर पडित यानी ज्ञानी ऐसा नही मानते, ३ दोनो मे

से एक का भी आचरण यथार्थरूप से किया जाय, तो दोनो का फल मिलता है।

(१) साख्ययोगौ पृथक् बाला: प्रवदन्ति। साख्य ओर योग यानी सन्यास और कर्मयोग दोनो भिन्न फल देनेवाले है, ऐसा अज्ञानी जन समझते है। दोनो का स्वरूप इतना गहन और सूक्ष्म है कि उसकी यथार्थ कल्पना आसान नही है।

विनोबाजी ने गीता-प्रवचन मे इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। कर्म-सन्यास का स्थूल अर्थ कर्म छोडना और कर्म-योग का स्थूल अर्थ कर्म करना, ऐसा सामान्यत समझा जाता है। तीसरे अध्याय के पाँचवे श्लोक मे बताया है कि कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना एक क्षण भी नही रह सकता। अब जब कर्म किसी भी प्रकार छूटता ही नही तो कर्म-सन्यास यानी कर्म छोडना, यह स्थूल अर्थ तो नही ही ले सकते। लेकिन अज्ञानी लोग ऐसा अर्थ करते है और इसलिए जिस किसीने बाहर से कर्म छोड दिया हो और जो गेरुआ वस्त्र धारणकर कुछ धार्मिक बाते सुनाने की योग्यता रखता हो, उसे सन्यासी मान लेते है। पिछले श्लोक मे तो भगवान् ने सन्यासी के कोई स्थूल लक्षण बताये नही, आतरिक लक्षण ही बताये है। बाहर से कर्म छोडने को जैसे कर्म-सन्यास नही कह सकते, वैसे ही बाहर से कर्म करने को कर्मयोग नही कह सकते। लेकिन इसमे भी अज्ञानी लोगो की कल्पना यही रहती है कि जो दिन-रात कर्म करता है, वह मानो कर्मयोगी है।

कुछ लोग दिन-रात समाज-सेवा मे जुटे रहते है। बाह्य दृष्टि से तो समाज को उनकी अच्छी सेवा मिलती है। मगर वे ब्रह्मचर्य से रहते हो और खान-पान मे सयमी हो, यह बात नही। उन्हे किसी भी प्रकार का व्यसन न हो, ऐसा भी नही कह सकते। 'समाज-सेवा का जीवन के साथ पूरा सम्बन्ध है' ऐसी सब समाज-सेवको की कल्पना नही होती। 'जीवन सत्य, अहिंसादि व्रतो पर स्थित हो और जैसे-जैसे वह व्रतनिष्ठ निष्काम, निर्विकार बनता जाय, सयमी होता जाय, उतने ही अनुपात मे समाज-सेवा के हम योग्य बनते है' ऐसी कल्पना सब सेवको की नही रहती। अज्ञ-समाज की तो रहती ही नही। कुछ सेवक बाहर से बहुत त्यागी होते है, ब्रह्मचारी होते है, अपरिग्रही होते है, उनमे श्रमनिष्ठा होती है, लेकिन उनका अहकार क्षीण हुआ नही रहता। कई त्यागी-सेवको मे क्रोध और अहकार की मात्रा काफी होती है। इस तरह बाह्यत खूब कर्म या खूब सेवा करने को कर्म-योग नही कह सकते।

(२) दूसरी बात है न पंडिताः। यानी पडित, ज्ञानी, विवेकी पुरुष कर्म-सन्यास और कर्म-योग को भिन्न नही समझते। क्योकि ज्ञानीजन भलीभाँति समझते है कि अकर्तापन की स्थिति, काम-क्रोध-विरहितता आदि आतरिक ज्ञानदशा आत्यतिक अलिप्तता या अनासक्ति ही सन्यास है। इस अकर्तापन की स्थिति मे बाह्यकर्म न करने के समान हो जाता है। भीतर की जो अलौकिक दशा है, उसमे लोगो को बाह्य-कर्म मे प्रवृत्त होने की और जीवन-परिवर्तन करने की प्रेरणा रहती है, इसलिए भीतर से ज्ञानस्थिति का अनुभव करनेवाला पुरुष बाहर से कर्म न करते हुए भी कर्म कर रहा है, ऐसा माना जायगा। लेकिन बाहर से वह कर्म न करता हुआ दिखाई देने के कारण उसे सन्यासी कहेगे। दूसरी ओर ज्ञानी पुरुष जो भीतर से परमात्म-स्वरूप का अनुभव करता हो, अहकार न रहने से जिसे अकर्तापन की दशा प्राप्त हो गयी हो, वह बाहर से कर्म करते हुए भी कुछ नही करता, ऐसा अनुभव करेगा। भीतर से अकर्ता होने से उसका कर्म अकर्म हो जाता है, शून्य बन जाता है। उसके लिए कर्म करते हुए भी कर्म की कोई कीमत नही है। इस तरह कुछ न करते हुए सब-कुछ करनेवाले सन्यासी है और सब-कुछ करते हुए भी कुछ न करनेवाले योगी है। दोनो की आतरिक भूमिका मे अन्तर न होने से पडित यानी

ज्ञानी कर्म-सन्यास और कर्मयोग दोनो को एक कहते है।

(३) तीसरी वात है **एक अपि आस्थितः सम्यक्** । कर्म-सन्यास अथवा कर्मयोग दोनो मे से किसी एक का आचरण ठीक तरह से किया जाय, तो—

(४) **उभयोर्विन्दते फलम्** । कर्मसन्यास अथवा कर्मयोग दोनो का फल 'मोक्ष' प्राप्त ही होता है। शर्त यही है कि कर्म-सन्यास या कर्मयोग दोनो मे से किसी एक का आचरण ठीक तरह से होना चाहिए। साधक-दशा मे कर्म-सन्यास से कर्म करना श्रेष्ठ वतलाने पर भी साधक को पूरी स्वतत्रता है।

: ५ :

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

यत् स्थान=जो मोक्षरूपी स्थान, **साख्यै.**=सन्यासियो को, **प्राप्यते**=प्राप्त होता है, **तत् योगैः अपि**=वही (स्थान) कर्मयोगी ज्ञानियो को भी, **गम्यते**=प्राप्त होता है, **यः**=(इसलिए) जो, **साख्य च योग च**=सन्यास और कर्मयोग को, **एक पश्यति**=एक देखता है, **सः पश्यति**=वही (यथार्थ रूप से) देखता है।

इस श्लोक मे दो वाते वतायी है १. जो मोक्षरूपी स्थान साख्यो यानी कर्म-सन्यासी ज्ञानी पुरुषो द्वारा प्राप्त किया जाता है, वही स्थान योगी यानी कर्मयोगी ज्ञानी पुरुषो द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। २ इसलिए जो साख्य और योग को एक देखता है, वही पुरुष यथार्थरूप से देखता है। पिछले श्लोक मे जो वात वतायी, उसीको यहाँ अधिक स्पष्ट किया गया है।

(१) **यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तत् योगैः अपि गम्यते।** कर्म-सन्यासी ज्ञानी यानी साख्य जो मोक्षरूपी स्थान प्राप्त करते है, वही स्थान कर्म-योगी ज्ञानी यानी योगी प्राप्त करते है। पूर्ण कर्म-सन्यासी ज्ञानी अथवा पूर्ण कर्मयोगी ज्ञानी दोनो की आतरिक दशा एक ही रहती है। दोनो का अज्ञान (देहभाव) नष्ट हो जाता है, दोनो का अहकार परमात्म-स्वरूप मे विलीन हो जाता है। दोनो अकर्ता वन जाते है, निष्काम, निर्विकार वन जाते है, अनासक्त, अलिप्त हो जाते है, इसलिए दोनो की स्थिति मे लेशमात्र अतर नही रहता। परमात्म-स्वरूप का ज्ञान हो जाने से दोनों को मोक्ष मिलता है। दोनो का अतर केवल वाहरी है, भीतरी नही। 'गीता-प्रवचन' के पाँचवे अध्याय मे विनोवाजी लिखते है

"सन्यास और योग मे जो एकरूपता देखेगा, उसीने वास्तविक रहस्य को समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नही करता। जो सचमुच श्रेष्ठ सन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो विल्कुल निर्विकार है, ऐसे सन्यासी पुरुष को दस दिन हमारे-आपके वीच आकर रहने दे। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी! अनेक वर्षो तक काम का ढेर लगाकर भी जो नही हुआ, वह केवल उसके दर्शन से, अस्तित्वमात्र से हो जायगा। फोटो देखकर यदि मन मे पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगो के चित्रो से यदि भक्ति, प्रेम और पवित्रता हृदय मे उत्पन्न होती है, तो जीवित सन्यासी को देखने से कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ? सन्यासी और योगी दोनो लोक-सग्रह करते है। एक जगह यदि वाहर से कर्म-त्याग दिखाई दिया, तो भी उस कर्म-त्याग मे कर्म ठसा-ठस भरा हुआ है। उसमे अनत स्फूर्ति भरी हुई है। ज्ञानी सन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनो एक ही सिहासन पर वैठनेवाले है। सज्ञा भिन्न-भिन्न होने पर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्व के ये दो पहलू या प्रकार है। यत्र जव वेग से घूमता है तो वह ऐसा दिखाई देता है, मानो स्थिर है, घूम नही रहा है। सन्यासी की भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शाति, उसकी स्थिरता से अनत

शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियाँ थी। सन्यासी के सभी उद्योगो की दौड एक आसन पर आकर स्थिर हो जाय तो भी वह प्रचड कर्म करता है। साराश यह कि योगी ही सन्यासी है और सन्यासी ही योगी है। दोनो मे कुछ भी भेद नही है। शब्द अलग-अलग है, पर अर्थ एक ही है। जैसे पत्थर के मानी पाषाण और पाषाण के मानी पत्थर है, वैसे ही कर्मयोगी के मानी सन्यासी और सन्यासी के मानी कर्मयोगी है।"

ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है "सन्यास और कर्मयोग दो मार्ग है, पर अत मे दोनो एक हो जाते है। भोजन तैयार करना है और भोजन तैयार हो गया है, दोनो मे तृप्ति समान है। पूर्व की तरफ से वहनेवाली और पश्चिम की तरफ से वहने-वाली दोनो नदियाँ वहती है भिन्न दिशा से, लेकिन अत मे दोनो समुद्र मे ही आ मिलती और एक हो जाती है। वैसे ही ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनो भिन्न मार्ग होने पर भी दोनो एक ही ध्येय की प्राप्ति को सूचित करते है। लेकिन यह उनका आचरण करनेवाले की योग्यता पर अवलवित रहता है। पक्षी एकदम उडकर फल से चिपक जाता है, लेकिन आदमी को वह एकदम कैसे मिल सकता है ? उसे तो एक शाखा से दूसरी शाखा पर धीरे-धीरे चढने पर ही वह फल मिल सकता है। वैसे ही विहगम-मार्ग से ज्ञानमार्ग का आश्रय लेकर ज्ञान-मार्गी साधक तुरत ही मोक्ष प्राप्त कर लेते है। लेकिन कर्मयोग-मार्ग से जानेवाले साधक कर्ममार्ग का आश्रय लेकर शास्त्र के अनुसार विहित कर्म का आचरण करके कुछ काल के वाद पूर्णता प्राप्त करते है।"

(२) दूसरी वात यह है कि इस तरह साख्य और योग दोनो को जो एक देखता है, वही यथार्थरूप से देखता है। दोनो की वाह्य स्थिति को देखकर कोई फर्क करने लगे तो वह अज्ञानी है, ऐसा भगवान् ने चौथे श्लोक मे वता ही दिया है। वही वात यहाँ दुहरा रहे है।

दोनो विलकुल एक होते हुए भी लोक-सग्रह की दृष्टि से, लोगो को यथार्थ मार्गदर्शन मिलता रहे इस दृष्टि से पूर्ण कर्मयोगी का कर्मयोग ज्यादा प्रशसनीय है। सामान्य मनुष्य के जीवन मे उलझन के अनेक प्रसग आते है। उलझने प्रत्यक्ष व्यवहार मे किस तरह दूर करे, यह सामान्य मनुष्य की समझ मे नही आता। जीवन की हरएक क्रिया किस तरह की जाय, ताकि किसी भी प्रकार की गलती न हो और उन्नति भी करते रहे, इसके लिए वाह्य आचरण का आदर्श उदाहरण, आदर्श नमूना समाज के सामने हमेशा होना चाहिए। इस तरह का उदाहरण कर्मयोगी के वाह्य कर्माचरण से समाज के सामने पेश होता रहता है। इसी तरह पूर्ण कर्मयोगी का कर्मयोग समाज के अज्ञजनो को अपार लाभ पहुँ-चाता है, यह गाधीजी और विनोवाजी के कर्मरत जीवन मे स्पष्ट है।

: ६ :

संन्यासस्तु महावाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

तु महावाहो=लेकिन हे अर्जुन!, **सन्यासः**=कर्म-सन्यास, **अयोगतः**=कर्मयोग के विना, **आप्तुं दुःखम्**=प्राप्त होना कठिन है, **योगयुक्तः मुनिः**=कर्मयोग-युक्त मुनि, **नचिरेण**=शीघ्र ही, **ब्रह्म अधिगच्छति**=ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक मे दो वाते है १ कर्मयोग के आचरण के विना सन्यास प्राप्त होना वहुत कठिन है। २ कर्मयोग के आचरण से युक्त और ईश्वर का चिन्तन करनेवाला मुनि वहुत शीघ्र ब्रह्म को यानी परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

(१) **संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः**—लेकिन हे अर्जुन, कर्म-सन्यास कर्मयोग के आचरण के बिना प्राप्त होना बहुत कठिन है।

विनोबाजी कहते है "सर्वकर्म-सन्यास होगा कैसे ? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया हुई न ? 'बैठना' यह क्रियापद है। सतत बैठे रहने से पैर दुखने लगते है। बैठने मे भी श्रम है ही। जहाँ न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहाँ कर्म-सन्यास होगा भी कैसे ? योग्यता न होते हुए कर्म छोडने जाते है तो कर्म छाती पर बैठता है यानी मन मे विषय-चिन्तन शुरू हो जाता है। विषय-चिन्तन मन मे शुरू होने पर भी जो मनुष्य कर्म न करने का हठ, आग्रह रखता है, उसे वह मानसिक विषय-चितन पूरी रीति से गिराता है, उसे पटक देता है।"

मानसिक विषय-चिंतन होने पर भी जिन्होने बाह्य-कर्म न करने का आग्रह रखा, उन्होने अपने लिए दुराचार का, अनाचार का, दभ का मार्ग तैयार किया, ऐसा समझना चाहिए। इसका जिक्र तीसरे अध्याय के छठे श्लोक मे आया है। अतएव भगवान् कह रहे है कि कर्मयोग के आचरण के बिना कर्म-सन्यास के मार्ग पर जाने की कोशिश निष्फल हो जायगी। वह दुखदायक होगी। कर्मयोग के दीर्घकाल के आचरण के बिना कर्म छोडने का अधिकार प्राप्त होना बहुत कठिन है। इसलिए आदमी को नम्र बनकर कर्मयोग-मार्ग से चलने की कोशिश करनी चाहिए। कोशिश करते-करते रजोगुण, तमोगुण क्षीण होकर सत्त्वगुण का उत्कर्ष होने के बाद मन की कर्मत्याग के लिए तैयारी हो सकती है। मन जब भीतर से ससार से अलिप्त होने लगता है, काम-क्रोधादि विकारो से वह मुक्त हो जाता है, तब उसमे ऐसी ताकत आती है कि वह एकांत मे जाकर अथवा जगलो मे गिरि-कदरो मे विहार करते हुए कर्म-त्याग के मार्ग से ध्यान आदि मे सफल होकर परमात्म-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

एक जगह विनोबाजी कहते है "ज्ञान के पहले की साधना और ज्ञान प्राप्त होने के बाद की स्थिति मिलकर साधना का मार्ग पूर्ण रूप से तैयार होता है। शास्त्र और अनुभव के अनुसार उसके तीन प्रकार हो सकते है

१ साधकावस्था मे कर्मयोग और सिद्धावस्था मे कर्मयोग।

२ साधकावस्था मे कर्मयोग और सिद्धावस्था मे कर्म-सन्यास।

३. साधकावस्था मे कर्म-सन्यास और सिद्धावस्था मे भी कर्म-सन्यास। पहले दो प्रकारो मे गीता कोई फर्क नही करती। तीसरे प्रकार मे गीता इतना ही कहती है कि वह कर्म-सन्यास-मार्ग बहुत कठिन है। कठिन होने पर भी अशक्य है, ऐसा गीता नही कहती।"

इसीलिए इस श्लोक मे बताया कि कर्मयोग की साधना के बिना कर्म-सन्यास प्राप्त होना बहुत कठिन है।

(२) **योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति**। दूसरी बात यह है कि कर्मयोग का आचरण भलीभाँति किये जाने पर योगयुक्त मुनि भगवान् के चिन्तन मे परायण होकर परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ भगवान् ने खूबी से बतलाया है कि कर्मयोग के आचरण के बिना कर्मत्याग का अधिकार प्राप्त नही होता और कर्मयोग का आचरण भलीभाँति हो जाय तो फिर कर्म-त्याग की जरूरत भी नही रहती, क्योकि कर्मयोग के आचरण से वह 'मुनि' बन जाता है। उसका चित्त ससार से विरत हो जाता है। उसकी वृत्ति का प्रवाह भगवत्-चिन्तन की तरफ बहने लगता है। **मननात् मुनिः**—यह शकराचार्य की

मुनि की व्याख्या है। भगवान् के स्वरूप के चितन मे जिसका चित्त सदा रहने लगता है, वह मुनि है। आयुर्वेद मे कहा है कि 'खान-पान मे पथ्य नही पालते है तो दवा का कोई उपयोग नही और खान-पान मे पथ्य पालते है तो दवा की जरूरत नही।' भगवान् ने यहाँ खूबी से, युक्ति से यही वतलाया कि कर्मयोग के आचरण के विना कर्म-त्याग नही और कर्मयोग का भली प्रकार आचरण करते है तो कर्म-त्याग की जरूरत नही। वहुत जल्दी वह परमात्म-स्वरूप का अनुभव प्राप्त कर लेता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि चौथे अध्याय के ३८वे श्लोक मे कहा कि ज्ञान कुछ काल के वाद प्राप्त होता है **कालेन**। शकराचार्य ने भाष्य मे 'कालेन' के पीछे 'महता' शब्द जोड दिया है **महता कालेन**—यानी दीर्घकाल के वाद। यहाँ **नचिरेण** शब्द है। यानी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने मे विलव नही लगता। योगयुक्त होने के वाद साधक ब्रह्मज्ञान वहुत जल्दी प्राप्त कर लेता है। इस तरह लगता है कि भगवान् परस्पर-विरुद्ध वाते कह रहे है! वास्तव मे पूर्व-प्रवाह देखकर श्लोको का अर्थ करना चाहिए। इस श्लोक मे कर्म-सन्यास और कर्मयोग की तुलना है। भगवान् कह रहे है कि योग की साधना के विना सन्यास प्राप्त होना अतिकठिन है। लेकिन कर्मयोग की साधना की जाय तो ब्रह्मप्राप्ति मे देर नही लगती। चौथे अध्याय मे किसी मार्ग की तुलना नही है। वहाँ स्वतत्र रीति से वस्तुस्थिति का दर्शन कराया है कि योग-युक्त होने के वाद ब्रह्मज्ञान दीर्घकाल के वाद प्राप्त होता है। कर्म-सन्यास के साथ कर्मयोग की तुलना करके वताया है कि कर्म-सन्यास कर्मयोग की साधना किये विना प्राप्त होना वहुत कठिन है। इसलिए कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की साधना करने से परमात्मा वहुत जल्दी प्राप्त हो सकता है।

: ७ :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

योगयुक्तः=जो योगयुक्त है, **विशुद्धात्मा**=जिसकी वुद्धि, चित्त विशुद्ध है, **विजितात्मा**=जिसने मन को जीत लिया है, **जितेन्द्रियः**=जो जितेन्द्रिय है, **सर्वभूतात्मभूतात्मा**=जिसकी आत्मा सव भूतो की आत्मा वन गयी है, जो सव भूतो के साथ ऐक्य का अनुभव करता है, **कुर्वन् अपि न लिप्यते**=(वह) कर्म करते हुए भी लिप्त नही होता।

इस श्लोक मे दो वाते है १ जो कर्मयोग की साधना करके सिद्ध हो गया है और उस साधना से जिसकी वुद्धि विशुद्ध हो गयी है, जिसने मन को जीत लिया है, जो जितेन्द्रिय है और जो सव भूतो के साथ एकरूप हो गया है, (वह पुरुष), २ कर्म (सत्कर्म) करते हुए भी लिप्त नही होता, अकर्ता वना रहता है।

(१) इस श्लोक मे पहली वात यह है कि कर्मयोग की साधना से जो सिद्ध हो गया है, उसके चार परिणाम आते है १ वुद्धि विशुद्ध हो जाती है, २ मन जीत लिया जाता है, ३ सव इद्रियाँ वश मे हो जाती है, और ४ सव भूतो के साथ ऐक्य का अनुभव आता है। अव देखना यह है कि कर्म-योग का स्वरूप क्या है, उसमे किन-किन चीजो का समावेश होता है कि ये चार परिणाम आते है। कर्मयोग मे मुख्यत चार वाते आती है १ वाहर से स्वधर्म का पालन, २ भीतर से चित्तशुद्धिकारक अनेक प्रकार के विकर्म, ३ कर्म-फल-त्याग यानी कर्म-फलासक्ति का त्याग और ४ ईश्वरार्पण-वुद्धि से कर्म करना यानी अहकार को छोडकर, खुद शून्य वनकर तथा ईश्वर-भक्ति से युक्त होकर कर्म करना। वैसे देखा जाय तो विकर्म मे कर्मफल-त्याग और ईश्वर-भक्ति का समावेश है। फिर भी फल-त्याग की कैंची तो मोक्ष पर भी चलती है, इसलिए उसका मूल्य

विशेष प्रकार का समझना चाहिए । ईश्वर-भक्ति के विना अहकार शून्य नही हो सकता । अहकार-शून्य वने विना मोक्ष मिलना असभव है । जव तक अहकार क्षीण नही होता, तव तक चित्त-शुद्धि सभव नही । इसलिए ईश्वर-भक्ति का भी स्वतत्र मूल्य है । तो, इस तरह योग-युक्त होकर यानी कर्मयोग से सम्पन्न होकर हम अकर्ता वन सकते है । इस तरह के चतुर्विध कर्मयोग का पहला परिणाम होता है वुद्धि का विशुद्ध होना । बुद्धि विशुद्ध हो जाती है, तो उसके आगे रहनेवाला मन कावू मे आ जाता है । जहाँ मन पर कावू आया, वहाँ इद्रियो पर जय मिल ही जाती है ।

सृष्टि के जड पदार्थो को या चेतन प्राणियो को देखते समय हमारी सिर्फ कार्य-दृष्टि ही रहती है। उनके कारणका, उन पदार्थो मे छिपे तत्त्व का यानी कारण-द्रव्य का हमे ज्ञान नही होता । लेकिन जिन्होने जड़ और चेतन पदार्थो की तह मे निहित परमात्म-तत्त्व को जान लिया है, उन्हे जड-चेतन पदार्थो को देखते हुए परमात्म-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वे उन जड-चेतन पदार्थो को देखते हुए परमात्मा को देख लेते है और उसी परमात्म-दृष्टि को मुख्य समझकर उनका सवके साथ व्यवहार चलता रहता है। यही वात भगवान् ने यहाँ वतायी है। सव भूतो की आत्मा यानी सव भूतो के साथ ऐक्य का अनुभव सिद्ध पुरुप करता रहता है । क्योकि सवकी तरफ परमात्म-दृष्टि से यानी चैतन्य दृष्टि से देखने की और उसके अनुसार चलने की उसे दृष्टि मिल जाती है। इस प्रकार भगवान् ने योग-युक्त यानी कर्मयोग से सम्पन्न होने से जो चार परिणाम आते है, वे वतला दिये ।

(२) दूसरी वात यह है **कुर्वन्नपि न लिप्यते**। कर्मयोग से सम्पन्न और इन चार परिणामो मे युक्त जो पुरुप है, वह कर्म करते हुए भी लिप्त नही होता। जव तक सृष्टि के जड-चेतन पदार्थो की तरफ परमात्म-दृष्टि से देखने और उसके अनुसार चलने की दृष्टि नही आती, तव तक कर्म मे अलिप्तता, अनासक्ति प्राप्त होना सभव नही । कार्य को देखते हुए कारण-दृष्टि मिल जाती है, तव मनुष्य कार्य मे आसक्त या लिप्त न होकर कारणरूप परमात्मा मे लिप्त रहता है। परमात्मा की आसक्ति अति आनन्द पैदा करती है। यह परमात्म-आसक्ति मनुष्य को ससार के वधन से अलिप्त रखती है ।

: ८-९ :

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्श‍ृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन् श्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

पश्यन् श‍ृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्=देखते, सुनते, स्पर्श करते, गध लेते, **अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्**=खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, **प्रलपन् विसृजन्**=वोलते हुए, (मल) विसर्जन करते हुए, **गृह्णन्**=ग्रहण करते हुए, **उन्मिषन् निमिषन् अपि**=आँखो को खोलते हुए, मूँदते हुए भी, **इद्रियाणि इद्रियार्थेषु**=इद्रियाँ अपने-अपने विषयो मे, **वर्तन्ते**=वरत रही है, **इति धारयन्**=ऐसा जानकर, **युक्तः तत्त्वविद्**=योगी तत्त्वज्ञ, **किंचित् न एव करोमि**=कोई भी क्रिया मै विलकुल नही करता, **इति मन्येत**=ऐसा समझे ।

इन दो श्लोको मे दो वाते वतायी गयी है १ सव इद्रियो की सव क्रियाओ का कर्ता इद्रियाँ ही है, २ ऐसा जानकर आत्मज्ञानी पुरुप इद्रियो के कर्मो का स्वय कर्ता न वनकर 'मै कुछ भी नही करता' ऐसा अनुभव करता रहता है ।

(१) आठवाँ पूरा और नवाँ आधा श्लोक इद्रियो के कार्यो को गिनाने मे ही समाप्त हुआ है। यहाँ सव इद्रियो के कार्यो का अलग-अलग उल्लेख है। यहाँ भगवान् ने हर इद्रिय की क्रिया का अलग-अलग वर्णन इसलिए किया है कि उसका महत्त्व यथार्थरूप से ध्यान मे आ जाय । यहाँ दसो इद्रियो का जिस क्रम से वर्णन किया गया है, वह समझने की वात है । इद्रियो के महत्त्व की

दृष्टि से क्रम रखा गया है। जैसे सर्वप्रथम आँख और उसके कार्य का उल्लेख किया, फिर कान का।

(२) दूसरी बात है **इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् युक्तः तत्त्ववित् किंचित् न एव करोमि इति मन्येत।** सब इद्रियो के व्यापार, सब इद्रियो की क्रियाएँ इद्रियाँ ही करती है यानी सब इद्रियाँ अपने-अपने विषयो मे वरतती है। उन क्रियाओ के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नही रहता, यह बात तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष ने जान ली है। इसलिए उसके मन मे यही भावना रहती है कि इद्रियो की क्रियाओ का मै बिलकुल कर्ता नही हूँ, मेरा स्वरूप इन इद्रियो से भिन्न है, मै सिर्फ ज्ञाता, अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी हूँ। भगवान् ने इन दो श्लोको मे सब इन्द्रियो की क्रियाओ का अलग-अलग वर्णन इसलिए किया है कि एक बात स्पष्टरूप से ध्यान मे आ जाय कि सारी क्रियाएँ शरीर और इन्द्रियो से होती रहती है, उनके साथ आत्मा का सम्बन्ध जोडना महा-अज्ञान है, महाभ्रम है, महा-असत्य है। किसीने हमे एक कीमती घडी रखने को दी। अब उस घडी को हम अपनी ही मानने लगे और कहे कि यह घडी हमारी है, तो यह असत्य होगा। इसी प्रकार देह और इन्द्रियो के कार्यो को अपना मानना मिथ्या होगा। इन्द्रियो की क्रियाओ को अपनी क्रिया समझकर हम दुखी भी हो जाते है। कर्म करती है इन्द्रियाँ और उसका दुख होने लगता है हमे। होना तो यह चाहिए कि जो कर्म करे, वही उसका फल भुगते। आँख ने कोई चीज देखी, तो उसका आनन्द आँख को ही होना चाहिए। लेकिन उसका आनन्द हमे ही होता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि इन्द्रियाँ तो जड है, उनकी क्रियाओ का ज्ञान उन्हे नही हो सकता। जहाँ इन्द्रियो को अपनी क्रियाओ का ज्ञान ही नही होता, वहाँ उन्हे सुख-दुख का अनुभव कैसे होगा? बात सही है। इन्द्रियो की क्रियाओ का हमे सिर्फ ज्ञान ही होना चाहिए। ज्ञान के बाद सुख-दुख का अनुभव नही होना चाहिए। ज्ञान होना एक चीज है और सुख-दुख का अनुभव होना दूसरी चीज। हम ज्ञानस्वरूप है, ज्ञाता है, अत हमे ज्ञान होगा, यह ठीक है। लेकिन सुख-दुख तो नही होना चाहिए। यदि हमे वह होता है तो समझना चाहिए कि हम इद्रियो की क्रियाओ के सिर्फ ज्ञाता न रहकर कर्ता भी बनते है। इन्द्रियो की क्रियाओ का ज्ञान होना गलत चीज नही, मगर इद्रियो की क्रियाओ का कर्ता बनकर सुखी और दुखी बनना गलत चीज है। इन्द्रियाँ स्वय जड होने से उन्हे अपनी क्रियाओ का ज्ञान नही होता, लेकिन इन्द्रियो से क्रिया तो होती ही रहती है। इसलिए कर्ता भी स्वय इन्द्रियाँ ही है। भगवान् इस अध्याय मे कह रहे है कि सन्यास और योग दोनो भीतर से एक है। सन्यास यानी अकर्तापन की स्थिति को बिलकुल स्पष्ट करने के लिए इन्द्रियो की हरएक क्रिया का वर्णन करके यह बतलाया कि हम इन्द्रियो की क्रियाओ के कर्ता नही है और हम सिर्फ ज्ञाता, अकर्ता, अभोक्ता है।

: १० :

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संग त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

य. कर्माणि=जो पुरुष कर्मो को, **ब्रह्मणि आधाय**=ब्रह्म को यानी परमात्मा को अर्पण करके, **सग त्यक्त्वा**=(फल की) आसक्ति छोडकर, **करोति**=करता है, **स.**=वह पुरुष, **अम्भसा पद्मपत्र इव**=जल मे कमल-पत्र जैसे अलिप्त रहता है, वैसे ही, **पापेन न लिप्यते**=पाप-कर्म मे लिप्त नही होता।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जो पुरुष सत्कर्म परमात्मा को अर्पण करके, २. और फलासक्ति छोडकर करता है, ३ वह पुरुष पानी मे कमल-पत्र जैसे अलिप्त रहता है, ४ (वैसे ही) पाप-कर्म से अलिप्त रहता है।

(१) पहली वात है **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि**। सत्कर्म परमात्मा को अर्पण करके। पहले श्लोक मे इद्रियो के स्वभाव और कर्म की चर्चा करके यह वताया कि हम वस्तुत इद्रियो के कार्यो के कर्ता न होकर भी अपने को भ्रान्तिवश कर्ता माने हुए है और सुख-दु ख का अनुभव करते है। अकर्ता की अनुभूति का पहला उपाय यह है कि सारे कर्म परमात्मा को अर्पण कर दो।

शकराचार्य लिखते है **भृत्यः स्वाम्यर्थं इव तदर्थं करोमि**। अर्थात्–जैसे नौकर अपने स्वामी के लिए कर्म करता है, वैसे ही परमात्मा के लिए मै कर्म करता हूँ।

यह दृष्टात वहुत सटीक है। नौकर यदि अपने को तुच्छ न समझे और स्वामी को श्रेष्ठ न समझे तो वह स्वामी को अपना जीवन अर्पण नही कर सकता। वैसे ही हम अपने को जव तक तुच्छ नही समझते और परमात्मा को सर्वश्रेष्ठ नही समझते, तव तक अपना सारा जीवन परमात्मा को अर्पण नही कर सकते। लेकिन जो कर्म परमात्मा को अर्पण किये जायँ, वे शुद्ध होने चाहिए। हम मन्दिर मे जाते है। वहाँ देव-पूजा के लिए अच्छे फूल ले जाते है। जल भी शुद्ध ही ले जाते है। स्वच्छ जल से ही देव का अभिषेक करते है। देव-पूजा की सामग्री उत्कृष्ट हो, ऐसी भावना रहती है। यही नियम भगवान् को कर्मरूपी फूल अर्पण करने मे भी रहना चाहिए। कर्म अतिशुद्ध होना चाहिए। अतिशुद्ध यानी अतिसात्त्विक। कर्म सुन्दर करने की भी कोशिश करनी चाहिए।

(२) दूसरी वात है **संगं त्यक्त्वा**। आसक्ति छोडकर कर्म करना चाहिए। ममत्व रखकर और कर्मफल की आसक्ति रखकर भी भगवान् को सत्कर्म अर्पण किया जा सकता है। अक्सर हमारी सारी क्रियाएँ अह-प्रेरित और कर्मफल की आसक्ति से भरी होती है। कर्म करने की प्रेरणा देनेवाली ये ही दो चीजे है। 'मै कर्म करता हूँ, इसलिए उसका फल मुझे मिलना चाहिए', ऐसी आसक्ति पैदा होने लगती है। कर्मफल का आग्रह मन मे रहे और कर्मफल की प्राप्ति के लिए हम वरावर कोशिश करते रहे, यह सव कर्म की सफलता के लिए आवश्यक है। जव कर्म करते है, तो उसका उद्देश्य होता ही है और हम चाहते भी है कि वह उद्देश्य सफल हो। परिणाम की दृष्टि से यदि कर्म न करे तो कर्म निष्फल हो जाता है। फल की आसक्ति त्यागकर कर्म करने का मतलव कर्म निष्फल करना नही है। कोशिश करने पर भी जव कर्म सफल न हो तो उसकी आसक्ति नही रखनी चाहिए। अत भगवान् कहते है कि ईश्वर को अर्पण करके कर्म करने के प्रयत्न मे अहकार छूट जाता है। अहकार न रहने से आसक्ति छूट जाती है और कर्म सफल न हो तो भी चित्त शात रहता है।

(३) तीसरी वात है **अम्भसा पद्मपत्रं इव**। कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहना। हमे जल मे कमल-पत्र की भाँति अलिप्त रहकर कर्म करना चाहिए। जहाँ फल की आसक्ति छूट जाती है, अहकार छूट जाता है, वहाँ अलिप्तता के सिवा और कोई चीज नही रह जाती।

(४) चौथी वात है **लिप्यते न स पापेन**। वह पाप से लिप्त नही होता। यहाँ सवाल उठता है कि क्या वह पाप करते हुए लिप्त नही होता है अथवा पाप-कर्म उससे होता ही नही, इसलिए पाप-कर्मो से वह अलिप्त रहता है? और क्या पाप-कर्म मे पुण्य-कर्म का भी समावेश समझा जाय?

जव कर्म परमात्मा को अर्पण करके किया जाता है, तव पाप-कर्म तो हो ही नही सकता। अत पाप-कर्म करते हुए अलिप्त रहता है, यह अर्थ नही लिया जा सकता। जिस तरह प्रकाश के सामने अँधेरा रह नही सकता, उसी तरह ज्ञानरूपी प्रकाश के सामने अज्ञानरूपी अँधेरा टिक नही सकता। पाप-कर्म अज्ञान का कार्य है और साधक-

दशा मे यदि पाप-कर्म नही चल सकता तो सिद्ध-दशा मे कैसे चल सकता है ? साधक-दशा प्रयत्नावस्था है। इसलिए उसमे कुछ गलतियाँ, कुछ नैतिक दोष हो सकते है। लेकिन सिद्ध-दशा परिपूर्ण स्थिति है। उसमे नैतिक दोष होने की कोई सभावना नही रहती। कमल के पत्ते पानी से जैसे अस्पृष्ट रहते है, वैसे ही पाप-कर्म से परमात्मा की शरण लेनेवाला पुरुष अस्पृष्ट रहता है। पाप-कर्म मे पुण्य-कर्म का समावेश हो सकता है या नही ? इसका उत्तर है, हो सकता है। पुण्य-कर्म के साथ सम्बन्ध रहते हुए वह पुरुष अलिप्त रहता है और पाप-कर्म के साथ तो उसका सम्बन्ध ही नही आता।

: ११ :

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिन: कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

योगिन:=कर्मयोगी पुरुष, (**केवलेन**) **कायेन**=केवल शरीर से, (**केवलेन**) **मनसा**=केवल मन से, (**केवलया**) **बुद्ध्या**=केवल बुद्धि से, **केवलैः इन्द्रियैः अपि**=केवल इद्रियो से भी, **सगं त्यक्त्वा**=आसक्ति छोडकर, **आत्मशुद्धये**=आत्म-शुद्धि के लिए, **कर्म कुर्वन्ति**=कर्म करते है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ योगी पुरुष सिर्फ शरीर से, सिर्फ मन से, सिर्फ वुद्धि से और सिर्फ इद्रियो से, २ आसक्ति छोडकर, ३ आत्म-शुद्धि के लिए, ४ कर्म करते है।

(१) **कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।** इस श्लोक मे कहा है कि योगी-जन भी आत्म-शुद्धि यानी चित्त-शुद्धि के लिए जीवन विताते है। शुरू मे कह रहे है कि सिर्फ शरीर, मन और बुद्धि से और सव इद्रियो से यानी पच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मिलकर दस इद्रियो से ही सत्कर्म करते है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता कि सभी लोग काय, मन, वुद्धि और दस इद्रियो से ही कर्म करते है, फिर यहाँ विशेष वात क्या कही गयी है ? इसका उत्तर यह है कि सव लोग कर्म करते है, लेकिन अकर्तापन का अनुभव करते हुए नही करते। अत यहाँ पर योगी-जन जो कर्म करते है वह अकर्तापन के अनुभव के साथ करते है, यह विशेष वात कही है और यह वताने के लिए **केवलैः** शब्द मन, वुद्धि और काय और सव इद्रियो के साथ जोड दिया। देह, मन, वुद्धि अथवा इद्रियाँ इनमे से कोई भी इस तरह हमे नही प्रेरणा देता कि हम उनके कार्यो के साथ अपनत्व का यानी कर्तापन का सम्वन्ध रखे। एक तरह से देखा जाय तो यह हमारी अपनी काया, मन, वुद्धि और इद्रियो पर जवरदस्ती है कि उनके कार्यो को हम अपना कार्य मानते है। हम स्वय कौन है, हमारा स्वरूप क्या है, यह ज्ञात न होने से देह-इद्रियो को हम अपना स्वरूप समझकर उनके कार्यो का अपने पर आरोपण करते रहते है। भगवान् वतला रहे है कि योगी-जन अपने स्वरूप को पहचाने रहते है, इसलिए वे देह, मन, वुद्धि और इद्रियो की क्रियाओ के साथ अपना सम्वन्ध नही जोडते।

(२) दूसरी वात है **संगं त्यक्त्वा**—आसक्ति छोड़ने की। योगी-जन जैसे कर्म करते हुए अकर्ता रहते है, वैसे ही वे कर्म-फलासक्ति छोडकर कर्म करते है। 'फल की आसक्ति छोडना' गीता का मूलमत्र है। गीता मे जगह-जगह इसका जिक्र आया है। अकर्तापन की भूमिका प्राप्त होने के वाद कर्मफलासक्ति रहनी नही चाहिए। यदि रही तो अकर्तापन की भूमिका प्राप्त होने मे कुछ कमी रह गयी है, यही समझना चाहिए।

(३) योगी-जन आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते है। ज्ञान-प्राप्ति के वाद कर्म-वधन तो छूट ही जाता है, लेकिन जव कि प्रारव्ध-कर्म से जीवित रहना पडता है, तव विकास की प्रक्रिया चालू रहती है। देह छूटने तक यह विकास-प्रक्रिया चालू रहती है, तो ज्ञान प्राप्त होने के वाद परमात्म-स्वरूप के अनुभव मे वृद्धि होती रहेगी, सूक्ष्मता

बढती जायगी । इसलिए यहाँ कहा गया है कि आत्मशुद्धि बढती रहे, उसमे सूक्ष्मता आती जाय, यह योगी-जनो का लक्ष्य रहता है ।

(४) चौथी बात यह है कि अकर्तापन की भूमिका पर स्थित होकर, फलासक्ति छोडकर, आत्मशुद्धि का यानी चित्तशुद्धि का लक्ष्य रखकर योगी कर्म यानी सत्कर्म करते हुए जीवन विताते है। सत तुकाराम कहते है **जगाच्या कल्याणा। संतांच्या विभूति। देह कष्टविती। उपकारे॥** अर्थात् जगत् के कल्याण के लिए सतो की विभूति है। परोपकार की दृष्टि से वे अपनी देह से कष्ट उठाते रहते है। ज्ञानी पुरुष के समक्ष चित्त-शुद्धि तथा जगत् के कल्याण के सिवा और कोई ध्येय नही रहता ।

: १२ :

युक्त कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्त कामकारेण फले सक्तो निवध्यते॥

युक्त.=योगी पुरुष, **कर्मफलं त्यक्त्वा**=कर्मफल की आसक्ति छोडकर, **नैष्ठिकीं शांति आप्नोति**=निश्चल शाति प्राप्त करता हे, **अयुक्त कामकारेण**=अयोगी काम मे प्रेरित होकर, **फले सक्त. निवध्यते**=फल मे आसक्त होकर वधन मे फँसता है ।

इस श्लोक मे चार वाते है १ योगी कर्म-फल को छोडता है । २ निश्चल शाति प्राप्त करता है । ३ जिसका मन चचल है, वह कर्म फल मे आसक्त रहता है, ४ अत वह कर्म-वधन मे फँस जाता है ।

(१) **युक्त कर्मफलं त्यक्त्वा** । युक्त (योगी), जिसका मन आदि इद्रियो पर पूरा काबू रहता है, जिसके अहकार आदि मनोविकार नष्ट हो गये हे, वह कर्म करता है, लेकिन कर्मफल की आसक्ति छोडता है। सर्प को ही ले। वाजीगर सर्प की जहर की थैली निकाल देता है। इसलिए दिन-रात सर्प के साथ रहते हुए भी उसे कोई तकलीफ नही होती । यही वात सत्कर्म की है । फल की आसक्ति रहने से ही सत्कर्म वधनकारक हो जाता है। फल की आसक्ति रखे वगैर सत्कर्म किया जाता है तो वह मुक्ति का साधन वन जाता है। गाधीजी ने फल-त्याग को ही गीता की चाभी कहा है। शकराचार्य ने **मोक्षे अपि फले संगं त्यक्त्वा** कहा है । मोक्ष-फल की आसक्ति भी दु ख का कारण होती है।

(२) **शांति आप्नोति नैष्ठिकीम्** । फल-त्याग से निश्चल शाति प्राप्त हो सकती है। फल-त्याग का परिणाम निश्चल शाति, यही अनुभव मे आयेगा । एक तरह से देखा जाय तो सत्कर्म के फल की आसक्ति छोडना इतना कठिन नही है, जितना मोक्षरूपी फल की आसक्ति का छोडना। मोक्ष अतिम अवस्था है । उसके लिए ही साधक साधना करता है । साधना करते हुए सतत यह लक्ष्य रहता है कि साधना का फल मोक्ष मिलता है या नही । यदि वह नही मिलता तो चित्त मे व्याकुलता पैदा होती है। फलासक्ति मे अहकार रहता है । मोक्ष भी मुझे चाहिए । परमात्मा का अनुभव मुझे प्राप्त करना है, यानी यह जो "मैं" है वह तो मोक्ष के पीछे भी रहा ही। परमात्मा का अनुभव भी मुझे चाहिए । समाधि भी मुझे प्राप्त करनी है । यानी साधना करता हुआ वह 'मैं' हाजिर रहता है। उसका क्षय नही होता। लेकिन अहकार को पूरी तरह क्षीण करना यानी स्वय शून्य वनना ही मोक्ष है । अहकार क्षीण होने से राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकार भी नष्ट हो जाते है । जहाँ 'मैं' मिटा कि सारी उपाधि खतम ।

सवसे वलवान् तो अहकार है। मोक्ष-प्राप्ति, आत्म-साक्षात्कार या समाधि के पीछे रहनेवाला यह जो अहकार है, यह जो 'मैं' है, वह कर्मफल की आसक्ति छोडने के वाद वचता

नही । कर्मफल की आसक्ति छोडने का यह एक अद्भुत परिणाम है । ईश्वर-भक्ति प्राप्त करने की कोशिश मे भी यह अहकार पीडा देने लगता है । इतने दिनो से मै ईश्वर-भक्ति की कोशिश करता हूँ, फिर भी मुझे वह प्राप्त नही हो रही है, यह विचार साधक को व्यग्र कर देता है । भक्ति प्राप्त करने का ध्येय रखना तो बहुत जरूरी है । लेकिन उसकी आसक्ति दु खदायक होती है। भक्ति प्राप्त होने का समय तो कोई निश्चित है नही । हम साधना करते है, उसमे भी प्रयत्न की तीव्रता कम-ज्यादा होती है । प्रयत्न मे भी हर दिन समान रूप से तीव्रता बनी रहती है, ऐसी बात नही । उसमे भी शिथिलता आती रहती है । प्रयत्न करते हुए अनेक विक्षेप, विघ्न अनपेक्षित खडे होते रहते हैं । उन पर हमारा कोई काबू नही रहता । हमारे वश की बात है सिर्फ प्रयत्न । यदि वह प्रयत्न भी हमारे वश मे न रहे, तो उसके अतिम फल पर हमारा काबू कैसे रह सकेगा ? फल तो हमारे बिलकुल ही अधीन नही है । इसलिए 'फल की आसक्ति का त्याग' यह बुनियादी बात तो भगवान् सतत कहते जाते है । जितने अश मे कर्मफल-त्याग सधेगा, उतनी शाति प्राप्त होगी । पूर्ण फल-त्याग सधा तो पूर्ण शाति प्राप्त होगी । इस तरह योगी-जन कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके निश्चल शाति, परम शाति प्राप्त करते है ।

(३) तीसरी बात है **अयुक्तः कामकारेण फले सक्त** । जो अयोगी है यानी जिसका चित्त चचल है, जो सयमी नही है, जो हमेशा इद्रियो के अधीन रहता है, वह कर्मफल मे आसक्त रहता है। काम से यानी नाना प्रकार की इच्छाओ से प्रेरित होकर वह जीवन की सब क्रियाएँ करता है । जहाँ अपनी इच्छा से प्रेरित होकर जीवन बिताते है, वहाँ फल की आसक्ति रहेगी ही । सबका अनुभव है कि इच्छाओ, वासनाओ का कोई अत नही है । वे दुष्पूर है, अनन्त है । एक मे से दूसरी इच्छा पैदा होती रहती है और पूर्ति न होने पर दु ख होता है । मनुष्य मे अहकार की जितनी प्रबलता रहती है, उतनी इच्छा, वासना की भी प्रबलता रहती है और उतना ही दु ख का अनुभव होता है । जिसका चित्त चचल है, वह कर्मफल मे आसक्त रहता है । फल की आसक्ति का कारण है--इच्छा की प्रबलता ।

(४) चौथी बात है **निबध्यते** । फल की आसक्ति के कारण वह असयमी पुरुष कर्मबधन मे फँसता है । इस श्लोक के पहली अर्धाली मे बतलाया कि सयमी पुरुष कर्मफल की आसक्ति छोडने से परम शाति, निश्चल शाति प्राप्त करता है । इससे उलटा असयमी पुरुष कर्मफल मे आसक्त हो जाने से निश्चल शाति खो बैठता और कर्म-बधन मे फँस जाता है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है "जो परमात्मा के अनुभव से सम्पन्न हो गया है और कर्मफल की आसक्ति से जिसे नफरत हो गयी है, उसके घर मे यानी मनरूपी घर मे घुसकर शाति अपने आप उसे जयमाला पहनाती है । लेकिन कर्मफल की आसक्ति मे ही जिन्हे आनन्द आता है, वे इच्छारूपी डोरी से फलोपभोगरूपी कील मे बँधे रहते है ।"

शकराचार्य लिखते है **युक्त· ईश्वराय कर्माणि न मम फलाय इति एवं समाहितः सन् कर्मफलं त्यक्त्वा मोक्षाख्यां शांति आप्नोति** । अर्थात्–युक्त के यानी मेरे सब कर्म ईश्वर के लिए है, मुझे फल मिले, इसके लिए मेरे कर्म नही है, इस प्रकार मन मे भावना रखकर शात-चित्त से कर्म करनेवाला, कर्मफल की आसक्ति छोडकर मोक्ष-रूपी शाति प्राप्त करता है ।

फिर शकराचार्य कहते है **अयुक्त. असमाहितः कामकारेण मम फलाय इद कर्म करोमि इति एवं फले सक्त निबध्यते** । अर्थात्–काम से यानी इच्छा से प्रेरित होकर मुझे फल मिले, इसलिए मै कर्म करता हूँ, इस प्रकार फल की आसक्ति

रखकर बंधन में कौन फँसता है ? वह, जो अयुक्त है यानी अशांत है।

भावार्थ यह कि युक्त यानी योगी, संयमी, इंद्रिय-निग्रही पुरुष कर्मफल की आसक्ति छोड़ने से निश्चल शांति प्राप्त करता है। इसके विपरीत अयुक्त यानी अयोगी, असंयमी फल में आसक्त होकर अशांति प्राप्त करता है।

: १३ :

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

वशी देही=जितेन्द्रिय, देह में रहनेवाला, संयमी पुरुष, **सर्वकर्माणि**=सब कर्मों को, **मनसा संन्यस्य**=मन से भगवान् को अर्पण करके, **नवद्वारे पुरे**=नौ द्वारों से युक्त शरीररूपी घर में, **न कुर्वन्**=न करते हुए, **न एव कारयन्**=और दूसरों से कुछ भी न करवाते हुए, **सुखं आस्ते**=सुख से रहता है।

इस श्लोक में तीन बातें हैं : १ जितेंद्रिय पुरुष सब कर्म भगवान् को अर्पण करके, 'कर्मों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है' इस विवेक से अपने अकर्तापन का अनुभव करते हुए, २ नौ द्वार-वाले शरीररूपी नगर में कुछ भी न करते हुए और दूसरे से कुछ भी न करवाते हुए, ३ अखंड सुख से रहता है।

(१) **वशी देही सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य।** ज्ञानी संन्यासी या कर्मयोगी, दोनों की आंतरिक स्थिति एक ही होती है, यह बात इस अध्याय के पाँचवें श्लोक में आयी है। ज्ञानी संन्यासी अथवा कर्मयोगी सिद्ध पुरुष की आंतरिक स्थिति कैसी रहती है, इसका वर्णन भगवान् कर रहे हैं। पहले यह बता रहे हैं कि वह पुरुष बाहर से कर्म करता हुआ दीखता है, मगर उसने अपने सब कर्म भगवान् को अर्पण कर दिये हैं, इसलिए उन कर्मों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार वह अकर्तापन का अनुभव करता है। कर्मयोग-मार्ग में भगवान् को अर्पण करके कर्म किये जाते हैं। कर्मों के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा अनुभव यदि प्राप्त करना है, तो जितने भी सत्कर्म होते हैं, वे सब भगवान् को अर्पण करने का अभ्यास करने की सिफारिश गीता में बार-बार की गयी है। क्योंकि अकर्तापन की भूमिका प्राप्त करने का सुलभ उपाय यही है। 'देह से मैं भिन्न हूँ', इस प्रकार का अभ्यास विवेक से करने का उपाय भी गीता के तेरहवें अध्याय में बताया गया है। लेकिन यह विवेकाभ्यास सरल नहीं है। यह उपाय **ज्ञानपंथ कृपान कै धारा** है। इसलिए इस अध्याय के १०वें श्लोक में बताया कि ईश्वर को अर्पण करके जो सब सत्कर्म करता है, वह कमल-पत्र के समान अलिप्त, अकर्ता रहता है।

यहाँ जो **मनसा संन्यस्य** प्रयोग आया है, उसका अर्थ मैंने ज्ञानपरक न करके भक्तिपरक किया है। सामान्यतः इसका ज्ञानपरक अर्थ ही लिया जाता है। ज्ञानपरक का मतलब है संन्यासपरक। इसीलिए इस अध्याय को 'संन्यास-योग' भी कहा जाता है। लेकिन कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है, यह भगवान् ने ही इस अध्याय के छठे श्लोक में बताया है और कर्मयोग में मुख्य उपाय भक्ति है। १०वें श्लोक में स्पष्टरूप से कहा है कि पर-मात्मा को अर्पण करके सब क्रियाएँ करने से अलिप्तता प्राप्त होती है। इसलिए **मनसा संन्यस्य** का अर्थ 'ईश्वर को अर्पण करके' करने में कोई हर्ज नहीं है। यदि अपने को अकर्ता बनाना है यानी मैं देह, मन, बुद्धि, इंद्रियाँ हूँ' ऐसा जो झूठा कर्तापन लगता है, उसे मिटाना है तो देह में जो परमात्मा विराजमान है, उसकी शरण जाना चाहिए। पर-मात्मा से ही देह की सब क्रियाएँ चलती हैं, यह हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

हमने देह को पैदा नहीं किया है, इसलिए कर्ता नहीं बन सकते। जब 'परमात्मा देह में निवास

करता है, वह चैतन्यस्वरूप है, वही हमारा स्वरूप है और देह, मन, वुद्धि, इद्रियो के सब व्यापारो का कर्ता है' ऐसा यथार्थरूप से मालूम हो जाय, तो हम परमात्मा को कर्ता वनाकर स्वय सहज ही अकर्ता वन सकते है। एक देह मे दो कर्ता रह नही सकते। इसलिए देह आदि के कर्ता या तो हम है या ईश्वर है। सव क्रियाएँ ईश्वर के अस्तित्व से होने से मन, शरीर आदि के व्यापारो का कर्ता ईश्वर है, यह ज्ञात होने पर हमारा कर्तापन सहज ही मिट जाता है। इसके लिए वहुत कोशिश नही करनी पडती। स्वय अकर्ता वनने का सुलभ उपाय है परमात्म-शरणता, परमात्म-भक्ति।

(२) दूसरी वात है. **नवद्वारे पुरे**। यह देह नौ द्वार का नगर या घर है। इस घर मे **न एव कुर्वन्** और **न एव कारयन्** अर्थात् स्वय कुछ भी न करता हुआ और दूसरो से कुछ भी न करवाता हुआ रहता है। जैसे नगर मे सैकडो व्यापार चलते है, वैसे ही शरीर मे अनेक व्यापार चलते रहते है और वडे सुचारुरूप से चलते है। शरीर एक अद्भुत यत्र है। इसमे असख्य नालियाँ है। खून मे असख्य कीटाणु है। पचन-इद्रियाँ अपना काम नियमित और व्यवस्थित रूप से करती है। अशुद्ध खून को शुद्ध करने की क्रिया अखड चलती है। हम सोते है, लेकिन शरीर की भीतरी क्रियाओ को आराम की जरूरत नही। इस प्रकार मृत्यु पर्यन्त शरीर मे अखड कार्य चलता रहता है। इस शरीर मे नौ द्वार है—दो कान, दो आँखे, दो नथुने और एक मुख मिलकर सात द्वार है। मलद्वार और मूत्रद्वार मिलकर नौ द्वार होते है। कठोपनिषद् मे **पुरमेकादशद्वार** अर्थात् ग्यारह द्वार वताये है। सिर के मध्य ब्रह्मरध्र की कल्पना की गयी है और पीठ के नीचे के भाग मे कुडलिनी है। इस तरह ग्यारह हो जाते है। कुडलिनी जव जागृत हो जाती है तव ब्रह्मरध्र मे पहुँच जाती है। तव समाधि लग जाती है, ऐसी कल्पना की गयी है। कुडलिनी के वजाय हृदय को भी एक द्वार कह सकते है। पुर का अर्थ घर भी है। अत नगर के वजाय 'घर' अर्थ भी कर सकते है। तो ऐसे नौ द्वारवाले शरीररूपी नगर या घर मे ज्ञानी पुरुष अकर्ता वनकर शातिपूर्वक जीवन विताता है।

(३) तीसरी वात है **सुख आस्ते**। जहाँ अकर्तापन का अनुभव हो रहा हो, वहाँ शाति के सिवा और कोई अनुभव नही हो सकता। शकराचार्य ने इस वचन पर वडा ही मार्मिक भाष्य लिखा है :

किं विशेषणेण, सर्वो हि देही संन्यासी असंन्यासी वा देहे एव आस्ते तत्र अनर्थकं विशेषणम्।

अर्थात्—यहाँ **नवद्वारे पुरे** विशेषण क्यो दिया है ? क्योकि सभी जीव, फिर चाहे कोई सन्यासी या असन्यासी हो, देह मे ही तो रहते है। इसलिए 'देह मे रहता है' यह विशेषण व्यर्थ लगता है। इसका जवाव दिया जाता है .

तु यः अज्ञ. देही देहेन्द्रिय-संघातमात्रात्मदर्शी स सर्व गेहे, भूमौ, आसने वा आसे इति मन्यते।

अर्थात्—देह और इद्रियो को ही अपना स्वरूप समझनेवाले सव अज्ञानी जीव घर मे आसन पर या भूमि पर 'वैठे है' ऐसा मानते है।

फिर आगे लिखते है

नहि देहमात्रात्मदर्शिन. गेहे इव देहे आसे इति प्रत्ययः सभवति। देहादिसंघातव्यतिरिक्तात्मदर्शिनस्तु देहे आसे इति प्रत्ययः उपपद्यते। परकर्मणा च परस्मिन्नात्मनि अविद्यया अध्यारोपितानां विद्यया विवेकज्ञानेन मनसा सन्यासः उपपद्यते।

अर्थात्—क्योकि जो अज्ञानी है, देह को ही आत्मा समझते है, उन्हे 'घर की तरह देहरूपी घर मे रहता हूँ' ऐसा अनुभव कभी नही आ सकता। लेकिन देह आदि सघात से आत्मा विलकुल भिन्न है, ऐसा जिन्होने जान लिया है, उन्हे 'देहरूपी घर मे मै रहता हूँ' ऐसा अनुभव आ सकता है। क्योकि वे अज्ञान से देह मे भिन्न परमात्मा मे पर-कर्मो को

विवेक-ज्ञान से, मन से, अनुभव से छोड सकते है अर्थात् परमात्मा को उन्हे अर्पण करके अकर्तापन का अनुभव कर सकते हैं।

शकराचार्य ने घर का दृष्टान्त दिया है। हम घर मे रहते है, लेकिन घर से अलग रहते हैं, यह अनुभव रहता है। आसन पर बैठे हो, तो भी हम आसन से अलग है, ऐसा सब समझते है। लेकिन देहरूपी घर मे घर से अलग रहते है, ऐसा अनुभव अज्ञानी लोगो को नही होता, क्योकि वे देहरूपी घर को अपना स्वरूप ही समझते हैं। किन्तु जिन्होने जान लिया है, वे देहरूपी घर मे अपने को भिन्न अनुभव करते हैं।

: १४ :

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

प्रभु=परमात्मा, **लोकस्य कर्तृत्व**=लोगो के कर्तापन को, **न सृजति**=पैदा नही करता, (वैसे ही) **कर्माणि न (सृजति)**=कर्मो को पैदा नही करता, **कर्मफलसयोग**=कर्मफल के सयोग को, **न (सृजति)**=(परमात्मा) पैदा नही करता, **तु स्वभावः प्रवर्तते**=लेकिन स्वभाव अर्थात् परमात्मा की मायाशक्ति और उसके अधीन जीव या जीव की प्रकृति (तीनो को) पैदा करती है।

इस श्लोक मे दो ही बाते है १ लोगो के कर्तापन को, कर्मो को और फलोपभोगो को परमात्मा पैदा नही करता और २ परमात्मा की मायाशक्ति उपर्युक्त तीनो को पैदा करती है।

(१) पहली बात है—**प्रभुः लोकस्य कर्तृत्व, कर्माणि, कर्मफलसंयोगं न सृजति**। लोगो के कर्तृत्व को अथवा कर्मो को अथवा कर्मफल-सयोग को परमात्मा पैदा नही करता। मनुष्य मे दो चीजे हैं—एक स्थूल देह, इद्रियाँ, मन, बुद्धि और दूसरी आत्मा, जीवात्मा। हमारे सामने जो जगत् है, उसमे सिर्फ एक ही चीज है—पचमहाभूतो के नाना पदार्थ।

पचमहाभूत स्वतत्र पदार्थ नहीं हैं। पचमहाभूतो की उत्पत्ति भी परमात्मा से हुई है। परमात्मा पचमहाभूतो मे निहित है, इसलिए वह पदार्थो मे भी है। पचमहाभूतो मे या पदार्थो मे परमात्मा गुप्त रहता है। परमात्मा जगत् मे प्रकट नही है। मनुष्य-शरीर भी पचमहाभूतो का ही बना है। फिर भी मनुष्य-शरीर मे परमात्मा प्रकट है। यानी मनुष्य-शरीर मे प्रकट परमात्मा और पचमहाभूतो का बना शरीर, ये दो चीजे है और अन्य पदार्थो मे परमात्मा प्रकट न होने से सिर्फ एक ही चीज है और वह है पचमहाभूत। मनुष्यदेह मे से भी जब प्राण चला जाता है यानी परमात्मा गुप्त हो जाता है तब उसमे भी केवल पचमहाभूत रह जाता है। सजीव देह मे परमात्मा प्रकट रहता है और निर्जीव देह मे अप्रकट।

सजीव देह मे दो प्रकार की क्रियाएँ चलती है—एक तो हमारे स्वाधीन नही रहती यानी देह के साथ हमारा कर्तापन का सम्बन्ध न रहते हुए शरीर की क्रियाएँ चलती है। देह के साथ कर्तापन का सम्बन्ध रखे या न रखे, शरीर की पचनेन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास की अखड चलनेवाली क्रिया, फेफडो की क्रिया, हृदय की क्रिया, मूत्राशय की क्रिया आदि क्रियाओ पर हमारा कोई काबू नही है। हम चाहे या न चाहे, वे क्रियाएँ होती ही रहती है। हम उन क्रियाओ को पाँच-दस मिनट के लिए भले ही रोक सके, जैसे कि श्वासोच्छ्वास की क्रिया को प्राणायाम द्वारा पाँच-दस मिनट के लिए रोक सकते हैं। मगर पूरी तरह नही रोक सकते। हम इद्रिय-व्यापारो के कर्ता नही बन सकते, क्योकि वे क्रियाएँ हम पर निर्भर होकर नही चलती है। भीतर की परमात्म-शक्ति अखड काम करती रहती है। उससे वे क्रियाएँ चलती रहती हैं। हम सो जाते है तो भी शरीर की भीतरी क्रियाएँ चलती ही रहती है। लेकिन हाथ-पाँव हिलाना, हाथ से कुछ काम करना, पाँव से चलना, मुँह से बोलना

आदि जो क्रियाएँ हम करते है, उनमे कर्तापन की जरूरत है। देह, मन, वुद्धि और दस इद्रियो के साथ हमारा 'अहं' का सम्वन्ध न रहे तो ये क्रियाएँ नही होगी। जव हम अज्ञान-दशा मे देह, मन, वुद्धि, शरीर आदि की क्रियाओ के कर्ता वनते हैं, तभी ये क्रियाएँ होती है। जव हम देह, मन, वुद्धि, इद्रियो के कर्ता वनते हैं, तव सुख-दु ख के भोक्ता भी वनते हैं। इसलिए कर्तापन को मिटाना जरूरी हो जाता है। यह अपने-आप नही होता। इसके लिए सारा कर्म परमात्मा को अर्पण करना होता है। हमारी सव क्रियाएँ परमात्मा की प्रेरणा से होती रहे, यह प्रयत्न होना चाहिए। ऐसे अभ्यास से ही हम कर्तापन को मिटा सकते है। शरीर की जो क्रियाएँ हम पर विलकुल निर्भर नही है, उनके कर्ता हम नही हैं। उन क्रियाओ का कर्ता परमात्मा यानी परमात्मा की माया-शक्ति है, ऐसा हम कह सकते हैं। लेकिन वाकी सव क्रियाओ का कर्ता जीव की अज्ञानदशा मे परमात्मा है, ऐसा हम नही कह सकते। अज्ञानदशा मे तो जीव यानी जीव का अहकार, राग-द्वेप-युक्त जो स्वभाव या प्रकृति है, वह देह, मन, वुद्धि आदि से होनेवाली क्रियाओ का कर्ता है, यही कहना होगा।

विनोवाजी 'गीताई-चितनिका' मे लिखते है कि स्वभाव यानी (१) निर्गुणात्मिका माया—निर्गुण परमात्मा यह जिस माया का मूल है यानी जो चैतन्यस्वरूप परमात्मा से भिन्न नही है, ऐसी ईश्वर की माया जो ईश्वर के अधीन है। और (२) जीव का काम—सकल्प आदि से युक्त वह स्वभाव, जिसके वश मे जीव है। विनोवाजी ने स्वभाव के दो अर्थ वताये है एक ईश्वर की माया-शक्ति और दूसरा मायाशक्ति के अधीन जीव का अहकार-युक्त राग-द्वेप आदि स्वभाव। तो, भगवान् पहली वात इस श्लोक मे यह वता रहे है कि लोगो के कर्तापन को अथवा कर्तापन की वजह से जीव से जो कर्म होते रहते है उन कर्मो को परमात्मा पैदा नही करता। उनका कर्ता जीव है, यानी जीव की अहकारयुक्त जो राग-द्वेप की प्रकृति यानी स्वभाव है, उसीसे ये क्रियाएँ होती रहती है। लेकिन शरीर मे जो अखड क्रियाएँ अपने-आप हो रही है, उनका कर्ता माया है, ऐसा कह सकते है। कर्ता, कर्म और कर्म का सुख-दु खरूपी फल, इन तीनो का सम्वन्ध जीव की प्रकृति से है।

(२) दूसरी चीज है—**स्वभावस्तु प्रवर्तते।** यदि जीव के कर्तापन को और कर्मो को भगवान् पैदा नही करते तो फिर कौन पैदा करता है? जवाव है—स्वभाव यानी ईश्वर की माया। देह, मन, वुद्धि, इद्रियाँ पैदा होकर वुद्धि और मन मे 'मै देह हूँ' ऐसा अपने स्वरूप के वारे मे विपरीत दर्शन शुरु हो जाता है। जहाँ अपने स्वरूप के वारे मे विपरीत दर्शन शुरू हुआ, वहाँ 'मै कर्म का कर्ता हूँ' ऐसा लगने लगता है और हम कर्म-वधन मे फँस जाते हैं। हमारा मूल स्वरूप जो ज्ञाता, अकर्ता है, उसे भूलकर जो हमारा स्वरूप नही है उसे हम अपना स्वरूप समझकर कर्ता वनते हैं। तो, भगवान् अत मे वता रहे हैं कि माया से शरीर, मन, वुद्धि, इद्रियाँ पैदा होकर अपने स्वरूप का अज्ञान उत्पन्न करती है और जीव का कर्तापन और कर्म शुरू हो जाता है। जीव के कर्तापन को और कर्मो को भगवान् पैदा नही करता।

: १५ :

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृत विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव ॥

विभु कस्यचित् पाप=परमात्मा किसी भी जीव का पाप, न आदत्ते=ग्रहण नही करता, च सुकृत एव न (आदत्ते)=और पुण्य को भी स्वीकार नही करता, ज्ञान अज्ञानेन आवृत=ज्ञान अज्ञान मे ढँका हुआ है, तेन जन्तव मुह्यन्ति=इसीसे सव जीव मोह मे फँस जाते हैं।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ परमात्मा जीव के किये हुए पाप की अथवा पुण्य की जिम्मे-

दारी नही लेता । २ अज्ञान से परमात्म-ज्ञान ढँका है । और ३ इसीसे जीव मोहित होकर पाप-कर्म और पुण्य-कर्म करते रहते हैं ।

(१) **नादत्ते कस्यचित् पापं न च एव सुकृतं विभुः** । इस श्लोक मे भगवान् वतला रहे है कि जीव से जो पाप-कर्म या पुण्य-कर्म होते हैं उनकी जिम्मेदारी भगवान् की नही है । क्योकि जहाँ जीव कर्म का कर्ता वनता है, वहाँ उसी कर्तापन से पाप-पुण्य होते रहते है । इस तरह पाप-पुण्य की जिम्मेदारी जीव की ही है । उसका परमात्मा से सम्वन्ध नही । जीव भी परमात्म-स्वरूप है । वह वास्तव मे कर्ता नही है, लेकिन परमात्म-स्वरूप का ज्ञान न होने से अकर्ता होते हुए भी उसके ऊपर कर्तापन का आरोप होता रहता है । स्वय अकर्ता होते हुए भी कर्तापन का आरोपण चल रहा है, यह मालूम न होने से, कर्तापन के आरोपण से पैदा होनेवाले सुख-दु ख को वह टाल नही सकता । जैसे स्वप्न का व्यवहार सत्य लगने से सुख-दु ख का अनुभव होता है, लेकिन जव स्वप्न से जाग जाते है, तव मालूम हो जाता है कि सारा व्यवहार मिथ्या ही था । कर्तापन का आरोपण यथार्थ नही है, यह ध्यान मे आ जाय तो तत्काल अकर्तापन का सिर्फ ज्ञाता-स्वरूप अनुभव मे आयेगा ।

परमात्मा अकर्ता है, अत जीव के किये हुए पाप-पुण्य की जिम्मेदारी उसकी नही है । जीव जव अपने को कर्ता समझता है, तव वह इन्द्रियो के अधीन हो जाता है । इन्द्रियो के अधीन पुरुप पापाचरण मे प्रवृत्त हो जाता है । क्योकि क्षणिक सुख की लालसा वहुत वढ जाती है और उस क्षणिक सुख पर मोहित होकर जहाँ से भी सुख मिले उसे प्राप्त करने की वह कोशिश करता है । पाप-कर्म करने मे शुरू मे आनन्द आता है और अत मे दु ख भोगना पडता है । पुण्य-कर्म करने मे शुरू मे कष्ट उठाना पडता है, लेकिन अत मे सुख मिलता है । १८वे अध्याय मे तीन प्रकार का सुख वताया है । उसमे सात्त्विक सुख का लक्षण वताया है कि वह शुरू मे जहर के समान रहता है, लेकिन अत मे अमृत के समान अतिमधुर रहता है ।

(२) दूसरी वात है : **अज्ञानेन आवृतं ज्ञानम्** । परमात्म-ज्ञान अज्ञान से ढँका है । परमात्म-ज्ञान अज्ञान से ढँक जाता है, नष्ट नही होता । परमात्म-ज्ञान शाश्वत वस्तु है । अज्ञान कोई वस्तु ही नही है । ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है, जैसे कि प्रकाश का अभाव अँधेरा । यह अज्ञान परमात्मा की अलौकिक माया-शक्ति से ही पैदा होता है । जगत् को सत्य मानना छोड दे और देह, मन, वुद्धि, इद्रियो को अपना स्वरुप मानना छोड दे तो अज्ञान दूर हो सकता है । लेकिन यह तभी संभव है, जव हमे जगत् मे व्याप्त परमात्मा और शरीर मे स्थित परमात्मा दोनो की पहचान हो जाय ।

(३) तीसरी वात है **तेन मुह्यन्ति जन्तव.** । इस अज्ञान से सव जीव यानी प्राणीमात्र मोहित है, मोह मे फँसे रहते है । हम देह, मन, वुद्धि, इद्रियो पर मोहित होते है और जगत् के नाना प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि विपयो मे भी मोहित होते है । मोहित होने का एक ही कारण है कि देह आदि को और जगत् के सारे पदार्थो को हम सत्य मानते है । यह आश्चर्य की वात है कि हम जानते है कि देह नश्वर है और जगत् के सारे पदार्थ भी अनित्य है, फिर भी मोह छोडने को तैयार नही होते । शकराचार्य ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे लिखते है .

यावद्धि न सत्यात्मकत्वप्रतिपत्तिः तावत् प्रमाण-प्रमेय-फल-लक्षणेषु विकारेषु अनृतत्ववुद्धिर्न कस्यचित् उत्पद्यते । विकारानेव तु अह मम इति अविद्यया आत्मा आत्मीयेन भावेन सर्वो जन्तु· प्रतिपद्यते स्वाभाविकी ब्रह्मात्मतां हित्वा ।

अर्थात्—जव तक आत्मा एक है, ऐसा अनुभव नही आता, तव तक प्रमाण यानी इद्रियाँ, प्रमेय यानी विपय, जगत् के पदार्थ और फल यानी सुख-दु ख-

रूप फल, इन लक्षणो से युक्त विकारो के बारे मे किसीको भी 'यह इद्रियाँ, विपय और सुख-दु ख आदि फलयुक्त ससार मिथ्या है' ऐसी वुद्धि पैदा ही नही हो सकती। क्योकि विकारो के लिए ही 'यह देह मैं हूँ और पुत्र, पशु आदि मेरे है' इस तरह सव प्राणी-मात्र अज्ञान से अपने स्वाभाविक ब्रह्मस्वरूप को छोडकर जीवात्मा वनकर देह आदि के साथ ममत्व-सम्वन्ध जोड लेते है।

: १६ :

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषा नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ॥

तु येषाम्=लेकिन जिनका, **तत् आत्मन' अज्ञान**=वह आत्म-विपयक अज्ञान, **ज्ञानेन नाशित**=ज्ञान से नष्ट हो गया है, **तेषा तत् ज्ञान**=उनका वह ज्ञान, **आदित्यवत्**=सूर्य की तरह, **पर प्रकाशयति**=परमात्मा को प्रकाशित करता है।

इस श्लोक मे दो वाते है १ आत्मज्ञान से अज्ञान नष्ट हो जाता है, २ तव वह ज्ञान सूर्य की तरह परमात्मा को प्रकाशित करता है।

(१) पहली वात है **तत् आत्मनः अज्ञानं येषा ज्ञानेन नाशित।** यह परमात्म-विपयक अज्ञान जिनके ज्ञान से नष्ट हो गया है। सवको सृष्टि का ज्ञान है। अनेक शास्त्रो का ज्ञान भी रहता है, लेकिन यह सव विज्ञान यानी विविध ज्ञान है। इसे मुडक-उपनिपद् मे 'अपरा विद्या' कहा है : **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्त छदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते (१-१-५)।**

विनोवाजी ने इसका वडा अच्छा अर्थ किया है। वे कहते है "चार वेद यानी इनमे व्रत-परि-पालन, ईश्वरोपासना, शास्त्रो का अध्ययन, सत-वचनो का अभ्यास आदि का समावेश है। शिक्षा यानी पाक-शास्त्र, पाखाना-सफाई-शास्त्र, आटा पीसना, पानी भरना, आरोग्य-शास्त्र और अन्य व्यायाम (शारीरिक), कल्प यानी वुनाई का काम, खेती, वढईगिरी, सीने का काम आदि (औद्यो-गिक), व्याकरण यानी सस्कृत, हिन्दुस्तानी, स्व-भापा, परभापा, आदि (भापिक), निरुक्त यानी राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि (सामाजिक), छन्द यानी सगीत, चित्रकला आदि (कलात्मक), ज्योतिष यानी गणित, हिसाव-किताव, भूगोल, आधिभौतिक विज्ञान आदि (व्यावहारिक)।"

अपरा विद्या यानी भिन्न-भिन्न प्रकार के विविध व्यावहारिक विज्ञान और **परा विद्या** यानी जिससे परमात्मा की पहचान होती है, वह अध्यात्म-ज्ञान। अधिकतर हमारा सारा जीवन इन्ही नाना प्रकार के ज्ञानो मे समाप्त हो जाता है। लेकिन जीवन मे जव इन विविध प्रकार के ज्ञानो से शाति नही मिलती, दु ख-व्याकुलता पैदा होती है, तव मनुष्य उसमे से निकलने की कोशिश करता है। शाति के लिए पहले मनुष्य वाह्य साधन जुटाता है। लेकिन वे सव नश्वर, क्षणिक होते है और अतत अशाति का ही निर्माण करते है। अत. वह अतर्मुख होने लगता है और समझने लगता है कि वास्तविक शाति भीतर ही है। इसके लिए वह सत्सगति, चिन्तन-मनन का आश्रय लेता है। जव आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो अज्ञान मिट जाता है।

(२) दूसरी वात है **तेषां आदित्यवत् तत्ज्ञानं परं प्रकाशयति।** जिससे अज्ञान दूर हो जाता है वह ज्ञान सूर्य-प्रकाश की तरह प्रकाशित होता है। ज्ञान के प्रकाश मे परमात्म-वस्तु स्वच्छ रूप से, यानी स्पष्ट रूप से अपने-आप दिखाई देती है। वाहर से किसी वस्तु का दर्शन करने के लिए एक तो वाह्य प्रकाश की जरूरत है और दूसरे आँख होनी चाहिए। यानी ज्ञान प्राप्त करने का साधन न हो तो किसी भी वस्तु की पहचान नही हो सकती। हमारे पास आँख यानी वस्तु को पहचानने का साधन हो, लेकिन वाह्य प्रकाश न

हो तो भी वस्तु की पहचान नही हो सकती। वस्तु की पहचान तभी होगी, जब आँख हो और प्रकाश भी हो। शब्द की पहचान के लिए आँख का साधन काम नही देता। वहाँ कान जरूरी है। जो आवाज हम सुन रहे है, वह किस चीज की है, यह जानने के लिए बाह्य प्रकाश की जरूरत है। सिर्फ शब्द सुनने के लिए प्रकाश की जरूरत नही। लेकिन परमात्मा को पहचानने के लिए ये बाह्य साधन यानी पचज्ञानेन्द्रियाँ अथवा बाह्य प्रकाश दोनो साधन निकम्मे है। वहाँ तो एक ही साधन है और वह है मन। मन ही परमात्मा को पहचानने का एकमात्र साधन है। लेकिन वह भी विकारो से युक्त हो यानी मलिन हो तो निकम्मा है।

वस्तुत परमात्मा सृष्टि के अणु-अणु मे व्याप्त है, लेकिन वह प्रकट वही होता है, जहाँ मन जागृत हो। जहाँ मन जागृत न हो या जहाँ मन ही न हो, वहाँ परमात्मा प्रकट नही होता। पशु, पक्षी, अनेक प्रकार के छोटे-बडे जीव-जतुओ मे भी मन होने से उनमे परमात्मा की ज्ञानशक्ति प्रकट होती है। परमात्मा का ज्ञान-शक्तिरूप सामान्य स्वरूप सबमे प्रकट है, फिर भी परमात्मा का जो विशेष स्वरूप है, उसके बारे मे देह, मन, इद्रियाँ आदि को अपना स्वरूप समझने से उसका ज्ञान नही होता। परमात्मा के विशेष स्वरूप का ज्ञान होने पर सृष्टि को देखने की भेददृष्टि निकल जाती है और सर्वत्र एक ही परमात्मा, अद्वैत, अभेद-रूप मे दिखाई देने लगता है। यह अभेद-दृष्टि पशु-पक्षियो को प्राप्त नही है। विकाररूपी मल धुल जाने से, मनरूपी दर्पण स्वच्छ होने से परमात्म-स्वरूप दिखाई देने लगता है यानी परमात्मा का अनुभव होने लगता है। यही बात इस श्लोक के अत मे बतलायी जा रही है। सूर्य-प्रकाश मे जिस तरह वस्तु दिखाई देती है, वैसे ही निर्विकार ज्ञान-प्रकाश मे परमात्मा के स्वरूप को देख सकते है।

अगले श्लोक मे बताया जा रहा है कि परमात्म-स्वरूप की पहचान होने के बाद मोक्ष किस तरह मिल सकता है।

: १७ :

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणा.।
गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

तद्बुद्धय.=जिन्होने परमात्मा मे अपनी बुद्धि अर्पण कर दी है, तदात्मानः=परमात्मा मे ही जिनका मन यानी ध्यान रहता है, तन्निष्ठा =परमात्मा मे ही जिनकी निष्ठा है, तत्परायणा =(भूतमात्र मे स्थित) उस परमात्मा मे जो परायण हो गये है, ज्ञाननिर्धूतकल्मषा.=परमात्म-ज्ञान मे जिनके सब पाप धुल गये है, अपुनरावृत्ति गच्छन्ति=ऐसे पुरुष पुनर्जन्मरहित मोक्ष प्राप्त करते है।

इस श्लोक मे छह बाते है १. जिन्होने अपनी बुद्धि परमात्मा मे अर्पण कर दी है। २ जो सदैव परमात्मा का ही ध्यान करते है। ३ परमात्मा मे ही जिनकी निष्ठा है। ४ जो परमात्मा मे ही परायण हो गये है यानी भूतमात्र मे स्थित परमात्मा की सेवा मे रत है। ५ उपर्युक्त साधना मे जिन्हे परमात्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है और इसीसे जिनके सब विकार नष्ट हो गये है। ६. ऐसे सिद्ध पुरुष पुनर्जन्मरहित मोक्ष प्राप्त करते है।

जिन्हे परमात्म-स्वरूप की पहचान हो गयी है, उनका वर्णन इस श्लोक मे है। इसीसे इस श्लोक मे जो बाते बतायी है, वे साधक के लिए यत्न-साध्य है, ऐसा मान सकते है। दूसरे अध्याय मे स्थितप्रज्ञ के श्लोको के प्रारभ मे शकराचार्य ने कहा है कि सिद्ध पुरुष के लक्षण साधक के लिए प्रयत्न-साध्य है और सध जाने पर सहज हो जाते है। तब वे सिद्ध पुरुष के लक्षण कहलाते है। तो, भगवान् पहले बुद्धि से शुरुआत करते है।

(१) तद्बुद्धयः। परमात्मा ने सृष्टि मे सबसे पहले बुद्धि पैदा की। बुद्धि की व्याख्या

शंकराचार्य ने १०वें अध्याय के चौथे श्लोक के भाष्य में इस प्रकार की है: **बुद्धिः अंतःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यं तद्वन्तं बुद्धिमान् इति हि वदन्ति।** बुद्धि यानी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि अर्थों का ज्ञान करा देनेवाली, ग्रहण करा देनेवाली अंतःकरण की शक्ति। यह शक्ति जिसके पास है उसे 'बुद्धिमान्' कहते हैं।

यह बुद्धि मनुष्य में ही रहती है। सूक्ष्म अर्थ ग्रहण करने की शक्ति पशु-पक्षियों में नहीं होती। चिन्तन करना, ग्रहण करना, ज्ञान प्राप्त करना, निश्चय करना, सत्-असत् या नीति-अनीति का भेद जानना, या परखना बुद्धि का कार्य है। इस बुद्धि-शक्ति से परमात्मा एक है, ऐसा समझ सकते हैं और अपनी बुद्धि को संशयरहित कर सकते हैं। लेकिन परमात्मा सर्वत्र है, जगत् उसीका आविष्कार है, जगत् परमात्मा से भिन्न नहीं है, जगत् परमात्मा का भास है, जीव वास्तव में परमात्म-स्वरूप ही है—इस तरह वेदान्त के जो सिद्धान्त गीता में बताये हुए हैं, वे बुद्धि में पूरी तरह जँच जायँ, तो भी जब तक बुद्धि और मन पूरी तरह शुद्ध नहीं होते, मन और इंद्रियों पर पूरा काबू नहीं हो जाता, तब तक परमात्मा का अनुभव नहीं हो सकता। मनुष्य में पशु-पक्षी आदि से बुद्धि ज्यादा है, इतने भर से मनुष्यपन सिद्ध नहीं होता। बुद्धि में शुद्धि प्राप्त होकर 'देह आदि से हमारा स्वरूप भिन्न है और हम परमात्म-स्वरूप हैं' ऐसी तद्रूपता परमात्मा के साथ होनी चाहिए।

(२) दूसरी बात है: **तदात्मानः।** परमात्मा में ही जिन्होंने अपने मन को लीन कर दिया है यानी जिनका मन परमात्मा के ध्यान में ही रहता है, मन को परमात्मा का ध्यान करने का अभ्यास हो गया है, परमात्मा का ही अनुराग पैदा हो गया है, ऐसी जिनकी स्थिति हो गयी है, वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं। बुद्धि निर्णय करने-वाली, सत्-असत् का भेद परखनेवाली, आत्मानात्म विवेक कारिणी शक्ति है। बुद्धि शुद्ध होना यानी सत्, असत् का भेद परखने में गलती न हो, देह से आत्मा की भिन्नता ठीक समझ में आये, और हमेशा परमात्मनिष्ठ रहे। तभी वह बुद्धि शुद्ध है, ऐसा समझना चाहिए। मन की शुद्धि का अर्थ है अभि-मान, क्रोधादि विकारों का क्षीण हो जाना। विकार दूर होने पर मन शुद्ध होता है। जहाँ बुद्धि और मन परमात्मा में लीन हो जाते हैं, वहाँ दुःख सर्वथा मिट जाता है।

(३) तीसरी बात है: **तन्निष्ठाः।** परमात्मा में ही निष्ठा अथवा भक्ति पैदा होने लगती है।

गीता के १८वें अध्याय के ५५वें श्लोक में कहा गया है कि भक्ति से ही परमात्मा का परिपूर्ण आकलन होता है। भक्ति की विशेषता यही है कि वह साधना-काल में भी रहती है और सिद्धावस्था में भी रहती है। यहाँ यही बतलाया है कि जब बुद्धि और मन परमात्मा में लीन हो जाते हैं, तब परमात्मनिष्ठा यानी परमात्म-भक्ति प्राप्त होती है।

(४) चौथी बात है: **तत्परायणाः।** परमात्मा में परायण हो जाते हैं। परमात्मा में परायण होने का मतलब है, व्यापक बन जाना। भक्ति के बाद ही यह संभव है। इसलिए **तन्निष्ठाः** के बाद **तत्परायणाः** कहा। व्यापक बनना यानी भक्ति प्राप्त होने के बाद सृष्टि के सब पदार्थों को परमात्म-भाव से देखने की दृष्टि प्राप्त होना। इसका सहज परिणाम है **सर्वभूतहिते रताः**—वह सर्वभूत-सेवा में परायण रहेगा। लेकिन **तत्परायणाः** का अर्थ 'सर्व-भूतहितसेवा-रत' नहीं लेते, सिर्फ 'परमात्मा में परायण' अर्थ लेते हैं तो शुरू में भगवान् ने **तद्बुद्धयः तदात्मानः** ऐसा जो बताया है, वही बात पुनः बतायी, ऐसा माना जायगा। इसलिए **तद्बुद्धयः** और **तदात्मानः** का परिणाम **तन्निष्ठाः** और फिर **तत्परायणाः** बतलाया है। भीतर भक्ति और बाहर से भी भक्ति यानी तत्परायण, यानी सेवापरायण, ऐसा अर्थ क्रमशः ठीक बैठता है।

इस श्लोक की टिप्पणी मे विनोवाजी लिखते है कि "कर्मयोग, भक्ति, ध्यान और ज्ञान इनमे से किसी भी चीज की कल्पना निश्चय के विना नही कर सकते । वे लिखते है कि कर्मयोग का निश्चय यानी कर्तव्य-निर्णय । भक्ति का निर्णय यानी श्रद्धा, निष्ठा । ध्यान का निश्चय यानी अचचलता, धीरज । निर्धार यानी निग्रह । ज्ञान का निश्चय यानी नि सशयता, सदेहरहितता ।"

विनोवाजी ने ये जो चीजे कही, वे इस श्लोक में इस तरह लागू कर सकते है **तद्बुद्धयः** यानी ज्ञान का निश्चय—नि सशयता, सदेहरहितता, जव वुद्धि परमात्मा मे लीन होती है तव सशयरहित स्थिति आती है। **तदात्मानः** यानी परमात्मा मे मन लीन करना, परमात्म-ध्यान का अभ्यास करके चित्त की चचलता दूर करना, धीरज प्राप्त करना, यह ध्यान का निश्चय हुआ। **तन्निष्ठाः** यानी परमात्मा मे निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा रखना, यह भक्ति का निश्चय है । **तत्परायणाः** यानी कर्मयोग का निश्चय, कर्तव्य-निर्णय । तत्परायण यानी कर्मयोग-परायण ।

(५) पाँचवी वात है . **ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**। इस तरह उपर्युक्त चार चीजे यदि हासिल हो जाती है, तो इसके फलस्वरूप ज्ञान से यानी परमात्म-ज्ञान से अतर्वाह्य मलिनता धुल जाती है, कोई विकार नही रह जाता । अत मे परिपूर्ण चित्तशुद्धि तक हम पहुँच जाते है। यहाँ साधना का अतिम परिणाम, अतिम फल परिपूर्ण चित्तशुद्धि ही वतलाया है ।

(६) छठी वात है . **गच्छन्ति अपुनरावृत्तिं**। पूर्ण चित्तशुद्धि का परिणाम या फल अपुनरावृत्ति यानी अपुनर्जन्म ही हो सकता है। कर्मवन्धन खतम हो जाने से अहकार यानी जीवभाव परमात्मा मे विलीन हो जाता है ।

जीवभाव परमात्मा मे विलीन हो जाता है, तव परमात्मा ही रह जाता है । ब्रह्मसूत्र-भाष्य मे एक स्थान पर शकराचार्य लिखते है **गृहीते तु आत्मैकत्वे बंधमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात्**। सर्वत्र एक परमात्मा ही व्याप्त है, ऐसा वोध हो जाय तो वध-मोक्षादि सारे व्यवहार समाप्त हो जाते है यानी जीव परमात्मा मे विलीन हो जाता है। परमात्मा से अलग रहने मे वधन जैसा लगता था, वह परमात्मा के साथ एक-रूप होने से सिर्फ परमात्मा ही शेप रहता है। यानी जीव मुक्त हो जाता है, यह भी अर्थ हो सकता है । वधन की अपेक्षा से मुक्ति है । 'भेद सत्य नही है', ऐसी प्रतीति हो जाय तो वधन नही रहता । तो, वधन की अपेक्षा से जो मोक्ष था, वह समाप्त हो जाता है और जीव का नित्यमुक्तरूप अनुभव मे आने लगता है ।

: १८ :

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे=ज्ञान और विनययुक्त ब्राह्मण मे, **गवि हस्तिनि**=गाय और हाथी मे, **च शुनि श्वपाके**=कुत्ते और चाडाल मे, **पंडिताः समदर्शिनः**=ज्ञानी जन समानरूप से (ब्रह्म को) देखते है।

वैसे तो इस श्लोक मे एक ही वात कही गयी है। मगर एक वात होते हुए भी एक मे तीन वातो का समावेश होने से कुल मिलाकर चार हो जाती है १ विद्या यानी ज्ञान से और विनय यानी नम्रता से जो युक्त है उनमे, २ गाय, हाथी और कुत्तो मे यानी राजसिक माने गये पशुओ मे, और ३ चाडाल मे यानी तमोगुणी और हीन माने गये चाडाल आदि मे, ४ पडित यानी ज्ञानी जन उपर्युक्त तीनो मे एक ही ब्रह्म यानी परमात्मा को देखते है।

(१) पहली वात है **विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे**। विद्या यानी ज्ञान और विनय यानी

नम्रता से सपन्न ब्राह्मण मे। श्लोक के अत मे वाक्य पूर्ण होता है। दुनिया मे मनुष्य-योनि और पशु-पक्षी, कीडे-जतु आदि की तिर्यक् योनि। ऐसी चेतन-सृष्टि मे दो योनियाँ है। इस श्लोक मे जडसृष्टि का उल्लेख नही है। चेतन-सृष्टि मे जितने भी प्राणी है, उन सबमे ज्ञानी पुरुष समान-रूप से व्याप्त परमात्मा को देखता है और व्यवहार करता है। पहले मनुष्य-योनि का जिक्र है, वीच मे पशु-योनि का और अत मे फिर मनुष्य-योनि का जिक्र है। शुरू मे विद्या यानी ज्ञान से सपन्न ब्राह्मण का जिक्र है।

प्राचीनकाल मे चातुर्वर्णिक व्यवस्था थी। पहला वर्ण ब्राह्मण था। समाज को ज्ञान देने का कार्य ब्राह्मणो के सिपुर्द था। ज्ञान और पवित्रता के लिए ब्राह्मण वर्ण मशहूर था। ज्ञान और पवित्रता, दोनो का सगम होने से ब्राह्मणो की वहुत प्रतिष्ठा थी। ज्ञान मे आत्मज्ञान के साथ समाजोपयोगी अन्य ज्ञान यानी विज्ञान, विविध प्रकार का ज्ञान भी समाविष्ट है। जितने भी ब्राह्मण होते थे, वे सभी आत्मज्ञानी होते थे, ऐसी वात नही। सव ब्राह्मण आत्मज्ञानी हो, यह आग्रह भी नही रख सकते है। ब्राह्मण सदाचार-सपन्न होने चाहिए, पवित्र होने चाहिए और उन्हे समाजोपयोगी विविध प्रकार का ज्ञान होना चाहिए और वेद, उपनिषद्, गीता आदि धार्मिक ग्रथो का अच्छा-से-अच्छा ज्ञान होना चाहिए, ऐसी अपेक्षा ब्राह्मणो से अवश्य रखी जाती थी। ब्राह्मणो मे सात्त्विकता का उत्कर्ष होना चाहिए। ब्राह्मणो की सव क्रियाएँ समाज के लिए आदर्श होनी चाहिए। समाज मे जितने भी मनुष्य है, वे सव मनुष्य के नाते एक है। मनुष्य के नाते भेद न होने पर भी शक्ति मे भेद रहता है। एक मे असाधारण वुद्धि-शक्ति पायी जाती है, वैसी शक्ति दूसरे मे नही मिलती। इस तरह शक्ति मे भेद होने से श्रेष्ठ, सामान्य, कनिष्ठ के भेद स्वाभाविक ही हो जाते है। इस प्रकार उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ अथवा सात्त्विक, राजस, तामस इस तरह तीन प्रकार के जो सहज भेद पैदा होते है, उन्हीको लक्ष्य करते हुए भगवान् ने तीन दृष्टान्त देकर वताया कि तीन प्रकार के मनुष्यो मे या पशुओ मे ज्ञानी पुरुष एक परमात्मा को ही देखता है और उसके अनुसार उनके साथ व्यवहार करता है। भगवान् ने पहले सात्त्विक मनुष्य के नाते ब्राह्मण का दृष्टान्त दिया। ज्ञान-सम्पन्न ब्राह्मण को विनय-सपन्न होना ही चाहिए। यहाँ यथार्थ ज्ञान का एक लक्षण नम्रता है।

(२) दूसरी वात है **गवि हस्तिनि**। गाय मे भी ज्ञानी पुरुष परमात्मा को देखता है। रजोगुण के लिए गाय का उदाहरण लिया, ऐसा आचार्य कहते है। पशु-पक्षियो का सम्वन्ध रजोगुण के साथ है। लेकिन पशु-पक्षियो मे भी सत्त्व, रज, तम ऐसे भेद है। मनुष्य की तुलना मे गाय को रजोगुणी माने तो भी पशुओ मे गाय को सत्त्वगुण की ही प्रतिनिधि समझना चाहिए। मनुष्यो मे भी सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी ऐसे भेद है। फिर भी मनुष्य मे परमात्मा को पहचानने की, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने की जो शक्ति है, वह पशु-पक्षियो मे नही है। इसलिए गाय और हाथी को रजोगुण के उदाहरण के तौर पर लिया है।

(३) तीसरी वात है **शुनि च एव श्वपाके च**। कुत्ते आदि को तामसिक माना गया है। गाय की अपेक्षा कुत्ता तामसिक है, तो भी ज्ञानी गाय की तरह ही कुत्ते मे भी परमात्मा को देखता है।

अव रहे चाडाल। चाडाल-जाति मनुष्यजाति ही है। फिर भी उसे पशु-कोटि मे रखना अन्याय है, ऐसा प्रश्न उठता है। चाडाल-जाति का मतलव यदि अस्पृश्य हो तो उनको दूर रखने मे, उनका वहिष्कार करने मे वहुत अन्याय किया गया है। अस्पृश्य भी मनुष्य ही है। उन्हे पशु-कोटि मे रखना ठीक नही है। अस्पृश्यो मे भी सत हो गये है। दुराचारी को चाडाल या अस्पृश्य समझना

ठीक है, लेकिन किसी एक जाति को सपूर्ण रीति से चाडाल या अस्पृश्य यानी नीच कोटि का समझना अन्याय है। इसलिए चाडाल का अर्थ तामसिक पुरुप करना उचित होगा। ब्राह्मण दुराचारी हो जाय, तो उसे भी चाडाल या अस्पृश्य कहना चाहिए।

(४) चौथी वात है **पडिताः समदर्शिनः।** ज्ञानी पुरुप सारी जड-चेतन सृष्टि मे परमात्मा को देखता है और वैसा आचरण करता है। पडित यानी ज्ञानी। गीता के दूसरे अध्याय के ११वे श्लोक मे 'पडित' शब्द आया है। आजकल 'पडित' शब्द ज्ञानी के अर्थ मे इस्तेमाल नही किया जाता। 'पडित' शब्द शास्त्री के अर्थ मे इस्तेमाल किया जाता है। शास्त्री यानी शास्त्र को जाननेवाला, शास्त्र की जानकारी रखनेवाला, वहुश्रुत और विद्वान्। प्राचीन जमाने मे ससारमुक्त ज्ञानी पुरुप को ही 'पडित' कहा जाता था।

: १९ :

इहैव तैर्जितः सर्गो येषा साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

येषा मनः—जिनका मन, **साम्ये स्थित**—(सव भूतो मे परमात्मा देखकर) सम अवस्था मे रहता है, **तैः इह एव**—उन्होने इहलोक मे ही, **सर्ग जित**—ससार को जीत लिया है, **हि ब्रह्म निर्दोष सम**—क्योकि ब्रह्म सव दोपो से रहित और सम है, **तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः**—इसलिए वे पुरुप ब्रह्म मे स्थित है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ जिन पुरुपो का मन सव भूतो मे परमात्मा को देखते हुए और सव भूतो के साथ उनके अनुसार व्यवहार करते हुए सम-अवस्था मे रहता है यानी निर्विकार, अलिप्त, अनासक्त रहता है, २. ऐसे पुरुपो ने ससार को जीत लिया, ऐसा समझना चाहिए। ३. क्योकि ब्रह्म यानी परमात्मा सम है यानी निर्विकार है, दोपरहित है, इसलिए ४ ऐसे पुरुप ब्रह्म मे यानी परमात्मा मे ही स्थित है।

(१) **येषा साम्ये स्थितं मनः।** जिनका मन साम्यावस्था मे स्थिर है। सृष्टि मे जितने भी जड-चेतन पदार्थ है, उन सवमे समान रूप से परमात्मा स्थित है। अज्ञानी लोगो की दृष्टि मे परमात्मा लुप्त ही रहता है, क्योकि अज्ञानी-जन सृष्टि के अनत पदार्थो की तरफ कार्यदृष्टि से ही देखते है। कोई आदमी सिर्फ घडे को ही देखे, उसमे रही हुई मिट्टी को न देखे तो वह कार्य-दर्शन यथार्थ-दर्शन नही कहा जायगा। वास्तव मे आसक्ति केवल भगवान् मे ही रहनी चाहिए। वाह्य-सृष्टि के किसी भी पदार्थ की आसक्ति नही रहनी चाहिए। कारण की ही आसक्ति रहनी चाहिए।

(२) **तैः इह एव सर्गो जितः।** इस शरीर के रहते हुए ही सर्ग यानी ससार को जीत लिया, ऐसा समझना चाहिए। हम सव जीव ससार मे फँसे है, आसक्त है। जो लोग स्त्री, पुत्र आदि की आसक्ति मे नही फँसते, वे सार्वजनिक सेवा मे आसक्त हो जाते है। कोई सार्वजनिक सस्था मे आसक्त हो जाते है। आसक्ति का एक ही कारण है, परमात्मा के स्वरूप की पहचान न होना। परमात्मा की अलौकिक माया से देह आदि सव सृष्टि पैदा होती है, पर परमात्मा अपने को जड-सृष्टि मे गुप्त रखता है। जीवात्मा मे प्रकट रहता है। जीव चेतन-स्वरूप है और चैतन्य एक ही है। लेकिन हमे यह पहचान नही है कि परमात्मा से हम भिन्न नही है, एकरूप ही है और देह से हम कभी भी एक-रूप नही है। लेकिन जिन्हे परमात्मा की पहचान हो जाती है वे ससार मे आसक्त न होकर ससार को जीत लेते है।

(३) **निर्दोषं हि समं ब्रह्म।** ब्रह्म निर्दोप और सम है। जहाँ द्वैत है, वहाँ राग-द्वेप आदि विकार पैदा होते है। विकारो से दुःख होता है। द्वैत दुःख का कारण वनता है और अद्वैत सुख प्राप्त कराने मे निमित्त वनता है। परमात्मा आनन्दमय है, क्योकि उसके सामने दूसरी कोई वस्तु ही नही

हे। जैसे मिट्टी का घडा भास है, वैसे ही जगत् परमात्मा की अलौकिक माया-शक्ति का भास है। परमात्मा जैसे आनन्दमय है, वैसे ही निर्दोष है। कुटुम्ब-सस्था अद्वैत के अनुभव के लिए ही है। सृष्टि के माने ही है द्वैत। जहाँ सृष्टि, वहाँ अनन्त भेद। भेद से दु ख होता है, उसीसे दोप पैदा होते है। इसी कारण अद्वैत-अनुभव के लिए कुटुम्ब-सस्था खडी हुई। चाहे जितने आश्रम या सार्वजनिक सस्थाएँ खडी करे, कुटुम्ब-सस्था जैसी टिकी हुई है, वह टूटती ही नही, वैसी सस्थाएँ या आश्रम लम्बे अरसे तक टिक नही पाते। कुटुम्ब-सस्था एक अद्भुत सस्था है। शादी के पूर्व पति-पत्नी एक-दूसरे को जानते भी नही। लेकिन शादी होते ही दोनो एक हो जाते है, दोनो मे अद्वैत हो जाता है। कभी मतभेद भी होता है, लेकिन भीतर के एकत्व के भाव मे कोई फर्क नही पडता। दोनो अपने को एकरूप ही मानते है। फिर सन्तान पैदा होती है। उनमे भी आपस मे अद्वैत रहता है। वडा भाई छोटे भाई को मारता है, मगर अद्वैत रहता है। इस प्रकार कुटुम्ब मे जो अद्वैत रहता है, उसके पीछे भी ममता रहती है। यह अद्वैत का दोप है। ममता भी द्वैत-भावना है। इस द्वैत-भावना से सिर्फ कुटुम्ब के साथ ही अद्वैत का अनुभव रहता है। कुटुम्ब छोडकर वाकी जितने भी लोग दुनिया मे है, उन सवके साथ अद्वैत का अनुभव नही आता। उन सवके साथ वरावर द्वैत का अनुभव आता रहता है। लेकिन कुटुम्ब मे अनुभव मे आनेवाले अद्वैत मे ममता का जो दोष रहता है, वह छूट जाय तो कुटुम्ब मे थोडा-सा जो अद्वैत का अनुभव आता है, वह दुनिया मे सवके साथ आ सकता है। अत अद्वैत के अनुभव के लिए ही कुटुम्ब-सस्था अस्तित्व मे आयी है, ऐसा समझना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन से यह ध्यान मे आयेगा कि चित्त मे भेद-वुद्धि जितनी अधिक होगी उतने ही अधिक दोष दाखिल होगे और उतने ही अश मे हमे दु ख का अनुभव भी होगा। अत भगवान् कहते है कि ब्रह्म दोषरहित और सम है, क्योकि भेदरहित है।

(४) चौथी वात है. **तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता.** । ज्ञानी पुरुप परमात्मा मे ही स्थित है। ज्ञानी पुरुप को यह अनुभव हो जाता है कि वह परमात्मा से भिन्न नही है। ज्ञानी पुरुप परम-शून्यता को पहुँच जाता है, उसका अहकार गल जाता है। मुडकोपनिषद् मे कहा है .

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरंजनः परम साम्यमुपैति॥ (३ १ ३)

अर्थात्—जव जीव सोने की तरह जिसका तेजस्वी स्वरूप है, जो जगत् का कर्ता तथा ईश है, जो पुरुष के रूप मे हर प्राणी मे स्थित है और सवकी योनि यानी कारण है (ऐसे परमात्मा को) देखता है, तव वह ज्ञानी वनकर पुण्य और पाप को धोकर यानी अनासक्त होकर, निरंजन होकर परम साम्यावस्था को पहुँचता है।

: २० :

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरवुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

प्रियं प्राप्य=इष्ट वस्तु प्राप्त होने पर, **न प्रहृष्येत्**=हर्पित नही होना चाहिए, **च अप्रिय प्राप्य**=और अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर, **न उद्विजेत्**=उद्विग्न नहीं होना चाहिए, **स्थिरवुद्धि** =(जिम ज्ञानी पुरुप की) वुद्धि स्थिर हो गयी है, **असमूढ** =जो मोहरहित हो गया है, **ब्रह्मविद्**=ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुप, **ब्रह्मणि स्थित** =ब्रह्म मे स्थित हो गया है।

इस श्लोक मे पाँच वाते है १. प्रिय वस्तु अथवा अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर जो हर्पित नही होता, २. अप्रिय वस्तु अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर जो दु खी

नही होता ३. जो स्थिरबुद्धि हो गया है, जिसकी चचलता दूर हो गयी है, और ४. जो मोहरहित हो गया है, ५ ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुप ब्रह्म मे ही स्थित हो गया है।

गीता मे एक ही वात वार-वार दुहरायी गयी है। इस श्लोक मे जो पहला लक्षण वतलाया है, वह दूसरे अध्याय के ५५वे और ५६वे श्लोक मे भी वताया गया है। लेकिन गीता के दूसरे अध्याय मे शकराचार्य ने स्पष्टीकरण कर ही दिया है कि भगवान् एक ही वात अनेक वार दुहरा रहे है। कारण यही कि भगवान् को चिन्ता है कि परमात्म-तत्त्व ससारी लोगो को किस तरह मालूम हो, किस तरह उसका अनुभव ससारी लोगो को हो और उनकी ससारासक्ति नष्ट हो। परमात्मा अव्यक्त है, इन्द्रियगोचर नही है। वह इन्द्रियो से जाना नही जाता और परमात्मा के अनुभव के विना सुख-दुख-मोह का अनुभव होता रहता है। इसलिए वार-वार उसी वस्तु को दुहराना पडता है, ताकि परमात्म-वस्तु हृदय मे जम जाय।

(१) **न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य**। यहाँ पहला लक्षण यह वतलाया कि इष्ट वस्तु या अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हो जाय तो ज्ञानी पुरुष आनदित नही होता। सामान्यतया हर आदमी की कोशिश हमेशा दो चीजो के लिए ही रहती है एक तो प्रिय वस्तु प्राप्ति और दूसरे अनुकूल परिस्थिति की प्राप्ति। कारण यह कि देह आदि को ही अपना स्वरूप समझने के कारण देह के आराम मे ही अपना आराम है, ऐसी भावना हो जाती है। फिर देहेन्द्रियो को जो प्रिय लगे वह प्रिय लगना स्वाभाविक है। गीता के १३वे अध्याय मे ज्ञान के लक्षण मे **जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शनम्** यह एक लक्षण वतलाया है। जन्म, मृत्यु, बुढापा और रोग ये सव दुखदायक है, ऐसा हमेशा चिन्तन करके उसका अनुभव उस प्रकार से करना। इससे देह आदि के वारे मे ममता क्षीण हो जाती है और प्रिय वस्तु की प्राप्ति की वासना भी मिट जाती है। प्रिय-प्राप्ति की वासना यदि मन से दूर हो जाय तो प्रिय वस्तु अथवा अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर वाह्य परिस्थितियो से आनन्द नही मिलेगा, वल्कि आनन्द का स्थान परमात्मा ही रहेगा। परमात्मा को छोडकर अन्य विपयो मे आनन्द की कोशिश करते है, तो निष्फल हो जाते है। विपयो से हमे भले ही तात्कालिक आनन्द मिले, लेकिन शाश्वत आनन्द नही मिल सकता। क्योकि विपय सत्यवस्तु नही है। उसका स्वरूप कायम नही रहता। आज जो विपय आनन्ददायी लगता है, वह कुछ समय के वाद आनन्ददायी नही लगता। किन्तु सत्यवस्तु के वारे मे ऐसा अनुभव कभी नही होता। उसमे अखड आनन्द का अनुभव होता है।

(२) दूसरी वात है **न उद्विजेत् प्राप्य च अप्रियं**। ज्ञानी पुरुप प्रतिकूल परिस्थिति या अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर दुखी या खिन्न नही होता। सृष्टि के सम्वन्ध से हमे सुख मिलता है, वैसे दुःख का भी अनुभव होता है। अत मे दुख का ही अनुभव हमे ज्यादा होता है, इसलिए ससार को दुखमय ही माना गया है। कोशिश करते हुए भी आदमी सर्वथा दुख से वच नही सकता। इसलिए सृष्टि के सम्वन्ध से हमे जो सुख-दुख का अनुभव होता है, उससे क्षणिक सुख मिलता है, उससे तथा दुख से मुक्त होने के लिए मनुष्य प्रयत्न करने लगता है, यह स्वाभाविक है। जैसे सुख क्षणिक रहता है, वैसे दुख क्षणिक नही रहता। दुख दीर्घकाल तक रहता है। लेकिन ज्ञानी को परमात्मा के अनुभव से शाति मिल चुकी है, इसलिए सृष्टि के शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गध-रूप पचविपयो के सम्वन्ध से जो प्रिय-अप्रिय, अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राप्त होती है और हर्ष-विषाद का जो अनुभव होता है, उसके वारे मे ज्ञानी पुरुप तटस्थ रहता है।

(३) तीसरा लक्षण है **स्थिरबुद्धिः**। ज्ञानी पुरुष की बुद्धि अत्यन्त स्थिर रहती है। दूसरे अध्याय मे ऐसे पुरुष को 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। बुद्धि निर्णय देनेवाली शक्ति है। सृष्टि को यथा-तथ्य रूप मे देखना-समझना ही यथार्थ निर्णय है। सत्यवस्तु एक ही है। अनेकत्व का भास सत्य नही है। जिस बुद्धि मे अनेकत्व सत्य प्रतीत होता है, वह स्थिर नही हो सकती। अनेकत्व को सत्य मानते है, तो बुद्धि चचल और अस्थिर रहेगी। एकत्व को सत्य मानेगे, तभी बुद्धि स्थिर होगी।

(४) चौथी बात है **असंमूढ**। ज्ञानी मोहरहित हो जाता है। देह आदि को जहाँ हम अपना स्वरूप मानते है, वहाँ देह के बारे मे आसक्ति उसका सहज परिणाम है। जहाँ अपनी देह की आसक्ति रहती है, वहाँ जिसे हम अपना मानते है, ऐसे माता-पिता, स्त्री-पुत्र, परिवार आदि के बारे मे भी आसक्ति का पैदा होना भी उसका सहज परिणाम है। इस तरह स्वदेह-आसक्ति और 'स्वजन-आसक्ति' पैदा होने से समोह पैदा होता है। समोह यानी मूढता, मूर्च्छा। हमारा सारा ससार **अहं** यानी **मैं** और **मम** यानी **मेरा**, इन दो शब्दो मे सिमटा हुआ है। इन्हे नष्ट करना बहुत कठिन है, लगभग असभव ही है। इन दोनो मे अतिप्रबल अह यानी 'मैं' है। अह की अपेक्षा ममता को दूर करना कुछ आसान है। ज्ञानदशा मे ये दोनो नही रहते। इसलिए ज्ञानी पुरुष के चित्त मे समोह यानी मूढता पैदा नही होती।

(५) पाँचवी बात है **ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः**। उपर्युक्त लक्षण जिस पुरुष मे पाये जाते है, वह ब्रह्म मे ही स्थित है, वह परमात्मा से भिन्न नही होता। उसने अपना अस्तित्व परमात्मा मे विलीन कर दिया है, शून्य बन गया है। परमात्मा ही परमात्मा का अस्तित्व है, हमारा अस्तित्व है ही नही, यह जँच जाय तभी शून्य बनने का अभ्यास हो सकता है। परमात्मा का ही अस्तित्व है, अपना अस्तित्व नही है—यह बात ज्ञानपूर्वक जँचनी चाहिए, ऐसी कोई बात नही है। श्रद्धा मे भी जँच सकती है। बुद्धि से परमात्मा जँच जाय तो मन मे उसके बारे मे शका नही उठेगी। लेकिन श्रद्धा अतिप्रबल हो तो शका उठने की सभावना ही नही रहती। इस तरह ज्ञानी अपनी शून्यता का अनुभव करते हुए परमात्मा मे लीन रहता है।

: २१ :

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥

बाह्यस्पर्शेषु=शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयो मे, **असक्तात्मा**=जो आसक्तिरहित है, (उसे) **आत्मनि यत् सुखं**=परमात्मा मे जो सुख है (**तत्**) **विन्दति**=उसका अनुभव होता है, **सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**=वह ब्रह्मयोग-युक्तात्मा, **अक्षय सुख अश्नुते**=अखड सुख का अनुभव करता है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ बाह्य विषयो मे जो अनासक्त रहता है, २ वह पुरुष परमात्मा के भीतरी सुख का अनुभव करता है, ३ और फिर ब्रह्माड मे व्याप्त परमात्मा का अनुभव करते हुए, ४ अखड सुख का—आनन्द का अनुभव करता है।

(१) पहली बात है **बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा**। भगवान् इस श्लोक मे ज्ञानी पुरुष के लक्षण बता रहे है। स्पर्श यानी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध ये जो पचविषय है उनमे ज्ञानी अनासक्त रहता है। जगत् मे अनत पदार्थ है और हर पदार्थ मे पच-विषय समाविष्ट है। सृष्टि के सब पदार्थो को देख-कर जिसे भगवान् का स्मरण होने लगता है, वह पचविषयो मे आसक्त नही रहता, वह भगवान् मे ही आसक्त रहता है। आसक्ति एक शक्ति है। उस शक्ति का उपयोग कैसे और कहाँ किया जाय, यही सवाल है। हमे अपना परमात्म-स्वरूप ज्ञात नही है और जगत् का स्वरूप भी परमात्मा ही है,

यह भी मालूम नही होता । इसलिए हम जगत्-रूपी कार्य को सत्य मानकर उसमे आसक्त बनकर दु खी हो जाते है। लेकिन परमात्म-स्वरूप को पहचानकर उसमे आसक्त रहेगे तो हमेशा आनन्द का अनुभव होगा ।

(२) दूसरी बात है **विन्दति आत्मनि यत् सुखम् ।** ज्ञानी आत्म-सुख का अनुभव करता है, क्योकि विषयो को वह सत्य नही मानता । विषयो के पीछे जो परमात्मा है, उसे जान लिया है, इसलिए उसकी आसक्ति परमात्मा मे केन्द्रित हो गयी है । अज्ञानी पुरुष जगत् को सत्य मानता है, इसलिए उसकी आसक्ति जगत् मे रहती है और ज्ञानी परमात्मा को सत्य मानता है, इसलिए उसकी आसक्ति परमात्मा मे केन्द्रित हो जाती है। ज्ञानी और अज्ञानी की आसक्ति के विषय बदल जाते है । मगर आसक्ति एक शक्ति है जो मौजूद रहती है, नष्ट नही होती । आत्मानुभव का आनन्द ध्यानजन्य है यानी मन मे उठनेवाले प्रत्ययो को, विचारो को, नामरूप-आकृति को, कल्पनाओ को वह रोकने की, हटाने की कोशिश करता है । भीतर पैदा होनेवाली काल्पनिक सृष्टि हटाकर भीतरी परमात्मा का अनुभव प्राप्त करके अतिसुख का, आनन्द का अनुभव करता है । भीतर इस तरह परमात्मा का अनुभव आता है और वह कायम टिकता है तो इसे आत्मदर्शन की भूमिका प्राप्त हुई, ऐसा कह सकते है । यह आत्मदर्शनरूप भूमिका प्राप्त होने के बाद चैतन्ययुक्त प्राणियो मे परमात्मा का दर्शन होता है । फिर जड पदार्थो के पीछे व्याप्त परमात्मा का दर्शन भी अपने-आप होता है । कोशिश करनी पडती है अपने शरीर मे व्याप्त प्रकट परमात्मा को जानने की, उसका अनुभव करने की । यदि हम भीतर की सृष्टि हटाने मे समर्थ रहे, तो आत्मानुभव हो सकता है । बाहर की सृष्टि को, जो परमात्मा के अधीन है और परमात्मा की अलौकिक शक्ति माया का जो आभास है, हम नही हटा सकते । हम मन की काल्पनिक सृष्टि नष्ट कर सकते है । यह हमेशा दु ख पैदा करती है । इसलिए जो पुरुष भीतर की यह सृष्टि हटाने मे सफल हुए, उन्हे भीतर प्रकट परमात्मा का अनुभव होने लगता है ।

(३) तीसरी बात है **सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ।** वह पुरुष ब्रह्माड मे स्थित परमात्मा के साथ एकरूप होता है यानी वह ब्रह्माड मे रहे हुए गुप्त परमात्मा को देख लेता है, हमेशा अनुभव करता रहता है । पिड मे यानी शरीर मे जो परमात्मा निवास करता है, वह प्रकट परमात्मा है । उसका अनुभव पहले ले लिया । उसके बाद ब्रह्माड मे स्थित परमात्मा का अनुभव होने लगता है ।सृष्टि के किसी भी जड पदार्थ मे उसे परमात्मा दिखाई देने लगता है । जैसे वस्त्र देखते हुए सूत दीखता है, घडे को देखते हुए मिट्टी दिखाई देती है, वैसे ही जगत् परमात्मा का कार्य होने से उसे देखते हुए परमात्मा का दर्शन हो जाता है । पानी, हवा, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, आकाश के असख्य तारे, पृथ्वी—इन सब चीजो को देखकर उसका मन आश्चर्य से भर जाता है। इन अद्‌भुत वस्तुओ को पैदा करनेवाले परमात्मा का उसे स्मरण हो आता है ।

(४) चौथी बात है **अक्षयं सुख अश्नुते ।** यह परमात्म-दर्शनरूप भूमिका प्राप्त होने के बाद अक्षय सुख का अनुभव होता है । आत्मदर्शनरूप भूमिका मे केवल सुख का उल्लेख है । परमात्म-दर्शनरूप भूमिका मे अखड सुख का जिक्र है। इस प्रकार आत्मदर्शन की दो भूमिकाएँ हुई। साख्य, जैन और वैशेषिक तीनो की केवल आत्म-दर्शनरूप भूमिका ही है, परमात्म-दर्शनरूप भूमिका इन्हे मान्य नही है । वेदान्त अथवा गीता का सिद्धान्त है कि शरीर मे जिसे आत्मा कहते है वही ब्रह्माड मे है और वही परमात्मा है । जैसे वेदात या गीता की सृष्टि के पीछे परमात्मा की मान्यता है, वैसे यदि हम मानते है तो सृष्टि के विषय मे काम,

क्रोध आदि विकार पैदा होने के बजाय परमात्मा का स्मरण होगा और हम काम-क्रोध को रोक सकेंगे। परमात्म-स्मरण से हमारा आत्मानद, हमारा आत्मसुख दो-चार घटे न रहकर अखड रह सकता है। इसलिए परमात्म-दर्शन मे अखड सुख मिलता है, ऐसा जो कहा है, वह यथार्थ ही है।

शकराचार्य कहते है **तस्मात् बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकायाः इन्द्रियाणि निवर्तयेत् आत्मनि अक्षय-सुखार्थी इत्यर्थः**। अर्थात् अतएव आत्मसुख की इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु को बाह्य विषय-सुख से इन्द्रियो को निवृत्त करना चाहिए।

: २२ :

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

हि=क्योकि, **ये सस्पर्शजा भोगा**=इद्रियो के विषय-सबध से पैदा होनेवाले जो भोग ह, **ते दु.खयोनय एव**=वे दु ख के ही कारण है, **आद्यन्तवन्त**=(वे) आदि और अत सहित ह, **कौन्तेय**=हे अर्जुन, (इसलिए) **बुध तेषु न रमते**=ज्ञानी उन विषयो मे रमण नही करते।

इस श्लोक मे तीन बाते है १. इन्द्रियो का विषयो के साथ सबध आता है और उनसे जो भोग पैदा होते है वे दु ख के ही कारण है। २. वे विषयो-पभोग अनित्य है। ३ इसलिए ज्ञानी पुरुष उनमे रममाण नही होते।

(१) पहली बात है **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते**। इन्द्रियो का विषयो के साथ जो सम्बन्ध है, वह दु ख का कारण बनता है, वह दु खदायक है। पचज्ञानेन्द्रियो का पचविषयो के साथ हमेशा सम्बन्ध आता है। सम्बन्ध आते ही अनुकूल-प्रतिकूल भाव मन मे उठते रहते है। अनुकूल भाव उठने से सुख का अनुभव होता है, फिर प्रतिकूल भाव उठने से दु ख का अनुभव होता है। फिर जो विषय हमे आज सुखदायी मालूम होते है, वे हमेशा सुखदायी मालूम होगे, ऐसी बात नही। इसी तरह जो विषय हमे आज दु खदायी मालूम हुए, वे हमेशा दु खदायी रहेगे, ऐसी भी बात नही। क्योकि सुख और दु ख के लिए बाह्य पच-विषय निमित्त बनने पर भी प्रत्यक्ष सुख-दु ख का जो अनुभव आता है, वह उस विषय की कल्पना पर निर्भर रहता है और कल्पना हमेशा बदलती रहती है। जिस वैभवयुक्त जीवन मे हमे पहले सुख मालूम होता है, उसके बारे मे जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब वह आनन्द नही आता। यह फर्क वैभवयुक्त जीवन के बारे मे हमारी कल्पना के बदलने से हुआ। यह एक आश्चर्य की बात है कि जिस वैभवयुक्त जीवन मे हम आनन्द का अनुभव करते थे, अब उसके त्याग मे आनन्द का अनुभव होने लगता है। मतलब यही कि बाह्य पदार्थ मे सुख या दु ख जैसी कोई बात नही है। यदि ऐसा है तो इस श्लोक मे भगवान् ने यह क्या कह दिया कि विषय दु ख के कारण है ?

यद्यपि दु ख का अनुभव मन मे ही होता है और विषयो मे सुख या दु ख नही रहता, फिर भी बाह्य विषयो के कारण ही दु ख पैदा होता है। यदि बाह्य-विषय अस्तित्व मे नही है, तो मन मे जो जीव सृष्टि पैदा होती है, वह पैदा नही होगी। मन की सृष्टि का आधार बाहर की ईश-सृष्टि ही है। हम बाह्य पदार्थो को आँखो से देखते है। देखते ही बाह्य पदार्थो का रूप और आकृति मन मे प्रविष्ट होती है, उस पदार्थ का हमे ज्ञान होता है और मन मे अनुकूल-प्रतिकूल भाव पैदा होते है। इस तरह मन मे सृष्टि पैदा होने के लिए बाह्य-सृष्टि केवल निमित्त बनती है। वह बाह्य-सृष्टि प्रत्यक्ष दु ख नही दे सकती। दु ख तो मन मे पैदा हुई सृष्टि का ही होता है। यदि पदार्थ मे सुख-दु ख हो तो वह पदार्थ हमेशा सुख देनेवाला अथवा हमेशा दु ख देनेवाला होता। लेकिन सुख-दु ख बाह्य-पदार्थ मे नही है। पदार्थ के बारे मे हमारी जैसी

भावना होगी, उसीके मुताबिक सुख या दु.ख का अनुभव होगा । दु ख के निमित्त बाह्य विषय होते है ।

(२) दूसरी बात है **आद्यन्तवन्त.** । ये विषय नित्य पदार्थ नही है । विषय हमेशा बदलते रहते है । सृष्टि के माने ही है परिवर्तन । एक परमात्मा ही है, जो कभी बदलता नही । वह सदैव नित्य है । अनित्य पदार्थ इद्रियो से जाने जाते है, नित्य पदार्थ इद्रियो के परे होते है । वह अव्यक्त है । सुख, शाति, आनन्द नित्य मिले, यह सब चाहते है । भगवान् कहते है कि ये पचविषय अनित्य है, वे आदि-अतसहित है । उनमे आसक्त होने से सुख का, शाति का, आनन्द का अनुभव नित्य नही मिल सकता । यदि हम सुख, शाति, आनन्द नित्य चाहते है, तो नित्य वस्तु के पीछे पडना होगा । नित्य वस्तु तो एक परमात्मा ही है, इसलिए परमात्मा का अनुराग हमारे चित्त मे पैदा हो, परमात्मा के प्रति हमारी आसक्ति पैदा हो, ऐसे उपाय हमे ढूँढने चाहिए ।

(३) तीसरी बात है **कौन्तेय न तेषु रमते बुधः** । बुध यानी विवेकी । ज्ञानी पुरुष उन अनित्य विषयो मे रममाण नही होते, फँसते नही । नित्य अव्यक्त परमात्मा ज्ञानी पुरुषो के हाथ आ गया है । नित्य वस्तु को जानने के बाद अनित्य वस्तु का आकर्षण किसे होगा ?

इस श्लोक के भाष्य मे शकराचार्य कहते है **संसारे सुखस्य गंधमात्र अपि न अस्ति इति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत् ।**

अर्थात्—ससार मे सुख की गधमात्र भी नही है, ऐसा समझकर विषयरूप मृगजल से इद्रियो को निवृत्त करना चाहिए ।

आगे शकराचार्य लिखते है **अत्यंतमूढानां एव विषयेषु रतिः दृश्यते यथा पशुप्रभृतीनाम् ।** अर्थात्—अतिमूढ पुरुषो को ही पशुओ की तरह विषयो की आसक्ति रहती है ।

ज्ञानेश्वर महाराज इस श्लोक के भाष्य मे लिखते है "जैसे भूख से पीड़ित और दरिद्र आदमी भूसी या चोकर भी खा लेता है, वैसे ही जिन्होने आत्मस्वरूप का अनुभव नही किया वे ही इन इन्द्रियो के विषयो मे फँसते है । जिस तरह व्याकुल हिरन भ्रमवश मरीचिका को पानी समझ लेता है, वैसे ही जिन्हे आत्मस्वरूप का अनुभव नही, उन्हे विषय सुखरूप भासित होते है । विषयो मे सुख माना जाय तो बिजली की चमक मे हमारे सारे व्यवहार क्यो नही चलते ? यदि बादल की छाया से हवा, बरसात और धूप से हम बच सकते है, तो पक्के मकान क्यो बनाये ? जैसे मरीचिका को जल कहना मिथ्या है, वैसे ही विषयो मे सुख मानना व्यर्थ है । विषयो मे जो सुख दिखाई देता है, वह आदि से अत तक दु ख ही दु ख है । लेकिन मूर्ख लोग इसे जानते नही, इसलिए विषयो का सेवन किये बिना उनसे रहा ही नही जाता । विषयो के भीतर का स्वरूप तो उन्हे मालूम नही रहता, इसलिए वे बेचारे बडे शौक मे विषयो का सेवन करते रहते है । लेकिन ये विषय बहुत बुरे है, इसलिए भूलकर भी इन विषयो के रास्ते पर पैर नही रखना चाहिए । जो विरक्त होते है, वे विष की तरह विषयो का त्याग करते है ।"

: २३ :

शक्नोतीहैव य. सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः ॥

य' इह एव=जो इसी देह मे, **प्राक्शरीरविमोक्षणात्**=शरीर छूटने के पूर्व, **कामक्रोधोद्भव वेगं**=काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को, **सोढुं शक्नोति**=जीतने मे समर्थ होता है, **स युक्त'**=वह योगी है, (और) **स' सुखी नर**=वह सुखी पुरुष है ।

इस श्लोक मे चार बाते है १ इसी देह मे यानी मृत्यु से पूर्व ही, २ काम-क्रोध से पैदा

होनेवाले प्रक्षोभरूप वेगो को जीतने मे जो सफल हो जाता है, ३ वह योगी है और ४ वही सुखी है ।

(१) पहली वात है **य. इह एव प्राक्शरीर विमोक्षणात्** । काम, क्रोध आदि विकारो पर विजय इसी देह मे, मृत्यु के पूर्व प्राप्त होनी चाहिए । इसी जन्म मे काम क्रोधादि विकारो को जीतना है, ऐसा सकल्प हो तो प्रयत्न मे शिथिलता नही आ सकती । लेकिन यह आसान नही है । गीता मे छठे अध्याय के ४५वे श्लोक मे कहा है कि अनेक-जन्मो के प्रयत्नो के वाद मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है । सातवे अध्याय के १९वे श्लोक मे कहा है कि अनेक जन्मो के वाद मनुष्य परमातमा को प्राप्त करता है । काम-क्रोधादि विकारो को जीतना कोई एक जन्म का कार्य नही है । अनेक जन्मो का कार्य हो तो भी शिथिलता न आये, इसलिए साधक के मन मे यह सकल्प हमेशा जागृत रहे कि जो कुछ प्राप्त करना है, वह इसी जन्म मे प्राप्त होना चाहिए ।

(२) दूसरी बात है **कामक्रोधोद्भवं वेग सोढुं शक्नोति** । काम और क्रोध के वेग को जो जीतने मे सफल हो जाते हैं । काम, क्रोध आदि विकारो को जीतना महत्त्वपूर्ण वात है । क्योकि जब तक ये विकार रहते है, तब तक चित्त मे शाति का अनुभव नही होता । ज्ञानेश्वर महाराज कहते है 'ये काम-क्रोध विकार ज्ञान-निधि पर वैठे हुए है । ये विकार शाति भग कर देगे और परमात्म-ज्ञान का अनुभव नही होने देगे ।' शकराचार्य लिखते है

अय च श्रेयोमार्गप्रतिपक्षी कष्टतमो दोष. सर्वानर्थप्राप्तिहेतु. दुर्निवार्यः च इति तत्परिहारे यत्नाधिक्य कर्तव्य इति आह भगवान् ।
अर्थात्——और यह काम-क्रोधरूपी दोप कल्याण-मार्ग का प्रतिपक्षी है, दु खदायक दोप है । इसका निवारण वडा कठिन है । यह सब अनर्थो का मूल है । फिर लिखते है·

मरणसीमाकरणं जीवतः अवश्यभावी हि काम-क्रोधोद्भवो वेग· अनन्तनिमित्तवान् हि सः इति, यावन्न मरणं तावन्न विश्रम्भणीय. इत्यर्थः ।
अर्थात्—मृत्यु तक मर्यादा भगवान् ने वतायी है । कारण जीवित मनुष्य मे काम-क्रोध के वेग पैदा होते ही है । क्योकि काम-क्रोध के पैदा होने मे अनत निमित्त रहते है । जब तक मृत्यु नही आती, तब तक इनका भरोसा नही कर सकते ।

वे काम की व्याख्या करते है **कामः इन्द्रिय-गोचरप्राप्ते इष्टे विषये श्रूयमाणे स्मर्यमाणे वा अनुभूते सुखहेतौ या गर्धि·तृष्णा सः कामः ।**

अर्थात्—काम जिनका अनुभव हो गया है और जो सुख देनेवाले है, ऐसे इद्रियो से जानने-योग्य इष्ट विषय प्राप्त होने पर अथवा उनके वारे मे सुनने पर अथवा उनका स्मरण हो जाने पर उनको प्राप्त करने की लालसा का नाम ही काम है ।

आगे क्रोध की व्याख्या करते हुए कहते है **क्रोध. च आत्मन. प्रतिकूलेषु दु.खहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा यो द्वेषः स क्रोधः ।** 'अपने जो प्रतिकूल और दु खदायक विषय दीखने पर या उनके सबध मे सुनने पर अथवा उनका स्मरण हो जाने पर उनके प्रति जो द्वेष पैदा होता है उसीका नाम क्रोध है ।'

(३) तीसरी वात है **सः योगी** । वह योगी है । योगी यानी परमातमा के साथ जुडा हुआ, एक-रूप । परमातमा के साथ हम सव सदैव एकरूप ही है । कभी भी परमातमा से भिन्न नही है । देहादि से हमेशा भिन्न है, यह हमे अज्ञान के कारण प्रतीत नही होता । यह अज्ञान काम, क्रोध आदि विकारो को जीतने से नष्ट होता है । काम-क्रोधादि विकार और अज्ञान दोनो मे अन्योन्य सबध है यानी दोनो एक-दूसरे के निमित्त बन जाते है । हम स्वय परमात्म-स्वरूप है और देह आदि से भिन्न है, यह मालूम न होना

ही अज्ञान है। इस अज्ञान से काम-क्रोधादि विकार पैदा होते हैं। जब तक काम-क्रोधादि विकार नष्ट नही होते, तब तक अज्ञान दूर नही होता। काम, क्रोध आदि को जीतना अज्ञान दूर करने का कारण है। इस तरह काम-क्रोध आदि को जो जीवित रहते हुए ही जीत लेता है, उसने जीवित रहने का कार्य पूर्ण किया, ऐसा समझना चाहिए।

(४) चौथी बात है **सः सुखी नरः**। वह योगी पुरुष सुखी है। काम-क्रोधादि विकार दुख देते है, यह सबका अनुभव है। लेकिन काम-क्रोध आदि विकारो को कैसे हटा जाय, यह ज्ञात नही। दीर्घकाल तक सत्सगति मे रहने के बाद काम-क्रोधादि विकार पर विजय प्राप्त करने की युक्ति ध्यान मे आ जाय तो आत्यंतिक सुख मिलता है।

: २४ :

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

य.=जो, **अंत.सुख.**=भीतर मे ही सुख लेनेवाला है, **अंतरारामः**=परमात्मा मे ही आराम करनेवाला है, **यः अंतर्ज्योति. एव**=और जो भीतर से यानी परमात्मा से ही प्रकाश लेनेवाला है, **स. योगी**=वह योगी, **ब्रह्मभूत. सन्**=ब्रह्मरूप होकर, **ब्रह्मनिर्वाणं**=ब्रह्मनिर्वाण को, **अधिगच्छति**=प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जो पुरुष परमात्मा मे डूबकर सुख लेता है, २ परमात्मा मे ही आराम लेता है, ३ परमात्मा से ही प्रकाश लेता है, ४ वह योगी पुरुष परमात्म-स्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त करता है।

(१) पहला लक्षण है **य अंतःसुख.**। काम-क्रोधरूप विकारो को जीतनेवाला योगी सच्चा सुखी है। प्राणीमात्र की प्रवृत्ति बाहर से सुख प्राप्त करने की है। बाह्य पदार्थो से सुख प्राप्त करने की कोशिश करने पर भी सुख नही मिलता, इसका एक ही कारण है कि बाह्य पदार्थ सत्य नही है। जो वस्तु नित्य बदलती है, उससे मिलनेवाला सुख क्षणिक होता है, टिक नही पाता। लेकिन जब बाह्य विषयो के प्रति वैराग्य प्राप्त होकर वृत्ति भीतर मुडने लगती है और सत्सगति मे रहने से और महापुरुषो के ग्रथो के अध्ययन से, चिन्तन-मनन से, सबके भीतर प्रकट परमात्मा के ध्यान से, उसकी भक्ति से भीतर सुख का अनुभव होता है तब बाह्य विषयो से मिलनेवाले सुख की अपेक्षा वैराग्य, ध्यान, भक्ति और कर्म-फल-त्याग से मिलनेवाला यह सुख कई गुना श्रेष्ठ है, ऐसा मनुष्य को अनुभव होने लगता है।

सत तुलसीदासजी कहते है

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई।
जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।
पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

काकभुशुडी गरुड से कहते है कि हे गरुड, हरि-भक्ति को छोडकर जो और साधनो से सुख प्राप्त करने की इच्छा रखते है, वे मूढ है। वे बिना नौका के महासागर पार करने की इच्छा रखते है। वह उनकी जड करनी यानी मूर्खता का काम है।"

इसलिए भगवान् इस श्लोक मे बता रहे है कि जिन्होने काम-क्रोधादि विकारो को जीत लिया है, वे भीतर प्रकट परमातमा मे डूबकर उसीसे सुख प्राप्त करते हैं।

(२) दूसरा लक्षण है **अंतराराम**। ज्ञानी भीतर प्रकट परमात्मा मे ही आराम लेता है। मनुष्य की प्रवृत्ति बाह्य विषयो से सुख प्राप्त करने की तरह हमेशा आराम की तरफ भी रहती है।

विनोबाजी कहते है कि ५५ या ६० साल के बाद इस प्रकार की जिम्मेदारी से मनुष्य को मुक्त होना चाहिए। उद्देश्य यही कि मृत्यु तक जिम्मे-दारी से चिपके रहने से दूसरे आदमी को तैयार करके उसे अपने अनुभव का लाभ देना सभव नही

होता। जिम्मेदारी के पद से निवृत्त होने का मतलब सेवा से निवृत्त होना नही है। मृत्यु तक जन-सेवा का कार्य अपनी शक्ति के मुताविक चलते रहना चाहिए। लेकिन आदमी मे जो आराम-प्रियता है, वह उसे सेवा से ही निवृत्त करती है। जिम्मेदारी के पद से निवृत्त होने मे दूसरा जवान आदमी तैयार हो जाय और इस वृद्ध आदमी के अनुभव का लाभ उस जवान को मिले, यह एक उद्देश्य है। वैसे व्यक्तिगत दृष्टि से वृद्धावस्था मे मृत्यु का स्मरण रहे और परमात्म-स्मरण को वढावा देते हुए देह छूट जाय, यह दूसरा उद्देश्य है। लेकिन शरीर को या इद्रियो को आराम मिले, यह दृष्टि उपर्युक्त विचार मे नही है। मृत्यु के समय जो असह्य वेदना का अनुभव होता है, उस समय परमात्म-स्मरण रहे, यदि हम ऐसा चाहते है तो वृद्धावस्था मे जीवन को सेवामय, तपोमय वनाने की कोशिश करनी चाहिए। यदि वृद्धावस्था मे आराम-प्रिय रहे, तो मृत्यु की असह्य वेदना को वरदाश्त करने की शक्ति नही मिलेगी। आराम-प्रिय मनुष्य के लिए गीता के तीसरे अध्याय के १६वे श्लोक मे लिखा है **अघायुः इन्द्रियारामः मोघ पार्थ सः जीवति।** यानी वह पापी, इद्रियासक्त-इद्रियो मे ही आराम लेनेवाला पुरुष व्यर्थ ही जी रहा है। यह सव ध्यान मे रखकर ज्ञानी पुरुष इद्रियो के अधीन न होकर, इद्रियो मे ही आराम न लेकर भीतर प्रकट परमात्मा से आराम लेता है। वाहर इद्रियो का निग्रह करके देह को अपनी शक्ति के अनुसार कष्ट मे रखकर परमात्मा मे ही आराम लेने मे वह मोक्ष का अधिकारी वन जाता है।

(३) तीसरा लक्षण है **अंतर्ज्योति एव।** वह भीतर से ही प्रकाश लेता रहता है। विनोवाजी कहते है "प्रकाश यानी आत्मज्ञान का प्रकाश, आत्मा के अकर्तापन का वोध, ज्ञान।" 'देह से, इद्रियो मे, मन मे, वुद्धि मे मै सर्वथा भिन्न हूँ, मै किसी भी क्रिया का कर्ता नही हूँ' ऐसा अनुभव ही आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान की यह व्याख्या मालूम नही रहती, इसलिए गलत रास्ते से ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। कोई साधक समाधि के पीछे पडते है, कोई सगुण ध्यान के पीछे रहते है, अनेक प्रकार की साधनाएँ करते है। साधक भिन्न-भिन्न सस्कार के कारण किसी एक को महत्त्व देकर उसके पीछे पडते है और उसमे से कोई चीज सध गयी तो उसे आत्मज्ञान मान लेते है। समाधि प्राप्त होने के वाद उसे आत्मज्ञान या आत्म-दर्शन मानने की तरफ सहज ही प्रवृत्ति रहती है। सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले भीतर कुछ प्रकाश नजर आने पर उसे ही आत्मज्ञान मान लेते है। साधक का लक्ष्य आत्मज्ञान प्राप्त करने का रहता है और वह जल्दी-से-जल्दी प्राप्त हो, यह भी मन मे रहता है। इसलिए भीतर कुछ अनुभव प्राप्त होने पर उसे आत्मज्ञान मान लेने की तरफ मन का झुकाव रहता है। इसलिए यहाँ विनोवाजी का अर्थ ध्यान मे रखने योग्य है। हम खुद अकर्ता है, किसी भी कर्म के कर्ता नही है। सव कर्म परमात्मा के अस्तित्व से ही होते है। हम स्वय शून्य है, देहादि से पूर्णतया भिन्न है, ऐसा अनुभव यदि आता है तो भीतर प्रकाश यानी आत्मज्ञान प्राप्त हुआ, ऐसा मान सकते है।

(४) चौथी वात है **स. योगी ब्रह्मभूतः सन् ब्रह्मनिर्वाणं अधिगच्छति।** वह योगी यानी ज्ञानी सन्यासी या ज्ञानी कर्मयोगी ब्रह्मस्वरूप यानी परमात्म-स्वरूप होकर ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है। जो ज्ञानी पुरुष भीतर परमात्मा मे से ही सुख लेता है, परमात्मा मे ही आराम लेता है और परमात्मा मे ही प्रकाश लेता है, वह ब्रह्मभूत यानी परमात्म-स्वरूप हो ही जाता है। जो परमात्म-स्वरूप मे ही लीन हो गया, वह ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। गीता के दूसरे अध्याय के ७२वे श्लोक मे 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द आया है। इसी अध्याय के अगले श्लोक मे यानी

२५वे श्लोक मे और २६वे श्लोक मे भी 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द आया है।

विनोवाजी ने ब्राह्मी-स्थिति और ब्रह्म-निर्वाण मे फर्क किया है। ब्राह्मी-स्थिति ऐसी स्थिति है कि उसे प्राप्त कर लेने पर कभी भी मनुष्य हट नही सकता। वह कभी काम-क्रोधादि विकारो के अधीन नही होता। अहकार की वृत्ति उस स्थिति मे उठती ही नही। ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त होने के वाद भी प्रारब्ध के अधीन शरीर होने से शरीर रहता है और जव तक शरीर है, तव तक कुछ-न-कुछ विकास-क्रम चालू रहता है। इसलिए ब्राह्मी-स्थिति के वाद देह छूटने तक मुसाफिरी चालू रहने के कारण शरीर छूटने के वाद ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त होता है। वे कहते है "ब्राह्मी-स्थिति यानी जहाँ से नीचे गिरना नही और ब्रह्म-निर्वाण यानी जहाँ से ऊपर चढना नही।" इस श्लोक के भाष्य मे विनोवाजी और एक चीज वतला रहे है कि **अंतर्ज्योतिः** का वर्णन इस अध्याय के १३से १७वे श्लोक तक, **अंतराराम.** का १८से २०वे श्लोक तक और **अंत.सुखः** का २१ से २३वे श्लोक तक हुआ है।

: २५ :

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मान. सर्वभूतहिते रताः ॥

क्षीणकल्मषा'=जिनके पाप क्षीण हो गये है, **छिन्न-द्वैधा.**=जिनका सशय नष्ट हो गया है, **यतात्मान.**=जिन्होने इन्द्रियो को जीत लिया है, **सर्वभूतहिते रता**=जो सव भूतो के कल्याण मे रत है, **ऋषय.**=ऐसे ऋषि यानी ज्ञानी सन्यासी, **ब्रह्मनिर्वाणं**=ब्रह्मनिर्वाण, **लभन्ते**=प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक मे छह वाते है १ जिनके पाप आदि दोप क्षीण हो गये है, २ जिनका सशय नष्ट हो गया है, ३ जिन्होने इद्रियो को जीत लिया है, ४ जो सव भूतो के कल्याण मे रत है, ५ ऐसे ऋपि यानी ज्ञानी सन्यासी, ६ ब्रह्मनिर्वाण यानी मोक्ष प्राप्त करते है।

(१) पहला लक्षण है **क्षीणकल्मषाः**। जिनके पाप क्षीण हो गये है। मोक्ष-प्राप्ति मे वाधक है पापाचरण। पाप-कर्म करने मे अतिशय देहासक्ति रहती है। शकराचार्य 'भज गोविंदम्' स्तोत्र मे लिखते है

सुखतः क्रियते रामाभोग. पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुंचति पापाचरणम्॥

अर्थात्—स्त्रियो के साथ आनन्द भोगते है, लेकिन वाद मे शरीर रोगाक्रात हो जाता है और यद्यपि सव लोग मरण की शरण जाते है, तथापि पाप-कर्म छोडते नही हैं।

ज्ञानी पुरुप के लिए पापाचरण का मार्ग वन्द है। पाप-कर्म को हटाने मे पुण्य-कर्म समर्थ है। गीता के सातवे अध्याय के २८वे श्लोक मे कहा है

येषा त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि पुण्य-कर्म से जिनका पाप-कर्म मिट गया है अर्थात् ज्ञानी पुरुप का पुण्य-कर्म स्वभाव हो जाने से पाप-कर्म उसके लिए अशक्य हो गया है, यह अर्थ तो **क्षीणकल्मषा.** इस वचन का है ही। मुख्य अर्थ यह है कि पुण्य-कर्म ज्ञानी पुरुप का स्वभाव होते हुए भी कभी कुछ अल्प दोप हो जाय तो वह उसे पाप जैसा ही लगता है। ज्ञानी पुरुप को कभी गुस्सा आ गया तो उसे वह पाप ही समझेगा। थोडा-सा भी प्रमाद ज्ञानी पुरुप के लिए पाप है। इस तरह भगवान् कह रहे है कि ज्ञानी पुरुप के लिए स्थूल पाप अशक्य हो ही गया है। लेकिन छोटे दोष भी क्षीण हो गये है यानी वह दोषो से पूर्णत मुक्त हो गया है।

(२) दूसरा लक्षण है **छिन्नद्वैधा**। जिनके सशय नष्ट हो गये है। चौथे अध्याय के ४१वे श्लोक मे **ज्ञानसछिन्नसशय**—आत्मज्ञान से जिनके सशय नष्ट हो गये, यह वचन आया है। साधक-दशा मे शकाएँ उठती ही रहती है। परमात्मा

ब्रह्माड मे किस प्रकार है, जीवात्मा का स्वरूप क्या है, परमात्मा और जीवात्मा का कैसा सबध है, परमात्मा से माया भिन्न है या एक है, मोक्ष का स्वरूप क्या है, बध किसे कहते है, अद्वैत का अनुभव किसे कहते है, परमात्म-दर्शन या आत्म-दर्शन क्या चीज है आदि अनेक प्रश्न मन मे उठते है। परमात्म-स्वरूप का अनुभव होने पर सब शकाएँ खतम हो जाती है। लेकिन जब तक भीतर से परमात्मा का अनुभव नही होता, तब तक शकाएँ निर्मूल नही होती। इन शकाओ के निराकरण के लिए अनुभवी पुरुष के पास जाना चाहिए या किसी ग्रथ का आश्रय लेना चाहिए।

(३) तीसरा लक्षण है **यतात्मान**। जिसने सब इद्रियो को जीत लिया है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणो मे इद्रिय-निग्रह एक मुख्य लक्षण कहा गया है। ज्ञानेश्वर महाराज दूसरे अध्याय के १४वे श्लोक के भाष्य मे कहते है

"परमात्मा का ज्ञान न होने का कारण है मनुष्य का इद्रियो के अधीन रहना। इद्रियाँ मन को अपने वश मे रखती है, इसलिए मनुष्य को भ्रम हो जाता है। इद्रियाँ विषय का सेवन करती है, तब मन मे हर्ष-शोक होता है और ये हर्ष-शोक अत करण को ग्रस लेते है। इन विषयो की भी एक-सी स्थिति नही रहती। इनके सग से कभी दुख का अनुभव होता है, तो कभी सुख का। जब हम इद्रियो के अधीन हो जाते है और शीत-उष्ण का अनुभव करते है, तब सुख-दुख के फदे मे फँस जाते है। इद्रियो को विषयो के अतिरिक्त और कोई चीज नही भाती। ये विषय मृगजल के समान है, इसलिए हे अर्जुन, इन विषयो का सग मत कर, क्योकि ये अनित्य है।"

(४) चौथा लक्षण है **सर्वभूतहिते रताः**। सब भूतो के कल्याण मे रत रहता है। यही शब्द १२वे अध्याय के चौथे श्लोक मे आया है। पाँचवाँ अध्याय 'सन्यास-योग' का अध्याय माना जाता है। यहाँ **सर्वभूतहिते रताः** से यह बताया है कि सन्यासी के लिए भी सर्वभूतो के कल्याण मे रत रहने का धर्म छूटता नही। सब भूतो के कल्याण मे रत रहना ज्ञानी का स्वभावगत धर्म है। तीसरे अध्याय के २०वे श्लोक मे 'लोक-सग्रह' शब्द आया है। 'लोक-सग्रह' ज्ञानी पुरुष का स्वभाव बन जाता है। श्रीशकराचार्य कहते है **लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसग्रह.**। अर्थात् लोगो की उन्मार्ग यानी पतन की प्रवृत्ति का निवारण करना लोकसग्रह है। "लोगो की पतनोन्मुखी प्रवृत्ति का निवारण करना" और "लोगो के कल्याण मे रत रहना", इन दोनो का अर्थ एक ही है। १२वे अध्याय के चौथे श्लोक मे 'सर्वभूतहिते रता' को निर्गुण भक्त का लक्षण कहा गया है। निर्गुण भक्त या सन्यासी दोनो जगत् की पर्वाह नही करते, ऐसी आम जनता की कल्पना है। लेकिन गीता ने इस अध्याय मे सन्यासी के लक्षण मे और १२वे अध्याय मे निर्गुण-भक्त के लक्षण मे **सर्वभूतहिते रताः** कहा है। सन्यासी हो अथवा योगी, निर्गुण भक्त हो अथवा सगुण भक्त, लोक-कल्याण का धर्म छूटता नही, यह गीता का तत्त्व है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है "जैसे अन्धे के आगे आँखवाला पुरुष मार्ग बताता हुआ चलता है, उसी तरह ज्ञानी अज्ञानी को साथ लेकर चलता है। शकराचार्यने **सर्वभूतहिते रता.** का भाष्य इस प्रकार किया है **सर्वेषा भूताना हिते आनुकूल्ये रता.**। "सब भूतो के हित मे यानी अनुकूलता मे रत रहते है यानी अहिसक रहते है।" शकराचार्य ने **सर्वभूतहिते रता.**"इस वचन का अर्थ कुछ भिन्न किया है। समाज की जो भूमिका है, जो योग्यता है, उसे ध्यान मे रखते हुए, अनुकूल होकर उन्हे आहिस्ता-आहिस्ता आगे ले जाते है। 'अनुकूल' शब्द महत्त्वपूर्ण है। हरएक की भूमिका, योग्यता ध्यान मे रखते हुए जब उन्नति का मार्ग बताया जाता है, तब बिना कठिनाई के हरएक की उन्नति

होती जाती है। महापुरुष ही प्रत्येक की भूमिका को परख सकते है और उस भूमिका के अनुसार उन्हे आगे ले जा सकते है। इसलिए शकराचार्य ने यहाँ अनुकूल शब्द ठीक ही प्रयुक्त किया है। और वे अहिंसक रहते है, ऐसा 'अहिंसक' शब्द इस्तेमाल किया है। अहिंसा यानी शून्यता। ज्ञानी मे शून्यता की पराकाष्ठा होनी चाहिए।

(५) **ऋषयः**। 'ऋषि' यह शब्द सम्पूर्ण गीता मे दो बार आया है—एक यहाँ और दूसरा दसवे अध्याय के १३वे श्लोक मे। 'महर्षि' शब्द गीता के १०वे अध्याय मे श्लोक २, ६ और २५ मे आया है। ऋषि शब्द उपनिषद् मे खूब आता है। जिनमे शून्यता की पराकाष्ठा देखने मे आये, अहकार मात्र इतना ही रहता है जैसे जली हुई डोरी की आकृतिमात्र, वे 'ऋषि' कहलाने योग्य है। जिनमे ज्ञान की पराकाष्ठा, भक्ति की पराकाष्ठा और अहभाव की शून्यता की पराकाष्ठा देखने मे आती है, उनके लिए 'ऋषि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(६) छठी बात है . **ब्रह्मनिर्वाण लभन्ते**। पिछले श्लोक मे 'ब्रह्मनिर्वाण अधिगच्छति' आया है। इस श्लोक मे 'ब्रह्मनिर्वाण लभन्ते' है। दोनो का अर्थ एक ही है। पिछले श्लोक मे एकवचन है और इस श्लोक मे बहुवचन है। भगवान् कहते है कि ऊपर जिनका वर्णन हुआ है, ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण को यानी मोक्ष को प्राप्त कर लेते है।

: २६ :

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

कामक्रोधवियुक्ताना=काम, क्रोध मे जो रहित हो गये है, **यतचेतसां**=जिन्होने चित्त को अपने अधीन रखा है, **विदितात्मना**=जिन्होने परमात्मा को जान लिया है, **यतीना**=ऐसे सन्यासी ज्ञानी के लिए, **ब्रह्मनिर्वाणं**=मोक्ष, **अभित. वर्तते**=चारो ओर रहता है।

इस श्लोक मे चार बाते है: १ जो काम-क्रोध से रहित हो गये है, २ जिन्होने अपने चित्त पर काबू पा लिया है, ३ जिन्होने परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया है, ४ ऐसे सन्यासी चारो ओर मोक्ष का दर्शन करते है।

(१) **कामक्रोधवियुक्तानां**। २३वे श्लोक मे यह बताया है कि "जो पुरुष इसी देह मे मृत्यु के पहले ही काम-क्रोधजन्य वेगो को जीतने मे समर्थ होता है, सफल होता है, वह योगी है, वह सुखी है।" यही बात इस श्लोक मे बतायी जा रही है। ज्ञानी पुरुष काम-क्रोध-रहित होते है। काम-क्रोध मे अहकार, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि सब विकारो का समावेश है। ये विकार ही बधन मे डालते है, शाति का अनुभव नही होने देते। पहले यह ध्यान मे आ जाना जरूरी है। तभी इन्हे क्षीण करने के लिए मनुष्य सोचेगा और उपाय करेगा। गीता ने चाभी बतला दी कि अनासक्ति से विकार क्षीण हो सकते है। अनासक्ति के लिए आग्रह का त्याग पहली शर्त है। आदमी अपने लिए आग्रह रखे, तो भी ठीक, पर वह तो दूसरो के लिए आग्रह रखता है। अपना तो बचाव कर लेता है। हर तरह का अनाग्रह अनासक्ति मे सहायक है।

(२) दूसरी बात है. **यतचेतसां**। चित्त जिनके अधीन रहता है। सब लोग चित्त के अधीन रहते है। इसलिए चचल भी रहते है। हमे स्थिरता का अनुभव नही होता। हम एक निश्चय करते है, लेकिन उस पर टिके नही रहते। चित्त डाँवाडोल रहता है। जैसे समुद्र मे लहरे उठती ही रहती है, वैसे ही चित्त अखड चलता रहता है। बाल्यकाल मे चित्त बहुत चचल रहता है। चित्त एक विषय पर ज्यादा देर तक एकाग्र नही रह पाता। इसलिए चित्त को बदर की उपमा दी जाती है। वैसे पशु, पक्षी सभी बहुत चचल होते है, क्योकि चित्त को स्थिर करने के लिए जिस विवेक-शक्ति की जरूरत है, वह पशु-पक्षियो मे

नही होती । सिर्फ मनुष्य मे ही वह शक्ति है । इस शक्ति का उपयोग करते हुए सत्सगति मे चित्त को स्थिर करने का तरीका ध्यान मे आ सकता है ।

(३) तीसरा लक्षण है **विदितात्मनां ।** जिन्होने परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया है । हमारी देह मे ही परमात्मा है, पर उसका ज्ञान नही होता; क्योकि परमात्मा हमे दिखाई नही देता । परमात्मा यदि दिखाई दे तो ज्ञान हो जाय । लेकिन परमात्मा स्थूल न होने से दिखाई नही देता । परमात्मा दिखाई देने लगे तो वह विनाशी हो जायगा, क्योकि जो भी वस्तु दिखाई देती है, वह स्थूल रहती है और स्थूल वस्तु विनाशी होती है । इसलिए परमात्मा दिखाई देनेवाली चीज नही है । लेकिन सब वस्तुओ का आधार परमात्मा ही है । अत वह निरतर विद्यमान है । यही उसका स्वरूप है । इसीसे वह सत् है । हमेशा हमे ज्ञान होता रहता है । अज्ञान को भी हम जानते है । इस तरह परमात्मा का स्वरूप सत्, चित् है ।

हमारे समक्ष सदैव भेद-सृष्टि रहती है, इसलिए हमे दु ख होता है । परमात्मा के समक्ष भेद न होने से वह आनन्दस्वरूप है । इस तरह परमात्मा का स्वरूप सत्, चित्, आनन्द है । वह हमारे भीतर अखड विराजमान है । इस तरह जो सच्चिदानन्द परमात्मा है, उसे हम नही जानते, लेकिन ज्ञानी पुरुष ने परमात्मा को जान लिया है ।

(४) चौथा लक्षण है : **यतीनां ब्रह्मनिर्वाणं अभितः वर्तते ।** उपर्युक्त लक्षण जिनके पास है, ऐसे ज्ञानी **यती** यानी सन्यासी को **अभितः** यानी चारो ओर ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्ष ही दीखता है । सब जगत् मोक्षमय ही दीखता है ।

विनोबाजी ने सर्वत्र 'ब्रह्म देखना' और सर्वत्र 'ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्ष देखना' दोनो मे फर्क किया है । सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्ममय देखना, उसमे कार्यरूप जगत् के साथ कारणरूप ब्रह्म देखने का दर्शन है और सर्वत्र ब्रह्मनिर्वाण देखना है, ससार को ही मोक्षमय देखना । यह अनुभूति की परम सीमा है ।

. २७-२८ .

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष - परायण. ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

य मुनि·=जो मुनि, **बाह्यान् स्पर्शान्**=बाह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि विषयो को, **बहि कृत्वा**=बाहर ही रखकर यानी उनसे अलिप्त रहकर, **च चक्षु** =और चक्षु आदि इन्द्रियो को, **भ्रुवो अन्तरे कृत्वा**=भृकुटि के बीच रखकर, **नासाभ्यन्तरचारिणौ**=और नासिका के भीतर विचरनेवाले, **प्राणापानौ**=प्राण और अपान वायु को यानी अतर्बाह्य वृत्ति को, **समौ कृत्वा**=समान करके, **यतेन्द्रियमनो बुद्धिः**=जिसने मन, बुद्धि को जीत लिया है, **मोक्षपरायण**·=जो मोक्ष-परायण हो गया है, **विगतेच्छाभयक्रोध** =जिसने इच्छा, भय, क्रोध छोड दिया है, **स** =वह, **सदा मुक्त. एव**=हमेशा मुक्त ही है ।

इन दो श्लोको मे सात बातें है १ जो मुनि सन्यासी बाह्य शब्द, स्पर्शादि विषयो से अलिप्त रहता है, २ चक्षु आदि इद्रियो को भृकुटि के बीच रखता है, ३ नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को समान रखता है यानी भीतरी वृत्तियो को विशुद्ध करता है, ४ उसने इद्रियाँ, मन, बुद्धि को वश कर लिया है, ५ मोक्षपरायण है, ६ इच्छा, भय, क्रोध को छोड दिया है, ७ वह हमेशा मुक्त ही है, ऐसा समझना चाहिए ।

(१) **यः मुनि· बाह्यान् स्पर्शान् बहि. कृत्वा ।** ज्ञानी सन्यासी के लिए 'मुनि' शब्द इस श्लोक मे आया है । ज्ञानी मुनि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि बाह्य पचविषयो को भीतर चिपकने नही देता । बाह्य विषयो से हमारा दिन-रात सबध आता है । सबध आते ही मन मे ये विषय राग-

द्वेप यानी काम-क्रोध आदि विकारो को खडा करके सुख-दु ख का अनुभव कराते रहते है। इन्हीके बीच हमारा सारा जीवन खतम हो जाता है। जव तक हम इनके अधीन रहते है, तव तक शाश्वत सुख का अनुभव नही हो पाता। इसलिए इसी अध्याय के २१वे श्लोक मे भगवान् ने कहा कि वाह्य विषयो मे जो अनासक्त रहता है, वही भीतर के शाश्वत सुख का अनुभव प्राप्त करता है। २२वे श्लोक मे कहा कि ये विपय दु ख के कारण वनते है और जो विवेकी पुरुप है, वे इन विपयो मे रममाण नही होते। यही वात फिर से इस श्लोक के प्रारम्भ मे कही गयी है। यदि वाह्य विषयो से अलिप्त रहना हो तो उनके साथ वहुत मर्यादित सम्वन्ध रखना चाहिए। मर्यादित सवध रखकर ही हम उनसे अलिप्त रहने मे सफल हो सकते है। गीता मे अनेक वार 'मुनि' शव्द प्रयुक्त हुआ है। **मननात् मुनिः** ऐसी मुनि शव्द की व्याख्या शकराचार्य ने की है। परमात्म-स्वरूप का चितन, मनन जो सतत करता है, उसे मुनि कहा जाता है।

(२) दूसरी वात है **चक्षुः भ्रुवोः अतरे कृत्वा**। आँख को भृकुटि के वीच रखकर। शकराचार्य ने इन दो श्लोको का अर्थ वताते हुए यह कहा कि सम्यग्दर्शन यानी आत्मदर्शन या हरि-दर्शन का अतरग साधन ध्यान-योग है। जिस ध्यान-योग की साधना भगवान् ने छठे अध्याय मे वतायी है, उस ध्यान-योग के लिए उपर्युक्त दो श्लोक प्रस्तावनारूप है। यहाँ भृकुटि के वीच आँख को रखने के लिए कहा है और छठे अध्याय के १३वे श्लोक मे नासिका के अग्रभाग पर आँख रखने के लिए कहा है। ध्यान के लिए जव आसन लगा-कर वैठते है, तव अपनी नाक के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। इसे अर्धोन्मीलित दृष्टि भी कहते है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने से तो ध्यान नही हो सकेगा। इसलिए इस वचन का अर्थ आचार्य ने यह किया है कि वाहर से दृष्टि हटाकर भीतर एकाग्र करना चाहिए। यह उसका सही अर्थ है। यहाँ पर भृकुटि के वीच दृष्टि स्थिर करने के लिए कहा है। इसका स्थूल अर्थ यही होगा कि अपनी दृष्टि भीतर से भृकुटि के वीच रखना। लेकिन भृकुटि के वीच एक आदमी ने दृष्टि यानी लक्ष्य रखने का अभ्यास किया और उसे दर्द होने लगा। इलाज के लिए निसर्गोपचार-आश्रम मे वे सज्जन आये। भृकुटि के वीच लक्ष्य रखने का अभ्यास उन्होने इस कदर किया था कि वहाँ से ध्यान हटाने की कोशिश करने पर भी ध्यान हट नही पाता था। अत इस वचन का स्थूल अर्थ करने के वजाय चक्षु को भीतर रखने की कोशिश करना, यही अर्थ करना चाहिए। व्यापक अर्थ यह हो सकता है कि पाँचो ज्ञानेन्द्रियो को अपने-अपने विपयो से हटाकर अन्तर्मुख रखना। इससे समाधान हो सकता है। विपयो को वाहर रखना, यानी विषयो के साथ आवश्यक सवध ही रखना। अथवा दूसरी तरह से विपयो को वाहर रखना और इद्रियो को विपयो से हटाकर उन्हे अतर्मुख रखना। दोनो मिलकर यही अर्थ है कि विपयो से अत्यन्त मर्यादित सम्वन्ध रखते हुए अलिप्त रहना।

(३) तीसरी वात है **नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा**। नासिका के भीतर विच-रनेवाले प्राण और अपान को समान करके, यह इस वचन का शव्दार्थ है। हम जो श्वास भीतर लेते है, उसे अपान यानी श्वास कहते है और जो वाहर छोडते है उसे प्राण यानी उच्छ्वास कहते है। इन श्वास और उच्छ्वास को सम करना यानी शात करना। जव एकाग्रता सध जाती है, तव स्वाभा-विक तौर पर श्वास और उच्छ्वास धीमे चलने लगते है यानी शात और सम चलने लगते है। चित्त की चचलता मे गति पैदा होती है। उसका श्वास और उच्छ्वास पर असर होता है यानी उसमे भी कुछ गति पैदा होने लगती है। जव चित्त मे क्षोभ पैदा होता है, काम-क्रोधादि विकार पैदा होते

है, तब प्राण और अपान बहुत विपम चलने लगते है, उनकी गति वढ जाती है। धडकन पैदा होने लगती है। एक वडा सर्प हमारे नजदीक आ रहा है, ऐसा जब हम देखते है तब डर पैदा होने लगता है और नाडी तेज चलने लगती है। धडकन इतनी तेज हो जाती है कि सुन सकते है। जो भीतर स्थिर हो गया है, जिसका चित्त शात हो गया है, जो हरि का स्मरण करता रहता है, उसकी प्राण-अपान की गति शात और समान रहती है। सत तुलसीदासजी ने कहा है

सुमिरत हरिहिं साँस गति बाधी ।
सहज विमल मन लागि समाधी ॥

अर्थात् हरि का स्मरण करते ही श्वास और उच्छ्वास की गति शात होने लगी और मन सहज ही अति-शुद्ध होने से समाधि लग गयी।

प्राण और अपान समान करने का यह स्थूल अर्थ हुआ। इन शब्दो का सूक्ष्म अर्थ मन मे उठने-वाली अतर्वाह्य वृत्ति कर सकते है। हमारा चित्त कभी बहिर्मुख रहता है, कभी अतर्मुख। सामान्य आदमी का चित्त वहिर्मुख ही रहता है। अतर्मुख तो नगण्य ही रहता है। जो आध्यात्मिक मार्ग पर चलते है, उनका चित्त अतर्मुख रहता है। मन की गति हमेशा ऐसी रहती है कि दूसरो के दोप नजर आते है और अपने गुण ही दीखते है। वृत्तियो को शुद्ध करने का उपाय तो यह है कि दूसरो के गुणो को देखना और अपने दोषो को देखना। वहिर्मुख वृत्ति का मतलव है ब्रह्माड के बारे मे, सृष्टि के बारे मे चितन करना। अतर्मुख वृत्ति का अर्थ है अपने बारे मे, अपनी उन्नति के बारे मे सोचना।

(४) चौथी वात है **यतेन्द्रियमनोबुद्धिः ।** इद्रिय, मन, वुद्धि पर कावू जिन्होने प्राप्त कर लिया है। इद्रियो के साथ हमारा जाग्रत-काल मे हमेशा सम्बन्ध आता है। पचविपय हमेशा फँसाने के लिए तैयार रहते है। हम उनके अधीन हो जाते है। जितना हम इद्रियो के अधीन रहते है, उतना दु खी होते है। हम इद्रियो को जितना अपने अधीन रखते है, उतना दु ख टलता है और सुख का अनुभव होता है। इन्द्रियो का विपयो के साथ सवध आते ही राग-द्वेप की यानी काम-क्रोध की लहरे उठने लगती है। देखने पर यदि कोई वस्तु हमे प्रिय, अनुकूल लगे तो उसके प्रति राग यानी अनुराग पैदा होता है। अनुराग से काम पैदा होता है। यदि वह विपय हमे अप्रिय लगे, प्रतिकूल मालूम हो तो उस विषय के वारे मे हमारे मन मे घृणा पैदा होती है। यानी क्रोध होता है। इस तरह पच विपयो के सवध मे हमारे मन मे अनुकूल-प्रतिकूल राग-द्वेप की लहरे उठती रहती है। ज्ञानी पुरुप राग-द्वेप की लहरे मन मे उठने नही देता, क्योकि इन्द्रियो पर वह विजय प्राप्त कर चुका है।

(५) पाँचवी वात है **मोक्षपरायणः।** ज्ञानी पुरुप मोक्षपरायण होते है। ससारी जीव ससार-परायण होते है। हमे निरन्तर सासारिक चीजो का ही ध्यान रहता है, क्योकि हमारे शरीर मे एक अद्-भुत वस्तु का निवास है, इसका भान हमे नही है। इसका भान गाधीजी को हुआ और वे परमात्मा को साक्षी रखकर सारी क्रिया करते रहे, इस कारण मोक्ष-परायण वने।

(६) छठी वात है **विगतेच्छाभयक्रोध. ।** इच्छा, भय और क्रोध जिन्होने छोड दिये है। इच्छा, भय, क्रोध छोडने के लिए भगवान् वरावर कह रहे है। हमारा सारा जीवन किसी-न-किसी इच्छा के अधीन ही चलता है। इसमे सदिच्छा रखकर पहले असदिच्छा का त्याग करना होता है। फिर धीरे-धीरे सदिच्छा पर कावू प्राप्त करके उसके वारे मे अनासक्त रहना, इसीका नाम इच्छा-रहित होना है। जव तक देह धारण करना पडता है तव तक विलकुल इच्छा-रहित होना सभव नही। इसलिए शुद्ध इच्छा, जिसमे अपना निजी स्वार्थ न हो, रखकर यह अपने स्वाधीन रहे, यह कर ही सकते है। शुद्ध इच्छा वधनकारक नही होती। शुद्ध

इच्छा की आसक्ति बधनकारक होती है। उसे छोडना हमारा कर्तव्य है।

मृत्यु का भय सबसे प्रबल होता है। मृत्यु का डर न रहे और मृत्यु के समय की असह्य वेदना को बरदाश्त करने के लिए देह से अलग होने का और नित्य हरिस्मरण करने का अभ्यास रहे, यह खयाल मे रखना चाहिए। सर्प आदि जतुओं का डर भी रहता है। सब भयो के मूल मे जीने की तीव्र इच्छा काम करती है। जीने की इच्छा क्षीण हो जाय तो डर निकल जाय। क्रोध तो सबके अनुभव मे आता ही रहता है। अपनी इच्छा के अनुकूल कार्य न होने पर यह वृत्ति उठती है। कइयो के स्वभाव मे ही क्रोध रहता है। वे बात-बात पर बिगडते रहते है। ऐसे लोगो को शाति मिलना बहुत कठिन है। उत्तेजित होने की आदत से क्रोध पैदा होता है। इसलिए चित्त बात-बात मे या किसी भी हालत मे उत्तेजित न हो, इसका खयाल रखा जाय तो क्रोध-वृत्ति का शमन होता है।

(७) सातवी बात है : **सः सदा मुक्तः एव।** उपर्युक्त लक्षण जिनमे हो, वे सदा मुक्त ही है। उन्हे मुक्ति का ही अनुभव होता है। मुक्ति प्राप्त करने की चीज नही है। हम सब मुक्त ही है, क्योकि वही हमारा स्वरूप है। परमात्मा मुक्त है, इसलिए हम भी मुक्त ही है। किन्तु इस मुक्ति का अनुभव हमे नही होता। क्योकि हम अहकार, राग, द्वेष आदि विकारो के अधीन रहते है और ये विकार-मुक्ति का अनुभव करने नही देते। ये विकार चित्त को चचल रखते है और स्थिरता के अभाव मे चित्त शुद्ध नही हो पाता। चित्त स्थिर और शुद्ध रहे तो हमारा स्वरूप या स्वभाव, जो मुक्त है, उसका अनुभव हो सकता है। पानी स्थिर हो और शुद्ध हो तभी उसमे प्रतिबिम्ब देख सकते है। पानी हिलता रहे या मलिन रहे, तो उसमे प्रतिबिब देख नही सकते। वैसे ही चित्त शुद्ध और स्थिर रहे तभी मुक्ति का अनुभव हो सकता है।

: २९ :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूताना ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

यज्ञतपसा भोक्तार=यज्ञ और तप के भोक्ता को, **सर्वलोकमहेश्वम्**=सब लोगो के महान् ईश्वर, **सर्वभूताना सुहृद**=सब भूतो के निरपेक्ष उपकारक, **मा ज्ञात्वा**=ऐसे मुझ परमेश्वर को जानकर (मनुष्य), **शाति ऋच्छति**=शाति प्राप्त करते है।

इस श्लोक मे पाँच बाते है १ यज्ञ और तप का अनुभव करनेवाले, २ सब लोगो के महान् ईश्वर यानी विश्वचालक, ३ प्राणीमात्र पर बिना किसी अपेक्षा के उपकार करनेवाले, ४ ऐसे मुझ ईश्वर को जानकर यानी परमेश्वर की शरण लेकर, ५ मनुष्य शाति प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे बतलाया जा रहा है कि शाति किस तरह प्राप्त हो सकती है। सारी गीता मे परमेश्वर-भक्ति को शाति का सरल, सुगम उपाय बताया है।

(१) **यज्ञतपसां भोक्तार** ' यज्ञ और तप के भोक्ता यानी अनुभव करनेवाले परमात्मा की शरण लेनेवाला, ऐसा इस वाक्य का आगे सबध आयेगा। यहाँ यज्ञ और तप का उल्लेख है। इसमे 'दान' शब्द का समावेश है। यज्ञ, दान, तप परमात्मा को जानने के बाह्य साधन है। अंतरग साधन भक्ति है। उपनिषद् मे वचन है **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।** अर्थात्—उस ईश्वर को ब्राह्मण (साधक) जन वेद के यानी उपनिषदो के, श्रुति के वचनो से तथा यज्ञ, दान से और शरीर, मन, बुद्धि का नाश न करनेवाले तप से जानने की इच्छा रखते है।

इस श्रुति-वचन मे एक साधन यज्ञ, दान, तप के साथ शास्त्र-वचनो का अध्ययन बताया है। तप के पीछे 'अनाशक' विशेषण है। तप अक्सर क्षीण

करनेवाला होता है। तप यानी अपने को क्षीण करना, ऐसी धारणा साधक के मन मे रहती है। भगवान् बुद्ध ने भी शरीर को क्षीण करनेवाला तप किया था। बाद मे उनके ध्यान मे आ गया कि शरीर को क्षीण करनेवाले तप से मन की शक्ति बढने के बजाय घटती है। १८वे अध्याय के ५वे श्लोक मे कहा है "यज्ञ, दान और तप इन तीनो साधनो को आचरण मे लाना चाहिए। क्योकि ज्ञानी पुरुष को भी ये पावन करते है यानी ज्ञान होने के बाद भी चित्त की और शुद्धि करनेवाले ये यज्ञ, दान, तप है। यज्ञ, दान, तप की साधना चित्तशुद्धि के लिए करे, किन्तु उसके भी हम यदि कर्ता और भोक्ता बनेगे तो ये तीनो साधन भी बधनमुक्त नही कर सकते। क्योकि क्रिया के कर्ता और भोक्ता बनना ही बधनकारक है।

इसलिए भगवान् कह रहे है कि यज्ञ, तप के भोक्ता यानी अनुभव करनेवाले तो भगवान् ही है। क्योकि मन मे भगवान् नही है तो यज्ञ, तप का अनुभव कौन करेगा? हमारा अस्तित्व परमेश्वर से भिन्न तो है नही। परमेश्वर से हम एकरूप ही है, इसलिए यज्ञ, दान, तप के हम कर्ता, भोक्ता बनने के बजाय भगवान् को ही यज्ञ, तप अर्पण करो यानी भगवान् को ही कर्ता, भोक्ता बनाओ तो देह-बुद्धि नष्ट होगी और अखड शाति मिलेगी। देह-बुद्धि शाति मे रुकावट डालनेवाली है। इसलिए भगवान् को ही यज्ञ-तप का भोक्ता मानो।

(२) दूसरी बात है **सर्वलोकमहेश्वरं**। परमेश्वर सब लोगो का ईश्वर है यानी सब लोगो पर नियत्रण रखनेवाला है। लेकिन हम सब उसके नियत्रण मे रहने को तैयार नही है। यदि हम ध्यान रखे कि हमेशा २४ घटे वह हमारी हरएक क्रिया देख रहा है, इतना ही नही, हमे वह सत् की प्रेरणा भी दे रहा है, तो हमारा जीवभाव क्षीण हो जायगा। हम कभी असत्-कार्य कर ले तो भीतर परमात्मा की प्रेरणा होगी कि यह तुमने असत्कार्य किया है। यह प्रेरणा कभी इतनी असह्य हो जाती है कि मानव उसे जाहिर करा देता या खुद उसके लिए प्रायश्चित्त करता है। ऐसे कई उदाहरण है कि किसीका खून कर दिया, लेकिन वह जाहिर किये बिना नीद ही नही आती। वह अपने को पुलिस के हवाले कर देता है और तब उसे शाति मिलती है। इस तरह हमे हमेशा सत् की प्रेरणा देनेवाला और नियत्रण मे रखनेवाला परमात्मा सब जगह और हमारी देह मे निवास करता है, ऐसा मान रखे तो अहभाव नष्ट होगा और हमे परमात्मा का अनुभव आयेगा।

(३) तीसरी बात है **सर्वभूताना सुहृदं**। परमात्मा सब प्राणियो का निरपेक्ष उपकारक है। परमात्मा उपकार करता है, लेकिन हमसे उसके बदले मे किसी भी प्रकार की अपेक्षा नही रखता। हम किसी पर उपकार करते है तो उसके बदले मे कुछ अपेक्षा रखते है। विरल पुरुष ही निष्काम भाव से कार्य करते है। परमात्मा सतत हमारी सेवा करता है। हमारे शरीर मे रहकर खाया हुआ अन्न पचाता है। हम रात को सो जाते है। हमे तो देह का भान भी नही रहता। लेकिन परमात्मा चौबीसो घटे शरीर को सुस्थिति मे रखने की कोशिश करता है। स्मरण-विस्मरण भी उसीसे होता है। हम किसी चीज को भूल जाते है, मगर अचानक हमे उसका स्मरण हो जाता है। दिन-रात भगवान् हमारी निरपेक्ष सेवा करता है, यदि ऐसा ध्यान रखे तो हम भी परमात्मा की तरह निष्काम बन जायँगे।

(४) चौथी बात है **मां ज्ञात्वा**। मुझे जानकर। यानी जो ऊपर कहे अनुसार मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेते है, वे शाति प्राप्त कर लेते है। मेरे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना यानी ऊपर भगवान् का जो तीन प्रकार का स्वरूप बतलाया उसे जानना १ परमात्मा को ही भोक्ता

समझकर कर्ता-भोक्तापन का मिट जाना, २ सब लोगो पर परमात्मा का ही नियत्रण है, वही सबको सत् की प्रेरणा देता है, ऐसा समझकर परमात्मा के नियत्रण मे रहना और हमेशा सत् की तरफ मुडना, अपना सारा व्यवहार सत् के अनुकूल रखना, सत्यमय रखना और ३ सब पर निरपेक्ष रीति से उपकार करनेवाला परमात्मा ही है, ऐसा समझकर खुद निष्काम बनकर परमात्मा के सामने झुककर जीवन विताना। इस तरह परमात्मा का तिहरा स्वरूप समझकर उसे बराबर जानकर चलना।

(५) पाँचवी बात है **शांति ऋच्छति।** (वह) शाति को प्राप्त कर लेता है। किसी-न-किसी तरह भगवान् की शरण लेना मुख्य बात है। ईश्वर-शरणता यानी ईश्वर-भक्ति सारी गीता मे वर्णित है। भक्ति के लिए कुछ अध्याय ही रखे है। फिर भी हरएक अध्याय मे भक्ति की आवश्यकता बताना भगवान् भूले नही है।

यह पाँचवाँ अध्याय बतलाता है कि सन्यासी किसे कहते है और योगी और सन्यासी दोनो एक-से है। फिर भी इस श्लोक मे भगवान् की भक्ति जो सुलभ और श्रेष्ठ उपाय है, वह बतलाये बिना भगवान् से रहा नही गया। भगवान् की शरण लेना, उसकी भक्ति करना, मनुष्य के लिए आसान है। इतना ही नही, भगवान् सर्वत्र और हमारी देह मे निवास कर रहे है। परमात्मा के सिवा और किसी वस्तु का स्वतत्र अस्तित्व नही है। जिस तरह मिट्टी के बिना घडे का अस्तित्व नही है, उसी तरह सारे जगत् मे परमात्मा ही परमात्मा है, यह पहले जान लिया हो तो परमात्मा की शरण लेना या परमात्मा के प्रति भक्ति पैदा होना सुलभ हो जाता है।

छठा अध्याय

इस अध्याय के प्रारभ मे वही विपय चल रहा है, जो पाँचवे अध्याय मे चल रहा था। वाद मे निर्गुण-उपासना अथवा पतजलि के योगदर्शन मे जिसे 'ध्यान-योग' कहा है, वह प्रारभ होगा। पाँचवे अध्याय मे सन्यास और योग दोनो को एक वतलाया गया है।

विनोवाजी कहते है कि सन्यास वृत्ति-प्रधान है। अत सन्यास से वृत्ति-शोधन की अपेक्षा रखी जाती है। कर्मयोग कर्म-प्रधान है, अत कर्मयोग से समाज-सेवा की अपेक्षा रखी जाती है। कर्मयोग का ठीक-ठीक पालन किया जाय, तो वृत्ति-शोधन हो जाता है। इससे उलटे निरहकारता से वृत्ति-शोधन ठीक-ठीक हो जाय, तो यह वडी भारी समाज-सेवा मानी जायगी; क्योकि समाज-सेवा की प्रेरणा उसमे समाविष्ट है।

: १ :

श्रीभगवान् उवाच

अनाश्रित· कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय ॥

कर्मफल अनाश्रित=कर्मफल का आश्रय न लेनेवाला, **य.**=जो (पुरुष), **कार्य कर्म**=कर्तव्य कर्म, **करोति**=करता है, **स सन्यासी**=वह सन्यासी है, **च योगी**=और योगी है, **निरग्नि· न**=जो निरग्नि यानी विकर्म नही करता, वह (योगी या सन्यासी) नही है, **च अक्रिय. न**=और जो कर्तव्य-कर्म नही करता वह (योगी या सन्यासी) नही है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ कर्मफल का आश्रय न लेनेवाला यानी कर्मफल मे अनासक्त पुरुप, २ प्रवाह-पतित कर्म करता है, ३ वह सन्यासी और योगी है, ४ लेकिन जो आतरिक विकर्म की साधना अथवा कर्तव्य-कर्म नही करता, वह सन्यासी या योगी नही है।

(१) पहली वात है **अनाश्रित. कर्मफलं।** जो पुरुप कर्मफल का आश्रय नही लेता। कर्म यानी स्वधर्म, स्वकर्तव्य इसमे मुख्य वात ध्यान मे रखने की यह है कि कर्म-फल के विपय मे आसक्ति पैदा न हो। फल की आसक्ति दु ख पैदा करती है। कर्तव्य-कर्म दु.खदायक नही होता। स्वधर्म-पालन या कर्तव्य-पालन मे तो मनुष्य को यह समाधान रहता है कि मै अपना कर्तव्य-पालन कर रहा हूँ। लेकिन कर्तव्य-कर्म करते हुए भी फल के वारे मे वडी आतुरता रहती है, अपेक्षा-इच्छा रहती है। इच्छा, अपेक्षा या वासनाओ का फल यह है कि वे आसक्ति पैदा करती है। सामाजिक सेवा-कार्य मे जो मग्न है, उनके मन मे भी जव कामनाएँ पैदा होती है, तव मन मे आसक्ति पैदा होने लगती है। आसक्ति भयानक है। वह आदमी को गिरा देती है, उसे अस्वस्थ और चचल कर देती है।

(२) दूसरी वात है **यः कार्य कर्म करोति।** जो कर्तव्य-कर्म यानी स्वधर्म का पालन करता है। स्वकर्तव्य या स्वधर्म-पालन प्रवाह-पतित कर्म ही है। स्वधर्म अथवा स्वकर्तव्य कही खोजने जाना नही है। वह अपने आप निश्चित होता रहता है। जीवन कर्तव्यमय रहना चाहिए। माता-पिता का पुत्र या पुत्री के प्रति जो कर्तव्य हो, वह करने की दृष्टि रहनी चाहिए। सिर्फ कर्तव्य-दृष्टि रहे, मोह-दृष्टि नही। समाज के प्रति भी हरएक का कुछ कर्तव्य रहता है, वह करने की दृष्टि रहनी

चाहिए । १८वे अध्याय मे सात्त्विक, राजसिक और तामसिक त्याग के लक्षण वताये है, उसमे सात्त्विक त्याग के लक्षण इस प्रकार है "जो नियत यानी स्वकर्तव्य है, उसे अपना कर्तव्य समझकर आसक्ति छोडकर जो करता है, उसका वह त्याग सात्त्विक है।" त्याग मे स्वकर्तव्य नही छोडना है, क्योकि कर्तव्य-कर्म कभी छूटता नही। छोडने की चीज आसक्ति आदि विकार है। कर्म छोडने से मोक्ष नही मिलता। मोक्ष तो विकारो को छोडने पर मिलता है।

(३) तीसरी वात है **सः सन्यासी च योगी च**। आसक्ति छोडकर अनासक्त वनकर जो कर्तव्य-कर्म करता है, स्वधर्म का पालन करता है, वह सन्यासी और योगी है। सन्यासी है, क्योकि फलासक्ति का त्याग किया है, विकारो का त्याग किया है। वह योगी भी है, क्योकि वाहर से यानी काया, वाचा से स्वधर्म का पालन करता है और चित्त की सम-अवस्था रखता है, स्थिरता रखता है।

सन्यास का अर्थ प्राय वाहर से कर्म छोडना किया जाता है। यह विलकुल गलत अर्थ है। जो कुछ छोडना है, वह वाहर नही, भीतर है। सच तो यह है कि जो भीतरी विकारो को छोडने का प्रयत्न नही करते वे विकारो को ज्यादा पुष्ट करते है। भीतरी विकारो को छोडने के प्रयत्न का नाम 'सन्यास' है। इस सन्यास के साथ वाहर से सत्कर्म-योग अथवा स्वकर्तव्य पालन का योग होना चाहिए। वाहर से स्वधर्म का पालन करते हुए भीतर से चित्त को सम और स्थिर रखना योग है। इस तरह जीवन मे सन्यास और योग दोनो का मेल वैठाना चाहिए।

(४) चौथी वात है **न निरग्निः न च अक्रिय.**। जो यज्ञरहित है। चौथे अध्याय मे २५वे से ३२वे श्लोक तक जो चित्त शुद्ध करनेवाले नाना प्रकार के यज्ञ यानी विकर्मरूप यज्ञ वतलाये गये है, उन्हे जो नही करता, अथवा जो स्वकर्तव्य-रूप क्रिया नही करता, वह सन्यासी या योगी नही है। प्राचीन काल मे यज्ञ का मतलव था अग्नि-कुड मे लकडी जलाना। इस श्लोक मे 'अग्नि' शव्द आया है। अग्नि-रहित यानी यज्ञ-रहित। यज्ञ का स्वरूप परिस्थिति के अनुसार वदलता रहता है, वदलना चाहिए। स्वधर्म या स्वकर्तव्य के पालन को, जिसमे स्वार्थ की दृष्टि न हो, 'यज्ञ' कह सकते है। लेकिन वह वाह्य यज्ञ है। इस यज्ञ के वारे मे तीसरे अध्याय मे विस्तार से समझाया गया है। यहाँ जो यज्ञ है, वह वाहरी नही है। यहाँ तो विकर्मरूप यज्ञ अभिप्रेत है। विना चित्तशुद्धि के वाह्य स्वधर्म का मोक्ष की दृष्टि से कोई अर्थ नही है, इसलिए चित्तशुद्धिकारक आतरिक साधना को यज्ञ कहना विलकुल ठीक है। इस प्रकार चित्तशुद्धिकारक नाना प्रकार के यज्ञ जो नही करता, वह सन्यासी अथवा योगी नही है। वैसे ही जो वाह्य स्वधर्मरूप या स्वकर्तव्यरूप कर्म नही करता, वह भी सन्यासी अथवा योगी नही है। भीतर चित्तशुद्धिकारक कर्म न करना और वाहर स्वधर्मरूप कर्म न करना तो 'यह भी गया और वह भी गया' जैसी स्थिति है—इहलोक भी नही और परलोक भी नही। जो दोनो वाजू से गया, उसका जीवन पतित समझो। यह नास्तिकता की पराकाष्ठा है। इसलिए जो इस तरह आतरिक चित्तशुद्धिकारक साधना नही करता और वाह्य स्वधर्मानुष्ठान-रूप साधना नही करता, वह न सन्यासी है और न योगी।

: २ :

यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥

पाडव—हे अर्जुन, **यं सन्यास**—जिसे सन्यास, **इति प्राहुः**—ऐसा कहते है, **तं योग विद्धि**—उसे, योग समझो। **हि असन्यस्तसकल्प.**—क्योकि जिसने सकल्प त्यागा नही है, **कश्चन योगी न भवति**—ऐसा कोई भी (पुरुष) योगी नही होता।

इस श्लोक मे दो बाते हैं १ जिसे सन्यास कहते हैं उसे योग समझो। २ क्योकि जिसने सकल्पो का त्याग नही किया है, वह योगी नही हो सकता ।

(१) भगवान् स्पष्टरूप से अर्जुन से कह रहे है कि जिसे 'सन्यास' कहते है, वही 'योग' है, ऐसा समझो । यही बात पाँचवे अध्याय के चौथे और पाँचवे श्लोक मे कही है। सन्यास और योग दोनो भिन्न है, ऐसा अज्ञानी मानते हैं । ज्ञानी ऐसा नही मानते । सन्यास और योग दोनो मे से किसी एक मे निष्ठा जम जाय, तो सन्यास और योग दोनो का फल मिल सकता है । सन्यास से जो स्थान, जो मोक्ष मिलता है, वही योग प्राप्त करने से भी मिलता है । इसलिए सन्यास और योग दोनो को जो एक देखता है, वही सही देखता है ।

प्राचीन जमाने मे योग से सन्यास को श्रेष्ठ माना जाता था । चार आश्रमो मे भी सन्यास श्रेष्ठ माना गया। कर्मयोग की आज जो विकसित कल्पना हमारे सामने है अथवा सन्यास की भी यथार्थ कल्पना हमारे सामने है, वैसी स्पष्ट कल्पना प्राचीन जमाने मे शायद नही थी । गृहस्थाश्रम मे कर्म करते हुए भी अलिप्तता, अनासक्ति, सगुण-भक्ति, ईश्वर-समर्पणता का अनुभव करना कर्मयोग माना जाता था । गृहस्थाश्रम का त्याग करके वानप्रस्थाश्रम के कर्मो को भी छोडकर जगलो मे एकाकी विचरना अथवा उपदेश देते हुए भ्रमण करना सन्यास माना जाता था । आज गृहस्थाश्रम मे पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सिर्फ कर्तव्य-दृष्टि से, अलिप्तता मे, अनासक्ति से और ईश्वर-समर्पणता का अनुभव करते हुए समाज-सेवा का लक्ष्य रखते हुए यदि जीवन चलता है, तो उसे 'कर्म-योग' कह सकते है । दूसरी ओर गृहस्थाश्रम का त्याग करके वानप्रस्थ का पालन करते हुए ईश्वर-भक्ति की पराकाष्ठा मे, वृत्ति म पूरी अनासक्ति का अनुभव करते हुए समाज-सेवा मे तन्मय होकर जीवन बिताने को सन्यास कह सकते है ।

गाधीजी और विनोबाजी ने योग और सन्यास दोनो की व्याख्या को विकसित करने मे, परिपूर्ण बनाने मे काफी कार्य किया है । गाधीजी का जीवन कर्म-योग का उदाहरण है और विनोबाजी का जीवन सन्यास का उदाहरण है, ऐसा कह सकते हैं ।

(२) दूसरी बात है **असन्यस्तसंकल्पः कश्चन योगी न भवति** । जो भीतर से सकल्प का त्याग नही करते, वे योगी नही बन सकते । सकल्प के त्याग का मतलब मन मे सकल्प न करना नही है । कोई भी कार्य करना हो और अच्छी तरह करना हो, तो बिना सकल्प के नही हो सकता । कार्य के बारे मे सकल्प करने, योजना बनाने मे कोई दोष नही है । उसमे कोई कर्मबधन नही है । कर्मबधन या दोष आसक्ति मे है । हम जब कोई शुभ-सकल्प करते है, तब मन मे उस सकल्प के प्रति आसक्ति पैदा होती है । इस तरह सकल्प अथवा योजना अमल मे न आने से दुःख होता है, चित्त व्याकुल होता है । व्याकुलता के साथ छटपटाहट शुरू होती है । फिर निराशा होती है । चित्त अस्वस्थ हो जाता है, स्थिरता नष्ट हो जाती है । ये सब चीजे शाति को नष्ट करके कर्म-बधन खडा करती रहती है । शुभ-सकल्प करते समय या शुभ-योजना बनाते समय यह पक्का निश्चय होना चाहिए कि 'यह शुभ-सकल्प या शुभ-योजना अमल मे लाने के लिए 'ईश्वर-स्मरण-पूर्वक कोशिश करूँगा और सकल्प या योजना अमल मे न आये तो अशात, निराश, अस्वस्थ बिल्कुल नही होऊँगा । सकल्प या योजना अमल मे न आये तो वह ईश्वरार्पण कर दूंगा । ईश्वर की इच्छा, प्रेरणा नही थी, इसलिए सकल्प या योजना अमल मे न आ सकी । शुभ-सकल्प अमल मे लाने की कोशिश चलती रहेगी । प्रयत्न मे कोई शिथि-

लता नही आयेगी और आखिर तक प्रयत्न चलता ही रहेगा। फल न मिले तो प्रयत्न दुगने उत्साह से करूँगा।' इस तरह प्रयत्न का खयाल रखते हुए यदि अनासक्तिपूर्वक सकल्प किया जाता है, तो वह वधनकारक न होकर मोक्ष मे सहायक होता है। इसलिए भगवान् कहते है कि सकल्प की आसक्ति जो नही छोड सकते, वे कभी योगी नही वन सकते। जो सकल्प की आसक्ति छोडकर साधना करते है, वे योगी और सन्यासी दोनों वन सकते है।

: ३ :

आरुरुक्षोर्मुनेर्योग कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

योग आरुरुक्षो' मुने=योग मे आरूढ होने के इच्छुक मुनि के लिए, **कर्म कारण उच्यते**=कर्म को साधन (आधार) कहा है, **तस्य एव योगारूढस्य**=उस योगारूढ (मुनि) का, **शम कारण उच्यते**=शम यानी शाति आधार है, ऐसा कहा है।

इस श्लोक मे दो बाते है १ योगारूढ होने के इच्छुक मुनि के लिए कर्म साधन है। २ योगारूढ होने के वाद शम उसका साधन या आधार है।

(१) पहली वात है **योग आरुरुक्षोः मुने' कर्म कारणमुच्यते।** जिसे योगारूढ होने की इच्छा है, उसके लिए कर्म ही साधन है। कर्म छोडने मे यानी अक्रिय वनने से योग प्राप्त नही होता। जव तक आदमी को ससार मे सुख दीखता है, तव तक योग प्राप्त करने की इच्छा होना सभव नही। लेकिन ससार मे रहते हुए एक के वाद एक दुःख के प्रसग आते ही जायें अथवा एक ही प्रसग अतिदुःखदायक आ जाय तो ससार मे सुख नही है, यह पता चल जाता है। तव वह सत्सग ढूँढने लगता है और योग-साधना की इच्छा हो जाती है।

प्राचीन जमाने मे योग-प्राप्ति के दो मार्ग थे कर्म-सन्यास और कर्म-योग। फिर भी सन्यास की तरफ अधिक झुकाव था। लेकिन अनुभव से यह देखा गया कि साधकावस्था मे कर्म यानी स्वधर्मरूप कर्म छोडने से आदमी कुमार्ग की तरफ चला जाता है। जिन्होने पूर्वजन्म मे साधना की है, ऐसे श्रेष्ठ सस्कारी विरल साधको को छोडकर अन्य साधक कर्म छोडने से फिसल जाते है और 'इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट' जैसी स्थिति हो जाती है। ससार मे थे तव नीति, धर्म का पालन करना पडता था। ससार छोड दिया और योग प्राप्त करने के लिए सेवा-कार्य भी छोड दिया। ससार तो छूटा ही और योग भी प्राप्त नही हुआ और निष्क्रिय वनने से अनीति का कार्य हुआ। ससार मे थे, उससे भी नीचे गिर गये। यह दुष्परिणाम देखते हुए गीता मे यह निश्चित तौर पर वताया कि सिद्धावस्था मे निष्क्रियता चल सकती है, लेकिन साधकावस्था तो कर्म-सन्यास से कर्म-योग ही श्रेष्ठ है।

तीसरे अध्याय मे अर्जुन ने यही प्रश्न पूछा है। उसके जवाव मे साधकावस्था मे कर्म करना कितना आवश्यक है, यह वताया। तीसरे अध्याय मे वाहर से स्वधर्मरूप कर्म का, जिसमे लोकसग्रह रूप धर्म का समावेश होता है, विवरण दिया गया है। चौथे अध्याय मे चित्तशुद्धिकारक आतरिक अनेक प्रकार के विकर्म वताये। लेकिन यह प्रश्न इतना महत्त्व का है कि पाँचवे अध्याय मे फिर से अर्जुन ने यही प्रश्न पूछा और भगवान् ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि 'सिद्धावस्था मे कर्म-योग और कर्म-सन्यास एक हो जाते है। लेकिन साधकावस्था मे कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्म-योग श्रेष्ठ है।' यही वात फिर से इस श्लोक मे दूसरे शब्दो मे वतायी है। जिसे योग प्राप्त करने की इच्छा है, उसके लिए कर्म ही साधन है। ससार मे जव तक मनुष्य पर कुछ जिम्मेदारियाँ रहती

है तब तक उन जिम्मेदारियो को निभाते हुए, लेकिन साथ-साथ लोकसग्रह का खयाल रखते हुए योग-साधना का प्रयास करना चाहिए। कर्म यानी बाहर से स्वधर्मरूप कर्म और आतरिक चित्तशुद्धि-कारक नाना प्रकार के विकर्म, इस तरह अतर्बाह्य दोनो प्रकार के कर्म करने से योग की साधना शुरू होती है। योग-साधना के ये ही दो आधार है, साधन है।

(२) दूसरी बात है **तस्य एव योगारूढस्य शमः कारणं उच्यते।** जिन्होने स्वधर्मरूप कर्म और विकर्म इन दो साधनो का आश्रय लेकर योग-साधना पूर्ण कर ली, उन्हे शाति मिलती है।

साधना की शुरुआत मे स्वधर्म-रूप कर्म और आतरिक विकर्म इन दोनो का आधार था। जब योग-साधना पूर्ण हो जाती है तब शाति प्राप्त होने से परम शाति ही आधार रहता है। शाति प्राप्त होने के बाद स्वधर्मरूप कर्म अथवा विकर्म को छोड देना है, ऐसी बात नही। लेकिन वह आधार नही रहता। साधकावस्था मे स्वधर्म-रूप कर्म और विकर्म ही आधार था, लेकिन सिद्धावस्था की प्राप्ति के बाद कर्म और विकर्म कायम रहते हुए भी उसका आधार परम शाति ही रहती है। शाति ही निज-स्वरूप है। इस स्वरूप का अनुभव होने से उसके आधार से ही वह जीता है, अकर्ता बनकर रहता है। स्वधर्म-रूप कर्म और विकर्म की साधना करते हुए साधकावस्था मे कर्तापन की भावना मन से निकल नही जाती। सिद्धावस्था मे अकर्तापन का अनुभव होता है। परम शाति यानी अकर्ता-पन का पूर्ण अनुभव। शाति मिलने पर भी यदि कर्तापन की भावना मन से न गयी तो वह पूर्ण शाति नही मानी जायगी। पूर्ण शाति मे पूर्ण अकर्तापन समाविष्ट है। कठोपनिषद् मे कहा है

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
(१ ३ १३)

अर्थात्—प्राज्ञ यानी विवेकी पुरुष को वाणी का यानी सब इद्रियो का मन मे लय करना चाहिए, यानी सब इद्रियाँ मन के अधीन रखनी चाहिए। उस मन का ज्ञानस्वरूप बुद्धि मे लय करना चाहिए, यानी मन को बुद्धि के अधीन रखना चाहिए। ज्ञान-स्वरूप बुद्धि का लय महान् आत्मा मे यानी ब्रह्माड मे निहित व्यापक परमात्मा मे करना चाहिए यानी बुद्धि को व्यापक बनाना चाहिए। उस व्यापक बुद्धि का लय शात आत्मा मे करना चाहिए।

उपनिषद् के इस श्लोक मे एक के बाद एक ऊँची चार भूमिकाएँ है। अतिम भूमिका है शात आत्मा।

पहले इद्रिय-निग्रह, बाद मे मनोनिग्रह, उसके बाद बुद्धि का निग्रह। ये तीन भूमिकाएँ इस श्लोक की पहली पक्ति मे बतायी है। बाहर से स्वधर्मरूप कर्म और भीतर से विकर्म मिलकर ये तीन भूमिकाएँ है। उसके बाद दूसरी पक्ति मे जो शम बताया है, वह अतिम भूमिका है। शम हाथ मे आया कि वह योगारूढ हो गया, ऐसा समझना चाहिए।

: ४ :

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

हि **यदा**=लेकिन जब (साधक), **इन्द्रियार्थेषु**= इन्द्रियो के विषयो मे, **न अनुषज्जते**=आसक्त नही होता, **कर्मसु**=और कर्मो मे, **न अनुषज्जते**=आसक्त नही होता, **सर्वसकल्पसन्यासी**=(और) जो सारे सकल्प छोड देता है, **तदा योगारूढः उच्यते**=तब वह योगारूढ हो गया, ऐसा (शास्त्र मे) कहा जाता है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जब साधक (मुमुक्षु) इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त नही रहता, २ स्वधर्मरूप कर्म, आन्तरिक विकर्म और यज्ञ, दान, तप आदि साधनयुक्त कर्मो मे अनासक्त

रहता है, ३ सर्वसकल्पो का त्याग कर देता है, ४ वह साधक योगारूढ हो गया, सिद्ध हो गया, ऐसा समझना चाहिए।

(१) पहली वात है **यदा इन्द्रियार्थेषु न अनुषज्जते**। जव साधक या मुमुक्षु इन्द्रियो के विपयो मे यानी काम्य-कर्मो मे आसक्त नही रहता है। कामना से, आसक्ति से किया जानेवाला कर्म काम्य-कर्म है। लेकिन ससार मे रहते हुए अलिप्तता से कर्म कर सकते है। अलिप्तता के लिए ससार त्यागना जरूरी नही। यहाँ वता रहे है कि ससार मे रहते हुए मनुष्य निश्चय करे कि काम्य-कर्म न करते हुए स्वधर्म का पालन करना है, तो वैसा अभ्यास कर सकता है और सफलता भी मिल सकती है। ससार दो तरह का है एक कौटुबिक, दूसरा सार्वजनिक। कुटुव-सस्था मे ममत्व के कारण जैसे काम्यकर्म चलता है, वैसे सार्वजनिक सेवा-कार्य मे, सार्वजनिक सस्था मे भी चलता है। इसलिए कुटुव-सस्था मे हो या सार्वजनिक सेवा-कार्य मे, हम काम्य-कर्म छोड देते है तो योगारूढ पुरुप का एक लक्षण हमने प्राप्त कर लिया, ऐसा समझना चाहिए।

(२) दूसरा लक्षण है **कर्मसु न अनुषज्जते**। वे कर्म मे यानी स्वधर्मरूप वाह्य कर्म और आतरिक विकर्म मे। ससार मे रहते हुए आध्यात्मिक जिज्ञासा पैदा हो जाय और ब्रह्मचर्य का पालन करके इन्द्रिय-निग्रह साधते हुए काम्य-कर्म छोड देते है, तो कुटुव-सस्था मे रहकर भी आध्यात्मिक साधना हो सकती है। वाहर से स्वधर्मरूप कर्म और आतरिक चित्तशुद्धिकारक अनेक प्रकार के भक्ति, ध्यान, आत्मानात्म-विवेक, वैराग्य-भावना आदि विकर्म, यह उस आध्यात्मिक साधना का स्वरूप है। लेकिन यह वाह्य स्वधर्मरूप और आतरिक विकर्मरूप साधना करते हुए उसमे भी हम आसक्त हो जायँ तो साधना मे उसे भी रुकावट समझना चाहिए। आध्यात्मिक साधना मे भी अनासक्त रहना जरूरी है। फलासक्ति दु खदायक है। परमात्मा को छोडकर किसी भी वस्तु की आसक्ति मे कभी शाति नही मिलती। भगवान् की आसक्ति दु खदायक नही है, क्योकि परमात्मा आनदस्वरूप, शातस्वरूप है और नित्य है। जो साधना हम करते है, उसमे भी कम-ज्यादापन का अनुभव होता रहता है। इसलिए उसकी आसक्ति नही रखनी है। अनित्य वस्तु की आसक्ति रखने से दु ख के सिवा और कोई अनुभव नही हो सकता। चाहे जितनी तीव्रता से साधना करे, उसमे उतार-चढाव तो रहेगा ही। चित्त पर उसका परिणाम होगा ही। इसलिए कोशिश तीव्रता से करते रहे, लेकिन आसक्ति न रखे। गीता का मूलमत्र अनासक्ति एव फलाशा-त्याग है।

(३) तीसरी वात है . **सर्वसंकल्पसन्यासी**। जिन्होने सकल्प छोड दिया है। यह वात दूसरे श्लोक मे भी कही है। वहाँ कहा है कि सकल्प का जो त्याग नही करता है, वह योगी नही हो सकता। सकल्प छोड़ने का मतलव है—अशुभ सकल्पो का पूर्ण त्याग, अशुभ सकल्प मन मे कभी न आना। शुभ-कल्पना, शुभ-योजना और परमात्म-प्रेरणा से कर्म करते हुए पूर्ण अनासक्ति रखना, पूर्ण तटस्थ-भाव रखना यानी अकर्ता वनकर रहना।

(४) चौथी वात है **तदा योगारूढः उच्यते**। उपर्युक्त तीन लक्षण जिनमे दिखाई देते है, वे योगारूढ हो गये, सिद्धपुरुप हो गये, ऐसा समझना चाहिए। ज्ञानेश्वर महाराज कहते है "जिसकी इन्द्रियो के घर मे विषयो का आना-जाना नही होता, जो आत्मज्ञान की कोठरी मे लेटा रहता है; सुख-दु ख का आक्रमण होने पर भी जिसका मन परमात्म-स्वरूप से विचलित नही होता और विषय विलकुल पास आने पर भी वे क्या है, इसका स्मरण तक जिसे नही रहता, इद्रियाँ कर्म करती रही है, लेकिन जिसके अत करण मे फल की इच्छा कभी पैदा नही होती, जो देहधारी होकर भी उपर्युक्त

रीति से रहता है और जागृत रहते हुए भी परमात्मा मे खोया रहता है, वही योगारूढ पुरुष है, ऐसा समझना चाहिए ।"

योगारूढ होने के लिए कैसे प्रयत्न करना चाहिए, यह अगले श्लोक मे वता रहे है ।

: ५ :

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मन· ॥

आत्मना=(हमे) स्वय ही, **आत्मानं**=अपने को, **उद्धरेत्**=(ससार-सागर से) निकालना चाहिए, **आत्मान**=अपने को (कभी), **न अवसादयेत्**=नीचे नही गिरने देना चाहिए, **हि आत्मा एव**=क्योकि हम ही, **आत्मन· वधु**=अपने वधु, है, **आत्मा एव**=और हम ही, **आत्मन रिपु**=अपने शत्रु हैं ।

इस श्लोक मे चार वाते है १ हम स्वय ही अपने को ससार-वधन से निकाले । २ हम अपने को कभी नीचे न गिरने दे, ३ क्योकि हम स्वय ही अपने वधु है और ४ हम स्वय ही अपने शत्रु है ।

(१) पहली वात है **आत्मना आत्मानं उद्धरेत्** । अपना उद्धार हमे खुद ही करना चाहिए । जीव पराधीन है या उसे पूरा स्वातन्त्र्य है, यह प्रश्न हरएक के मन मे उठ सकता है । यदि यह मालूम हो जाय कि स्वातन्त्र्य वहुत थोडा है तो प्रयत्न मे फर्क पडेगा, वह शिथिल हो जायगा । आदमी का शरीर, मन, वुद्धि, इन्द्रियॉ—सव परमात्मा ने ही पैदा किये है । जीव-भाव भी परमात्मा से ही पैदा हुआ है । लेकिन परमात्मा ने जीव को स्वातन्त्र्य भी दे रखा है । इतनी स्वतन्त्रता दी है कि वह शरीर, मन, वुद्धि, इन्द्रियॉ आदि से स्वय की भिन्नता का, परमात्मा से एकरूपता का और देह आदि से भिन्नता का अनुभव कर सके । जीव को स्वातन्त्र्य विलकुल नही है, ऐसा मान लिया जाय तो शास्त्र के विधि-विधान विलकुल निरर्थक हो जायँगे । सत्य वोलना चाहिए, झूठ नही वोलना चाहिए, सव पर प्रेम करना चाहिए, किसीकी हिंसा न करनी चाहिए, किसीसे द्वेप नही करना चाहिए—ये जो विधि-निपेध समाज मे चलते है, वे सव निकम्मे सावित होगे । हरएक को जो लगता है कि मै अपने प्रयत्न से अमुक कार्य कर सकता हूँ, वह सव मिथ्या सावित होगा । इसलिए जीव को भगवान् ने काफी स्वातन्त्र्य दे रखा है । भगवान् से जीव का यह जो सम्वन्ध है, वह किस प्रकार का है, इसकी छानवीन व्रह्मसूत्र शाकर-भाष्य (अध्याय २, पाद ३) मे की है । इस सिलसिले मे शकराचार्य का एक वचन ध्यान मे रखने योग्य है

परायत्ते अपि कर्तृत्वे करोति एव हि जीवः । कुर्वन्तं हि त ईश्वरः कारयति । अर्थात्—जीव का कर्तृत्व यानी स्वातन्त्र्य परमात्मा के अधीन होते हुए भी जीव ही करता है, क्योकि जीव के द्वारा परमात्मा कराता है ।

शकराचार्य ने खूवी से वताया है कि जीव को स्वातन्त्र्य है, वह अमर्यादित नहीं है । वह मर्यादित है और ईश्वर के अधीन है । करनेवाला जीव है, पर करानेवाला है ईश्वर । जीव कर्म करता है और ईश्वर जीव से कर्म करवाता है । ईश्वर ने अपने हाथ मे सारी वागडोर रखी है, मगर अपने अधीन पूरा नही रखा है । हमने वीज वोया, यह हमारे अधीन है । मगर उस बीज से अकुर फूटता है, वृक्ष वनता है, वह वडा होता है, फल-फूल आते है, उसमे वीज पैदा होते है—ये सव क्रियाऍ परमेश्वर के अधीन है । ये सव हम नही कर सकते । नीति और धर्म का आचरण करना या अनीति और अधर्म का आचरण करना, यह सव जीव के अधीन है । इन सवका कर्ता जीव है, इनमे जीव का स्वातन्त्र्य है । इसका मतलव यह कि कुछ चीजे हमारे अधीन रहती है, कुछ ईश्वर के अधीन रहती है । यह जो स्वातन्त्र्य ईश्वर ने दिया है, उसीके

वल पर भगवान् इस श्लोक मे पहली वात वता रहे है कि हरएक को अपनी उन्नति खुद ही करना चाहिए । अपनी उन्नति के लिए हम स्वतत्र है । औरो की मदद लेनी होगी, यह वात अलग है । मगर किसकी मदद लेना, मदद लेना या न लेना—यह हमारे अधीन है। किस आदमी पर श्रद्धा रखना, किस पर नही रखना, किसकी सत्सगति मे रहना, किसका सग टालना—यह हमारे अधीन है । इसमे हम स्वतत्र है । जैसे हम सत्सग कर सकते है, वैसे गीता, ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्रो का अध्ययन भी कर सकते है । इसका भी हमे स्वातत्र्य है । ईश्वर ने जीव को स्वातत्र्य दिया है, ऐसा समझकर अपनी उन्नति, उत्कर्ष और विकास की कोशिश करनी चाहिए ।

(२) दूसरी वात है **आत्मान न अवसादयेत्।** अपने को नीचे नही गिरने देना चाहिए । शास्त्र मे विधि-निषेध वताये हुए है । 'सत्य वोलना चाहिए' यह विधि है। 'झूठ नही वोलना चाहिए' यह निषेध है । इस तरह दुहरा वर्णन करके वस्तु की पहचान करायी जाती है । अहिसा यानी किसीकी हिसा न करना, इतना ही अर्थ लिया जाय तो अहिसा का पूरा अर्थ स्पष्ट नही होता । लेकिन 'सव पर प्रेम करना' ऐसा कहा जाय तो हिसा न करना और प्रेम करना, दोनो मिलकर अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है व्याख्या पूर्ण हो जाती है । क्या करना और क्या नही करना, दोनो वताने से अर्थ स्पष्ट रूप से ध्यान मे आ जाता है। भगवान् ने इस गीताशास्त्र मे यही किया है । हमे अपनी उन्नति स्वय ही करनी चाहिए, यह उन्नति का विधायक अग वतलाया और अपने को नीचे नही गिरने देना चाहिए, यह उन्नति का निषेधक अग वतला दिया । दोनो वतलाने से व्याख्या परिपूर्ण हो गयी । सत्सगति मे रहने से, अध्यात्म-शास्त्रो का अध्ययन करने से, तप करने से, ईश्वर की भक्ति, ध्यान, वैराग्य, विवेक, सेवा आदि साधनो से हम अपनी उन्नति कर सकते है । वैसे ही कुसग छोडने से, नि सार कितावे पढना छोडने से भोग की आसक्ति छोडने से, देह का अभिमान, विषयो का चिन्तन-ध्यान छोडने से, अविवेक का त्याग करने से अपनी अवनति रुक सकती है । यदि हमे योगी वनना है, योगारूढ होना है तो उन्नति के मार्ग से जाना चाहिए और अवनति का मार्ग छोड देना चाहिए ।

(३) तीसरी वात है **आत्मा एव आत्मन वधुः** । हम खुद ही अपने वधु है। यानी हम कोई निश्चय करते है और उसे अमल मे लाते है तो अपने खिलाफ नही जाते, यानी हम अपने शत्रु न वनकर वधु या मित्र वनते है । धर्म का, नीति का पालन और परमात्मा की पहचान तथा परमात्मा का अनुभव सिर्फ नर-देह मे ही सभव है । नर-देह मे हम यदि भोग के पीछे पडते है तो नर-देह का हमने सदुपयोग किया, ऐसा नही कहा जायगा । इसलिए नर-देह पाकर यदि हम अपनी उन्नति के रास्ते चलते है तो हम अपने मित्र है । हम अपने मित्र नही रहते, इसके लिए मुख्य रुकावट यह है कि वुद्धि और मन के वीच सघर्ष चलता रहता है। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, उचित-अनुचित का भेद परखने की शक्ति वुद्धि को भगवान् ने दे रखी है । मगर वुद्धि को जो उचित लगा, जो स्वीकार्य हुआ उसे अमल मे, आचरण मे लानेवाला मन है । यदि हमने वुद्धि के अधीन हमेशा मन चले, ऐसा अभ्यास न किया हो तो वुद्धि का निश्चय अमल मे नही आयेगा । यानी हम अपने मित्र नही वन सकेगे । वुद्धि का निश्चय अमल मे लाने की आदत हमने डाली है, तो मन हमेशा वुद्धि के अधीन रहेगा और दोनो का सघर्ष टलेगा । हम अपने वधु यानी मित्र वनकर ही रहेगे ।

(४) चौथी वात है **आत्मा एव आत्मन रिपुः।** हम जैसे अपने मित्र है, वैसे हम अपने शत्रु भी वन सकते है । वुद्धि के अधीन मन रहे

तो हम अपने वधु यानी मित्र है। लेकिन वुद्धि के अधीन मन न रहे तो इद्रियाँ भी मन के अधीन नही रहेगी, इस तरह हम अपने शत्रु वनेगे।

: ६ :

वधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

येन=जिसने, **आत्मा एव**=शरीर, इद्रियाँ, मन, वुद्धि को ही, **आत्मना जित**=खुद जीत लिया है, **तस्य आत्मन. आत्मा**=उस पुरुष का आत्मा, **वधु**=वधु है, **तु अनात्मन**=लेकिन जिन्होने शरीर, इद्रियाँ, मन, वुद्धि को नही जीता है, **आत्मा एव**=वे खुद ही अपने साथ, **शत्रुवत् शत्रुत्वे**=शत्रु की तरह शत्रुत्व करने मे, **वर्तेत**=तत्पर है।

इस श्लोक मे दो वाते है १ शरीर, इद्रियाँ, मन, वुद्धि को जिन्होने जीत लिया है वे अपने वधु है। २ लेकिन जिन्होने शरीर, इद्रियाँ, मन, वुद्धि को नही जीता, वे खुद अपने ही शत्रु है।

ऊपर के श्लोक मे वतलाया कि हम ही अपने वधु है, इसलिए स्वय ही अपने को ऊपर उठाना चाहिए। यदि हम अपने को नीचे गिराते है तो अपने ही शत्रु है। लेकिन इससे भी मित्र और शत्रु की व्याख्या स्पष्ट नही हुई। इस श्लोक मे वह स्पष्ट की गयी है।

(१) **येन आत्मा एव आत्मना जितः तस्य आत्मनः आत्मा वंधुः**। जिन्होने शरीर, इद्रियाँ, मन और वुद्धि को जीत लिया है, उनके अधीन जो नही रहते वे अपने वधु है यानी वे अपने मित्र है, अपना कल्याण करते है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन और वुद्धि हमारे लिए लौह-चुवक जैसे है। वे हमे खीचते रहते है और उनसे हम खीचे जाते है। यह देखने की चीज है कि हम खुद चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है, हम स्वय नित्य है और अविनाशी है। देह, इद्रियाँ, मन, वुद्धि इससे उलटे है। उन्हे दूसरे किसी पदार्थ का ज्ञान नही होता। हम है तो इन सवका अस्तित्व है। यदि हम नही तो इन सवकी कोई कीमत नही। तव देह को फौरन जलाना पडता है। देह की मन की, वुद्धि की और इद्रियो की क्रिया सव हम पर अवलवित है। हम लौह-चुवक की जगह है। लौह-चुवक के कारण लोहे मे गति पैदा होती है। वस्तुस्थिति यह होते हुए भी हम अपने को विलकुल पहचानते नही। हम स्वय दीन वन जाते है और देह, मन, वुद्धि, इद्रियो के अधीन रहते है। हम देह आदि के पीछे पागल जैसे रहते है। इसलिए भगवान् इस श्लोक मे कहते है कि देह, इंद्रियाँ, मन, वुद्धि को यदि हम जीत लेते है तो सघर्ष टल जाता है। वुद्धि मे अविवेक है तो सघर्ष जारी रहता है और विवेक रहता है तो सघर्ष टल जाता है।

यही वात कठोपनिषद् (१.३ ६) के एक श्लोक मे है

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे ॥

अर्थात्–जो सारथी विवेकयुक्त और मन से शात, निर्विकार, सयमयुक्त रहता है, सव इद्रियाँ उसके अधीन रहती है। जैसे अच्छे घोडे सारथी के अधीन रहते है। इसका फल कठोपनिषद् के आगे के श्लोक (१ ३ ८) मे वता रहे है

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥

अर्थात्–जो सारथी विवेकयुक्त और समनस्क है यानी जिसका मन निर्विकार और सयमी और हमेशा शुद्ध रहता है, वह उस परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से ससार मे फिर वह नही आता।

(२) दूसरी वात है. **तु अनात्मन आत्मा शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत**। लेकिन जो अनात्मा वन गये है यानी देह, इन्द्रियाँ, मन, वुद्धि के अधीन हो गये है, उनकी आत्मा उनके साथ शत्रु की तरह शत्रुत्व करती है। हम चैतन्यस्वरूप आत्मा होते हुए भी अनात्मा वन जाते है। 'अनात्मा' शब्द इस्ते-

माल करके भगवान् कह रहे है कि जैसे सिह अपने को गाय या बकरी मानने लग जाय, तो वह सिंह होते हुए भी उसे सिहपन का कोई उपयोग नही होता, वैसे ही हम चैतन्य होते हुए भी जड बन जाते है, यानी हम अपने शत्रु बनते है।

: ७ :

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

जितात्मन=जिसने इद्रियो को जीत लिया है, **प्रशान्तस्य**=और जो पूर्ण शात है, (ऐसे पुरुष को), **शीतोष्णसुखदुःखेषु**=शीत, उष्ण और सुख-दु ख मे, **तथा मानापमानयो**=मान और अपमान मे, **परमात्मा समाहित**=परमात्मा का ही दर्शन होता है।

इस श्लोक मे तीन बाते हैं १ जिन्होने अपनी इद्रियो को जीत लिया है और २ इद्रियाँ स्वाधीन हो जाने से जिन्हे पूर्ण शाति मिली है, ऐसे पुरुष को ३ शीत-उष्ण, सुख-दु ख, मान-अपमान आदि मे परमात्मा ही दीखता है।

(१) पहली बात है **जितात्मनः**। जिन्होने सब इद्रियो को वश मे कर लिया है। सर्वत्र परमात्म-दर्शन, यह योगारूढ की अतिम स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करना हो तो दो बाते सधनी चाहिए पहली बात यह है कि सब इद्रियाँ ठीक-ठीक काबू मे आ जायँ। इद्रियो पर काबू प्राप्त करने के लिए दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ-लक्षण मे भी कहा है। इद्रिय-निग्रह स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण है।

(२) दूसरी बात है **प्रशान्तस्य**। जिन्होने पूर्ण शाति प्राप्त कर ली है। पूर्ण शाति का आधार इद्रिय-निग्रह है। हम इद्रियो को जितना अपने अधीन रख सकेंगे, उतनी शाति का अनुभव होगा। शाति बाहर से प्राप्त करने की चीज नही है, यह शकराचार्य का बहुत बड़ा विचार है। जमीन मे पानी छिपा रहता है। कुआँ खोदते है तो गहराई मे जाने पर पानी प्रकट हो जाता है। जो चीज मौजूद है वही प्राप्त होती है। वैसे ही हम अभी शातस्वरूप नही है और इद्रियनिग्रह होने से शाति प्राप्त हो जाती है, ऐसी बात नही। वस्तुत हम शात-स्वरूप ही है, लेकिन हमे वह ज्ञात नही है। गाढ-निद्रा मे शाति का ही अनुभव होता है, क्योकि गाढ-निद्रा मे इद्रियो की उपाधि शात, व्यापार-रहित रहती है। स्वप्न मे मन का व्यापार चलता रहता है, लेकिन शेष इद्रियाँ शात रहती है। मन के व्यापार से हमे स्वप्न मे अशाति का अनुभव होता है। जागृति मे सिर्फ मन का ही व्यापार नही चलता, हमारी इद्रियाँ भी अपना-अपना व्यापार शुरू कर देती है और हम उनमे फँस जाते है। इद्रियो के अधीन हो जाने से पूर्णतया शातस्वरूप होने पर भी हमे शाति का अनुभव नही होता। लेकिन जिन्होने इद्रियो पर पूरा काबू प्राप्त कर लिया है, उन्हे पूर्ण शाति का अखड अनुभव होता है।

(३) तीसरी बात है **शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयो**। जिन्होने इद्रियो पर विजय प्राप्त कर ली और जिन्हे पूर्ण शाति प्राप्त हो गयी उन्हे शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि मे परमात्मा ही परमात्मा नजर आता है। भीतर पूर्ण शाति का अनुभव यानी परमात्म-स्वरूप का ज्ञान। जैसे इद्रिय-निग्रह न होने से शाति का भग होता है, वैसे ही जगत् मे भेद का दर्शन होने से भी शाति का भग होता है। अत एक ओर इद्रियो पर विजय प्राप्त करने का कार्य करना है, तो दूसरी ओर जगत् मे जो भेद दिखाई देता है, उससे मन मे जो भेद-दृष्टि जम जाती है, उसे भी मिटाना है। मुझसे सब भिन्न और सबसे मै भिन्न, ऐसी भिन्नता का अनुभव हमे दिन-रात होता ही है। स्वरूप की पहचान होने से भेद-दृष्टि के स्थान पर अभेद-दृष्टि की प्रतीति होने लगती है। भेद का अनुभव बाहर

से हमे नित्य आता ही रहता है, क्योकि सृष्टि मे जो नाना भेद दिखाई देते है, वे हमने पैदा नही किये है, शरीर भी हमने नही पैदा किया है। इस कारण वाहर से हम भेद को मिटा नही सकते। मिटाने की जरूरत भी नही है। लेकिन मन मे जो भेद-दृष्टि रहती है, वह राग-द्वेष, मान-अपमान को खडा करती है। उसीमे दु ख का अनुभव होता है।

काम, क्रोध आदि विकार, मान-अपमान की भावना ये सव मानसिक विकार है। ये विकार सिर्फ देह की पीडा मे नही पैदा होते। किसी-ने हमारा अपमान किया, कोई हम पर गुस्सा हो गया तो कोई हमारे शरीर मे पीडा, दर्द नही होता है। शरीर के साथ सीधा सम्वन्ध मान-अपमान, क्रोध, काम, अहकार इन विकारो का नही रहता। ये विकार तो सीधे मन के साथ ही सवधित है। लेकिन शीत-उष्ण का सम्वन्ध शरीर के साथ है। जव भीतर से परमात्मा का अनुभव होता है तव शीत-उष्ण का अनुभव पर-मात्मा का ही अनुभव है, यह प्रतीति होने लगती है, क्योकि सारी चीजो मे परमात्मा ही दीखता है। वैसे ही मान और अपमान मे भी परमात्म-दृष्टि रहती है। ऐसे पुरुप का मान-सम्मान हो जाय तो उस समय परमात्मा का ही स्मरण रहेगा। उसके साथ परमात्मा का ही सम्वन्ध वह भीतर से जोडेगा। कभी अपमान हो जाय तो भी उस समय उसे परमात्मा का ही स्मरण रहेगा। उसकी तरफ परमात्म-दृष्टि से ही देखेगा। इसका मतलव यह हरगिज नही कि वह मान और अपमान, निन्दा और स्तुति को पहचानेगा नही। इस पुरुप का आत्म-परीक्षण तीव्र होने से वाह्य दृष्टि से मान और अपमान की कीमत वह वरावर समझेगा। यानी उसकी यथार्थता या अयथार्थता ठीक-ठीक ध्यान मे लेगा और यदि कुछ ग्रहण करने जैसा अश मिला तो उसे ग्रहण करेगा। सम्मान मे तो अपने को अलिप्त ही रखता है, अपमान के कारण को अवश्य सोचेगा। उसमे यदि अपनी कुछ गलती हुई तो महसूस करेगा, कवूल करेगा और उसे फिर से होने न देने के लिए जागृत रहेगा। परमात्म-दृष्टि से यह पुरुष जी रहा है, इसका मतलव वह कोई जड नही वन गया है। परमात्म-दृष्टि से जीने का मतलव है—महा-जागृति मे जीना। अतिजागृत रहने पर कोई अपमान करे तो उसे दु ख नही होगा। लेकिन परीक्षण करके अपनी कोई गलती हुई तो उसे तुरत सुधारेगा। सम्मान का उसके चित्त पर कोई असर नही होगा। वैसे ही शीत-उष्ण मे परमात्मा को देखने का मतलव यह नही कि शरीर के साथ वह लापरवाही वरतेगा। शरीर को वह साधन समझकर चलेगा। ठढ मे वह गरम कपडा पहनेगा और गरमी मे ठढे पानी का व्यवहार करेगा। शरीर सेवा का साधन है, ऐसा समझकर उसे हिफाजत से रखेगा। लेकिन सुख-दु ख, मानापमान इन सव द्वद्वो मे यानी भेद मे वह पुरुप सदैव परमात्म-दृष्टि यानी अभेद-दृष्टि ही रखेगा।

ज्ञानेश्वर महाराज लिखते है "अपने अत करण को जीत लेने और सव कामनाएँ शात हो जाने से उसके लिए परमात्मा उस पार या दूर नही रहता। जैसे सोने से अशुद्ध धातु के निकल जाने से सोना विशुद्ध हो जाता है, वैसे ही अहकार आदि सकल्प छूट जाने मे जीव स्वय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। घडा फूट जाने से घडे के भीतर के आकाश को वाहर के आकाश के साथ एकरूप होने के लिए कही जाना नही पडता, वैसे ही जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है, वह परमात्मा के साथ एकरूप हो जाता है। जिस तरह मेघ से गिरनेवाली जलधारा कभी समुद्र को तकलीफ नही देती, वैसे ही शुभ या अशुभ सयोग योगी को कष्ट नही देते।"

: ८ :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचन.॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा=आत्मा के विपय मे ज्ञान और विज्ञान से जो तृप्त है, **कूटस्थ**=जो अविचल-स्थिर है, **विजितेन्द्रियः**=जिन्होने इद्रियो को जीत लिया है, **समलोष्टाश्मकांचन.**=मिट्टी, पत्थर और मोना जिनके लिए समान है, **योगी युक्तः इति उच्यते**=ऐसे योगी युक्त यानी ईश्वर-परायण है, यह कहा जाता है।

इस श्लोक मे पाँच वाते है १ परमात्म-ज्ञान प्राप्त करके जिन्होने उसका अनुभव कर लिया है, २ जो अविचल और स्थिर है, ३ जिन्होने अपनी इन्द्रियो को जीत लिया है, ४ जिनके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, ५ ऐमे योगी युक्त यानी परमात्म-परायण है।

(१) पहला लक्षण है **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा।** जो ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गये है। यहाँ ज्ञान और विज्ञान ये दो शब्द ध्यान देने योग्य है। शंकराचार्य की ज्ञान और विज्ञान की व्याख्या है **ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं विज्ञानं तु शास्त्रतः ज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणम्।** अर्थात् शास्त्र मे कही हुई वातो का सव पहलुओ से ज्ञान प्राप्त करना ज्ञान है और शास्त्र की ऐसी वातो का शास्त्र मे कहे अनुसार अनुभव लेना विज्ञान है।

ज्ञान कई तरह का होता है। स्कूल-कॉलेजो मे विविध विपयो का ज्ञान मिलता है। लेकिन उसका उद्देश्य पडित वनकर और विविध शास्त्रो के विद्वान् वनकर सुखी जीवन विताया जा सके, इतना ही रहता है। उसमे आत्मज्ञान की दृष्टि नही होती। यहाँ जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा है, वह परमात्मा की पहचान की दृष्टि से है। जिनके मन मे परमात्मा की पहचान करने की जिज्ञासा पैदा हुई, वे शास्त्र मे कही हुई वातो को पहले जान लेते है और जानी हुई चीजो का अनुभव लेते है।

शंकराचार्य तृप्ति का अर्थ वताते है: **तृप्तः संजातालंप्रत्ययः।** ज्ञान और विज्ञान से यानी परमात्मा का ज्ञान और परमात्मा का अनुभव दोनो से इतनी शाति और आनद मिल जाना कि उमे 'अलप्रत्यय' हो यानी और सव चीजो, मव ज्ञानो के वारे मे 'वस, ये सव नही चाहिए' ऐसा प्रत्यय होना। जैमे मिष्टान्न के अतिभोजन मे 'वस, अव नही चाहिए' ऐसा भाव मन मे पैदा होता है, वैमे ही परमात्मा के ज्ञान और अनुभव से 'वस' अव कुछ नही चाहिए' ऐसा सव चीजो के वारे मे भाव पैदा होता है। परमात्मा का अनुभव होने के वाद इतनी तृप्ति का अनुभव हो जाता है कि और चीजो मे कोई रस आता ही नही।

(२) दूसरा लक्षण है **कूटस्थ.।** जो अविचल यानी विलकुल स्थिर हो गया है। परमात्मा के अनुभव से आनन्द का, शाति का अनुभव मिला, जो तृप्ति आ गयी, उससे चचलता दूर हो गयी, चित्त स्थिर हो गया।

(३) तीसरा लक्षण है **विजितेन्द्रिय।** जिसने सव इद्रियो पर कावू पा लिया है। यह लक्षण वहुत वार आया है, आगे भी आयेगा। जव तक मन चचल है, तव तक इद्रियो पर कावू प्राप्त नहा होता। जव तक इद्रियो पर कावू प्राप्त नही होता तव तक मन की अस्थिरता दूर नही होती। इस तरह दोनो एक-दूसरे पर अवलवित है।

(४) चौथी वात है **समलोष्टाश्मकांचनः।** मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना तीनो को एक-सा समझता है। मिट्टी और पत्थर को सम मानना तो कठिन नही, क्योकि दोनो एक ही कोटि के है। लेकिन सोना तो वहुत कीमती है। सोने को मिट्टी और पत्थर जैसा समझना आसान नही है। रामकृष्ण परमहस हमेशा कहते थे कि 'कामिनी-काचन को जीता कि ससार जीता समझो'। मनुष्य इन्ही दोनो मे फँसा रहता है। इसलिए इन दोनो की आसक्ति छोडना जरूरी है। सोना, मिट्टी

और पत्थर तीनो को एक समझना यानी तीनो की आसक्ति छोडना। आसक्ति छूटने के वाद पैसे से उतना ही सम्बन्ध रह जाता है, जितना जरूरी है। यह अलिप्तता परमात्मा की आसक्ति या भक्ति प्राप्त होने के वाद आ सकती है।

(५) पाँचवी वात है **योगी युक्त इति उच्यते**। वह योगी पुरुष 'युक्त' यानी ईश्वर-परायण, ईश्वरस्वरूप हो गया, ऐसा समझे। ईश्वर-परायण यानी समवुद्धिवान्, जिसमे साम्यावस्था की पराकाष्ठा दिखाई दे। जो ईश्वर-परायण, ईश्वर-रूप हो गया, वही साम्यावस्था का अनुभव कर सकता है। इस तरह 'युक्त' के दो अर्थ है (अ) ईश्वर-परायण, ईश्वरस्वरूप होना, (आ) साम्यावस्था की पराकाष्ठा को पहुँचना।

: ९ :

सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थद्वेष्यवन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समवुद्धिर्विशिष्यते ॥

सुहृत्=प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखनेवाला, **मित्र**=स्नेही, **अरि**=शत्रु, **उदासीन**=तटस्थ, **मध्यस्थ**=दोनो पक्षो का कल्याण चाहनेवाला, **द्वेष्य**=अपने को अप्रिय लगनेवाला, **वधुषु**=वधु-वाधव, **साधुषु**=साधुओ मे, **अपि च पापेषु**=और पापियो मे, **समवुद्धि**=जो सम-वुद्धि रखता है, **विशिष्यते**=वह सव योगियो मे श्रेष्ठ है।

इस श्लोक मे एक ही वात वतलायी है और वह है, सवमे यानी सवके साथ वर्ताव करने मे साम्या-वस्था की पराकाष्ठा जिस पुरुष मे देखने मे आती है, वह योगियो मे श्रेष्ठ है।

साम्यावस्था की पराकाष्ठा की कल्पना स्पष्ट रूप मे समझ मे आने की दृष्टि से यहाँ वताया है कि जो पुरुष सव प्रकार के लोगो मे समवुद्धि रखता है, वह योगियो मे श्रेष्ठ है। पिछले श्लोक मे वताया कि मिट्टी, पत्थर और सोना, इन तीनो मे जो समवुद्धि रखता है वह युक्त यानी ईश्वर-परायण, साम्यावस्था की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ योगी है। यहाँ साम्यावस्था की पराकाष्ठा की व्यापकता वतायी है। नौ प्रकार के पुरुषो का जिक्र करके वताया है कि इन सवमे जो योगी पुरुष समदृष्टि से देखता है, वह श्रेष्ठ है।

(१) **सुहृत्**—यानी किसी पर हमने उपकार किया हो, किसीकी हमने सेवा की हो, तो उसके वदले मे वह हम पर उपकार करे, हमारी सेवा करे, इस प्रकार की अपेक्षा न रखनेवाले पुरुष को 'सुहृत्' कहते हैं। माता-पिता पुत्र की सेवा करते हैं, लेकिन वह सेवा विलकुल निरपेक्ष रहती है, सो वात नही। कुछ अपेक्षा उसमे रहती है। वुढापे मे माता-पिता पुत्र से सेवा की अपेक्षा रखे, आजीविका की अपेक्षा रखे, अच्छे वर्ताव की अपेक्षा रखे, यह स्वाभाविक ही है। इस तरह जो वदले की कुछ अपेक्षा रखते है, उन्हे सुहृत् नही कहा जा सकता। जो किसी भी प्रकार की अपेक्षा न रखते हुए परोपकार का कार्य करते हैं, वे ही सुहृत् है।

(२) **मित्र**—स्नेही। मित्र यानी निष्काम भाव से प्रेम करनेवाला। कुटुम्ब मे पति-पत्नी के वीच, पिता-पुत्र के वीच, माता-पुत्र के वीच प्रेम रहता है। लेकिन उनके वीच राग-द्वेष का भी सम्वन्ध रहता है। माता या पिता लडके पर प्रेम करते हैं, लेकिन लडका उनका कहा नही मानता, उनकी इच्छा के मुताविक नही चलता तो उन्हे गुस्सा आता है, नाराज भी होते है। लेकिन मित्र आपस मे सिर्फ प्रेम ही करना जानते है। मित्र यानी कुछ भी अपेक्षा न रखते हुए विशुद्ध प्रेम करनेवाला।

(३) **अरि**—शत्रु। शत्रु यानी हमेशा द्वेष करनेवाला, नुकसान करने की कोशिश करनेवाला।

(४) **उदासीन**—किसीका पक्ष न लेनेवाला, तटस्थ, निष्पक्ष मनुष्य। दो पक्षो मे जव झगडा होता है, मतभेद होते है और समझौता करना हो तो किसी तटस्थ आदमी को समझौता करने के लिए नियुक्त किया जाता है। न्यायाधीश किसी भी

पक्ष का नही होता। जैसे तराजू मे अच्छी-बुरी कोई भी वस्तु डाली जाय, उसका तोल वह बराबर करेगी, वैसे ही उदासीन तटस्थ रहते है।

(५) **मध्यस्थ**–यानी वे, जो दोनो पक्षो का कल्याण चाहते है। मध्यस्थ भी किसी पक्ष मे नही रहता। किसी भी पक्ष की तरफ अपना झुकाव न रखकर दोनो के कल्याण की फिक्र करनेवाले पुरुष को 'मध्यस्थ' कहते है। मध्यस्थ उदासीन से आगे की भूमिका है।

(६) **द्वेष्य**–द्वेष्य यानी अप्रिय। प्रिय और अप्रिय जगत् मे चलते ही रहते है। वस्तुएँ भी प्रिय और अप्रिय हुआ करती है। एक को जो प्रिय लगती है, वह दूसरे को भी प्रिय लगेगी ही, ऐसा नही है।

(७) **बंधु**–यानी सबधी, रिश्तेदार। इनमे कुछ निकट के होते है तो कुछ दूर के।

(८) **साधु**–यानी सज्जन और सत। इस तरह 'साधु' शब्द के दो अर्थ प्रचलित है। साधु यानी पुण्य-कर्म करनेवाला, धर्मनिष्ठ और सज्जन। वैसे दोनो अर्थ लेने मे कोई हर्ज नही है।

(९) **पापेषु**–पापी यानी पापकर्मी, मूढ।

इस तरह दुनिया मे सामान्यत नौ प्रकार के लोग पाये जाते है। इन सबमे जिनकी **समबुद्धिः विशिष्यते** यानी समदृष्टि रहती है वे योगी, श्रेष्ठ योगी है, ऐसा समझना चाहिए। विनोबाजी कहते है कि साधु और पापी दोनो को समान समझकर व्यवहार करना समत्व की पराकाष्ठा है। साधु मे साधुता रहती है और पापी मे पाप। पाप से पापी पुरुष को अलग करना चाहिए। पाप से नफरत होनी चाहिए। पाप के साथ पूरा असहकार होना चाहिए। लेकिन पापी के साथ समानता का वर्ताव रहे। पापी और साधु बीमार पडे तो दोनो की सेवा समान-भाव से करे, ऐसी स्थिति होनी चाहिए। लेकिन यह स्थिति प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसलिए पापी के साथ पुण्यवान्-जैसा ही समता का व्यवहार करनेवाला श्रेष्ठ है, योगियो मे भी श्रेष्ठ है। सबको परमात्म-दृष्टि से देखने की दृष्टि आ जाय, तभी यह विशेषता सध सकती है।

: १० :

योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थित.।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ॥

योगी योगी, **रहसि स्थित** =एकान्त मे स्थित होकर, **एकाकी**=अकेले ही, **यतचित्तात्मा**=चित्त और देह-इंद्रियाँ काबू मे करके, **निराशी** =आशारहित, **अपरिग्रह** = अपरिग्रही बनकर, **आत्मान सतत युञ्जीत**=अपने को सदैव परमात्मा के साथ जोड़े।

इस श्लोक मे सात बातें है १ योगी यानी साधक, मुमुक्षु, जिसमे ध्यानाभ्यास की इच्छा है, २ उसे एकात में ध्यान के लिए कुछ काल स्थित रहना चाहिए। वहाँ, ३. अकेले ही रहना चाहिए। ४ चित्त, देह, इंद्रियो को काबू मे करना चाहिए। ५ आशा, इच्छा, वासना से रहित होना चाहिए। ६ परिग्रह-रहित होना चाहिए। और ७ सतत अपने को परमात्मा के साथ जोडना चाहिए, परमात्मा का सदैव ध्यान करना चाहिए।

(१) पहली बात है **योगी**। जो योगी होना चाहता है, ध्यान-योग का अभ्यास करना चाहता है। यहाँ 'योगी' शब्द महत्त्वपूर्ण है। चाहे जो पुरुष परमात्मा का ध्यान नही कर सकता। ध्यान के लिए पूर्व-तैयारी चाहिए। 'योगी' शब्द इसीलिए है। ध्यान के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है, इसका जिक्र १४वे श्लोक मे है। पतजलि के योग-शास्त्र मे ध्यान की विधि बतायी है। ध्यान के बाद समाधि बतायी है। ध्यान के पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ये छह बाते है। सातवाँ ध्यान और आठवी समाधि। योग के ये आठ अग है।

विनोवाजी की भाषा मे ध्यान एक मानसिक विकर्म यानी चित्तशुद्धि का एक साधन है। भक्ति आदि चित्तशुद्धि के अन्य साधन है, वैसे ध्यान चित्त-शुद्धि का साधन है। ध्यान आसन लगाकर करने का साधन है। भक्ति यानी उपासना वैठकर भी की जाती है। भक्ति इतनी व्यापक है कि चलते, खाते, सब काम करते हुए कर सकते है। ध्यान आँखे वन्द करके, एकात मे करने का साधन है। जो योगी है, वही ध्यान कर सकता है, इसलिए उसे ध्यानयोग का जिज्ञासु होना चाहिए।

(२) दूसरी वात वतला रहे है **रहसि स्थितः**। एकात मे वैठना चाहिए। एकात का मतलव जगल मे जाना नही है। जिसे आठ घटे ध्यान करने की इच्छा है और आठ घटे ध्यान करने की सामर्थ्य है, उसे एकात मे यानी जगल मे झोपडी वॉधकर रहना चाहिए। लेकिन प्रतिदिन जिसे आधा घटा या एक घटा ध्यान करने की इच्छा है, उसे अपने स्थान पर ऐसे समय ध्यान करना चाहिए जव एकात मिले। एकात का समय रात को सव लोगो के सोने के वाद, अथवा प्रात -काल मे, जव सव लोग सोये होते है, मिल सकता है। रात मे ध्यान करने से नीद आने की सभावना रहती है। इसलिए तीन या चार वजे सवेरे ध्यान करना ठीक रहता है।

(३) तीसरी वात है **एकाकी**। अकेले होना चाहिए। सवेरे के समय सव सोये रहते है, तव मनुष्य अकेला ही रहता है। अकेले रहने से एकाग्रता वढती है। किसी दूसरे आदमी के अस्तित्व से चित्त मे उस आदमी के अस्तित्व का भान रहता है। परमात्मा के ध्यान मे चित्त पर किसी प्रकार का दवाव न आये, यह देखना पडता है। परमात्मा स्थूल न होने से, चित्त मे परमात्मा का वस जाना आसान नही है। जव तक चित्त मे किसी भी स्थूल वस्तु का आकर्पण रहेगा, तव तक चित्त एकाग्र होकर परमात्मा की तरफ झुकेगा नही। चित्त मे परमात्मा का आकर्पण रहे तभी ध्यान हो सकता है।

(४) चौथी वात है **यतचित्तात्मा**। चित्त और देह को जिन्होने सयम मे रखा है। यहाँ चित्त और आत्मा ये दो शव्द आये है। चित्त का अर्थ है मन। लेकिन आत्मा यानी क्या ? यहाँ आत्मा शव्द का अर्थ देह लेना है। देह के साथ इद्रियाँ भी। तो चित्त, इद्रियाँ और देह इन तीनो पर यदि कावू नही पाया जाता, यानी तीनो को सयम मे रखने का यदि अभ्यास नही किया जाता, तो ध्यान मे विक्षेप आयेगा। चित्त, देह और इद्रियो की तरफ और इद्रियो के जरिए विपयो की तरफ खिचा रहता है। जव विपयो का सम्वन्ध हम टाल नही सकते और वहाँ हम सयम से काम नही लेते, तो विपयो के अधीन ही रहना होगा और विषयो के अधीन रहते है तो परमात्मा का ध्यान नही कर सकेगे। देह को भी थोडा कप्ट सहन करने की आदत डालनी चाहिए। इसलिए ध्यान के लिए पूर्व-तैयारी के रूप मे इद्रियो का और देह का निग्रह कर लेना चाहिए। चित्त पर कावू तो रखना ही होगा, क्योकि ध्यान चित्त द्वारा ही करना है।

(५) पाँचवी वात है **निराशी**। आशा रहित होना। आकाक्षा लाभप्रद और हानिकर दोनो हो सकती है। प्रथम हानिकर इच्छा को छोडने की कोशिश करनी चाहिए। उसके लिए शुभ आकाक्षा, शुभ इच्छा मन मे रहे, इसका अभ्यास करना चाहिए। सत-समागम की हमेशा इच्छा रहे। गीता, व्रह्मसूत्र आदि शास्त्रो के अध्ययन की इच्छा, वासना रहे तो हानिकर चीजे मन से निकल जायँगी। वाद मे अच्छी इच्छा, आकाक्षा, अपेक्षा पर भी नियत्रण रखना होगा। अच्छी इच्छा यानी सत-समागम की इच्छा भी दु खदायी हो सकती है, यदि उसके प्रति आसक्ति हो जाय। इसलिए अच्छी चीज की भी आसक्ति छूट जाती है तो चित्त निराशी, निराकाक्षी हो सकता है।

इस प्रकार ध्यान के लिए निराशी, निराकांक्षी चित्त होना जरूरी है।

(६) छठी बात है **अपरिग्रह**। परिग्रह का अभाव। यो तो देह भी परिग्रह है। लेकिन उसका त्याग नही कर सकते। लेकिन जब देह की आसक्ति पैदा होती है, तब देह के भोग के लिए वैभव की इच्छा पैदा होकर परिग्रह-वृत्ति पैदा होती है। परिग्रह मे सुख की कल्पना कर लेने से, सुख के लिए परिग्रह बढाने की कोशिश चलती है। लेकिन सुख बाह्य परिग्रह मे नही है, यह जब ध्यान मे आ जाता है, तब परिग्रह के त्याग मे सुख मिलता है। देह के प्रति जब अनासक्ति पैदा होने लगती है, तब अपरिग्रह मे सुख का अनुभव आता है। यहाँ पर एक स्थान पर बैठकर परमात्मा का ध्यान करने की बात भगवान कर रहे है, तो वहाँ परिग्रह अधिक रखने से चित्त एकाग्र होने मे बाधा आती है। इसलिए जब हम एकात मे ध्यान करने के लिए बैठ रहे है, वहाँ परिग्रह हो तो चित्त अनेक चीजो की तरफ जायगा और एकाग्र नही हो सकेगा। इसलिए हम जहाँ ध्यान करते है, वहाँ परिग्रह कम हो, यह जरूरी है। अथवा जगल मे झोपडी बाँधकर रहने की कोशिश करते है और वहाँ परिग्रह पास मे हो तो चोरी की सभावना रहेगी। परिग्रह की रक्षा चिन्ता का विषय बन जायगी। वह ध्यान के लिए विक्षेपरूप होगा। अत. परिग्रह कम-से-कम रखने का लक्ष्य रहना चाहिए।

(७) **आत्मान सतत युजीत**। अपने को सतत परमात्मा के साथ जोडना चाहिए। अपना स्वरूप क्या है, इसके बारे मे जब सोचते है तब इस निर्णय पर पहुँचते है कि अपना स्वरूप परमात्मा है और वह देह मे है। वैसे परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। लेकिन जीव-सृष्टि छोडकर बाकी सारी जड-सृष्टि मे परमात्मा अप्रकट यानी गुप्त है। परमात्मा को पहचानने के, भक्ति आदि आतरिक और बाह्य उपाय है, उनमे ध्यान भी एक उपाय है।

: ११-१२ :

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
नात्युच्छ्रित नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मन॰ कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

शुचौ देशे आत्मन—पवित्र स्थान मे अपने लिए, आसन न **अत्युच्छ्रित**=आसन जो बहुत ऊँचा न हो, न **अतिनीच**=जो न बहुत नीचा हो, **चैलाजिनकुशोत्तर**=जिस आसन के नीचे दर्भ बिछे हो, उनके ऊपर हिरन या व्याघ्र का चर्म बिछाया हुआ हो और उस पर एक वस्त्र हो, **स्थिर प्रतिष्ठाप्य** ऐसे आसन को स्थिर स्थापित करके, **तत्र आसने उपविश्य**=उस आसन पर बैठकर, **यतचित्तेन्द्रियक्रिय**=चित्त और इद्रियो के व्यापारो को वश मे रखकर, **मन एकाग्र कृत्वा**=मन एकाग्र करके, **आत्मविशुद्धये**=चित्तशुद्धि के लिए, **योग युञ्ज्यात्**=ध्यान की साधना करनी चाहिए।

दो श्लोको मे पाँच बाते बतायी है १ ध्यान के लिए स्थान पवित्र हो, २ न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा स्थान निश्चित करके उसपर दर्भ (कुशा) बिछाकर, उसपर व्याघ्र अथवा मृग-चर्म बिछाकर, उसपर एक मुलायम कपडा डालकर अपना आसन स्थिरकर, बैठकर, ३ चित्त और इद्रियो के व्यापारो को काबू मे रखकर, ४ मन को एकाग्र कर, ५ चित्त-शुद्धि की दृष्टि रखकर परमात्मा का ध्यान करने की कोशिश करनी चाहिए।

(१) **शुचौ देशे**। स्थान पवित्र हो। ज्ञानेश्वर महाराज ध्यानयोगी थे। उन्होने समाधि भी प्राप्त की थी। समाधि मे ही उन्होने देह छोडी। स्थान के बारे मे वे लिखते है "जहाँ सहज बैठने मे ऐसा समाधान हो कि वहाँसे हटे ही नही, ऐसा लगे। वहाँके दृश्य से वैराग्य दूना हो जाय। वहाँ यदि सतो का वास हुआ हो तो सतोष प्राप्त होता है और मन को धैर्य का सहारा मिल जाता है। जहाँ पाखडी का भी दिल तपश्चर्या करने का हो जाय।

वहाँ लोगो का बहुत आना-जाना न हो। वहाँ बडे-बडे सघन वृक्ष हो, पानी के झरने हो। वहाँ शोर न हो, पक्षियो का विचरण न हो। कोयल कभी आकर बैठे तो हर्ज नही। मोरो का विचरण भी चलेगा। वहाँ शिव का मन्दिर या मठ हो तो ठीक। वहाँ मन स्थिर रह सकता है या नही, यह भी देखना चाहिए।"

लेकिन जिनको काम करते हुए, सेवा करते हुए एकआध घटा ध्यान करने की इच्छा है, उन्हे इतना ध्यान रखना होगा कि अपने घर मे कोई एकात कोठरी हो, कोई बरामदा हो अथवा घर से थोडी दूर पर ऐसा स्थान हो, जहाँ आधा या एक घटा ध्यान किया जा सके, तो वैसा स्थान अवश्य चुनना चाहिए। पवित्र स्थान हो तो पवित्रता का लाभ मन के एकाग्र होने मे मिल सकता है। स्थान के साथ भी कुछ भावनाएँ जुडी रहती है। महात्मा गाधी जिस जगह पर दिन-रात बैठे हो, वहाँ पर हम यदि ध्यान के लिए बैठ जायें तो महात्मा गाधी के स्मरण से चित्त मे पवित्र भाव पैदा होगा और वह परमात्मा का ध्यान करने मे सहायक होगा। सस्था मे जहाँ प्रतिदिन वे प्रार्थना करते हो, वह स्थान भी चुन सकते है।

(२) दूसरी बात है **आत्मन. आसन न अत्युच्छ्रितं न अतिनीचं चैलाजिनकुशोत्तर स्थिर प्रतिष्ठाप्य।** अपना आसन ऐसे स्थान पर लगाना चाहिए कि वह न बहुत ऊँचा हो या न बहुत नीचा हो। इस वचन के दो अर्थ हो सकते है। विनोबाजी कहते है कि ऊँचा स्थान वह, जहाँ पवन बहता हो। टेकरी या टीले पर हवा ज्यादा बहती ही है। नीचे स्थान का मतलब है, जहाँ जमीन का स्पर्श नम हो। हमे अपने घर के किसी स्थान मे ध्यान करना है, तो वहाँ पर जमीन पर आसन डालेगे, तो चीटियो आदि का डर रहेगा। भूमि से ऊँचे स्थान पर आसन लगाते है तो ध्यान करते-करते गिरने का डर रहेगा। इस प्रकार न बहुत ऊँचा और न नीचा, ऐसा स्थान आसन के लिए पसन्द करके पहले दर्भ यानी कुशा डाल देना चाहिए। जब ध्यान के लिए आसन लगाकर बैठे तब नीचे चुभना नही चाहिए। इसलिए रुई का मोटा आसन बनाकर उस पर भी बैठ सकते है। इसलिए पहले कुशा बिछाने के लिए कहा। उसके ऊपर व्याघ्र-चर्म या मृग-चर्म बिछाने के लिए कहा। उस जमाने मे जगल बहुत घने होते थे और जगलो के कारण व्याघ्र भी बहुत थे और हिरन भी बहुत थे। उनका शिकार भी किया जाता था। अत उनका चमडा सहज मिल जाता था। अब जगल बहुत रहे नही और जन-सख्या भी बहुत बढ गयी। इस कारण अब व्याघ्र-चर्म या मृग-चर्म मिलना बहुत कठिन है। आजकल दरी बिछा सकते है। उसके ऊपर मुलायम वस्त्र बिछाना चाहिए। सफेद वस्त्र हो तो ज्यादा अच्छा। सफेद वस्त्र के पास मच्छर नही आते। मच्छरो को काला रग बहुत पसन्द है।

(३) तीसरी बात है चित्त और इद्रियो के व्यापारो को रोककर, काबू मे रखकर **यत-चित्तेन्द्रियक्रिय.**—यानी ध्यान के लिए शरीर और इद्रियो के व्यापारो को रोकना। आँखे बन्द करना, कान पर कोई आवाज आये तो भी न सुनना। ठढी या गरम हवा का स्पर्श हो तो भी महसूस न होना, सुगध का खयाल न करना, इस तरह पच-ज्ञानेन्द्रियो के व्यापारो को रोकने की कोशिश करना।

पतजलि के योगसूत्र मे इसे 'प्रत्याहार' कहा गया है। प्रत्याहार का अर्थ है **स्वविषया-संप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणा प्रत्याहार.।** इन्द्रियो का अपने विषयो के साथ सम्बन्ध छूट जाने पर चित्त के स्वरूप मे इद्रियो का अपना स्वरूप विलीन हो जाना ही इद्रियो का प्रत्याहार है।

विषय आस-पास मौजूद होने पर, इद्रियाँ अपना देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना आदि जो धर्म है, उन्हे मन मे ही खो देती है। इन्द्रियाँ मन

के सदृश बन जाती है। प्रत्याहार सध जाने का क्या फल मिलता है, यह योगसूत्र में इस प्रकार बताया गया है **ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्**। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने से इन्द्रियों की परम यानी अतिस्वाधीनता प्राप्त हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यापारों के साथ-साथ चित्त के व्यापार को भी रोकना होता है।

(४) चौथी बात है **मनः एकाग्रं कृत्वा**। मन को एकाग्र करने की कोशिश करना। चित्त में सतत अनेक विचार उठते रहते हैं और कौन-सा विचार कब उठेगा, इसका कोई नियम नहीं। किसी-न-किसी विचार के साथ हम लगे रहते हैं। निद्रा में भी विचार आते रहते हैं। विचारों में कोई शृंखला न होने से वे तरंग जैसे ही होते हैं। हाँ, आध्यात्मिक चिन्तन को तरंग नहीं कह सकते। तरंगों में चित्त एकाग्र नहीं रहता। एक विचार के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस तरह बेमेल विचार मन में आते रहते हैं, उनमें सुसंगति नहीं रहती। उन्हें 'तरंग' कह सकते हैं। हिलते पानी में हम अपना मुँह नहीं देख सकते, स्थिर पानी में ही देख सकते हैं। वैसे ही मनरूपी जल में अनेक विचाररूपी तरंगें आना बन्द हो जायँ तब हमारा जो सत्यस्वरूप है, उसे देखने की क्षमता, पात्रता आ सकती है। लेकिन चित्त की लहरें बन्द होकर चित्त बिलकुल एकाग्र बन जाय, यह जैसे जरूरी है, वैसे ही चित्त का निर्विकार, काम-क्रोध, मद, अहंकार-रहित होकर विशुद्ध हो जाना भी जरूरी है। अपना स्वरूप देख सकते हैं और उसमें लीन हो सकते हैं। चित्त को अभ्यास से एकाग्र कर सकते हैं। लेकिन जब तक विशुद्ध नहीं होता, तब तक वह पूर्णतया एकाग्र भी नहीं हो सकता।

(५) पाँचवीं बात है **आत्मविशुद्धये योगं युज्यात्**। चित्त को एकाग्र करके चित्त-शुद्धि के लिए योग की यानी ध्यानयोग की साधना करनी चाहिए। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। ध्यान-योग की साधना का लक्ष्य चित्तशुद्धि होना चाहिए। कइयों का चित्त किसी विषय में एकाग्र हो जाता है। संगीत के अनुरागी ८-१० घंटे तक आसानी से एकाग्र होकर संगीत का अभ्यास कर सकते हैं। इतिहासप्रेमी एकाग्रता से सारा जीवन इतिहास के अध्ययन-संशोधन के पीछे अर्पण करते हैं। फिर भी एक-एक विषय में लगन से जुटनेवाले लोग थोड़े ही होते हैं। इतना होते हुए भी काम-क्रोधादि विकार जब तक क्षीण नहीं होते, तब तक चित्त चाहे जितना एकाग्र हो जाय, वह काम-क्रोध आदि विकारों के वश होता ही है। एकाग्र होने से ही चित्त निर्विकार, विशुद्ध बन जाता है, ऐसा देखने में नहीं आता। जिनका चित्त विशुद्ध हो जाता है, उनका चित्त एकाग्र हो ही जाता है। विशुद्धि में एकाग्रता समायी हुई है, लेकिन एकाग्रता में शुद्धि समायी नहीं है। महत्त्व की बात चित्त-शुद्धि है। चित्त-शुद्धि यदि हो गयी है, तो ध्यान का अभ्यास जल्दी हो सकता है।

: १३-१४ :

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

कायशिरोग्रीवं=काय (शरीर का मध्यभाग), मस्तक और गर्दन, (तीनों को), **समं अचलं धारयन्**=सीधा, निश्चल धारण करके, **स्थिरः**=स्थिर होकर, **स्वं-नासिकाग्रं**=अपनी नासिका के अग्रभाग को, **संप्रेक्ष्य**=देखता हुआ, **च दिशः अनवलोकयन्**=और अन्य दिशाओं की तरफ न देखते हुए, **प्रशान्तात्मा**=जिसका चित्त शांत है, **विगतभीः**=भयरहित होकर, **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**=ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर, **मनः संयम्य**=मन को संयम में रखकर, **मच्चित्तः**=मुझमें चित्त लगाकर, **युक्तः**=समचित्त होकर, **मत्परः**=मुझमें परायण होकर, **आसीत**=मेरा ध्यान करे।

उक्त दो श्लोको मे ग्यारह वाते वतायी है ·
१ शरीर यानी मेरुदड, मस्तक और गर्दन तीनो सीधे स्थिर करके, २ इन्द्रियो को स्थिर करके, ३. अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखकर, ४ अन्य किसी दिशा की तरफ न देखते हुए, ५ अत करण से शात होकर, ६ भयरहित होकर, ७ ब्रह्मचर्य पालन मे स्थित होकर, ८ मन को सयम मे रखते हुए, ९ मुझमे चित्त लगाकर, १० स्वस्थ, स्थिर, समचित्त वनकर, ११, मुझमे परायण होकर, मुझे ही श्रेष्ठ समझकर मेरा ध्यान करे।

(१) **कायशिरोग्रीव सम अचलं धारयन्।** ध्यान करने के लिए एक जगह स्थिर आसन लगाकर वैठना होता है। कैसे वैठना चाहिए, यह भगवान् शुरू मे वता रहे है। मेरुदड, मस्तक और गर्दन तीनो को सम यानी सीधे रखकर विलकुल स्थिर रखना चाहिए। मेरुदड सीधा रखना शरीर-शास्त्र का विपय है। मेरुदड से सव मज्जातन्तु प्रवाहित होते है। यदि मेरुदड सीधा न रखा जाय तो मज्जा-ततुओ के ऊपर जाने मे यानी मस्तक की तरफ जाने मे रुकावट आने से एकाग्रता मे वाधा आती है। मज्जा-ततुओ का प्रवाह विना रुकावट के ठीक तरह होने लगे, तो रक्त का दौरा ठीक तरह मस्तिष्क की तरफ रहता है। खून का दौरा ठीक रहने से मन के एकाग्र करने मे सहायता मिलती है। इसलिए पहली वात मेरुदड सीधा रखने की है। फिर मस्तक और गर्दन सीधी रखने की वात है। मस्तक झुका हुआ रखने से गर्दन दुखती है और नीद आने लगती है। मस्तक सीधा रखने से, चित्त एकाग्र करने मे स्वाभाविक रीति से मदद मिलती है, क्योकि मस्तक झुका हुआ रखने से शरीर मे शिथिलता, ढीलापन आता है। मस्तक सीधा रखने से स्नायु तने रहते है। इससे ढीलापन, शिथिलता नही आती। मस्तक सीधा रखने से गर्दन सहज ही सीधी रहती है। फिर भी गर्दन सीधी रखने के लिए इसलिए कहा कि गर्दन सीधी रखने का खयाल रहे तो मस्तक सीधा रखने का वहुत ध्यान नही रखना पडेगा। तीनो को सीधा रखकर सारे शरीर को निश्चल यानी विलकुल स्थिर करने के लिए कहा है। शरीर मे आन्दोलन चले, इन्द्रिय-व्यापार शुरू रहे तो चित्त स्थिर करने मे विक्षेप आयेगा।

(२) दूसरी वात है **स्थिरः**। स्थिर होकर यानी इन्द्रियो को स्थिर करके। इन्द्रियो के व्यापारो को, अपने वश मे कर यानी हाथ, पॉव आदि कर्मेन्द्रियो को निर्व्यापार करके ज्ञानेन्द्रियो के व्यापार को भी निश्चल करना जरूरी है। कान तो हमेशा खुले ही रहते है। शव्द सुनते ही चित्त उस शव्द को सुनने की तरफ चला जाता है। ऑख सव इद्रियो मे प्रवल है। अत ऑख कैसे रखना, यह आगे वता रहे है। ऑंख को छोडकर सारी इन्द्रियो के व्यापार शात करने के लिए यहाँ कहा है।

(३)तीसरी वात है **स्वं नासिकाग्रं सप्रेक्ष्य।** अपनी नाक के अग्रभाग पर दृष्टि रखना चाहिए। नासाग्रदृष्टि के लिए क्यो कहा ? ध्यान की प्राथमिक अवस्था मे ऑख वन्द करने से नीद आने की सभावना रहती है। पूरी ऑख खोलने से सृष्टि की तरफ ध्यान जाता है। इसलिए अर्धोन्मीलित दृष्टि रखना यानी ऑख आधी खुली और आधी वन्द, यह नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने का मतलव है। यह प्राथमिक अवस्था की वात है। ध्यान करते समय नीद नही आती है, ऐसा अनुभव आने के वाद, ऑखे पूरी वन्द कर सकते है। नासिका के अग्र पर देखने से, दृष्टि इधर-उधर नही दौडती। ऑखे आधी खोलने से भी सृष्टि की तरफ ध्यान जायगा ही। नासिका के अग्र पर ध्यान करने से दृष्टि उसी पर केन्द्रित रहने से, दृष्टि का चारो तरफ दौडना टल जायगा। ऑखे वन्द करने के वाद भृकुटि के वीच ध्यान करने के लिए भी पॉचवे अध्याय के २७वे श्लोक मे कहा है। आठवे अध्याय के १०वे श्लोक मे भी भृकुटि

के बीच दृष्टि रखने के लिए कहा है। लेकिन सिर्फ प्राथमिक दशा मे यह स्थूल चीजे बतायी हुई है, ऐसा समझकर चलना चाहिए। इन स्थूल चीजो को कायम रखने से लाभ के बजाय हानि सभव है। भृकुटि के बीच दृष्टि रखने से सिर-दर्द की सभावना रहेगी और वही सभावना नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने पर रहेगी। इसलिए नीद न आये और चित्त एकाग्र हो जाये, इसके लिए थोडे दिन नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिए। सदा के लिए यह अभ्यास जारी न रहे। गीता ने तो सिर्फ दिशा-सकेत किया है। स्थूल शाब्दिक अर्थ लेना उचित नही। शकराचार्य इस वचन के भाष्य मे कहते है 'अपनी नासिका के अग्रभाग को अच्छी तरह देखकर यानी मानो नासिका के अग्रभाग पर अच्छी तरह देखते हुए।' यहाँ नाक के अग्रभाग पर देखने की विधि बताना उद्देश्य नही है। फिर यह कहने का क्या उद्देश्य है ? उद्देश्य दृष्टि को विपयो से खीच लेना ही है। अत करण का समाधान हो यानी चित्त एकाग्र हो,इस दृष्टि से यह कहा है। अपनी नाक के अग्रभाग पर ही दृष्टि रखने के लिए कहा हो, तो मन नासिका के अग्रभाग पर ही स्थिर हो जायगा, आत्मा मे मन स्थिर नही होगा। आत्मा मे, परमात्मा मे मन स्थिर करके, ऐसा कहकर (गीता अ० ६ श्लोक २५) परमात्मा मे ही मन स्थित करने के लिए आगे भगवान् कहेगे। नेत्रो की दृष्टि का सनिपात यानी विपय-पराङमुखता, विपयो से हटाना ही, 'सम्प्रेक्ष्य' शब्द से अभिप्रेत है, ऐसा समझना चाहिए।

(४) चौथी बात है **दिशः च अनवलोकयन्।** आँखे बन्द होने पर भी मन मे देखने की इच्छा रहती है। कभी आँखे खुलकर चारो ओर देखकर फिर बन्द हो जायँगी। फिर भी इन्द्रियाँ इतनी बलवान् है कि वे विषय की तरफ जबरन घसीट कर ले जाती है। इसीलिए नासिका के अग्रभाग पर देखने के लिए पीछे के श्लोक मे कहा गया। शकराचार्य ने स्पष्टरूप से कह दिया है कि नासिका के अग्रभाग पर देखने के लिए जो कहा है, उसमे 'मानो' शब्द छूट गया है, ऐसा समझकर अर्थ करना चाहिए। यानी नासिका के अग्रभाग पर देखना नही है, बल्कि विपयो से दृष्टि को हटाना है। क्योकि भगवान् स्पष्टरूप से कह रहे है कि चारो दिशाओ की तरफ देखना नही है, यानी दृष्टि अतर्मुख करके ही रहना है। इसके बिना परमात्मा का ध्यान सधना सभव नही।

(५) पाँचवी बात है **प्रशान्तात्मा।** चित्त को बिलकुल शात करना चाहिए। दिनभर मे कुछ-न-कुछ प्रसग, घटनाएँ घटती रहती है। जब हम ध्यान करने बैठते है तब उन घटनाओ को, प्रसगो को मन याद करेगा ही। चित्त मे इससे राग-द्वेष की लहरे उठेगी और चित्त व्याकुल होगा। इसलिए जब हम ध्यान करने एकात मे बैठते है, तब निश्चय कर लेना चाहिए कि चित्त मे प्रसग या घटनाओ को याद करके राग-द्वेप खडे होने नही देगे, चित्त को अशात नही होने देगे।

(६) छठी बात है **विगतभीः।** मन मे किसी भी प्रकार का डर न पैदा होना। एकात या निर्जन स्थान पर ध्यान करते समय सर्प, व्याघ्र आदि का डर हो सकता है। चोर-डाकू का डर हो सकता है। यह डर भी पैदा हो सकता है कि मन मे ध्यान करते समय खराब विचार, विपय-वासना, काम-वासना के विचार आ जायँ तो मन की क्या स्थिति होगी ? ध्यान तो एक ओर रह जायगा, उस समय विपय-वासना, काम-वासना जागृत हो जाय तो ज्यादा नुकसान होगा। ध्यान करने नही बैठते है तब तो काम-विकार जागृत नही होते, क्योकि मन अन्य कामो के या सेवा के विचारो मे फँसा रहता है। लेकिन मन से जब सब विकारो को हटाने की कोशिश करते है, तो काम-वासना जागृत होने की सभावना बढ जाती है। लेकिन मन मे ऐसा डर भी रखना चाहिए। क्योकि उस

डर के कारण वासना-विकार की स्मृति जागृत होकर काम-वासना आदि बरावर जागृत हो जाती है। अत ध्यान करते समय यही विचार रखना चाहिए कि मेरे खिलाफ कोई विकार मन मे आकर मुझे तग करे।

(७) सातवी वात है **ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।** ब्रह्मचर्य-व्रत मे स्थिर रहना चाहिए। यह वहुत महत्त्वपूर्ण वात कही गयी है। सारे जीवन मे सबसे कठिन वात ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन है। गृहस्थ-जीवन मे तो इसकी कठिनाई मालूम होती ही है, ब्रह्मचर्य-जीवन मे भी इसकी कठिनाई महसूस होती है। ब्रह्मचारी का वाहर से स्त्री-सग का प्रश्न नही उठता, लेकिन भीतर के सुप्त काम-विकार वरावर तग करते रहते हैं। उन विकारो को जीतने का ब्रह्मचारी को काफी प्रयत्न करना पडता है। काफी तकलीफ सहनी पडती है। मानसिक काम-विकारो के कारण रात को स्वप्न मे वीर्य-स्खलन होता रहता है। शरीर मे जो वीर्य तैयार होता है, उसका उपयोग मानसिक वल वढाने मे, मानसिक निर्विकारता वढाने मे होना चाहिए। लेकिन मन मे काम-विकार होने के कारण वीर्य-सग्रह हो नही पाता। वीर्य अधोगामी रहता है। उसे ऊर्ध्वगामी होना चाहिए। सस्कृत मे ब्रह्मचारी के लिए 'ऊर्ध्वरेतस्' शव्द का प्रयोग किया गया है। दीपक मे तेल का जो स्थान है, वही स्थान जीवन मे ब्रह्मचर्य का है। जीवन का सार एक शव्द मे 'ब्रह्मचर्य' ही है। ब्रह्मचर्य मे सव इद्रियो का सयम आ जाता है। सव इद्रियो के सयम के विना ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य है। स्वादेन्द्रिय के साथ ब्रह्मचर्य का निकट सम्वन्ध है। जो स्वादेन्द्रिय पर कावू प्राप्त नही करते, उनके लिए ब्रह्मचर्य की साधना कठिन है। गृहस्थाश्रम मे ब्रह्मचर्य की साधना के लिए विशेष प्रयत्न करना पडता है। पत्नी के प्रति पत्नीभाव मिट जाना चाहिए। इसके लिए मातृ-भावना, भगिनी-भावना, ईश्वर-भावना और वैराग्य-भावना, इन चार भावनाओ का अभ्यास कर उन भावनाओ का उत्कर्ष हो जाय तो गृहस्थ-जीवन मे वह्मचर्य-पालन सुगम, आसान रहेगा। काम-विकार पर विजय प्राप्त करने के लिए इन चार भावनाओ का आश्रय लिये विना दूसरा कोई उपाय नही है। इसलिए जिन्हे ध्यान की साधना परमात्म-अनुभव के लिए करनी है, उन्हे ब्रह्मचर्य-पालन मे सफलता प्राप्त करनी ही होगी। ब्रह्मचर्य के दीर्घकाल तक के पालन के वाद ब्रह्मचर्य-व्रत लेना होगा। व्रत लेने से मन मे शिथिलता नही आती। सवको साक्षी रखते हुए ब्रह्मचर्य का व्रत लिया जाय तो उससे ब्रह्मचर्य-पालन मे वहुत वल मिलता है। ब्रह्मचर्य-पालन ध्यानाभ्यास की वुनियाद है।

(८) आठवी वात यह कही है **मनः संयम्य।** मन को सयम मे रखना। इसके दो अर्थ है· १ इच्छाएँ, वासनाएँ, महत्त्वाकाक्षाएँ छोडना यानी मन को वश मे रखना। २ मन मे नाना प्रकार के विचार उठते रहते है, उनका वन्द हो जाना यानी ध्यान करते समय विचारो को रोकने का अभ्यास करना। इसमे सफलता तभी मिल सकती है, जव मन से इच्छा आदि विकार निकल जायँ। नाना प्रकार के विचार मन मे आते है, उनकी तह मे इच्छा, वासना, महत्त्वा-काक्षाएँ रहती है।

(९) नवी वात है **मच्चित्तः।** मुझमे चित्त लगाना। यदि विचारो को रोकना है और इच्छा-वासनाओ को छोडना है, तो ईश्वर मे मन लगाने की कोशिश करनी चाहिए। ईश्वर के प्रति अनुराग, प्रेम, भक्ति पैदा हो जाय तो चित्त बहुत जल्दी स्थिर हो सकता है। भगवान् के दो रूप है एक निर्गुण और दूसरा सगुण। निर्गुण पर-मात्मा मे अपना चित्त स्थिर करना बहुत कठिन है, इसलिए किसी अवतारी पुरुष की मूर्ति, जैसे कि राम या कृष्ण की, अथवा किसी महात्मा पुरुष की मूर्ति,

जिसके स्मरण से मन मे प्रेम या भक्ति पैदा हो सके, मन मे लाकर उसके सामने देखते रहना चाहिए।, यदि ऐसी सगुण-मूर्ति सामने रखने मे दिलचस्पी न हो तो ॐ अक्षर मे परमात्मा की भावना कर सकते है। वह भी अनुकूल न हो तो मूर्ति न रखकर निराकार, निर्गुण, शातस्वरूप भगवान् के साथ एकरूप होकर विचार हटाने की कोशिश करनी चाहिए। उसके साथ नाम-जप शुरू करना चाहिए। इस तरह दुहरा प्रयत्न करने से मन परमात्मा मे स्थिर होता है।

(१०) दसवी वात है : **युक्तः**। युक्त यानी समचित्त होना। समचित्त यानी भीतर १ निर्विकारता पैदा करना और २ सवके साथ समता से व्यवहार करने का अभ्यास करना। इस प्रकार 'युक्त' शब्द के दो अर्थ है। शात रहे तभी चित्त एकाग्र हो सकता है और चित्त की शाति के लिए निर्विकारता प्राप्त होना जरूरी है। दूसरो के व्यवहार मे समता का अभ्यास होना चाहिए। यदि काम-क्रोधादि विकारो से युक्त व्यवहार रहा तो हम जाग्रत्-काल मे शात रह नही सकेंगे। जब ध्यान करने बैठेंगे तो वे सारे विचार, सारी घटनाएँ याद आने लगेगी। हमारा चित्त व्यवहार मे शात न रहा तो ध्यान के समय भी शात नही रहेगा।

(११) ग्यारहवी वात है **मत्पर. आसीत**। पीछे **मच्चित्तः** होने के लिए कहा और यहाँ **मत्परायण** होने के लिए कहा। शकराचार्य दोनो का फर्क वताते है: **भवति कश्चिद् रागी स्त्रीचित्तो न तु स्त्रियं एव परत्वेन गृह्णाति, कि तर्हि राजानं महादेवं वा अयं तु मच्चित्तो मत्परः च**।—अर्थात् कोई विषयी पुरुष स्त्री मे चित्त रखता है यानी आसक्त रहता है। लेकिन उस स्त्री को वह श्रेष्ठ, या महान् व्यक्ति के रूप मे नही समझता। तो किसे श्रेष्ठ समझता है? राजा को अथवा महादेव को श्रेष्ठ समझता है। लेकिन यह (ध्यानयोगी) पुरुष तो मुझ (परमात्मा) मे चित्त रखता है यानी मुझमें आसक्ति, प्रेम, अनुराग रखता है, मुझे ही श्रेष्ठ समझता है।

शकराचार्य ने वडी खूवी से वताया कि परमात्मा मे हम अपना चित्त लगाते है। उसीमे प्रेम, अनुराग और आसक्ति रखते है। साथ ही परमात्मा को श्रेष्ठ यानी अपना सर्वस्व समझते है। परमात्मा से वढकर कोई दूसरी वस्तु श्रेष्ठ नही, ऐसा हम समझते है तो मच्चित्त और मत्परायण दोनो को साध लिया, ऐसा समझना चाहिए। मत्परायण होकर **आसीत** यानी ध्यान करने का अभ्यास करना। मच्चित्त और मत्परायण होने से चित्त की चचलता दूर होती है और ध्यान भली प्रकार लग सकता है।

: १५ :

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

एवं आत्मानं=इस तरह मन को, **सदा युंजन्**=निरतर परमात्मा से जोडनेवाला, **योगी**=योगी, **नियतमानस.**=मन को जीतकर, **निर्वाणपरमा**=परम मोक्षदायी, **मत्संस्था**=और मेरे मे स्थित, **शाति अधिगच्छति**=शाति प्राप्त करता है।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ इस प्रकार अपने मन को परमात्मा के साथ जोडने का जो प्रयत्न करता है, ऐसा योगी, ध्यानाभ्यासी, २ अपने मन को जीतकर, ३ परम श्रेष्ठ मोक्ष देनेवाली और मेरे मे स्थित शाति को प्राप्त करता है।

(१) **एवं आत्मानं सदा युंजन् योगी**। अर्थात् अपने मन को हमेशा परमात्मा से जोडनेवाला योगी। यह योगी परम शाति को प्राप्त करता है। 'एव' यानी १० से लेकर १४ तक पॉच श्लोको मे जैसे वताया गया, ध्यान करनेवाला योगी अपने मन को परमात्मा के साथ जोडने का अभ्यास करता है। एक आसन पर वैठकर कुछ घटो तक ध्यान करने का जो

अभ्यास इन पाँच श्लोकों में बताया गया, वह इसलिए कि चित्त की चंचलता दूर होकर एकाग्रता का अभ्यास हो और बाह्य विषयों में फँसा चित्त विषयों से निकलकर परमात्मा के साथ कुछ समय के लिए जुड़ जाय। ऐसे ध्यान के अभ्यास से परमात्मा के प्रति अनुराग, प्रीति, भक्ति, आसक्ति पैदा हो जाय तो जागृति-काल का सारा व्यवहार परमात्म-दृष्टि से हो सकेगा और अशांति पैदा नहीं होगी। जब भेद-व्यवहार में हमारा सारा जागृति-काल बीतता है, तब चित्त में राग-द्वेषादि परिणाम पैदा होते हैं और अशांति का अनुभव होता रहता है। उससे बचने के लिए कोई युक्ति होनी चाहिए। एक युक्ति है कुछ देर तक प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करना। इससे चित्त को सांसारिक विचार से अलग करने की तरकीब ध्यान में आ जाती है। मन में स्थित परमात्मा के साथ एकरूप होने का अभ्यास ध्यान करते समय हो जाता है और चित्त को राग-द्वेषरहित रखने का कुछ बल प्राप्त होता है।

(२) दूसरी बात है **नियतमानस**। यानी जिन्होंने अपना मन जीत लिया है। मतलब यह कि ध्यान का अभ्यास करते समय जिन्होंने चित्त के विकारों पर, नाना भावों पर विजय प्राप्त कर ली है और जाग्रत्-काल के व्यवहार में जिन्होंने अपने चित्त पर काबू पा लिया है, ऐसा दुहरा अर्थ 'नियतमानस' शब्द का है। हमें अनुभव हो सकता है कि जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तब चित्त के सारे विचारों को ठीक तरह रोक सकते हैं, मगर ध्यान छूटने के बाद व्यवहार में अपने को काबू में नहीं रख पाते। विकारों के वश हो जाते हैं।

यदि हम विकार-रहित नहीं हो सकते हैं तो हमें अखंड शांति का, अखंड आनन्द का अनुभव नहीं हो सकेगा, यह निश्चय है।

(३) तीसरी बात है **निर्वाण परमामत्संस्था शांतिं अधिगच्छति**। परम श्रेष्ठ मोक्ष देनेवाली और मेरे अधीन रही हुई शांति को ध्यानाभ्यासी और चित्त पर पूरा काबू प्राप्त करनेवाला योगी प्राप्त कर लेता है। यहाँ शांति के पीछे दो विशेषण हैं 'निर्वाणपरमाम्', और 'मत्संस्थाम्'। 'निर्वाणपरमाम्' में दो शब्द हैं। एक निर्वाण और दूसरा परमाम्। निर्वाण का अर्थ है मोक्ष। दूसरे अध्याय के ७२वें श्लोक में 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द आया है। वहाँ स्थितप्रज्ञ की स्थिति को ब्राह्मी-स्थिति कहा है। 'ब्राह्मी-स्थिति' प्राप्त होने पर अंतकाल तक टिकी रहती है और अंत में मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मी-स्थिति का मतलब है, जहाँ से नीचे गिरना नहीं और ब्रह्म-निर्वाण का मतलब है, जहाँ से आगे जाना नहीं। यानी ब्राह्मी-स्थिति के बाद ब्रह्म-निर्वाण तक मुसाफिरी चालू रहती है। ब्रह्म-निर्वाण यानी अंतिम मंजिल। ब्राह्मी-स्थिति के बाद ब्रह्म-निर्वाण तक विकास-क्रम चालू रहता है। यानी सूक्ष्म अहंकार क्षीण करने की क्रिया मृत्यु तक चलती है। पाँचवें अध्याय के २६वें श्लोक में 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द आया है। वहाँ बताया है कि जो ज्ञानी संन्यासी के लिए जीवित रहते हुए 'ब्रह्म-निर्वाण' का ही अनुभव रहता है, वह सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा देखता है। दूसरे अध्याय के ७२वें श्लोक में कहा कि ब्रह्म-निर्वाण देह छूटने के बाद प्राप्त होता है। ५वें अध्याय के २६वें श्लोक में ब्रह्म-निर्वाण शब्द ब्राह्मी-स्थिति के अर्थ में ही आया है। ब्राह्मी-स्थिति में सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा दीखता है। इस श्लोक में जो 'निर्वाण' शब्द आया है और उसके पीछे **परमाम्** और **मत्संस्थाम्** ऐसे विशेषण हैं, वह **निर्वाण** ध्यान में अनुभव आनेवाली वस्तु है। यानी ध्यान करते-करते ध्यानाभ्यासी योगी परमात्मा में इतना डूब जाता है कि परमात्मा में रही हुई यानी **मत्संस्थाम्** और **निर्वाणपरमाम्** यानी परम मोक्षदायी शांति का अनुभव करता है। ध्यान में जिस परम मोक्षदायी शांति का अनुभव ध्यानाभ्यासी योगी ने प्राप्त कर लिया, उसका

असर उसके व्यवहार मे दिखाई देता है। उसका व्यवहार निर्विकार रहता है।

: १६ :

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

तु=लेकिन, अत्यश्नतः=अधिक खानेवाले को, च एकान्त अनश्नत =और सर्वथा निराहार रहनेवाले को भी, योग. न अस्ति=ध्यानयोग सधना शक्य नही है, च अतिस्वप्नशीलस्य=और बहुत सोनेवाले को, च अर्जुन= और हे अर्जुन, जाग्रतः न एव योगः अस्ति=बहुत जागने-वाले को भी ध्यानयोग नही सधता।

इस श्लोक मे भगवान् ने चार बाते कही है १ जो अधिक खानेवाले है, उनके लिए ध्यान का अभ्यास शक्य नही है। २. बिलकुल खाना छोड देनेवालो के लिए अथवा बहुत ही थोडा खानेवाले के लिए भी ध्यान का अभ्यास शक्य नही है। ३ बहुत सोनेवाले के लिए ध्यान का अभ्यास शक्य नही, ४ अति जागनेवाले अथवा बिलकुल नीद न लेनेवाले को अथवा बहुत कम नीद लेनेवाले से भी ध्यान का अभ्यास नही हो सकता।

(१) पहली बात है **अत्यश्नत. योगः न अस्ति।** आवश्यकता से अधिक खाने की जिनकी आदत है, वे ध्यान का अभ्यास नही कर सकते। ज्यादा खाने से तमोगुण बढता है। आलस्य, जडता आदि दोष बढते है। शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए जितना आहार आवश्यक है, उतना अवश्य लेना चाहिए। मगर आहार यदि परिमाण से ज्यादा किया जाय तो स्वास्थ्य ही ठीक नही रहेगा। शरीर स्वस्थ न रहा तो ध्यान मे मन नही लगेगा। अस्वस्थता मे चित्त परमात्मा मे स्थिर नही हो सकता। जैसे ध्यान के अभ्यास मे एकात की जरूरत है, सुबह की एक नीद होने के बाद अत्यन्त जागृति के समय की जरूरत है, वैसे ही शरीर का स्वस्थ रहना भी अतिआवश्यक है। शरीर जितना स्वस्थ रहेगा, उतनी ही चित्त की स्वस्थता बढेगी। इसलिए योगशास्त्र मे शरीर शुद्ध करने के लिए बस्ती (एनिमा)-की विधि बतायी है। ज्यादा खाने की आदत से बदहजमी होती है और आरोग्य कायम नही रहता। शरीर मे जडता बढने से ध्यान के समय तुरत नीद आने लगती है। आवश्यकता से बहुत ज्यादा वजनवालो के लिए भी शरीर की जडता टालना असभव है। इसलिए ध्यान का अभ्यास शुरू करने के पहले शरीर का वजन घटा लेना चाहिए, ताकि शरीर हलका हो जाय और जडता कम हो जाय। ध्यानाभ्यासी को परिमित और सतुलित भोजन चबा-चबाकर करना चाहिए।

(२) दूसरी बात है **च एकान्तं अनश्नत योगः न अस्ति।** भोजन बिलकुल छोड दिया जाय अथवा बहुत ही कम किया जाय तो शरीर मे कमजोरी बढती है। शरीर मे आवश्यक तत्त्वो की कमी हो जाने से शरीर नीरोगी नही रहता। शरीर कमजोर तो मन भी कमजोर। ध्यान मे मन नही लगता। बुद्ध भगवान् ने यह प्रयोग किया था। उपवास और अतिअल्प आहार से उनका शरीर इतना क्षीण हो गया कि ध्यान करना कठिन हो गया। तब उन्होने अपना विचार बदल दिया। उपनिषद् मे कहा है **अन्नमयं हि सौम्य मनः।** हे सौम्य यह, मन अन्नमय है। यानी अन्न का बना है, अन्न से ही इसे पोषण मिलता है। उपनिषद् मे एक प्रयोग का वर्णन भी आता है। १५ दिन का उपवास कराकर विद्यार्थी से कहा कि वेद याद करो तो उसे वेद के मत्र याद नही होते थे। बिना आहार के स्मृति कम हो जाती है। एक सज्जन ने प्रायश्चित्त के तौर पर ३० दिनो का उपवास करना चाहा। उपवास-काल मे वे आध्यात्मिक साधना करना चाहते थे। पहले उन्होने कुछ साधना की थी। उपवास-काल मे ध्यान आदि करना चाहते थे

और उसमे मेरी मदद भी चाहते थे। मै उन्हे रोज एक घटा ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य आदि सुनाता रहा। सात दिनो तक उनके मन की स्थिति ठीक रही। वाद मे मन कमजोर पड गया और साधना मे मन लगता नही था। अतएव ध्यान करने के लिए जैसे ज्यादा खाना हानिकारक है, वैसे ही वहुत कम खाना या उपवास भी ठीक नही। वीच का, मध्यम मार्ग ठीक है।

(३) तीसरी वात है **च अतिस्वप्नशीलस्य योग. न अस्ति**। और वहुत सोनेवाले के लिए भी ध्यान का अभ्यास अशक्य है। वहुत नीद लेने से तमोगुण वढेगा और मन जागृत हो तो ही परमात्मा मे लग सकेगा। वहुत नीद लेने से ध्यान करते समय नीद ही आने लगेगी, क्योकि वहुत नीद का मतलव है आवश्यकता से ज्यादा खाना। नीद ज्यादा न सतायें, इसके लिए भोजन परिमित करना चाहिए। स्थूल देहवालो को कम खाना लेने पर भी नीद ज्यादा आती है। इसलिए जिनकी देह वहुत स्थूल है उन्हे पहले वजन घटाना चाहिए। वजन घट जाने पर परिमित भोजन किया जाय तो नीद ज्यादा आने की सभावना नही रहती।

(४) चौथी वात है. **च अर्जुन जाग्रतः न एव योगः अस्ति**। और हे अर्जुन, नीद विलकुल न लेकर सारी रात ध्यान के अभ्यास के लिए जागते रहे, अथवा वहुत कम नीद ले तो भी ध्यान का अभ्यास नही सधेगा। सारी रात जागने मे उद्देश्य यही रहता है कि जितने घटे ध्यान के लिए दिये जायँ, उतना ध्यान हो जायगा। अनुभव यह है कि थोडे दिन तक रात मे ५-६ घटे ध्यान किया जाय तो वह सध भी जायगा। लेकिन यह क्रम वहुत दिनो तक जारी नही रख सकेंगे, क्योकि अतिजागरण से मन दुर्वल पडने लगता है और वह ध्यान मे लग नही पाता। इसलिए पूर्व रात्रि मे पूरी नीद लेने के वाद ही उत्तर-रात्रि के प्रारभ यानी ८ वजे से ३ वजे तक से यानी तीन वजे से पाँच या छह वजे तक ध्यान अच्छी तरह किया जा सकता है। रात के आठ वजे से दो वजे तक नीद हो जाय तो २ वजे से सुवह ५ या ६ वजे तक ध्यान मे वैठा जा सकता है। पूर्व-रात्रि की नीद वहुत जरूरी है। कई साधक दोपहर को ४-५ घटे नीद लेकर रात को जागते है। यह सिलसिला भी वहुत दिनो तक नही चल सकता, क्योकि रात की नीद की वरावरी दिन की नीद नही कर सकती। रात मे नीद जितनी गहरी आ सकती है, उतनी गहरी नीद दोपहर मे नही आ सकती। प्रयोगो से यह भी पाया गया है कि पूर्व-रात्रि की नीद जितनी आरोग्यदायिनी है, उतनी उत्तर-रात्रि की नीद नही। इसलिए यही नियम सवसे अच्छा है कि पूर्व-रात्रि मे दो वजे या तीन वजे तक नीद ली जाय। अर्थात् जल्दी सोकर यानी आठ या नौ वजे सोकर दो या तीन वजे उठने से अच्छी और पर्याप्त नीद मिल जायगी और दो या तीन वजे वैठकर ध्यान ठीक तरह मे होगा।

: १७ :

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दु.खहा॥

युक्ताहारविहारस्य=आहार और विहार मे जो परिमित है, **कर्मसु युक्तचेष्टस्य**=कर्म मे जो परिमित है, **युक्तस्वप्नाववोधस्य**=सोना और जागना जिसका परिमित है, **योगः**=(उसके लिए) योग, **दु.खहा भवति**=दु ख दूर करनेवाला है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ आहार और विहार मे जो परिमित है, यानी जो मध्यम-मार्ग से ही विचरते है, २ कर्मो मे जो मध्यम दृष्टि रखते है, ३ सोने और जागने दोनो मे जो सतुलन रखते है, ४ उनके लिए ध्यान-योग दु ख दूर करने का कारण वन जाता है।

(१) पहली वात है **युक्ताहारविहारस्य**। आहार और विहार मे जो परिमित है, यानी उसमे किसी भी तरह से अतिशयता नही आने

देते, मध्यम-दृष्टि रखते है। शरीर और मन, दोनो का स्वास्थ्य दोनो के सन्तुलन मे है। योग अर्थात् चित्त की समता। यह समता प्राप्त करना ही जीवन की सार्थकता है। चित्त की समता-प्राप्ति के उपायो मे एक उपाय ध्यान है। ध्यान कैसे साधा जाय ? ध्यान अर्थात् भगवत्-स्वरूप मे एकाग्रता। विनोबाजी 'गीता-प्रवचन' के छठे अध्याय मे कहते है कि ध्यान-योग मे तीन वातो का समावेश है (क) चित्त की एकाग्रता, (ख) जीवन की सव क्रियाओ मे परिमितता, (ग) जगत् की तरफ देखने की साम्य-दृष्टि, शुद्ध-दृष्टि और गुण-दृष्टि। ये तीन चीजे साधने के लिए अन्य दो चीजे आवश्यक है। वे है अभ्यास और वैराग्य। यहाँ पहली वात भगवान् वता रहे है—आहार मे परिमितता, सन्तुलन चाहिए और विहार मे भी परिमितता और सन्तुलन जरूरी है। विहार यानी आहार के अतिरिक्त अन्य निजी क्रियाएँ। घूमत है, कपड धोते है, स्नान करते है, किसीसे वात करते है, अध्ययन करते है, मनन-चिन्तन करते है, तो इन सव निजी क्रियाओ मे भी परिमितता यानी सन्तुलन रखना चाहिए।

(२) दूसरी वात है **युक्तचेष्टस्य कर्मसु**। कर्मो के व्यापार मे परिमितता। दिनभर हम कुछ-न-कुछ काम करते रहते है। इसलिए आठ-दस घटे कार्य करने के वाद यदि शरीर थक जाता हो तो ध्यानाभ्यास के लिए शरीर मे जो स्फूर्ति रहनी चाहिए, वह नही रहेगी। शारीरिक स्फूर्ति के अभाव मे हम ध्यान का अभ्यास नही कर पायेगे। इसलिए यदि ध्यान के अभ्यास के लिए कुछ समय की यानी ६-८ महीने या सालभर की जरूरत हो तो उतने समय तक ऐसी व्यवस्था कर लेनी चाहिए कि ४-५ घटे काम करने से चल जाय। इससे थकान नही आयेगी, ध्यानाभ्यास ठीक-ठीक हो सकेगा। यदि हम सार्वजनिक सेवा मे न हो और निजी धधे मे हों या कोई सरकारी नौकरी करते हो या किसी स्कूल मे शिक्षक हो तो ऐसा वन्दोवस्त कर लेना चाहिए कि काम करते हुए थकान महसूस न हो। दिन मे कुछ काम तो हमे करना ही होगा। देखना यही होगा कि वह काम हद से ज्यादा न हो जाय। अन्यथा ध्यान के अभ्यास में रुकावट आयेगी। शरीर का सन्तुलन न रहा तो ध्यान का अभ्यास ठीक तरह नही हो सकेगा।

(३) तीसरी वात है '**युक्त स्वप्नाववोधस्य**'। स्वप्न यानी निद्रा और अववोध यानी जागृति। निद्रा और जागृति दोनो युक्त यानी परिमित होनी चाहिए। ये दोनो वाते पीछे के श्लोक में कही गयी है, उसीको यहाँ दुहराया है। जहाँ मन शरीर के साथ पूरा सवधित है, वहाँ शरीर की पर्वाह किये वगैर चलेंगे तो मन एकाग्र नही होगा। शरीर को पूर्ण स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए निद्रा और जागृति दोनो मे सन्तुलन वहुतज रूरी है। मनुष्य-शरीर की अमुक प्रकार की प्रवृत्ति वन जाती है। उसमे परिवर्तन करके सन्तुलन पैदा करना होगा। ज्यादा नीद आती हो तो आहार मे परिवर्तन करने से, व्यायाम करने से फर्क पडेगा। इसी तरह नीद कम आने का कारण खुराक की कम मात्रा हो तो उसे वढा देने से पर्याप्त नीद आ सकती है। चिंता भी निद्रा कम आने मे कारण हुआ करती है। चिंता भी कई प्रकार की होती है। एक सासारिक होती है। दूसरी, दुनिया मे अशाति, पापाचरण, हिसा देखकर चिन्ता होती है कि दुनिया की यह जो खराव-विगडी हुई हालत है, वह कैसे सुधरे। फिर आध्यात्मिक चिंता भी हो सकती है कि इतने दिनो से आध्यात्मिक साधना चल रही है, ध्यान आदि की कोशिश चल रही है, फिर भी कुछ सफलता नही मिल रही है, कुछ सुपरिणाम नजर नही आ रहा है। इस प्रकार मुख्य रूप से तीन प्रकार की चिंताओ का असर आहार और निद्रा पर पडता है। जो भी कारण हो, ढूँढ़कर उसे दूर करने की कोशिश करनी चाहिए।

(४) चौथी वात है **योगो भवति दुःखहा।** उपर्युक्त तीन वाते ध्यान मे रखकर उसके अनुसार जो चलते है, उनके लिए ध्यान की साधना दु ख दूर करने मे सहायक होती है। ध्यान की साधना का अतिम लक्ष्य दु ख दूर करना है। मनुष्य का खुद का स्वरूप आनन्द होने से यदि उसे आनन्द न मिले, तो वह स्वस्थ नही रह सकेगा। चाहे जिस साधना की सहायता लेकर वह आनन्द उठायेगा ही। प्यासा आदमी शुद्ध जल न मिले तो जैसा भी जल मिले—अशुद्ध हो तो भी, पिये विना नही रहेगा। छोटे वच्चे से लेकर वूढे तक सवकी प्रवृत्ति सुख और आनन्द की रहती है। क्षणिक सुख के पीछे लोग लगे दिखाई देते है; क्योकि उन्हे शाश्वत सुख हाथ नही आता। इसलिए जो भी सुख मिले, उसे प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। जव आध्यात्मिक सस्कार चित्त मे गहराई मे स्थित हो और उन सस्कारो को पोषण मिलता जाय, तो सासारिक अल्प और क्षणिक सुख से निकलकर वृत्ति आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने की तरफ मुड सकती है। ध्यान यदि सध जाय तो सुख अनुभव मे आ सकता है। उससे दु ख के अभाव का अनुभव होगा।

अगले श्लोक मे वता रहे है कि ध्यान मे डूव जाने पर क्या स्थिति होती है।

: १८ :

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

यदा विनियत चित्त=जव विशेप प्रकार से नियत्रित किया हुआ चित्त, **आत्मनि एव**=आत्मा मे ही, **अवतिष्ठते**=स्थिर रहता है, **सर्वकामेभ्यः**=सव कामनाओ से, **नि.स्पृह**=जो स्पृहारहित हो जाता है, **तदा युक्त. इति उच्यते**=तव वह योगी परमात्मा मे एकरूप हो गया, ऐसा कहा जाता है।

इस श्लोक मे चार वात है १ चित्त को विशेप प्रकार से नियत्रित करना। २. आत्मा मे ही डूव जाना, ३ सव वासनाओ से मुक्त हो जाना, ४ उपर्युक्त लक्षणो से जो युक्त हो गया, उसे परमात्मा से एकरूप हुआ योगी कहा जाता है।

(१) पहली वात है **यदा विनियत चित्तम्।** ध्यानाभ्यास से जिनका चित्त चारो ओर से निगृहीत हो गया। ध्यान का अभ्यास कैसे किया जाय, यह भगवान् १०वे श्लोक से वता रहे है। अव हम यहाँ तक पहुँचे है कि चित्त के सव विचार चारो ओर से आने वन्द हो गये है। इतनी प्रगति हो गयी कि चित्त के नाना प्रकार के विचारो को रोक सकते है। अभ्यास की शुरुआत मे चित्त मे विचारो को रोकना असभव-सा लगता है। लेकिन रोजाना अभ्यास करने पर पाँच-दस मिनट के लिए चित्त मे विचारो का आना रुक जाता है। फिर धीमे-धीमे यह अभ्यास इतना वढता है कि एक घटा या दो घटे हम ध्यान मे वैठे तो उस वीच मन मे कोई विचार नही आता। चित्त इतना वश मे हो जाता है कि सकल्प-मात्र से हम अपने विचार को रोक सकते है। चित्त मे चारो ओर से आनेवाले विचारो को रोकने की कोशिश नही करनी पडती। मन मे रोकने का सकल्प आते ही विचार अपने आप रुक जाते है।

(२) दूसरी वात है **आत्मनि एव अवतिष्ठते।** परमात्मा मे ही चित्त डूव जाता है। चित्त पर जव पूरा कावू हो जाता है, तव चित्त अपने आप ही भीतर परमात्मा मे एकाग्र हो जाता है, डूव जाता है। शर्त यही है कि चित्त मे जगत् के कोई भी विचार न आने चाहिए। जव तक विचार-चक्र चलता रहेगा, तव तक भीतर परमात्मा का स्पर्श नही होगा। परमात्मा अरूपी है, निराकार है। इसलिए जव तक मन मे कोई रूप और आकार रहेगा, तव तक परमात्मा की तरफ मुडना सम्भव नही। परमात्मा का कोई रूप या आकार होता तो ध्यान करना

आसान हो जाता। शुरू मे परमात्मा के ध्यान के लिए परमात्मा के रूप और आकार की, गुणो की कल्पना करके सगुण मूर्ति के ध्यान की सिफारिश की जाती है। लेकिन अन्त मे रूप और आकार का ध्यान छोडना पडता है। अपने आप छूट भी जाता है।

इस श्लोक मे निर्गुण-ध्यान का वर्णन है। जब चित्त के सारे रूप और आकार, विचार छूट जाते है तब भीतर एक अद्भुत वस्तु रह जाती है। उसीमे मन डूबने लगता है। ध्यान मे चित्त जैसे-जैसे एकाग्र होता जाता है, वैसे-वैसे भीतर परमात्मा मे स्थित आनन्द का, शाति का स्पर्श होता जाता है। जैसे-जैसे ध्यान की गहराई बढती है, वैसे वह आनन्द या शाति बढने लगती है। बाह्य विषयो से जो कुछ आनन्द मिलता है, वह क्षणिक रहता है। अपना ससार छोडकर सार्वजनिक सेवा के काम मे लगते है, तब हमे सासारिक आनन्द से काफी ऊँचा आनन्द मिलता है। मगर वह आनन्द भी अखड नही रह पाता। जब तक मन मे भेद-बुद्धि रहती है तब तक अहकार क्षीण नही होता और जब तक अहकार क्षीण नही होता, तब तक किसी भी आदमी को अखड शाति का, अखड आनन्द का अनुभव होने की सभावना नही है।

अहकार अपने आप क्षीण नही हो सकता। उसके लिए बहुत कोशिश करनी पडती है। परमात्म-भक्ति ही एक ऐसा उपाय है, जिसमे अहकार बिलकुल गल जाता है। परमात्म-भक्ति प्राप्त होने के लिए ध्यान एक उपाय है। इसलिए गीता ने ध्यान को स्थान दिया है। ध्यान सध जाता है, तब परमात्मा का स्पर्श होकर परमात्म-आनन्द मिलने लगता है। जैसे-जैसे ध्यान गहरा सधता जाता है, वैसे-वैसे आनन्द भी बढता जाता है और परमात्मा का अनुराग यानी प्रेम, भक्ति पैदा होने लगती है। ध्यान मे जो परमात्मा का अनुभव हमे आयेगा, उसमे से हमारे मन मे यदि परमात्मा के प्रति अनुराग, प्रेम, भक्ति पैदा हुई तो ध्यान के अभ्यास का फल हमे मिल गया, ऐसा समझना चाहिए। यदि ध्यान-अभ्यास से हमारे मन मे परमात्मा के प्रति भक्ति, प्रेम, अनुराग पैदा न हुए तो ध्यान मे जो परमात्मा के आनन्द का या शाति का अनुभव प्राप्त हुआ, वह टिक नही सकेगा। यानी जाग्रत्-काल के व्यवहार मे जो ध्यान के अभ्यास का लाभ मिलना चाहिए, वह नही मिल सकेगा। ध्यान मे परमात्मा का जो भी अनुभव हमे मिलेगा, वह जाग्रत्-काल के व्यवहार मे न टिके तो वह अनुभव सिर्फ ध्यान करते समय तक सीमित रहेगा। यह स्थिति नीद-जैसी है। नीद मे शाति का अनुभव मिलता है। मगर अहकार, राग, द्वेष आदि विकार नष्ट नही होते। नीद मे सारे विकार सिर्फ शात रहते है, नष्ट नही होते। वैसे ही ध्यान-काल मे विकार शात रहे, मगर उनकी जड नष्ट नही हुई, ऐसा मानना होगा। ध्यान के अभ्यास से जो अनुभव मिला, उसका जाग्रत्-काल के व्यवहार मे कितना, कैसा उपयोग करते है, उस ध्यान के अभ्यास का हमे कितना लाभ मिला, यह निश्चित कर सकते है। ध्यान के अभ्यास से जो शक्ति प्राप्त की, उसका उपयोग अहकार आदि सारे विकार नष्ट होने मे होना चाहिए। ध्यान के अभ्यास से यदि हमारे विकार नष्ट नही हुए, तो समझना चाहिए कि हमे ध्यान का जो लाभ मिलना चाहिए था, वह नही मिला।

(३) तीसरी बात है **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः**। सब कामनाओ से यानी वासनाओ से मुक्त होना। ध्यान मे परमात्मा मे डूब जाने से भीतर आनन्द का और शाति का जो अनुभव होता है उससे सब कामनाओ से मुक्ति मिलनी ही चाहिए। ध्यान सध गया या नही, इसकी यह एक कसौटी भी मानी जायगी, क्योकि ध्यान के अभ्यास मे इतना बल न हो कि वह वासनाओ को क्षीण कर सके तो ध्यान आध्यात्मिक दृष्टि

से असफल सिद्ध होगा । अशाति कामनाओ से ही होती है । शाति प्राप्त करने के उपाय के तौर पर ध्यान का अभ्यास किया जाता है। इसलिए ध्यान के अनुभव की यह कसौटी ठीक ही मानी जायगी ।

(४) चौथी वात है **युक्त· इति उच्यते तदा ।** उपर्युक्त तीन लक्षण जिनमे दिखाई दे, उन्हे युक्त यानी परमात्मा के साथ जुडा हुआ समझो । परमात्मा के साथ एकाग्र हो जाना यानी अपना स्वतत्र अस्तित्व महसूस न होना । हमेशा परमात्मा के अस्तित्व का ही भान रहना, स्वय शून्य है, ऐसा अनुभव करते रहना, यह **युक्त** का अर्थ है । स्वय भी रहे और परमात्मा भी रहे, यह हो नही सकता । नदी जव समुद्र मे मिल जाती है, तो उसका स्वतत्र अस्तित्व नही रह जाता । वैसे ही जव ध्यान मे परमात्मा का अनुभव होता है, तव जीव का स्वतत्र अस्तित्व मिट जाता है । अपनी शून्यता का यह अनुभव जाग्रत्-काल के व्यवहार मे भी होना चाहिए । ऐसी शून्यता की स्थिति का अनुभव हो, तभी हम युक्त हुए, ऐसा समझना चाहिए ।

: १९ :

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युजतो योगमात्मनः ॥

यथा निवातस्थः दीप·=जैसे वायुरहित स्थान मे रखा हुआ दीपक, **न इगते**=हिलता नही, निश्चल रहता है, **सा उपमा**=वह उपमा, **आत्मन योग यु जन.**=आत्मा के साथ अनुसधान रखनेवाले, **योगिन यतचित्तस्य**=ध्यानयोगी के सयमी चित्त के लिए, **स्मृता**=कही है ।

इस श्लोक मे एक ही वात है और वह यह कि ध्यान-योगी के सयत यानी निग्रही चित्त के लिए उपमा दी जाती है कि जैसे वायुरहित स्थान पर दीपक निश्चल रहता है, वैसे ही ध्यानमग्न निगृहीत चित्त की स्थिति हो जाती है। वह परमात्मा मे डूव जाने पर स्थिर हो जाता है । उसकी स्थिरता दीये की ज्योति के समान रहती है ।

ऊपर १८वे श्लोक मे ध्यानावस्था के वर्णन मे कहा कि ध्यान करते-करते चित्त परमात्मा मे डूव जाता है, तव उस पुरुष को 'युक्त' यानी परमात्मा से जुडा हुआ योगी कह सकते हैं । उस स्थिति का अधिक खयाल रहे, इस दृष्टि से इस श्लोक मे दीये का दृष्टान्त दिया है । दीये की ज्योति हवा मे वुझ जाती है । ज्योति को अखड जलती रखने के लिए उसे हवा से वचाना पडता है। थोडी हवा मे दीया वुझेगा तो नहीं, लेकिन लौ स्थिर नही रहेगी । यहाँ जो दृष्टान्त दिया है, वह ऐसे स्थान का है, जहाँ हवा विलकुल न हो ।

ध्यान मे आन्दोलन या गति की कल्पना तक नही कर सकते । आन्दोलन मे ध्यान टिकता नही । अखड स्थिरता मे ही समाधि का अनुभव हो सकता है । ध्यान से समाधि प्राप्त करनी है, तो विलकुल स्थिरता चाहिए । हवा से जैसे दीये की ज्योति हिलती है, वैसे ही ध्यान नाना प्रकार के विचारो से आन्दोलित होता है । विचार जव हटने लगते है, तव मन स्थिर होने लगता है । सृष्टि के प्रति यदि मन मे आकर्षण रहा, तो विचारो को निकालना सभव नही है। इसलिए ध्यान के पहले वैराग्य का अभ्यास जरूरी है । तो विचारो को हटाना पहली क्रिया है । दूसरी क्रिया है मन को परमात्मा मे स्थिर करना । विचार हटने लगते है, तव पहली क्रिया खतम होकर दूसरी क्रिया मन को स्थिर करने की शुरू होती है । भीतर परमात्मा प्रकट हुआ है, ऐसा पहले से वुद्धि से जान लिया हो तो परमात्मा मे चित्त को डुवाना है, यह विचार—यह भावना मन मे रहेगी । यदि यह विचार, यह परमात्म-भावना ध्यान करते समय जागृत रही तो विचारो को मन से हटाने मे सहूलियत रहेगी और विचार हटते ही मन

परमात्मा मे डूबने लगेगा । तब ध्यान सफल हो गया, ऐसा समझना चाहिए । यही उसे दीये की ज्योति की उपमा दी जाती है । ध्यान के लिए शंकराचार्य ने एक और उपमा दी है । वे लिखते है

तैलधारावत् संततः अविच्छिन्न प्रत्ययो ध्यानम् ।

—तेल की धारा के समान सतत एक ही प्रत्यय की धारा बहाना ध्यान है ।

दूसरे स्थान पर शंकराचार्य लिखते है

उपासन नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम् ।

—उपासनाका अर्थ समान प्रत्यय यानी एक ही प्रत्यय का प्रवाह बहाना है ।

पतजलि के योगसूत्र मे ध्यान की व्याख्या इस प्रकार है **तत्र प्रत्ययैकता ध्यानम्** । आत्मा या ईश्वर का चिन्तन करते-करते एक ही प्रत्यय मे तल्लीन हो जाना ध्यान है ।

भगवान् ने इस श्लोक मे ध्यानयोगी पुरुष को ध्यान सध जाने पर उसके चित्त की स्थिरता कैसी रहती है, उसकी ठीक-ठीक कल्पना कराने की दृष्टि से दीये की ज्योति की उपमा दी है ।

: २० :

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

यत्र=जिस ध्यानावस्था मे, **योगसेवया निरुद्धं चित्त**=ध्यान-योग के अभ्यास से पूर्ण निर्विचार यानी स्थिर बना चित्त, **उपरमते**=अत्यन्त शात हो जाता है, **च यत्र**=और जिस ध्यानावस्था मे, **आत्मना आत्मान पश्यन्**=स्थिर और निर्विचार चित्त से परमात्मा को देखनेवाला ध्यान-योगी, **आत्मनि तुष्यति**=परमात्मा मे ही सतुष्ट रहता है ।

इस श्लोक मे दो बाते है १ जिस ध्यानावस्था मे ध्यान-योग के अभ्यास से, विचाररहित निष्पद और स्थिर चित्त अत्यन्त शात हो जाता है और २. निर्विचार तथा अत्यन्त स्थिर चित्त से परमात्मा को देखनेवाला योगी परमात्मा मे ही सतुष्ट रहता है ।

(१) **यत्र योगसेवया निरुद्धं चित्त उपरमते ।** इस श्लोक मे ध्यान सधने के बाद जब ध्यान गहरा होता जाता है, तब चित्त की क्या स्थिति रहती है, इसका वर्णन है । चित्त अतिशात हो जाता है । परमात्मा का स्वरूप **शांतं शिवं अद्वैतम्** ऐसा माण्डूक्योपनिषद् मे कहा है । परमात्मा शात स्वरूप है, शिव यानी मगलस्वरूप—कल्याणस्वरूप है और अद्वैत है यानी वहाँ पर भेद मालूम नही होता । ध्यान गहरा हो जाने पर यह अनुभव आता है । ध्यान जब बहुत गहरा नही होता, तब भी शाति का अनुभव तो होता ही है । सामान्य शाति का अनुभव तो ध्यान थोडा-सा सध जाने पर भी होने लगता है । मगर अतिशाति यानी जिसे आनन्द कहते है, उसका अनुभव ध्यान की प्राथमिक स्थिति मे नही होता । जब ध्यान अधिक सघन और गहरा हो जाता है, तब आनन्द का अनुभव होता है । यह आनन्द जब और बढ जाता है, तब ध्यान से समाधि प्राप्त हो जाती है । समाधि मे आनन्द के उत्कर्ष का अनुभव होता है । इस अति-आनन्द की स्थिति का वर्णन आगे श्लोक २१, २२, २३ मे है । एक बात हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिए कि ध्यानावस्था का अनुभव यदि जाग्रत्-काल के सब व्यवहार मे न आया तो समझे कि वह अनुभव सीमित है । ध्यानावस्था या समाधि मे जो अनुभव आता है, उसे अतिम स्थिति मानने की गलती कई साधक कर बैठते है । ध्यान के अनुभव की कसौटी जाग्रत्-अवस्था का व्यवहार ही है ।

(२) दूसरी बात है **च यत्र आत्मना आत्मान पश्यन् आत्मनि तुष्यति** । ध्यान की जिस गहरी स्थिति मे आत्मना यानी स्थिर और निर्विकार

चित्त से, **आत्मानं पश्यन्** यानी अपना स्वरूप देखकर, यानी परमात्मा का अनुभव करते हुए **आत्मनि तुष्यति** परमात्मा मे सतुष्ट रहता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणो मे भगवान् ने दूसरे अध्याय के ५५वे श्लोक मे **आत्मनि एव आत्मना तुष्टः** कहा है। परमात्मा मे ही वह सतुष्ट रहता है। वैसे ही तीसरे अध्याय के १७वे श्लोक मे, **आत्म-रति, आत्मतृप्त** और **आत्मसंतुष्ट** ऐसे तीन शब्द ज्ञानी पुरुष के लिए आये है। यह आत्मसतोष की स्थिति परमात्मा के अनुभव मे प्राप्त हो सकती है और परमात्म-अनुभव भक्ति मे प्राप्त होता है। यो ध्यानावस्था मे भी प्राप्त होता है।

परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने के मुख्य तीन उपाय है १ ध्यान, २ ज्ञान, ३ भक्ति। गीता के १३वे अध्याय के २४वे श्लोक मे ये तीन उपाय वतलाये गये है। उस श्लोक मे ध्यान के लिए 'ध्यान' शव्द इस्तेमाल किया है। ज्ञान के लिए 'साख्य' शव्द का उपयोग किया है और भक्ति के लिए 'कर्म-योग' शव्द का उपयोग किया है। कर्म-योग यानी वाहर से सेवा और भीतर से परमेश्वर-शरणता यानी परमात्म-भक्ति। तीनो मे कर्म-योग का मार्ग श्रेष्ठ वतलाया है, क्योकि कर्म-योग-मार्ग मे दो चीजे है वाहर से सेवा और भीतर से भक्ति। दोनो साधना की दृष्टि से सुलभ है। सुल-भता ही उसकी श्रेष्ठता है। तुलसीदासजी कहते है

गुरु कह्यो राम भजन नीको।
मोहि लागत राज डगरो सो॥

अर्थात् गुरु ने कहा कि राम का भजन यानी राम-भक्ति वहुत सुन्दर है, क्योकि मुझे वही राजमार्ग लगता है। साधन-मार्ग मे भी भक्ति राजमार्ग है, क्योकि वाहर से सेवा और भीतर से भक्ति का योग होने से वह आचरण मे वहुत सरल, सुलभ हो जाती है।

: २१ :

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

यत्र=जिस ध्यानावस्था मे, **यत् आत्यन्तिक**=अतिशय पराकाष्ठा का, **बुद्धिग्राह्य**=वुद्धि से ग्रहण होने योग्य, **अतीन्द्रिय**=इद्रियो से परे, **सुख**=जो सुख है (उसे) **तत् वेत्ति**=वह जानता है, **च यत्र**=और ध्यान की गहरी अवस्था मे, **अय स्थितः**=यह ज्ञानी पुरुप परमात्मा मे स्थित होने पर, **तत्त्वत. न एव चलति**=परमात्म-तत्त्व से च्युत होता ही नही।

इस श्लोक मे मुख्यत दो वाते है १ जिस ध्यान की गहरी अवस्था मे यानी समाधि की अवस्था मे अतिशय पराकाष्ठा का और बुद्धि से ग्रहण करने-योग्य, लेकिन इद्रियो से परे जो सुख है, वह जानता है और २ उस समाधि-अवस्था मे परमात्मा मे स्थित होने पर यानी डूब जाने पर ज्ञानी उसमे से कभी हटता नही।

भगवान् इस श्लोक से २३वे श्लोक तक यानी तीन श्लोको मे ध्यान की गहरी अवस्था का यानी समाधि-स्थिति का वर्णन कर रहे है।

(१) पहली वात यह है कि ध्यान की गहरी अवस्था यानी समाधि मे जो सुख प्राप्त होता है, वह तीन प्रकार का होता है। पहला स्वरूप है वह सुख आत्यतिक यानी अतिशय पराकाष्ठा का रहता है। अर्थात् इस सुख से वढकर दूसरा कोई सुख नही।

सुख मे सासारिक सुख भी एक प्रकार है। ससारी लोगो को आत्यतिक सुख की यानी परा-काष्ठा के सुख की चाह नही रहती, सो वात नही। लेकिन ससार मे वह सुख मिल नही पाता। क्योकि ससार मे पराकाष्ठा का सुख मिलने की गुजाइश नही। पराकाष्ठा के सुख के लिए पदार्थ कायम रहना चाहिए। वस्तु कायम न रहे, हमेशा वदलती रहे, तो उसके सयोग से उसके सम्वन्ध से होनेवाला

सुख कायम नही रह सकता । वह सुख क्षणिक ही रहेगा । हमारा सबध पचविषयो से आता है । पचविषय ही हमारा जगत् है । कोई भी पदार्थ हो, उसमे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध ये पचविषय रहते ही है । और इन पचविषयो का ज्ञान हमे हो, इसके लिए हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है । आँख से रूप का ज्ञान होगा । कान से शब्द का ज्ञान होगा । नाक से गध का ज्ञान होगा । त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होगा और जिह्वा से रस का ज्ञान होगा । लोकमान्य तिलक कहते है कि यदि छठी इद्रिय हो तो आज जैसी सृष्टि दिखाई देती है वैसी नही दिखाई देगी । छठी इद्रिय से शायद छठा विषय भी मालूम होने लगेगा । पदार्थो का सयोग या सबध अनुकूल आया तो सुख होता है, प्रतिकूल आया तो दु ख होता है । इस तरह ससार मे हमेशा सुख और दु ख का अनुभव करना पडता है । अनित्य पदार्थो से सुख नही मिलेगा, सो बात नही । सुख अवश्य मिलेगा । मगर वह सुख हमेशा कायम नही रहेगा । लेकिन जब यह अनुभव आता है कि विषयो से अखड सुख मिल नही पा रहा है और भीतर अखड सुख की चाह बनी ही हुई है, तब सत्सग के प्रभाव से विषयो के प्रति वैराग्य लेकर मनुष्य अखड सुख की खोज मे प्रयत्नशील होता है ।

ध्यान अखण्ड सुखप्राप्ति का एक उपाय है । अभ्यास करते-करते ध्यान गहरा सध जाय तो गहरे ध्यान मे से अत मे समाधि का अनुभव हो सकता है । भगवान् इस श्लोक मे समाधि का ही वर्णन कर रहे है । समाधि-सुख सामान्य सुख नही है । दुनिया का कोई सुख उसकी बराबरी नही कर सकता । वह सुख अत्यन्त पराकाष्ठा का और अखड होता है, क्षणिक नही होता । बिजली की चमक के समान क्षणभर पराकाष्ठा का सुख हो तो भी मनुष्य को समाधान नही हो सकता । पराकाष्ठा का सुख भी अखड रहे तभी सतोष हो सकता है । समाधि मे जिस पराकाष्ठा के सुख का अनुभव आया, उसे बाह्य व्यवहार मे कायम रखने के लिए राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त रहना होगा । समाधि का सुख इसीलिए विशिष्ट अवस्था का सुख माना जाता है । विशिष्ट अवस्था का मतलब जब तक समाधि की अवस्था मे रहते है, तब तक वह अनुभव मे आयेगा । बाद में जाग्रत्-अवस्था मे समाधि के अनुभव की स्मृति रहेगी । अनुभव के बाद अनुभव की स्मृति रहती है । समाधि में जो पराकाष्ठा के आनन्द का अनुभव आता है, उसकी स्मृति इतनी आनन्द देनेवाली होती है कि जागृति की अवस्था मे हम जो व्यवहार करते है, उस पर उसका परिणाम निर्भर रहेगा । समाधि एक प्रकार का लय है । जाग्रत्-अवस्था मे लयवृत्ति के बदले विवेक-शक्ति जागृत रखने की जरूरत है । यदि विवेक जागृत न रहा तो राग-द्वेष टल नही सकते । राग-द्वेष हमेशा अविवेक से ही पैदा होते है । समाधि मे विवेक की जरूरत नही रहती । समाधि के अनुभव से एक लाभ यह हो सकता है कि विषयो के आकर्षण मे फँसने की सभावना कम हो जाती है ।

यहाँ समाधि-सुख के विषय मे तीन प्रकार का वर्णन किया है

(अ) समाधि मे प्राप्त होनेवाला सुख पराकाष्ठा का रहता है ।

(आ) वह सुख बुद्धिग्राह्य रहता है यानी बुद्धि से अनुभव में आता है । समाधि-सुख का अनुभव करने का साधन बुद्धि है । जिस बुद्धि मे हम जाग्रत्-काल के व्यवहार करते है, वही बुद्धि समाधि-सुख प्राप्त कर सकती है । समाधि-सुख प्राप्त करने के लिए बुद्धि की शुद्धता जरूरी है । अशुद्ध बुद्धि से समाधि-सुख प्राप्त नही होता । समाधि प्राप्त करने पर भी जाग्रत्-अवस्था मे राग-द्वेष खडे होने की सभावना है । यानी राग-द्वेष का बिलकुल क्षय हुए बिना भी समाधि प्राप्त हो सकती है । सूक्ष्म राग-द्वेष क्षीण न हुए हो, तो भी समाधि प्राप्त हो सकती है । क्योंकि समाधि एक

प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया वतलानेवाला कोई पुरुप मिल जाय तो प्रयत्न करने पर समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है। समाधि प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा मन मे होनी चाहिए। तीव्र जिज्ञासा के विना प्रयत्न सभव नही।

(इ) वह सुख अतीन्द्रिय होता है, इन्द्रियगम्य नही। जो सुख हमेशा अनुभव मे आता है वह इन्द्रिय-गम्य होता है। यह सुख भी आखिर मे तो वुद्धिगम्य ही होता है। लेकिन वुद्धि का सम्वन्ध सीधा विपयो के साथ नही आता, आ भी नही सकता। विपयो का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियो और मन के सम्वन्ध से होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ न हो तो पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता और कर्मेन्द्रियाँ न हो तो पदार्थ का उपभोग नही किया जा सकता। लेकिन ध्यान अथवा समाधि से जो सुख मिलता है, वह इद्रियगम्य नही होता। उसका सम्वन्ध सिर्फ वुद्धि से अथवा मन से ही रहता है। इसलिए ध्यान अथवा समाधि से पैदा होनेवाला सुख वाह्य-इद्रिय-निरपेक्ष और विपय-निरपेक्ष यानी विषयो के साथ सम्वन्ध आये विना होता है। वह केवल वुद्धिगम्य ही रहता है।

(२) दूसरी वात दूसरी अर्धाली मे वतायी है **यत्र अयं स्थितः न एव चलति**। जिस समाधि मे स्थित हो जाने पर वह कभी चलायमान नही होता। समाधि मे इतना अधिक सुख मिलता है कि मन उससे कभी हटना नही चाहता। वाह्य-सुख का स्वरूप ऐसा है कि वह सदा के लिए टिक नही पाता। वार-वार उसे प्राप्त करना पडता है। तो, भगवान् वतलाते है कि यह समाधि-सुख इस प्रकार का है कि उसमे कभी खड नही होता। इसलिए उसमे से मन कभी नही हटता; क्योकि मन को तो अखड सुख की इच्छा रहती है और अखड सुख वही मिलता रहता है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने भाष्य मे लिखा है "इस ध्यानयोग की साधना से जव इद्रियो का निरोध हो जाता है तव चित्त का परमात्मा से मिलन हो जाता है। जव चित्त विपयो को छोडकर अतर्मुख हो जाता है और आत्मस्वरूप को देख लेता है, तव तुरत चित्त को पहचान हो जाती है कि यह परमात्म-स्वरूप तो मै हूँ। परमात्म-स्वरूप मुझसे भिन्न वस्तु नही है। ऐसी पहचान होते ही चित्त सुख के साम्राज्य का भोग करने लगता है और परमात्मा के साथ एकरूप हो जाने से उसका चित्तपन नष्ट हो जाता है। जिस परमात्मा से और कोई चीज श्रेप्ठ नही और जिस परमात्मा को वाह्य इद्रियाँ कभी जान नही पाती, उस परमात्मा मे चित्त स्थित होकर अपनी जगह परमात्म-सुख मे मग्न रहता है।"

: २२ :

यं लव्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

य लव्ध्वा=जिस समाधि-सुख को प्राप्त कर लेने पर, **अपर लाभ**=और दूसरे किसी भी लाभ को, **तत. अधिकं न मन्यते**=उस समाधि-सुख से वढकर नही मानता, **च यस्मिन् स्थित**=और जिस समाधि-सुख मे स्थित होने पर, **गुरुणा अपि दु खेन**=भारी दु ख से भी (योगी), **न विचाल्यते**=विचलित नही होता।

इस श्लोक मे दो वाते है १ जिस समाधि-सुख को प्राप्त कर लेने पर दूसरा कुछ भी उससे वढकर नही लगता, और २ जिस समाधि-सुख मे स्थित होने पर कोई भारी दु ख आ पडे, तो भी योगी कभी विचलित नही होता।

(१) **यं लव्ध्वा अपरं लाभ ततः अधिकं न मन्यते**। ध्यान की गहरी स्थिति अर्थात् समाधि का वर्णन चल रहा है। पिछले श्लोक के क्रम मे यहाँ वता रहे है कि इस समाधि-सुख का अनुभव होने पर सव वाह्य अथवा आतरिक सुख तुच्छ लगने लगते है। लेकिन यह आत्यतिक सुख भी ऐसा है कि जव तक समाधि मे रहेगे, तभी तक उसका अनुभव रहेगा। समाधि से निकल जाने के वाद

उसकी स्मृति रहेगी, अनुभव नही रहेगा। चित्त मे प्रसन्नता रहेगी। इतना होते हुए भी वस्तुस्थिति यह है कि चित्त मे काम, क्रोध, अभिमान आदि जो विकार है, वे इस समाधि के अनुभव से क्षीण नही होते। विकारो को क्षीण करने के लिए जाग्रत्-काल मे कोशिश करनी चाहिए। इस दृष्टि से विनोबाजी का कथन सही है कि समाधि या ध्यान वृत्ति है, स्थिति नही। वृत्ति मे आवागमन यानी आना और जाना चालू रहता है। वृत्ति कायम नही रहती। समाधि-स्थिति का अनुभव दो, चार, पाँच, दस दिन ले सकते है, अखड नही ले सकते। क्योकि वह एक विशेष अवस्था है। जैसे निद्रा या स्वप्न का अनुभव जाग्रत्-काल मे टिक नही सकता। यहाँ यह दलील हो सकती है कि जाग्रत्-काल का अनुभव भी निद्रा मे या स्वप्न मे नही टिक पाता? उत्तर यह है कि जागृति मे इद्रियाँ जागृत रहने से उनका विषयो के साथ सम्बन्ध आने से कुछ-न-कुछ क्रिया या व्यापार करना पडता है। लेकिन गाढ निद्रा मे कोई क्रिया या व्यापार नही होता। वहाँ सबके अभाव का ही अनुभव आता है। कुछ नही है, ऐसी शून्यता का अनुभव उस निद्रावस्था मे चलता रहता है। इसलिए वह अवस्था ही ऐसी है कि विषय या इद्रियाँ कोई न रहने से उस स्थिति मे काम, क्रोध या अभिमान पैदा होने की स्थिति ही नही रहती। निद्रावस्था मे काम-क्रोधादि विकार सुप्त रहते है, क्षीण नही हो पाते। स्वप्न मे भी जो व्यापार या क्रियाएँ चलती है, वे सारी काल्पनिक रहती है यानी वहाँ विषयो के साथ इद्रियो का सम्बन्ध न आते हुए जागृति मे विषयो के साथ इद्रियो का सबध आने से जो वासना पैदा हुई हो, वह स्वप्न मे जागृत होती है, इसलिए जागृति का ही परिणाम स्वप्न-स्थिति मे रहता है। मतलब यह कि निद्रा, स्वप्न, जागृति, समाधि, ध्यान इन सब अवस्थाओ मे जाग्रत्-अवस्था ही मुख्य अवस्था मानी जायगी। क्योकि सिर्फ जाग्रत-अवस्था मे ही इद्रियो का विषयों के साथ सम्बन्ध आता है और तभी काम, क्रोध, अभिमान आदि विकारो का अनुभव आता है। विकारो को पोषण भी जाग्रत्-अवस्था मे मिलता है। मोक्ष का अनुभव भी जाग्रत्-अवस्था मे ही होता है। इसलिए हम ध्यान या समाधि की अवस्था मे जो भी पराकाष्ठा के आनन्द का अनुभव प्राप्त करे, वह अनुभव जाग्रत्-काल मे जितना टिकेगा, जितना उस अनुभव का जाग्रत्-काल के व्यवहार मे काम-क्रोध, अभिमान आदि विकारो को क्षीण करने मे उपयोग होगा, उतनी ही कीमत उस अनुभव की समझनी चाहिए, उससे ज्यादा नही। इस दृष्टि से जाग्रत्-काल मे परमात्मा के अखड अनुसधान मे अपने अहकार को खो देने मे परमात्मा की उत्कट भक्ति प्राप्त होने मे और उससे निर्विकार बनकर सर्व व्यवहार करने मे जो आनन्द का, शाति का अनुभव आयेगा, उसकी उत्कटता समाधि के आनन्द के अनुभव के मुकाबले मे भले ही कम लगे, लेकिन उसमे अखडता रहने से वह अवस्था बराबर बनी रहेगी। इसीसे मानसिक विकार नष्ट हो सकेगे। जब तक सारे विकार क्षीण नही होते, तब तक मोक्ष प्राप्त होना सभव नही। अतएव जाग्रत्-अवस्था के अनुभव को स्थिति कहेगे और समाधि की अवस्था को वृत्ति।

(२) दूसरी बात है '**यस्मिन् स्थित. गुरुणा अपि दु.खेन न विचाल्यते**। जिस समाधि मे स्थित होने से भारी दु ख आने पर भी योगी विचलित नही होता। दु ख तीन प्रकार के माने गये है आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। वैसे सब प्रकार के दु ख मन से ही भुगतने पडते है। इस तरह सब प्रकार के दु ख मानसिक ही है, ऐसा मान सकते है। फिर भी शारीरिक दु ख आधिभौतिक दु ख है। बाह्य पदार्थो से सम्बन्ध आने पर शरीर से जो दु ख भोगा जाता है, वह आधिभौतिक है। बीमारी, व्यापारिक हानि आदि दु ख आधिभौतिक है। अनावृष्टि, फसल नष्ट हो

जाना, विजली गिरना, भूकप होना, इस प्रकार के दैवी प्रकोप से जो दु ख होता है, जिसमे मनुष्य के कर्म का सीधा सम्वन्ध या मनुष्य के प्रयत्न का सीधा सम्वन्ध नही होता, उन आकस्मिक घटनाओ से होनेवाले दु ख आधिदैविक है। परमात्मा के दर्शन की, परमात्मा के स्वरूप का अनुभव लेने की प्रवल इच्छा होने पर भी दर्शन न होना, आध्यात्मिक साधना ठीक से न हो पाना, वैराग्य की चाह होने पर भी वैराग्य प्राप्त न होना, भक्ति प्राप्त न होना, इस प्रकार के दु ख आध्यात्मिक दु ख है। तीनो प्रकार के दु ख चाहे जितने भारी हो, उनका अनुभव समाधि-स्थिति मे नही होता, यह अर्थ तो ले ही सकते है। मगर मुख्य अर्थ यह है कि समाधि की स्थिति मे हाथ-पाँव काट लिये जायँ या हाथ-पाँव को जला दिया जाय तो भी समाधिस्थ पुरुप को उस समाधि-स्थिति मे कुछ भी भान नही होगा। उस स्थिति मे मृत्यु के समय की प्राणातक वेदना भी अनुभव मे नही आती।

एक मुसलमान साधु की कथा है कि युद्ध मे कोई तीर उनकी पीठ मे घुस गया। उस समय उस वाण को निकालने की कोशिश करने पर उसे वेदना मालूम होने लगी, इसलिए उस समय वाण को पीठ से निकाला नही गया। लेकिन जव वह नमाज मे बैठा तव परमात्मा मे इतना डूव गया कि उसकी समाधि लग गयी। तव शिष्यो ने वाण को पीठ से खीचकर निकाला और उसे कुछ भी वेदना का अनुभव नही हुआ।

समाधि वेहोशी की स्थिति नही है। वह तो भीतर परमात्मा मे डूवने की स्थिति है और वह विशिष्ट प्रकार से प्रखर साधना करने पर ही प्राप्त हो सकती है।

: २३ :

त विद्याद् दु.खसयोगवियोग योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

त=उस (समाधि की स्थिति) को, **दु:खसंयोग-वियोगं**=दु ख के सयोग के साथ का वियोग यानी जिस स्थिति मे दु ख का कभी भी स्पर्श नही होता, **योग-सज्ञितं**='योग' सज्ञा दी है, ऐसा, **विद्यात्**=समझना चाहिए, **सः योग.**=वह योग, **निश्चयेन**=निश्चयपूर्वक, **अनिर्विण्णचेतसा**=अखिन्न चित्त से, **योक्तव्य:**=साधना चाहिए।

इस श्लोक मे चार वाते है १ यह समाधि-स्थिति दु ख-विहीन है और २ इसे 'योग' नाम दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए। ३ यह समाधि-योग निश्चयपूर्वक और ४ प्रसन्नचित्त से साधना चाहिए।

(१) **तं दुःखसंयोगवियोगम्।** ऊपर तीन श्लोको मे जिस स्थिति का वर्णन किया, उसका नाम क्या रखा जाय, यह भगवान् पहले वता रहे है। हमे हमेशा दु ख का अनुभव होता रहता है, इसलिए दु ख को टालने की कोशिश करते रहते है। दु ख टालने की कोशिश का दूसरा नाम है सुख प्राप्त करना। लेकिन गीता-दर्शन की दृष्टि से सुख, शाति या आनन्द प्राप्त करने की चीज नही है। क्योकि प्राणीमात्र स्वभावत सुखस्वरूप, शाति-स्वरूप और आनन्दस्वरूप ही है। फिर भी उन्हे ऐसा अनुभव नही होता। इसका कारण यही है कि हमने अज्ञान से देह, मन, वुद्धि, इद्रियो आदि को ही अपना स्वरूप मान लिया है। आनन्दस्वरूप होने के कारण थोडा-सा दु ख भी हमे वरदाश्त नही होता। जिन चीजो से दु ख का अनुभव होता है, उनको टालने से सुख का अनुभव हो सकता है। वस्तुत देह, मन, वुद्धि या जगत् के पदार्थ दु ख के साधन नही है। इनसे जो सम्वन्ध आता है, वह भी दु ख-दायक नही है। असल मे उनके प्रति जो दृष्टि रखनी चाहिए, वह हम नही रखते। जगत् की तरफ देखने की हमारी जो दृष्टि है, उसमे सिर्फ वाह्य कार्य-दृष्टि न रहकर कारण-दृष्टि रहे तो दु ख का अनुभव नही होगा। प्रतिकूलता मे भी अनुकूलता

२ चेतन-स्वरूप यानी ज्ञानस्वरूप जीव के रूप मे । जड और चेतन दोनो स्वतत्र विभाग एक ही परमात्मा के दो रूप है । जड जगत् के रूप मे अनन्त पदार्थ मालूम होते है । चेतन-स्वरूप जो जीव का रूप है, उसमे भी अनन्त भेदयुक्त, अनन्त रूप नजर मे आते है । पशु, पक्षी और नाना प्रकार के छोटे-वडे जतुओ मे विविध भेद है । वैसे ही मनुष्य मे स्त्री, पुरुप आदि भेद; वाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ दीखती है। इस प्रकार एक ही परमात्मा अनन्त रूपो मे प्रकट हो रहा है ।

(२) दूसरी वात है सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति मुझसे होती है और प्रलय भी मुझमे ही होता है । वैसे जगत् अनादि है । यदि जगत् को आदि मान लिया जाय, तो वह ऊटपटॉग पैदा होता है, ऐसा मानना पडेगा । यानी पहले जगत् का अभाव रहता है और उस अभाव से जगत् पैदा होता है, ऐसा मानने की स्थिति आयेगी । फिर तो वालू मे से तेल पैदा होने लगेगा । पानी से मक्खन पैदा होने लगेगा। सवसे सव पैदा होने लगेगा । लेकिन ऐसा देखने मे नही आता । घडा मिट्टी से ही पैदा होता है, वस्त्र सूत से ही पैदा होता है, आम की गुठली से ही आम पैदा होते है, केले से केले पैदा होते है । इसका मतलव यह कि कारण मे कार्य पहले से ही मौजूद रहता है। उत्पत्ति के पहले वह अप्रकट या अव्यक्त रहता है और उत्पत्ति के वाद प्रकट या व्यक्त हो जाता है। उत्पत्ति के पहले कार्य कारण मे मौजूद न हो तो वह पैदा ही नही हो सकता । अत यह जगत् अपने कारण परमात्मा मे उत्पत्ति के पहले अव्यक्त रहता है, उत्पत्ति के वाद प्रकट होकर परमात्मा के सहारे रहता और प्रलय के समय परमात्मा मे लीन हो जाता है। इस तरह अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त, यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है । इसलिए परमात्मा जैसे अनादि है, वैसे ही परमात्मा से उत्पन्न जगत् भी अनादि है। यही वात तैत्तिरीय उपनिषद् के श्लोक (३ १) मे कही है

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयत्न्यभिसंविशन्ति । अर्थात्—'ये भूतमात्र परमात्मा से पैदा होते है, पैदा हुए सारे जीव परमात्मा के सहारे जीवित रहते है और प्रलयकाल मे परमात्मा मे विलीन हो जाते है ।'

सातवे श्लोक मे भी यही वात दुहरायी है ।

: ७ :

मत्तः परतरं नान्यत्किचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

धनंजय=हे धनजय, **मत्त· परतरं**=मुझसे श्रेष्ठ, **अन्यत् किंचित् न अस्ति**=दूसरा कुछ भी नही है, **सूत्रे मणिगणाः इव**=डोरे मे जैसे मणियाँ पिरोयी रहती है, **मयि इदं सर्वं प्रोतं**=वैसे मुझमे यह जगत् पिरोया हुआ है ।

इस श्लोक मे दो वाते है: १. जगत् मे मुझसे श्रेष्ठ कोई वस्तु नही है और २ धागे मे जिस तरह अनेक मणियाँ पिरोयी जाती है, उसी प्रकार मुझमे यह सारा जगत् पिरोया हुआ है ।

(१) **मत्तः परतरं अन्यत् किंचित् न अस्ति।** दुनिया मे मुझसे वढ़कर कोई श्रेष्ठ वस्तु नही है । जगत् एक कार्य है। उसका कोई कारण होना चाहिए। साख्यो ने जगत् का कारण जड़-प्रकृति माना और पुरुष को यानी आत्मा को स्वतंत्र माना। जड-प्रकृति स्वतत्ररूप से जगत् वना नही सकती । चेतन का आधार हो तो ही जड-प्रकृति जगत् वना सकती है । मिट्टी से स्वतत्ररूप से घडा वन नही सकता । कुम्हार का हाथ मिट्टी को लग जाय तो घडा वन सकता है । इसलिए जगत् वनानेवाला चेतन परमात्मा को ही मानना होगा। दूसरी वात यह कि कार्य कारण से भिन्न नही रहता और कार्य कारण का भास रहता है । अत. जगत्रूपी कार्य परमात्मरूपी कारण से भिन्न नही रहता और जगत् रूपी कार्य परमात्मरूपी कारण का भास है । जैसे

मटका मिट्टी का भास होने से सत्यवस्तु नही है, वैसे ही जगत् परमात्मा का भास होने से कोई स्वतत्र वस्तु नही है, इसलिए भगवान् इस श्लोक मे कह रहे है कि मुझसे दुनिया मे कोई श्रेष्ठ वस्तु नही है।

(२) दूसरी वात है : **मयि इदं सर्वं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**। डोरे मे जैसे मणियाँ पिरोयी रहती है, वैसे ही मुझमे यह सारा जगत् पिरोया हुआ है। जिस तरह माला मे अनेक फूल धागे मे पिरोये रहते है, वैसे ही सृष्टि के नाना पदार्थ एक ही परमात्मा मे पिरोये, गुँथे रहते है। मिट्टी एक रहती है, लेकिन उससे वननेवाले घडे अनेक रहते है और वे अनेक घड़े मिट्टी के साथ एकरूप रहते है। सोना एक होता है, उससे वननेवाले अलकार असख्य होते है और वे सोने मे पिरोये रहते है। समुद्र एक है, लेकिन वडी लहरे, छोटी लहरे, वुलवुले, फेन असख्य होते है और वे सारे समुद्र के साथ एकरूप रहते है। वैसे ही परमात्मा एक है और उससे वननेवाले सृष्टि के पदार्थ असख्य और परमात्मा से एकरूप है।

: ८ :

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणव. सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

अहं अप्सु=मैं पानी मे, **रसः अस्मि**=रस के रूप मे हूँ, **शशिसूर्ययोः**=चन्द्र और सूर्य मे, **प्रभा अस्मि**=प्रकाश के रूप मे हूँ, **सर्ववेदेषु**=सव वेदो मे, **प्रणव· अस्मि**=मै ॐ हूँ, **खे शब्दः अस्मि**=आकाश मे मैं शव्द के रूप मे हूँ, **नृषु पौरुष अस्मि**=मनुष्यो मे मैं पुरुषार्थ के रूप मे हूँ।

इस श्लोक मे पाँच विभूतियो का वर्णन है· १ पानी मे रस, २ चन्द्र और सूर्य मे प्रकाश, ३ चारो वेदो मे ॐकार, ४. आकाश मे शव्द और ५ मनुष्यो मे पुरुषार्थ के रूप मे मै हूँ।

वैसे तो भगवान् हरएक पदार्थ मे है। फिर भी प्रत्येक आदमी हर पदार्थ मे भगवान् का दर्शन नही कर सकता। सिर्फ ज्ञानी पुरुष हरएक पदार्थ मे भगवान् का दर्शन कर सकता है, उसे क्योकि अभेद या एकत्व की दृष्टि मिल गयी है। सव लोगो मे भेद-दृष्टि ही रहती है। इसलिए भेद-दृष्टिवाले सव अज्ञानी लोग भगवान् का कुछ दर्शन कर सके, ऐसी विभूतियाँ भगवान् इस श्लोक मे और आगे के चार श्लोको मे वता रहे है।

(१) अहं अप्सु रस.। पहली विभूति पानी है। मनुष्य के लिए पानी जीवन है। पानी के विना आदमी जी नही सकता, जव कि अन्न के विना आदमी कई दिनो तक रह सकता है। पानी के विना अनाज पैदा नही हो सकता। पानी के विना वृक्ष नही। हमारे शरीर मे भी पानी का भाग अधिक रहता है। खून मे पानी कम हो जाय तो उसके दौरे मे कमी आने लगती है। खाया हुआ अन्न विना पानी के हजम नही होता। ऐसे अतिमहत्त्व के पदार्थ को, जिसके साथ हमारा दिन-रात का सवध आता हो, देखकर परमात्मा का स्मरण होना चाहिए। पानी मे भगवान् किस रूप मे है, यह वताते है। भगवान् कहते है कि पानी मे मै रस के रूप मे हूँ। प्यास लगने पर पानी कितना मीठा लगता है। गरमी के दिनों मे ठढा पानी मिलने पर कितना आनन्द आता है, यह सवके अनुभव की वात है। स्नान करने के वाद आदमी को कितना अच्छा लगता है, यह सवको मालूम है। तो, पानी जैसे अद्भुत पदार्थ मे परमात्मा रस के रूप मे है।

(२) शशिसूर्ययोः प्रभा अस्मि। दूसरी विभूति है चन्द्र और सूर्य। सूर्य और चन्द्र के विना भी हम जी नही सकते। जव सूर्य का उदय होता है, तव हम उस उदय होनेवाले सूर्य के सामने खडे हो जायँ तो वह अद्भुत भव्य दृश्य देख नास्तिक के मन मे भी भाव पैदा हो सकता है। आस्तिक के मन मे परमात्मा का स्मरण तीव्रता से होने लगता है। अश्रुधाराएँ वहने लगती है। वेद मे सूर्य की उपासना को वहुत महत्त्व दिया गया है। उपनिषद् मे

सूर्य का दृष्टान्त अलिप्तता के लिए दिया है। कठोपनिपद् (२ २ ११) मे श्लोक है

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः
न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

अर्थात्–जैमे सूर्य सब लोगो की आँख है, फिर भी लोगो की आँखो के दोपो से वह कभी लिप्त नही होता, वैसे ही सब लोगो मे रहा हुआ, सब लोगो का अतरात्मा लोगो के दु ख से कभी दु खी नही होता यानी लिप्त नही होता।

सूर्य ने पृथ्वी को खीच रखा है। सूर्य के अस्तित्व पर पृथ्वी का अस्तित्व है। फिर चन्द्र कितना शीतल है। सूर्य की तरफ हम देख नही सकते और देखते है तो आँखे विगडेगी। लेकिन चन्द्रमा की तरफ हम घटो देख सकते है। प्रतिदिन चन्द्रमा की कला मे फर्क होता रहता है। यह चन्द्र का जो अद्भुत स्वरूप है, उसे देखते हुए चाद्रायण जैसे व्रत निश्चित किये गये है। चन्द्र का अस्तित्व न हो तो वनस्पतियाँ नही पनपेगी। चन्द्र मन का देवता माना जाता है और सूर्य आँख का देवता। इस तरह सूर्य और चन्द्र जैसे अद्भुत पदार्थो मे भगवान् प्रकाश के रूप मे प्रकट हुए है।

(३) तीसरी विभूति है: **सर्ववेदेषु प्रणवः।** सब वेदो मे प्रणव यानी ॐकार मै हूँ। वेद चार है: ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद। वेदो से उपनिषद् निकले है। वेद मे एक परमात्मा को ही सारे जगत् का मूल वताया है। परमात्मा अव्यक्त, निराकार, रूपरहित, अमर्यादित, अनन्त, इद्रियो से परे है। वही हम सबका स्वरूप है। उसका अखड स्मरण रहने लगे तो अखड शाति और आनन्द का अनुभव हो सकता है। ऐसे परमात्मा का अखड स्मरण किस नाम से किया जाय, यह सवाल खडा होता है। वेदो ने ॐ, यह नाम निश्चित किया। उस जमाने मे हजारो ने ॐकार का जप किया। कठोपनिपद् (१ २ १५) मे कहा है

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण
ब्रवीम्योमित्येतत्॥

अर्थात्–'सब वेद जिस पद का यानी जिस स्थान का वर्णन करते है और सब प्रकार के तप जिसका वर्णन करते है, जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचर्य का पालन करते है, वह पद यानी स्थान मै तुम्हे थोडे मे कहता हूँ। वह पद यानी स्थान है ॐ।

लेकिन यह ॐ नाम जपने मे थोडा कठिन है और निर्गुण है। इसलिए वाद मे कृष्ण, राम आदि सगुण नाम निकले और उनका सार्वत्रिक प्रचार हुआ है। भगवान् कहते है कि सब वेदो मे मै ॐ के रूप मे हूँ। ॐ वेदो का निचोड है।

(४) चौथी विभूति है: **खे शब्दः अस्मि।** आकाश मे मै शब्द के रूप मे हूँ। आकाश का वर्णन क्या किया जाय? परमात्मा की पहचान आकाश शब्द से की जाती है। आकाश अत्यन्त व्यापक, अत्यन्त अलिप्त, सारे ब्रह्माड को अपने मे समाविष्ट करता है। परमात्मा की तरह आकाश भी अतिसूक्ष्म है। उपनिपद् मे कहा है **आत्मनः आकाशः सभूत.।** परमात्मा से पहले आकाश पैदा हुआ। आकाश के वाद वायु, वायु के वाद अग्नि, अग्नि के वाद पृथ्वी। इस प्रकार पचमहाभूतो की उत्पत्ति का क्रम वतलाया है। आकाश न हो तो ब्रह्माड कहाँ रहेगा? आकाश के विना हमारा अस्तित्व ही नही है। आकाश की योग्यता ब्रह्म की तरह होने के कारण ब्रह्मसूत्र ग्रथ मे आकाश पैदा होता है या ब्रह्म की तरह आकाश पैदा नही होता, इसकी छानवीन की गयी और वताया गया कि यद्यपि आकाश ब्रह्म की तरह अत्यन्त व्यापक होने से पैदा नही होता, यही लग सकता है, फिर भी अन्य महाभूतो की

तरह आकाश भी पैदा होता है। वह अत्यन्त व्यापक होते हुए भी हवा, पानी, अग्नि, पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न है। भिन्न पदार्थ हमेशा उत्पत्ति के योग्य होते है। इसलिए आकाश पैदा होता है। परमात्मा की तरह वह अनादि नही। ऐसे अद्भुत आकाश मे शब्द के रूप मे भगवान् है। आकाश का गुण शब्द है। आकाश न हो तो शब्द सुनाई ही न देगा।

(५) पाँचवी विभूति है : **नृषु पौरुष अस्मि।** मनुष्यो मे मै पुरुषार्थ के रूप मे हूँ। पुरुषार्थ कई तरह के होते है। जिसमे अपना स्वार्थ सधता हो, लेकिन दूसरो का उसमे नुकसान न हो, ऐसा पुरुषार्थ ही सच्चा है। डाका डालना भी पुरुषार्थ है, लेकिन दूसरे का नुकसान करनेवाला होने के कारण त्याज्य है। एटम वम की खोज भी वड़ा पुरुषार्थ था, मगर वह सबका नुकसान करनेवाला होने के कारण त्याज्य ही है। जिसमे व्यक्ति का और समाज का कल्याण हो, किसीका नुकसान न हो, ऐसे पुरुषार्थ को ही पुरुषार्थ कहना चाहिए और ऐसे पुरुषार्थ सव लोग करते रहे तो सव समस्याएँ हल होती जायँगी। शकराचार्य ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे पुरुषार्थ के वारे मे लिखते है **ब्रह्मावगतिः पुरुषार्थः निःशेषसंसारबीजाद्यविद्यादिअनर्थनिबर्हणात्** । अर्थात्—'ब्रह्म का अनुभव प्राप्त करना पुरुषार्थ है, क्योकि ससार का बीज, जो अविद्या यानी अज्ञान आदिरूप अनर्थकारण है, ब्रह्म के अनुभव से उनका समूल नाश हो जाता है।

वड़े-वडे पुरुषार्थी भी काम, क्रोध, अहकार आदि विकारो को क्षीण करने मे असमर्थ होते है। जव तक काम, क्रोध आदि विकारो को हटाने मे हम असमर्थ है तव तक हमारे अन्य पुरुषार्थ अधूरे ही माने जायँगे। काम, क्रोध आदि विकारो को जीतना परम पुरुषार्थ है और यह परम पुरुषार्थ परमात्मा के अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्यो मे रहा हुआ यह परम पुरुषार्थ, परमात्मा का रूप है, परमात्मा की विभूति है।

: ९ :

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

च पृथिव्या=और पृथ्वी मे, **पुण्यः गध**=सुवास हूँ, **च विभावसौ**=और अग्नि मे, **तेजः अस्मि**=तेज हूँ, **सर्वभूतेषु**=सव भूतो मे, **जीवन अस्मि**=जीवन हूँ, **च तपस्विषु**=और तपस्वियो मे, **तप· अस्मि**=तप मैं हूँ।

इस श्लोक मे चार विभूतियो का वर्णन है १ पृथ्वी मे मै सुवास हूँ। २ अग्नि मे तेज हूँ। ३. सव भूतो मे जीवन यानी आयुष्य हूँ। ४. तपस्वियो का तप मै हूँ।

(१) **पृथिव्यां पुण्यः गंधः अस्मि।** पृथ्वी मे जो सुवास, सुगध है, वह मेरा रूप है। सूर्य, पानी, चन्द्र, आकाश ये जैसे अद्भुत पदार्थ है, वैसे ही पृथ्वी भी एक अद्भुत पदार्थ है। पृथ्वी वडी तेजी से, एक सेकड मे २० मील की गति से, घूम रही है, फिर भी उसकी आवाज सुनाई नही देती, यह कितनी अद्भुत वात है! इस पृथ्वी पर कितना विशाल समुद्र है। असख्य वृक्ष है, कितने वडे-वडे पहाड, कितनी नदियाँ, भूगर्भ मे कितनी खाने है, पेट्रोल, किरासिन, कोयला, सोना, अभ्रक, लोहा, चाँदी सव इस अद्भुत पृथ्वी मे भरा पडा है। ऐसी पृथ्वी मे भगवान् कहाँ है, किस रूप मे है? भगवान् कहते है कि पृथ्वी की जो सुगध है, उस रूप मे मै हूँ। पृथ्वी की सुगध का ज्ञान जून की पहली वर्षा मे होता है।

(२) दूसरी विभूति है · **विभावसौ तेज· अस्मि।** अग्नि मे मै तेज के रूप मे हूँ। अग्नि के दो गुण है—तेज और प्रकाश। लेकिन प्रकाश स्वतत्र पदार्थ नही है। तेज मे प्रकाश आ जाता है तेज ही प्रकाशमय रहता है। यह अग्नि कितनी अद्भुत है! ब्रह्माड के सव पदार्थो मे व्याप्त है। रात मे कम्वल मे थोडा घर्षण होता है और अग्नि दिखाई पडती है। घर्षण से अग्नि प्रकट होती है।

अग्नि न हो तो जीना असभव हो जायगा। अन्न के विना हम जी नही सकते और भोजन अग्नि के द्वारा ही पकता है। अग्नि की साक्षी मे शादी होती है। वानप्रस्थाश्रम मे जब अग्निहोत्र लिया जाता है, तब दो अग्नि-कुड रहते है और उनमे अग्नि चौवीसो घटे प्रज्वलित रखनी पडती है। अग्निहोत्री को अग्नि की अखड उपासना करनी पड़ती है। कठोपनिषद् (२२९) मे अग्नि के बारे मे दृष्टान्त दिया है·

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥

–जिस प्रकार अग्नि एक होते हुए हरएक पदार्थ मे प्रवेश करके वस्तु के अनुसार उस वस्तु के आकार की हो जाती है, वैसे ही सब भूतो मे रहनेवाली आत्मा, अतरात्मा, जिस देह मे प्रवेश करती है, उस देह की उपाधि के अनुसार हो जाती है यानी दिखाई देती है। फिर भी आत्मा अलिप्त रहती है।

घडे का आकाश घडे की तरह हो जाता है। मगर घडे से वह अलिप्त रहता है और बाहर के आकाश और घडे के आकाश मे भेद नही पड़ता, दोनो एक ही है। वैसे ही आत्मा देह की उपाधि की तरह होने पर भी देह से अलिप्त रहती है और ब्रह्माड मे भीतर-बाहर एक ही रहती है। इस तरह अग्नि मे परमात्मा तेज और प्रकाश के रूप मे प्रकट है।

(३) तीसरी विभूति है· **सर्वभूतेषु जीवनं अस्मि**। सब भूतो मे यानी प्राणिमात्र मे जो आयुष्य है, वह भगवान् का रूप है। देह मे आत्मा प्रकट रहती है, तब तक देह जीवित रहती है। जब आत्मा देह से अप्रकट हो जाती है तब देह जला दी जाती है। देह का सारा आयुष्य इस तरह परमात्मा के अस्तित्व पर निर्भर है। यह भी कितनी अद्भुत बात है कि जब तक आत्मा देह मे प्रकट रहेगी, तब तक देह जीवित रहेगी और परमात्मा देह मे रहते हुए अपने को जब अव्यक्त कर देता है, तब देह की कीमत शून्य हो जाती है। देह, मन, बुद्धि, इंद्रियाँ सबकी क्रियाएँ देह मे परमात्मा के प्रकट रहने से होती है। देखना, सूँघना, खाना, सुनना, सब क्रियाएँ चैतन्यस्वरूप परमात्मा से ही होती रहती है। लेकिन यह चीज हमारे ध्यान मे नही आती और अहंकार-वश होकर ऐसा मानते है कि हम ही सब क्रियाएँ करते है। यह हमारा कितना अज्ञान है! अत. भगवान् यहाँ कहते है कि प्राणिमात्र मे जो आयुष्य है, वह मै हूँ।

(४) चौथी विभूति है. **तपस्विषु तपः अस्मि**। तपस्वियों मे जो तप दिखाई देता है, वह मैं हूँ। १७वे अध्याय में कायिक वाचिक और मानसिक तीन तरह का तप बतलाया है। यह तप चित्त-शुद्धि के लिए किया जाता है। चित्तशुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से मोक्ष, यह साधना का क्रम है। इसलिए १८वे अध्याय के ५वे श्लोक मे कहा है: "यज्ञ, दान और तप ये तीन कभी छोड़ने नही चाहिए। ये तीनो ज्ञानी पुरुष के लिए भी पावक है, यानी चित्त-शुद्धि मे वृद्धि करनेवाले है।" जो तप शरीर को क्षीण करता है, वह योग्य नही है। शरीर को स्वस्थ रखनेवाला तथा वैराग्य और त्याग वढानेवाला तप साधना मे बहुत सहायक है। उपनिषद् मे तो यह कहा है कि सृष्टि पैदा करने के पूर्व परमात्मा ने भी तप किया।

: १० :

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

पार्थ मां=हे अर्जुन, मैं, **सर्वभूताना**=सब भूतो का, **सनातन बीज**=सनातन बीज हूँ, **विद्धि**=(ऐसा) समझो, **बुद्धिमतां बुद्धिः**=बुद्धिमान् पुरुषो मे जो बुद्धि है, **अस्मि**=(वह) मैं हूँ, **तेजस्विना तेज**=तेजस्वियो मे जो तेज, यानी प्रगल्भता है, **अह अस्मि**=वह मैं हूँ।

इस श्लोक मे तीन विभूतियो का वर्णन है . १. सब भूतो का मैं सनातन बीज हूँ यानी मुझ-से ही सब भूत पैदा होते है। २ बुद्धिमान् यानी विवेकी पुरुषो मे बुद्धि यानी विवेक-शक्ति मैं हूँ। ३ तेजस्वी पुरुषो मे जो तेज यानी महत्ता, श्रेष्ठता, बड़प्पन, निपुणता दिखाई देती है, वह मैं हूँ।

(१) पहली विभूति है . **मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि।** सब भूतो मे निहित जो सनातन बीज है, वह मैं हूँ, ऐसा समझो। जगत् कार्य है तो उसका कोई कारण होना चाहिए। जैसे बीज मे से वृक्ष पैदा होता है इसलिए बीज कारण है और वृक्ष कार्य है, वैसे ही भगवान् सब प्राणिमात्र का मूल बीज है और उससे जगत्रूपी सारा कार्य पैदा हुआ है। इसलिए परमात्मा सबका कारण है और जगत् कार्य है। कार्यरूप जगत् मे निरतर उलटफेर होते रहते है। कोई भी वस्तु एक स्थिति मे दिखाई नही देती। लेकिन परमात्मा मे कभी परिवर्तन नही होता। वह अपरिवर्तनशील है। इसलिए भगवान् सनातन बीज है।

(२)दूसरी विभूति है **बुद्धिमतां बुद्धि अस्मि।** बुद्धिमान् पुरुषो की बुद्धि यानी विवेक मैं हूँ। लोगो मे बुद्धिमान् का अर्थ विवेकीपुरुष नही समझा जाता। जब हम कहते है कि यह आदमी बडा बुद्धिमान् है, तब हमारे कहने का भावार्थ यह होता है कि उसकी ज्ञान-ग्रहण-शक्ति तीव्र है। लेकिन ऐसे बुद्धि-मान् आदमी चारित्र्यहीन, नीतिहीन, धर्मविहीन भी हो सकते है। इसलिए यहाँ पर **बुद्धिमतां** का अर्थ शकराचार्य **विवेकशक्तिमतां** करते है और बुद्धि का अर्थ **अंतकरणस्य विवेकशक्तिः** करते है। **विवेक-शक्तिमतां** अर्थात् जिनमे विवेक शक्ति है, यानी सत्-असत्, कार्य-अकार्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, योग्य-अयोग्य के सम्बन्ध मे जो अचूक विवेक करते है और उस विवेक के अनुसार जो चलते है, वे विवेक-शक्ति से सम्पन्न माने जायँगे। विवेक-शक्ति का सम्बन्ध आचरण के साथ है। बुद्धि मन्द होने पर भी जिनका चित्त शुद्ध है, यानी जिनका आचरण हमेशा उच्च कोटि का है, जो अतिसयमी है, जिनमे वैराग्य है, जिनमे परमात्म-भक्ति है, वे बुद्धिमान् यानी विवेक-सम्पन्न है, ऐसा कहा जायगा। ऐसे बुद्धिमान् यानी विवेकसम्पन्न पुरुषो मे जो बुद्धि यानी शकराचार्य की भाषा मे अतकरण की जो विवेक-शक्ति है, वह मैं हूँ, यानी विवेक-शक्ति के रूप मे मैं प्रकट हुआ हूँ, ऐसा समझना चाहिए।

(३) तीसरी विभूति है . **तेजस्विनां तेजः अहं अस्मि।** तेजस्वी पुरुषो मे यानी महान् पुरुषो मे जो तेज यानी महत्ता दिखाई देती है, वह मैं हूँ। तेजस्वी पुरुष यदि गृहस्थाश्रमी है, तो उन्हे ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होना ही चाहिए। ब्रह्मचर्य-पालन के बिना किसीमे तेज दिखाई नही देगा। बिना ब्रह्म-चर्य-पालन के कोई महान् नही बन सकता। गाधीजी कहते थे कि मुझमे जो शक्ति प्रकट दिखाई दे रही है, वह दीर्घकाल तक के ब्रह्मचर्य-पालन की वजह से है। यहाँ 'तेजस्वी' शब्द ब्रह्मचर्य-सम्पन्न पुरुष के लिए आया है। ब्रह्मचर्य का काया, वाचा, मन से सूक्ष्म पालन करने से मनुष्य की अव्यक्त शक्तियाँ प्रकट होने लगती है। ऐसे पुरुष विवेक-शक्ति से सम्पन्न हो जाते है। ऐसे पुरुषो मे महत्ता दिखाई देने लगती है। परमात्मा के नजदीक पहुँच जाने से परमात्मा ही उनके जरिये अपना कार्य कराता रहता है। गाधीजी कहते थे कि समुद्र का बिन्दु जब तक समुद्र के साथ रहता है तभी तक समुद्र की सत्ता उसे मिलती है, लेकिन जब बिन्दु समुद्र से अलग हो जाता है, तब वह सूख जाता है। वैसे ही जो जीव अपनापन मिटाकर परमात्मा मे अपने को एकरूप कर देता है, वह महान् बन जाता है, महात्मा बन जाता है। जो अपनापन रखने जाता है, वह अल्प रहता है, वह कभी महान् नही बन सकता।

: ११ :

वलं वलवता चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥

च कामरागविवर्जितं=काम और राग से रहित, वलं=(ऐसा जो) वल, वलवता=वलवानो मे (होता है वह), अह अस्मि=मैं हूँ, भरतर्षभ=हे अर्जुन, भूतेषु=प्राणिमात्र मे, धर्माविरुद्ध. कामः=जो धर्म के विरुद्ध न हो, ऐसा काम, अह अस्मि=मैं हूँ ।

इस श्लोक मे दो विभूतियाँ वतायी है १. काम और राग से रहित, जो वल शक्ति-सम्पन्न पुरुषो मे दिखाई देता है, वह वल मै हूँ और २ भूतो मे यानी प्राणिमात्र मे धर्म के अविरुद्ध यानी धर्मयुक्त काम मै हूँ ।

(१) **वलवता वलं अह अस्मि ।** वलवान्, शक्ति-सम्पन्न पुरुषो मे जो वल दिखाई देता है, वह यदि काम-राग-विवर्जित है तो वह वल, वह शक्ति मै हूँ। यहाँ 'काम' और 'राग' ये दो शव्द आये है । काम और राग का अर्थ शकराचार्य ने इस प्रकार किया है **काम· असन्निकृष्टेषु विषयेषु तृष्णा, रागः प्राप्तेषु विषयेषु रंजना ।** अर्थात्–'जो विषय पास नही है, यानी प्राप्त नही है, वे विषय प्राप्त हो, ऐसी तीव्र इच्छा, तीव्र लालसा रखना काम है और जो विषय प्राप्त हो गये है उनके वारे मे प्रीति, प्रेम, या आसक्ति रखना राग है ।'

फिर आचार्य कहते है **ताभ्यांविवर्जितं देहादि-धारणमात्रार्थं वलं अह अस्मि, न तु यत् ससारिणा तृष्णारागकारणं ।** अर्थात् 'उनसे यानी काम और राग से वर्जित सिर्फ देह धारण करना, यही जिस वल का उद्देश्य है, ऐसा वल–शक्ति मै हूं । लेकिन जो वल ससारी लोगो के तृष्णा और राग से पैदा हुआ है, वह वल मै नही हूँ ।'

रावण और हनुमान् दोनो मे वल था । दोनो शक्ति के नमूने थे । लेकिन रावण का वल आसुरी था, सवका विनाश करनेवाला था । हनुमान् का वल दैवी था, वह सवका कल्याण करनेवाला था । सीता का हरण करने मे रावण को कोई क्षोभ नही हुआ । रावण मे यह जो अनैतिक वल था, उसे प्राप्त करने की चेष्टा की जाय तो सर्व-विनाश के सिवा और कोई फल प्राप्त नही होगा । आज यूरोप के सारे वडे राष्ट्र रावण का राक्षसी वल वढाने मे व्यस्त है । लेकिन भारत मे हनुमान् के वल को महत्त्व दिया गया । हनुमान् को रामचन्द्रजी के साथ मदिर मे स्थान दिया गया । इतना ही नही, हनुमान् के छोटे-छोटे असख्य मदिर भी स्वतत्ररूप से खडे किये गये । हनुमान् के वल की उपासना करने मे ही मानवता है, यह भारत का मत्र है । इसलिए हिन्दुस्तान ने किसी भी राष्ट्र पर कभी भी आक्रमण नही किया । **अहिंसा** हमारा परम-धर्म हो गया । अत भगवान् कह रहे है कि काम यानी तृष्णा और राग यानी आसक्ति से रहित जो वल है, वह मै हूँ ।

(२) दूसरी विभूति है **धर्म अविरुद्धः भूतेषु कामः अस्मि ।** धर्म के विरुद्ध जो न हो, वह काम या वासना मै हूँ । धर्म के खिलाफ अनेक वासनाएँ रहती है । वैसे ही धर्म के खिलाफ न हो, ऐसी भी अनेक प्रकार की वासनाएँ होती है । तो धर्म के खिलाफ न हो, ऐसी अनेक प्रकार की वासनाएँ भगवान् का स्वरूप है । थोडे मे शुभ-वासना के रूप मे भगवान् प्रकट है, ऐसा उसका अर्थ है ।

लेकिन यहाँ 'काम' शव्द एकवचन मे प्रयुक्त है । वहु-वचन मे प्रयुक्त होता तो 'अनेक शुभवासनाएँ' यह अर्थ लिया जा सकता था । मगर एकवचन मे 'काम' शव्द प्रयुक्त होने से उसका विशेष अर्थ लेना चाहिए । काम यानी प्रजोत्पत्ति के लिए जिस काम की जरूरत है, वह काम । ज्ञानेश्वर महाराज ने यही अर्थ लिया है । इसका मतलव यह कि केवल प्रजोत्पत्ति की दृष्टि से जो कामना होगी, वह धर्मयुक्त मानी जायगी । सुख की दृष्टि से, भोग-विलास की दृष्टि से स्त्री-पुरुष-समागम धर्मयुक्त नही माना जा सकता । सतान की भी मर्यादा रहनी चाहिए ।

दूसरा भी एक अर्थ है, जो शकराचार्य ने किया है . **यथा देहधारणमात्राद्यर्थ : अशनपानादिविषयः कामः।** अर्थात्—जैसे सिर्फ देह-धारण और उसके समान और जो आवश्यक कार्य होगे, ऐसे भोजन, जलपान आदि जो काम यानी इच्छा है, वह मै हूँ।

सिर्फ देह-धारण करना और उसके जरिये धर्माचरण की इच्छा रखना धर्मयुक्त होने से भगवान् उसमे प्रकट हुए, ऐसा कह सकते है। देह-धारण के लिए भोजन, जलपान की इच्छा रखनी होगी और धर्माचरण की इच्छा रखने से ही दोनो कार्य होगे। देह-धारण भी धर्माचरण के लिए ही होना चाहिए। ज्ञानी पुरुषो को भी देह धारण करनी पडती है और उनसे लोक-सेवा के कार्य सहज मे होते रहते है। लोकसेवा के कार्यो मे भी योजना आदि बनानी पडती है और उसकी इच्छा रखनी पडती है। वह शुद्ध इच्छा भगवान् का ही स्वरूप है, ऐसा समझना चाहिए। विनोबाजी भी यही अर्थ करते है। वे कहते है कि "देह के आधार से धर्माचरण हो सकता है, इसलिए देह-धारण की इच्छा धर्म के अनुकूल है। देह-धारण भी धर्म-मार्ग से ही होना चाहिए।"

८वे श्लोक मे पाँच विभूतियाँ, ९वे श्लोक मे चार विभूतियाँ, १०वे श्लोक मे तीन विभूतियाँ और ११वे श्लोक मे २ विभूतियाँ, कुल मिलाकर १४ विभूतियोका वर्णन इन चार श्लोको मे हुआ है।

: १२ :

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

च ये सात्त्विकाः भावाः=और ये जो सात्त्विक पदार्थ हैं, ये राजसा च तामसाः भावा =(और) राजसिक, तामसिक पदार्थ हैं, तान् मत्तः एव=वे सब मुझसे ही पैदा हुए हैं, इति विद्धि=ऐसा समझो, तु अहं तेषु न= लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ, ते मयि=वे मेरे अधीन हैं।

यहाँसे नया प्रकरण शुरू होता है। इस श्लोक मे तीन बाते बतायी है १. सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, जितने पदार्थ है, २ वे सब मुझसे ही पैदा हुए है, ऐसा समझो, ३ मै उनके अधीन नही हूँ, वे सब पदार्थ मेरे अधीन है।

(१) **ये सात्त्विकाः राजसाः तामसाः भावाः।** जगत् मे जितने भी पदार्थ है, उनके तीन वर्ग है। यह वर्गीकरण कपिल महामुनि का है। उच्च, मध्य, कनिष्ठ, ऐसे तीन भेद व्यवहार मे हमेशा चलते रहते है। सारे जड पदार्थ पत्थर, मिट्टी आदि तामसिक यानी निरीन्द्रिय कोटि मे गिने जाते है। वृक्ष आदि पदार्थ जिनमे कुछ चेतन का आविष्कार ज्यादा दिखाई देता है, वे भी तामसिक यानी निरीन्द्रिय माने जाते है। सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, अग्नि, पानी की गणना भी तामसिक यानी निरीन्द्रिय पदार्थो मे कर सकते है। पृथ्वी के सारे जड पदार्थ जिनमे इद्रियाँ नही दिखाई देती है यानी जितनी निरीन्द्रिय सृष्टि है, वह सब तामसिक यानी निम्नकोटि की मानी जायगी। सेन्द्रिय यानी इन्द्रिययुक्त सृष्टि मे कीडे, पक्षी, पशु आदि जीव है। मगर जिनमे बुद्धि-शक्ति यानी विवेक-शक्ति दिखाई नही देती, उनकी गणना राजसी मे यानी मध्यम कोटि मे की जायगी। मनुष्य मे बुद्धि-शक्ति यानी विवेक-शक्ति, नीति-अनीति की, धर्म-अधर्म की कल्पना पायी जाती हैं, इसलिए मनुष्य की सात्त्विक यानी उत्तम श्रेणी मे गणना की जायगी। यह वर्गीकरण सारे ब्रह्माड का खयाल करके किया है। लेकिन सिर्फ मनुष्य-कोटि का ही वर्गीकरण किया जाय तो मनुष्य मे भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक, ऐसे भेद पाये जाते है। वैसे ही वृक्ष-कोटि का वर्गीकरण किया जाय तो वृक्षो मे भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेद मिलेगे। पशुओ मे भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेद है। गाय सात्त्विक है। भैंस राजसिक, गधा तामसिक। हिंस्र पशुओ के भी इस तरह तीन भेद होगे। सृष्टि मे जितने भी पदार्थ है,

उनके सात्त्विक, राजसिक, तामसिक तीन वर्ग हो जाते हैं।

(२) दूसरी वात है : **मत्तः एव इति तान् विद्धि।** जितने भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक पदार्थ है, वे मुझसे ही पैदा हुए है, ऐसा समझो। त्रिगुणात्मक जड-प्रकृति से जगत् पैदा होता है, ऐसा साख्य मानते है, लेकिन गीता के अनुसार जड़-प्रकृति से यह विशाल जगत् पैदा नही हो सकता। घर वनाना हो तो चेतन की जरूरत है, ईंटे तैयार करना, मटका वनाना हो तो कुम्हार की, कपडा वनाना हो तो वुनकर की जरूरत रहेगी। तो इतने वडे विशाल जगत् की रचना जिसकी मन से भी कल्पना नही कर सकते, अचेतन प्रकृति, जिसमे ज्ञान-शक्ति नही होती, कैसे कर सकती है? इसलिए ज्ञानस्वरूप परमात्मा से ही यह जगत् पैदा हो सकता है। मुंडकोपनिषद् (१ १ ७) मे कहा है

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

'जिस तरह मकडी अपने से धागा वना लेती है और उसको धारण कर घर वना लेती है, और जिस तरह पृथ्वी से नाना प्रकार की वनस्पतियाँ पैदा होती है, और जिस तरह जीवित मनुष्य से, वाल और नाखून पैदा होते है, वैसे ही अक्षर यानी अविनाशी परमात्मा से जगत् पैदा होता है।

(३) तीसरी वात है . **अहं तेषु न ते मयि।** मैं उनमे नही रह सकता, यानी मैं उनके अधीन नही रहता। मिट्टी से वना हुआ घडा मिट्टी के ही अधीन रहता है। कारण से वने कार्य का कारण के अधीन रहना स्वाभाविक है। जगत् के सव पदार्थ परमात्मा से ही पैदा होने के कारण सारा ब्रह्माड परमात्मा के अधीन रहता है। ब्रह्मांड के अधीन परमात्मा नही है, क्योकि ब्रह्माड के सारे पदार्थ जड़ है और परमात्मा चेतन-स्वरूप है। जड के अधीन चेतन न रहकर, चेतन के अधीन जड रहता है। एक वडा भारी इजिन घटे मे ५०-६० मील की गति से दौडता है और कितने आदमियो को खीच ले जाता है और कितना सामान खीच ले जाता है। लेकिन उसको वनानेवाला चेतन होता है, चलानेवाला चेतन होता है और रोकनेवाला भी चेतन होता है। वह इजिन पूर्णतया चेतन के अधीन ही रहता है।

: १३ :

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

इदं जगत्=यह सारा जगत्, **एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः**=सात्त्विक, राजसिक, तामसिक ऐसे त्रिगुणात्मक पदार्थो से, **मोहितं सत्**=मोहित होकर, **एभ्यः परं अव्ययं मा**=इन तीन गुणो से परे और अविनाशी मुझे (परमात्मा को), **न अभिजानाति**=नही जानता।

इस श्लोक मे दो वाते है १ यह सारा जगत् सात्त्विक, राजसिक, तामसिक इन तीन गुणो से मोहित, लुब्ध, आसक्त होकर, २. इन तीन गुणो से परे, एव श्रेष्ठ और अविनाशी मुझ (परमात्मा) को नही जानता।

(१) **इदं जगत् एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः मोहितं सत्।** मैंने यह जो त्रिगुणात्मक जगत् पैदा किया, उसमे सव प्राणी मोहित हो जाते है। जगत् के सारे पदार्थ विनाशी है। लेकिन इस ज्ञान का हमारे चित्त पर वहुत असर नही होता। ब्रह्माड मे दो ही चीजे है १ सारा त्रिगुणात्मक व्यक्त जगत् और २ त्रिगुणात्मक जगत् के पीछे अव्यक्त परमात्मा। जगत् परमात्मा का भास है, जैसे कि मटका मिट्टी का भास है, कपडा सूत का आभास है या अलकार सोने का भास है। जगत् परमात्मा का भास होने से असत्य-

ही सुवर्ण के अनेक अलकार वनाते है, मगर उन अलकारो मे जो अच्छे आकार के होते है, उन पर हम मोहित हो जाते है। मोहित ही होना हो, तो सुवर्ण पर मोहित होना चाहिए। भगवान् कहते है कि पदार्थो पर मोहित होने से उन पदार्थो मे छिपकर रहा हुआ अविनाशी और पदार्थो के परे जो मै (परमात्मा) हूँ, उसे जान नही सकते। निष्कर्ष यह कि यदि परमात्मा को जानना है तो पचविपयो का मोह छोडना चाहिए। विना मोह छोडे परमात्मा को जानना शक्य नही है। सत तुलसीदासजी लिखते है

विनु सतसंग न हरि कथा, तेहि विनु मोह न भाग।
मोह गये विनु राम पद, होइ न दृढ अनुराग॥

'सत्सगति के विना हरि-कथा पर प्रेम पैदा नही हो सकता और विपयो की प्रीति नही छूटती। जव तक मोह नही छूटता तव तक राम-पद के वारे मे दृढ अनुराग, प्रेम पैदा नही हो सकता।'

: १४ :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

हि एषा मम=क्योकि यह मेरी, **दैवी गुणमयी माया**=अलौकिक त्रिगुणात्मक माया, **दुरत्यया (अस्ति)**=लाँघना वहुत कठिन है, **मा एव ये**=मेरा ही जो पुरुष, **प्रपद्यन्ते**=आश्रय लेते है, **ते एता मायां**=वे इस माया को, **तरन्ति**=तर जाते हैं।

इस श्लोक मे दो वाते है १ मेरी यह दिव्य यानी अलौकिक माया-शक्ति जो सत्त्व, रज, तम इन गुणो से युक्त है, पार करना—उसे जीतना वहुत ही कठिन है। २ लेकिन जो मेरी शरण लेते है, जो मुझे ही सर्वस्व मानकर जीते है, वे इस दुस्तर माया को अवश्य तर सकते है।

(१) पहली वात है: **एषा मम दैवी गुणमयी माया दुरत्यया अस्ति**। मेरी यह जो अलौकिक माया-शक्ति है, उसे तर जाना वहुत ही कठिन है। परमात्मा मे दो शक्तियाँ है: एक, चैतन्य-शक्ति और दूसरी, सर्ग-शक्ति। माया-शक्ति के वारे मे ब्रह्मसूत्र भाष्य मे शकराचार्य ने लिखा है:

सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य आत्मभूत. इव अविद्याकल्पितेन नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यां अनिर्वचनीये संसार-प्रपंचवीजभूते सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य माया प्रकृतिः शक्तिः इति श्रुतिस्मृत्योः अभिलप्येते।

अर्थात्—"सर्वज्ञ ईश्वर के साथ मानो जो एकरूप ही है, अज्ञान मे सच्चे माने हुए नाम-रूप जिसमे वीजरूप मे रहते है, 'परमात्मा से भिन्न है याअभिन्न' यह वाणी मे कहना अशक्य होने से जो अनिर्वचनीय है, ससाररूप प्रपच के लिए जो वीजरूप और सर्वज्ञ ईश्वर है, उसकी यह माया, प्रकृति या शक्ति है, ऐसा श्रुति और स्मृति मे कहा है।"

यह माया-शक्ति सर्वज्ञ ईश्वर के साथ मानो एकरूप ही है। इस माया-शक्ति मे यह नाम-रूपात्मक जगत् शुरू मे अव्यक्त वीजरूप मे रहता है। यह माया परमात्मा से भिन्न या अभिन्न है, यह वाणी से कहना असभव है, क्योकि अज्ञानावस्था मे यह माया सत्यरूप लगती है, इसलिए यह परमात्मा से भिन्न ही लगती है। अज्ञानावस्था मे माया का वल वरावर चलता रहता है, इसलिए यह माया मानो परमात्मा के समान एक स्वतत्र वस्तु लगती है। लेकिन ज्ञानावस्था मे इस माया का कुछ भी प्रभाव नही चलता। यह गायव ही हो जाती है। ज्ञानावस्था मे सव परमात्मा ही परमात्मा हो जाता है, इसलिए परमात्मा से माया भिन्न है, ऐसा भी नही कह सकते। ससार-प्रपच के लिए यह वीज-भूत है। सर्वज्ञ ईश्वर की इस अलौकिक शक्ति को माया, प्रकृति, शक्ति—ऐसा श्रुति और स्मृति मे कहा है।

ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य मे और एक स्थान पर माया के वारे मे कहा है·

अविद्यात्मिका हि वीजशक्तिः अव्यक्तशब्द-निर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्ति.,

यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणः जीवाः ।

अर्थात् "यह संसार की बीजशक्ति अविद्यात्मक यानी अज्ञान-मूलक है, 'अव्यक्त' शब्दसे इसका निर्देश किया गया है, परमेश्वर के आश्रय से यह रही है और मायामय है यानी माया इसका नाम है,(माया अर्थात् जो नही है वह बतलाना और जो है उसे छिपाना) , यह महानिद्रा है, जिसमे परमात्मा का स्वरूप न जाननेवाले ससारी जीव सोते रहते है ।

सत तुलसीदासजी कहते है

हरि माया अति दुस्तर तरि न जाइ विहँगेस।

'हे गरुड, हरि की माया अतिदुस्तर है इसलिए इस माया को कोई पार नही कर सकता ।' वे फिर कहते है

ग्यानी भगत सिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर पावँर करहि गुमान॥

'ज्ञानी और भक्तो मे जो शिरोमणि है, अतिनिपुण है और त्रिभुवनपति परमात्मा के वाहन गरुड, इन सवको माया ने फँसाया है, हराया है । फिर भी लोग बेचारे अभिमान रखते ही जाते है ।' फिर तुलसीदासजी लिखते है

सिव विरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन ।
अस जियँ जानि भजहि मुनि, मायापति भगवान्॥

'शकर, ब्रह्मदेव जैसे समर्थो को भी इस माया ने मोहित किया है, फिर सामान्य लोगो की तो वात ही क्या ? माया की इस प्रकार प्रवलता समझकर मुनिगण मायापति भगवान् की दिन-रात भक्ति करते है ।'

(२) **ये मां एव प्रपद्यन्ते ते एतां मायां तरन्ति।** जो मेरी शरण लेते है, वे इस माया को तैर जाते है । यह भक्ति का अध्याय है । माया को तैरने का एक सरल और परिणामकारक उपाय भक्ति है, ऐसा यहॉ भगवान् वता रहे है । सम्पूर्ण गीता मे 'माया' शब्द इस श्लोक मे पहली वार आया है। सत तुलसीदासजी परमात्मा के परम भक्त थे। तुलसीरामायण मे एकमात्र भक्ति को ही परम श्रेष्ठ माना है। भक्ति के सामने सब-कुछ तुच्छ है। गीता ने भी सुलभ उपाय के तौर पर भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है । गीता का सार भक्ति ही है। गीता में परमात्म-प्राप्ति के अनेक साधन वताये है । सबका समन्वय साधने की दृष्टि है। फिर भी सब साधनो मे भक्ति को ही श्रेष्ठ माना है । तुलसीदासजी कहते है

हरि मायाकृत दोष गुन, विनु हरिभजन न जाहिं।
भजिय राम तजि काम सब, अस विचारि मन माहिं॥

'हरि की माया के जो गुण-दोष है, वे विना हरि-भजन के जा नही सकते । इसलिए मन की सब कामनाएँ छोडकर, राम का भजन करो ।'

सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रवल ।
अस विचारि मन माँहि, भजिय महामायापतिहि॥

'सुर, नर, मुनियो मे ऐसा कोई नही जिसके लिए मोह और माया प्रवल न हुए हो। इस प्रकार मोह, माया की प्रवलता मन मे समझकर प्रचण्ड मायापति भगवान् की भक्ति करनी चाहिए ।'

एक अन्य स्थान पर वे लिखते है

भगतिहि सानुकूल रघुराया ।
तातें तेहि डरपति अति माया॥

'भक्ति परमात्मा को अनुकूल यानी प्रिय है । इस-लिए भक्ति से माया हमेशा डरती रहती है ।' एक जगह तुलसीदासजी लिखते है ·

राम भगति निरुपम निरुपाधी ।
वसइ जासु उर सदा अवाधी॥
तेहि विलोकि माया सकुचाई ।
कहि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस विचारि जे मुनि विग्यानी ।
जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥

अर्थात् 'निरुपम और निरुपाधि यह रामभक्ति जिनके मन मे अखड, अवाधित रहती है, उन्हे देखकर माया को भी वहुत सकोच होता है। ऐसे रामभक्त पर वह माया अपना कुछ भी प्रभुत्व नही रखती। ऐसा विचार कर यानी सोचकर

जो विज्ञानी यानी सयाने मुनि सव सुखो की खान भक्ति की याचना करते है, उसीकी चाह रखते है।' फिर तुलसीदासजी लिखते है

सवकर फल हरि भगति सुहाई।
सो विनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा।
रामभगति तेहि सुलभ विहंगा॥

'सारी साधना का सार हरि-भक्ति है। लेकिन यह हरि-भक्ति संतो के विना किसीको प्राप्त नही हुई है। यह सोचकर जो सत्सग करते है उन्हे राम-भक्ति सुलभ हो जाती है।'

: १५ :

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

दुष्कृतिन'=दुराचरणी, **मूढा'**=अविवेकी, **मायया अपहृतज्ञाना**.=माया के अधीन होने से जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, **आसुर भाव आश्रिताः**=आसुरी भाव का जिन्होने आश्रय लिया है, **नराधमाः**=(ऐसे जो) नराधम है, **मा न प्रपद्यन्ते**=वे कभी मेरी शरण नही लेते।

इस श्लोक मे भगवान् ने यो तो एक ही वात वतायी है दुराचरण करनेवाले अविवेकी पुरुप कभी मेरी शरण नही लेते। लेकिन दुराचरण मे फँसे हुए पुरुप के लिए पॉच विशेपण दिये है १ **दुष्कृतिनः**—यानी खराव आचरण करनेवाले दुराचारी, २ **मूढाः**—यानी अविवेकी, ३ **नराधमाः**—यानी मनुष्यो मे जो अधम, नीच है, ४ **मायया अपहृतज्ञानाः**—माया के अधीन होने से जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, ५ **आसुर भावमाश्रिताः**—आसुरी गुणो का जिन्होने आश्रय लिया है। ऐसे पॉच अवगुणो से जो सम्पन्न है या पाँच प्रकार की दुर्गुण-सपत्ति जिनके पास है, ऐसे लोग मेरी शरण कभी नही लेते।

(१) **दुष्कृती**। जो पापाचरणी है, पाप-कर्म करने मे जो तल्लीन है। १६वे श्लोक मे भक्त के लिए 'सुकृती' शब्द आया है। सुकृती यानी पुण्य-कर्म करनेवाले। लेकिन जो लोग पाप-कर्म मे फँसे रहते है, वे परमेश्वर की तरफ झुक नही सकते, क्योकि पाप-कर्म अतिआसक्ति का कार्य है। जिनमे सामान्य देहासक्ति रहती है, वे पाप-भीरु रहते है। वे पाप से डरते है। वे इरादा रखकर पाप-कर्म मे फँसे नही रहते। अनजान मे अथवा कुसगति मे पडकर पाप-कर्म करने की प्रेरणा हो जाय, तो भी वाद मे उन्हे उसका वहुत पश्चात्ताप होता है। पूर्वजन्म के अच्छे सस्कार न होने के कारण वचपन से जो कुमार्ग पर चलने लगते है, वे पाप-कर्म मे डूव जाते है। ऐसे लोगो के लिए यहाँ 'दुष्कृती' शब्द आया है।

(२) **मूढाः**। मूढ है यानी जिनमे अविवेक है। मूढता पशु-पक्षियो का लक्षण है। पशु-पक्षियो मे कोई विवेक नजर नही आता। उनकी सव क्रियाएँ अविवेकमूलक होती है। नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, कार्य-अकार्य, योग्य-अयोग्य, सत्य-असत्य, इनका योग्य निर्णय करके चलने की विवेक-शक्ति पशु-पक्षियो मे नही है। वह शक्ति सिर्फ मनुष्य मे ही है। मनुष्य मे भी वाल्यावस्था मे यह शक्ति अविकसित रहती है। उम्र के साथ यह शक्ति कम-ज्यादा परिमाण मे वढती है। जिनके माता-पिता विवेकी होते है, उनकी सतानो पर उनकी विवेक-शक्ति का परिणाम दीखता है। सत्सगति मे यह विवेक-शक्ति वढती है, सूक्ष्म होती जाती है। गाधीजी की प्रत्येक क्रिया मे वडा सूक्ष्म विवेक होता था। महा-पुरुषो मे अत्यन्त निर्मल, सूक्ष्म और प्रतिभासपन्न विवेक रहता है। यह विवेक-शक्ति जिनमे जागृत नही हुई है, विकसित नही हुई है, वे मूढ होते है। मूढता एक प्रकार की मूर्च्छावस्था ही है। जहाँ अविवेक है, वहाँ राग-द्वेप यानी काम, क्रोध आदि विकार प्रवल होते है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) **नराधमा**.। मनुष्यो मे जो अधम है यानी निकृष्ट है, यानी जिनमे दुर्गुण ही दुर्गुण

रहते है। मनुष्य-देह सद्गुणो की वृद्धि करने के लिए मिली है। लेकिन बचपन से दुर्गुणो की तरफ जिनका आकर्षण हो गया, वे दुर्गुणो के ही पीछे पडे रहते है। मन का धर्म है कि जो भी रग उस-पर चढाया जाय, उसमे रँग जाता है। इसलिए बचपन मे कुसगति से बहुत बचना चाहिए। तुलसीदासजी लिखते है. **को न कुसंगति पाइ नसाई।** 'कुसगति से किसका नुकसान नही हुआ ?' पापाचरण, अविवेक और दुर्गुण जिनमे बढते है, वे 'नराधम' ही कहलाते है।

(४) **मायया अपहृतज्ञानाः।** जिनका ज्ञान माया से ढँक गया है यानी माया के अधीन हो जाने से जिनमे अज्ञान ही कायम रहता है। अज्ञान नष्ट करने के लिए माया के अधीन न होकर माया से अलग, अलिप्त आचरण होना चाहिए। लेकिन अनेक प्रकार के प्रलोभनो से मोहित लोग मायाजाल मे हमेशा फँसे रहते है।

(५) **आसुरं भाव आश्रिताः।** जिन्होंने आसुरी भाव यानी सपत्ति का आश्रय लिया है। १६वे अध्याय मे आसुरी सपत्ति का वर्णन है। तुलसीदासजी ने रामचरितमानस के उत्तरकाड मे इसका वर्णन किया है। पहले सतो के गुण वर्णन किये है, बाद मे असत यानी दुर्जन के गुण वर्णन किये है। वर्णन लम्बा है। एक दोहा है ·

परद्रोही परदाररत, परधन पर अपवाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरें मनुजाद ॥

'दूसरो का हमेशा द्रोह करनेवाले, व्यभिचारी, चोर, निन्दक लोग महानीच है और मनुष्य के रूप मे राक्षस है, ऐसा समझना चाहिए।'

एक जगह तुलसीदासजी इस सम्बन्ध मे लिखते है

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दु.खरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ परे तमकूप ॥

काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारो मे जो तल्लीन हो गये है, दु.ख देनेवाले गृह पुत्र, आदि की आसक्ति मे जो फँसे है, ऐसे मूढ लोग परमात्मा को कैसे जान सकते है ?'

इस तरह ऊपर लिखे हुए पाँच अवगुणो से जो भरे है, वे भगवान् की शरण कभी नही लेते।

: १६ :

चतुर्विधा भजन्ते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

अर्जुन=हे अर्जुन, **चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः**=चार प्रकार के पुण्य-कर्म करनेवाले लोग, **मा भजन्ते**=मेरी भक्ति करते है, **भरतर्षभ**=हे अर्जुन, **आर्त.**=व्याकुलचित्त होकर परमात्मा के लिए तडपनेवाले, **जिज्ञासु**=ईश्वर-प्राप्ति के जिज्ञासु, **अर्थार्थी**=विश्व के कल्याण की चिन्ता रखकर सेवा मे रत रहनेवाले, **च ज्ञानी**=और ज्ञानी यानी पूर्णज्ञानी, सिद्धपुरुष।

इस श्लोक मे यो पाँच बाते बतायी है १ जो सुकृती यानी पुण्य-कर्म करनेवाले चार प्रकार के भक्त मेरी भक्ति करते है यानी मेरी शरण लेते है। २ पहला भक्त है **आर्त** यानी व्याकुल। पर-मात्म-प्राप्ति के लिए जिनका चित्त व्याकुल रहता है। ३ **जिज्ञासु**—परमात्म-प्राप्ति की जिज्ञासा मन मे हमेशा रखनेवाले। व्याकुलचित्त न होकर स्थिरता से ज्ञान के जरिये परमात्म-प्राप्ति की चेष्टा करनेवाले, ४ **अर्थार्थी**—निष्काम जनसेवा द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा रखने-वाले। ५ **ज्ञानी**—साधना करके परमात्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसे सिद्ध-पुरुष।

(१) **चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः मा भजन्ते।** चार प्रकार के पुण्यकर्म करनेवाले लोग मेरी भक्ति करते है। पहले बताते है—वे चार प्रकार के भक्त पुण्य-कर्म करनेवाले होते है। पीछे के श्लोक मे दुष्कृती शब्द आया है। दुष्कृती यानी दुराचारी। यहाँ 'दुष्कृती' से उलटा शब्द **सुकृती** शब्द आया है। सुकृती यानी सदाचारी, पुण्य-कर्म

करनेवाले । जगत् मे पाप-पुण्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म ऐसे दो विभाग हैं। नीति का, पुण्य का, धर्म का रास्ता परमात्मा की तरफ ले जाता है। अनीति का, अधर्म का, पाप का रास्ता चित्त की अशुद्धि को वढाकर माया मे फँसाकर वधन मे डालता है । इस तरह उन्नति के और अव-नति के दो मार्ग चले आ रहे हैं । कौन-से मार्ग से जाना, इस वारे मे हरएक को स्वतत्रता है । कुमार्गगामी कभी परमात्मा की शरण नही ले सकते। जो सन्मार्ग पर चल रहे है, जो हमेशा सत्सगति मे रहते है, वे कभी-न-कभी परमात्म-जागृति पैदा होने पर भगवान् की शरण ले सकेंगे। परमात्म-भक्ति करने के पहले मनुष्य का आचरण शुद्ध होना चाहिए।

(२) **आर्त**—वे जो भगवान् को प्राप्त करने के लिए वहुत व्याकुल रहते है । सत्कर्म करते-करते, जव काम, क्रोध, अभिमान आदि विकार क्षीण होने लगते है, तव चित्त मे वैराग्य उदित होने लगता है। वैराग्य पैदा होने से चित्त भीतर मुडने लगता है। भीतर यानी अव्यक्त की तरफ। चित्त मे एक अद्भुत वस्तु रहती है, इसका भान हरएक मनुष्य को नही होता। सत्सग मे रहते हुए सत्कर्म करना, सद्गुणो का विकास करना, यह जव स्वभाव वन जाता है, तव मन मे जागृति पैदा होकर इस अद्भुत् वस्तु की तरफ ध्यान आकृष्ट होने लगता है । इस परमात्मरूपी अद्भुत वस्तु की तरफ जव मन आकृष्ट हो जाता है, तव जिनकी वृत्ति भावना-प्रधान होती है, उनके चित्त मे परमात्म-स्वरूप की पहचान करने की, परमात्म-स्वरूप जानने की व्याकुलता पैदा होने लगती है । ऐसी व्याकुलता भावनाशील वृत्ति से पैदा होती है। इसलिए ऐसे लोगो को आर्त भक्त कहा गया है। आर्त भक्त के चित्त मे कोमलता रहती है। परमात्म-स्मरण होते ही उसके मन मे भावना पैदा होकर अश्रु-धारा भी वहने लगती है । सकट के समय वह परमात्मा को ही याद करता है। छोटे वालक के लिए जैसे माता का ही आधार रहता है, वैसे उसके लिए सिर्फ भगवान् का ही आधार रहता है। जो कुछ जगत् मे चल रहा है, परमात्मा की इच्छा से ही चल रहा है, ऐसी उसकी दृढ श्रद्धा होती है। कोई दुर्घटना घटने पर भी परमात्मा की कुछ इच्छा होगी, ऐसी भावना उसके मन मे रहती है । वीमारी लम्वी चली तो यह आर्त भक्त सोचेगा कि यह वीमारी नही आती तो भगवान् का मुझे स्मरण नही होता । वीमारी मे भगवान् का ही मुझे आधार है, और किसीका आधार नही है । वीमारी आने से मेरा मन वाह्य विपयो से हट रहा है, ससार मे कुछ सार नही है, ऐसा लगता है । गीता आदि दर्शन का अभ्यास करने मे रुचि वढ रही है, नाम-स्मरण का अभ्यास वढ रहा है, ध्यान मे अभ्यास की तरफ वृत्ति मुड रही है । वीमारी आयी तो खान-पान मे सयम आया । प्राकृतिक चिकित्सा का ज्ञान हो गया । वीमारी से मुक्त होने का तजुरवा हो गया, इस तरह वीमारी मे भी भगवान् मुझे कुछ सिखाना चाहता है। वीमारी को भी परमात्मा का अनुग्रह मानने की आर्त भक्त की वृत्ति रहती है। यह भक्त मन मे कभी अभिमान को नही पनपने देता। हर क्रिया परमात्मा की प्रेरणा से चल रही है, यह अनुभव करते हुए जीवन विताने की कोशिश करता है।

आर्त भक्त का अभिमान भगवान् रहने नही देते, क्योकि आर्त भक्त भगवान् के पीछे पागल होता है । सत तुलसीदासजी लिखते हैं

> **सुनहु रामकर सहज सुभाऊ ।**
> **जन अभिमान न राखहि काऊ।।**
> **संसृति मूल सूलप्रद नाना ।**
> **सकल सोकदायक अभिमाना ।।**

'हे गरुड, सुनो । रामचन्द्रजी का यह सहज स्वभाव है कि वे अपने भक्त का अहकार कभी रहने नही देते, क्योकि अहकार ससार का मूल है, दु खप्रद है और शोक का कारण है ।'

ताते करहिं कृपानिधि दूरी।
सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसु तन व्रन होइ गोसाईं।
मातु चिराव कठिन की नाईं॥

'इसलिए कृपा के निधि भगवान् भक्त का अभिमान दूर करते है, क्योंकि अपने भक्त पर भगवान् की बहुत कृपा रहती है। जिस तरह बच्चे के शरीर मे फोडा हो गया हो तो माता निर्दय की तरह उस फोड़े को चीर देती है।'

जदपि प्रथम दुःख पावइ, रोवइ बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी गनति, न सो सिसु पीर॥

'यद्यपि शुरू मे बालक को दुःख होता है, अधीर बनकर रोता है, लेकिन लडके की बीमारी नष्ट होने के खयाल से माता बच्चे को होनेवाले दुःख की तरफ ध्यान नही देती है, उसकी पर्वाह नही करती।'

तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजसि भ्रम त्यागि॥

'इसी तरह रघुपति अपने भक्त का अभिमान उसके हित की यानी कल्याण की दृष्टि मे हर लेते है। तुलसीदासजी कहते है कि भ्रान्ति का त्याग करके ऐसे प्रभु की तू भक्ति क्यो नही करता?'

(२) भगवान् का दूसरा भक्त है जिज्ञासु। यह भक्त व्याकुलचित्त न होकर भगवान् को बुद्धि द्वारा जानने की कोशिश करता है। यह भक्त भावनावश नही होता। यह सिर्फ श्रद्धा से ही भगवान् को स्वीकार नही करता। भगवान् को बुद्धि से, यानी तर्क से ग्रहण करने की कोशिश करता है। आर्त भक्त तत्त्वज्ञान के अध्ययन के पीछे नही रहता। लेकिन यह जिज्ञासु भक्त तत्त्वज्ञान का अध्ययन करता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ग्रथ का अध्ययन करता है, क्योकि इस ग्रथ मे शकराचार्य ने तर्क से यानी अनुभवी पुरुषो के वचनो के आधार पर पिड-ब्रह्माड मे परमात्मा किस प्रकार व्याप्त है, यह सिद्ध करने की कोशिश की है। बुद्धि के साथ ही श्रद्धा चलनी चाहिए, यह आग्रह उसके मन मे रहता है। किसी भी वस्तु को सिर्फ श्रद्धा से ग्रहण करने के लिए उसका मन तैयार नही होता। हरएक प्रश्न को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखता है। जिज्ञासा से हरएक वस्तु की तरफ देखना, यह मानो उसका स्वभाव बन गया होता है। ससार से उसका चित्त हट जाता है, वैराग्य मन मे दृढ हो जाता है, लेकिन परमात्मा को जानने मे चित्त की व्याकुलता न रखकर तीव्र जिज्ञासा उसके मन मे रहती है। लेकिन आर्त भक्त की तरह श्रद्धा उसका आधार नही रहती। बुद्धि के साथ श्रद्धा का सयोग हो और श्रद्धा के साथ बुद्धि का सयोग हो तो श्रद्धा का बुद्धि को लाभ मिलेगा और बुद्धि का श्रद्धा को लाभ मिलेगा। लेकिन यहाँ जिन भक्तो का वर्णन चल रहा है वे सब एकागी है। एक भक्त मे एक ही चीज दीखती है। आर्त भक्त भक्ति-मार्ग से चल रहा है, जिज्ञासु भक्त ज्ञान-मार्ग से चल रहा है, ऐसा कह सकते है। आर्त भक्त का आधार श्रद्धा होने से उसकी वृत्ति भक्ति-प्रधान होती है। जिज्ञासु भक्त की वृत्ति ज्ञान-प्रधान होती है। तुलसीदासजी कहते है

ग्यान पथ कृपान कै धारा।
परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निरबहई।
सो कैवल्य परम पद लहई॥

अर्थात्—'ज्ञान-मार्ग तलवार की धार के समान है। तलवार की धार पर चलने पर फिसलने मे देरी नही लगेगी और यदि उस मार्ग से निर्विघ्नता से पार कर गये तो मोक्ष अवश्य मिल सकता है।'

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।
सत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।
अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

अर्थात्–मोक्षरूपी श्रेष्ठ पद अतिदुर्लभ है, ऐसा संत, पुराण, वेद और श्रुति यानी उपनिषद् कहते हैं। लेकिन हे स्वामिन्, राम-भगति से वही मोक्ष इच्छा न रखने पर भी विना प्रयास, अपने आप प्राप्त होता है। भक्ति-मार्ग सरल है, ज्ञान-मार्ग कठिन है।

(४) तीसरा भक्त है **अर्थार्थी**। यानी जन-कल्याण के लिए सेवा करते हुए परमात्म-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाला भक्त। अर्थार्थी भक्त को दिन-रात यही चिन्ता रहती है कि जनता का कल्याण कैसे हो। यह सेवा-परायण भक्त, जनता-जनार्दन की सेवा द्वारा भगवान् को पाना चाहता है। भगवान् का दर्शन तो अन्त मे भगवान् की कृपा से ही हो सकता है। लेकिन भगवान् की कृपा कैसे हो, यह मुख्य प्रश्न है। जन-सेवापरायण भक्त के मन मे यह विचार बैठ जाता है कि जनता-जनार्दन की निष्काम-भाव से सेवा होगी तो काम-क्रोधादि विकार क्षीण हो जायँगे। उससे चित्त-शुद्धि होगी और तब भगवान् की कृपा से भगवान् का दर्शन होगा। इसलिए इस भक्त के मन मे परमात्म-दर्शन की या परमात्म-ज्ञान की व्याकुलता नही है, तीव्र जिज्ञासा भी नही है। एक ही इच्छा है कि आम जनता की निष्काम-भाव से सेवा हो। हनुमान् निरंतर सेवा-परायण रहते थे। गाधीजी भी सेवा-परायण भक्त थे। दिन-रात वे जनता की सेवा मे रत रहते थे। अन्तर मे ईश्वर-शरणता और बाहर जन-सेवा, यह गाधीजी का जीवन-मन्त्र था। अर्थार्थी भक्त सकाम-सेवा नही करता। सेवा करते हुए परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होने से वह सकाम रह नही सकता। सकामता से परमात्म-ज्ञान प्राप्त नही होता। जो सकाम सेवा करते है, वे सेवा-परायण हो तो भी, निष्काम न होने से उन्हे अर्थार्थी भक्त नही कह सकते। केवल जन-सेवा करनेवालो को अर्थार्थी भक्त नही कहा है। निष्कामता अर्थार्थी भक्त का प्रथम लक्षण है। यही कर्मयोग-मार्ग है।

(५) चौथा भक्त है **ज्ञानी**। यह परिपूर्ण भक्त होता है। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी—ये तीनो भक्त एकागी है, लेकिन ज्ञानी परिपूर्ण भक्त है। तीनो भक्तो का मिलाप इस ज्ञानी भक्त मे हो जाता है। अतरग मे आर्त की भक्ति है यानी परमात्मा के प्रति प्रेम है। जिज्ञासु की जिज्ञासा है और अर्थार्थी का निष्काम-कर्मयोग है। तीनो से सम्पन्न यह सम्पूर्ण ज्ञानी भक्त है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, तीनो का त्रिवेणी-सगम ज्ञानी भक्त मे है। अवतारी पुरुषो मे प्राय इन तीनो का सगम होता है। भगवान् कृष्ण सेवामूर्ति थे, इसलिए कर्म तो उनमे था ही। ज्ञानी तो वे थे ही। भगवद्-गीता जैसा अमृत अर्जुन के निमित्त से विश्व को दिया। भक्त भी थे। नम्रता उनमे कमाल की थी। रामचन्द्रजी मे भी ये तीनो चीजे थी। अर्थात् किसीमे ज्ञान-प्रधान वृत्ति रहेगी, किसीमे भक्ति-प्रधान और किसीमे सेवा-प्रधान यानी कर्म—प्रधान वृत्ति का उत्कर्ष दीखेगा। गाधीजी मे ये तीनो चीजे थी। विनोबाजी मे भी ये तीनो बाते है। विनोबाजी की वृत्ति ज्ञान-प्रधान है। उनमे परमात्म-भक्ति का उत्कर्ष है। किसी सत का नाम लेते ही, परमात्मा का नाम लेते ही अश्रुधारा बहने लगती है। शकराचार्य सन्यासी थे, लेकिन उनका आचरण कर्मयोग-प्रधान था। १६ साल तक सारे हिन्दु-स्तान मे पैदल घूमे। ब्रह्मसूत्र-भाष्य जैसे अद्भुत-ग्रथ लिखे। भक्ति भी थी। भक्ति के जो स्तोत्र रचे है, वे पढने से मालूम हो जाता है कि उनमे कितनी भक्ति थी। उनकी वृत्ति ज्ञान-प्रधान थी। तुलसीदासजी भक्ति-प्रधान थे। ज्ञानेश्वर महाराज योगी थे, इसलिए उनकी वृत्ति ज्ञान-प्रधान थी। फिर भी महापुरुषो मे इन तीनो का सगम रहता है। कोई एक वृत्ति प्रमुखरूप से प्रकट हो सकती है, लेकिन दूसरी दो चीजो का अभाव नही रहता।

: १७ :

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

तेषा=उन चार भक्तो मे से, **ज्ञानी नित्ययुक्त**=ज्ञानी, परमात्मा मे हमेशा एकरूप रहता है, **एकभक्तिः विशिष्यते**=एक परमात्मा मे ही जिसकी भक्ति है, इसलिए वह (सब भक्तो मे) श्रेष्ठ है, **हि ज्ञानिन अह**=क्योंकि ज्ञानी के लिए, मैं (परमात्मा), **अत्यर्थ प्रिय**=बहुत ही प्रिय हूँ, **च स. मम प्रिय**=और वह ज्ञानी मुझे भी प्रिय होता है।

इस श्लोक मे चार बातें है १ चार भक्तों मे से ज्ञानी निरतर परमात्मा मे एकरूप रहता है, एकाग्र रहता है। २ परमात्मा मे ही जिसकी भक्ति है, जिसका प्रेम है, इसलिए, ३ वह सब भक्तो मे श्रेष्ठ है, ४ क्योकि ज्ञानी पुरुप के लिए मैं (परमात्मा) बहुत ही प्रिय हूँ और वह ज्ञानी पुरुप मुझे भी प्रिय है।

(१) इस श्लोक मे और अगले दो श्लोको मे ज्ञानी पुरुप का ही वर्णन है। चार भक्तो मे से ज्ञानी भक्त परमात्मा मे एकरूप रहता है, एकाग्र रहता है। ज्ञानी भक्त परिपूर्ण हो गया है। उसने भगवान् का अनुभव कर लिया है। इस कारण मन की एकाग्रता भगवान् मे ही हो गयी है। साधक-दशा मे चित्त भगवान् मे हमेशा स्थिर नही रहता। परमात्मा के साथ अनुसधान रखने की कोशिश रहती है। कुछ हद तक सफलता भी मिलती है। मगर पूरी सफलता नही मिल पाती। चित्त मे बाह्य पदार्थो का आकर्पण, सूक्ष्मरूप से भी क्यो न हो, रहता है। स्थूल आकर्पण तो चित्त से निकल जाता है, मगर सूक्ष्म आकर्पण का निकालना बहुत कठिन होता है। इसलिए दिन-रात चौबीसो घटे परमात्मा मे चित्त स्थिर रखने की कोशिश करने पर भी साधक-दशा मे पूरी सफलता नही मिलती। कुछ दिनो तक सफलता मिल भी जाय, तो वह अखड टिकती नही। परमात्मा मे चित्त के स्थिर न रहने का मुख्य कारण है परमात्मा की पहचान न होना। ज्ञानी परमात्मा मे अखड स्थिर रहता है, क्योंकि परमात्मा की पहचान होने मे परमात्मा का आनद अनुभव मे आता है। जहाँ आनन्द आता है, वहाँ चित्त चिपका रहता है, स्थिर रहता है। चित्त आनद के बिना कभी स्थिर रह नही सकता, यह चित्त का नियम है। छोटा बालक हरएक चीज से आनन्द लेने की कोशिश करता है। साधक-दशा मे परमात्म-आनन्द प्राप्त करने की कोशिश चलती है, मगर उसमे जितनी सफलता मिलती है, उतनी हद तक ही उस अवस्था मे आनन्द मिलता है। वह अखड नही होता। पूर्ण ज्ञानी मे यह कमी नही होती। वह अखड आनन्द मे रहता है, इसलिए दिन-रात जन-सेवा करते हुए भी परमात्मा मे ही उसके चित्त की स्थिरता रहती है।

(२) दूसरा लक्षण बता रहे है . **एक भक्ति. विशिष्यते**। परमात्मा के प्रति प्रेम रहता है, परमात्मा के अतिरिक्त किसी वस्तु के प्रति भक्ति, प्रेम नही रहता। १ परमात्मा मे अखड स्थिरता परमात्मा की पहचान होने से आती है। २ अखड स्थिरता से परमात्मा मे आनन्द रहता है। ३. और परमात्मा से ही आनन्द मिलने के कारण परमात्मा मे प्रेम हो जाता है, परमात्मा की ही भक्ति मन मे जम जाती है। हरएक मनुष्य मे प्रेम भरा है। कुटुब-सस्था मे प्रेम का उत्कर्प देखते ही है। यह कुटुब-प्रेम व्यापक होकर विश्वप्रेम का रूप ले लेता है। यह बात आसान नहीं है। ज्ञानी का प्रेम व्यापक होता है। सर्वत्र परमात्म-दर्शन की दृष्टि मिलती है, तब विश्व-व्यापक प्रेम प्रकट होने लगता है। परमात्मा के प्रति प्रेम, भक्ति पैदा होने का अर्थ है विश्व के सब पदार्थो मे परमात्मा का ज्ञान।

(३) तीसरा लक्षण है **ज्ञानिन' अहं अत्यर्थं प्रियः**। ज्ञानी के लिए मैं बहुत प्रिय हूँ यानी ज्ञानी

पुरुष की सारी प्रेम-शक्ति, परमात्मा मे ही लगी हुई है। ज्ञानी पुरुष की अत्यन्त प्रिय वस्तु परमात्मा है। सब लोगो के लिए ऐसा नही कह सकते। जिस कुटुब-सस्था मे प्रेम का इतना उत्कर्ष होता है, वह प्रेम का अत्यन्त सीमित स्वरूप है। जिनका प्रेम सिर्फ कुटुब तक सीमित न रहकर आम जनता तक पहुँच गया है, वे भी यह कहने के लिए तैयार नही होगे कि मेरा सबसे अधिक प्रेम परमात्मा पर है। वास्तव मे परमात्मा के अस्तित्व का भान बहुत थोडो को होता है। अस्तित्व का भान रखनेवालो को भी परमात्मा की पहचान रहती है, ऐसी बात नही। परमात्मा की पहचान होने के बाद ही परमात्मा के प्रति उत्कट प्रेम पैदा हो सकता है। ज्ञानी जन-सेवा मे लगा रहता है, जनता को देखकर ये सारी भगवान् की अलग-अलग मूर्तियाँ है, ऐसा लगने से जो प्रेम पैदा होता है, वह दरअसल परमात्म-प्रेम है। ज्ञानी पुरुष की जन-सेवा मे अखड परमात्म-दृष्टि रहती है। अहकार नष्ट हो जाने से ज्ञानी खुद जनसेवा कर रहा है, ऐसा उसे भान नही रहता। उसे भान रहता है सिर्फ परमात्मा का। परमात्मा जन-सेवा मुझसे करा रहा है, इतना ही नही, परमात्मा ही जन-सेवा कर रहा है। परमात्मा ने शरीर पैदा किया। शरीर मे रहकर वही शरीर को चला रहा है। परमात्मा शरीर से निकल जाय तो शरीर तत्काल मृत हो जाता है। इसका भान ज्ञानी को रहता है। सिर्फ जन-सेवा करनेवाले जन-सेवक को यह भान नही रहता है। ज्ञानी पुरुष की दृष्टि मे जनता कोई स्वतत्र वस्तु नही है। जनता यानी परमात्मा। जैसे मिट्टी के मटके मे सिवा मिट्टी के और कोई वस्तु नही होती, मिट्टी के एक विशेष आकार को मटका कहा गया, नाम रखने से मटका स्वतत्र पदार्थ नही बन जाता, वैसे ही 'जनता' यह परमात्मा को दिया हुआ नाम है। दीखने मे जनता है। मगर दरअसल वह जनता परमात्मा ही है। ऐसी परमात्म-दृष्टि रखकर उसका जीवन चलता है।

(४) चौथा लक्षण है. **सः मम प्रियः।** मुझे ज्ञानी भक्त बडा ही प्रिय है। ज्ञानी और ज्ञानी-भक्त दोनो मे फर्क है। यहाँ भगवान् जिस परिपूर्ण ज्ञानी की बात कर रहे है, वह ज्ञानी और भक्त–दोनो है। सिर्फ ज्ञानी नही है। इस ज्ञानी पुरुष मे त्रिवेणी-सगम है यानी ज्ञान, भक्ति और जन-सेवा तीनो का उसमे सगम है, ऐसा परिपूर्ण यह ज्ञानी पुरुष है। ऐसा परिपूर्ण ज्ञानी भगवान् को प्रिय होना स्वाभाविक है।

जैन और साख्य-दर्शन ईश्वर को नही मानते। यानी ब्रह्माड का भास करानेवाला कोई परमात्मा या ईश्वर है, ऐसी जैनो की या साख्यो की मान्यता नही है। वे आत्मा को मानते है और देह से यह आत्मा बिलकुल भिन्न रहती है, यह उनका सिद्धान्त है। लेकिन देह के साथ सब जड-सृष्टि परमात्मा ने बनायी है, ऐसा वे नही मानते। साख्य जड-प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति मानते है। जैन यह नही मानते कि जगत् की उत्पत्ति होती है। जैनो की मान्यता है कि जगत् मे षट्द्रव्यो की व्यवस्था है और वह अनादि है। गीता की मान्यता है कि परमात्मा से जगत् पैदा होता है और वह परमात्मा देह मे आत्मा के रूप मे रहता है। यह आत्मा देह, मन, इन्द्रियो आदि से भिन्न है, ऐसा भी गीता मानती है। देह आदि से जो आत्मा भिन्न है, उसे पहचानना और उसीमे स्थिर रहना, इसे जैन और साख्य ज्ञानावस्था कहते है। गीता का कहना यह है कि देह से आत्मा अलग है, यह पहचानना ज्ञानावस्था अवश्य है, मगर देह से जो आत्मा अलग है, वही सारे ब्रह्माड मे व्याप्त होने से सारे ब्रह्माड मे और पिड मे यानी शरीर मे है, यह पहचान भी जरूरी है। गीता इस स्थिति को परिपूर्ण ज्ञानावस्था मानती है। इस ज्ञानावस्था मे

परमातम-भक्ति का समावेश है और बाहर से सेवा का भी समावेश है। ज्ञान, भक्ति, जन-सेवा मिलकर परिपूर्ण ज्ञानावस्था है, यह गीता की मान्यता है। सांख्यो और जैनो ने जो ज्ञानावस्था मानी है, उसमे भक्ति की अथवा सेवा की कल्पना नही है। सत तुलसीदासजी ने खूबी से इस सिलसिले मे इस प्रकार कहा है

मोरे प्रौढ तनय सम ज्ञानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
जर्नाह मोर बल निज बल ताही।
दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह विचारि पडित मोहि भजही।
पायेहु ज्ञान भगति नही तजही॥

अर्थात्—'सिर्फ ज्ञानी पुरुष मेरेलिए बडे पुत्र के समान है, लेकिन अमानी भक्त छोटे बच्चे के समान है। ज्ञानी पुरुष को अपना बल रहता है। यानी 'मै आतमा हूँ' इस प्रकार अपने बल पर जीता है। लेकिन भक्त के लिए परमात्मा ही बल है, वह अपने बल से नही जीता है, सिर्फ परमात्मा के बल से ही जीता है।' फिर तुलसीदासजी चेतावनी देते है कि 'ज्ञानी और भक्त दोनो के लिए काम-क्रोधरूपी शत्रु सामने हमेशा खडे रहते है। इसलिए काम-क्रोधादि विकार हमेशा परीक्षा के लिए हाजिर रहते है, यह सोचकर जो सिर्फ ज्ञानी पुरुष है, वे आत्मज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति कभी छोडते नही।'

काम-क्रोधादि विकार इतने बलवान् और सूक्ष्म है कि उन्हे जीतने के लिए सिर्फ आत्मज्ञान यानी देह आदि से 'मै अलग हूँ', यह पर्याप्त नही। इस आत्मज्ञान के साथ परमात्म-भक्ति का सयोग होता है, तभी विकारो का सूक्ष्म क्षय होकर परिपूर्ण ज्ञानावस्था जीवन मे प्रकट होती है। इसलिए तुलसीदासजी ने सिर्फ ज्ञानी को यानी जो भक्त न होकर सिर्फ ज्ञानी है, उसे बडे लडके के समान कहा। फिर तुलसीदासजी कहते है कि

प्रौढ भये तेहि सुतपर माता।
प्रीति करहि नहि पाछिलि बाता॥

अर्थात् माता छोटे बच्चे पर जितना प्यार करती है उतना प्यार लडके के बडे होने पर करती है, ऐसी बात नही। तुलसीदासजी का कहना है कि ज्ञान के साथ भक्ति हो तो परमात्मा को वह बहुत प्रिय है। यहाँ भी भगवान् ने यही कहा कि जो मेरी भक्ति करता है, वह मुझे बहुत प्रिय है। देह आदि से भिन्नता का ज्ञान होना चाहिए। यानी देह, मन आदि मे मै पूर्णरूप मे भिन्न हूँ, यह अनुभव आना चाहिए। यह अनुभव जीवन की प्रत्येक क्रिया मे दिखाई देना चाहिए। मगर इतने से ही परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया, ऐसा नही मानना चाहिए। इस ज्ञान के साथ परमात्म-भक्ति और जन-सेवा का कार्य, दोनो साथ में होने चाहिए। भक्ति है, लेकिन ज्ञान और सेवा न हो तो भी नही चलेगा। ज्ञान हो, लेकिन भक्ति तथा सेवा न हो तो भी नही चलेगा और भक्ति और सेवा होते हुए ज्ञान न हो, तो भी नही चलेगा। तीनो का सगम हो तभी उसे परिपूर्ण ज्ञानावस्था कह सकते है। इस तरह ज्ञान, भक्ति, जनसेवा जिनमे प्रकट होती है, वे धन्य है।

: १८ :

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

सर्वे एते उदारा =ये चारो भक्त उदार है, निष्काम है, **तु ज्ञानी मे आत्मा एव मतं**=लेकिन ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा ही है, ऐसा मैने माना है, **हि सः युक्तात्मा**=क्योकि वह ज्ञानी परमात्मा मे ही एकरूप हुआ है, इसलिए, **मा एव उत्तमा गति आस्थित** =मेरी ही उत्तम गति (मोक्ष) को वह प्राप्त हुआ है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ ये सब भक्त (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी)

उदार है यानी निष्काम है, सकाम नही। २ इन चारो मे से ज्ञानी भक्त तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मैंने माना है। ३ क्योकि वह ज्ञानी भक्त परमात्मा मे ही एकरूप हुआ है, डूबा हुआ है, ४ इसलिए वह मेरी ही उत्तम गति यानी मोक्ष को प्राप्त हुआ है।

(१) **सर्वे एते उदाराः**। ये चारो भक्त (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी) उदार हैं। कृपण नही है। कृपण की व्याख्या दूसरे अध्याय के ४९वे श्लोक मे की गयी है। **कृपणाः फलहेतवः**—फल की आशा रखनेवाले कृपण है। हम स्वय आत्मा होने से वास्तव मे धन-सपन्न है, यानी श्रीमत है, मगर मन और शरीर के अधीन होकर जब कामनाएँ, वासनाएँ, इच्छाएँ रखते है, तब निर्धन बनकर भिखारी और कृपण हो जाते हैं। इस श्लोक मे चारो भक्तो को भगवान् ने उदार यानी निष्काम कहा है। सामान्यतया आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्तो को सकाम भक्त ही माना जाता है, क्योकि वे अपूर्ण भक्त हैं। ज्ञानी को परिपूर्ण होने से निष्काम माना जाता है। यह विचारधारा ठीक नही है। सकाम-भक्त का वर्णन इसी अध्याय मे २० से २३वे तक चार श्लोको मे है। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी ये तीनो भक्त एकागी अवश्य है, मगर सकाम नही है, निष्काम हैं।

आर्त यानी भक्त-हृदय, भक्ति-मार्ग से, भगवान् की भक्ति करके भगवान् को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला भक्त। भगवान् की भक्ति और भगवान् की प्राप्ति, इन दो उद्देश्यो को छोडकर तीसरा उद्देश्य या और कोई सासारिक या लौकिक कामना इस भक्त के मन मे नही रहती। इसलिए यह सकाम भक्त न होकर निष्काम भक्त है। भक्ति मे सासारिक या लौकिक उद्देश्य भी हम रख सकते हैं। भक्ति से लोगो से मान-सम्मान की प्राप्ति हो सकती है, इसलिए यह उद्देश्य भी कोई रख सकता है। ईश्वर की भक्ति से सासारिक स्थिति भी सुधर सकती है, इसलिए भी यानी सासारिक सुख प्राप्त हो, सापत्तिक स्थिति अच्छी बने, इस उद्देश्य से भी ईश्वर-भक्ति हो सकती है। लेकिन इस आर्त भक्त के मन मे सासारिक कामनाएँ नही रहती। हाँ, इसके मन मे भगवत्-प्राप्ति की माँग अवश्य रहती है। भगवान् को छोडकर और किसी-से कुछ नही माँगता।

जिज्ञासु भक्त ज्ञान-मार्ग से भगवान् को जानने की, पहचानने की इच्छा रखता है। मगर उसके मन मे ज्ञान के बारे मे भी दूसरी कामनाएँ नही रहती है। परमात्म-ज्ञान के मुकाबले अन्य सब ज्ञान को वह तुच्छ समझता है। कर्तव्य समझकर आवश्यक ज्ञान अवश्य प्राप्त करता है। मगर उसकी कामना अथवा आसक्ति नही रखता। वह परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने के सिवा, अन्य सब ज्ञान प्राप्त करने मे तटस्थ रहता है।

अर्थार्थी यानी जन-सेवा-परायण भक्त भी परमात्म-ज्ञान का एक साधन समझकर जनसेवा का आश्रय लेता है। लेकिन उसमे भी वह आसक्त नही रहता है, क्योकि जनसेवा मे यदि आसक्त हो जाय तो उसे परमात्म-ज्ञान प्राप्त नही हो सकेगा। जन-सेवा द्वारा परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि रखने से ही यह अर्थार्थी भक्त कहा जाता है। मगर परमात्म-ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि न रखते हुए जो सिर्फ जन-सेवा करता है, उसे जन-सेवारत कार्यकर्ता कहा जायगा। उसकी गणना भक्त मे नही होगी। ये तीनो तो भक्त है, इसलिए ये सब निष्काम भक्त ही है। ज्ञानी तो निष्काम है ही। चारो भक्तो को निष्काम होने से, उदार कहा गया है।

(२) दूसरी बात है . **तु ज्ञानी मे आत्मा एव मतम्**। लेकिन ज्ञानी भक्त को तो मैंने अपना आत्मा ही माना है। यह भगवान् का मत है।

वास्तव मे परमात्मा और ज्ञानी पुरुष मे कोई फर्क नही है। गगा नदी जब समुद्र मे मिल जाती है, तब उसका स्वतत्र अस्तित्व नहीं रह जाता। आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी—तीनो भक्त भगवान् के साथ अखड अनुसधान रखनेवाले है, लेकिन उनमे और परमात्मा मे भेद है। परमात्मा से वे इतने एकरूप नही हुए रहते कि उनका स्वतत्र अस्तित्व रह ही न जाय। वे स्वतत्र अस्तित्व रखकर भक्ति कर रहे है। लेकिन जिस भक्त ने अपने को भगवान् मे पूरा विलीन कर दिया, वह पूर्ण ज्ञानी भक्त बन गया। परिपूर्ण ज्ञानी भक्त बनने का अर्थ ही अपने को पूर्णतया परमात्मा मे विलीन करना है। यह परम पुरुषार्थ है। हम अपने अहकार को जैसे-जैसे क्षीण करते जाते है, वैसे-वैसे परमात्मा के नजदीक होते जाते है। पूर्णतया अहकार को क्षीण करना यानी परमात्म-स्वरूप हो जाना। अहकार मिटते ही सृष्टि-विषयक भेद-दृष्टि भी मिट जाती है। इस तरह ज्ञानी भक्त परमात्मा की ही आत्मा हो गया, ऐसा भगवान् बता रहे है। उसका कारण आगे बता रहे है।

(३) **हि सः युक्तात्मा**। क्योकि ज्ञानी भक्त परमात्मा मे युक्त हो गया है, तल्लीन हो गया है। इस स्थिति का वर्णन उपनिषद् मे इस प्रकार आता है

यत्र हि द्वैतमिव भवति तत् इतरः इतर पश्यति, जिघ्रति, शृणोति, विजानाति। यत्र तु अस्य सर्व आत्मा एव अभूत् तत्केन कं पश्येत्, जिघ्रेत्, शृणुयात्, विजानीयात्। विज्ञातारं अरे केन विजानीयात् एतावत् अरे खलु अमृतत्व इति।

अर्थात्—जब मन मे भेद-दृष्टि रहती है तब एक आदमी दूसरे आदमी की तरफ देखता है, सूंघता है, सुनता है और दूसरे को जानता है, लेकिन जब उसकी भेद-दृष्टि नष्ट होने पर सब अभेद ही अभेद यानी सब परमात्मा ही परमात्मा हो गया तब वह किससे किसे देखेगा? किससे किसे सूंघेगा, किसे सुनेगा, किसे जानेगा? अरी मैत्रेयी, जो जाननेवाला है, उसे कौन जानेगा?

यह उपदेश याज्ञवल्क्य ऋषि ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को दिया है। हम जब परमात्मा से भिन्न रहते है, तब परमात्मा को जानने का, परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने का कार्य रहता है। मगर परमात्मा का अनुभव प्राप्त करने के बाद जब जाननेवाला जीवात्मा परमात्मा से भिन्न ही न रहे, तब कौन किसे जानेगा? क्योकि ज्ञान-स्वरूप परमात्मा ही शेष रहता है और परमात्मा को ही देखना-सुनना आदि अद्वैत का कार्य चल रहा हो, वहाँ जानने की कोई स्वतत्र वस्तु रह नही जाती।

(४) **मां एव उत्तमा गति आस्थित.**। मेरी उत्तम गति को यानी मोक्ष को उन्होने प्राप्त कर लिया है। मोक्ष अतिम स्थिति है। मोक्ष के बाद कुछ प्राप्त करना शेष नही रहता। मोक्षावस्था मे फिर से जन्म नही होता। जन्म-मुक्ति, यह मोक्ष का एक अर्थ है। दुःख की आत्यतिक निवृत्ति, यह दूसरा अर्थ है। जीवित रहते हुए दुःख के आत्यतिक अभाव का अनुभव, यह पूर्णज्ञानी पुरुष करता है। आसक्तिरहित, बधनरहित, विकाररहित, अहकार-रहित उसका जीवन होता है। इसलिए उसे फिर से जन्म नही मिलेगा। मगर भगवान् का कार्य करने के लिए फिर से उसे आना पडे तो उतना उसका कर्म शेष रहता है, ऐसा मानना चाहिए। भक्त पुरुष के लिए ऐसी कल्पना भी कर ली गयी है कि परमात्मा अपना अवतार-कार्य ऐसे ज्ञानी पुरुषो द्वारा ही करता रहता है। लेकिन इसमे भी सत्य-वस्तु क्या है, यह कहना कठिन है। यह सब अनुमान है। लेकिन यह कल्पना निश्चित है कि अद्वैतावस्था का अनुभव प्राप्त होने के बाद जन्म का बीज जो अज्ञान है, वह नष्ट होने से फिर से जन्म नही लेना पडता।

: १९ :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

बहूना जन्मना अन्ते=अनेक जन्मो के वाद, **ज्ञानवान् वासुदेव· सर्व इति**=ज्ञानी सव वासुदेवमय है, ऐसा अनुभव करते हुए, **मा प्रपद्यते**=मुझे प्राप्त करता है, **स. महात्मा सुदुर्लभ·**=ऐसा महात्मा वहुत दुर्लभ हैं।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ अनेक जन्मो के वाद ज्ञानी पुरुप मुझे प्राप्त कर लेता है। २ सव वासुदेवमय यानी भगवान्मय है, ऐसा ज्ञानी पुरुप को अनुभव होता है और ३ ऐसा ज्ञानी पुरुप वहुत दुर्लभ है।

(१) **बहूनां जन्मना अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।** अनेक जन्मो की साधना के वाद ज्ञानी पुरुप मुझे प्राप्त करता है। साधक या मुमुक्षु जव साधना शुरू करता है, तव इसी जन्म मे यानी एक ही जन्म मे सारी साधना पूर्ण होनी चाहिए, यही खयाल रहता है। यह ठीक भी है, इसीसे साधना कुछ तीव्र गति से हो सकती है। अन्यथा साधना मे मदता आने की सभावना रहती है। अर्थात् इसी जन्म मे साधना पूर्ण होनी चाहिए, इतना आग्रह रखते हुए और उसके अनुसार कोशिश भी तीव्रता से करते हुए साधना पूर्ण न हो तो मन मे तटस्थता, अनासक्ति रहनी चाहिए। अन्यथा दु खका अनुभव होगा। दु ख का अनुभव न हो, इस तरह साधना होनी चाहिए। साधना मे निष्कामता जरूरी है। धन का अभिलाषी धन न मिलने पर निराश हो जाता है। साधक की भी यही स्थिति है। साधना मे निष्कामता का खयाल न रहे तो साधना सफल न होने पर उसकी प्रतिक्रिया वुरी भी हो सकती है। सारी साधना छोडकर वह पहले की तरह ससारी वन सकता है। इसलिए पहले से ही यह धारणा रखते हुए कि साधना इसी जन्म मे पूर्ण करनी है, यह विचार भी मन मे विठा लेना चाहिए कि इस जन्म मे सफलता न मिली तो कोई पर्वाह नही, अगले जन्म मे अवश्य मिलेगी। अनेक जन्म लग जायँ तो भी कोई हर्ज नही, ऐसा विचार मन मे दृढ रखना जरूरी है। एक ओर शिथिलता टालनी है, तो दूसरी ओर निराशा टालनी है। शिथिलता, मदता और अधीरता और निराशा टालते हुए साधना शाति से, लेकिन दृढतापूर्वक चलती रहे।

इसीलिए भगवान् कह रहे है कि ज्ञानी पुरुप भी एक ही जन्म मे मुझे प्राप्त कर लेता है, ऐसी वात नही। यही वात छठे अध्याय के ४५वे श्लोक मे भगवान् ने वतलायी है कि 'योग की साधना करनेवाला पुरुप चित्त की शुद्धि करते हुए और अपनी साधना मे वहुत तत्पर यानी प्रयत्नशील रहकर अनेक जन्मो की साधना के वाद साधना पूर्ण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।'

(२) दूसरी वात है **वासुदेवः सर्वं इति ।** अनेक जन्मो के वाद जव पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है तव ज्ञानी पुरुप की स्थिति कैसी होती है, यह वताते है। उसे सारा जगत् परमात्ममय मालूम होने लगता है। उसके चित्त से भेद की कल्पना निकलकर अभेद-ज्ञान पैदा होता है। ऐसे अभेद-दर्शी ज्ञानी पुरुप के लक्षण १३वे अध्याय मे ज्ञान के लक्षणो मे वताये गये है। दूसरे अध्याय मे स्थितप्रज्ञ के लक्षण वताये है। १२वे अध्याय मे भक्त के लक्षण वताये है। १४वे अध्याय मे त्रिगुणातीत पुरुप के लक्षण वताये है। १६वे अध्याय मे दैवी-सपत्ति के गुण वताये है। ये सव ज्ञानी पुरुष के ही लक्षण है। भगवान् रामचन्द्रजी का सच्चा निवास किस पुरुप मे हो सकता है, यह वताते हुए तुलसीदासजी की वाक्धारा चलती है

काम कोह मद मान न मोहा ।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्हके कपट दंभ नहि माया ।
तिन्हके हृदय वसहु रघुराया ॥

—'हे रघुनाथ, जिनके मन मे काम, क्रोध, मद, मान, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह, कपट, दभ,

—'जगत् मे राम के चार प्रकार के भक्त होते है आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। चारो पुण्यवान् होते है, निष्पाप और उदार होते है। इन चारो चतुर भक्तो को परमात्मा के नाम का ही आधार है। इन चारो मे से ज्ञानी भक्त भगवान् को विशेष प्रिय है। चारो वेदो मे और चारो युगो मे नाम का ही प्रभाव है। इस कलिकाल मे तो नाम की महिमा विशेष है। नाम को छोडकर दूसरा उपाय नही है।'

: २० :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
त तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

तैः तैः कामैः=उन-उन कामनाओ से, **हृतज्ञाना**=जिनका विवेक-ज्ञान हरण हो गया है, **स्वया प्रकृत्या नियता**=अपनी प्रकृति से नियत (वश) होकर, **त त नियमं आस्थाय**=देवो के उन-उन नियमो का आश्रय लेकर **अन्य देवता प्रपद्यन्ते**=अन्य देवो की शरण जाते हैं।

इस श्लोक मे चार वाते है १ उन-उन पुत्र, पशु, स्वर्ग आदि कामनाओ से जिनका विवेक-ज्ञान नष्ट हो गया है। २ अपनी प्रकृति से नियत (वश) होकर, ३ देवताओ के उन-उन नियमो का आश्रय लेकर, ४ परमातमा को छोडकर अन्य देवो की शरण जाते है।

(१) **तैः तैः कामैः हृतज्ञाना**। परमात्मा को छोडकर भिन्न-भिन्न देवताओ की जो लोग उपासना करते है, उनका प्रकरण इस श्लोक से शुरू हुआ है। परमात्मा एक है और अणु-अणु मे व्याप्त है, इसका ज्ञान न -होने से भिन्न-भिन्न देवताओ की उपासना चलती है। इसका कारण भगवान् वता रहे है। कहते है कि पुत्र, पशु, स्वर्ग आदि के वारे मे जिनके चित्त मे कामनाएँ वासनाएँ है और इस कारण जिनका विवेक-ज्ञान नष्ट हो गया है, वे भिन्न-भिन्न देवताओ की शरण लेते है। ससारी लोगो के सामने तरह-तरह की कठिनाइयाँ पैदा होती है। इनसे मुक्त होने के लिए कई देवताओ की उपासना की जाती है। शकर, पार्वती, विष्णु, काली माता, गणपति अनेक देवो की कल्पनाएँ समाज मे रूढ है। उनमे से किसी को चुनकर, उसकी भक्ति की जाती है। उद्देश्य कामना-पूर्ति होता है। कई तरह की अडचने खडी होती है, तव उपाय न सूझने से लोग देवताओ के पीछे पडते है। शास्त्र मे स्वर्ग और नरक की कल्पना है। पुण्य-कर्म करने से स्वर्ग और पाप-कर्म करने से नरक मिलता है। स्वर्ग मे वहुत सुख है और नरक मे वहुत दुख भोगना पडता है। शास्त्र की कोशिश मनुष्य को पाप-प्रवृत्ति से हटाने की रहती है। यह समझ मे आने जैसी वात है कि पुण्य-कर्म करनेवाले को इहलोक मे भी अच्छा जन्म मिले और पाप-कर्म करनेवाले को निकृष्ट जन्म मिले। कुछ लोग स्वर्ग-सुख की कामना से देवताओ की उपासना करते है। इसका कारण है कामनाएँ और इससे विवेक नष्ट हो जाता है, क्योकि देवताओ का अलग अस्तित्व तो है नही। यानी हम विवेक से जव सोचते है तो हमे यह वात जरूर ध्यान मे आ सकती है कि इन देवताओ मे भी वही परमात्मा है, जो सर्वत्र समानरूप से निवास करता है। विवेक से दूसरी वात यह ध्यान मे आ सकती है कि मन मे कामना रखने से हम अपनी परमात्म-शक्ति को मर्यादित कर देते है। इसलिए हमे फल भी क्षणिक मिलता है।

(२) दूसरी वात है **स्वया प्रकृत्या नियताः**। अपनी प्रकृति से नियत यानी वशीभूत होकर। विवेक-ज्ञान नष्ट होने के वाद प्रकृति या कामना-युक्त स्वभाव के वश होना, यह उसका स्वाभाविक परिणाम है। जहाँ विवेक-शक्ति वलवान् रहती है, वहाँ नाना प्रकार की कामनाएँ अपना वल नही रख सकती। कामनाओ का वल जहाँ वढता

है, वहाँ विवेक-शक्ति का बल कम हो जाता है। मनुष्य का मतलब ही है जिसमे विवेक शक्ति का बल मानसिक विकारो मे ज्यादा है। पशु-पक्षी मे इच्छा, वासना आदि विकार ही बलवान् रहते है।

(३) तीसरी बात है: **तं तं नियमं आस्थाय।** उन-उन देवताओ की आराधना के, उपासना के जो-जो नियम है, उनका आश्रय लेकर। देवताओ की आराधना के अनेक नियम होते है। उपासक समझता है कि नियमो का पालन करने से देवता सतुष्ट होकर कामनाओ को पूर्ण कर देते है।

(४) चौथी बात है **अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते।** परमात्मा को छोडकर अन्य देवताओ को भजते है। बिना कामना के भी विभिन्न देवताओ की उपासना हो सकती है। वह उपासना निष्काम होने से देवता तक ही सीमित रहती है, सो बात नही। निष्कामता मन मे आते ही देवताओ की उपासना, मे परमात्मा की भावना आने लगती है, इसलिए वह दिन-प्रतिदिन व्यापक बनती जाती है। जहाँ मन मे कामना पैदा होती है और उसीसे प्रेरित होकर जब किसी देवता की उपासना करते है, तब वह सकुचित, सीमित हो जाती है। इसलिए यहाँ कहा कि कामना रखते हुए भिन्न-भिन्न देवताओ की उपासना परमात्मा को छोडकर करते है।

: २१ :

यो यो यां यां तनुं भक्त. श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

य. य भक्त =जो-जो सकाम भक्त, **या यां तनु**=जिन-जिन देवताओ के स्वरूप की, **श्रद्धया अर्चितुं**=श्रद्धा से पूजा करने की, **इच्छति**=इच्छा रखते है, **तस्य तस्य**=उन उन सकाम भक्तो की, **ता एव श्रद्धा**=उसी श्रद्धा को, **अह अचलां**=मैं स्थिर, **विदधामि**=करता हूँ।

इस श्लोक मे दो बाते है १ जो-जो कामना रखनेवाले भक्त जिन देवताओ के स्वरूप की श्रद्धा से पूजा करने की इच्छा रखते है, २. उन सकाम भक्तो की उस श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ।

(१) **य. यः भक्त. यां यां तनु श्रद्धया अर्चितुं इच्छति।** जो-जो कामना रखनेवाले भक्त, जिन-जिन देवताओ के रूप की श्रद्धा से पूजा करने की इच्छा रखते है। यहाँ 'कामना रखनेवाले भक्त है' ऐसा कहा है। मतलब यह है कि कामना रखकर भी जो देवताओ की उपासना करते है, वे बिल्कुल निकम्मे है, ऐसी बात नही। कामना न रखते हुए भगवान् की भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ बात है, इसमे सदेह नही। लेकिन कामना रखकर भी जो देवताओ की उपासना करते है, वे बिलकुल हीन-कोटि के है, ऐसा नही समझना चाहिए। देवताओ के उन भक्तो की कामना कुछ काल के बाद नष्ट होने पर वे निष्काम बन सकते है और तब भक्ति का उनका अभ्यास व्यापक रूप से परमात्म-भक्ति मे काम आ सकता है। मन मे कामना थी, इसलिए देवता की उपासना की गयी। कामना निकल जाने से देवता के बदले मन मे व्यापक परमात्मा पैठ गया और उसकी उपासना या भक्ति शुरू हो गयी। इसीलिए यहाँ भिन्न-भिन्न देवताओ की उपासना करनेवालो का निषेध नही किया है, बल्कि 'भक्त' कहकर थोडा गौरव ही किया है।

यहाँ 'श्रद्धा' शब्द आया है। उपासना या भक्ति मे श्रद्धा बहुत आवश्यक है। विनोबाजी ने 'गीता-प्रवचन' के सातवे अध्याय मे एक दृष्टान्त दिया है कि "एक दफा मैं ट्रेन मे जा रहा था। यमुना के पुल पर गाडी आयी। पुलकित हृदय से पास बैठे हुए आदमी ने नदी मे एक पैसा डाल दिया। पास मे एक आलोचक बैठे हुए थे। वे बोले · 'देखिये, अपना देश कितना गरीब है और ये लोग इस तरह पैसे नदी मे डालकर बरबाद कर देते है।' मैंने उन्हे जवाब दिया कि यमुना नदी मे पैसा डालने मे उस आदमी का क्या हेतु था, यह

आपने पहचाना नही । जिस भावना से उसने पैसा डाला, क्या उस भावना की कीमत दो-चार पैसे हो सकती है ? एक नदी को देखकर मन मे पवित्र भावना उमडती है उसकी जो कीमत होगी, उसे पहचानने की हमारे मन मे शक्ति होनी चाहिए ।"

इस तरह कामना से ही सही, लेकिन श्रद्धापूर्वक यदि भगवान् को देवता समझकर वह जप आदि आराधना करता है तो उसकी भी बहुत कीमत है । विनोबाजी कहते हैं, मदिर मे नदी बैल रहता है, कछुआ भी रहता है । स्वतत्ररूप से उनकी कीमत बैल अथवा कछुए जितनी भी नही । लेकिन चूँकि वे मदिर मे भगवान् के सामने खडे हैं, इसलिए उन्हे भी भक्ति-भाव से नमस्कार करते हैं । अत भगवान् पहले यह बता रहे है कि जो-जो भक्त, जिन-जिन देवताओ के जिस स्वरूप की भक्ति श्रद्धापूर्वक करना चाहते हैं ।

(२) दूसरी बात है **तस्य तस्य तां एव श्रद्धा अचला विदधामि** । उन-उन भक्तो की उसी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ । ये अलग-अलग देवता और इनका अलग-अलग स्वरूप, हमने ही तय किया है । विष्णु का स्वरूप है शात, सौम्य । कालीमाता का उससे उलटा—भयानक । भयानक स्वरूप होने से कालीमाता सिर्फ फल-फूल से सतुष्ट नही होती । उसे सतुष्ट रखने के लिए बकरे का भोग देते हैं । कलकत्ते मे कालीमाता के सामने बकरो के खून की नदियाँ बहती देखकर गाधीजी को बडी घृणा हुई । वे कालीमाता के दर्शन को गये ही नही । लेकिन कालीमाता को छोडकर अन्य देवी-देवता सौम्य-स्वरूप होने के कारण उनकी पूजा के प्रकार सौम्य हैं, यह खुशी की बात है । लेकिन भगवान् यहाँ यह कहना चाहते हैं कि किसीकी श्रद्धा को मैं विचलित नही करता । बल्कि भगवान् कहते हैं कि मैं उस श्रद्धा को दृढ करता हूँ । जीव की स्वतन्त्रता मे भगवान् हस्तक्षेप नही करना चाहते । भगवान् का यह नियम सब प्राणियो पर लागू है । कोई मनुष्य किसी ग्रथ पर श्रद्धा रखता है, कोई किसी व्यक्ति पर श्रद्धा रखता है । भगवान् उस श्रद्धा को दृढ करते हैं । इस सम्बन्ध मे सत तुलसीदासजी का वचन है

जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू ॥

'जिसका जिसपर सत्य स्नेह यानी प्रेम है, श्रद्धा है, उसे वह प्राप्त हो जाता है, इसमे सदेह नही है ।'

: २२ :

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥

सः तया श्रद्धया युक्त=वह देवतोपासक उस श्रद्धा से युक्त होकर, **तस्या राधन ईहते**=उस देवता की आराधना करता है, **च तत**=और उस आराधना से, **मया एव हि**=मेरे द्वारा ही, **विहितान्**=निर्मित, **तान् कामान्**=उन कामनाओ को, **लभते**=प्राप्त करता है ।

इस श्लोक मे दो बाते है १ वह देवता-उपासक श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना करता है । २ उन देवताओ की आराधना से मेरे द्वारा ही निर्मित कामनाओ, फलो को प्राप्त करता है ।

यह श्लोक २० और २१वे श्लोक के अनुसधान मे ही है । तीन श्लोकों मे क्रमश तीन बाते बतायी है

१ परमात्मा का आश्रय छोडकर भिन्न-भिन्न देवताओ का आश्रय लेना,

२ उन देवताओ पर श्रद्धा रखकर उनकी पूजा, उपासना करने की इच्छा रखना । इसमे एक बात यह बतायी कि उस श्रद्धा को मैं दृढ करता हूँ,

३ फिर उस देवता की आराधना करने मे देवता के उपासको का लीन हो जाना ।

यह क्रम शास्त्रीय है, व्यवहार मे यही क्रम पाया जाता है ।

(१) **स. तया श्रद्धया युक्तः तस्याः राधनं ईहते।** वह देवोपासक श्रद्धापूर्वक उस देवता की उपासना करता है। देवताओ की आराधना वैराग्य-वृद्धि के लिए नही की जाती। मन मे नाना प्रकार की इच्छाएँ, वासनाएँ महत्त्वाकाक्षाएँ रहती है। उनकी पूर्ति के लिए देवता की शरण ली जाती है और आराधना की जाती है। ऐहिक सुख ज्यादा से ज्यादा मिले, सपत्ति प्राप्त हो, शरीर हृष्ट-पुष्ट रहे, कोई सकट न आये, ऐसी इच्छा से प्रेरित होकर देवता की आराधना की जाती है। जो हो, यह आराधना सकाम होने पर भी उसका फल तो मिलेगा ही।

(२) दूसरी वात है **मया एव हि विहितान् कामान् लभते।** मेरे द्वारा निर्माण की गयी काम-नाओ को, भोगो को, कामनाओ के फलो को वह प्राप्त करता है। देवता की आराधना का फल देवता से नही मिलता। देवता का भक्त तो यही मानता है कि कामना का फल देवता से ही मिला, लेकिन भगवान् यहाँ वताते हैं कि देवता की आरा-धना से भक्त को जो फल मिला, वह मुझसे ही मिला है। फलदाता परमात्मा ही है। हम पुण्य-कर्म करे अथवा पाप-कर्म, उसका फल देना परमात्मा का कार्य है। ऐसा लग सकता है कि हम देवता की उपासना करते है तो फल भी देवता से ही मिलना चाहिए। अथवा उपासना, ध्यान, भक्ति यह भी एक कार्य ही है, तो कर्म से ही सीधा फल मिलना चाहिए। लेकिन कर्म जड होता है और वह करते ही नष्ट हो जाता है। फल बहुत काल के वाद मिलता है, तो नष्ट हुए कर्म से अथवा कर्म के अभाव से फल की उत्पत्ति सभव नही है। इसी तरह देवता से भी सीधा फल नही मिलता। क्योकि देवता भी प्रत्यक्ष नही है। वह तो कल्पना मे रहता है। एक पत्थर को एक विशेष आकार दिया, उसे विष्णु नाम दे दिया। दूसरे पत्थर को एक दूसरा आकार दिया और उसे शकर नाम दे दिया, तीसरे पत्थर को और एक विशेष आकार दिया और कालीमाता नाम दे दिया। नाम देकर हम उसके प्रति मन मे विशेष भाव रखते है और उपासना, भक्ति करते है। लेकिन सारा ब्रह्माण्ड जिसने बनाया उसे छोडकर अन्य कोई वस्तु अस्तित्व मे है नही। अत भगवान् कहते है कि उसकी देव-श्रद्धा भी मैं ही दृढ करता हूँ और उस देवता की आराधना से जो फल मिलता है, वह मै ही देता हूँ। जिस कामना की पूर्ति के लिए देवता की बडी लगन से आराधना की, वह मै ही पूर्ण करता हूँ।

: २३ :

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

तु तेषा अल्पमेधसा=लेकिन उन मतिमदो को, **तत् फलं**=(मिलनेवाला) वह फल, **अन्तवत् भवति**=विनाशी होता है, **देवयज'**=देवता की उपासना करनेवाले, **देवान् यान्ति**=देवलोक को (स्वर्ग को) प्राप्त करते है। **मद्भक्ताः मा अपि यान्ति**=मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हे।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ देवता की आराधना करनेवाले भक्त अल्प-बुद्धि है। उन्हे देवताराधना से मिलनेवाला फल विनाशी होता है। २ देवता की उपासना करनेवाले भक्त देवो को प्राप्त होते है। और ३ जो मेरी भक्ति करते है, वे मुझे ही प्राप्त करते है, उन्हे मोक्ष प्राप्त होता है।

(१) पहली वात है **तेषा अल्पमेधसा तत् फलं अन्तवत् भवति।** देवता-भक्त अल्पमेधस् है। मेधा यानी बुद्धि। अल्पबुद्धि है, विवेकहीन है। सर्वत्र परमात्मा व्याप्त है, उसका आकलन करने की विवेक-शक्ति जिनके पास नही है, जो भावना मे वहनेवाले है, इसलिए जिनकी विवेकशक्ति क्षीण हुई है और परमात्मा को छोडकर अन्य देवताओ के पीछे पडे है, ऐसे

देवतोपासको को अल्प-फल मिलता है। कामनाओ की तृप्ति, वहुत ही अल्प फल है, क्योकि कामनाओ की तृप्ति शाश्वत नही होती। कामनाएँ अनेक होती हैं। एक कामना तृप्त होते ही तत्काल दूसरी कामना भी पैदा हो जाती है। कामना-तृप्ति का एक ही उपाय है—कामनाओ को उडा देना। एक-एक कामना को तृप्त करने मे कामना-तृप्ति का अत नही आता। इसलिए इस अध्याय के पहले श्लोक मे पहला शब्द है **मय्यासक्त-मनाः पार्थ**—'मेरे मे जिसका मन आसक्त हो गया है।' परमात्मा की आसक्ति दु खदायक नही होती। परमात्मा की आसक्ति मे तृप्ति का, आनन्द का अनुभव आता है, क्योकि परमात्मा आनन्द का सागर है। परमात्मा की आसक्ति जितनी ज्यादा होगी, उतना ही ज्यादा आनन्द आयेगा। इससे उलटी स्थिति कामनाओ की है। कामनाओ की आसक्ति से तात्कालिक तृप्ति का अनुभव जरूर आ सकता है, लेकिन शाश्वत आनन्द नही मिल सकता। पुत्र-प्राप्ति के लिए देव-आराधना की, पुत्र प्राप्त हो गया। उससे आनन्द जरूर होगा। मगर वह सु-पूत नही हुआ तो दु ख भी होगा। अल्पायुषी होकर मर गया तो दु ख और वढ जायगा। धन-प्राप्ति के लिए देवता की उपासना की, धन प्राप्त हो गया। मगर धन सदा वना रहेगा, यह कौन कह सकता है ? विनाशी वस्तु की प्राप्ति के लिए चाहे जितनी कोशिश की जाय ओर चाहे जितनी सफलता मिले, वह चीज विनाशी, अनित्य है, इसलिए इन चीजो से शाश्वत फल मिल नही सकता। इसलिए भगवान् कह रहे है कि उन अविवेकी देवतोपासको को जो फल मिलेगा, वह अन्तवान् रहेगा, शाश्वत नही होगा।

(२) दूसरी वात है . **देवयजः देवान् यान्ति।** देवता की उपासना करनेवाले देवो को प्राप्त होते हे यानी उन्हे स्वर्ग मिलता है। देवतोपासको को देवता की आराधना करने से जो अल्प फल मिलता है, वह दो प्रकार का होता है। एक तो वह जव तक जीवित रहते है तव तक प्राप्त होने-वाला और दूसरा वह जो देह छूटने के वाद प्राप्त होता है। जीवित रहते हुए फल का जो अनुभव मिलता है, वह ऐहिक फल है। लेकिन देवता की आराधना का मरने के वाद जो फल मिलता है, वह यह है कि उन्हे मृत्यु के वाद स्वर्ग मिलता है। प्रत्यक्ष आँखो से तो स्वर्ग कभी दिखाई नही देता। इसलिए इस जन्म मे स्वर्ग के प्रति श्रद्धा पैदा होना सभव नही। देह छूटने के वाद ही स्वर्ग-प्राप्ति और स्वर्ग से वापस इस लोक मे आने की कल्पना की गयी है। स्वर्ग मे कितने काल तक रहना पडेगा, इसकी अवधि निश्चित नही है। अतएव विनोवाजी कहते हैं कि इस सारे काल मे मन आदि सव इद्रियो को आराम मिल जाता है। गाढ निद्रा मे सव इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाने से उन्हे आराम मिलता है। मगर प्राण को कभी आराम नही मिलता। यो प्राण आराम ले भी नही सकता। प्राण को आराम तो देह छूटने के वाद ही मिलता है। देह छूटने के वाद प्राण लिगदेह के साथ ही रहता है। देह छूटने के वाद लिगदेह प्राण के आराम के लिए कुछ समय तक देह धारण किये विना ही रहता है। प्राण के आराम के समय लिगदेह मे मन साथ रहने से मन का स्वप्न चालू हो जाता है। जव तक मन मे वासनाएँ रहती हैं, तव तक वह निर्व्यापार नही रह सकता। जीवित-काल मे अच्छे कर्म किये हो तो अच्छे स्वप्न आ सकते हैं। ऐसे सुख-स्वप्नो मे काफी समय तक जीव रह सकता है। स्वर्ग मे सुख होता है, इसलिए सुख-स्वप्न की अवस्था मानो स्वर्ग ही है, इसलिए इस जन्म मे देवता की उपासना भले ही कामना से सही, लेकिन मन लगाकर की हो तो देह छूटने के वाद स्वर्ग मिलता है यानी सुख-स्वप्न मे वह वहुत काल तक रहता है और वापस इस मर्त्यलोक मे जन्म लेता है।

(३) तीसरी वात है · **मद्भक्ताः मां अपि यान्ति।** देवताओ के भक्त स्वर्ग मे जाते है, मगर मेरी भक्ति करनेवाले मुझे ही प्राप्त करते है, मोक्ष प्राप्त करते है। साक्षात् भगवान् की भक्ति का फल मोक्ष है, जहाँ जाकर फिर जन्म नही लेना पडता। ससार मे रहते हुए ससार के प्रति वैराग्य हो गया हो तो भगवान् की कामनारहित भक्ति हो सकती है। लेकिन यह वात वहुत आसान नही है। सत तुलसीदासजी लिखते है

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥

'परमात्म-भक्ति तो अनुपम और सुख का मूल है। लेकिन वह भक्ति सत अनुकूल हो जायँ तो प्राप्त हो सकती है।'

: २४ :

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामवुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

अवुद्धय =अविवेकी, **मम अव्यय**=मेरे अव्यय यानी अक्षय, **अनुत्तमं पर भाव**=उत्कृष्ट और अतिश्रेष्ठ भाव को, **अजानन्त** =न जाननेवाले (अज्ञानी), **अव्यक्त मा**= अव्यक्त मुझको, **व्यक्ति आपन्नं**=व्यक्त, **मन्यन्ते**=समझते है।

इस श्लोक मे दो वाते हे १ अविवेकी और अज्ञानी लोग मेरे अव्यय, अक्षय, उत्कृष्ट और अतिश्रेष्ठ स्वरूप को नही जानते। २ वल्कि मै जो अव्यक्त हूँ, उसे व्यक्त समझते है।

(१) शुरू मे भगवान् इसका कारण वतला रहे है कि देवता के उपासक देवता की ही उपासना करते है और मेरी उपासना क्यो नही करते। दो कारण वताये है एक तो उपासक की स्थिति और दूसरे, भगवान् का स्वरूप। उपासक की स्थिति दो विशेषणो से वतायी है १ अविवेकी और २. अज्ञानी। देवता के उपासक मे विवेक की कमी रहती है। इसके मूल मे वासना या कामना रहती है। चित्त मे अनेक इच्छाएँ रहती है और प्रवलता भी रहती है। इच्छा मन का गुण है। विचार या विवेक वुद्धि का गुण है। मनुष्य-जीवन मे मन की ही प्रवलता रहती है, वुद्धि की प्रवलता नही रहती। वुद्धि मे दो शक्तियाँ होती है १ ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति और २ सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म आदि परखने की शक्ति। ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति भी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ भेद मे तीन प्रकार की होती है। लेकिन ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति से विवेक-शक्ति की योग्यता वहुत अधिक है। मनुष्य की प्रवृत्ति ज्ञान-ग्रहण करने की शक्ति वढाने की ही रहती है। ज्ञान-शक्ति यानी विविध प्रकार से सृष्टि का विज्ञान प्राप्त करने की शक्ति। मगर सिर्फ ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति वढाने से, विविध प्रकार का ज्ञान-विज्ञान वढाने से विवेक-शक्ति नही वढती। डाक्टर, इजीनियर, प्रोफेसर आदि जो वौद्धिक-वर्ग के लोग है उनमे उन-उन विषयो का ज्ञान वहुत हो सकता है। मगर यह जरूरी नही कि उनमे विवेक-शक्ति वढी हुई हो। मन पर नियत्रण करने की शक्ति ही विवेक-शक्ति है। ज्ञान-शक्ति वढाने के साथ ही विवेक-शक्ति वढाने का लक्ष्य रहता है, तो विवेक-शक्ति वढ सकती है। लेकिन ज्ञान-शक्ति वढाने से पैसा और प्रतिष्ठा दोनो प्राप्त होते है। इसलिए समाज का लक्ष्य सिर्फ ज्ञान-शक्ति वढाने का ही रहता है। इसी वजह से विवेक-शक्ति का विकास नही हो पाता। इससे मन पर कावू नही रहता। विवेक-शक्ति सत्सग मे ही वढती है। विवेक-शक्ति का मतलव केवल सत्य-असत्य, नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य, योग्य-अयोग्य को जानना ही नही है। वल्कि उसके अनुसार मन वरते, इस प्रकार की नियत्रण-शक्ति भी इसमे समाविष्ट है। जव तक इस प्रकार की विवेक-शक्ति जीवन मे नही पनपती तव तक जीवन की क्रियाएँ मन के अनुसार चलती

है। मन भावनात्मक है। मन मे अच्छी-बुरी भावनाएँ उठती रहती है। जिस इच्छा-वासना की प्रबलता रहती है, उसीके अनुसार जीवन चलता है। तो भगवान् ने पहली बात विवेक-शक्ति की कमी की कही और दूसरी बात परमात्म-स्वरूप के बारे मे अज्ञान की कही।

मम अव्यक्त अनुत्तम परं भाव अजानन्तः। मेरे अव्यक्त, उत्कृप्ट, अतिश्रेप्ठ भाव को यानी स्वरूप को न जाननेवाले। इस वाक्य मे परमात्म-स्वरूप के तीन विशेपण है। पहला विशेपण है 'अव्यक्त' यानी जो दिखाई नही देता। यह सारा विश्व दिखाई देता है। इसमे न दिखाई देनेवाले पदार्थ भी है, जो अतिसूक्ष्म है, मगर इन्द्रिय-गोचर है। सूक्ष्मदर्शक यत्र से वे दिखाई देते है। अव्यक्त का मतलब सिर्फ दिखाई न देना ही नही है, इद्रियगोचर न होना भी है। मान लीजिये, परमात्मा दिखाई देने लगे, या किसी भी इन्द्रिय से मालूम होने लगे तो वह विनाशी हो जायगा। फिर वह जगत् की कोटि का हो जायगा। तब तो फिर परमात्मा का कोई दूसरा मूल कारण ढूँढना पडेगा। किन्तु ऐसी बात नही है। वह अविनाशी, अज, अव्यय, निर्विकार, निरवयव, अनत, व्यापक, अतिसूक्ष्म ही है। अत अव्यक्त का अर्थ है, जो इद्रियो से मालूम न हो। जो परमात्मा इद्रियो से मालूम नही होता, वह अनुभव से मालूम होता है। अनुभव के लिए मन को शुद्ध करना पडता है। शुद्ध मन से उसका अनुभव हो सकता है।

दूसरा विशेषण है 'अनुत्तम'। यानी जिससे और उत्तम चीज दुनिया मे कोई नही, ऐसी अति-उत्कृष्ट वस्तु। सृष्टि मे नाना पदार्थ है। उनमे कई पदार्थ उत्कृष्ट यानी सुन्दर होते है। देखकर मन प्रसन्न हो जाता है। इस विशाल सृष्टि मे अनन्त सौन्दर्य भरा पडा है। जब सृष्टि ही इतनी सुन्दर है, तो उसका निर्माता परमात्मा कितना सुन्दर होना चाहिए, इसकी कल्पना कर सकते है।

तीसरा विशेपण है 'पर भावम्'। पर भावम् यानी अतिश्रेप्ठ। अतिसुन्दर वस्तु की भाँति अति-श्रेष्ठ वस्तु भी दुनिया मे दिखाई देती है। सुन्दर वस्तु श्रेष्ठ ही हो, ऐसा कोई नियम नही। साक्रेटिस श्रेप्ठ थे, लेकिन सुन्दर नही थे। परमात्मा सुन्दर है, अतिश्रेप्ठ भी है। ऐसे अव्यक्त, अतिश्रेप्ठ और अतिसुन्दर परमात्मा के स्वरूप को न जाननेवाले।

(२) अव्यक्त मा व्यक्ति आपन्नं मन्यन्ते। अव्यक्त यानी अप्रकट ऐसा जो मै, उसे व्यक्त यानी प्रकट हुआ, ऐसा समझते है। परमात्मा का स्वरूप अव्यक्त है। परमात्मा का जो स्वरूप व्यक्त है, वह तो भासिक है, यथार्थ नही है। परमात्मा अपना यथार्थ स्वरूप गुप्त रखकर भासिक स्वरूप बतलाता रहता है। जगत् मे एक परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा मे इतनी अलौकिक शक्ति है कि वह एक होते हुए भी अनेक वस्तु का भास कराता है। अनेक झूठी वस्तुओ के भास द्वारा परमात्मा अपने अस्तित्व का भान कराता है, यह कितनी अद्भुत बात है! परमात्मा यदि दूसरी वस्तु का भास न कराये तो जगत् मे परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान कैसे होगा? सारा जगत् विनाशी, और परिवर्तनशील है। सारा जगत् एक कार्य है। उसका कारण अविनाशी, अपरिवर्तनशील, निर्विकार और निराकार होना ही चाहिए। जो देवता के भक्त है, वे परमात्मा का यह अविनाशी, अव्यक्त, ऐसा अद्भुत स्वरूप देख नही पाते यानी वह उनकी समझ मे नही आता। उनकी बुद्धि मे वह बैठता नही। इसलिए वे अनेक देवताओ की कल्पना के पीछे पडते है, क्योकि अव्यक्त परमात्मा को वे प्रकट हुआ समझते है। इसलिए उन देवताओ की उपासना के पीछे वे पागल होते है और परमात्मा को भूल जाते है। इसका फल भी उन्हे अल्प ही मिलता है।

: २५ :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

योगमायासमावृतः अहं=अपनी योगमाया से ढँका हुआ मैं, सर्वस्य प्रकाश. न=सबके लिए मैं प्रकाशित नही होता, अय मूढः लोक'=ये मूढ जीव, अज अव्ययं मा= जन्मरहित और अव्यय मुझे, न अभिजानाति=जानते नहीं हैं।

इस श्लोक मे दो बातें है. १. अपनी योगमाया से ढँका हुआ मै, सबके लिए प्रकाशित नही होता। २ ये अज्ञानी लोग मुझे जन्मरहित और अव्यय नही जानते।

(१) पहली बात है . **योगमायासमावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न**। अपनी योगमाया से ढँका होने के कारण मै सबके लिए प्रकाशित नही होता, प्रकट नही रहता। भगवान् की योगमाया यानी अलौकिक शक्ति। इससे वह अपने को ढँक रखता है और मिथ्या वस्तु बतलाता रहता है। यह भगवान् का नाटक है। भगवान् ज्ञान-शक्ति और सर्ग-शक्ति से सदा सम्पन्न रहते है। परमात्मा की ज्ञान-शक्ति परमात्मा का स्वरूप है। इसे स्वरूप-शक्ति भी कह सकते है। परमात्मा की ज्ञान-शक्ति का हमे अनुभव आता ही रहता है; क्योकि हमे सदैव सब वस्तुओ का ज्ञान होता रहता है। क्रोध आया तो उसका ज्ञान हुआ, क्रोध गया तो उसका ज्ञान हुआ। चित्त शात हो गया तो उसका ज्ञान हुआ और चित्त अशात हुआ, तो उसका भी ज्ञान हुआ। इस तरह मन मे जो अनेक प्रकार के भाव, विचार आते है उन सबको हम जानते रहते है। वैसे ही बाहर जो-जो घटनाएँ होती है, जो-जो व्यापार, व्यवहार, सृष्टि मे चल रहे है उनका भी हमे ज्ञान होता रहता है। यह ज्ञान-स्वरूपता कभी नष्ट हुई, ऐसा अनुभव हमे नही आता। हमारे अनुभव मे आनेवाली ज्ञान-स्वरूपता परमात्मा का अखड और नित्यस्वरूप है। परमात्मा मे जगत् का भास कराने की जो प्रचड शक्ति है, वह उसका दूसरा स्वरूप है और वह स्वरूप भी अखड है। परमात्मा के ये दोनो स्वरूप, एक-दूसरे मे भिन्न नही है। परमात्मा का जो चैतन्य-स्वरूप है, उसीमे जगत् का भास कराने की शक्ति है। परमात्मा को अपने स्वरूप को गुप्त रखना है तो वह दूसरे रूप मे प्रकट होने पर ही हो सकता है। हरिश्चन्द्र का पार्ट लेकर ही अभिनेता अपने को गुप्त रख सकता है। परमात्मा स्वय जगत् मे अस्तित्व-मान् है, ऐसा भान कराना हो तो भी किसी दूसरी वस्तु का भास कराकर ही वैसा हो सकता है। एक परमात्मा ही सारे ब्रह्माड मे व्याप्त हो और दूसरी कोई वस्तु अस्तित्व मे न हो, तो परमात्मा-जैसी वस्तु का अस्तित्व है, यह किसे मालूम हो सकेगा ? इसलिए परमात्मा का अस्तित्व है, यह मालूम करना हो तो भी दूसरी वस्तु का (जिसका अस्तित्व दरअसल नही हो) भास कराना ही उपाय हो सकता है। अत. भगवान् यहाँ बताते है कि मै अपनी योगमाया से यानी निरवयव, निर्गुण, निराकार, अमर्यादित, अव्यक्त होते हुए भी साव-यव, सगुण, साकार, मर्यादित, व्यक्त आदि का भास कराने की शक्ति के कारण सबके लिए प्रकट नही होता।

(२) **अयं मूढः लोक. अजं अव्ययं मां न अभिजानाति**। ये मूढ लोग मुझ अव्यय यानी क्षय-रहित, अविनाशी को नही जानते। परमात्मा का निर्गुण निराकार, अव्यय स्वरूप ही सत्य है और जो व्यक्त, सगुण, साकार, विनाशी स्वरूप दिखाई देता है, वह सही स्वरूप नही है—यह ज्ञान मूढ लोगो को नही है। सत तुलसीदासजी कहते है :

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दु.खरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ परे तम कूप ॥

—'काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारो मे जो रत है वे रघुपति को, परमात्मा को कैसे जान सकते है;

क्योकि वे मूढ तमरूपी यानी अज्ञानरूपी कुएँ मे पडे है।'

शीशा स्वच्छ न हो तो अपना स्वरूप दिखाई नही देता। कार्यरूप जगत् कारणरूप परमात्मा से बिलकुल भिन्न न होते हुए और कार्य का स्वतत्र अस्तित्व न होते हुए कारणरूप परमात्मा को भूल-कर कार्यरूप जगत् मे हम फँसे रहेगे तो भगवान् का जो निर्गुण, निराकार, अव्यय स्वरूप है, उसे नही पहचान सकते। इस तरह अपनी योगमाया से ढँक जाने के कारण सब मूढ जन मुझे नही जानते, ऐसा भगवान् कहते है। इसलिए लोग अलग-अलग देवताओ की उपासना करते रहते है।

: २६ :

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

अर्जुन=हे अर्जुन, अहं समतीतानि=मैं, भूतकाल मे जो हो गये, च वर्तमानानि=और जो वर्तमान मे है, च भविष्याणि=और जो भविष्य मे होगे, भूतानि=ऐसे भूतो को, वेद=जानता हूँ, तु मा कश्चन न वेद=लेकिन मुझे कोई नही जानता।

इस श्लोक मे दो बाते है १ जो भूतकाल मे हो गये, जो वर्तमान मे जीवित है और जो भविष्य मे होनेवाले है, ऐसे सब प्राणियो को मै जानता हूँ, २ मगर मुझे कोई नही जानता।

(१) **अहं समतीतानि च वर्तमानानि च भविष्याणि भूतानि वेद।** जितने भी प्राणी भूत-काल मे हो गये और वर्तमान मे जीवित है और भविष्य मे होनेवाले है, उन सबको मै जानता हूँ। यह बडी अद्भुत बात है। इस विशाल जगत् की रचना इतनी अद्भुत है कि देखकर हमारी बुद्धि काम नही करती। मनुष्य, पशु, पक्षी, जतु, छोटे-बडे असख्य कीडे इतनी सख्या मे पैदा होते है कि हम उनकी गिनती नही कर सकते। बरसात के मौसम मे रात को इतने कीडे इकट्ठा हो जाते है और उनमे इतनी विविधता रहती है कि देखकर आश्चर्यचकित रह जाते है। ये सब कहाँ से आते है, कहाँ जाते है और ये सब अल्पायु रहते है तो इन सबका ज्ञान रखना असभव है। आजकल वैज्ञानिक नयी-नयी खोजे करते है, लेकिन उन्हे किसी प्राणी को पैदा करने को कहा जाय तो नही कर सकते। नयी-नयी खोजे करके नये-नये जड़-पदार्थ वे बना सकते है, मगर चैतन्य-शरीर बनाने मे वे असमर्थ है। यहाँ भगवान् सृष्टि बनाने की बात नही कह रहे है। परमात्मा की सृष्टि तो कोई बना नही सकता, मगर जो सृष्टि उसने बनायी है, उसका पूर्ण ज्ञान भी मनुष्य की शक्ति के बाहर है। ज्ञान तो अलग, गिनती तक करना कठिन है। लेकिन भगवान् कहते है, कि भूत, वर्तमान, भविष्य—तीनो कालो मे जो प्राणीमात्र पैदा होते है, उन सबका ज्ञान मुझे है। असख्य प्राणियो के असख्य कर्म है। उन सब प्राणियो के कर्मो के अनुसार उनको फल देना, उनके कर्मो के अनुसार उन्हे उच्च, मध्यम या निम्न कोटि मे जन्म देना, यह सब परमात्मा ही करता है। सत तुलसीदासजी ने कहा है :

असि सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

'परमात्मा की यह सब करनी इतनी अलौकिक है कि उसकी महिमा का वर्णन नही हो सकता।'

(२) **तु मा कश्चन न वेद।** लेकिन मुझे कोई नही जानता। भगवान् सबको जानते है। हम भगवान् को नही जानते, इसका क्या कारण है ? ब्रह्मसूत्र शाकर-भाष्य मे इसका कारण इस प्रकार बताया है :

अपि च अविद्यादिमतः ससारिणः शरीराद्य-पेक्षया ज्ञानोत्पत्तिः स्यात्, न ज्ञानप्रतिबंधरहितस्य ईश्वरस्य। 'अज्ञान से युक्त जो ससारी जीव है, उन्हे शरीर आदि की अपेक्षा से यानी शरीरादि साधन होने से ज्ञान होता है। लेकिन ज्ञान के लिए किसी

प्रकार के प्रतिबंध से रहित ईश्वर के लिए शरीरादि साधनो की जरूरत नही रहती।'

जीव को शरीरादि साधनो से ज्ञान होता है। शरीरादि साधनो से पचविषयो का ही ज्ञान होता है। शरीरादि साधन न हो तो जीव को किसी भी प्रकार का ज्ञान नही होता। शरीर जब छूट जाता है, तब मन की उपाधि जीवात्मा के लिए रहती है। मन के साथ सबध होने से ज्ञान होता है। इस तरह शरीर-मन आदि उपाधियो से जीव को ज्ञान होता है। तो भी उपाधियो के कारण अपने बारे मे अज्ञान भी रहता है। यदि हम अपना अज्ञान दूर कर सके तो हमे कुछ हद तक परमात्मा की ज्ञान-शक्ति प्राप्त हो सकती है। परमात्मा की ज्ञान-शक्ति के लिए कोई रुकावट नही है। परमात्मा सारे ब्रह्माड की उपाधि धारण करता है; मगर अलिप्त होने से उसकी ज्ञान-शक्ति मे कोई रुकावट नही आती और उसे सारे जगत् का ज्ञान रहता है। हमारी ज्ञान-शक्ति देहासक्ति का प्रतिबध रहने से सीमित हो जाती है। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य मे लिखा है :

न च तस्य ज्ञानप्रतिबंधः शक्तिप्रतिबंधः वा क्वचिदपि अस्ति। सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वात् च। —'और उस ईश्वर के लिए थोडा-सा भी ज्ञान-प्रतिबध अथवा शक्ति-प्रतिबध नही होता, क्योकि उसमे अखड सर्वज्ञ-शक्ति और ब्रह्माड पैदा करने की शक्ति है।'

परमात्मा मे सर्वज्ञ-शक्ति है, वह अखड है, इसलिए उसकी ज्ञान-शक्ति पर कोई प्रतिबध नही होता इसी तरह उसके पास जो सर्ग-शक्ति, चाहे जो पैदा करने की शक्ति है, वह भी अखड रहती है, उसके लिए भी कोई प्रतिबध खडा नही होता। क्योकि वह जगत् की उपाधियो से युक्त होते हुए भी उसमे अलिप्त रहता है। इसलिए उसकी ज्ञान-शक्ति और सर्ग-शक्ति ज्यो-की-त्यो रहती है। इसी सिलसिले मे [illegible] भाष्य मे शंकराचार्य स्पष्ट [illegible] हमारे अनुभव मे आ

यत्प्रसादात् हि योगिनां अपि अतीतानागत-विषयं प्रत्यक्षं ज्ञानं इच्छन्ति योगशास्त्रविद. किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्य ईश्वरस्य सृष्टि-स्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवति इति। अर्थात्—'जिस ईश्वर के प्रसाद से योगीजनो को भी भूत और भविष्य की घटनाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा योग-शास्त्रवेत्ता मानते है, तो इसमे तो कहना ही क्या कि उस नित्य-सिद्ध ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, लय के बारे मे नित्य यानी हमेशा अखड ज्ञान रहता है।'

: २७ :

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परतप॥

परतप भारत=हे परतप, यानी शत्रु को ताप देनेवाले अर्जुन, **सर्वभूतानि**=सब प्राणीमात्र, **सर्गे इच्छाद्वेष-समुत्थेन**=उत्पत्ति के समय इच्छा-द्वेष से पैदा हुए, **द्वद्व-मोहेन**=सुख-दुःख आदि द्वद्व-मोह से, **समोह यान्ति**=मूढता को प्राप्त होते है।

इस श्लोक मे दो बाते है १ इच्छा-द्वेष यानी राग-द्वेष से पैदा हुए जो सुख-दुःख आदि द्वद्व, २ उससे प्राणीमात्र उत्पत्ति के समय मूढता को, अविवेक को प्राप्त होते है।

(१) पहली बात है **इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वद्व-मोहेन।** इच्छा-द्वेष यानी राग-द्वेष से पैदा होनेवाला सुख-दुःख आदि द्वद्व यानी द्वैत। ससार मे हमे अद्वैत का अनुभव नही होता। सब द्वैत का ही अनुभव करते है। लेकिन सबके मूल मे अद्वैत ही है। भेद का अस्तित्व हो तो भेद और अभेद—ऐसी दो वस्तुओ का अस्तित्व हो जायगा। भेद के अभाव मे भेद कैसे रह सकता है ? मतलब यह है कि या तो भेद सत्य है, अथवा अभेद। भेद सत्य हो तो अभेद सत्य नही हो सकता। फिर अभेद सत्य हो तो भेद सत्य नही हो सकता। प्रकाश और अधकार एक साथ नही रह सकते। जितने भी

भेद दिखाई देते है वे सव विनाशी, क्षणिक है । उनमे परिवर्तन होता है । जो वस्तु क्षणिक है, विनाशी है, परिवर्तनशील है, उसे सत्य पदार्थ नही मान सकते । जव जगत् के सारे पदार्थ विनाशी, क्षणिक और परिवर्तनशील है तो उन पदार्थो की तह मे कोई अविनाशी, शाश्वत और अपरिवर्तनशील वस्तु होनी चाहिए, ऐसा सहज ही अनुमान कर सकते है ।

विनाशी वस्तु कार्य-कोटि मे आती है । जहाँ कार्य है, वहाँ उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए । क्योकि कारण से ही कार्य होता है । कार्य मे भेद मालूम होता है, लेकिन मूलकारण मे भेद की कल्पना नही कर सकते । यह मूलकारण अभेद ही होना चाहिए । यह अभेद या अद्वैत या एक परमात्मा ही सत्य है और भेद, द्वैत या द्वन्द्व न होकर मूल सत्यरूप परमात्मा का भास है । तो यह जो द्वद्व यानी भेद दिखाई देता है, उसमे नाना प्रकार के असख्य पदार्थ दिखाई देते है । उनके ज्ञान के लिए हमारे पास ज्ञानेन्द्रियाँ और मन है । इनसे विपयो का ज्ञान होता है और इच्छा-द्वेप यानी राग-द्वेप पैदा होते है । इच्छा और द्वेप अथवा राग और द्वेप आदि की जो लहरे पैदा होती है, उनका मूल अज्ञान है । अज्ञान का मतलव है अपने स्वरूप के प्रति अज्ञान । देह, मन, वुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सघात को हम अपना स्वरूप समझते है, उससे अहकार का प्रवाह शुरू होता है । फिर अहकार की और ममत्व की नदी के प्रवाह मे इच्छा-द्वेप या राग-द्वेप की लहरे पैदा होती है और इन राग-द्वेप से द्वद्व-मोह पैदा होता है । द्वद्व यानी द्वैत, भेद । हमारे सामने जो सृष्टि खड़ी है, उसमे भेद ही भेद दिखाई देता है । इस भेद के वारे मे मोह पैदा होता है । मोह के अनेक प्रकार है । कौटुविक मोह, मान-सम्मान का मोह आदि । शकराचार्य लिखते है . **तत्र यदा इच्छा-द्वेषौ सुखदु.खतद्धेतुसप्राप्त्या लब्धात्मकौ भवतः तदा तौ सर्‌वभूतानां प्रज्ञायाः स्ववशापादनद्वारेण परमार्‌थाआत्मतत्त्वविषयज्ञानोत्पत्तिप्रतिवधकारणं मोहं जनयतः ।**

अर्थात्–'सुख-दु ख और उनके निमित्त यानी कारण उपस्थित होने पर प्राणियो मे जव इच्छा-द्वेप पैदा होते है, तव वे इच्छा-द्वेप सव भूतो की वुद्धि को अपने वश मे करके परमार्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान पैदा होने मे प्रतिवन्धरूप मोह पैदा करते है ।'

मिठाई खाने से यदि सुख का अनुभव होता है तो मिठाई की इच्छा पैदा होगी । सुख का निमित्त मिठाई हुई । मिठाई न मिलने से दु ख हुआ तो उस दु ख से द्वेप पैदा होगा । इस तरह एक ही वस्तु से सुख और दु ख पैदा होते है और उनसे इच्छा-द्वेप पैदा होते है । ये इच्छा-द्वेप प्राणीमात्र की वुद्धि अपने वश मे कर लेते है और इसीसे मोह होता है जो परमात्म-ज्ञान मे वाधक है । निष्कर्प यह है . १ पचविपयो के साथ हमारा सवध ही सुख-दु ख का निमित्तकारण है । २ सुख-दु ख से इच्छा-द्वेप पैदा होते है । ३ इच्छा-द्वेप से मोह पैदा होता है, ४ और मोह परमात्म-ज्ञान मे वाधक है ।

शकराचार्य कहते है . **नहि इच्छाद्वेष दोषवशीकृतचित्तस्य यथाभूतार्‌थविषयज्ञान उत्पद्यते वहिः अपि किमु वक्तव्यं ताभ्यां आविष्टवुद्धेः संमूढस्य प्रत्यगात्मनि वहुप्रतिवंधे ज्ञान न उत्पद्यते ।**

अर्थात्–'इच्छा और द्वेपरूपी दोपो के वश जिनका चित्त हो गया, ऐसे पुरुप को वाह्य विपयो का भी यथार्थ ज्ञान नही होता तो इच्छा-द्वेप के अधीन होने से जिनकी वुद्धि मोहित हो गयी, ऐसे मूढ पुरुप को जिस ज्ञान के लिए वहुत प्रतिवध है, ऐसे प्रत्यगात्मा यानी परमात्मा के वारे मे जो ज्ञान है, वह पैदा नही होता ।

हमारा चित्त किसी भी कारण से राग-द्वेप के अधीन हो गया हो, व्याकुल हो गया हो, प्रक्षुव्ध हो गया हो, तो वाह्य स्थूल-विपयो का भी ज्ञान ठीक-ठीक नही हो पाता । किसी भी वाह्य-विपय के अभ्यास मे चित्त एकाग्र नहीं हो पाता । गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र आदि विपयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी चित्त राग-द्वेपरहित, क्षोभरहित,

व्याकुलतारहित होना चाहिए। जब परमात्मा शरीर मे निवास करता है या शरीर में प्रकट होता है, तो उसे प्रत्यगात्मा कहा जाता है। परमात्मा स्थूल वस्तु तो है नही, अतिसूक्ष्म है। वह इन्द्रियों से नही जाना जाता। ऐसे परमात्मा का ज्ञान हासिल करना हो तो चित्त राग-द्वेषरहित, अप्रक्षुब्ध, व्याकुलतारहित होना चाहिए।

(२) सर्वभूतानि सर्गे संमोहं यान्ति. प्राणीमात्र इच्छा-द्वेषजन्य द्वन्द्व-मोह से मोहित होकर देह धारण करते है, पैदा होते है। इच्छा-द्वेष से पैदा होनेवाला मोह परमात्म-ज्ञान को ढक लेता है। इस मोह से युक्त होकर ही हम जन्म लेते है। इसलिए जीवनभर मोहरूपी बीज का वृक्ष बढ़ता रहता है। जीवन मे निरन्तर सत्संग मिलता रहे, तो मोह का क्षय हो सकता है। जब तक मोह रहता है, तब तक अविवेक-दशा मे ही जीवन बीतता है।

: २८ :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

तु=लेकिन, येषां पुण्यकर्मणां जनानां=पुण्य-कर्म करनेवाले जिन लोगों का, पापं अन्तगतं=पाप क्षीण हो गया है, ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ताः=वे द्वन्द्व-मोह से सर्वथा मुक्त होकर, दृढव्रताः=दृढव्रती होकर, मां भजन्ते=मेरी भक्ति करते हैं।

इस श्लोक मे तीन बातें है . १. पुण्य-कर्म करनेवाले जिन लोगो का पाप क्षीण हो गया है, २. वे द्वन्द्व-मोह से सर्वथा मुक्त होकर ३. दृढव्रती होकर मेरा भजन करते है।

(१) येषां पुण्यकर्मणां जनानां पापं अंतगतं। पुण्य-कर्म करनेवाले लोगो का पाप क्षीण हो जाता है। कर्म तीन प्रकार के होते है सात्त्विक, राजसिक, तामसिक। राजसिक और तामसिक कर्मो की यदि प्रबलता रही तो पापकर्म करने की वृत्ति रहेगी। आत्मज्ञान की विरोधी चीज पाप है। पाप का मतलब है असत्याचरण, हिंसा, गृहस्थाश्रम में-ब्रह्मचर्य का अमर्यादित भंग। समाज से ज्यादा-से-ज्यादा धन प्राप्त कर लिया, अपने लिए ही उसका उपयोग करना, संग्रहवृत्ति बढ़ाना, आध्यात्मिक दृष्टि से पाप में इन सब बातों की गिनती होती है। इसमें से निकलने का उपाय है पुण्य-कर्म में रत रहना। राजसिक और तामसिक कर्मों का त्याग करके सात्त्विक-कर्म करने का स्वभाव बन जाय, ऐसी स्थिति आनी चाहिए। मन में काम, क्रोध आदि विकार पैदा होते हों और बाहर से सात्त्विक-कर्म चलता रहता हो, तो भी चित्त की शुद्धि नहीं होगी। इसलिए बाहर से सात्त्विक-कर्म में रत रहना और भीतर इच्छा, द्वेष, अहंकार आदि विकार पैदा न हों, ऐसी कोशिश करना, ये दोनों चीजें साथ-साथ चलनी चाहिए। सात्त्विक-कर्म का मतलब है सात्त्विक-आहार आदि। जैसा कि १७वें अध्याय में कहा है, सात्त्विक-गुण जो १६वें अध्याय के शुरू के तीन श्लोकों में बताये हैं, १३वें अध्याय के ज्ञान के लक्षण गुण, १४वें अध्याय के त्रिगुणातीत के गुण दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ के लक्षण और १२वें अध्याय के भक्त के गुण—इन सबको प्राप्त करने की कोशिश करना। इस तरह जीवन की सब क्रियाओं में सत्त्वगुण का उत्कर्ष करने का अभ्यास जरूरी है। इस प्रकार सब तरह से अंतर्बाह्य सात्त्विकता का उत्कर्ष जीवन में हो, तभी आत्मज्ञान में बाधक पाप के क्षीण होने की संभावना है।

(२) ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता.। वे द्वन्द्व-मोह से मुक्त हो जाते है। पुण्यकर्म करने से पाप क्षीण होता है और पापकर्म क्षीण होने से द्वन्द्व-मोह मिट जाता है। यहां मोह से दूर होने का रास्ता बताया है। द्वन्द्व-मोह अनेक प्रकार के रहते है। गीता के पहले अध्याय मे कौटुंबिक मोह के कारण कितनी दीन स्थिति हो जाती है, यह अर्जुन के उदाहरण से बताया है। सार्व-

जनिक सेवा-कार्य मे पडते है तो भी यह मोह हमे नही छोडता। सार्वजनिक सेवा-कार्य मे जब कुछ अधिकार प्राप्त होता है, तब यह मोह या आसक्ति बराबर अपना बल दिखाती है। मोह चित्त मे व्याकुलता पैदा करता है। जब तक निष्काम-भाव से केवल कर्तव्य समझकर जीने की कर्तव्य-दृष्टि प्राप्त नही होती, जगत् का स्वरूप विनाशी है, क्षणिक है, यह बात चित्त मे बराबर जम नही जाती, तब तक द्वद्व-मोह तग करते ही रहते है। पुण्यकर्म मे रत होकर पाप-कर्म क्षीण होकर द्वद्व-मोह से जब पूरे छूट जाते है तब वृत्ति का प्रवाह अखडरूप से परमात्मा की तरफ बहने लगता है।

(३) **दृढव्रता मां भजन्ते**। मुझे दृढव्रती होकर यानी बहुत ही निश्चयपूर्वक मेरा भजन करते है, भक्ति करते है। **दृढव्रताः** शब्द का अर्थ शकराचार्य बताते है ' **परमार्थतत्त्वं एवं एव न अन्यथा इति एव निश्चितविज्ञाना. दृढव्रताः उच्यन्ते**। अर्थात्—'परमार्थतत्त्व यानी जगत् का मूल-तत्त्व—जिसे परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म नाम दिया जाता है, वह इसी स्वरूप का है, वह यही है, अन्य स्वरूप का नही है। इस प्रकार जिन्हे निश्चितरूप से ज्ञान हो गया है, उसके बारे मे यानी परमात्म-स्वरूप के बारे मे जिन्हे बिल्कुल शका नही रही, ऐसे पुरुष दृढ-व्रती है।'

जब तक मनुष्य द्वद्व-मोह मे फँसा रहता है, तब तक परमात्मा के स्वरूप के बारे मे वह नि शक नही होता। मोह शकाओ का जनक है। श्रद्धा से ईश्वर-तत्त्व को स्वीकार किया हो तो उसका अपना मूल्य है ही। मगर परमात्मा के स्वरूप के बारे मे सब शकाएँ दूर होकर वृत्ति नि शक होकर परमात्म-तत्त्व स्वीकार हो जाय तो ज्ञानपूर्वक भक्ति पैदा हो सकती है। श्रद्धापूर्वक भक्ति और ज्ञानपूर्वक भक्ति, इस तरह भक्ति दो प्रकार की है। परमात्म-तत्त्व के बारे मे यथार्थ-ज्ञान होना आसान नही है। लेकिन मोह का संस्कार क्षीण होकर मन से मोह दूर हो गया हो तो परमात्म-स्वरूप के बारे मे ब्रह्म-सूत्र आदि ग्रथो के अभ्यास से यथार्थ-ज्ञान पैदा हो सकता है—यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ 'दृढव्रता.' यानी सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह—इन महाव्रतो के पालन मे जो दृढ है, यानी बहुत पक्के है। जो भलीभाँति इन व्रतों का पालन करते है, ऐसा भी अर्थ ले सकते है। एक ओर पुण्य-कर्म मे रत होकर पाप-कर्म क्षीण करना और दूसरी ओर सत्य, अहिंसा आदि व्रतो मे दृढ रहना और द्वंद्व-मोह से निकल जाना, ये तीन बाते बराबर सबने से परमात्मा की भक्ति अखड सध सकती है। भक्ति का प्रवाह जीवन मे अखड चालू रहेगा।'

: २९ :

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदु. कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

जरामरणमोक्षाय=बुढापा और मृत्यु से मुक्त होने के लिए, **ये मा आश्रित्य यतन्ति**=जो मेरा आश्रय लेकर कोशिश करते है, **ते तद्ब्रह्म विदु**'=वे उस ब्रह्म को जान लेते है, **कृत्स्न अध्यात्म**=सारे अध्यात्म को, **च अखिलं कर्म**=और सारे कर्म को, **विदु.**=जानते है।

इस श्लोक मे चार बाते है. १ जरा यानी बुढापा और मृत्यु से मुक्त होने के लिए मेरा आश्रय लेकर जो यत्न करते है, २ वे ब्रह्म के स्वरूप को यानी निर्गुण-ब्रह्म को भलीभाँति जानते है। वैसे ही ३ सारे अध्यात्म को यानी शरीर मे स्थित प्रत्यगात्मा को और ४ सारे कर्म को यानी ब्रह्म के सगुण, सक्रिय, निराकार स्वरूप को जानते है।

---

१ सत्य अहिंसा आदि जो पचमहाव्रत हैं, उनका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण गाधीजी ने 'मगल-प्रभात' पुस्तक मे किया है। लेखक की 'अभग-व्रत विवेचन' पुस्तक देखना उपयुक्त होगा।

(१) **जरामरणमोक्षाय मां आश्रित्य ये यतन्ति।** बुढ़ापा और मृत्यु से मुक्त होने के लिए साधक या मुमुक्षु मेरा आश्रय लेकर कोशिश करते हैं। मनुष्य जन्म लेता है, फिर बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और अंत में मृत्यु तक पहुँचता है। गर्भावस्था भी एक अवस्था है। उस अवस्था में बहुत दुःख रहता है, ऐसा भी शास्त्रकार कहते हैं। इन सभी अवस्थाओं में दुःख का अनुभव कम-ज्यादा परिमाण में हरएक को आता है। इन अवस्थाओं का जब हम परीक्षण करते हैं, तब मालूम होता है कि सबसे ज्यादा दुःख मृत्यु के समय होता है। लेकिन और अवस्थाओं से ज्यादा दुःख बुढ़ापे में होता है। बुढ़ापे में शरीर शिथिल हो जाता है, रोग भी घेर लेता है। कुछ सेवा भी लेनी पड़ती है, स्मरण-शक्ति भी मन्द हो जाती है। कुछ निष्क्रियता भी आती है, मृत्यु का डर भी पैदा होता है। जीने की इच्छा होते हुए भी ज्यादा जी नहीं सकेंगे, ऐसा मालूम होता है। इसलिए बुढ़ापा और मृत्यु इन दो अवस्थाओं का ही जिक्र यहाँ किया गया है। इन अवस्थाओं के दुःख का कारण देह-बुद्धि ही है। यह देह-बुद्धि छोड़ने का सुलभ उपाय भक्ति है। भगवान् उसीको फिर से यहाँ बतला रहे हैं कि जरा-मरण से मुक्ति पाने के लिए साधक मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं। तुलसीदासजी ने भक्ति को ही मुख्य उपाय बताया है। वे लिखते हैं :

व्यापहिं मानस रोग न भारी।
जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥
राम भगति मनि उर बस जाके।
दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥

—'जिनके अधीन होने से सब जीव दुःखी हो जाते हैं, वे अतिदुर्धर मानसिक रोग, जिनके हृदय में राम-भक्ति निवास करती है, उन्हें तकलीफ नहीं दे सकते। इस भक्ति के कारण उन्हें थोड़ा-सा भी दुःख, स्वप्न में भी नहीं होता।'

आगे लिखते हैं :

सबकर मत खगनायक एहा।
करिय रामपद पंकज नेहा॥
स्रुति पुराण सब ग्रंथ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

—'सब मुनि, ऋषियों का यही मत है कि रामचन्द्र के पदकमलों में स्नेह करना चाहिए। श्रुति, पुराण और सारे ग्रंथ यही कहते हैं कि रामचन्द्र की भक्ति के बिना किसीको सुख नहीं मिल सकता।'

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा।
मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

—इस तरह हरिभजन के बिना जीव के क्लेश कभी मिट नहीं सकते।

(२) **ते तद्ब्रह्म विदुः।** वे यानी भक्त ब्रह्म को (निर्गुण-ब्रह्म को) ठीक-ठीक जान लेते हैं। मूल में ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निरवयव, अव्यक्त, अमर्यादित है। उसकी पहचान भक्ति से ही हो सकती है। भक्ति यानी उत्कट प्रेम।

(३) **कृत्स्नं अध्यात्मं विदुः।** वे सारे अध्यात्म को जान लेते हैं। 'अध्यात्म' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं : १ निर्गुण-ब्रह्म शरीर में प्रत्यगात्मा के रूप में प्रकट हुआ है। सारे ब्रह्मांड में निर्गुण ब्रह्म अप्रकट है। लेकिन नाना प्रकार के मनुष्य, पशु, पक्षी, जंतु आदि शरीर में यह जीवात्मा या आत्मा या प्रत्यगात्मा के रूप में प्रकट हुआ है। प्रकट परमात्मा को आत्मा, जीवात्मा या प्रत्यगात्मा कहा जाता है। यह अध्यात्म का एक अर्थ है। २. दूसरा अर्थ यह है कि निर्गुण-ब्रह्म अव्यक्त, निराकार, निरवयव रहते हुए ही सगुण हुआ। सगुण यानी आकारवान् या व्यक्त या अवयवों से युक्त नहीं लेना है। निर्गुण-ब्रह्म में सिर्फ गुण ही पैदा हुआ यानी जगत् बनाने का संकल्प पैदा हुआ। पहले ब्रह्म निर्गुण रहता है। उसे जगत् का भास पैदा करना है।

जब पहले संकल्प पैदा होगा, तभी जगत् का भास पैदा करने की क्रिया होगी। हमे भी जब कोई कार्य करना होता है, तब पहले संकल्प पैदा होता है। संकल्प के बाद कार्य मे प्रवृत्त होते है। निर्गुण-ब्रह्म मे जगत् का भास पैदा करने का जो संकल्प पैदा हुआ, उसे 'सगुण' कह सकते है। इस सगुण को अध्यात्म नाम दिया गया है। परमात्मा शरीरो मे प्रकट होता है, तो कोई व्यक्त, साकार, या सावयव नही होता। वह गुणयुक्त ही होता है। शरीर मे वह प्रकट होता है तब उस परमात्मा का स्वरूप सत्-चित्-आनन्द इन तीन गुणो मे ही मालूम होता है। लेकिन सत्, चित्, आनन्द, यह स्वरूप शरीर मे अनुभव में आने पर भी वह स्वरूप अव्यक्त, निराकार और निरवयव ही होता है। इसलिए निर्गुण-ब्रह्म गुणयुक्त यानी संकल्पयुक्त हुआ अथवा सत्-चित्-आनन्द इस रूप मे प्रकट हुआ।

(४) **अखिलं कर्म विदु.।** सारे कर्म को वे जान लेते है यानी निर्गुण-ब्रह्म सगुण यानी संकल्प-युक्त बनने के बाद क्रियायुक्त, गतिशील बना। ब्रह्म मे पहले जगत् का भास पैदा करने का संकल्प पैदा हुआ और बाद मे जगत् का भास पैदा करने की क्रिया पैदा हुई। अभी जगत् पैदा नही हुआ है। पैदा होने की यह सब पूर्व-तैयारी है। हमे भी जब कोई कार्य करना होता है, तब पहले संकल्प होता है और बाद मे क्रिया करने मे प्रवृत्त होते है और बाद मे प्रत्यक्ष कार्य शुरू करते है। कुम्हार को घडा बनाना हो तो पहले संकल्प पैदा होगा। बाद मे घडा बनाने के साधन इकट्ठे करने होगे। फिर वह घडा बनाना शुरू करेगा। परमात्मा की जो भक्ति करता है, वह इस तरह सारे अध्यात्म को यानी ब्रह्म की सगुणता और सारे कर्म को यानी ब्रह्म मे पैदा होनेवाली हलचल को, क्रियाशीलता को, गतिमत्ता को सही रीति से जान लेता है।

: ३० :

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

ये साधिभूताधिदैवं=जो अधिभूत और अधिदैव यानी जीवभाव इन दो के साथ, **च साधियज्ञं**=और अधियज्ञ के साथ, **मां विदु.**=मुझे जान लेते है, **ते युक्तचेतस.**=वे निर्विकार, युक्तचित्त, भक्त, **प्रयाणकाले अपि च**=प्रयाण के समय भी, **मां विदु.**=मुझे जान लेते है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जो साधि-भूत यानी ब्रह्म की साकारता, २. अधिदैव यानी शरीर का अभिमानी देवता यानी जीवभाव, ३. साधियज्ञ यानी चित्त शुद्ध होने के बाद की जीव की शुद्ध अवस्था यानी शुद्ध जीव के शुद्ध रूप के साथ मुझे जो जान लेते है, ४ वे निर्विकार, शात-चित्त भक्त मृत्यु के समय भी मुझे जानते है।

निर्गुण-ब्रह्म, यह पहली मूल अवस्था है। इस मूल निर्गुण-ब्रह्म मे जगत् का भास कराने का संकल्प पैदा हुआ, यह ब्रह्म की दूसरी सगुणावस्था है। फिर उसमे जगत् का भास पैदा करने के लिए सक्रियता पैदा हुई, यह ब्रह्म की तीसरी अवस्था हुई। इन तीन अवस्थाओ का जिक्र पीछे के श्लोक मे आ गया।

(१) **अधिभूत**—यह निर्गुण-ब्रह्म की चौथी अवस्था है। अधिभूत की अवस्था यानी जगत् का साकार होना। पंचमहाभूतो मे प्रकट होना। निर्गुण-ब्रह्म या परमात्मा जगत् के पंचमहाभूता-त्मक पदार्थो मे प्रकट हुआ। ऊपर की तीन अव-स्थाओ तक परमात्मा अव्यक्त, अप्रकट ही रहता है। चौथी अवस्था अधिभूत की आयी यानी ब्रह्म साकार बना।

(२) **अधिदैव**—यह ब्रह्म की पाँचवी अवस्था है। अधिदैव यानी शरीर का अभिमानी देवता। शरीर का अभिमान रखनेवाला देवता यानी जीव। शरीर यानी मनुष्य, पशु, पक्षी, अनंत कीडे आदि जो

अनेक पचमहाभूतो के शरीर परमात्मा ने पैदा किये, उनमे परमात्मा ने उन शरीरो का अभिमान रखनेवाला एक जीवभाव पैदा किया । यह परमात्मा की या ब्रह्म की पाँचवीं अवस्था है । परमात्मा ही जीव के रूप मे प्रकट हुआ है । परमात्मा के विना अन्य किसी वस्तु का जगत् मे अस्तित्व ही नही । जो कुछ है, सब परमात्मा ही परमात्मा है ।

(३) **साधियज्ञं मां विदुः**—अधियज्ञ के साथ मुझे जान लेते है । अधियज्ञ यानी जीव की शुद्ध अवस्था । साधना द्वारा चित्त शुद्ध होकर जीव को शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है, वही परमात्मा की अधियज्ञ अवस्था है । यह छठी अवस्था है । इसमे जीव शुद्ध हो जाता है और परमात्मा-स्वरूप वन जाता है । जीव का स्वतत्र अस्तित्व नही रहता ।

(४) **ते युक्तचेतसः प्रयाणकाले अपि च मां विदुः** । वे निर्विकार, शातचित्त भक्त, प्रयाण-काल मे यानी मृत्यु के समय मुझे जान लेते है । प्रयाण-काल वहुत महत्त्व का काल है । वह देह छूटने का समय है । सवको छोडकर जाने का समय है । इसलिए सारे जीवन मे जो सस्कार पुष्ट, वलवान् हुए होगे, वे ही उस समय प्रकट होकर अपना वल दिखायेगे । उन वलवान् सस्कारो के मुताविक अगला जन्म निश्चित होता है । इसलिए सारे जीवन मे भगवान् का स्मरण रखते हुए जीवन विताया हो और परमात्म-स्मरण का सस्कार सारे जीवन मे वलवान् सावित हुआ हो तो मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण करते-हुए देह छूट सकती है ।

इस श्लोक मे और पीछे के श्लोक मे मिलकर १ निर्गुण-ब्रह्म, २ अध्यात्म, ३ कर्म, ४ अधिभूत, ५ अधिदैव, ६ अधियज्ञ, ७ प्रयाण-काल—इस तरह सात वातो का जिक्र भगवान् ने किया है । इनके वारे मे आठवे अध्याय के पहले दो श्लोको मे अर्जुन ने प्रश्न किया है । फिर भगवान् ने जवाव दिया है । इस अध्याय के २८ से ३० तक के तीन श्लोको मे जो विपय आ गये है, उनका थोडे मे सार इस प्रकार है

२८वे श्लोक मे चार विपय आये है १ निष्काम पुण्याचरण, २ चित्तशुद्धि, ३ द्वद्व-मोह का निरसन, ४. दृढ भक्ति यानी परमात्मा की उत्कट भक्ति । २९वे श्लोक मे १ निर्गुण-ब्रह्म, २ अध्यात्म यानी निर्गुण-ब्रह्म की सगुण-अवस्था, ३ कर्म यानी निर्गुण-ब्रह्म की सक्रियावस्था—इन तीनो का ज्ञान और भक्तिपूर्वक योगसाधन, इन पाँच विपयो का समावेश है । ३०वे श्लोक मे १ अधिभूत यानी ब्रह्म की साकार अवस्था, २ अधिदैव यानी परमात्मा की जीवावस्था, ३ अधियज्ञ यानी जीव की शुद्धावस्था —इन तीन वस्तुओ का ज्ञान, ४ अतकालीन साधना यानी अतकाल मे परमात्मा का स्मरण, ५ ईश्वर-प्रवेश यानी ईश्वर मे विलीन हो जाना । ●

आठवाँ अध्याय

इस अध्याय के पहले दो श्लोको मे अर्जुन ने कुल मिलाकर सात प्रश्न पूछे है।

: १-२ :

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥

पुरुषोत्तम=हे पुरुषोत्तम, **किं तद्ब्रह्म**=उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है, **अध्यात्मं किं**=अध्यात्म किसे कहते हैं, **कर्म किं**=कर्म किसे कहते है, **च अधिभूतं किं प्रोक्तं**= और अधिभूत किसे कहा है, **अधिदैवं किं उच्यते**=अधिदैव किसे कहते है, **मधुसूदन**=हे कृष्ण भगवान्, **अत्र अधियज्ञ. क**=इनमे अधियज्ञ (का स्वरूप) क्या है, **अस्मिन् देहे कथ**=(वह) इस देह मे किस प्रकार है, **प्रयाणकाले**= मृत्यु के समय, **नियतात्मभिः**=सयमी पुरुषो से, **कथ ज्ञेय. असि**=किस तरह जाना जाता है ?

इन श्लोको मे अर्जुन द्वारा पूछे गये सात प्रश्नो का उल्लेख भगवान् ने सातवे अध्याय के श्लोक २९-३० मे किया है। प्रश्न ये है

१ ब्रह्म किसे कहते है ?
२ अध्यात्म किसे कहते है ?
३ कर्म का स्वरूप क्या है ?
४ अधिभूत किसे कहते है ?
५ अधिदैव किसे कहते है ?
६ यह अधियज्ञ कौन-सा है और देह मे वह किस प्रकार है ?
७ प्रयाण-काल मे सयमी पुरुषो से आप (भगवान्) किस प्रकार जाने जाते है ?

आगे भगवान् इन प्रश्नो का जवाब दे रहे है

: ३ :

श्रीभगवान् उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

परमं अक्षर ब्रह्म=परम अक्षर यानी अविनाशी ब्रह्म, **स्वभाव अध्यात्मं उच्यते**=स्वभावयुक्त बना यानी जगत् का भास पैदा करने का सकल्प (ब्रह्म मे) पैदा हुआ, उसे अध्यात्म कहते है। **भूतभावोद्भवकर. विसर्ग.**=पचमहाभूतात्मक पदार्थ पैदा करने की (ब्रह्म मे) जो सक्रियता पैदा हुई, **कर्मसंज्ञितः**=उसे कर्म कहते है ।

अर्जुन के सात प्रश्नो मे से इस श्लोक मे भगवान् ने तीन प्रश्नो का जवाब दिया है : १ परम निरतिशय अक्षर, अविनाशी, जो है, वह ब्रह्म है । २ निर्गुण, निराकार, अविनाशी ब्रह्म स्वभावयुक्त बना, यानी जगत् का भास पैदा करने का सकल्प उसमे पैदा हुआ, सगुण बना, यह अध्यात्म है । निर्गुण, निराकार ब्रह्म सगुण बना, लेकिन निराकारता अभी कायम है, वह साकार नही बना है। ३ पचमहाभूतात्मक पदार्थ पैदा करने की सगुण-निराकार ब्रह्म मे जो सक्रियता, गति पैदा हुई, उसे कर्म कहते है ।

(१) **अक्षरं ब्रह्म परमं**। अर्जुन ने पहला प्रश्न ब्रह्म के स्वरूप के बारे मे पूछा। ब्रह्म मूलत अक्षर यानी अविनाशी है, जिसमे कोई फर्क नही पडता । सारे पदार्थ विनाशी है । उनमे परिवर्तन होता ही रहता है। ये सब पदार्थ कार्य है। कार्य मे फर्क होता रहता है और उसका विनाश किया जा सकता है। घडा मिट्टी का कार्य है। घडा विनाशी है। लेकिन घडे की कारणरूप

मिट्टी कार्यरूप घडे की अपेक्षा स्थिर है। कार्य-रूप घडे का नाश होने पर भी कारणरूप मिट्टी का नाश नही होता। लेकिन मिट्टी भी मूल कारण-रूप पदार्थ नही है। मिट्टी भी किसीका कार्य है। इसलिए मिट्टी मे भी सूक्ष्म अंतर होता रहता है। मिट्टी जिन परमाणुओ से बनी है, वे परमाणु मिट्टी की अपेक्षा ज्यादा स्थिर होते हैं। लेकिन परमाणु भी मूल-कारणरूप पदार्थ नही है, वे भी कार्य है। परमाणु का मूल कारण ब्रह्म है। ब्रह्म की अपेक्षा परमाणु विनाशी है। परमाणु मे भी फर्क होता रहता है। लेकिन ब्रह्म सबका मूल कारण है, उसमे कुछ भी फर्क नही होता। ब्रह्म किसीका कार्य नही है। सब ब्रह्म के कार्य है। इस तरह ब्रह्म मूल-कारणरूप होने से और सब विनाशी परिवर्तनशील पदार्थो मे जो धर्म दिखाई देते है उनसे उलटे धर्म ब्रह्म मे होते है। जगत् सावयव, सगुण, साकार, व्यक्त, मर्यादित, विनाशी, स्थूल है, तो ब्रह्म निरवयव, निर्गुण, निराकार, अव्यक्त, अमर्यादित, अविनाशी और अतिसूक्ष्म है।

ब्रह्म का दूसरा विशेषण 'परमम्' है। परमम् यानी अतिश्रेष्ठ, निरतिशय, एकरस, एक ही जिसका स्वरूप रहता है और अखड रहता है। इसलिए ब्रह्म अतिश्रेष्ठ पदार्थ है। ब्रह्म को छोड-कर अन्य कोई पदार्थ श्रेष्ठ नही है। उपनिषद् मे निर्गुण-ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, जगह-जगह आया है। गीता के १३वे अध्याय मे भी है और बीच-बीच मे भी आया है। उपनिषद् मे एक जगह कहा है : **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र-मसौ विधृतौ तिष्ठतः।** अर्थात्—'हे गार्गि, इस अक्षर-रूप ब्रह्म के नियत्रण मे सूर्य और चन्द्र धारण किये हुए स्थिर रहते है।'

फिर उपनिषद् मे एक जगह आता है :

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाः अभिवदन्ति अस्थू-लमनणु अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमत-मोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवा-ङ्मनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्। अर्थात्—वह यह है जिसे ब्राह्मण अक्षर कहते है। वह ब्रह्म स्थूल नही, अणु नही, वह ह्रस्व यानी सिकुडा हुआ नही है, वह लम्बा भी नहीं है। वह खूनरहित या लालरग-रहित, स्नेहरहित यानी चिकनाई से रहित, छायारहित, तमरहित, वायु-रहित, आकाशरहित, आसक्तिरहित, रसरहित, गधरहित, आँखरहित, वाणीरहित, मनरहित, तेज-रहित, प्राणरहित, मुखरहित, मात्रा यानी इन्द्रियो से रहित, उसके भीतर-बाहर कुछ नही, ऐसा वह अक्षर-ब्रह्म है।

यहाँ अक्षर-ब्रह्म का वर्णन सब वस्तुओ के निषेधरूपमे किया है। इसलिए सब वस्तुओ के पीछे "अ" लगाया है। जितने भी पदार्थ है, उन सबका वह ब्रह्म आश्रय-स्थान है, लेकिन पदार्थो के जो धर्म है, वे ब्रह्म मे नही है।

(२) **स्वभावो अध्यात्ममुच्यते।** स्वभाव का अर्थ क्या है ? स्वभाव यानी हरएक देह मे रहने-वाला आत्मा, ऐसा अर्थ शकराचार्य ने किया है। लेकिन विनोबाजी का अर्थ ज्यादा यथार्थ मालूम होता है। विनोबाजी कहते है कि मूल मे जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अक्षर, निरवयव और भावातीत था, वह निर्गुण, निराकार, अक्षर, निरवयव रहते हुए, भावयुक्त, स्वभावयुक्त यानी सगुण बना, यह अध्यात्म है। भगवान् कहते है अध्यात्म यानी स्वभाव। स्वभाव यानी ब्रह्म का स्वभाव। ब्रह्म का मूल स्वभाव या स्वरूप निर्गुण, भावातीत ही है। जब सृष्टि का भास निर्माण करना है, तब इस निर्गुण-ब्रह्म मे सगुणता पैदा होनी चाहिए। यदि सगुणता पैदा न हो तो सृष्टि का भास पैदा नही हो सकेगा। ब्रह्म निर्गुण ही रहेगा। ब्रह्म निर्गुण यानी गुणरहित है, इसका मतलब यह नही कि वह शून्य है। निर्गुण-ब्रह्म मे

अनत शक्ति है। वह शक्ति शून्य, निष्क्रिय स्थिति मे नही रह सकती। निर्गुण-ब्रह्म मे जगत् का भास कराने की शक्ति प्रकट होने का जब समय आता है, तब क्रमानुसार ही वह प्रकट हो सकती है। इसलिए निर्गुण-ब्रह्म मे पहले सगुणता पैदा होनी चाहिए। वैसी सगुणता नही, जिसमे स्थूल गुण का अनुभव आता है। सगुण यानी जगत् का भास कराने का सकल्प। परमात्मा निर्गुण है, लेकिन शून्य न होने से उसमे प्रचंड शक्ति के आधार से जगत् का भास कराने का सकल्प पैदा होता है। यही ब्रह्म की सगुणता है। सकल्प अव्यक्त है। कार्य के रूप मे प्रकट होने पर ही सकल्प का पता चलता है। जब जगत्-रूपी कार्य प्रकट होता है, तब पता चलता है कि जगत्-निर्माण मे पहले सकल्प पैदा हुआ होगा। सकल्प के सम्बन्ध मे उपनिषद् मे है **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति**। परमात्मा ने सकल्प किया कि प्रजा यानी सृष्टि पैदा करने के लिए अब हम बहुरूपी होगे।

(३) **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसज्ञितः**। प्राणीमात्र के शरीरो को, इन्द्रियो को, जड-पदार्थो को पैदा करनेवाले विसर्ग यानी व्यापार को 'कर्म' कहते है। निर्गुण-ब्रह्म मे जगत् पैदा करने का सकल्प पैदा हुआ और बाद मे उसमे हलचल पैदा हुई। घडा बनाने के पहले कुम्हार के मन मे सकल्प पैदा होता है। बाद मे घडे के लिए वह चक्र, दड, सूत आदि साधन-सामग्री इकट्ठी करता है। कुम्हार व्यापार-युक्त, हलचल-युक्त हो जाता है। सकल्प के बाद आती है सक्रियता। ब्रह्म निर्गुण से सकल्प-युक्त यानी सगुण बना—यह अध्यात्म है। फिर सगुण बने ब्रह्म मे सक्रियता, हलचल पैदा हुई—यह कर्म है। निर्गुण-ब्रह्म सगुण, सक्रिय बनने पर भी साकार नही बना। साकार बनने के बारे मे अगले श्लोक मे कहा है। उपनिषद् मे एक जगह कहा है: **स तपो तप्यत स तपस्तप्त्वा इदमसृजत**। भगवान् ने पहले तप किया। तप करके यह सृष्टि पैदा की। तप किया, इसका मतलब, भगवान् के मन मे सृष्टि बनाने का जो संकल्प उठा, उसके अनुसार भगवान् मे सक्रियता पैदा हुई।

: ४ :

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

क्षर भावः=जो विनाशी, साकार पदार्थ है, **अधिभूत**=वे अधिभूत है, **च पुरुषः अधिदैवत**=और शरीर मे जो पुरुष है, वह अधिदैवत है, **देहभृता वर**=देह धारण करनेवालो मे हे श्रेष्ठ अर्जुन, **अत्र देहे अधियज्ञ अह एव**=इस देह मे अधियज्ञ (शुद्ध जीव) मै ही हूँ।

इस श्लोक मे तीन प्रश्नो का जवाब है १ जो विनाशी, क्षणिक, साकार पदार्थ दिखाई देते है, वे अधिभूत है। २ हरएक शरीर मे जो पुरुष या जीव है, वह अधिदैवत है और ३ इस देह मे अधियज्ञ यानी जीव जब शुद्ध हो जाता है, तब वह शुद्ध जीव मै हूँ।

(१) **अधिभूतं क्षरः भावः**। सृष्टि मे जितने पदार्थ दिखाई देते है, वे सब विनाशी है और इसीलिए सीमित है। आकाश जैसा अत्यन्त व्यापक पदार्थ भी अविनाशी नही है। निर्गुण-ब्रह्म बाद मे सगुण और सक्रिय बना। वह अब अधिभूत यानी साकार बन गया। इस साकार, व्यक्त अवस्था मे सारा ब्रह्माड निर्गुण परमात्मा मे दिखाई देने लगा। ब्रह्माड के सब जड-पदार्थ श्रेणियो मे बँटे है। पत्थर, मिट्टी आदि पदार्थो मे वृक्ष आदि की सृष्टि भिन्न है। पत्थर आदि मे वृक्षो मे चैतन्य ज्यादा है। फिर भी चैतन्य अपनी ज्ञान-स्वरूपता मे इन वृक्ष आदि पदार्थो मे प्रकट नही हुआ है। ज्ञान-स्वरूपता तो पशु, पक्षी, छोटे-बडे असख्य जतु और मनुष्य-शरीर मे दिखाई देती

है। ज्ञान-स्वरूपता से सुख-दुःख का अनुभव होता है। यही जीवावस्था है।

(२) पुरुषः अधिदैवतं। हरएक शरीर मे पुरुष यानी जीव है, वह अधिदैवत है। साकार वनने के वाद भगवान् ने एक ओर आकाश, वायु, पत्थर, वृक्ष आदि अनेक जड-पदार्थवाली निरीन्द्रिय सृष्टि वनायी। दूसरी ओर नाना प्रकार के पशु-पक्षी, मनुष्य आदि के शरीर पैदा करके उनमे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ वनाकर तथा मन-जैसी अद्‌भुत वस्तु पैदा करके परमात्मा जीवरूप मे प्रकट हो गया। जव तक परमात्मा जीव के रूप मे प्रकट नही हुआ, तव तक जगत् का खेल शुरू नही हुआ था। जीवरूप मे परमात्मा के प्रकट होते ही यह नाटक शुरू हो गया। जीव का अभिनय परमात्मा ही कर रहा है। परमात्मा का यह जीवस्वरूप अधिदैवत है। जीव परमात्मा से भिन्न नही है, इसलिए वह देवता के समान ही है। शरीर का अभिमानी देवता होने से उसे जीव कहा जाता है। नाना शरीरो मे व्याप्त जीव को जिसे हमेशा सुख-दुःख का अनुभव होता रहता है, वधन का भी अनुभव होता है। उस जीव को अधिदैवत कहा गया है।

(३) अत्र देहे अधियज्ञः अह एव। इस देह मे अधियज्ञ के रूप मे मै ही हूँ। अधियज्ञ यानी आध्यात्मिक साधना करके शुद्ध हुआ जीव। वास्तव मे जीव शुद्ध ही है, क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न नही है। लेकिन शुद्ध होते हुए भी जीव को अपनी शुद्धता का ज्ञान न हो, तो अज्ञान के कारण यानी कल्पना के कारण वह अशुद्ध है, ऐसा लगता है। डोरी के स्वरूप का ज्ञान न हो तो उसके सर्प होने की भ्रान्ति हो सकती है। सव जीव परमात्म-स्वरूप होने से परमात्म-स्वरूप प्राप्त करना है, सो वात नही। परमात्मा भिन्न होता तो वह प्राप्त करने की चीज वन जाती। परमात्मा हमेशा प्राप्त ही है। लेकिन परमात्मा हमारा स्वरूप है, यह ज्ञान जीव को नहीं है। इसका कारण है कि परमात्मा की अलौकिक माया-शक्ति ने जो देह, इन्द्रियाँ, मन आदि सामान पैदा किया है, वह हमसे भिन्न है, फिर भी वह हमारे इतनी नजदीक है कि वही हमें अपना स्वरूप लगता है। यह भ्रान्ति हमें दूर करनी है। सारी साधना इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए ही है। चित्त शुद्ध करना ही जीव का शुद्ध होना है। चित्त के साथ जीव अपनी एकरूपता का अनुभव करता रहता है, इसलिए चित्त-शुद्धि यानी जीव की अपनी शुद्धि ऐसा अर्थ किया जाता है। मगर वास्तव मे जीव की शुद्धि न होकर साधना करने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होने से स्वरूप का ज्ञान होता है और भ्रान्ति दूर हो जाती है। तो यह जीव की मूल स्वरूपावस्था अथवा ज्ञानावस्था स्वयं परमात्मा ही है, ऐसा भगवान् यहाँ कह रहे है। इस शुद्ध जीवावस्था को 'अधियज्ञ' कहा है। देह मे जीव की इस शुद्धावस्था का अनुभव होने पर जीव को मोक्ष प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जाता है।

विनोबाजी तीसरे और चौथे श्लोक के विषय मे लिखते है कि ब्रह्म यानी परमात्मा खुद ही वध मोक्ष का खेल खेल रहा है। मूल मे ब्रह्म निर्गुण था, वही फिर सगुण यानी शुद्ध, मगल, भावयुक्त अध्यात्म वना। पीछे उस ब्रह्म मे 'एक्टिविटी' यानी सक्रियता पैदा हुई। यह सक्रिय कर्मरूप ब्रह्म वाद मे साकार वना। इस साकार ब्रह्म का नाम अधिभूत है। फिर ब्रह्म नाना साकार शरीरो मे अहभावपूर्वक दाखिल हुआ, यानी जीवरूप वना। स्वेच्छा से ही वद्ध हुआ। यह जीवरूप ब्रह्म, मुक्ति के लिए यज्ञ आदि साधना करके शुद्ध हुआ। इसका नाम है अधियज्ञ। जीव शुद्ध होने पर भी जव तक देह धारण किये हुए है, तव तक मूल निर्गुण-अवस्था को प्राप्त नही हो सकता। इसलिए अतकालीन साधना करके देह छूटने के वाद वह ब्रह्म खुद ही स्वयरूप वना। अधियज्ञ यानी शुद्ध जीव और

ब्रह्म के बीच देह छूटने जितनी ही अवधि है। थोडे मे इसे इस तरह स्पष्ट कर सकते है निर्गुण, सगुण, सक्रिय, साकार, साहकार, निरहकार, (देहपात होते ही) मुक्त यानी ब्रह्मरूप।

: ५ :

अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र संशयः॥

च अतकाले=और मृत्यु के समय, **मा एव स्मरन्**=मेरा ही स्मरण करते हुए, **कलेवर मुक्त्वा**=शरीर त्यागकर, **यः प्रयाति**=जो जाता है, **स· मद्भाव याति**= वह मुझे प्राप्त होता है, **अत्र सशय न अस्ति**=इसमे सशय नही।

इस श्लोक मे दो वाते है १. अतकाल मे मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर को छोडकर जो जाता है, २. वह मुझे प्राप्त होता है, इसमे शका नही है।

(१) **अतकाले मा एव स्मरन् कलेवर मुक्त्वा यः प्रयाति**'। अत समय मे मेरा ही स्मरण करते हुए देह छोडकर जो चला जाता है। अर्जुन ने आखिरी प्रश्न यह पूछा था कि मृत्यु के समय किस तरह सयमी पुरुष परमात्मा को जानकर देह छोड देते है। इस प्रश्न का जवाव इस श्लोक से दिया जा रहा है। तीन श्लोको मे जवाव दे रहे है। इस श्लोक मे वता रहे है कि अत समय मे मेरा ही स्मरण करके जो देह छोडकर जाता है, वह भगवान् को ही प्राप्त कर लेता है।

विनोवाजी ने 'गीता-प्रवचन' के आठवे अध्याय मे इस चीज को अच्छी तरह समझाया है। मनुष्य का जीवन अनेक सस्कारो से भरा है। हम प्रतिदिन अनेक क्रियाएँ करते है, उनका हिसाव कर नही सकते। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, काम करना, लिखना, वोलना, पढना, ये क्रियाएँ तो स्थूल है। फिर नाना प्रकार के राग-द्वेप, मान-अपमान, सुख-दु ख, नाना प्रकार के स्वप्न आदि मानसिक क्रियाएँ भी होती रहती है। हम सव शारीरिक, मानसिक क्रियाएँ करते ही रहते है। उनके सस्कार हमारे चित्त मे उठते रहते है। ये सस्कार अच्छे-वुरे, दोनो प्रकार के होते है। इस तरह जीवन का अर्थ है अनेक सस्कारो का सचय। ये सस्कार भी स्मरणरूप ही होते है। जिन सस्कारो का वल ज्यादा होगा, उनका स्मरण ज्यादा होता रहेगा। वचपन मे जो क्रियाएँ करते है, उनका स्मरण कुछ खास नही रहता। वचपन मे किसी एक चीज मे एकाग्रता वहुत हो जाती है, मगर उसके साथ विस्मृति भी चलती रहती है। वच्चा रोता है और तुरत हँसने भी लगता है। वचपन की स्मृति जैसे हमे नही रहती, वैसे ही पूर्वजन्म की स्मृति विलकुल नही रहती। हम कर्म करते जाते है, उन कर्मो के भले-वुरे सस्कार भी हमारे चित्त मे उठते है, लेकिन उन सकारो मे जो प्रवल सस्कार होगा, उसकी स्मृति मन मे खडी होती रहती है। इस तरह दिन मे जो क्रिया करते है, उसमे से वलवान् सस्कार की स्मृति उस दिन रहती है। लेकिन महीनेभर वाद उस सस्कार की विस्मृति भी हो सकती है। क्योकि उससे भी वलवान् सस्कार मन मे जम गये होगे। कम वलवान् सस्कारो की अपेक्षा ज्यादा वलवान् सस्कारो की स्मृति रहेगी। स्मृति और विस्मृति साथ-साथ चलती है। महत्त्व के सस्कारो की स्मृति रहेगी और गैर-महत्त्व के सस्कारो की विस्मृति होगी। 'महत्त्व के' का मतलव अपने लिए जो महत्त्व के हो। वे दूसरे को विना महत्त्व के भी लग सकते है। जिस वस्तु का आकर्पण सवसे ज्यादा होगा, उस वस्तु के सस्कार मन मे ज्यादा-से-ज्यादा दृढ रहेगे और उन वलवान्, दृढ सस्कारो की ही स्मृति रहेगी। मन मे जमे हुए वलवान् सस्कार और उन सस्कारो की उठनेवाली स्मृति ही हमारे जीवन की कमाई, जीवन की सपत्ति है। मृत्यु के समय मन खाने पर चला गया तो खाने की

आसक्ति का संस्कार चित्त मे बलवान् था, ऐसा समझना चाहिए। मृत्यु के समय पुत्र का स्मरण तीव्रता से होने लगे तो समझना चाहिए कि सारे जीवन मे पुत्र का सस्कार बलवान् था। कभी-कभी जो गहरे सस्कार मन मे रहते है, उनका हमे ठीक पता नही चल पाता। विषम-प्रसंग पर ही वे गहरे संस्कार प्रकट होते है। मृत्यु का समय आखिरी विषम-प्रसग है, उस समय मन मे दृढ गहरे सस्कार ही अपना बल दिखायेगे। विनोबाजी ने अपनी दादी का उदाहरण दिया है। वे लिखते है : "मै बहुत साल पहले दादी से मिलने गया था। वह बिलकुल बूढी हो गयी थी। वह मुझे कहने लगी, आजकल मुझे कुछ याद ही नही रहता है। घी का बर्तन लेने के लिए जाती हूँ तो बिना लाये ही वापस आ जाती हूँ। लेकिन पचास साल पहले की गहने की बात मुझे बराबर कहती रहती थी। पाँच मिनिट पहले का स्मरण नही, लेकिन पचास साल पहले का स्मरण है। इसका मतलब पचास साल पहले का गहने का सस्कार चित्त मे जमा हुआ था। क्योकि गहने की बात दादी ने कइयो से कही होगी। उस बात का सतत उच्चारण होता गया। जीवन मे वह सस्कार पक्का हो गया। मैने मन मे कहा कि ईश्वर करे कि दादी को मृत्यु के समय इन गहनो का स्मरण न हो।"

भगवान् यहाँ कहते है कि जो भक्त है, वह मेरा स्मरण अत समय मे करता है, और स्मरण करते हुए देह तजता है। उपर्युक्त विवेचन से हमने देखा कि जो सस्कार जीवन मे बलवान् होता है, वही मृत्यु के समय उठता है। यदि जीवन मे भीतर परमात्मा के स्मरण के साथ जीवन की क्रियाएँ चलती होगी तो मृत्यु के समय भगवान् का स्मरण होने की सभावना रहेगी। मृत्यु के समय देह छोडकर तथा सब रिश्तेदार, मित्र, धन आदि को छोडकर जाने का प्रसग आता है, तब उन सबको याद करने का अर्थ नही रहता। उस समय इन सबकी विस्मृति हो, यही वाछनीय है। क्योकि इन सबका स्मरण करने से कोई लाभ नही है। इसलिए कम-से-कम मृत्यु के समय तो रिश्तेदार, मित्र आदि का स्मरण न होना चाहिए। स्मरण दो ही वस्तु का होना चाहिए। एक सत-महात्माओ का और दूसरा ईश्वर का। ईश्वर का स्मरण मृत्यु के समय हो, ऐसा यदि हम चाहते हो तो ईश्वर-स्मरण का संस्कार चित्त में पक्का जमा होना चाहिए। ईश्वर-स्मरण का, ईश्वर-प्रेम का, ईश्वर-भक्ति का सस्कार यदि हमारे जीवन मे दृढ न हुआ, तो मृत्यु के समय जब देह को बडी भारी तकलीफ होती है, तब ईश्वर का स्मरण, प्रेम, भक्ति मन मे पैदा होना असभव है। जीवन मे पुत्र, मित्र आदि का स्मरण होता रहे तो वह चल सकता है, उसे हम समझ सकते है, मगर मृत्यु के समय देह छोडकर जाने का प्रसग आता है, तब सारा-का-सारा भूल जाना चाहिए। कारण, अतकाल का स्मरण सम्पूर्ण जीवन का फलित है। उसी पर अगला जन्म अवलबित है।

भगवान् आगे बता रहे है कि अतकाल मे परमात्मा का स्मरण रखकर देह छोडने पर कौन-सी गति प्राप्त होती है।

(२) **स. मद्भावं याति अत्र संशयः न अस्ति।** जो भगवान् का अतकाल मे स्मरण करता है, वह देह छूटने के बाद मुझे ही प्राप्त होता है, इसके बारे मे बिलकुल सशय नही रहना चाहिए। अतकाल मे परमात्मा का स्मरण हो तो परमात्मा ही प्राप्त होता है, यानी उसे फिर से देह प्राप्त नही होती, वह मुक्त हो जाता है। यह बडा भारी फल अतकालीन परमात्म-स्मरण का है। आदमी बधन से मुक्त होने की कोशिश करता है। देह बधनागार है। लेकिन वह मोक्ष का साधन भी है। देह को बधन का घर बनाना या मोक्ष का साधन बनाना यह हम पर अवलम्बित है। हम

जीवन मे किस तरह चलते है, हम देह मे आसक्त होते है या अनासक्त रहते हैं, परमात्मा का स्मरण रखते हुए हम जीवन विताते है या परमात्मा के विस्मरण मे जीवन विताते है, इन सव वातो पर वन्धन या मुक्ति अवलवित है। यदि हम अनासक्त होकर परमात्मा का स्मरण रखते हुए जीवन विताते है और इसीसे अतकाल के विपम-प्रसग पर, जव कि देह मे वेदना का सचार होता है, ईश्वर-स्मरण रखकर देह छोडते है, तो भगवान् कह रहे है कि ऐसा पुरुष मुझे ही प्राप्त होता है, इसलिए वह मुक्त हो जाता है। फिर से उसे देह प्राप्त नही होती इसमे कोई शका नही रखनी चाहिए।

: ६ :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
त तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

वा कौन्तेय=और हे कौन्तेय, **यं य भावं अपि स्मरन्**=जिन-जिन भावो का स्मरण करते हुए, **अते कलेवर त्यजति**=अत समय जो देह छोडता है, **सदा तद्भावभावित**=वह हमेशा उसी भाव मे रँगा रहता है, (इसलिए) **त त एव एति**=वह उसी भाव को प्राप्त होता है।

इस श्लोक मे तीन वाते है १ जिन-जिन भावो का स्मरण करते हुए अत समय जो देह छोडता है, २ वह सारे जीवन मे उसी भाव मे रँगा रहता है, इसलिए, ३ वह उसी भाव को प्राप्त होता है।

(१) **य य भावं अपि स्मरन् अंते कलेवरं त्यजति**। जिन-जिन भावो का, वस्तुओ का ही स्मरण करते हुए अत समय देह छोडता है। पीछे के श्लोक के क्रम मे इस श्लोक मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त वता रहे है। अतकाल इतना महत्त्वपूर्ण है कि उस समय मन मे जो भाव उठेगा, वैसा ही अगला जन्म मिलेगा। अन्तकाल कसौटी का काल है। मृत्यु का स्मरण जीवन मे वरावर रहना चाहिए। हमारा सारा व्यवहार मृत्यु के स्मरण मे नही, मृत्यु के विस्मरण मे चल रहा है। मृत्यु का स्मरण यदि अखड रहने लगे तो कभी अनुचित कार्य नही होगा। आसक्ति भी टिकेगी नही।

विनोवाजी ने 'गीता-प्रवचन' मे एक उदाहरण दिया है। एकनाथ स्वामी महाराष्ट्र मे एक ऊँचे सत हो गये है। उनके गुरु जनार्दन स्वामी थे। गुरु के आदेशानुसार वे गृहस्थाश्रमी वने। लेकिन वडे सयमी रहे, उनका गृहस्थाश्रम आदर्श था। शाति के लिए यानी अक्रोध के लिए वे प्रसिद्ध थे। इतने शातस्वभावी सत विरले ही हुए है। शाति की वे मूर्ति ही थे। उनकी प्रकृति मे क्रोध था ही नही। क्रोध को उन्होने जीत लिया था। उस जमाने मे, जव कि अस्पृश्यता का काफी जोर था, एकनाथ स्वामी भोजन मे सवके साथ हरिजनो को विठाते थे। ऐसे एकनाथ स्वामी के पास एक आदमी आकर कहने लगा 'महाराज, आपका जीवन कितना निष्पाप है। हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यो नही ?' नाथ ने उसे पाठ देने की दृष्टि से कहा कि 'सात दिन मे तुम्हारी मृत्यु होनेवाली है, ऐसा समझकर चलो।' यह जवाव सुनकर उसे लगा कि एकनाथ स्वामी ने कहा है तव तो सचमुच ही सात दिन मे मृत्यु होगी। इस विचार ने उसे इतना घेर लिया कि उसे दूसरा कुछ सूझता ही नही था। दिन-रात मृत्यु का स्मरण। वह सचमुच वीमार पड गया। अत मे सातवे दिन एकनाथ उससे मिलने गये, तव उन्होने पूछा कि 'सात दिन मे उसके मन मे खराव विचार या काम-क्रोधादि विकार कितनी वार आये ?' उस आदमी ने जवाव दिया, 'खराव विचार करने के लिए अथवा काम-क्रोधादि विकार पैदा होने के लिए फुरसत ही कहाँ थी ? दिन-रात मन मे मृत्यु के स्मरण के सिवा और कोई स्मरण नही था।' नाथ ने कहा कि 'हमारा जीवन निष्पाप रहता है, उसका कारण अव तुम्हारे ध्यान मे आ गया होगा। मृत्यु के स्मरण मे अनुचित विचार कैसे आयेगे ?' पापी

का विचार करने के लिए भी निश्चिन्तता की जरूरत है ।

पाप से वचने के लिए मृत्यु का स्मरण यह एक अच्छा-से-अच्छा उपाय है। लेकिन मनुष्य मृत्यु का स्मरण टालता है । मृत्यु कब आयेगी, यह तो मालूम नही रहता है । इसलिए वह हमेशा हमारे सामने खडी ही है, ऐसा समझना चाहिए । लेकिन मृत्यु के स्मरण से लोग डरते है । किसी आदमी की मृत्यु हो गयी हो तो उस प्रेत को हम देख नही सकते । डर लगता है । हालाँ कि उस प्रेत को देखकर डर के बजाय वैराग्य के विचार मन मे आने चाहिए । लेकिन डर पैदा होता है और वैराग्य के विचार नही आते । किस समय क्या होगा, यह किसीको निश्चित रूप से पता नही रहता । फिर भी एक दिन मृत्यु आयेगी, यह हरएक जानता है । लेकिन मृत्यु का डर हमारे चित्त मे इतना रहता है कि हम मृत्यु को भुलाने की कोशिश करते रहते है । मृत्यु का विस्मरण हो, यह सामान्य आदमी का प्रयत्न रहता है । किसी मित्र की या पुत्र की मृत्यु हो जाय तो तात्कालिक वैराग्य के विचार मन मे आते है । लेकिन उनका वल नही रहेगा । विस्मरण का पर्दा फिर पड जायगा । नियम यह है कि अत समय मे जिस विषय के स्मरण के साथ देह छूटेगी वैसा ही अगला जन्म मिलेगा ।

(२) **सदा तद्भावभावितः** । जीवन मे जिस भावना से आदमी रँगा रहता है, अतकाल मे वही भावना जाग्रत् होती है । अत समय मे जो भावना जाग्रत् होगी, उसके मुताविक अगला जन्म मिलता है। यदि यह वात निश्चित है तो अत समय मे जिस भावना को हम चाहते हो, उसी भावना को सारे जीवन मे लाने का अभ्यास करना चाहिए । जीवन अत्यन्त सयमित होना चाहिए । बाहर से स्वधर्म का पालन और भीतर से विकर्म रहे, तो जीवन सयमी रह सकता है । सुवह से शाम तक का कार्यक्रम बिलकुल बँधा हुआ रहे। जीवन में निग्रह-शक्ति किस तरह बढे, यह देखते रहना चाहिए । चौथे अध्याय में कई प्रकार के विकर्म बतलाये गये है, उन्हे अपनाने की कोशिश करनी चाहिए । नदी के समान जीवन का एक निश्चित प्रवाह बनना चाहिए ।

मन मे अनेक प्रकार के विचार आते रहते है । सब विचार अच्छे ही रहते है, सो बात नही । बुरे विचार भी आते है । बुरे विचारो को रोकने की कोशिश करनी चाहिए, क्योकि मन में जो सस्कार दृढ रहेगे, उन्हीका प्रवाह मन मे चालू रहेगा और जीवन मे जो सस्कार दृढ रहेगे, वे ही अत समय मे जाग्रत् होगे । महादेव की पिंडी पर पानी की एक-एक बूंद गिरती रहती है। दिन-भर में उन बूंदो का कुल मिलाकर शायद दो बालटी पानी होता होगा । उसके बजाय एकदम दो बालटी पानी महादेव की पिडी पर डाल दिया जाय तो वह उपासना नही होगी । उपासना का अर्थ है, एक-एक क्षण परमात्मा का स्मरण । एक-एक बूंद पिडी पर गिरती रहे, उसके साथ परमात्मा का स्मरण होता रहे, तभी वह दृढ होगा । ईश्वर-स्मरण जगल मे जाकर एकात मे झोपडी बाँधकर करना शिवजी पर बाल्टीभर पानी एकदम डालने जैसा है । हर-एक कार्य मे यदि ईश्वर-स्मरण रहे तभी हरिस्मरण का सस्कार दृढ होगा और वही सस्कार अत समय मे जाग्रत् होने की सभावना रहेगी ।

(३) **तं तं एव एति** । अतकाल मे जो भाव मन मे उठेगा, जो वासना उठेगी, वह प्राप्त होगी । सारे जीवन मे जिस भाव का, जिस वासना का, जिस विषय का अभ्यास हुआ होगा, जो सस्कार पक्का या दृढ हुआ होगा, वही अत समय मे खडा होगा । जो सस्कार खडा होगा, उसीको वह प्राप्त होगा और उसीके अनुसार आगे का जन्म मिलेगा । मनुष्य को हमेशा मनुष्य का ही जन्म मिलेगा, सो बात नही । सारे जीवन मे मुख्य

रीति से जो कर्म किये होगे, जिन कर्मो के सस्कार मन मे दृढ हुए होगे और उसके अनुसार जो सस्कार अत समय मे जाग्रत् हुए होगे, उसीके अनुसार जन्म मिलेगा ।

: ७ :

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसशय. ॥

तस्मात् सर्वेषु कालेषु=इसलिए हर क्षण, **मा अनुस्मर**=मेरा स्मरण करते रहो, **च युद्ध्य**=और युद्ध करो, **मय्यर्पित मनोबुद्धिः**=मुझमे ही जिसके मन, बुद्धि अर्पण हो गये है, (वह), **मा एव एष्यसि**=मुझे ही प्राप्त होगा, **असशय.**=इसमे सन्देह नही है।

इस श्लोक मे चार वाते है १ हर क्षण, मेरा स्मरण करते रहो । २ मेरा स्मरण करते हुए अपना कर्तव्य-पालन करते रहो । ३ मुझमे ही जिसके मन-बुद्धि अर्पण हो गये है, ऐसा तू, ४ मुझे ही प्राप्त करेगा, इसमे सशय नही है।

(१) **तस्मात् सर्वेषु कालेषु मां अनुस्मर ।** मेरा स्मरण हर क्षण, जीवनभर करते हुए जीवन विताओ । पीछे के श्लोक मे कहा कि जिस-जिस चीज का स्मरण करते हुए अत समय देह छोडेगे, उस वस्तु को अगले जन्म मे प्राप्त होगे । फिर वताया कि सारे जीवन मे जिस सस्कार को दृढ किया होगा, वही सस्कार अतकाल मे जाग्रत् होगा । अब इस श्लोक मे भगवान् वता रहे है कि ईश्वर का अखड स्मरण करते रहना चाहिए । वैसे सारी गीता मे भगवान् की शरण जाना, भगवान् की भक्ति करना ही मोक्ष के लिए मुख्य उपाय वताया है । मगर 'हर क्षण ईश्वर-स्मरण करना' ऐसा शब्द इसी श्लोक मे आया है । ऐसे वहुत-से लोग मिलेगे, जो एक घटा, दो घटा या चार घटा परमात्मा की पूजा-आराधना मे विताते है । लेकिन हर क्षण परमात्मा का स्मरण करना, यह अद्वितीय वात है और काम करते हुए यानी स्वधर्म का पालन करते हुए परमात्मा का अखड स्मरण करना, यह एक अलभ्य लाभ है । परमात्मा का हर क्षण स्मरण करना मानो हर क्षण मिष्टान्न-सेवन ही है । सत तुलसीदासजी कहते है **ते धन्य तुलसीदास आस विहाइ जे हरिरँग रँगे ।** 'आशा, वासना आदि विकारो को छोडकर जो हरि-रग मे रँग गये, वे धन्य है ।' तुलसीदासजी खुद हरि के रग मे रँगे हुए थे, इसलिए रामायण मे परमात्मा के सामने सवको झुकाया है । परमात्मा ब्रह्माड मे व्याप्त है, यह वात उनके हृदय मे इतनी दृढ थी कि रामायण मे उसीका दर्शन होता है

जे जनमे कलिकाल कराला ।
करतब वायस वेष मराला ॥
चलत कुपथ वेद मग छाँड़े ।
कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥
वंचक भगत कहाइ राम के ।
किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिनमहँ प्रथम रेख जग मोरी ।
धींग धरमध्वज धंधक धोरी ॥

अर्थात्–'इस भयकर कलिकाल मे ऐसे लोगो का जन्म हुआ है, जिनका वाहरी वेश हस का है और करनी कौए की है । वेद-विहित मार्ग को छोडकर कुमार्ग से चलनेवाले है, कपट की मूर्ति है, कलिमल के आगार है, फिर भी जो राम-भक्त कहलाते है । ऐसे जो कपटी है, काम, क्रोध और मोह के दास है, उनमे मै अग्रणी हूँ । वाहर मे धर्मनिष्ठ कहलानेवाले मुझको धिक्कार है ।'

परमात्मा का जिन्हे भान हो गया है, वे हमेशा अपनी अल्पता ही देखते है । अल्पता देखने मे वे आखिर मे परमात्मा के रग मे रँगकर खुद शून्य वन जाते है । अपनी अल्पता जिनके ध्यान मे आ जाती है, वे हर क्षण परमात्म-स्मरण किये विना रह नही सकते ।

–जैसे शुद्ध जल मे डाला हुआ, शुद्ध जल एकरूप हो जाता है, वैसे ही हे गौतम, ज्ञानी की आत्मा परमात्मा के साथ एकरूप हो जाती है ।

: ८ :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन=अभ्यासरूप योग से युक्त, **न अन्य-गामिना चेतसा**=और दूसरे विषयो मे न जानेवाले चित्त से, **अनुचिन्तयन्**=ध्यान-रत भक्त, **पार्थ**=हे अर्जुन, **परम दिव्य पुरुष याति**=दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है ।

इस श्लोक मे तीन बाते है १ चित्त को मुझमे स्थिर करने की कोशिश को अभ्यास कहते है । उस अभ्यासरूप योग (उपाय) से युक्त, २ परमात्मा के सिवा दूसरे विषयो मे न जानेवाले चित्त से, ३ परमात्मा का ध्यान करनेवाला भक्त दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है ।

(१) **अभ्यासयोगयुक्तेन**। भगवान् मे चित्त स्थिर करने की कोशिश का नाम अभ्यास है । योग यानी उपाय । शकराचार्य ने अभ्यासयोग की व्याख्या मे कहा है **चित्तसमर्पणविषयभूते एकस्मिन् मयि तुल्यप्रत्ययावृत्तिलक्षणः विलक्षण-प्रत्ययानन्तरितः अभ्यासः**। अर्थात् चित्त-समर्पण करने के विषयरूप मुझमे ही समान-प्रत्यय की आवृत्ति जिसका लक्षण है, और भगवान् के प्रत्यय के सिवा दूसरे प्रत्ययो से प्रतिबध-रहित है, वह अभ्यास है ।

चित्तवृत्ति का सारा प्रवाह परमात्मा की ओर रहे, इसके लिए अभ्यास की जरूरत है । हम ज्ञानस्वरूप है, फिर भी चित्त की उपाधि हमारे लिए निरतर उपस्थित रहती है और इस उपाधि से हम रगे रहते है । स्वच्छ होते हुए भी कॉच के सामने लाल रग का फूल रखा जाय तो वह लाल रग का दीखता है । चित्त मे नाना भाव उठते रहते है । ये भाव अच्छे और बुरे दोनो तरह के रहते है । चित्त मे किस समय कौन-सा भाव पैदा होगा, नही कहा जा सकता । इतना अनुभव मे आता है कि चित्त कभी निर्विचार या भावरहित नही रहता । चित्त को निर्विचार करने के लिए वैसा अभ्यास जरूरी है । पतजलि के योगशास्त्र मे चित्त को शुद्ध और स्थिर करने का उपाय बताया है । गीता का छठा अध्याय पतजलि के योग-शास्त्र पर आधारित है । चित्त को शुद्ध और स्थिर करने का सरल उपाय गीता मे भगवद्भक्ति है । परमात्म-प्रेम पैदा हो जाय तो चित्त अपने आप स्थिर हो जाता है । चित्त प्रेम से ही भरा है । छुटपन मे वह प्रेम माता-पिता मे, भाई-बहन मे सीमित रहता है । शादी के बाद भी वह कुटुब मे सीमित रहता है । कुटुब की सीमा छूटने के बाद जन-सेवा मे वह प्रेम अर्पित हो जाय तो प्रेम और व्यापक हो जाता है । लेकिन प्रेम इस तरह व्यापक हो जाय तो भी अहकार, काम, क्रोध आदि विकारो के कारण जन-सेवा मे अर्पित होते हुए भी शाति नही मिलती । इसलिए इन विकारो को जीतने के लिए, क्षीण करने के लिए चित्त के पीछे की परमात्म-सत्ता को पहचानने की जरूरत है । इसके लिए चित्त मे निहित सपूर्ण प्रेम-शक्ति परमात्मा मे ही लगनी चाहिए । चित्त का सारा प्रवाह परमात्मा की तरफ मुडना चाहिए । उसके दो ही उपाय है, अभ्यास और वैराग्य ।

पतजलि ने योगशास्त्र मे बताया है कि चित्त-वृत्तियो का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही हो सकता है । गीता के छठे अध्याय के अतिम भाग मे अर्जुन ने चित्त को स्थिर करने के बारे मे प्रश्न पूछा है । उसका जवाब देते हुए कहा गया है **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति का निरोध होता है । यहाँ भी भगवान् यही कह रहे है ।

(२) **चेतसा नान्यगामिना**। भगवान् को छोडकर किसी भी अन्य वस्तु पर चित्त न जाय ।

यह वैराग्य है । वैराग्य से सृष्टि के सारे पदार्थ नि सार लगते है और भगवान् ही सत्य, सारभूत, सार-सर्वस्व लगता है । लेकिन परमात्मा भी दिखाई नही देता । जो वस्तु कभी दिखाई नही देती, उसे सत्य समझकर उसमे प्रेम रखना और सृष्टि को नि सार समझकर उसके प्रति अनासक्त रहना, वैराग्य का भाव रखना, यह आसान बात नही है। बच्चा छोटा हो तो माता का सारा ध्यान उसमे ही रहता है । परमात्मा के भक्त की यही स्थिति होती है । उसका सारा ध्यान, सारा प्रेम परमात्मा मे केंद्रित रहता है । परमात्मा का भक्त जन-सेवा मे लगा हो तो वही करेगा । कुटुब मे हो तो कुटुब की सेवा करेगा ; मगर अतरग मे उसका प्रेम, ध्यान, लक्ष्य परमात्मा पर ही रहेगा। कुटुंब-सेवा भी वह परमात्मा की सेवा समझकर करेगा। ऐसे व्यक्ति के आचरण मे सयम रहेगा । गृहस्थ होते हुए भी वह ब्रह्मचर्य से ही रहेगा । इस तरह परमात्मा के अखड स्मरण से उसका जीवन उच्च कोटि का रहेगा ।

(३) **अनुचिन्तयन् परमं दिव्य पुरुषं याति।** परमात्मा का ध्यान, चिन्तन करनेवाला भक्त, निरतिशय दिव्य-पुरुष को (परमात्मा को) प्राप्त करता है । परमात्मा के लिए यहाँ दो विशेषण आये है. १ परम और २ दिव्य। परम यानी अतिश्रेष्ठ । जगत् मे परमात्मा ही अतिश्रेष्ठ है, निरुपम है, अद्वितीय है । दूसरा विशेषण दिव्य है । दिव्य यानी अलौकिक, अद्भुत । पृथ्वी बडी तेजी से घूम रही है, मगर वह घूम रही है, ऐसा हमें नही लगता है, यह अद्भुत बात है । सूर्य पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की तरफ जा रहा है, ऐसा हमे लगता है, लेकिन वास्तव मे वह स्थिर है । यह परमात्मा की दिव्यता, अद्भुतता है । तुलसी-दासजी कहते है

असि सब भाँति अलौकिक करनी ।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

महात्मा गांधी के आचरण मे इतनी अद्भुतता थी कि जनता उनकी ओर खिची जाती थी । उनके प्रति प्रेम, भक्तिभाव पैदा होता था । जहाँ भी हम कुछ अलौकिकता देखते है, खिचे चले जाते है । उस अलौकिक वस्तु के प्रति हमारे मन मे प्रेम, भक्ति-भाव पैदा होने लगता है । इस तरह अति-श्रेष्ठ और दिव्य परमात्मा को वह प्राप्त करता है ।

: ९ :

कवि पुराणमनुशासितारमणोरणीयासमनुस्मरेद्य. ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्ण तमस परस्तात् ॥

कवि - जो कवि यानी सर्वज्ञ है, पुराण--अनादि काल से चला आ रहा है, अनुशासितार -जगत् का नियन्ता, अणो. अणीयास--सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सर्वस्य धातार- सबका धारण करनेवाला, अचिन्त्यरूप- जिसका स्वरूप चिन्तन से परे है, आदित्यवर्ण--सूर्य की तरह प्रकाश-स्वरूप है, तमसः परस्तात्--अज्ञान, मोह आदि अँधेरे से जो परे है, य. अनुस्मरेत्-- ऐसे परमात्मा का जो ध्यान-चिन्तन करता है, (वह परमात्मा को प्राप्त करता है)।

इस श्लोक मे दो बाते है १ परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए आठ लक्षण बताये। २ उन लक्षणो से युक्त परमात्मा का जो ध्यान, भक्ति करता है, वह उसे प्राप्त करता है ।

१ **कवि** । कवि यानी सर्वज्ञ, क्रान्तदर्शी । ईशोपनिषद् मे कहा है **कविर्मनीषी परिभू. स्वयंभू. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य । मनीषी** यानी मन का स्वामी । परिभू यानी विश्व-प्रेमी । **स्वयभू.** यानी आत्मनिष्ठ । **सत्यभाषी और दीर्घदृष्टि** यानी विशाल-दृष्टि ।

ये पाँच गुण परमात्मा मे होते है (अ) परमात्मा मन का स्वामी है, इसीलिए सारी सृष्टि उसके अधीन है। (आ) परमात्मा विश्व-प्रेम से भरा है, इसलिए वह दयालु है । सब पर प्रेम, कृपा, अनुग्रह और दया करता है । (इ) वह आत्म-

निष्ठ है, क्योकि हमेशा आनन्दमय रहता है, अपने स्वरूप मे स्थित है । (ई) वह यथार्थभाषी है, क्योकि वह स्वय ही सत्यमय है । सत्य ही उसका स्वभाव है। (उ) वह त्रिकालदर्शी है, अत विशालदृष्टि, दीर्घदृष्टि है।

२ **पुराणम्**। वह अनादि है । अत नित्य है। उसका आदि नही है, अन्त भी नही है । गीता के दूसरे अध्याय के २०वे श्लोक मे आत्मा के लक्षणो मे 'पुराण' शब्द आया है । पुराण शब्द का अर्थ है पुराना । प्राणीमात्र जन्म-मृत्यु के अधीन है, इसलिए आदि और अतवान् है ।

३ **अनुशासितारं**। जगत् का अनुशासनकर्ता है, इसलिए शास्ता है । परमात्मा का सारे जगत् पर नियत्रण है, इसलिए नियता है । कठोपनिषद् मे श्लोक है .

भयादस्याग्निस्तपति । भयात्तपति सूर्य्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च । मृत्युर्धावति पचम.।।

अर्थात् परमात्मा के डर से अग्नि जलती है, सूर्य तपता है और इन्द्र और वायु अपना-अपना काम करते है और पॉचवी मृत्यु भी परमात्मा के डर मे अपना कार्य करती है ।

इन पॉचो मे अन्य सबका समावेश हो जाता है। पृथ्वी भी परमात्मा की आज्ञा मे रहकर तेजी से घूम रही है । इस तरह सारे पदार्थ परमात्मा के नियत्रण मे अपना-अपना कार्य सुचारुरूप से करते है।

४ **अणो· अणीयान्**। परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है । आकाश सब पदार्थो मे सूक्ष्म है, और व्यापक भी है। लेकिन परमात्मा आकाश से भी अतिसूक्ष्म है, इसीलिए वह आकाश से भी व्यापक है । अतिसूक्ष्म होते हुए भी शरीर मे वह सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप मे प्रकट है, इसलिए उसका ज्ञान हमे होता है । कठोपनिषद् (१ २ २०) मे परमात्मा को अणु कहा गया है

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान् महिमानमात्मनः ।।

अर्थात् 'सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, महान् से भी अतिमहान् आत्मा इन प्राणियो के हृदय मे निवास करती है। इस आत्मा को कामनारहित पुरुष मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब प्रसन्न होने पर यानी काबू मे लाकर आत्मा की महिमा का अनुभव करता है और इस तरह वह शोक-मोहरहित हो जाता है।'

५ **सर्वस्य धातारं**। सबको धारण करनेवाला, सब पर नियत्रण रखनेवाला, सबको अपने-अपने कर्मो के अनुसार फल देनेवाला है । घडे को मिट्टी धारण करती है, कपडे को सूत धारण करता है। कारण कार्य को धारण करता है। वैसे ही परमात्मा सब पदार्थो को धारण करता है। सबको धारण करने से सब पर उसीका नियत्रण है । परमात्मा सबके कर्मो का फलदाता है। कर्मफल देश, काल, निमित्त की अनुकूलता पर निर्भर है । यह अनुकूलता परमात्मा के ही अधीन है ।

६ **अचिन्त्यरूपं**। परमात्मा का स्वरूप चिन्तन से परे है। इद्रियो से जो वस्तु जानी जाती है, उसका चिन्तन-मनन कर सकते है। मगर जो वस्तु इद्रियो से परे है, उसका चितन सिर्फ बुद्धि से नही हो सकता। परमात्मा हमारा स्वरूप है, अत परमात्मा का अनुभव हम कर सकते है। जिन ऋषि-मुनियो, महात्माओ ने उसका अनुभव किया और जिन्होने शब्दो मे प्रकट किया, हम उन शब्दो का चितन-मनन कर सकते है । ऋषि-मुनियो के अनुभव के विना हम स्वतत्ररूप से परमात्मा का चितन-मनन नही कर सकते। पृथ्वी के स्थूल पदार्थ सब लोग देख सकते है, कुछ सूक्ष्म पदार्थ सूक्ष्मदर्शक यत्र से भी देख सकते है। लेकिन परमात्मा को अतिसूक्ष्मदर्शक यत्र से भी जान नही सकते। उसे जानने का एक ही साधन है, वह है शुद्ध-चित्त । इस तरह जिन महात्मा पुरुषो

ने अपना चित्त विशुद्ध करके परमात्मा का अनुभव लिया, उसका स्वरूप शब्दो मे उन्होने व्यक्त किया। जिन्हे चित्त-शुद्धि के अभाव मे परमात्मा का दर्शन नही हो पाया, लेकिन उसकी तीव्र इच्छा है, उनके लिए अनुभवी महात्माओ के शब्द प्रमाण है। परमात्मा का अनुभव प्राप्त होने तक अनुभवी पुरुषो के शब्दो का चिन्तन कर सकते है। इस तरह परमात्मा का रूप अचिन्त्य होते हुए भी अनुभवी-पुरुषो के कारण चिन्तन-योग्य हो जाता है।

७ **आदित्यवरणं**। वह सूर्य-प्रकाश की तरह नित्य चैतन्य, प्रकाश-स्वरूप है। यहाँ सूर्य के प्रकाश का दृष्टान्त दिया है, लेकिन वह जड है। यहाँ प्रकाश का मतलब चैतन्यरूप, ज्ञानरूप प्रकाश है। इस चैतन्यरूप प्रकाश मे सूर्य के प्रकाश का ज्ञान होता है। कठोपनिषद् (२ २ १५) मे श्लोक आता है

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—'परमात्मा को सूर्य प्रकाशित नही करता, चन्द्र और तारे भी प्रकाशित नही करते। बिजली भी प्रकाशित नही करती। तो फिर यह अग्नि परमात्मा को कहाँ से प्रकाशित करेगी ? जितना सब प्रकाशित हो रहा है, वह सब परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। परमात्मा के अपने ज्ञान-शक्तिरूप प्रकाश प्रकट करने पर ही सूर्य आदि सब प्रकाशित हो रहे है।'

८ **तमसः परस्तात्**। परमात्मा अज्ञान आदि अँधेरे से परे है। जीवात्मा अज्ञान से घिरा है। परमात्मा अज्ञान से मुक्त है। यही परमात्मा और जीवात्मा मे फर्क है। देह आदि उपाधियो के कारण पैदा हुई यह अज्ञानावस्था, मोहावस्था, जो परमात्म-स्वरूप को ढँक देती है, परमात्म-ज्ञान के बिना नष्ट नही हो सकती। परमात्मा के पीछे यह अज्ञानावस्था नही है। अत परमात्मा अज्ञानरूपी, मोहरूपी अधकार से परे है।

परमात्मा के ये आठ लक्षण हुए।

(२) दूसरी बात यह है कि इन उपर्युक्त लक्षणो से युक्त परमात्मा का ध्यान, भक्ति, चिन्तन करनेवाला पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा के नौ ही लक्षण नही है। परमात्मा के अनन्त लक्षण है। उन लक्षणो का वर्णन नही किया जा सकता। परमात्मा जैसी अलौकिक शक्ति दूसरी नही है, ऐसा समझकर जो ध्यान, भक्ति, चिन्तन करता है, वह धन्य है। उसका जन्म सफल समझना चाहिए। सत तुलसीदासजी ने कहा है

कामिहि नारि पियारि जिमि,
लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर,
प्रिय लागहु मोहि राम॥

—'कामासक्त पुरुष को जैसे स्त्री प्रिय लगती है, लोभी पुरुष को धन प्रिय लगता है, उसी तरह मुझे हमेशा रघुकुल के रामचन्द्रजी प्रिय लगे।' तुलसीदासजी ने सबके लिए प्रार्थना की है कि इस ससार मे रहते हुए भी हमारा सम्पूर्ण प्रेम परमात्मा पर रहे।

: १० :

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या
युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

प्रयाणकाले=मृत्यु के समय, **भक्त्या च योगबलेन**=भक्ति और योग के बल से, **युक्तः**=युक्त होकर, **भ्रुवोः मध्ये**=भृकुटियो के बीच, **प्राणं सम्यक् आवेश्य**=प्राण को भलीभाँति स्थापित करके, **य अचलेन मनसा**=जो स्थिर मन से, **अनुस्मरेत्**=स्मरण करता है, **सः तं परं दिव्यं पुरुषं**=वह उस अतिदिव्य पुरुष को, **उपैति**=प्राप्त होता है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ मृत्यु के समय भक्ति और योगबल से युक्त होकर, २ भृकुटियो

के बीच प्राण को स्थापित करके, ३ जो स्थिर मन से स्मरण करता है, ४ वह परमात्मा को प्राप्त होता है।

(१) **प्रयाणकाले भक्त्या योगबलेन युक्त.।** इस श्लोक मे अत समय मे भगवान् का स्मरण करते हुए किस तरह देह छोडनी चाहिए, उसकी विधि बतलायी है। अतकाल अतिमहत्त्वपूर्ण होता है। जीवन मे जो कमाई की है, जो साधना की है, वह उसकी कसौटी का काल है। सारे जीवन मे चित्त पर गहरे सस्कार कौन-से रहे है और ऊपरी सस्कार कौन-से रहे है, इसका पता अतकाल मे लग जाता है। यदि ससार से छूटना है तो अत समय मे परमात्म-स्मरण रहेगा, परमात्म-प्रेम पैदा होगा, तब सासारिक सस्कार नष्ट हो सकते है। तो जीवन मे दो प्रकार का बल प्राप्त करने की जरूरत रहती है. एक भक्ति और दूसरा योग। भक्ति यानी प्रेम। योग यानी निग्रह। अहकार ही बधन है। अहकार दो प्रकार का है एक मन का काल्पनिक और दूसरा शरीर के हरएक परमाणु मे प्रविष्ट। अहकार को नाश करने के लिए हम जीवन मे कोशिश करे और उसमे सफलता मिले, तो प्रयाण-काल की कसौटी पर खरे उतर सकते है। 'देह, मन, बुद्धि मै हूँ' ऐसा जो बलवान् सस्कार मन मे बैठा हुआ है, उसे निकालने का सुलभ उपाय परमात्म-भक्ति है और परमाणु मे प्रविष्ट अहकार को निकालने के लिए योग का यानी मनोनिग्रह एव इद्रिय-निग्रह का अभ्यास ही एक उपाय है।

दो उपायो से मृत्यु को जीत सकते है। आदमी मे जीने की प्रबल इच्छा है। सौ साल तक जीने पर भी लगेगा कि एक साल और जिऊँ। जीने की वासना असाधारण होती है। उसे जीतने के लिए योग का, निग्रह का यानी वैराग्य का अभ्यास हो तो ही अत समय मे होनेवाली प्रचड शारीरिक वेदना बर्दाश्त होती है और चित्त पर उसका परिणाम नही होता। इसलिए जीवन मे भक्ति प्राप्त करने की और निग्रह का, वैराग्य का अभ्यास करने की कोशिश करते रहना चाहिए। अत इस श्लोक में पहली बात बतला रहे है कि प्रयाण-काल मे भक्ति से और योग-बल से युक्त हो।

(२) **भ्रुवो· मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य।** भृकुटियो के बीच प्राण को भलीभाँति स्थापित करके। मृत्यु के समय प्राण यानी इद्रियो की शक्ति एक स्थान पर हम केन्द्रित करते है तो परमात्मा का ध्यान सुगमता से कर सकते है। भृकुटियो के बीच का मतलब है, आँखे बन्द करके मस्तिष्क मे, जहाँ हमे मन का अनुभव आता है, ध्यान करने की कोशिश। भृकुटियो के बीच ध्यान करने से दर्द होने लगता है। एक सज्जन भृकुटियो के बीच ध्यान करने की कोशिश करते रहे। उनका दर्द शुरू हुआ और बढने लगा। दर्द बढने पर वहाँ से वे ध्यान हटाने की कोशिश करते रहे। मगर आदत इतनी बढ गयी थी कि वे वहाँ से ध्यान को हटाने मे असफल रहे। स्थिति बिगडती गयी। इसलिए दो भृकुटियो के बीच ध्यान करने के लिए यद्यपि यहाँ कहा है, तो भी उसका शाब्दिक अर्थ न कर यह समझना चाहिए कि शरीर और इद्रियो मे रही हुई प्राणशक्ति को मन मे ही केन्द्रित करके यानी इधर-उधर इद्रियो को बिलकुल जाने न देकर। मसलन मृत्यु के समय रिश्तेदारो से मिलने की, बच्चो को देखने की, उनके साथ आखिरी बात करने की इच्छा मन मे हो जाती है। उन सारी इच्छाओ को रोककर इद्रियो के सारे व्यापारो मे अपने चित्त को हटाकर भीतर सारी शक्ति परमात्म-शक्ति मे लगाने की कोशिश करनी चाहिए।

(३) **य. अचलेन मनसा अनुस्मरेत्।** जो अचल यानी बिलकुल स्थिर मन से परमात्मा का स्मरण करता है। भक्ति का और योग का यानी निग्रह का, वैराग्य का बल होना चाहिए। दो प्रकार के बल से युक्त होकर मन और इद्रियो की प्राण-शक्ति भीतर एक स्थान पर केन्द्रित करके बिलकुल

स्थिर-मन से जो परमात्मा का स्मरण करता है। प्रयाण-काल मे अपनी स्थिति कैसी रहनी चाहिए, यह यहाँ बताया है। अतकाल मे जो शारीरिक वेदनाएँ होती है, उनसे चचलता, अस्थिरता आती है, बेचैनी होती है। मन की इस कमजोर हालत को दूर करने के लिए दो प्रकार की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए १ परमात्मा की भक्ति और २ इंद्रिय-निग्रह-शक्ति। मन तथा इद्रियो को जो हमेशा काबू मे रखने की कोशिश करते है, उनके जीवन मे निग्रह-शक्ति प्रकट हो सकती है। प्रेम-शक्ति और निग्रह-शक्ति हममे रहती है। लेकिन हमारी प्रेम-शक्ति कुटुबी-जनो तक सीमित रहती है। वह उनसे निकल कर परमात्मा मे प्रेम-शक्ति लग जाय तो भक्ति प्रकट हो सकती है। निग्रह-शक्ति भी कुटुबी-जनो तक ही सीमित रहती है। पैसा कमाने के लिए दिन-रात कोशिश करना भी निग्रह ही है। लेकिन उसमे ममत्व, काम, क्रोध आदि विकार, देह, बुद्धि आदि बधन मे डालनेवाली चीजो का निग्रह करने का लक्ष्य नही रहता, कोशिश नही होती। इसलिए निग्रह-शक्ति का फल जो निर्विकार स्थिति है, नही मिल पाती। लेकिन प्रेम-शक्ति और निग्रह-शक्ति का उपयोग परमात्म-भक्ति प्राप्त करने और निग्रह-शक्ति का उपयोग परमात्म-भक्ति और निर्विकार स्थिति प्राप्त करने मे हो तो अत समय मे दोनो शक्तियो का उपयोग चित्त की स्थिति ठीक रखने मे हो सकता है।

(४) **सः तं परं दिव्यं पुरुषं उपैति।** अत समय मे यदि मन परमात्म-भक्ति मे तल्लीन होकर निर्विकार रह सके, तो अतिदिव्य पुरुष को यानी परमात्मा को प्राप्त करता है, मोक्ष मिलता है। जीवन का अतिम लक्ष्य ससार-बंधन से छूटना है। ससार-बधन मे आत्यतिक सुख का अनुभव नही मिल पाता। आत्मा आनन्दस्वरूप, शात-स्वरूप होने से जब तक मनुष्य को शाति का, आनन्द का अनुभव नही आता, तब तक उसे प्राप्त करने की कोशिश चलती रहती है। जीवन मे जो आध्यात्मिक सपत्ति हमने प्राप्त की है, अत समय मे उसका उपयोग हो, तभी उसकी सार्थकता है। इस-लिए अत समय मे जब कि असह्य शारीरिक वेदना भुगतनी पडती है, अगर परमात्म-स्मरण रहे और परमात्म-भक्ति करते हुए देह छूटे, तो मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

: ११ :

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

वेदविद = वेद के ज्ञाता, **यत् अक्षरं वदन्ति** = जिस अक्षर को रटते है, **वीतरागा यतयः** = वीतरागी, यति, **यत् विशन्ति** = जिसमे प्रवेश करते है, **यत् इच्छन्त** = जिसकी इच्छा रखते हुए, **ब्रह्मचर्य चरन्ति** = ब्रह्मचर्य का पालन करते है, **तत् पदं ते** = वह परमात्मा का पद तुम्हें, **संग्रहेण प्रवक्ष्ये** = सक्षेप मे कहता हूँ।

इस श्लोक मे चार बाते है : १ वेद के ज्ञाता सत्पुरुष, जिस परमात्मा अक्षर (पद) को रटते है, २ वीतराग, यति जिस परमात्मा मे प्रवेश करते है, ३ जिस परमात्मा को जानने की इच्छा रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते है, ४ वह परमात्मा का पद तुमको सक्षेप मे कहता हूँ।

(१) **वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति।** वेद के ज्ञाता जिस परमात्मा के अक्षर (पद) को रटते है। यहाँ 'अक्षर' शब्द आया है। अक्षर शब्द का एक अर्थ है जिसका नाश नही होता, वह अक्षर-ब्रह्म और दूसरा अर्थ परमात्मा का नाम—ॐ। दोनो अर्थ ठीक है। १३वे श्लोक मे स्पष्टरूप से ॐ का जिक्र है, इसलिए ॐ का अर्थ एकाक्षर ब्रह्म लेना शायद ज्यादा ठीक है। फिर भी दोनो अर्थ लेने मे हर्ज नही।

पहले प्रथम अर्थ को स्पष्ट करे। ब्रह्माड मे जो व्याप्त वस्तु है, उसे 'ब्रह्म' कहा है। 'बृहद्' शब्द से

'ब्रह्म' शब्द बना है। ब्रह्माड मे जो वस्तु व्याप्त है, वह व्यापक होनी चाहिए। वृहद् यानी व्यापक। मुडकोपनिषद् (३ १ ७) मे एक श्लोक है, जिसमे पहले ही 'वृहद्' शब्द रख दिया है। उस श्लोक मे ब्रह्म का वर्णन है ·

वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

—'और वह ब्रह्म वृहद् है। दिव्य यानी चितन से परे है, और वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म है, इस प्रकार वह ब्रह्म भासमान हो रहा है, वह दूर से ही अति-दूर और बिलकुल निकट ही है। और जो इस ब्रह्म का अनुभव कर चुके है, ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष के लिए यह ब्रह्म अपनी हृदयरूपी अथवा वुद्धिरूपी गुफा मे स्थित है।'

इस तरह ब्रह्म की खोज दस हजार साल पहले वेद ने की। वेदवेत्ता यानी वेद के रचयिता ऋषि, जिस अक्षर का यानी जिस अविनाशी ब्रह्म का वर्णन करते है, गुणगान करते है, यह एक अर्थ हुआ।

दूसरा अर्थ है ब्रह्म का नाम जो ॐ है, उसका जप ऋषि-मुनि करते रहे है। वेद के समय राम अथवा कृष्ण का नाम नही था, क्योकि राम और कृष्ण का अवतार होने तक वैदिक-धर्म मे 'ॐ' ही ईश्वर के लिए प्रचलित था। अभी भी निर्गुण-ब्रह्म के उपासक 'ॐ' का ही जप करते है। इस अध्याय मे 'ॐ' के बारे मे ही भगवान् कह रहे है। ॐ मे तीन अक्षर है—अ, ऊ, म। इन तीन अक्षरो से ॐ बना है। ॐ अक्षर मे ऊपर जो अर्ध-चन्द्राकार है, वह 'ॐ' अक्षर की आधी मात्रा है। सृष्टि मे सामान्यत तीन प्रकार के विभाग है उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। सत्त्व, रज, तम तीन गुण, जाग्रत्, स्वप्न, सुपुप्ति तीन अवस्थाएँ, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय तीन पदार्थ-लक्षण, गरमी, सर्दी, बरसात तीन मौसम, पृथ्वी, पानी, अग्नि तीन व्यक्त भूत। इसी तरह जप के लिए भी ऐसे अक्षर की खोज की गयी कि जिसमे तीन अक्षर हो। ॐ अक्षर का जप अविनाशी परमात्मा के लिए ही किया जाता है। इसलिए यह दूसरा अर्थ भी ठीक है।

(२) **वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति ।**

जिनकी आसक्ति दूर हो गयी है, ऐसे वीतरागी यति, सन्यासी जिस पद मे प्रवेश करते है यानी जिस स्वरूप का अनुभव करते है। यहाँ परमात्मा के स्वरूप मे प्रवेश करने लिए यानी स्वरूप का अनुभव लेने के लिए दो विशेषण बतलाये है वीतरागी और यति। शकराचार्य ने गीताभाष्य मे एक जगह लिखा है

विरक्तस्य हि संसारात् भगवत्-
तत्त्वज्ञाने अधिकारः न अन्यस्य इति ।

ससार से जो विरक्त हो गया, ऐसे विरक्त पुरुष को ही भगवान् का तत्त्व जानने का अधिकार है, दूसरे किसीको नही।

सत तुलसीदासजी कहते है :

प्रथमहिं विप्र-चरन अति प्रीती ।
निज-निज धरम निरत स्रुति रीती ॥
एहिकर फल पुनि बिषय बिरागा ।
तब मम धरम उपज अनुरागा ॥

पहली चीज है ब्राह्मणो के चरणो मे अति-प्रीति। प्राचीन जमाने मे ब्राह्मण ज्ञानी होते थे, इसलिए तुलसीदासजी ने ऐसे ज्ञानी ब्राह्मणो के प्रति बहुत आदर दरशाया है। दूसरी चीज बतायी श्रुतिविहित धर्म मे निरत रहना। फिर बताते है इन सबका फल है विषय के प्रति वैराग्य और वैराग्य के पश्चात् मेरे धर्म मे अनुराग पैदा हो सकता है। वीतरागी का अर्थ है, ससार के प्रति नही, परमात्मा के प्रति अनुराग।

दूसरा विशेषण 'यति' है। यति यानी सन्यासी। सन्यासी का मतलब सिर्फ भटकनेवाला नही है। प्राचीन जमाने मे पहुँचे हुए पुरुष सन्यास धारण करके किसी एक जगह तीन दिन से ज्यादा न ठहर-

कर लोगो को ज्ञान का उपदेश देते हुए विचरते थे। जब जीवन मे कुछ करने को शेप नही बचता, जब कर्तव्य खतम हो जाते है, परिपक्व-दशा आती है, तब सर्वसग-परित्याग करके कही आसक्ति न रखकर विचरना और मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण करते हुए देह छोडना सन्यास है। विकारो तथा सकल्पो का त्याग सन्यास मे आता है। सत तुलसीदासजी की भाषा मे **ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि-रँग रँगे।** 'वे धन्य है, जो सब आशाओं को छोडकर हरि के रँग मे रँग जाते है।' विनय-पत्रिका मे वे लिखते है ·

जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे।
प्रभु बिस्वास आस जीति जिन्ह, ते सेवक हरि के रे।

अर्थात् 'जो लोग विपयो पर लुब्ध होकर आशा के दास बनते है, वे सबके गुलाम है। लेकिन प्रभु पर श्रद्धा रखकर भक्ति करके जिन्होने आशा को जीत लिया है, वे हरि के सेवक है।' जो हरि के भक्त है, वे ही सच्चे सन्यासी है।

(३) **यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति।** परमात्मा को प्राप्त करने या अनुभव लेने की इच्छा से जो ब्रह्मचर्य का पालन करते है। यह चीज अमूल्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य बुनियादी चीज है। बिना ब्रह्मचर्य के जीवन मे आध्यात्मिकता नही आ सकती। नैष्ठिक ब्रह्मचारी बहुत थोडे होते है। गृहस्थ-जीवन जीनेवाले ही सौ मे से ९९ होते है। गृहस्थ-जीवन सृष्टि का प्रवाह है, सृष्टि का स्वरूप है। ज्ञानी, सत, ऋपि, महात्मा सब गृहस्थाश्रम की ही देन है। मगर आजकल जैसा जीवन चल रहा है, वह गृहस्थाश्रम न होकर सिर्फ ससार ही है। गृहस्थाश्रम अलग चीज है, ससार अलग। ससार मे असयम ही प्रधान होता है। गृहस्थाश्रम मे 'आश्रम' शब्द होने से उसमे सयम की मुख्यता है। सयम के आधार पर गृहस्थाश्रम टिकता है।

सयम यानी सब इद्रियो का सयम। आदमी को दो चीजे बहुत कठिन लगती है १ खाने मे सयम, और २ स्त्री-सग मे सयम। इन दो बातो मे मनुष्य बहुत दुर्बल होता है। गाधीजी बार-बार कहते रहे कि 'मेरी सारी शक्ति ब्रह्मचर्य के कारण ही बढी है।' साबरमती-आश्रम मे गाधीजी ने आश्रम का एक महान् प्रयोग किया। आश्रम-विभाग मे जो भी रहते थे, उनके लिए ब्रह्मचर्य-पालन लाजिमी था। पति-पत्नी दोनों साथ आश्रम मे रहने आते तो ब्रह्मचर्य-पालन की शर्त से ही उन्हे रखा जाता था। गाधीजी का सारा जोर ब्रह्मचर्य पर था। हिन्दुस्तान मे जब कि जनसख्या बेहद बढ गयी है, तब तो ब्रह्मचर्य-पालन की नितात आवश्यकता है। यहाँ भगवान् आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य का महत्त्व बता रहे है।

(४) **तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये।** वह परमात्मा का पद यानी स्वरूप या नाम मै तुम्हे सक्षेप मे कहता हूँ। यहाँ 'पद' के भी दो अर्थ होते है : एक स्वरूप और दूसरा नाम। सक्षेप मे कहने का उल्लेख यहाँ भगवान् ने किया है ।

वह नाम या स्वरूप आगे १३वे श्लोक मे कहा है।

: १२-१३ :

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

सर्वद्वाराणि सयम्य=इन्द्रियो के सब द्वारो का सयम करके, **च मन· हृदि निरुद्ध्य**=और मन का हृदय मे निरोध करके, **आत्मनः प्राणं**=और अपने प्राण की, **मूर्ध्नि आधाय**=मस्तक मे स्थापित करके, **योगधारणां आस्थितः**=योगधारणा मे प्रवृत्त पुरुप, **ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म**=ॐ जो एक अक्षर का ब्रह्म है, **व्याहरन्**=उसका उच्चारण करनेवाला, **मा अनुस्मरन्**=मेरा स्मरण करनेवाला, **य देह त्यजन्**=जो पुरुष, देह का त्याग करते हुए, **प्रयाति**=प्रयाण करता है, **स. परमा गतिं याति**=वह परमगति (मोक्ष) प्राप्त करता है।

१२वे श्लोक मे चार और १३वे श्लोक मे चार, इस तरह आठ वाते वतायी हैं । १२वे श्लोक मे चार वाते इस प्रकार हैं १ सव इद्रियो के दरवाजे वन्द करके यानी इद्रियो का सयम करके, २ मन का हृदय मे निरोध करके, ३ अपने प्राण को मस्तक मे स्थापित करके, ४ योग-धारणा मे प्रवृत्त पुरुष । १३वे श्लोक की चार वाते ये हैं ५ ॐ, जो एक अक्षर का ब्रह्म है, उसका उच्चारण करनेवाला, ६ मेरा स्मरण करनेवाला, ७ जो पुरुष देह छोडता है, ८ वह परम गति (मोक्ष) प्राप्त करता है ।

(१) **सर्वद्वाराणि संयम्य** । सव इद्रियो के दरवाजे वन्द करके यानी सव इद्रियो को सयम मे रखकर । पाँचवे अध्याय के १३वे श्लोक मे **नव-द्वारे पुरे** कहा है । शरीर को नगर की उपमा दी है और उसमे नौ द्वार हैं । दो आँखे, दो कान, नाक के दो छिद्र, मुँह और पेशाव तथा शौच का स्थान, इस तरह नौ दरवाजे होते हैं । कठोपनिषद् मे दो अधिक यानी ११ दरवाजे वताये हैं । एक तो यह कि मस्तक से ज्ञानी पुरुष का प्राण जाता है, इसलिए मस्तक का मध्यभाग द्वार है । दूसरा नाभिपीठ के विलकुल नीचे के सिरे पर एक स्थान ऐसा है, जहाँ कुडलिनी जागृत होकर मस्तक मे प्रकट होती है, तव समाधि लग जाती है । इसलिए कुडलिनी के स्थान को भी एक द्वार मान सकते हैं । अतकाल यानी देह छोडने का समय । उस समय चित्त की उच्च स्थिति रहे तभी अगला जन्म अच्छा मिल सकता है । जहाँ योगी या भक्त किस तरह देह छोडकर जाता है, यह वता रहे हैं । इसलिए अत समय मे सव इद्रियो का सयम यानी सव व्यापारो का निरोध करना चाहिए ।

इद्रियो द्वारा ही सारा व्यवहार चलता है । मन भी हमेशा इद्रियो के अधीन रहता है । इसलिए स्थितप्रज्ञ के लक्षणो मे 'इद्रिय-निग्रह' यह मुख्य लक्षण स्थितप्रज्ञ पुरुष का वतलाया है । इद्रिय-निग्रह न होने से ही परमात्मा की पहचान नही होती, यह वात कठोपनिषद् (२ १ १) मे वतलायी है

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चित् धीर. प्रत्यगात्मानमैक्षत्
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

—'स्वयभू परमात्मा ने इद्रियाँ वहिर्मुख वना दी है । इसलिए इद्रियाँ हमेशा वाह्य विषय को ही देखती है, भीतरी परमात्मा को नही देखती । कोई धीर विवेकी पुरुष इद्रियो को विषयो से हटाकर अमृतत्व की यानी मोक्ष की इच्छा रख प्रत्यगात्मा को यानी परमात्मा को देखता है ।'

(२) **मनो हृदि निरुध्य च** । मन को हृदय मे यानी भीतर ही रोककर । मन की चचलता के विषय मे छठे अध्याय के ३५वे श्लोक मे कहा गया है । मन का निग्रह करना वहुत कठिन है । लेकिन निग्रह के लिए अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय हैं । वार-वार मन को रोकने की कोशिश करना अभ्यास है । अभ्यास से अन्त समय मे मन को रोकने मे सफलता मिल सकती है । अत समय मे जव शरीर की वेदना वढ जाती है, तव मन को रोकना वहुत कठिन होता है । उस समय तो मन हमेशा और भी चचल वन जाता है । मन मे सोयी हुई अनेक वासनाएँ जागृत हो जाती हैं । वासनाओ को जीतने का अभ्यास हो तो आखिरी घडी मे जीत हो सकती है ।

मन की एकाग्रता के लिए 'हृदय' शव्द आया है । हृदय का अर्थ छाती है । अक्सर 'हृदय' शव्द मुँह से निकलते ही हाथ छाती पर चला जाता है । हृदय का अर्थ है मन या चित्त की गहराई । गहराई मे जाकर चित्त या मन को एकाग्र करना जरुरी है । इस तरह मन अतर्मुख वने, तभी देहगत सम्वन्ध छूटकर परमात्मा के साथ सवध जुड सकता है ।

(३) **आत्मनः प्राणं मूर्ध्नि आधाय** । और अपने प्राण को मस्तक मे स्थापित करके । १०वे श्लोक मे भृकुटियो के वीच प्राण को रखने के

लिए कहा है और यहाँ प्राण को मस्तक मे स्थिर करने के लिए कहा है। इस तरह दो वचनो में विरोध प्रतीत होता है। किन्तु विरोध नही है। गीता दोनो मे से किसी एक मे प्राण को स्थिर करने की सिफारिश करती है। शरीर की प्राण-शक्ति का मन की एकाग्रता के साथ सम्बन्ध है। रामायण मे है

सुमिरत हरिहिं साँस गति बाँधी ।
सहज विमल मन लागी समाधी ॥

नारद के बारे मे कहा है कि हरि का स्मरण करते ही चित्त हरि मे इतना एकाग्र हो गया कि साँस की गति शात हो गयी। चित्त की एकाग्रता मे प्राण अपने आप शात होने लगता है। इसलिए योगशास्त्र मे प्राणायाम का महत्त्व बतलाया है। प्राण-शक्ति को रोकने का अभ्यास किया जाय तो मन को एकाग्र करने मे उसकी मदद मिल सकती है।

यहाँ प्राण-शक्ति को मस्तक मे अथवा भृकुटि के बीच रोकने के लिए कहा गया है। योग-शास्त्र और उपनिषद् मे भी यह कल्पना है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष का प्राण शरीर छोडते समय मस्तक मे से चला जाता है और अज्ञानी पुरुष का प्राण शरीर के और भागो मे से निकलता है। प्राण मस्तक से जहाँ से निकलता है, उसे 'ब्रह्मरध्र' कहा गया है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष की कुडलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्म-रध्र तक पहुँच जाती है। कुडलिनी गुदा-द्वार के पास रीढ की जो आखिरी हड्डी है, उसमे सुप्त पडी रहती है। जाग्रत् होने पर वह ब्रह्मरध्र तक पहुँच जाती है। ब्रह्मरध्र ज्ञानावस्था का स्थान है। ज्ञानावस्था कभी नष्ट नही होती। इस तरह सम्पूर्ण प्राण-शक्ति को मस्तक के ब्रह्मरंध्र मे एकाग्र करने के लिए कहा है।

(४) **योगधारणां आस्थितः**। योगधारणा मे प्रवृत्त पुरुष। शरीर मे स्थित इद्रिय-शक्ति, मन-शक्ति और प्राण-शक्ति इन तीनो शक्तियों को एकाग्र करके, परमात्मा के साथ एकरूप होने का जो योग, उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। एक भक्ति-भाव से और दूसरा योग-बल से। भक्ति-भाव मे प्रेम रहता है, योग-बल मे निग्रह रहता है, तटस्थता रहती है, कर्तव्य-दृष्टि रहती है। माता को अपने पुत्र के प्रति सहज ही प्रेम होता है। उस सहज प्रेम से वह सेवा प्रवृत्त होती है। कर्तव्य-भावना मे वह सेवा नहीं करती। प्रेम-भाव माता से लडके की सेवा सहजरूप से कराता है। लेकिन पति के भाई की पत्नी मर जाने के बाद उसके छोटे लडके की जिम्मेदारी जब उस माता पर आती है, तब वह कर्तव्य-भावना से सेवा करती है। वैसे ही ईश्वर का स्मरण प्रेम से सहज हो सकता है और बिना उत्कट प्रेम के कर्तव्य-भावना से भी हो सकता है। अत. भगवान् कह रहे हैं कि वह कर्तव्य समझकर लेकिन उत्कटता से ईश्वर-स्मरण मे आरूढ हुआ है।

१३वे श्लोक की चार बाते इस प्रकार है

(५) **ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्**। ॐ जो एक-अक्षररूप ब्रह्म है, उसका उच्चारण करनेवाला। अतकाल मे वाणी यदि बन्द हो जाती है तो उच्चारण नही किया जा सकता। उस स्थिति मे 'मन मे ही ॐ का जप करनेवाला,' यह अर्थ होगा। वाणी यदि चालू है तो 'वाणी से ॐ का उच्चारण करनेवाला', यह अर्थ होगा। ॐ के बदले राम का, कृष्ण का जप भी कर सकते है। प्राचीन जमाने मे जब राम और कृष्ण का अवतार नही हुआ था, तब 'ॐ' का नाम ही प्रचलित था। उसीका जप साधक या मुमुक्षु करते थे। गीता के जमाने मे तो भगवान् कृष्ण स्वय ही थे। राम तो और पहले हो गये थे, इसलिए गीता-काल मे राम-नाम प्रचलित था ही।

इस आठवे अध्याय मे निर्गुण-भक्तिका वर्णन है। सगुण-भक्ति का वर्णन ९,१०,११, और १३ इन चार अध्यायो मे है। राम-नाम सगुण-भक्ति है। निर्गुण-भक्ति के लिए ॐ का जप है। राम या कृष्ण का नाम या पार्वती का या किसी देवी का नाम जपते हुए उनका चरित्र सामने खड़ा हो जाता

है। उनके अलौकिक गुणो का स्मरण जप करते समय हो सकता है। लेकिन ॐ का जप करते हुए कोई सगुण-कल्पना नही आती। इसलिए ॐ का जप कठिन हो जाता है। इस नाम का जप कठिन होने से आम जनता मे रूढ नही है। राम, कृष्ण, शकर, पार्वती, हनुमान्, लक्ष्मी आदि नाम ज्यादा रूढ है। वैसे उच्चारण की दृष्टि से अन्य नामो की अपेक्षा राम-नाम सुगम है। सत तुलसीदासजी ने तो राम के सुलभ नाम का ही जप रामायण मे किया है। तुलसीदासजी ने एक जगह लिखा है **ब्रह्म राम तें नाम बड़।** ब्रह्मरूप राम से राम का नाम वडा है। तुलसीदासजी ने ब्रह्म के लिए भी 'राम'-शब्द जोड दिया।

ओम् अक्षर की एक और विशेषता यह है कि यह एक अक्षर का ब्रह्म है। परमात्मा का और कोई भी नाम एक अक्षर का नही है। राम, कृष्ण, मे दो अक्षर है। लक्ष्मी मे दो अक्षर है। शकर, पार्वती मे तीन अक्षर है। हनुमान् मे चार अक्षर है। सीताराम, राजाराम मे चार अक्षर है। लेकिन 'ॐ' मे एक ही अक्षर है। ॐ एक अक्षर होते हुए भी यह–अ, उ, म–इन तीन अक्षरो से वना है। ॐ का एक अर्थ है 'हाँ' यानी अस्तित्व-भाव। परमात्मा सत्स्वरूप है। नाशवत होने से जगत् को हम 'हाँ' नही कह सकते। जगत् का समावेश 'ना' मे ही करना पडेगा। इस तरह ॐ परमात्मा का जगत् मे अस्तित्व है, यह वतलानेवाला शब्द है। इस तरह ॐ का उच्चारण अतकाल मे करना है।

(६) **मां अनुस्मरन्।** मेरा स्मरण करते हुए। ॐ का उच्चारण करने मे परमात्मा का स्मरण हो जाता है, क्योकि परमात्म-स्मरण के लिए ही ॐ का जप या ॐ का उच्चारण होता है। एक ओर ॐ का जप चलता रहता है और उसके साथ मन इधर-उधर भटकता भी रहता है। मन का ईश्वर के स्मरण मे तल्लीन हो जाने के लिए मदद-रूप मे ॐ के जप का उपयोग होता है। इसलिए ॐ के जप के साथ सकल्पपूर्वक स्वतत्र-रूप से परमात्म-स्मरण के लिए कहा गया है।

विनोवाजी इस सिलसिले मे वडे मार्मिक ढँग से कहते है 'चित्त मे राम, मुख मे नाम, हाथ मे काम।' चित्त मे राम का स्मरण रहे। उसके अनुसधान मे मुँह से राम का नाम निकलता रहे और इन दो के अनुसधान मे हाथो से सत्कर्म होता रहे।

(७) **य. देहं त्यजन् प्रयाति।** जो देह छोडकर चला जाता है। किस तरह देह छोडकर जाना चाहिए, यह वताया है। देह छोडकर तो सभी जाते है, लेकिन मजवूर होकर जाते है। स्वाधीन होकर कोई देह छोडता नही। छोडना पडता है, इसलिए छोडते है। यदि देह छोडने का कभी प्रसग ही न आये तो आदमी उसमे आनन्द मानेगा। देह के मोह के कारण जीने की प्रवल लालसा हरएक के मन मे रहती है। देह ऐसी वनी है कि एक निश्चित अवधि के वाद टिक ही नही सकती। जितने भी जड-चेतन पदार्थ है, सवकी आयु निश्चित है। छोटे-छोटे कीडो की आयु वहुत कम होती है। जड-सृष्टि मे वृक्ष आदि की आयु मनुष्य से भी ज्यादा होती है। पहाडो की आयु वहुत अधिक होती है। फिर सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पदार्थो की आयु कल्पनातीत होती है। पृथ्वी की आयु ४००० करोड साल शास्त्रकारो ने वतायी है। वैज्ञानिक भी यही मानते है। उसमे २०० करोड वर्ष वीत चुके है, २००करोड वर्ष शेष है। उसके वाद प्रलयकाल आयेगा। ब्रह्मदेव की आधी आयु वीत चुकी है। तो इस तरह देह को नश्वर समझकर जो ॐ का उच्चारण करते हुए और मेरा स्मरण करते हुए देह छोडकर चला जाता है, उसे कौन-सी गति प्राप्त होती है, यह वताते है।

(८) **सः परमां गतिं याति।** वह पुरुष परम गति को यानी मोक्ष को प्राप्त करता है। वह पुनर्जन्म के चक्कर से निकल जाता है। छोटे वच्चे की अज्ञानावस्था देखकर तो सवको लग सकता है कि जन्म लेना अज्ञानावस्था का ही कार्य है। वात्या-

–'मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो उठता है वाणी गद्‌गद होकर आँखो से अश्रु बहने लगता है। काम, दभ, मद आदि विकार जिन के नष्ट हो जाते है, हे तात, मै ऐसे भक्तो के वश मे रहता हूँ।'

भगवान् रामचन्द्रजी हनुमान् से कह रहे है

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत॥

'स्थावर-जगम सृष्टि, भगवत्स्वरूप समझकर मै उस स्वामी का सेवक हूँ, यह जिसका निश्चय कभी नही, टलता वही अनन्यभक्त है।' इस दोहे मे सत तुलसीदासजी ने अनन्यभक्त की व्याख्या की है। परमात्मा ब्रह्माड मे व्याप्त है। मै उस परमात्मा का सेवक हूँ, वे मेरे स्वामी है, यह दृढ बुद्धि मन मे बराबर बनी रहे, तब चित्त अनन्य हो गया, ऐसा समझना चाहिए।

(२) **नित्यशः सततं मां स्मरति।** मेरा नित्य और सतत स्मरण करता है। शकराचार्य ने नित्य और सतत का अर्थ इस प्रकार किया है **सतत इति नैरन्तर्यं उच्यते। नित्यशः इति दीर्घकालत्वं उच्यते। षण्मासं संवत्सरं वा न, किं तर्हि? यावज्जीवं नैरंतर्येण मा स्मरति इत्यर्थः।** अर्थात्–'सतत यानी निरतर, नित्य यानी दीर्घकाल तक। कोई छह महीना या सालभर नही, तो कितने दिन? जीवनभर, निरतर, सतत, अखड यानी हरक्षण, मेरा स्मरण करता है।'

गाधीजी को हर क्षण परमात्मा का स्मरण रहता था। उनसे जब पूछा गया कि आपको अखड हरिस्मरण रहता है, इसका मतलब क्या है?' तब उन्होने जवाब दिया "जाग्रत् ऐसा एक क्षण नही है, जब ईश्वर मुझमे रहा है, और वह सब देख रहा है, इसका भान मुझे न हो। यह भान बुद्धि को है और अभ्यास से हुआ है।" ईश्वर-निष्ठा से, ब्रह्मचर्य-निष्ठा पैदा हुई। सत्यनिष्ठा से कर्तव्य-निष्ठा और परिश्रम-निष्ठा भी उनमे आयी। फिर भी ᐧ जीवन मे ईश्वरनिष्ठा प्रधान थी। उन्होने अप परमात्मा को समर्पित कर दिया था। जिनमे ः ईश्वर-स्मरण रहता हो, उनमे कर्तापन का भा रह ही नही सकता। गाधीजी की ऐसी गि अखड ईश्वर-स्मरण से हुई थी। भगवान् यहाँ बात कह रहे है कि परमात्मा का स्मरण ः यानी हरक्षण रहे। दूसरी बात यह है कि स्मरण नित्यश यानी थोडे काल तक, छह मा एक साल तक नही, बल्कि जीवनपर्यन्त ᐧ चाहिए। कई साधक आरम्भ मे साधना मे ती से लग जाते है और उसका लाभ भी उन्हे कुछ तक मिल जाता है। कुछ साधक तो समाधि भी पहुँच जाते है, क्योकि चित्त का धर्म है कि ः यदि गति पैदा होती है तो कार्य हो जाता है। ले फिर वह तीव्र गति कायम नही रहती। इस तीव्र गति मे जो अनुभव प्राप्त हुआ, जो साधना वह गति शात होने पर वह अनुभव भी शांत जाता है। इसलिए तीव्र गति मे जो साधना होः उसकी कीमत कुछ भी नही है, ऐसा तो नही। दृष्टि से देखा जाय तो उसकी कीमत बहुत क्योकि साधना-काल मे जो अनुभव प्राप्त हुआ, कायम न रहने पर भी उस अनुभव का कुछ ः जीवन उन्नत बनाने मे और मन की अधोगति रोकने मे बराबर हो सकता है। मगर जो अन् साधना-काल मे प्राप्त हुआ, वह अत तक टि रखना, सर्वश्रेष्ठ बात है; क्योकि उसीका ः मोक्ष की दृष्टि से ससार को जीतने मे मिल सः है। इसलिए सतत यानी हरक्षण और नित्य य मृत्यु तक, परमात्म-स्मरण रहना चाहिए।

(३) **तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः** अह सुल उस परमात्मा के साथ नित्य जुडे रहनेवाले य को मै सुलभता से प्राप्त होता हूँ। तुलसीदा लिखते है **सुगम पंथ मोहि पावहि प्रा** –'यह भक्ति का पथ सुलभ है, राजमार्ग है।'

मे कीर्ति वढने लगती है। इससे लोकैपणा पैदा होती है। लोकैपणा से ऐश्वर्य की तरफ अनजाने मन दौडने लगता है। सयम का वल घट जाता है। आहिस्ता-आहिस्ता गिरावट वढती जाती है। स्त्रियो का सम्पर्क वढ गया, तो उसमे भी फिसल जाते हैं। इस तरह ये सिद्धियाँ मोक्ष के लिए साधक न वनकर वाधक ही सावित होती है। इन सिद्धियो को इद्र-जाल यानी मायिक खेल भी कह सकते है। जो जाग्रत् महापुरुप है, वे सिद्धियाँ प्राप्त होने पर भी समाज के कल्याण की दृष्टि से उनका उपयोग नही करते। वे समझते है कि इनके उपयोग मे हमेशा खतरा ही है।

सिद्धियो के वल से किसी सिद्ध पुरुष ने किसी वीमार को अच्छा कर दिया। लेकिन जिसको अच्छा कर दिया, उसका वल तो वढा नही। उसे वीमारी से मुक्त होने के उपाय वताये जायँ, उसकी मानसिक स्थिति सुधारने मे मदद की जाय, उसे हमेशा शाति के विचार या सीख दी जाय, तो वह रोगमुक्त होकर स्वावलवी वन सकता है। सिद्धियो के आश्रय से उसका रोग दूर हो जाने पर वह हमेशा के लिए स्वस्थ हो गया, ऐसा भी नही मान सकते। क्योकि रोग फिर से न हो, इसकी सीख मिली नही। इसलिए सिद्धियाँ प्राप्त होने पर भी उनका उपयोग करना कल्याणकारी नही है।

जिन्हे सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी है, उन्हे परमात्म-ज्ञान प्राप्त हुआ, ऐसा भी नही कह सकते। क्योकि परमात्म-ज्ञान का सवध अहकार और देह-भाव को क्षीण करने से है। और सवसे कठिन वात तो अह-कार को क्षीण करना है। अत ससिद्धि का अर्थ सिद्धियाँ न करके सिर्फ 'मोक्ष' करना समुचित है। सिद्ध शव्द से ही सिद्धि और ससिद्धि शव्द वने हैं। सिद्ध पुरुप वे है, जिन्होने परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया। वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

ससिद्धि के पीछे 'परमम्' विशेपण है। परम यानी श्रेष्ठ। मोक्ष से श्रेष्ठ और कौन-सी चीज हो

सकती है? सिद्धि यानी चमत्कार दिखलाने के लिए जीवित रहना पडता है यानी देह-धारण करना ही पडता है। इसलिए ससिद्धि सिद्धि से श्रेष्ठ है। देह धारण करने मे मनुष्य व्यापक नही हो सकता; क्योकि भीतरी वृत्ति से चाहे जितना व्यापक वने, फिर भी देह-धारणा अपने आप ही कुछ मर्यादा पैदा करती है। इसलिए देह धारण करने से शक्ति जितनी प्रकट होती है, उससे कई गुना शक्ति देह-धारण न करने से हो सकती है। महात्मा गांधी हमेशा कहा करते थे कि अभी मैं जितना काम करता हूँ, उससे कई गुनी सेवा मैं मृत्यु के वाद कर सकूँगा। परमात्मा के साथ जो एकरूप हो गये है, ऐसे महात्मा-पुरुपो की ज्ञान-शक्ति का, देह की वाधा न होने से, सवको स्पर्श हो सकता है। देह-धारण करते हुए जिनके साथ उनका निकट सवध पहले से आया हुआ हो, उनको उन महात्माओ का स्पर्श हो सकता है। इसलिए देह-धारण करने की अपेक्षा देहमुक्त होकर मोक्ष-स्थिति मे रहना श्रेष्ठ है, इसमे सन्देह नही।

तीसरा शव्द 'महात्मा' है। महात्मा शव्द गीता मे वहुत ज्यादा प्रयुक्त नही हुआ है। नवे अध्याय के १३वे श्लोक मे 'महात्मा' शव्द आया है। जिन्होने देह-वुद्धि छोड दी, वे महात्मा। हम सव अल्पात्मा है। क्योकि देह-वुद्धि के साथ हमारी सारी क्रियाएँ चलती है। जिनकी देह-वुद्धि नष्ट हो गयी, वे विदेह है। विदेह होकर जो जीवन की क्रियाएँ करते है, वे महात्मा कहलाते है।

(२) **मां उपेत्य अशाश्वतं दुःखालय पुनर्जन्म न आप्नुवन्ति।** मुझे प्राप्त करके अशाश्वत और दु ख का घर पुनर्जन्म महात्मा प्राप्त नही करते। मोक्ष की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। 'देह के जीवित रहते हुए दु ख से सर्वथा मुक्ति' यह एक अर्थ हुआ। यह अर्थ ऊपर वताया है। दूसरा अर्थ है—'वर्तमान देह छूटने के वाद दूसरी देह प्राप्त न होना।' यानी पुनर्जन्म प्राप्त न होना। महात्मा पुरुष देह मे मोक्ष का अनुभव करते हुए यानी

दु:ख-मुक्ति का, अखंड शांति का अनुभव करते हुए प्रारब्ध-कर्म खतम होने तक देह में रहकर जीवन बिताते हैं और देह छूटने के बाद पुनर्जन्म यानी फिर से जन्म नहीं लेते। पुनर्जन्म के पीछे 'अशाश्वत' और 'दु:खालय' ऐसे दो विशेषण जोड़े गये हैं। देह तो अखंड टिकती नहीं। देह में हर क्षण परिवर्तन होता रहता है।

देह के छह विकार हैं : १. वह पैदा होती है, २. फिर कुछ अवधि तक उसका अस्तित्व रहता है, ३. उसमें परिवर्तन होता रहता है, ४. प्रारंभ में शरीर में वृद्धि होती है, ५. वृद्धावस्था में क्षीण होने की क्रिया चलती है और ६. अंत में वह नष्ट हो जाती है। यह जन्म दु:खदायक तो है ही। गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक दु:ख ही दु:ख से भरा है। इसलिए यहां पुनर्जन्म का स्वरूप अशाश्वत और दु:खालय ये दो विशेषण जोड़कर बताया है। ऐसा पुनर्जन्म महात्मा को प्राप्त नहीं होता।

: १६ :

आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

अर्जुन आब्रह्मभुवनात् लोका:=हे अर्जुन, ब्रह्मलोक तक सब लोक, **पुनरावर्तिन:**=बार-बार जन्म-मृत्युवाले हैं, **तु कौन्तेय**=लेकिन हे अर्जुन, **मा उपेत्य**--मुझे प्राप्त होकर, **पुनर्जन्म न विद्यते**=पुनर्जन्म नहीं होता।

इस श्लोक में दो बातें हैं : १. ब्रह्मलोक तक के सब लोक बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालनेवाले हैं। २. लेकिन मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।

(१) **आब्रह्मभुवनात् लोका: पुनरावर्तिन:।** जितने भी लोक यानी स्वर्गलोक, नरक लोक और ब्रह्मलोक अथवा चन्द्रलोक अथवा भूलोक, इन्द्रलोक हैं ये सब पुनर्जन्म में डालनेवाले ही हैं। इन लोकों को प्राप्त होने से पुनर्जन्म से छुटकारा नहीं मिल सकता। लोकों में ब्रह्मलोक की भी गणना है। ब्रह्मलोक की गणना इसमें करना है या नहीं, यह सवाल उपस्थित होता है। 'ब्रह्मलोक के साथ' और 'ब्रह्मलोक तक' दोनों अर्थ ले सकते हैं। 'ब्रह्मलोक के साथ सब लोक पुनर्जन्म में डालनेवाले हैं', ऐसा अर्थ किया जाय तो ब्रह्मलोक और दूसरे लोक समान कोटि में हो जाते हैं। 'ब्रह्मलोक तक के सब लोक पुनर्जन्म-प्राप्त कराते हैं', ऐसा अर्थ करें तो ब्रह्मलोक पुनर्जन्म में डालनेवाला नहीं है और अन्य लोकों से ब्रह्मलोक भिन्न है, ऐसा अर्थ होता है। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में ब्रह्मलोक की चर्चा है। ब्रह्मलोक का काव्यमय वर्णन भी उसमें है।

विनोबाजी ने स्वर्ग, नरक और ब्रह्मलोक— इन शब्दों के विशेष अर्थ बताये हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य के जीवित रहते हुए मन इंद्रियों को गाढ़ निद्रा में आराम मिल जाता है। मगर प्राण को आराम नहीं मिलता और प्राण आराम ले भी नहीं सकता। क्योंकि जीवित रहने का आधार ही प्राण है। इस-लिए एक देह छूटने के बाद प्राण को आराम मिले इसके लिए जीवात्मा दूसरी देह एकदम धारण नहीं करता। प्राण के आराम के लिए कुछ काल तक बिना शरीर लिये ही जीवात्मा मन इंद्रियों के साथ यानी लिंग-देह के साथ दीर्घ-निद्रा की स्थिति में रहता है। निद्रा में तीन तरह का अनुभव आता है—गाढ़ निद्रा, अच्छे स्वप्न और बुरे स्वप्न। देह के रहते हुए उत्कट आध्यात्मिक साधना की हो तो ही नि:स्वप्न-स्थिति रह सकती है। यह नि:स्वप्न-स्थिति ही ब्रह्मलोक है। क्योंकि गाढ़-निद्रा में कोई स्वप्न न होने से आनन्द रहता है और ब्रह्मलोक में परमानन्द ही होता है। लेकिन नि:स्वप्न-स्थिति न रहकर अच्छे स्वप्न आये तो भी सुख अनुभव में आयेगा। देह के जीवित रहते हुए, हमेशा सत्कर्म और सत्संग किया हो तो सुखदायक स्वप्न आ सकते हैं। यही स्वर्गलोक है। लेकिन जीवित

रहते हुए सारे जीवन मे वुरे कर्म किये हो तो स्वप्न वुरे आयेगे और दुख का अनुभव होगा। यही नरक है।

ब्रह्मलोक की मूल कल्पना सक्षेप मे देखेगे। जगत् का मूल कारण तो निर्गुण, निराकार ब्रह्म है। वही हमारा स्वरूप है। विना इस स्वरूप की पहचान के मोक्ष नही। लेकिन निर्गुण-ब्रह्म की पहचान कैसे हो ? उसकी पहचान का सरल उपाय भक्ति है। लेकिन निर्गुण-उपासना करना वहुत कठिन होने से उपासना या भक्ति के लिए निर्गुण-ब्रह्म पर सगुण-ब्रह्म की कल्पना की गयी। फिर भी निर्गुण-ब्रह्म को जाने विना मोक्ष नही मिलता। सगुणोपासना मे वहुत ऊँची अवस्था प्राप्त हो जाती है। उस ऊँची अवस्था मे कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है, जिससे कुछ चमत्कार भी दिखा सकते है। इन सिद्धियो मे सूक्ष्म आसक्ति पैदा होती है। इस कारण सगुण-भक्ति द्वारा वहुत ऊँची स्थिति प्राप्त होने पर भी इस सूक्ष्म आसक्ति के कारण जीवित रहते हुए निर्गुण-ब्रह्म का ज्ञान नही हो सकता। लेकिन स्थिति इतनी ऊँची होती है कि फिर से देह धारण भी नही करनी पडती। तव ब्रह्मलोक की कल्पना आती है। सगुणोपासक भक्त ब्रह्मलोक मे जाकर निर्गुण-ब्रह्म की पहचान के वाद मुक्त हो जाता है। उसे दूसरी देह धारण नही करनी पडती।

लेकिन 'दूसरी देह धारण करनी पडती है', यह कहा जाय तो एक ही देह धारण करनी पडती है और फिर मुक्त हो जाता है, ऐसा मानना पडेगा। 'एक देह धारण करनी पडती है', ऐसा कहा जाय तो ब्रह्मलोक के साथ सव लोक देह धारण करने के फेरे मे डालनेवाले है, यह अर्थ कर सकते है। और 'ब्रह्मलोक मे ही वह मुक्त होता है', ऐसा कहा जाय तो ब्रह्मलोक तक, ब्रह्मलोक को छोडकर सारे लोक जन्म-मृत्यु के चक्कर मे डालनेवाले है, ऐसा अर्थ करना पडेगा। दोनो मे से कोई भी अर्थ कर सकते है।

(२) **मां उपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते।** मुझे प्राप्त कर लेने के वाद पुनर्जन्म नही। यानी सगुण-भक्ति का उत्कर्ष होने पर अथवा निर्गुण-ब्रह्म का ज्ञान होने पर, इसी जन्म मे मुक्ति मिल सकती है। ब्रह्म-लोक मे जाने की जरूरत नही रह जाती। सगुण-भक्ति के उत्कर्ष से सिद्धि प्राप्त होने पर उसमे सूक्ष्म आसक्ति पैदा होती है, वह पैदा न हो तो सगुण-भक्ति के उत्कर्ष से इस देह मे मुक्ति मिल सकती है। सिद्धियाँ मोक्ष-मार्ग मे वाधक है। सिद्धियो का उपयोग करने मे आसक्ति पैदा हो ही जाती है। सत तुससीदासजी लिखते है

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ वहु भाई।
वुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई॥

—'ऋद्धि, सिद्धि को माया ही प्रेरणा देकर भेज देती है। वुद्धि को ये ऋद्धि-सिद्धियाँ अनेक लोभ-लालच मे डाल देती है।' इसलिए सगुण-भक्ति से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती है, उनका उपयोग न किया जाय तो प्रलोभन से वचकर, सगुण-भक्त को ब्रह्म-लोक मे जाने की जरूरत न रहे और निर्गुण-ब्रह्म का अनुभव प्राप्त होने से पुनर्जन्म टल जाता है।

: १७ :

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

ते अहोरात्रविद· जना =दिन और रात को जाननेवाले, **यत् ब्रह्मण. अह.**=जो ब्रह्मदेव का दिवस है, **सहस्र-युगपर्यन्त**=वह एक हजार युग का होता है, **च रात्रि**= और रात्रि, **युगसहस्रान्ता**=एक हजार युग की होती हे, **विदु** =(ऐसा) जानते है।

इस श्लोक मे एक ही वात कही है दिन और रात को जाननेवाले यानी काल-गणना के विशेषज्ञ कहते है कि ब्रह्म का जो दिन है, वह एक हजार युग का होता है और ब्रह्म की रात्रि भी एक हजार युग की होती है।

इस श्लोक में ब्रह्मांड की आयु का वर्णन है। प्राचीनकाल में जो ज्योतिःशास्त्री, खगोल-शास्त्री, काल-गणना-प्रवीण थे, उन्होंने उस समय के उपलब्ध अल्प-साधनों के आधार पर ब्रह्मांड की आयु के बारे में सोचा है। इस विषय में लोक-मान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' के एक प्रकरण में स्पष्टीकरण किया है। सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तो प्रलय भी स्वाभाविक ही है। पर्याप्त बाह्य-साधन न होते हुए भी सृष्टि के प्रलय-काल की जो कल्पना शास्त्रकारों ने की है, वह आजकल के विज्ञान-वादियों की काल-गणना से मिलती-जुलती है।

वे कहते हैं, हम मानव इस पृथ्वी पर रहते हैं। देव स्वर्ग में रहते हैं। ब्रह्मदेव ही सृष्टि उत्पन्न करता है। वह ऊपर कहीं अंतरिक्ष में या ब्रह्मलोक में रहता है। पृथ्वी, स्वर्ग और ब्रह्मदेव का स्थान, ये तीन स्थान हैं। इनमें पृथ्वी प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। स्वर्ग अथवा ब्रह्मदेव का लोक कहीं दिखाई नहीं देता। उसकी सिर्फ कल्पना ही करते हैं। लेकिन इन दो स्थानों के विषय में शास्त्रकारों की कल्पना इस प्रकार है—उत्तरायण देवों का दिवस है और दक्षिणायन देवों की रात। उत्तरायण यानी सूर्य का उत्तर की तरफ जाना। सूर्य उत्तर की तरफ दिसम्बर के अंत में जाने लगता है और जून के अंत तक यह क्रम चलता है। दिसम्बर के अंत में दिन सबसे छोटा होता है और जून के अंत में दिन सबसे बड़ा होता है। दक्षिणायन का प्रारम्भ जून के अंत में होता है, तब सूर्य दक्षिण में जाने लगता है। दक्षिण की तरफ जाने का क्रम दिसम्बर के अंत तक चालू रहता है। दिसम्बर के अंत से जून के अंत तक दिन बड़ा होने का सिलसिला चलता है और जून के अंत से दिसम्बर के अंत तक दिन छोटा होता जाता है। उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों को 'अयन' कहते हैं। दो अयन मिलकर एक साल होता है। हमारा एक साल देवों का एक दिन और एक रात है। हमारे ३६० साल देवों के ३६० दिन और रात होते हैं यानी देवों का एक साल।

युग चार हैं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। कृतयुग के चार हजार साल, त्रेतायुग के तीन हजार साल, द्वापरयुग के दो हजार साल और कलियुग के एक हजार साल मिलकर चार युगों के दस हजार साल होते हैं। एक युग के खतम होने पर जब दूसरा युग शुरू होता है, तो बीच के संधि-काल में कुछ साल चले जाते हैं। कृत के संधिकाल के ८०० साल, त्रेता के ६०० साल, द्वापर के ४०० साल और कलि के २०० साल—इस तरह चार युगों के दो हजार साल होते हैं। इस तरह चार युगों के दस हजार साल और संधिकाल के दो हजार साल मिलकर १२ हजार साल हैं। ये १२ हजार साल देवों के हैं। यानी हमारे तैंतालीस लाख बीस हजार साल हुए। इन १२ हजार सालों का देवों का एक युग और मनुष्यों का महायुग हुआ। देवों के इकहत्तर युगों को एक मन्वंतर कहा जाता है। ऐसे मन्वंतर कुल मिलाकर १४ हैं। चार युग के १५ संधिकाल हैं। ये १५ संधिकाल और १४ मन्वंतर मिलकर देवों के एक हजार युग होते हैं। देवों के एक हजार युग यानी ब्रह्मदेव का एक दिन हुआ और देवों के दूसरे एक हजार युग यानी ब्रह्मदेव की एक रात हुई। इस हिसाब से ब्रह्मदेव के एक दिन का मतलब मनुष्य-लोक के ४३२ करोड़ साल है। ब्रह्मदेव का दिन जब शुरू होता है, तब जगत् की उत्पत्ति शुरू होती है। और ब्रह्मदेव की रात जब शुरू होती है, तब जगत् का प्रलय होता है। अभी ब्रह्मदेव का आधा दिन बीता है, आधा दिन बाकी है। अभी २१६ करोड़ साल सृष्टि के प्रलय के बाकी हैं। विज्ञान-शास्त्रियों ने आधुनिक साधनों के द्वारा निश्चित किया है कि दो सौ करोड़ साल के बाद पृथ्वी नष्ट हो जायगी यानी प्रलयकाल आयेगा।

: १८ :

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

अहरागमे=ब्रह्मदेव का दिन शुरू होने पर, अव्यक्तात्=अव्यक्त से, सर्वाः व्यक्तयः=सम्पूर्ण स्थावर और जगम मृष्टि, प्रभवन्ति=पैदा होती हे, रात्र्यागमे=और रात शुरू होने पर, तत्र एव अव्यक्तसज्ञके=उसी अव्यक्त नामक परमात्मा की माया-शक्ति मे, प्रलीयन्ते=लीन होती है।

इस श्लोक मे दो बाते है १ ब्रह्मदेव का दिन शुरू होने पर अव्यक्त से यानी माया से स्थावर-जगम सृष्टि पैदा होती है और २ ब्रह्मदेव की रात होने पर उसी अव्यक्त माया-शक्ति मे सारी स्थावर-जगम सृष्टि लीन होती है।

(१) **अहरागमे अव्यक्तात् सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति**। ब्रह्मदेव का दिन शुरू होने पर अव्यक्त मे से यानी माया मे से सारी स्थावर-जगम सृष्टि पैदा होती है। इस श्लोक मे 'अव्यक्त'-शब्द आया है। उसका अर्थ क्या ? शकराचार्य ने ब्रह्मदेव की स्वप्नावस्था को गाढ निद्रावस्था बताया है। ब्रह्मदेव जब सो जाते है, तब सृष्टि का प्रलय हो जाता है और ब्रह्मदेव गाढ-निद्रा से जब जाग जाते है, यानी ब्रह्मदेव का जब दिन शुरू हो जाता है, तब सृष्टि की फिर से उत्पत्ति होती है। इस तरह ब्रह्मदेव का दिन होने पर सृष्टि का पैदा होना और ब्रह्मदेव की रात होने पर सृष्टि का प्रलय होना—यह क्रम चालू ही रहता है। ब्रह्मदेव ही सृष्टि पैदा करता है, ऐसी जब हम कल्पना करते है, तब शकराचार्य का यह अर्थ ठीक-ठीक लग जाता है। लेकिन ब्रह्मदेव की कल्पना इस दृष्टि से निकली है कि लोगो को सृष्टि की उत्पत्ति समझने मे सुगमता हो। इसका मतलब यह नही कि ब्रह्मदेव कोई व्यक्ति है। निर्गुण, निराकार जो परमात्मा का स्वरूप है, उसे समझना, उसका आकलन करना बहुत कठिन है। इसलिए निर्गुण, निराकार ब्रह्म पर सगुण, साकार ब्रह्म की कल्पना की गयी है। यह कल्पना अनेक प्रकार की हो सकती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की कल्पना भी समाज मे और पुराणो मे रूढ है। ब्रह्मदेव सृष्टि पैदा करता है, विष्णु सृष्टि का पालन करता है और महेश यानी शकर सृष्टि का सहार करता है। लेकिन यह पौराणिक और लोगो मे रूढ कल्पना गीता ने नही रखी है। इस श्लोक मे या पीछे के श्लोक मे 'ब्रह्मदेव' शब्द भी नही आया है। लेकिन दिन और रात शब्द का इस्तेमाल होने से ब्रह्म का अर्थ 'ब्रह्मदेव' लिया गया। लेकिन अव्यक्त शब्द इस श्लोक मे प्रयुक्त होने से अव्यक्त शब्द का स्वप्नावस्था यानी गाढ-निद्रावस्था अर्थ लेने के बजाय जैसा कि ब्रह्म शब्द का अर्थ तीसरे अध्याय के १५वे श्लोक मे 'प्रकृति' किया गया है और १४वे अध्याय के तीसरे श्लोक मे भी ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति किया है, वही अर्थ लेना ठीक लगता है। प्रकृति शब्द साख्यो ने भी प्रयुक्त किया है। वे जड-प्रकृति को सृष्टि का कर्ता समझते है। गीता मे जिस प्रकृति का जिक्र है, वह ब्रह्मसूत्रभाष्य मे शकराचार्य ने जिस तरह वर्णन किया है, वैसी ही है, ऐसा समझना चाहिए। आचार्य ने ब्रह्म-सूत्रभाष्य मे प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है **अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः अव्यक्तशब्द-निर्देश्या, परमेश्वराश्रया, मायामयी, महासुप्तिः यस्या स्वरूपप्रतिबोधरहिताःशेरते संसारिणो जीवाः।** अर्थात्–'यह प्रकृति अविद्यात्मक और बीज-भूत शक्ति है, जिसका अव्यक्त शब्द से निर्देश शास्त्र मे है। परमेश्वर के आश्रय से रही है यानी जो स्वतत्र नही है। माया इसका स्वरूप है। जिस माया के अधीन होकर अपना जो स्वरूप है, उसकी पहचान न होने से ससारी जीव अज्ञान-निद्रा मे सोये रहते है।'

आचार्य ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि गीतोक्त

प्रकृति परमेश्वर के अधीन रहनेवाली एक अलौकिक शक्ति है, जो परमेश्वर से भिन्न न होकर परमेश्वर मे ही निहित है। परमेश्वर की प्रेरणा के अनुसार इस अलौकिक दिव्य माया-शक्ति से सृष्टि पैदा होती है।

(२) **रात्र्यागमे तत्र एव अव्यक्तसंज्ञके प्रलीयन्ते।** और ब्रह्मदेव की रात होने पर वही स्थावर-जगम सृष्टि ऊपर वर्णन की हुई अव्यक्त नामक माया-शक्ति में लीन होती है यानी सृष्टि का प्रलय ब्रह्मदेव की रात होने पर हो जाता है। ब्रह्मदेव के दिन का अभी मध्याह्न चल रहा है। अत मे जो प्रलय होगा, वह सबीज होने से ब्रह्मदेव की रात खतम होने पर फिर से वही सृष्टि पैदा होती है और इस तरह सृष्टि का उत्पत्ति-प्रलय का क्रम जारी रहता है। उसमे कभी बाधा नहीं पड़ती। यही बात अगले श्लोक मे कही जा रही है।

: १९ :

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश. पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

पार्थ=हे अर्जुन, स. एव अयं भूतग्राम =वही यह भूतो का समुदाय, भूत्वा भूत्वा=फिर-फिर से पैदा होकर, रात्र्यागमे=रात होने पर, अवश=परतंत्र होकर, प्रलीयते =लीन होते हैं, अहरागमे=दिन शुरू होने पर, प्रभवति=(फिर से) पैदा होते हैं।

इस श्लोक मे दो बाते है : १. वही यह भूतग्राम यानी भूतो का समुदाय फिर-फिर से पैदा होकर ब्रह्मदेव की रात होने पर लीन होता है और २ ब्रह्मदेव का दिन शुरु होने पर अपने किये हुए कर्मो के अधीन होकर फिर से पैदा होता है।

(१) **सः एव अयं भूतग्रामः।** वही यह भूतग्राम **भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे अवशः प्रलीयते** फिर-फिर पैदा होकर ब्रह्मदेव की रात होने पर परतंत्र होकर लीन होता है। पीछे के श्लोक की बात ही यहाँ दुहरायी गयी है। यहाँ बताया है कि सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा की माया-शक्ति से होना और प्रलय-काल में उसी माया-शक्ति में लीन होना, यह क्रम सतत जारी रहता है। यही भूतों का समुदाय फिर-फिर से पैदा होता है यानी नये भूत पैदा नहीं होते है, वह यहाँ अभिप्रेत है। नये भूतों का समुदाय पैदा हो भी नहीं सकता। अन्यथा सृष्टि बिना बीज के [illegible] पैदा होती है, यह मानना पड़ेगा। ऐसा मानने से मुक्त-पुरुष फिर पैदा होने लगेंगे। मुक्त-पुरुषों का अज्ञान-बीज नष्ट होने पर भी बिना बीज के ही सृष्टि पैदा होती है, ऐसा मानने से मुक्त-पुरुषों के अज्ञान-बीज के नष्ट होने का कोई मूल्य नहीं रह जायगा। लेकिन ऐसा नहीं है। सृष्टि मे तो यह स्पष्ट है कि आम के बीज से आम पैदा होता है। सृष्टि में जो अनन्त पदार्थ दिखाई देते है, उन सबके बीज अलग-अलग होते है। अन्यथा अनन्त पदार्थ पैदा नहीं हो सकेंगे। इसलिए जो भूत-समुदाय सृष्टि के प्रलय-काल के समय परमात्मा की माया-शक्ति में लीन होता है, वही फिर से पैदा होता है। मृत्यु एक किस्म की निद्रा है। इसमें एक देह छूटती है और दूसरी देह मिलती है।

लेकिन दूसरी बात—परतंत्र होकर यानी अपने किये हुए कर्मो के अधीन होकर प्रलय-काल में प्राणी लीन होते है। किये हुए कर्मो का अज्ञान-बीज कायम रहते हुए प्रलय-काल मे लीन होने का मतलब है प्रलय-काल मे जीव का अज्ञान-बीज नष्ट नही होता। 'जितने भी जीव या जितने भी जड़ पदार्थ इस सृष्टि मे दिखाई देते है, वे सारे अपने बीज के साथ प्रलय-काल मे लीन होते हैं', ऐसा न मानें तो जैसे मुक्त जीव फिर से पैदा होने की नौबत आयेगी, वैसे ही अज्ञानी जीव के मुक्त होने का प्रसग आयेगा। अज्ञानी जीव का मुक्त होना और मुक्त जीव का फिर से पैदा होना, यह तर्क से सिद्ध नही हो सकता। इसलिए प्रलय-

काल के समय अज्ञान-बीज नष्ट न होकर परमात्मा की माया-शक्ति मे, अव्यक्त दशा मे रहता है, ऐसा मानना चाहिए।

(२) **अहरागमे प्रभवति।** दिन यानी ब्रह्म-देव का दिन शुरू होने पर जो ब्रह्मदेव की रात के समय प्रलय-काल मे परमात्मा की माया-शक्ति मे लीन हो गया था, वही भूतो का समूह अज्ञान-बीज कायम रहने से फिर से पैदा होता है। यह चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है। परमात्मा और जगत् दोनो अनादिकाल से चले आ रहे है। माया को बीज-शक्ति भी कहते है। एक परमात्मा यदि अनत बीज-शक्ति से युक्त नही है, तो वह शक्तिहीन, शून्य बन जायगा। शक्तिहीन परमात्मा से सृष्टि कैसे पैदा हो सकती है? परमात्मा जैसे एक है, वैसे शक्ति का बीज भी एक हो तो परमात्मा अलौकिक शक्ति-युक्त है, ऐसा कैसे कह सकते है? परमात्मा एक होते हुए उसमे अनत बीज-शक्ति रहती है, तभी परमात्मा को अलौकिक शक्ति से युक्त कह सकते है। अच्छे कर्मो का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्मो का बुरा फल मिलता है, इतना ही हम जान सकते है। लेकिन अलग-अलग योनि मे जो जन्म मिलता है, उसका क्या कारण है? हमे उसका पता ठीक-ठीक चल नही सकता, कुछ अनुमान अवश्य कर सकते है। लेकिन वे अनु-मान सही ही होगे, ऐसा नही कह सकते। यह बुद्धि की शक्ति के बाहर की बात है। इतना निश्चित है कि जब तक अज्ञान-बीज कायम रहता है, तब तक यह जन्म-मरण का चक्र प्रलय-काल तक चालू रहता है। शाश्वत मुक्ति तो किसी विरले को ही मिलती है। हमारी इतनी माँग रहे कि कोई भी जन्म मिले, परमात्म-स्मरण हमे प्राप्त हो, भक्ति प्राप्त हो, तो अनेक जन्म मिलने मे कोई हर्ज नही। लेकिन सृष्टि का उत्पत्ति-प्रलय-चक्र अखड चलता रहता है।

: २० :

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

तु तस्मात् अव्यक्तात्=लेकिन उस अव्यक्त से, **परः अन्य अव्यक्तः**=परे जो दूसरा अव्यक्त, **सनातनः य. भाव.** =(और) जो सनातन भाव है, **स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु** =वह सब भूतो के नष्ट होने पर भी, **न विनश्यति**=नष्ट नही होता।

इस श्लोक मे दो बाते है १ उस अव्यक्त से परे जो दूसरा अव्यक्त और सनातन भाव या तत्त्व है, २ वह सब भूतो के नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता है।

(१) पहली बात है उस अव्यक्त से परे एक दूसरा अव्यक्त और सनातन भाव या तत्त्व है। यहाँ 'अव्यक्त' शब्द परमात्मा पर लागू होता है, वैसे ही साख्यो की प्रकृति के लिए और माया के लिए भी 'अव्यक्त' शब्द प्रयुक्त होता है। इसलिए यह अव्यक्त शब्द कहाँ, किस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है यह ठीक से ध्यान मे रखना चाहिए। यहाँ बता रहे है कि साख्यो की अव्यक्त प्रकृति से भी परे जो एक दूसरा अव्यक्त है वह सनातन भाव, पदार्थ यानी तत्त्व है।

(२) **सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।** वह तत्त्व सब भूत नष्ट होने पर, अथवा सब पदार्थ नष्ट होने पर भी नष्ट नही होता है। सबके सब दृश्य-पदार्थ विनाश-धर्मा है, फिर उनकी आयु चाहे जितनी हो। जिस मूल कारण से सारे-पदार्थ बनते है, वह विनाशी हो तो कार्य हो जायगा और उसका मूल कारण ढूँढना पडेगा। अत मूल कारण की यही शर्त रहेगी कि वह सबका कारण होना चाहिए। वह किसीका कार्य नही हो सकता। ये दो बाते जिस पर लागू हो, उसे जगत् का मूल कारण या कर्ता मानना चाहिए। वह मूल कारण चेतन-स्वरूप यानी ज्ञान-स्वरूप

ही हो सकता है। क्योंकि बिना ज्ञान के कोई कार्य नहीं होता। प्रवृत्तिमात्र ज्ञान-शक्ति के अधीन होती है। मूल कारण में ज्ञान-शक्ति हो और क्रिया-शक्ति न हो तो भी नहीं चल सकता। और सिर्फ क्रिया-शक्ति हो और ज्ञान-शक्ति न हो तो भी नहीं चल सकता। इसलिए मूल कारण में ज्ञान-शक्ति और सर्जन-शक्ति—ये दोनों शक्तियाँ होनी चाहिए। और, मूल कारण को अविनाशी होने से सत्-स्वरूप होना चाहिए। इन्द्रियगम्य वस्तु विनाशी होती है और मूल कारण अविनाशी होने से इन्द्रियातीत भी होना चाहिए। सांख्यों की प्रकृति मूल कारण की ऊपर कही हुई शर्तें पूर्ण नहीं कर सकती। अतः सांख्यों की जड़-प्रकृति को जगत् का मूल कारण नहीं मान सकते। इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि सांख्यों की अव्यक्त प्रकृति से जो परे है, यानी अव्यक्त के परे जो अव्यक्त और सनातन है, ऐसा मूल पदार्थ, जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहा जाता है, सब भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। सांख्यों की प्रकृति अव्यक्त होने पर भी उसमें सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुण होने से पूर्णतया इंद्रियों से अगोचर नहीं है, इसलिए पूर्णतया अव्यक्त नहीं है। अव्यक्त का अर्थ सिर्फ दिखाई न देना नहीं है। यों तो हवा और आकाश भी अव्यक्त हैं, सूक्ष्म हैं, लेकिन इंद्रियगोचर हैं और जड़ हैं। इसलिए सांख्यों की प्रकृति अव्यक्त होने पर भी पूर्ण रीति से अव्यक्त न होने से और ब्रह्म या परमात्मा पूर्णतया अव्यक्त यानी निर्गुण, निराकार, इंद्रियातीत होने से अव्यक्त से भी अव्यक्त है, ऐसी भाषा यहाँ प्रयुक्त की गयी है। वह अव्यक्त है, सनातन है और सब भूतों का, सब जड़-चेतन-पदार्थों का नाश होने पर भी उसका नाश नहीं होता, ऐसा सनातन अविनाशी तत्त्व है।

: २१ :

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(अ) अव्यक्त अक्षर इति उक्तः जो यह अव्यक्त और अक्षर कहा गया है, उसको [illegible] परमगति कहते हैं, जिसे प्राप्त करके [illegible] फिर इस संसार में नहीं [illegible], वह मेरा परम धाम [illegible] मेरा परमस्थान है।

इस श्लोक में चार बातें हैं : १. जो यह अव्यक्त और अक्षर कहा है, २. उसे परमगति कहते हैं। ३. जिसे प्राप्त करने से पुनः इस संसार में नहीं आते, ४. वह मेरा परमस्थान है।

(१) यः अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः। जो यह अव्यक्त और अक्षर कहा गया है। २०वें श्लोक में अव्यक्त से भी अव्यक्त कहा। यहाँ उसके आगे अक्षर शब्द जोड़ दिया है। अक्षर यानी अविनाशी। सृष्टि के सब पदार्थ विनाशी हैं। पदार्थ एकदम नष्ट नहीं होता है। पदार्थ पहले अपने कारण से पैदा होता है। फिर उसमें परिवर्तन होता है। अन्त में धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। लेकिन सांख्यों की प्रकृति से परे यह जो अव्यक्त पदार्थ है, जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं, वह अन्य पदार्थों की तरह विनाशी नहीं है। अव्यक्त यानी इन्द्रियों से परे और अक्षर यानी अविनाशी है।

(२) तं परमां गतिं आहुः। जहाँ से पुनः संसार में लौटना पड़े, वह अन्तिम स्थान नहीं माना जा सकता। गति यानी स्थान। शंकराचार्य लिखते हैं, पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्। इह संसारे खलु दुस्तरे कृपयाऽपारे पाहि मुरारे। —अर्थात् फिर-फिर से जन्म लेते रहना, फिर-फिर से मरते रहना, फिर-फिर से माता के उदर में सोते रहना, सचमुच यह दुस्तर और अपार संसार है। हे मुरारी, कृपा करके मुझे इस संसार से बचा ले।

इसलिए अव्यक्त और अक्षर ऐसा जो परमात्मा या ब्रह्म है, वही अन्तिम गति है।

(३) **यं प्राप्य न निवर्तन्ते**। जो अंतिम गति है, वह कैसी है ? उसे प्राप्त करने के बाद संसार मे फिर वापस नही आना पडता। जब तक देह की आसक्ति है, तब तक फिर-फिर से जन्म लेना टलता नही। क्योंकि जन्म-मरण का बीज देहासक्ति यानी अपने स्वरूप का अज्ञान ही है। ब्रह्माड के सकल जड़-चेतन पदार्थो के साथ जन्म-मृत्यु का चक्र लगा है। अत मे मनुष्य की देह मिलती है, तब सत्संग मे कही अपने स्वरूप की पहचान हो गयी तो इस जन्म-मृत्यु के चक्कर से छुटकारा पा सकते है। इसलिए भगवान् बता रहे है कि परमात्मा ही आखिरी गति है, क्योकि परमात्मा को प्राप्त करने के बाद इस अपार और दु खमय ससार मे आना नही पड़ता।

(४) **तत् मम परमं धाम**। यह मेरा अंतिम धाम है। परमात्मा ही एक ऐसा स्थान है जहाँ से वापस नही आना पड़ता। बाकी और कही से ससार-चक्र से छुटकारा नही। इसका कारण यह है कि हम परमात्मा से भिन्न अपना अस्तित्व मानते है। यानी देह आदि से अपने को एकरूप मानते है। तब यह स्वाभाविक ही है कि एक देह छूटने के बाद दूसरी देह मिले और दूसरी के बाद तीसरी देह मिले। बार-बार के जन्म-मरण का चक्र तभी मिट सकता है, जब देहासक्ति छूटे यानी वैराग्य हो तथा परमात्मा की पहचान हो। अज्ञान या भ्रान्ति मिटने पर ही ज्ञान का उदय होता है।

: २२ :

पुरुषः स पर· पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

पारथ=हे पार्थ, **यस्य अन्त स्थानि भूतानि**=जिमके भीतर ये सब भूत है, **येन इदं सर्व ततं**=और जिमसे यह सब व्याप्त है, **स परः पुरुषः**=वह परमपुरुष, **अनन्यया भक्त्या तु**=अनन्य-भक्ति से ही, **लभ्य**.=प्राप्त होने योग्य है।

इस श्लोक मे चार बाते है १ जिसके भीतर ये सब प्राणीमात्र है २ और जिससे सारा जगत् व्याप्त है, ३ वह परम पुरुष है और ४ वह सिर्फ अनन्य-भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।

(१) **यस्य अन्त.स्थानि भूतानि**। जिसके भीतर ये सब भूत, प्राणीमात्र रहते है। माता के पेट मे स्थित गर्भ दिखाई नही देता। यहाँ उससे उलटा है। भगवान् के पेट मे यह सारा जगत् समाया है, लेकिन भगवान् दिखाई नही देता।

(२) **येन इदं सर्वं ततं**। जिस परमात्मा से यह सब व्याप्त है। परमात्मा को आकाश की उपमा दी जाती है; क्योकि आकाश सर्वत्र व्याप्त है। उपनिषद् मे आकाश का दृष्टात दिया है। सारे ब्रह्माड मे सब पदार्थो का अस्तित्व आकाश पर ही निर्भर है। आकाश का धर्म अवकाश देना है। इसलिए ईश्वर ने पहले आकाश पैदा किया, ऐसा उपनिषद् मे कहा है। इतना व्यापक होने पर भी आकाश पैदा हुआ है। इसलिए आकाश का आधार भी ब्रह्म या परमात्मा है। अर्थात् आकाश मे भी सूक्ष्मरूप से परमात्मा व्याप्त है। परमात्मा कितना सूक्ष्म और अद्भुत है, यह ध्यान मे रखने की बात है। जिस कलम से यह लिख रहा हूँ, इसमे भी परमात्मा है और जिस कागज पर लिखा जा रहा है, वह भी परमात्मा ही है। जो लिख रहा है, वह भी परमात्मा और जिसके लिए लिखा जा रहा है, वह भी परमात्मा। सब पदार्थो मे, अणु-अणु मे परमात्मा व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिए।

(३) उस परमात्मा के परिचय मे भगवान् कहते है **सः पर. पुरुषः**। जो परमात्मा अणु-अणु मे व्याप्त है, वह पर-पुरुष है, यानी वह अतिश्रेष्ठ

है। 'पुरुष' की व्याख्या करते हुए शकराचार्य कहते है **पुरि शयनात्।** अर्थात् इस देहरूपी पुरी मे या घर मे शात सोये हुए परमात्मा को पुरुष कहते है। परमात्मा सम्पूर्ण शरीरो मे प्रकट है। मगर सबसे ज्यादा प्रकट मनुष्य मे है। मनुष्य-देह मे परमात्मा का अनुभव कर सकते है। परमात्मा पुरुष के या जीवात्मा के रूप मे मनुष्य-देह मे प्रकट है। मनुष्य-परमात्मा की पहचान जिन ऋषि-मुनियो ने की, उन्होने परमात्मा का वर्णन उपनिषद् मे किया है। उनका अनुभव सबसे श्रेष्ठ प्रमाण है। दुनिया मे जितनी भी चीजे है, सब नाशवान् है, लेकिन शरीर-स्थित परमात्मा-पुरुष अविनाशी है, नित्य है, अखंड है। परमात्मा का ज्ञान-स्वरूप सर्वश्रेष्ठ है। हमे बडे-बडे पदार्थो का ज्ञान होता है, मन मे अनत भावनाएँ उठती रहती है, अनत विचार आते रहते है और सबका ज्ञान होता रहता है। ज्ञान-अज्ञान, शाति-अशाति—सबका ज्ञान होता है। यह ज्ञान-स्वरूपता, परमात्मा का अति-अद्भुत स्वरूप है। ऐसे श्रेष्ठ पुरुष की भक्ति किये बिना मनुष्य रह ही नही सकता। इसलिए यह भक्ति ही भगवान् इस श्लोक मे बता रहे है।

(४) **अनन्यया भक्त्या तु लभ्यः।** परमात्मा अतिश्रेष्ठ है। उसकी प्राप्ति का यहाँ भक्ति-रूपी सुलभ उपाय बताया है। रामायण मे तुलसीदासजी ने भक्ति का वर्णन जगह-जगह किया है। वे लिखते है .

मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

अर्थात्—'माया के भेद यद्यपि मिथ्या है, तो भी हरि के बिना वे कभी कोटि उपाय करने पर भी नष्ट नही हो सकते।'

राम भजन बिनु सुनहुँ खगेसा।
मिटहिं न जीवन्ह केर कलेसा॥

अर्थात् 'हे गरुड, हरि-भक्ति के बिना जीव के दु ख मिट नही सकते।' फिर लिखते है

अबिरत भगति बिसुद्ध तव स्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

—'हे भक्तो के लिए कल्पतरु समान, शरण आये हुए लोगो के हितैषी, कृपासिधु और सुख के धाम रामचन्द्र प्रभो, श्रुति-पुराणो ने जिसका गान किया है और परम योगी और मुनि जिसके लिए प्रयत्न करते रहते है और ईश्वर की कृपा से ही किसी विरल को ही जो प्राप्त होती है, आपकी वह परम उज्ज्वल अखड भक्ति मुझे कृपा करके दीजिये।' यह प्रार्थना काकभुशुडी ने प्रभु रामचन्द्र से की है। हम सबकी परमात्मा से यही प्रार्थना होनी चाहिए।

फिर लिखते है

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही।
सुमिरि स्वरूप निरंतर मोही॥

—'तुमको कोई सकट सता नही सकता, यदि तुम निरतर मेरे स्वरूप का स्मरण करते रहो।'

फिर लिखते है

हरि मायाकृत दोष गुन, बिनु हरिभजन न जाहि।
भजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मन माँहि॥

—'हरि की माया द्वारा उत्पन्न जो गुण-दोष है, वे हरि-भजन के बिना नही जाते। इसलिए सब कामनाओ को छोडकर राम की ही भक्ति करते रहो।'

फिर लिखते है

अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी।
जानहिं भगति सकल सुखखानी॥

—'इस तरह सोचकर जो विज्ञानी या विवेकी मुनि है, वे सकल सुख की खान—भक्ति की ही याचना करते है।'

: २३ :

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।

तु भरतर्षभ=लेकिन हे अर्जुन, **योगिनः**=योगी-जन, **यत्र काले**=जिस काल मे, **प्रयाता**=देह छूटने पर, **अनावृत्ति एव**=मोक्ष को ही, **च आवृत्ति**=और पुनर्जन्म को, **यान्ति**=प्राप्त होते है, **त काल**=उम काल के सबघ मे, **वक्ष्यामि**=मै तुम्हे कहता हूँ ।

इस श्लोक मे एक ही वात के दो मुद्दे वताये है। जिस काल मे देह छूटने पर, १ मोक्ष को और २ पुनर्जन्म को प्राप्त होते है, उस काल के सबध मे मै तुम्हे कहता हूँ।

यहाँ जो वात कही गयी है, उसमे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी विशेष काल की अपेक्षा है ? यदि देह के रहते हुए ही मोक्ष प्राप्त होता हो, तो देह छूटने के समय विशेष काल की जरूरत नही रहनी चाहिए। यदि मोक्ष के लिए विशेष काल की जरूरत रहे तो मोक्ष निरपेक्ष न होकर सापेक्ष हो जाता है, अर्थात् चाहे जितनी साधना करके जीवित रहते हुए मोक्ष का अनुभव प्राप्त किया हो, तो भी देह छूटने के समय गीता मे आगे जो काल-वर्णन किया है, वह काल उस समय न रहा तो मोक्ष नही मिल सकेगा। लेकिन मोक्ष का इस तरह स्थूल काल पर निर्भर रहना जँचने जैसी वात नही है।

विनोवाजी ने 'गीताई-चिन्तनिका' मे इस श्लोक के चिन्तन मे तीन वाते पेश की है "१ किस काल मे यानी किस परिस्थिति मे, किस मनोदशा मे, साधना की किस अवस्था मे । २. साधक—कर्म, ध्यान आदि साधन आचरण मे लानेवाला, प्रयत्नवान्, जिसे अभी आत्मदर्शन नही हुआ । ३ मृत्यु के समय चित्त चलित होने के कारण ससार मे फँसने पर भी साधक का नाश नही होता। यह पीछे अध्याय ६ श्लोक ४० मे कहा ही है।" इस श्लोक मे साधक शब्द नही है । विनोवाजी ने 'गीताई' मे 'साधक' शब्द जोड दिया है और तदनुसार 'साधक' शब्द का अर्थ वताया है ।

लोकमान्य तिलक का कहना यह है कि वेद-काल मे जव ऋषि-मुनि या जनता की आवादी उत्तर ध्रुव के पास थी, तव वहाँ ६ महीने का दिन और ६ महीने की रात होती थी । उस समय स्वाभाविक ही दिन मे या सूर्य-प्रकाश मे ही देह छूटना यानी मृत्यु का होना ज्यादा अच्छा माना जाता था । उसीको ध्यान मे रखकर वेद और उपनिषद् मे दिन मे यानी छह महीने सूर्य-प्रकाश रहते हुए मृत्यु होती है तो वह उत्तरायण-मार्ग से होती है और छह महीने रात मे मृत्यु होती है, तो वह दक्षिणायन मार्ग से जाता है, ऐसे दो शब्द इस्तेमाल किये है। दस हजार साल पहले उत्तर ध्रुव के पास ही लोग रहते थे। वेद का रचनाकाल भी दस हजार साल पहले का माना गया है । वहाँ जव वर्फ गिरने लगी और सारा प्रदेश वर्फमय हो गया, तव वहाँ से वस्ती हटी। कुछ लोग यूरोप मे गये और कुछ लोग एशिया मे आये, ऐसा लोकमान्य के 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज्' ग्रथ मे लिखा है । नार्वे देश के उत्तरी हिस्से मे छह महीने की रात और छह महीने का दिन होता है । वेद मे सूर्य की उपासना को वहुत महत्त्व दिया गया है । वेद मे सूर्योपासना के वहुत मत्र है । दिन-रात सूर्य का प्रकाश ही प्रकाश रहना तो एक अद्भुत ही दर्शन समझना चाहिए । जव महीनो तक रात का समय आता है तो एकदम तो रात नही आती है, लेकिन दिन और रात के वीच का सधिकाल यानी सायकाल आता है और वह एक या दो महीने तो रहता ही होगा। इस सधिकाल को ऊषादेवता कहा गया है और ऊषा की उपासना भी वेद मे वहुत जगह है। निष्कर्ष यही है कि देह छोडने के लिए रात की अपेक्षा दिन का काल वहुत श्रेष्ठ माना जाता था । महाभारत मे भीष्माचार्य

की मृत्यु के प्रसग मे भी यही लिखा गया है कि वे 'इच्छामरणी' थे, इसलिए वे वाणो की शय्या पर लेटे-लेटे मृत्यु के लिए उत्तरायण की राह देखते रहे।

इस तरह प्राचीन जमाने मे मृत्यु के लिए काल का महत्त्व वहुत माना जाता था। गीता मे भी यही वात कही है। इस तरह भगवान् इस श्लोक मे कह रहे है कि 'जिस काल मे मृत्यु आने से मोक्ष यानी अनावृत्ति की स्थिति प्राप्त होती है और जिस काल मे मृत्यु आने से आवृत्ति की स्थिति प्राप्त होती है, वह काल मै कहता हूँ।' इसमे देखने की वात यह है कि इसके आगे के श्लोक मे काल न वताकर और ही चीज वतायी है। इससे यह निश्चित होता है कि काल का स्थूल अर्थ समयपरक न लेकर 'साधक की मनोदशा' लेना चाहिए। यानी किस मनोदशा मे, किस मानसिक स्थिति मे मृत्यु आने से मोक्ष प्राप्त होता है और किस मानसिक स्थिति मे ससार मे आना पडता है। यहाँ अनावृत्ति शब्द का अर्थ मोक्ष लिया है, मगर ब्रह्मलोक भी लिया जा सकता है; क्योकि सगुणोपासक के मन मे सिद्धियाँ, चमत्कार आदि के सम्वन्ध मे थोडी आसक्ति रह जाने से उसे इस देह मे मोक्ष नही मिल पाता। लेकिन उसकी स्थिति इतनी ऊँची रहती है कि उसे दूसरी देह प्राप्त होती है, यह कहना भी ठीक नही है। इसलिए ब्रह्म-लोक की कल्पना करनी पडी है। ब्रह्मलोक मे जाकर सगुणोपासक मुक्त हो जाता है। ब्रह्म-लोक मे जाने से मोक्ष मिलता है। चन्द्रलोक मे या स्वर्ग मे जाने से वापस इस ससार मे आना पडता है।

: २४ :

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

अग्निः=अग्नि, *ज्योतिः*=सूर्य, *अहः*=दिन, *षण्मासा उत्तरायणम्*=छह माह का उत्तरायण, *शुक्लः*=शुक्लपक्ष, *तत्र प्रयाता*=उपर्युक्त देवताओ के मार्ग मे देह छोडकर, *ब्रह्मविद जना*=ब्रह्मज्ञानी, *ब्रह्म गच्छन्ति*=ब्रह्म को प्राप्त होते है।

इस श्लोक मे छह वाते है १ अग्नि देवता अथवा वैराग्य, २ सूर्यदेवता अथवा विवेक-जागृति, ३ दिन का देवता अथवा यज्ञकर्म। सेवा-कार्य करते हुए, वीमार न पडते हुए, ४ शुक्ल-पक्ष का देवता यानी भक्ति वढने की स्थिति, ५ छह माह का उत्तरायण देवता, अथवा वासना-रहितता ६ उपर्युक्त देवताओ के मार्ग से देह छोडकर सगुण या निर्गुण ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त होते है।

इस श्लोक के दो अर्थ हो सकते है। इसलिए दोनो अर्थ देखेगे। ब्रह्मज्ञानी पुरुष दो प्रकार के है निर्गुण-ब्रह्मज्ञानी और सगुण-ब्रह्मज्ञानी। सगुणोपासना के आश्रय से जिन्हे परमात्मा का अनुभव हुआ वे सगुण ब्रह्मज्ञानी है। निर्गुण-उपासना से जिन्हे ब्रह्म का अनुभव हुआ वे निर्गुण ब्रह्मज्ञानी है। यो दोनो मे वहुत अतर नही है। फिर भी कुछ अन्तर जरूर है। निर्गुण-ब्रह्म अन्तिम सीढी है। सगुण-ब्रह्म उससे पूर्व की सीढी है। सगुण-ब्रह्म की उपासना से चमत्कार की शक्ति या कुछ सिद्धि प्राप्त होती है। उसमे सगुणोपासक कुछ आसक्त हो जाता है। उन सिद्धियो की आसक्ति दूर होने के लिए निर्गुण-ब्रह्म का स्पर्श आवश्यक माना गया है। जहाँ अह-शून्यता की पराकाष्ठा होती है, वहाँ निर्गुण-ब्रह्म की भूमिका समझनी चाहिए। अह की शून्यता मे थोडी-सी भी कमी हो तो वह निर्गुण-ब्रह्मावस्था नही है। सगुणोपासना सुलभ है। निर्गुणोपासना कठिन है।

सगुणोपासना और निर्गुणोपासना का मार्मिक विश्लेषण विनोवाजी ने 'गीता-प्रवचन' के १२वे अध्याय मे किया है। यो तो निर्गुण-ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण-ब्रह्म की उपासना मे अहकार को

शून्य बनाने की बहुत सामर्थ्य है। किन्तु सगुणोपासना मे जो सिद्धियाँ, चमत्कार दिखलाने की शक्ति प्राप्त होती है, सगुणोपासक के चित्त मे थोडा-सा मोह, आसक्ति पैदा करने मे वह निमित्त बन जाती है। इसीसे शास्त्रकार ने यह कल्पना की है कि सगुणोपासक को देह के रहते हुए मुक्ति प्राप्त नही होती। लेकिन सगुणोपासक की स्थिति इतनी ऊँची होती है कि उसे मुक्ति के लिए दूसरा जन्म लेना पडता है, ऐसा मानने मे दोप आता है। इसलिए शास्त्र का यह निर्णय है कि जो सगुणोपासक सिद्धियो मे थोड़ा मोहित हो गया है, जिसे निर्गुण-ब्रह्म का अनुभव प्राप्त करने के लिए ब्रह्मलोक मे जाना पडता है। ब्रह्मलोक मे कुछ काल तक रहने से सिद्धियो का मोह क्षीण होने पर ब्रह्मलोक मे ही वह मुक्त हो जाता है। उसे पुन जन्म नही लेना पडता।

देह छूटने के बाद जब वह ब्रह्मलोक मे जाता है, तब ब्रह्मलोक के मार्ग पर देवता मार्ग बताने के लिए उपस्थित रहते है। वे देवता सगुण-ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मलोक पहुँचा देते है। इस श्लोक मे उन्ही देवताओ का जिक्र है। पहले अग्नि देव आते है। दाह-सस्कार मे अग्नि का सबध सर्वप्रथम आता है, इसलिए पहले अग्नि-देव का जिक्र है। फिर ज्योति यानी सूर्य-किरण यानी सूर्याभिमानी देवता। बाद मे दिन का देवता आता है। मृत्यु के लिए दिन ज्यादा श्रेष्ठ माना गया, इसलिए दिन का देवता ब्रह्मलोक-मार्ग मे रहता है। फिर शुक्लपक्ष आता है। शुक्ल पक्ष मे मृत्यु का होना उत्तम माना जाता है। फिर उत्तरायण के छह मास का जिक्र है। उत्तरायण के छह माह मे आकाश मे बादल आदि नही होते। बरसात खतम हो जाती है। जाडा शुरू हो जाता है। दिसम्बर की २३ तारीख से जून की २२ या २३ तारीख तक छह महीने उत्तरायण का काल होता है। उत्तरायण के छह महीने मे मृत्यु का होना उत्तम माना जाता है। इस तरह १ अग्नि, २ सूर्य, ३ दिन, ४ शुक्लपक्ष, ५ उत्तरायण, ये पाँच देवता सगुण-ब्रह्मज्ञानी पुरुष को ब्रह्मलोक का मार्ग बताते हुए ले जाते है। ब्रह्मलोक मे जाने के बाद वह मुक्त हो जाता है। यह एक अर्थ हुआ।

दूसरा अर्थ विनोबाजी का है। उसे थोडे फर्क के साथ यहाँ पेश करता हूँ। इस श्लोक मे क्रमश छह बाते है। उनमे से एक-एक का अर्थ स्पष्ट करेगे।

(१) **अग्नि**। 'अग्नि' शब्द का स्थूल अर्थ नही लेना है, क्योकि यहाँ अत समय की बात चल रही है। अग्नि शब्द का अर्थ वैराग्य है। देह छूटने के समय सब छोड जाने का प्रसग आता है, तब वृत्ति मे शिथिलता आने की सभावना रहती है। तब सतत परमात्मा का स्मरण रहे और देह की वेदना का कोई असर चित्त पर न रहे, अथवा आसपास के रिश्तेदार, मित्र आदि का स्मरण होकर या कुछ पुरानी बाते याद आकर परमात्म-स्मरण मे विक्षेप या बाधा न पडे, यह देखना जरूरी है। अखड परमात्म-स्मरण रहता है या नही, यह तो इस पर निर्भर है कि चित्त मे कितना वैराग्य है। इसलिए जीवित रहते हुए जितनी वैराग्य-वृत्ति अनुभव मे आती है, उतनी ही मृत्यु के समय आनी चाहिए। अतएव मृत्यु के समय अखड वैराग्य-वृत्ति टिकाये रखनी चाहिए।

(२) **ज्योतिः**। 'ज्योति' यानी सूर्य-प्रकाश। सूर्य के प्रकाश का मतलब है आत्मा और अनात्मा का भेद ध्यान मे रखना। वह एक प्रकार का प्रकाश ही है। अँधेरा यानी अज्ञान या अविद्या और प्रकाश यानी विज्ञान या विद्या। सूर्य-प्रकाश का मतलब है, मृत्यु के समय आत्मनिष्ठ-बुद्धि जागृत रखना।

(३) **अह.**। यानी दिन। आत्मा और देह का विवेक यह बुद्धि का ही कार्य है। सूर्य-प्रकाश दिन मे ही रहता है, इसलिए सूर्य-प्रकाश और दिन, ऐसे दो अर्थ न लेते हुए सूर्य-प्रकाश के माने ही दिन, ऐसा समझकर दोनो का अर्थ एक ही लिया है। मैने सूर्य-प्रकाश का मतलब आत्मा और अनात्मा का विवेक जागृत रखना लेकर दिन का अर्थ किया है—

सेवा, यज्ञकर्म करते हुए मृत्यु को प्राप्त होना। विनोबाजी ने अग्नि का अर्थ यज्ञकर्म, सेवा-कार्य किया है। मैने अग्नि का अर्थ वैराग्य किया है और दिन का अर्थ सेवा-कार्य, यज्ञकर्म किया है। ज्ञानी का जीवन सतत सेवामय ही रहता है। ज्ञानी दिन-रात जनता की सेवा मे ही रत रहता है। ज्ञानी पुरुष अपने को देह से अलग मानता है, उसका जीवन सयमी रहता है, नीद पर उसका पूरा काबू रहता है। वह शरीर को एक यत्र मान सेवा का साधन समझकर शरीर का उपयोग करता है, इसलिए शरीर को नीरोग रखता है।

गाधीजी ७८ साल तक जीवित रहे, लेकिन अपना स्वास्थ्य अच्छा रखकर अखड सेवा करते रहे। गाधीजी का नीद पर बहुत काबू था। दिल्ली की बात है। एक बार १५ मिनट के बाद किसी यूरोपियन के साथ उनकी मुलाकात पहले से निश्चित थी। गाधीजी ने कहा कि १५ मिनट सो लेता हूँ। लेट गये और लेटते ही उन्हे गहरी नीद आ गयी। ठीक १५ मिनट पर जाग गये। ठीक समय पर मुलाकात शुरू हो गयी। गाधीजी से पूछा गया कि आपका नीद पर बडा अद्‌भुत काबू है, तो उन्होने कहा 'जिस दिन मेरा नींद पर काबू नही रहेगा, उसी दिन देह गिर जायगी।' इस तरह गाधीजी ने इतनी अलिप्तता साध ली थी कि देह को साधन समझकर उसे नीरोगी रखकर उससे सेवा का काम बराबर लेते रहे। उनकी कल्पना थी कि ज्ञानी पुरुष की देह परिपक्व फल की तरह नीरोग स्थिति मे ही छूटनी चाहिए। रोग के साथ जो मृत्यु आती है, उसे वे अलिप्तता की कमी समझते थे। जो अलिप्त है, सयमी है, उन्हे देह को साधन समझकर ठीक रखने के लिए जिन तत्त्वो की जरूरत है, उनकी जानकारी प्राप्त करके और नियमो का पालन करके मृत्यु तक नीरोग स्थिति मे रखकर पके फल की तरह अपने आप गिर जाने देना चाहिए। दिन मे काम की शुरुआत होती है। पक्षी भी सबेरे अपनी हलचल शुरू कर देते है। रात होते ही वे निर्व्यापार हो जाते है। इसलिए 'अह' यानी सेवा-कार्य। सेवा लेने के बजाय सेवा-कार्य करते हुए मृत्यु आये, यह लक्ष्य निरतर सामने रहना चाहिए।

(४) **शुक्ल**। शुक्ल-पक्ष का सूक्ष्म अर्थ विशुद्ध भावना, परमात्म-भक्ति है। **चन्द्रमा मनसो जातः**—चन्द्रमा मन का देवता माना गया है। मन की विशुद्ध भावना यानी परमात्म-भक्ति। जैसे-जैसे देह की क्षीणता बढे, वैसे-वैसे परमात्म-भक्ति बढती जानी चाहिए। ऐसा हो तो देह से हम अलग हो गये, यह समझने मे हर्ज नही। हमारा देह के साथ कोई सबध नही, यह स्थिति मृत्यु के समय होनी चाहिए। जैसे विद्यार्थी की कसौटी तो परीक्षा के समय ही होती है, वैसे ही हमारे जीवन की कसौटी मृत्यु के समय होती है। मृत्यु के समय हम देह से कितने अलग हुए, इसी पर हमारी साधना की कसौटी है। बुद्धि मे आत्मानात्म-विवेक और मन मे विशुद्ध भावना यानी परमात्म-भक्ति जागृत है, तो हम मृत्यु को जीत सकते है।

(५) **षण्मासा उत्तरायणम्**। उत्तरायण के छह मासो मे मृत्यु आनी चाहिए। इसका सूक्ष्म अर्थ यह है कि वासना या विकार के बादल मनरूपी आकाश मे न रहे और मन की निरभ्र, निर्विकार, अनासक्त स्थिति मे मृत्यु हो तो मोक्ष की दृष्टि से अनुकूल है। मगर मन मे निर्विकारता या अनासक्ति न हो और उत्तरायण के छह महीने मे मृत्यु हो, तो भी मोक्ष नही मिल सकता। मृत्यु के समय तरह-तरह की आसक्तियाँ पैदा हो सकती है। मन मे पडी वासनाएँ मृत्यु के समय जागृत हो सकती है। जैसे पानी मे नीचे की सतह पर स्थित कीचड हलचल से ऊपर आ जाता है, वैसे ही दबी वासनाएँ जागृत हो सकती है। इसलिए वासनाएँ दबी नही रहनी चाहिए, क्षीण हो जानी चाहिए। वासनाओ के दबे रहने से उनका उनके बीज ज्यो-के-त्यो कायम

रहते है। तो, भगवान् कहते है कि मृत्यु के समय वासना के वादल न छाये हो यानी मन स्वच्छ रहे।

(६) **तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति।** उपर्युक्त स्थिति मे यानी ऊपर जो पॉच बाते बतायी उस स्थिति मे मृत्यु हो तो सगुण-ब्रह्मज्ञानी अथवा निर्गुण-ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसका मतलब यह है कि जीवन मे भी ये पाँच चीजे प्राप्त करनी चाहिए १ वैराग्य, २ आत्मा और अनात्मा का विवेक, ३ अखड सेवा-कार्य, ४ परमात्म-भक्ति की जागृति और ५ वासना-रहितता।

: २५ :

धूमो रात्रिस्तथा कृष्ण· षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

धूम·=अधकार, **रात्रिः**=रात्रि, **तथा कृष्ण** =कृष्ण-पक्ष, **षण्मासा दक्षिणायन**=दक्षिणायन के छह माह, **तत्र (प्रयातः) योगी**=ऐसी स्थिति मे जिस योगी की मृत्यु होती है, वह, **चान्द्रमसं ज्योति**=चन्द्रलोक की ज्योति को, **प्राप्य निवर्तते**=प्राप्त होकर वापस लौटता है।

इस श्लोक मे पॉच वाते है १ धूम यानी वैराग्य का अभाव, २ रात्रि यानी देह और आत्मा मे अभेद लगना, ३ कृष्णपक्ष यानी परमात्म-भक्ति का अभाव, ४ दक्षिणायन यानी आसक्ति के वादल छा जाना, ५ ऐसी स्थिति मे मृत्यु के वाद कर्मठ योगी चन्द्रलोक की ज्योति को यानी प्रकाशमय स्थान को प्राप्त होकर वापस ससार मे लौटता है।

पूर्व के श्लोक मे ब्रह्मलोक की प्राप्ति का मार्ग वताया गया है। उससे भिन्न स्थिति का वर्णन इस श्लोक मे किया गया है। जिस साधक, मुमुक्षु या कर्मठ योगी की सगुण-ब्रह्म की उपासना मे अपूर्णता रह जाती है और कर्म-फल की तृष्णा रहती है, उसे चन्द्रलोक मे जाना पडता है। वहाँ कुछ काल तक ठहरकर वापस इस ससार मे आना पडता है, ऐसी शास्त्रकारो की कल्पना है। चन्द्रलोक मे भी योगभ्रष्ट पुरुष अपने आप नही जाता। उस मार्ग को जाननेवाले देवता उसे चन्द्रलोक ले जाते है। ब्रह्मलोक मे जानेवाले देवता पॉच है और चन्द्रलोक मे ले जानेवाले देवता चार। चन्द्र तो प्रत्यक्ष है, मगर स्वर्गलोक या अतरिक्षलोक दिखाई नही देते। लेकिन यह अशास्त्रीय वात नही, क्योकि साधना की न्यूनाधिक उत्कटता के अनुभव मे से यह कल्पना प्रकट हुई है। भावार्थ यही है कि भिन्न-भिन्न लोक मे जाना यदि टालना है तो उत्कट साधना करनी चाहिए, ताकि यही मर्त्यलोक मे सदेह ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो और मोक्ष मिल जाय तथा जन्म-मरणरूप ससार से छूट जायँ। इस तरह सगुणोपासक कर्मठ अपनी अपूर्ण साधना के कारण चन्द्रलोक मे चार देवताओ के मार्गदर्शन मे चला जाता है, लेकिन उसे वापस आना पडता है। यह एक अर्थ हुआ। अव दूसरे अर्थ पर विचार करे।

(१) **धूम·**। अग्नि से ठीक उलटा है धूम। धूम यानी धुआँ, अधकार। मृत्यु के समय मन मे वैराग्य का अभावरूपी अँधेरा छा जाय तो हमे उस समय दुःख का ही अनुभव होगा। अधकार यानी आसक्ति, मोह, अज्ञान। तव मृत्यु का डर भी लगेगा। अनेक प्रकार के मोहयुक्त विचार एव सकल्प उठेगे और किसी भी प्रकार शाति का अनुभव नही होगा।

(२) **रात्रि**। रात यानी दिन से विपरीत। यहाँ सूर्य और दिन को एक समझकर विपरीत अर्थ वताया है। रात का मतलव है सूर्य और दिन का अभाव। यहाँ सिर्फ 'रात्रि' शब्द है। इस एक शब्द मे पूर्वश्लोक मे वर्णित उक्त दोनो का अभाव है। मृत्यु के समय देह से आत्मा अलग है, यह भान विलकुल न रहना और सेवा न करते हुए वल्कि सेवा लेते हुए मृत्यु होना। आत्मा-अनात्मा का विवेक न हो और जीवन सेवा-कार्य के

: २६ :

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगत. शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

जगतः एते=जगत् के ये, **शुक्लकृष्णे**=प्रकाशमय और अधकारमय, **गती**=दो मार्ग, **शाश्वते**=अनादिकाल से चले आ रहे है, **मते**=ऐसा माना गया है, **एकया अनावृत्ति**=एक से मोक्ष प्राप्त होता है, **अन्यया पुन आवर्तते**=और दूसरे से ससार मे लौटना होता है।

इस श्लोक मे तीन बाते है १ जगत् मे ये प्रकाशमय यानी ज्ञानरूप और अधकारमय यानी अज्ञानरूप, ऐसे दो मार्ग अनादिकाल से चले आ रहे है। २ एक से मोक्ष प्राप्त होता है और ३ दूसरे से ससार मे वापस आना पडता है।

(१) **जगतः एते शुक्लकृष्णे गती शाश्वते मते।** पूर्व के दो श्लोको मे जिन दो मार्गो का वर्णन किया, वे अनादिकाल से चले आ रहे है। इन दो मार्गो के दो नाम भी दे दिये है। एक को 'शुक्ल' कहा और दूसरे को 'कृष्ण'। पहला है ज्ञानमार्ग और दूसरा है अज्ञानमार्ग।

ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य मे ब्रह्मलोक का वर्णन काव्यशैली मे आया है। उसका स्पष्टीकरण हमने ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य के अनुवाद* मे किया है। यहाँ उसे जिज्ञासुजनो के लाभार्थ दे रहे है 'आचार्य कहते है कि सगुण ब्रह्मज्ञानी वर्तमान देह छूटने के वाद दूसरी देह धारण न कर ब्रह्मलोक मे जाता है और वहाँ निर्गुण-ब्रह्म की पहचान होने पर सकल्प-रहित स्थिति का अनुभव करते हुए मोक्ष प्राप्त करता है। सगुणोपासना से प्राप्त ऐश्वर्य मे सकल्प का वल रहता है। इस सकलपवल की चित्त मे जो सूक्ष्म आसवित पैदा होती है, उससे वहुत ऊँची स्थिति रहते हुए भी, निर्गुण-ब्रह्म की पहचान नही होती। ऐश्वर्य की आसक्ति निर्गुण-ब्रह्म की पहचान से ही दूर हो सकती है। सगुण-ब्रह्मज्ञानी की स्थिति इतनी ऊँची रहती है कि निर्गुण-ब्रह्म के ज्ञान के लिए उसके दूसरी देह धारण करने की कल्पना नही कर सकते। लेकिन निर्गुण-ब्रह्म की पहचान के विना चमत्कार दिखलाने का सकल्प-वल क्षीण नही होता, ऐश्वर्य का भान या आसक्ति भी नष्ट नही होती। इस तरह भेद-दृष्टि पूर्णतया क्षीण नही होती। अत इन स्थितियो को प्राप्त करने के लिए शास्त्रकारो ने ब्रह्मलोक की कल्पना की है। वर्तमान देह छूटने के वाद ब्रह्मलोक मे जाने पर निर्गुण-ब्रह्म का ज्ञान होने पर सकल्प और ऐश्वर्य की आसक्ति खतम हो जाती है, द्वैत-दृष्टि भी नष्ट हो जाती है। अपनत्व का भान मिट जाता है। तव वह सगुण-ब्रह्मज्ञानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।'

आगे आचार्य ब्रह्मलोक के मार्ग का वर्णन कर रहे है। देह छूटने के वाद ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्मलोक मे जाने के लिए जव निकलता है, तव जिस मार्ग से जाता है, उसे देवयान-मार्ग, उत्तरायण-मार्ग अथवा अर्चिरादि-मार्ग कहते है। मार्ग का प्रारभ नाडी से होता है। इसके वारे मे कठोपनिषद् (२ ३ १६) मे एक श्लोक है

शत चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनि सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विश्वक् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

—'एक सौ एक नाडियाँ हृदय से निकलती है, उनमे से एक नाडी मस्तक से निकली है। उस नाडी से ऊपर जाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। मस्तक से निकली हुई नाडी को छोडकर अन्य जो १०० नाडियाँ है, उनमे से देह छूटते समय जो जाता है, वह फिर-फिर से ससार मे आता है।'

*प्रकाशक परधाम प्रकाशन, पवनार, वर्धा, मूल्य रु० २५००

इस तरह ब्रह्मलोक के मार्ग का नाडी से प्रारभ होता है। हृदय मे एक सौ एक नाडियाँ है। उनमे से बीच की एक नाडी हृदय से निकलकर मस्तक मे ब्रह्मरध्र तक पहुँचती है। सगुण-ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म-रध्र से यानी मस्तक से निकलकर देह छोडता है। सूर्य काफी ऊँचाई पर है। उसकी किरणे पृथ्वी पर फैल जाती है। वह ब्रह्मज्ञानी देह छूटने के बाद मस्तक की नाडी मे निकलकर सूर्य-किरणो के ऊपर चला जाता है। तीसरा शब्द 'अर्चि' है। अर्चि यानी प्रकाश। प्रकाश यानी दिन और दिन यानी सूर्य। सूर्यदेवता अपनी किरणो के साथ सगुणोपासक को ब्रह्मलोक ले जाता है। ब्रह्मलोक कहाँ है? जहाँ हम रहते है, वह भूलोक है, उसके ऊपर अतरिक्ष लोक है, अतरिक्ष के बाद द्युलोक है। इस तीसरे लोक मे ब्रह्मलोक है।

अब ब्रह्मलोक का प्रत्यक्ष वर्णन कर रहे है। ब्रह्मलोक मे 'अर' और 'ण्य' ऐसे दो समुद्र है। इन समुद्रों मे अमृत है—मानो वे अमृत के ही समुद्र है। वहाँ 'ऐरमदीय' नामक एक सरोवर है। वह अन्न से भरा हुआ है। 'ऐर' यानी अन्न से भरा हुआ, 'मदीय' यानी मद या शक्ति पैदा करनेवाला। वहाँ सोमरस बरसानेवाला एक वृक्ष है, जिसका नाम 'अश्वत्थ' है। सोमरस का पान करने से मनुष्य कभी बीमार नही होता और हो जाय तो तुरंत स्वस्थ हो जाता है। सोमरस से कुडलिनी भी जागृत होती है। उस ब्रह्मलोक मे 'अपराजिता' नाम की एक नगरी है। उस नगरी मे रहनेवाले सगुण-ब्रह्मोपासक को काम, क्रोध, मद, अहकार आदि विकार पराभूत नही करते। अपराजिता नगरी मे ईश्वर-निर्मित एक सुवर्णमय घर है। सोने का घर यानी अमूल्य वस्तु। परमात्मा का प्रकाश उस घर मे फैला हुआ है। परमात्म-प्रकाश से माया कुछ भी नही कर सकती। ऐसी अमूल्य वस्तु के साथ नित्य सबध रहने से सगुण ब्रह्मोपासक को परमात्मा के निर्गुण-स्वरूप का ज्ञान होता है और सब सकल्प से मुक्त होकर उसे वही पर मोक्ष मिलता है। सगुण-ब्रह्मोपासक इस ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर कर्म-फलो का उप-योग कर चन्द्रलोक की तरह ब्रह्मलोक से इस मृत्यु-लोक मे वापस नही आता।

(२) **एकया याति अनावृत्तिम्।** एक मे यानी ज्ञानमार्ग से मोक्ष प्राप्त होता है। फिर से इस ससार मे आना नही पडता। अत समय मे चित्त मे वैराग्य का उत्कर्ष हो, आत्मानात्म-विवेक जागृत हो, जन-सेवा चल रही हो और परमात्म-भक्ति अखड चलती हो और किसी भी प्रकार की आसक्ति न हो, ऐसी स्थिति मे देह छूटे तो मोक्ष मिल सकता है।

(३) **अन्यया पुन. आवर्तते।** दूसरा मार्ग अज्ञान का मार्ग है, जिसमे अत समय मे वैराग्य ढीला पड जाता है, आत्मानात्म-विवेक नही रहता, परमात्म-भक्ति भी कम हो जाती है, सेवा लेने का प्रसग आता है यानी शारीरिक और मानसिक शक्ति कम हो जाती है और आसक्ति जागृत हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मोक्ष नही मिलता। किंतु वह साधक प्रयत्नशील होता है, अत कुछ समय तक चन्द्रलोक मे स्थान मिल जाता है। चन्द्रलोक मे शारीरिक या मानसिक तकलीफ नही भुगतनी पडती। स्वर्गलोक और चन्द्रलोक मे शास्त्रकारो ने कुछ फर्क किया है। स्वर्गलोक मे तो सिर्फ भोग भोगना ही बताया है। चन्द्रलोक मे वह भोग नही भोगता, मगर उसे मानसिक शाति रहती है। वहाँ सुख की अवस्था अवश्य रहती है, लेकिन वह सुख बाह्य नही, मानसिक ही होता है। उसमे आध्यात्मिक विकास का अनुभव होता है। चन्द्रलोक मे कुछ आध्यात्मिक प्रगति ही होती है। लेकिन चन्द्रलोक मे कुछ काल तक रहकर वापस आना पडता है। कर्मठ होने पर भी योगमार्ग का साधक होने से हर जन्म मे उसकी प्रगति होती रहती है और अन्त मे वह मुक्त हो जाता है।

: २७ :

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

पार्थ=हे अर्जुन, **एते सृती**=इन दो मार्गो को, **जानन्**=जाननेवाला, **कश्चन योगी**=कोई भी योगी, **न मुह्यति**=मोहित नही होता, **तस्मात् अर्जुन**=इसलिए हे अर्जुन, **सर्वेषु कालेषु**=सब समय, **योगयुक्त.**=योग से युक्त, भव=हो जा।

इस श्लोक मे दो बाते है १ इन दो मार्गो को जाननेवाला योगी मोहित नही होता। २ इसलिए हे अर्जुन, सर्वदा योग से युक्त हो जा।

(१) **एते सृती जानन् योगी न मुह्यति।** इन दो मार्गो को जाननेवाला योगी मोहित नही होता। इसका मतलब क्या है ? मोहित यानी आसक्त नही होता। शकराचार्य ने पाँचवे अध्याय के १०वे श्लोक के भाष्य मे कहा है **मोक्षेऽपि फले संग-त्यक्त्वा।** 'मोक्ष-फल की आसक्ति भी छोडकर सिर्फ मोक्ष की साधना मे ही लगे रहना चाहिए।' मोक्ष प्राप्त करना अतिम उद्देश्य है। यह उद्देश्य सामने रखते हुए साधक या मुमुक्षु की साधना चलनी चाहिए, लेकिन मोक्षरूपी फल कब प्राप्त होगा, इसकी चिन्ता, आसक्ति या मोह तनिक भी न रहे। अह-शून्य बनने के लक्ष्य मे मोक्ष का मोह रह ही नही सकता। अह को शून्य बनाने का लक्ष्य होना चाहिए। इसमे जितनी सफलता मिलेगी, उतना ही मोक्ष का अनुभव होगा। अह को कायम रखकर जब सोचते है कि हमे समाधि प्राप्त करनी है अथवा मोक्ष प्राप्त करना है, तो हम शून्य न बनकर कायम ही रहते है। मोक्ष अपने पास हमेशा मौजूद ही रहता है, मगर उसका अनुभव प्राप्त करने मे अहकार, काम, क्रोध आदि विकार बाधक है। सारी साधना इन बाधाओ को दूर करने के लिए ही है।

इसलिए योगी पुरुष ब्रह्मलोक के मार्ग मे अथवा चन्द्रलोक के मार्ग मे फँसता नही। ब्रह्मलोक के मार्ग मे शुरू मे सगुणोपासना है, उसमे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती है, उनकी आसक्ति मन मे पैदा होना, उनका मोह पैदा होना, यह एक वस्तु है और इसी कारण यानी सिद्धि के जाल मे फँसने से ब्रह्मलोक मे जाने का प्रसग आना, यह दूसरी बात है। चन्द्रलोक का मार्ग तो ससार मे बार-बार आने का मार्ग है। उससे ससार-चक्र से छुटकारा नही पा सकते। यह सब भलीभाँति जानकर साधक इन मार्गो से अलिप्त रहकर योगी बनने की ही कोशिश करता है।

(२) **तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।** भगवान् कहते है कि इन दो मार्गो को जानकर योगी किसी मार्ग मे नही फँसता। मृत्यु के समय मन मे यदि वैराग्य पैदा हुआ हो, देह से आत्मा अलग है, यह विवेक जागृत हुआ हो, जन-सेवा चालू हो, ईश्वर-भक्ति पैदा हुई हो और मन मे किसी भी प्रकार की आसक्ति न रही हो तो मोक्ष मिल सकता है। यह जानकर हे अर्जुन, तुम निरन्तर योगयुक्त रहने की कोशिश करो। भग-वान् ने यहाँ बडा अच्छा उपदेश दिया है। योगी बनने का लक्ष्य हर क्षण रखना चाहिए। योगी का अर्थ चित्तवान् यानी फलाशा-त्यागी—जो फल-निरपेक्ष मोक्ष, आत्मदर्शन या हरिदर्शन की साधना मे ही तन्मय हो गया है, अतएव जिसके चित्त मे समता यानी अहकार, काम, क्रोध, मद आदि विकार-रहितता स्थापित हो गयी है।

मोक्ष के समस्त साधनो मे श्रेष्ठ स्थिति है फल-निरपेक्षतापूर्वक साधना मे तन्मयता। उसीकी प्राप्ति के लिए भगवान् अर्जुन को निमित्त बनाकर सबसे कह रहे है। अतिम स्थिति परिपूर्ण शून्या-वस्था है। इसे प्राप्त करने का अत्यन्त सुलभ उपाय है—ईश्वर-शरणता, ईश्वर-भक्ति। भक्ति केन्द्र-स्थान मे है। उसके आस-पास वैराग्य, फलासक्तिरहित कर्मयोग, सत्त्वगुण का उत्कर्ष, दैवीगुणो का उत्कर्ष, आत्मानात्म-विवेक की साधना करते हुए परिपूर्ण शून्यावस्था यानी योगावस्था प्राप्त करने के लिए

नित्य-स्वाध्याय की तरह ही नित्य-यज्ञ-कर्म भी आवश्यक है ।

(४) **तपःसु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।** तप करने से मिलनेवाला पुण्यफल भी योगी पार कर जाता है। १७वे अध्याय मे तीन प्रकार के तप का वर्णन है। उपनिषद् मे एक अच्छा वचन है। उसके अनुसधान मे ही इस श्लोक मे यज्ञ, दान, तप और स्वाध्याय का उल्लेख है। उपनिषद् मे कहा है **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।** 'ब्राह्मण यानी साधक या मुमुक्षु परमात्मा को वेदाध्ययन और दान तथा शरीर को और मन को दुर्बल, क्षीण न करनेवाले तप से जानने की इच्छा रखते है।'

उपर्युक्त वचन मे तप के पीछे 'अनाशक' विशेषण है, जो महत्त्वपूर्ण है। शरीर, मन, इद्रियाँ तीनो को अतिक्षीण करनेवाला तप नही होना चाहिए। गीता के १७वे अध्याय के १९वे श्लोक मे तामस तप कहा है और उसका निषेध किया है। जिस तप के पीछे दुराग्रह है, जिसमे देह क्षीण होती है, मन को भी काफी क्लेश होता है और शाति रह नही पाती, ऐसा तप नही करना चाहिए। १७वे अध्याय के छठे श्लोक मे भी कहा है कि देह को, मन को तकलीफ देनेवाला और इसीलिए जो तप अशास्त्रीय है और जिसके पीछे विवेक नही है, वह आसुरी होता है। तामसिक और आसुरी दोनो तप का त्याग करके १७वे अध्याय के १४–१६ तीन श्लोको मे जो तीन प्रकार का कायिक, वाचिक और मानसिक तप वताया है, वह आत्मोन्नति के लिए उपयोगी है।

(५) **दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।** दान मे जो पुण्यफल वताया है, उसे भी यह योगी लॉघ जाता है। मनुष्य मे मूलत दानवृत्ति यानी त्यागवृत्ति है। खूब धन कमानेवालो मे भी दान की प्रवृत्ति होती है। कई धनी लोगो की यह धारणा रहती है कि दान नही करेगे तो धन भी नही मिलेगा। 'पैसे देते रहो तो पैसा आता रहेगा'—यह कहावत प्रचलित है। कवीरदासजी ने कहा है

पानी वाढै नाव में, घर में वाढै दाम।
दोनो हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

अतिथि-सत्कार गृहस्थ का पवित्र कर्तव्य माना गया है। कोई अतिथि आये और गरीव मनुष्य के पास खिलाने के लिए कुछ न हो तो वह कही से उधार लाकर भी अतिथि को खिलायेगा। तभी उसे सतोष मिलता है। ऋषि-मुनियो ने अतिथि-सत्कार का सस्कार दिया है, वह काफी गहरा पैठ गया है। जनता मे त्याग-वृत्ति का उत्कर्ष काफी हुआ है। गुप्त दान की महिमा भी वहुत है। लेकिन अधिकाश धनी तो आजकल दान देकर कीर्ति चाहते है। मदिर, धर्मशालाओ, विद्यालयो मे अपने नाम के पट्ट लगाते है।

भूदान-आन्दोलन मे यह अजीव अनुभव आया कि गरीब किसान भी अपनी थोडी-सी जमीन मे से कुछ हिस्सा भूदान मे देते ही थे। इस दानवृत्ति को देखते हुए विनोवाजी ने सपत्तिदान, श्रमदान, बुद्धिदान, सर्वोदय-पात्र आदि दान के विविध प्रकार चालू किये है, और हरएक कुटुव से जनसेवा के लिए एक व्यक्ति की भी माँग की है। मैने इसे 'पुत्रदान' कहा है। हरएक कुटुम्ब से एक पुत्र या पुत्री जनसेवा मे अर्पण हो जाय, तो हिन्दुस्तान की शकल वदल सकती है। यह दान-महिमा अपार है। गुरु के पास जितना ज्ञान होता है, वह सारा-का-सारा शिष्य को दिये विना उसे सन्तोष नही मिलता। इस तरह वेदाध्ययन, धार्मिक ग्रथो का अध्ययन, यज्ञ-कर्म, तीन प्रकार का तप और दान—ये चारो आध्यात्मिक उन्नति के लिए जरूरी है।

(६) **तत् सर्वं अत्येति।** धार्मिक ग्रथो के अध्ययन से, यज्ञ-कर्म यानी सतत परोपकार का कार्य करने से, तप से और दान से जो फल मिलता है, उसे योगी पुरुष योग-साधना से लॉघ जाता है। ये चारो साधन उन्नति मे वहुत उपयोगी होते हुए

भी, इनमें 'अहं' को पूर्ण शून्य बनाने की सामर्थ्य नहीं है। इनके पीछे कम-ज्यादा परिमाण में 'अहं' का भान रहता ही है। अहं को शून्य करने का मुख्य साधन है—हरि-शरणता, भक्ति। उसे प्राप्त करने का प्रयत्न जो योगी करता है, वह अपने को मिटा सकता है, शून्य बना सकता है। जो फल अध्ययन, यज्ञ, तप और दान से नहीं मिलता, वह फल भी योगी प्राप्त कर लेता है। यानी अहं को शून्य बनाकर वह बड़ा भारी फल—मोक्ष—प्राप्त कर लेता है। इस महान् फल में और समस्त फल अंतर्भूत हो जाते हैं।

(७) आद्यं परं स्थानं उपैति। योगी शून्यता प्राप्त करके श्रेष्ठ ब्रह्मस्थान को पहुँच जाता है। ब्रह्म को प्राप्त करने की एक ही शर्त है—अपने को शून्य बनाना। सपूर्ण जगत् का मूल कारण ब्रह्म है। वह मूल आधार है। वह शाश्वत है। लेकिन शरीर में वह ब्रह्म प्रकट होने के साथ ही उस ब्रह्म पर 'मैं'-पन की कल्पना उठती है, और यही जीवभाव है। यदि यह क्षीण हो जाय, शून्य हो जाय तो सर्प की कल्पना दूर होने से जैसे डोरी का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही अहं की कल्पना दूर होते ही जिस पर यह अहं की कल्पना उठती है, उस मूल कारण ब्रह्म या परमात्मा का ज्ञान हो जाता है, और मूलस्थान प्राप्त हो जाता है। वह मूलस्थान पहले से ही प्राप्त है। मगर अहं की कल्पना जब तक दूर नहीं होती, तब तक ज्ञान न होने से वह स्थान प्राप्त नहीं होता। अहं की कल्पना दूर होते ही उस मूल कारण का, उस मूल आधार का ज्ञान हो जाता है।

यहाँ भगवान् ने बताया है कि योगी का लक्ष्य अपने को शून्य बनाना होने से वह स्वाध्याय, यज्ञ, तप, दान आदि की साधना करते हुए इनसे अतीत हो जाता है, और परमात्मा की एकरूपता का अनुभव करता है।

दूसरा खण्ड समाप्त